पातञ्जल योगदर्शनम्



प्रथम खण्ड

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकेति टीकाद्वयोपेतं

व्यासभाष्यम् , हिन्दीव्याख्यया विभूषितम्

विस्तृत विषयानुक्रमणी

प्रथमः समाधिपादः



सरस्वत्यै नमः

पातञ्जलयोगदर्शनम्

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकितिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्

(सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम्)

प्रथमः समाधिपादः

योगसूत्रम्

अथ योगानुशासनम्॥१॥

अब योगशास्त्र आरम्भ हो रहा है॥१॥

व्यासभाष्यम्

यस्त्यक्त्वा[1] रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय
प्रक्षीणक्लेशराशिर्विषमविषधरोऽनेकवक्त्रः सुभोगी।
सर्वज्ञानप्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्य नित्यं
देवोऽहीशः स वोऽव्यात्सितविमलतनुर्योगदो योगयुक्तः॥१॥

अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य[2] धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुध्दमिति चित्तस्य भूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः[3] सर्ववृत्तिनिरोधे[4] त्वसंप्रज्ञातः समाधिः[5] ॥१॥

---

1. अ. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न फ म – यस्त्यक्त्वा श्लोकोऽयमुपलभ्यते, द प ब भ प र – यस्त्यक्त्वा श्लोकोऽयं नोपलभ्यते।
आ. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – यस्त्यक्त्वा श्लोकोऽयं १/१ सूत्रात् पूर्वं, फ म - १/१ सूत्रात् पश्चादुपलभ्यते।
2. क घ प फ ब भ य र – चित्त०, ख ग च छ ज झ त थ द ध न म – चित्तस्य।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ – निवेदिष्यामः, ख ध प फ ब म प र – प्रवेदयिष्यामः।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः १/१ सूत्रस्य टीका, ब – सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः १/२ सूत्रस्य अवतरणिका।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – समाधिः उपलभ्यते, ब – समाधिः नोपलभ्यते।

जगत् पर अनुग्रह करने के लिये जो अपना आदिरूप त्यागकर बहुधा अवतीर्ण होते हैं, जिनकी अविद्यादि क्लेशराशि प्रकृष्टरूप से क्षीण है, जो विषम विषधर, बहुवक्त्र, सुभोगी और समस्त ज्ञान के प्रसूतिस्वरूप हैं, जिन्हें भुजंग-सम्पर्क नित्य प्रीति प्रदान करता है, वे श्वेतविमलतनु योगदाता और योगयुक्त अहीश (नागाधिपति) तुम्हारी रक्षा करें।

यह '**अथ**' शब्द अधिकार-वाचक है। '**योगानुशासन**' अर्थात् योगशास्त्र आरम्भ हुआ है, यह जानना चाहिये। '**योग**' शब्द का अर्थ है—समाधि और यह समाधि चित्त की सभी भूमियों में रहने वाला चित्त का धर्म है। चित्त की पांच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुध्द। इन भूमियों में से विक्षिप्तभूमिक चित्त की समाधि विक्षेप (उपसर्गरूप विक्षेप संस्कार) के कारण गौण (अप्रधान, उपसर्जन) हो जाने से योगकोटि में परिगणित नहीं होती है। किन्तु जो समाधि एकाग्र-भूमि में (सम्भव होती हुई) वस्तु के यथार्थस्वरूप को विशेष रूप से प्रकट करती है, अविद्यादि सम्पूर्ण क्लोशों को क्षीण करती है, कर्मसंस्कारों को प्रभावशून्य करती है तथा असंप्रज्ञात समाधि को उपस्थित करती है—वह समाधि संप्रज्ञात योग कही जाती है। और वह (संप्रज्ञात योग) वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत होता है—यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है॥१॥

तत्त्ववैशारदी

नमामि जगदुत्पत्तिहेतवे वृषकेतवे।

क्लेशकर्मविपाकादिरहिताय हिताय च॥१॥

मैं (वाचस्पति मिश्र) क्लेश (अविद्यादि), कर्म (शुक्लाशुक्लादि), विपाक (जात्यायुर्भोगरूप फल) से असंस्पृष्ट, (किन्तु प्राणियों के) कल्याण के लिये जगत् की उत्पत्ति के हेतुभूत वृषभरूपी धर्म से विभूषित पताका वाले भगवान् शंकर को नमस्कार करता हूँ॥१॥

बालप्रिया—

क्लेश, कर्म, विपाकादि से रहित होते हुए भी ईश्वर में जगदुत्पत्ति का जो हेतुत्व (कारणत्व) प्रतिपादित किया गया है, वह कारुण्यनिबन्धक है, यह प्रदर्शित करने के लिये ही श्लोक में '**हिताय**' पद प्रयुक्त हुआ है। शब्दान्तर में ईश्वर में जगदुत्पत्ति का कारणत्व प्राणियों के उध्दारार्थ है। विषय का स्पष्टीकरण '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**' यो. सू. १/२४ में द्रष्टव्य है॥१॥

नमस्कारात्मक मंगलाचरण (आशीर्वादात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण

से भिन्न मंगलाचरण) के द्वारा पुरुषविशेषरूप ईश्वर (निर्दिष्ट शंकर भगवान्) के प्रति नमनभाव ज्ञापित करने के पश्चात् वाचस्पति मिश्र योगसूत्रकार पतञ्जलि के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए स्वरचित 'तत्त्ववैशारदी' नामक व्याख्या-ग्रन्थ के आधारभूत व्याख्येय ग्रन्थ की ओर इंगित करते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते।
संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधीयते[1]॥२॥

(योगप्रणेता) देवर्षि पतञ्जलि के प्रति प्रणति कर वेदव्यास (व्यासदेव) द्वारा (योग सूत्र पर) व्याख्यात भाष्य (व्यासभाष्य) पर (मैं) संक्षिप्त-स्पष्ट-अनेक विषयों वाली (मत-मतान्तर की प्रकाशिनी) व्याख्या कर रहा हूँ॥२॥

बालप्रिया–

किसी भी व्याख्या-ग्रन्थ में तीन विशेषताएँ होनी चाहियें–(१) संक्षिप्तता (२) स्पष्टता तथा (३) अनेक सिद्धान्तों की विश्लेषणात्मकता। वाचस्पतिमिश्रकृत तथाकथित 'तत्त्ववैशारदी' व्यासभाष्य का चूडान्त निदर्शन है। संक्षिप्तता का सौन्दर्य, विषय के स्पष्टीकरण में निहित है तथा संक्षिप्ततानिबन्धिनी स्पष्टता की परिपूर्णता अनेक विषयों के प्रकाशन में अन्तर्निहित है।

'**वेदव्यासेन भाषिते**'–वेदान्त में मायावच्छिन्न ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है और सांख्य-योग में '**प्रधान**' पदवाच्य '**प्रकृति**' जगत् का उपादानकारण है। अतः जगत् के उपादानकारण की चर्चा के प्रसंग में व्यास ने शांकरभाष्य में '**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' कहा है और तत्त्ववैशारदी में '**वेदव्यासेन भाषिते**' पंक्ति आई है। इन दो वाक्यांशों को लेकर विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

कुछ लोगों का कहना है कि–'**वेदव्यासेन भाषिते**'–इस वाक्यांश द्वारा यह ध्वनित होता है कि वेदव्यास द्वारा योगसूत्र पर भाष्य ग्रन्थ (योगभाष्य) लिखा गया है। तथा वेदान्तसूत्र '**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' २/३ द्वारा भगवान् व्यास ने योग का खण्डन किया है। इससे प्रतीत होता है कि वेदान्तसूत्र के रचयिता व्यास द्वारा यह योगभाष्य नहीं लिखा गया है। वेदान्त सूत्र के व्यास योग सूत्र के भाष्यकार व्यास से भिन्न हैं।

किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इतिहासविद् दोनों को एक व्यक्ति मानते हैं। अतः आपाततः प्रतीत असंगति का निराकरण निम्नाङ्कित दृष्टि से कर योगसूत्र पर लिखित वैयासिक योगभाष्य को प्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है–

---

1. क ख ग च ज झ त थ ध – **विधास्यते**, ध छ द न – **विधीयते**।

'एतेन योगः प्रत्युक्तः'–द्वारा ब्रह्मसूत्र में महर्षि व्यास का अभिप्राय योग का प्रत्याख्यान करना नहीं है। क्योंकि **'तां योगमिति मन्यन्ते'**, **'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'**–इत्यादि श्रुतिमूलक औपनिषद वाक्यों द्वारा योग का प्रामाण्य असन्दिग्ध है। अपितु मुख्यतः कापिलस्मृति (सांख्य) के अनुसार जगत् के उपादानकारण के रूप में स्वातन्त्र्येण मान्य प्रधानादि के सद्भाव का खण्डन करना है। अतः प्रमाणभूत योगशास्त्र से प्रधानादि की प्रतीति होने से **'प्रधान'** तत्त्व का अशब्दत्व (श्रुति-मूलकत्वाभाव) सिद्ध नहीं होता है। अतः प्रधान की सत्ता असन्दिग्ध है। (भले ही प्रधान में जगत् का उपादानकारणत्व वेदान्ती को मान्य न हो)। अतः प्रधानादि-सत्तापरक दृष्टि से वेदान्ती योग का खण्डन कर सकते हैं, अन्य दृष्टि से नहीं। वस्तुतस्तु योग, प्रधानादि-सत्तापरक ही नहीं है। वह (योगशास्त्र) तो योग का स्वरूप, योग-प्राप्ति का साधन, योगजन्य विभूतिरूप अवान्तर फल तथा कैवल्यरूप चरम फल का व्युत्पादक शास्त्र है। अतः इन्हें योगशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय बनाकर प्रसङ्गतः (निमित्तरूपेण) विकारसहित (कार्यसहित) प्रधान (प्रकृति) का वर्णन हुआ है। योगशास्त्र के द्वारा सांख्य के समान जगत् के स्वतन्त्र उपादानकारण के रूप में प्रधान की पुष्टि नहीं होती है। क्योंकि जगत् के कारण-सिद्धान्त पर प्रकाश डालना योग का तात्पर्य नहीं है। अतः जगत्कारणवादरूप अविषय में योग का अप्रामाण्य होने पर भी **'योग'** के प्रतिपादन में योगशास्त्र का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। उदाहरणार्थ–'रस' ग्रहण में चक्षु का अप्रामाण्य होने पर भी 'रूप'-विषय के ग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय का अप्रामाण्य नहीं है, यह सुविदित ही है। इसी भाँति वेदान्त की दृष्टि से जगत्कारणवाद के प्रसङ्ग में योग का अप्रामाण्य होते हुए भी सर्वथा (सर्वांशतः) योग की अप्रामाणिकता नहीं है। जैसा कि भामती में कहा है–**'नाऽनेन योगशास्त्रस्य हिरण्यगर्भपतञ्जलादेः सर्वथा प्रामाण्यं निराक्रियते।'** माधवाचार्य ने भी 'पराशरस्मृति' आदि ग्रन्थों में योगशास्त्र की वैयासिकता को सिद्ध किया है। निष्कर्षतः योगशास्त्र की प्रामाणिकता के विषय में लववेश भी सन्देहावकाश नहीं है। वाचस्पतिकृत भामती के अनवलोकन के कारण कुछ लोगों को यह भ्रांन्ति हुई है॥२॥

प्रथम सूत्र की उपस्थानिका के रूप में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं–

तत्त्ववैशारदी

इह हि भगवान् पतञ्जलिः प्रारिप्सितस्य[1] शास्त्रस्य संक्षेपतस्तात्पर्यार्थं प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं

1. क ग घ च छ ज थ द ध न – **प्रारिप्सितस्य**, ख झ त – **आरिप्सितस्य।**

श्रोतुश्च सुखावबोधार्थमाचिख्यासुरादा[1] विदं सूत्रं रचयाञ्चकार—अथ योगानुशासनम्।

निश्चित रूप से अभिलषणीय शास्त्र (योगशास्त्र) के संक्षेपेण तात्पर्य (अभिप्राय) बोध तथा श्रोता के सुकरतया अर्थावबोध को ख्यापित करने की इच्छा वाले महर्षि पतञ्जलि ने हेयोपादेयविवेकविषयिणी शेमुषी वाले व्यक्ति की (योगशास्त्र में) प्रवृत्ति के अङ्गभूत—अधिकारि-संबन्ध-विषय-प्रयोजन के अभिधान-रूप—इस प्रस्तुत सूत्र की रचना की है—'**अथेति**।'

बालप्रिया—

'**प्रेक्षावत्**'— (प्र+ईक्ष्+अङ्+टाप्=प्रेक्षा; प्रेक्षा+मतुप्=प्रेक्षावत्) विचारशील। त्याज्य और ग्राह्य के विषय में निर्णयात्मक मेधा वाले व्यक्ति को प्रेक्षावान् (प्रेक्षावत्) कहते हैं।

'**प्रवृत्त्यङ्गम्**'—किसी भी शास्त्र के प्रति विवेकी पुरुष के सक्रिय (अनवरत प्रयत्न शील) होने के चार आधार हैं। इनका ज्ञान होना अत्यावश्यक है। क्योंकि निष्प्रयोजन कोई भी प्रवृत्त नहीं होता है। वे चार आधारभूत अंग हैं—(१) शास्त्र का प्रतिपाद्य '**विषय**' (२) विषय के साथ शास्त्र का '**सम्बन्ध**', (३) शास्त्र का '**अधिकारी**' तथा (४) शास्त्र का '**प्रयोजन**'। इन्हें अनुबन्ध-चतुष्टय भी कहते हैं। प्रस्तूयमान शास्त्र का—साधन तथा फल के साथ योग का—प्रतिपादन करना 'विषय' है। योग तथा कैवल्य में अथवा शास्त्र तथा योग में साध्यसाधनभाव तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव 'संबन्ध' है। जिज्ञासु व्यक्ति योगशास्त्र का 'अधिकारी' तथा कैवल्य चरम 'प्रयोजन' है।

तत्त्ववैशारदी

तत्र प्रथमावयवमथशब्दं व्याचष्टे—अथेत्ययमधिकारार्थः। अथैष ज्योतिरितिवत्, न त्वानन्तर्यार्थः।

इनमें से सूत्र के प्रथम अवयवभूत '**अथ**' शब्द को तत्त्ववैशारदीकार बतलाते हैं—'**अथ**' शब्द का '**अधिकार**' अर्थ है। '**अथैष ज्योतिः**' (ताण्ड्य-ब्राह्मण १६.८.१) में प्रयुक्त '**अथ**' शब्द के समान। '**अथ**' शब्द यहाँ 'आनन्तर्य' अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

बालप्रिया—

जिस प्रकार '**अथैष ज्योतिः**' में '**अथ**' शब्द क्रतुविशेष (यागविशेष) का प्रारम्भार्थक है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी '**अथ**' शब्द योगशास्त्र का आरम्भार्थक है। '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'—ब्रह्म सूत्र में प्रयुक्त आनन्तर्यार्थक '**अथ**' शब्द के समान यहाँ '**अथ**' शब्द 'आनन्तर्य' अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **आदौ** उपलभ्यते, थ ध – **आदौ** नोपलभ्यते।

तत्त्ववैशारदी

अनुशासनमिति हि शास्त्रमाह–अनुशिष्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या।

'**अनुशासन**' शास्त्र को कहते हैं। '**अनुशिष्यतेऽनेन**'–अर्थात् इसके द्वारा (लक्षण, भेद तथा उपायसहित) योग का प्रतिपादन (व्युत्पादन) किया जाता है। अतः '**अनुशासन**' शब्द '**शास्त्र**' का वाचक है।

'**अथ**' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानते हुए तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तूयमान शास्त्र की प्रवृत्ति के विषय में पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

न चास्य शम[1]दमाद्यनन्तरं प्रवृत्तिरपि तु तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तरम्। जिज्ञासाज्ञानयोस्तु स्यात्। यथाम्नायते–'तस्मात् शान्तो दान्तः उपरतः[2] तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति।[3]

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि शम, दम आदि के अनन्तर योगशास्त्र की **प्रवृत्ति** मानी जाय?

समाधान–पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान की **जिज्ञासा के** अनन्तर ही (ज्ञानप्रधान) योगशास्त्र की प्रवृत्ति होती है और जिज्ञासा तथा ज्ञान में आनन्तर्य है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है–'**तस्मात्......पश्येत्**' अर्थात् शान्त (शम्+क्त–आवेशरहित), दान्त (दम्+क्त–नियन्त्रित), उपरत (उप+रम्+क्त–अनासक्त), तितिक्षु (तिज्+सन्+उ, द्वित्व–सहनशील) तथा समाहित (सम्+आ+धा+क्त–एकनिष्ठ) होकर साधक 'स्व' आत्मा में ही आत्मतत्त्व को देखे अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करे।

बालप्रिया–

अभिप्राय यह है कि '**अथ**' शब्द को आनन्तर्यबोधक मानने वाले पूर्वपक्षी यह बतलावें कि किसी भी पूर्ववृत्त के पश्चात् योगशास्त्र में प्रवृत्ति होती है अथवा ब्रह्मजिज्ञासा के समान शमादि के अनन्तर योगशास्त्र प्रवृत्त होता है? अनुपयोगी होने से तथा पूर्व वृत्तान्त के कथन के विना भी शास्त्र में प्रवृत्ति प्राप्त होने से प्रथम विकल्प त्याज्य है। क्योंकि मनुष्य एक कार्य को करने के पश्चात् दूसरा कार्य करता है। श्रीकृष्णभगवान् की उक्ति भी है–'**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **दम०** उपलभ्यते, थ ध–**दम०** नोपलभ्यते।
2. क – **उपरतिः तितिक्षुः उपलभ्यते**, ग घ च छ ज झ त थ द ध न – उपरतः तितिक्षुः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **इति**, थ द ध – **इत्यादिः** ।

तिष्ठत्यकर्मकृत्'–अर्थात् कर्म न करता हुआ मनुष्य कभी पल भर भी नहीं ठहरता है। द्वितीय विकल्प में भी असंगति है। शमादि के अनन्तर योगशास्त्र में प्रवृत्ति तो सम्भव है, किन्तु इस अनन्तरता में नियमाभाव है। अर्थात् शमादि के अनन्तर योगशास्त्र में प्रवृत्त होना चाहिये–ऐसी अनिवार्यता नहीं है। क्योंकि प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन की इच्छा के अनन्तर शास्त्र में प्रवृत्ति होती है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार अन्य दृष्टि से '**अथ**' शब्द के 'आनन्तर्यार्थक' विकल्प का खण्डन करते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनाद्युपयोगानंतर्यस्य च संभवेऽपि नाभिधानं, शिष्यप्रतीतिप्रवृत्त्योरनुपयोगात् प्रामाणिकत्वे योगानुशासनस्य तदभावेऽप्युपेयत्वादप्रामाणिकत्वे च तद्भावेऽपि हेयत्वात्। एतेन तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषयोरा[1]नन्तर्याऽभिधानं परास्तम्।

शिष्य के प्रश्न, तपश्चर्या या रसायनादि के उपयोग (शरीर में शक्ति लाने के लिये) आदि के अनन्तर योगशास्त्र सम्भव होने पर भी '**अथ**' शब्द को 'अनन्तर' के अर्थ में लेना समीचीन नहीं है। क्योंकि (शिष्य के प्रश्न के पश्चात्) शिष्य को ज्ञान कराने के लिये और उसमें शास्त्रविषयक प्रवृत्ति कराने के लिये आनन्तर्य का कोई उपयोग नहीं है। योगानुशासन के प्रामाणिक होने पर शिष्य के प्रश्न के विना भी शास्त्र की उपादेयता बनी रहती है और शास्त्र के अप्रामाणिक होने पर शिष्य के प्रश्न का सद्भाव होते हुए भी शास्त्र त्याज्य रहता है। (अर्थात् शिष्यप्रश्नादि को भी योगानुशासन के पूर्व में नियमपूर्वक नहीं माना जा सकता)। इस पद्धति से शिष्य-प्रश्न के अनन्तर तत्त्वज्ञान और उसके प्रकाशन में पौर्वापर्य (आनन्तर्य) का खण्डन हो जाता है। (क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष है)।

बालप्रिया–

पूर्वपक्षी '**अथ**' शब्द को आनन्तर्यार्थक सिद्ध करने के लिये अन्य युक्ति प्रस्तुत करता है, अर्थात् योगानुशासन तत्तत् कार्य के अनन्तर भी हो सकता है, ऐसा बतलाता है–

१. कुछ शास्त्र शिष्यों के द्वारा प्रश्न किये जाने के पश्चात् शास्त्रकारों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, जैसे–पाशुपतशास्त्र।

२. कुछ शास्त्र तपस्या के अनन्तर ज्ञानोत्पत्ति होने पर लिखे जाते हैं, जैसे–पाणिनिव्याकरण।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **आनन्तर्य०**, द – **आनन्तर्यार्थ०**।

३. कुछ शास्त्र पारदादि के संयोग से बने हुए रसायनों का सेवन करने के बाद तत्त्वसाक्षात्कार होने पर लिखे जाते हैं।

अतः इनमें से कोई भी कार्य योगानुशासन के पूर्व माना जा सकता है। फलतः **'अथ'** शब्द का 'आनन्तर्य' अर्थ प्रासंगिक तथा युक्तियुक्त है।

सिद्धान्ती (वाचस्पति मिश्र) का वक्तव्य है कि योगानुशासन की अनन्तरता शिष्यप्रश्नादि से नियमपूर्वक सीमित नहीं की जा सकती है। शिष्यप्रश्नादि, योगानुशासन की प्रवृत्ति में अन्यथासिद्ध हैं तथा शिष्यप्रश्नादि के विना भी मोक्षप्रतिपादक योगानुशासन की उपादेयता अक्षुण्ण है। निष्कर्षतः **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**—इस वेदान्त सूत्र के समान यहाँ **'अथ'** शब्द को आनन्तर्यार्थक मानने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये।

सम्प्रति, वाचस्पति मिश्र **'अथ'** शब्द के **'अधिकार'** अर्थ को उपसंहृत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

अधिकारार्थत्वे तु शास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य[1] योगस्याभिधानात् सकलशास्त्र-तात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्यः सुखेनैव बोधितश्च प्रवर्तितश्च भवतीति। निःश्रेयसस्य हेतुः समाधिरिति हि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धम्।[2]

'अथ' शब्द का **'अधिकार'** अर्थ करने पर शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले योग का प्रतिपादन करना संभव है। सम्पूर्ण शास्त्र के तात्पर्यार्थ की व्याख्या करने से शिष्य शास्त्र को सरलतापूर्वक ही समझ सकेगा और शास्त्र में प्रवृत्त हो सकेगा। (पूर्वपक्षी के मन की इस शंका—अप्रामाणिक योगानुशासन के प्रति शिष्य सहजतया कैसे प्रवृत्त हो सकता है—को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि) समाधि, निःश्रेयस अर्थात् कैवल्य का साधन है, यह श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराणों से सिद्ध है।

बालप्रिया—

'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'; **'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'**—श्रुतिवाक्य, **'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा'**; **'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'**—स्मृतिवाक्य, **'नास्ति योगसमं बलम्'**; **'तत्र योगी निरालम्बे निरातङ्के निरामये। षडङ्गयोगविधिना परे ब्रह्मणि लीयते'**—पुराणवाक्य—इत्यादि

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रस्तूयमानस्य** उपलभ्यते, थ द ध – **प्रस्तूयमानस्य** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रसिद्धम्**, थ द ध – **प्रसिद्धः**।

भिन्न-भिन्न वाक्यों से योग का निःश्रेयसहेतुत्व सिद्ध है। अतः योगानुशासन के प्रामाणिकत्वाभाव (अप्रामाणिक होने) में कोई प्रमाण नहीं है।

तत्त्ववैशारदीकार आगे लिखते हैं–

तत्त्ववैशारदी

ननु किं सर्वसन्दर्भगतोऽथशब्दोऽधिकरार्थः; तथा सति अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यादावपि प्रसङ्ग इत्यत आह–अयमिति।

शङ्का–क्या सभी शास्त्रीय सन्दर्भों (प्रसङ्गों) में आया '**अथ**' शब्द अधिकारार्थक है? यदि ऐसा मान लिया जाय तो '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि सूत्रों में भी '**अथ**' शब्द के '**अधिकार**' अर्थ की प्रसक्ति होने लगेगी?

समाधान–इस पर (अतिप्रसंग के निवारण के लिये) भाष्यकार कहते हैं–'**अयमिति**'। अर्थात् प्रस्तूयमान सूत्र में प्रयुक्त '**अथ**' शब्द अधिकारार्थक है, सर्वत्र नहीं।

तत्त्ववैशारदी

ननु हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन इति योगियाज्ञवल्क्यस्मृतेः कथं पतञ्जलेर्योगशास्त्र[1]कर्तृत्वमित्याशङ्क्य [2]सूत्रकारेणानुशासनमित्युक्तम्। [3]शिष्टस्यानुशासनं न तु शासनमित्यर्थः।

शङ्का–शंका है कि '**हिरण्यगर्भो योगस्य**'....अर्थात् 'योग के उपदेष्टा हिरण्यगर्भ हैं, कोई दूसरा पुराण पुरुष नहीं'–इस योगियाज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं तो पतञ्जलि को योगशास्त्र का कर्त्ता कैसे कहा जाता है?

समाधान–उक्त शंका को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार पतञ्जलि के द्वारा (योग का) '**अनुशासन**' किया गया–ऐसा ध्वनित होता है। (अर्थात् सूत्रस्थ '**अनुशासन**' शब्द, युक्तियुक्त है)। पतञ्जलि ने शिष्ट (उपदिष्ट) का '**अनुशासन**' अर्थात् पश्चात् कथन किया है, न कि योग का प्रथमतः कथन किया है।

बालप्रिया–

पतञ्जलि ने पुराणादि में यत्र-तत्र विकीर्ण '**योग**' का सारांश ग्रहण करने की इच्छा से योग का '**अनुशासन**' अर्थात् प्रथम प्रकाशन के पश्चात् उसका संकलन किया है, साक्षात् 'शासन' अर्थात् नये शास्त्र की रचना नहीं की है। यह प्रथम

---

1. क ख ग घ च छ ज त न – **कर्तृत्वम्**, झ थ द ध – **वक्तृत्वम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **सूत्रकारेणानुशासनमित्युक्तम्**, थ द ध – **सूत्रकारेणोक्तं 'अनुशासनम्' इति**।
3. क ख ग घ छ ज त न – **शिष्टस्यानुशासनं न तु शासनम्**, च झ थ द ध – **शिष्टस्य शासनमनुशासनम्**।

'शासन' नहीं, अपितु 'अनुशासन' है। अतः '**हिरण्यगर्भो**'...इस स्मृतिवाक्य से विसङ्गति नहीं बैठती है।

सम्प्रति, वाचस्पति मिश्र प्रस्तूयमान सूत्र का वाक्यार्थ बतलाते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यदायमथशब्दोऽधिकारार्थस्तदैष वाक्यार्थः संपद्यत इत्याह–योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतमिति। ननु व्युत्पाद्यमानतया योगोऽत्राधिकृतो न तु शास्त्रमित्यत आह–वेदितव्यमिति। सत्यं व्यत्पाद्यमानतया योगः प्रस्तुतः। स तु तद्विषयेण शास्त्रेण करणेन व्युत्पाद्यः। करणगोचरश्च व्युत्पादकस्य व्यापारो न कर्मगोचर इति कर्तृव्यापारविवक्षया योगविषयस्य शास्त्रस्याधिकृतत्वं वेदितव्यम्। शास्त्रव्यापारगोचरतया तु योग एवाधिकृत इति भावः।

'**अथ**' शब्द का '**अधिकार**' अर्थ (सुनिश्चित) होने से सूत्र का (निष्कृष्ट) वाक्यार्थ बतलाने के लिये व्यासदेव ने कहा है–'**योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतमिति**'।
शङ्का–शंका है कि व्युत्पाद्यमान तो 'योग' है। अतः 'योग' ही यहाँ अधिकृत है, न कि शास्त्र?
समाधान–इस पर व्यासदेव कहते हैं–'**वेदितव्यमिति**'। यह सत्य अर्थात् युक्तियुक्त है कि व्युत्पाद्यमान (प्रतिपाद्यमान) होने से योग ही प्रस्तुत (अधिकृत) हो रहा है, किन्तु 'योग' का प्रतिपादन शास्त्ररूप करण (साधन) से होता है। अर्थात् योग के प्रतिपादन में शास्त्र ही करण का काम करता है। (नियम यह है कि) व्युत्पादक (कर्त्ता) का व्यापार (क्रिया) करणाश्रित होता है–अर्थात् कर्त्ता, क्रिया की निष्पत्ति के लिये करण (साधन) से अधिक सम्बन्ध रखता है–न कि कर्माश्रित। अतः कर्त्ता के व्यापार के अभिप्राय (प्रयोजन) से 'योगविषयक शास्त्र अधिकृत हो रहा है'– ऐसा समझना चाहिये। इसका आशय यह है कि शास्त्रीय क्रिया के विषय के रूप में '**योग**' ही अधिकृत है।

बालप्रिया–

जैसे वर्धकि (वर्ध+कृष्+डि) अर्थात् बढई की उद्यमन (ऊपर उठाना), निपातन (नीचे गिराना) आदि क्रियाएँ कारणीभूत (साधन रूप) कुठार (परशु) से सम्बद्ध हैं, न कि कर्मीभूत (कर्मरूप) वृक्ष से। अर्थात् वृक्षच्छेदन के लिये कर्त्तारूप बढ़ई की–हाथ को ऊपर उठाना तथा नीचे गिराना आदि–क्रियाएँ कुठार साधन से ही (हाथ में कुठार होने पर ही) संभावित हैं। कुठार के न होने पर मात्र वृक्ष-कर्म को लेकर उद्यमन-निपातनरूप क्रियाएँ संभव नहीं हैं। जब कि परमार्थतः सकर्मक क्रिया की निष्पत्ति के लिये साधन के साथ-साथ कर्म की भी आवश्यकता रहती है। वैसे यहाँ पर वक्ता पतञ्जलि का प्रवचनरूप व्यापार (क्रिया) हो रहा है। जिसका

विषय योग है, ऐसे करणस्वरूप शास्त्र का आरम्भ उस व्यापार द्वारा अपेक्षित है। किन्तु परमार्थतः (स्पष्ट रूप में) पतञ्जलि के प्रवचन-व्यापार की अपेक्षा से 'योगविषयक' शास्त्र की अधिकृतता समझनी चाहिए और शास्त्राभिधान व्यापार की अपेक्षा से 'योग' की अधिकृतता समझनी चाहिये—यही विभाजक रेखा है।

'**अथ**' शब्द के '**अधिकारार्थक**' होते हुए भी उसकी मंगलात्मकता को परिपुष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं[1] नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायापि[2] कल्पत इति मन्तव्यम्।

दूसरे काम से ले जाये जाने वाले पानी से भरे घड़े को देखने के समान (यात्रा पर निकले हुए व्यक्ति का शुभ शकुन होता है) अधिकारार्थक (आरम्भार्थक) '**अथ**' शब्द का श्रवणमात्र मंगल के लिये भी होता है—ऐसा समझना चाहिये।

बालप्रिया—

पूर्वपक्षी का कहना है कि '**अथ**' शब्द को मंगलार्थक माना जाय? उत्तरपक्षी के अनुसार यह समीचीन नहीं है। अगर्हित तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होना मंगल है। अभीष्ट वस्तु वही है, जिसकी कामना कोई भी व्यक्ति सुख-प्राप्ति तथा दुःख-निवृत्ति के रूप में करता हैं। '**योगानुशासन**' न तो सुखरूप है और न दुःख-निवृत्तिरूप है। अतः यह मंगलवाचक नहीं है। जिस प्रकार मङ्गल, मृदङ्ग की ध्वनि का कार्य है। उसी प्रकार मंगल '**अथ**' शब्द के श्रवण या उच्चारण का कार्य ही है। अतः मंगल न तो '**अथ**' शब्द का वाच्यार्थ हो सकता है और न ही लक्ष्यार्थ। केवल 'मंगल' को 'अथ' शब्द प्रकट कर सकता है। अर्थात् '**अथ**' शब्द स्वरूपसत् रहकर मंगलप्रद है। किञ्च ऐसा मानने पर किसी प्रकार का श्रुतिविरोध नहीं है।

'**अथ**' और '**अनुशासन**' पदों पर विचार करने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत '**योग**' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

शब्दसन्देहनिमित्तमर्थसन्देहमपनयति—योगः समाधिरिति[3]। 'युज समाधौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थः।[4]

---

1. क ख ग थ द ध – **अन्यार्थम्**, घ च छ ज झ त न – **अन्यार्थ**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अपि कल्पते**, थ द ध – **उपकल्पते**।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **इति** उपलभ्यते, ख – **इति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न – **इत्यर्थः** उपलभ्यते, झ – **इत्यर्थः** नोपलभ्यते।

शब्दगत सन्देह के कारण (समुत्पन्न) अर्थविषयक सन्देह को दूर करते हुए भाष्यकार व्यासदेव कहते हैं–'**योगः समाधिरिति**'। '**युज समाधौ**'–धातु से निष्पन्न '**योग**' शब्द समाध्यर्थक है, '**युजिर् योगे**'–धातु के अनुसार संयोगार्थक नहीं।

बालप्रिया–

धातुगणपाठ में '**योग**' शब्द की सिद्धि के लिये दो धातुएँ उपलब्ध हैं, वे हैं– '**युजिर् योगे**' तथा '**युज समाधौ**'। '**युजिर् योगे**' से निष्पन्न '**योग**' शब्द संयोगार्थक है तथा '**युज समाधौ**' से निष्पन्न '**योग**' शब्द समाध्यर्थक। धातु के आधार पर 'योग' **शब्द के** एकाधिक अर्थ होने से यह प्रश्न सहज उठता है कि तथाकथित पातञ्जल योगसूत्र में प्रयुक्त '**योग**' शब्द किसी एक अर्थ में केन्द्रित अर्थात् सीमित है, अथवा दोनों अर्थों में? एक ही शास्त्र में प्रयुक्त '**योग**' शब्द के परस्पर भिन्न दोनों अर्थों की स्थिति सम्भव नहीं है। पृथक्-पृथक् शास्त्रों में '**योग**' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों की मान्यता हो सकती है। अतः '**योग**' शब्द के अर्थ को लेकर शास्त्रों का विभाजन होना आवश्यक है।

'**संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः**'–याज्ञ०,'**परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः। स एव योगो विख्यातः किमन्यद् योगलक्षणम्**–महाभारत, '**जलसैन्धवयोः साम्यं तथा भवति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भाष्यते**'-स्कन्द इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में प्रत्यगात्मा (जीव) और परात्मा (परमात्मा) का ऐक्यभूत 'योग' शब्द 'संयोगार्थक' है, जो '**युजिर् योगे**' धातु से निष्पन्न है। पातञ्जल योगशास्त्र में '**युज समाधौ**' धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द समाध्यर्थक है। योगशास्त्र में जीवात्मा को परमात्मा से एकीभूत कराना नहीं, अपितु पुरुष को स्वस्वरूपावस्थिति में प्रत्यावर्तित कराना लक्ष्य है।

उपनिषदादि शास्त्रों में तथा पातञ्जल योगशास्त्र–दोनों में '**योग**' साध्य के रूप में और '**समाधि**' साधन के रूप में विवेचित है, इसमें विमति नहीं है। फिर भी '**योगः समाधिः**'–व्यासभाष्य की यह पंक्ति भ्रान्ति का बीज है। सामानाधिकरण्य के आधार पर साध्यसाधनभाव की प्रतीति नहीं होती है। समाधान है कि '**आयुर्वै घृतम्**'–में जिस प्रकार घृत, दीर्घायु रूप साध्य का साधन है (क्योंकि घृत-प्रयोग से दीर्घायु प्राप्त होती है), फिर भी शुद्धसारोपा लक्षणा के द्वारा साध्य तथा साधन में अभेद विवक्षित है; '**लाङ्गलं जीवनम्**'–में लाङ्गल (हल) जीवनाधार है, स्वयं जीवनरूप नहीं है, फिर भी उपकार्य तथा उपकारक में अभेद विवक्षित है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में '**योग**' के अङ्ग के रूप में '**समाधि**' विवेचित है। अतः अङ्गाङ्गिभाव के आधर पर अभेद-विवक्षया '**योगः समाधिः**'–यह वैयासिक कथन समीचीन एवं युक्तियुक्त है।

'**योगः समाधिः**'–इत्यंश पर वाचस्पति मिश्र की ओर से विचार प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

ननु समाधिर[1]पि वक्ष्यमाणस्याङ्गिनो योगस्याङ्गम्, न चाङ्गमेवाङ्गीत्यत आह–**स च सार्वभौमः। चस्त्वर्थो[2]ऽङ्गादङ्गिनं भिनत्ति। सार्वभौमः**[3] भूमयोऽवस्था **वक्ष्यमाणाः मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका-संस्कारशेषास्ताश्चित्तस्य। तासु सर्वासु विदितः सार्वभौमश्चित्त-[4]वृत्तिनिरोधलक्षणो योगः। तदङ्गं तु समाधिनैवंभूतः। व्युत्पत्तिनिमित्तमात्राभिधानं चैतद्योगः समाधिरिति अङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षामात्रेण। [5]प्रवृत्तिनिमित्तं तु[6] योगशब्दस्य चित्तवृत्तिनिरोध एवेति परमार्थः।**

शङ्का–शङ्का है कि (अष्टाङ्गयोग के अन्तर्गत आगत=पठित) 'समाधि' भी वक्ष्यमाण अङ्गीभूत योग (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात) का अङ्ग अर्थात् साधन है। अतः अङ्ग को ही अङ्गी नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् अङ्गभूत समाधि को अङ्गीभूत योग की समकक्षता में–'**योगः समाधिः**'–इस सामानाधिकरण्य न्याय से–लाना युक्तिसंगत नहीं है।

समाधान–इस शंका के समाधानार्थ व्यासदेव का वक्तव्य है–'**स च सार्वभौमः**।' भाष्यस्थ '**च**' अव्यय 'तु' अर्थात् '**व्यावृत्ति**' अर्थ में प्रयुक्त है, जो अङ्गी योग को अङ्ग 'समाधि' से पृथक् करता है। (अर्थात् 'समाधि' इस सामान्य शब्द के द्वारा 'योग' का प्रारम्भिक परिचय समझना चाहिए)। आगे बतलाई जाने वाली मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका तथा संस्कारशेषा–नामक अवस्थाएँ वस्तुतस्तु चित्त की भूमियाँ (कहलाती) हैं। इन सभी अवस्थाओं में प्रतिज्ञात (सूचित) योग '**सार्वभौम**' कहलाता है। यह 'योग' चित्तवृत्तिनिरोधरूप है। 'किन्तु योग' की अङ्गभूत समाधि सार्वभौम नहीं है। अर्थात् चित्त की सभी अवस्थाओं में समाधि नहीं पाई जाती है। अङ्ग समाधि और अङ्गी योग का अभेद बतलाने के अभिप्राय से ही '**योगः समाधिः**'–में '**योग**' का व्युत्पत्तिलभ्य (व्याकरणसम्मत) सामान्य अर्थ 'समाधि' हैं। योग' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त '**चित्तवृत्तिनिरोधत्व**' ही है। योग शब्द का यही वास्तविक अर्थ है।

बालप्रिया–

'**व्युत्पत्तिः**'–(वि+उत्+पद्+क्तिन्) 'व्युत्पत्ति' शब्द के अर्थ हैं–(१) **विशेषणोत्पत्तिः**, (२) **शास्त्रजन्यः शब्दार्थज्ञानादिसंपाद्यः संस्कारविशेषः**, (३) **शब्दानामर्थबोधक**-

---

1. क ख ग – **इति**, घ च छ ज झ त थ द ध न – **अपि**।
2. क छ – **त्वर्थ**, ख ग घ च झ त थ द ध न – **त्वर्थः**।
3. थ द ध – **सार्वभौमः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सार्वभौमः** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **वृत्ति०** उपलभ्यते, थ द ध – **वृत्ति०** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रवृत्ति०** उपलभ्यते, द – **प्रवृत्ति०** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त न – **तु** उपलभ्यते, ध छ ज झ त – **तु** नोपलभ्यते।

शक्तिः, (४) **यां बुद्धिमासाद्य पदार्थविशेषबोधः सा**, (५) **शब्दशक्तिग्रहः**, (६) **विग्रह-वाक्यम्**, (७) **व्यवहारः** तथा (८) **नियमः**। व्याकरणसम्मत अर्थ को व्युत्पत्तिनिमित्तक ज्ञान कहते हैं। प्रकृत स्थल में '**युज समाधौ**' धातु से निष्पन्न '**योग**' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ '**समाधि**' ही प्राप्त होता है। अतः '**योगः समाधिः**'–यह कथन समीचीन है।

'**प्रवृत्तिनिमित्तम्**'–दार्शनिक शब्दावली में 'प्रवृत्तिनिमित्त' पद का अर्थ है–'**पदशक्यतावच्छेदकम्। यथा घटत्वं घटपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं शुक्लादिपदस्य शुक्लत्वम् पाचकादेः पाकः देवदत्तादेस्तत्तत्पिण्डादि प्रवृत्तिनिमित्तं भवति। प्रवृत्तिनिमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रवृत्तेः शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तं प्रयोजकम् इति**।' योगशास्त्र की प्रवृत्ति 'चित्तवृत्तिनिरोध' में है', अतः '**योग**' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) '**चित्तवृत्ति-निरोधत्व**' है। इस प्रकार '**योग**' शब्द का निष्कृष्ट अर्थ समझा जाता है।

तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

वृत्तयो ज्ञानान्यात्माश्रयाण्यतस्तन्निरोधोऽप्या[1]त्माश्रय एवेति ये पश्यन्ति तन्निरासायाह–चित्तस्य धर्म इति। चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति। न हि कुटस्थनित्या चितिशक्तिरपरिणामिनी ज्ञानधर्मा भवितुमर्हति, बुद्धिस्तु भवेदिति भावः।

शङ्का–(नैयायिक दृष्टि से) जब ज्ञानरूप वृत्तियाँ आत्माश्रित (आत्मनिष्ठ) हैं, तब वृत्तिनिरोध भी आत्माश्रित हुआ। (क्योंकि ज्ञानात्मक व्यापार का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व–एक ही आत्मरूप अधिकरण में संभव है। अतः ज्ञानरूप वृत्ति और वृत्तिनिरोध की चित्तनिष्ठता असमीचीन है)।

समाधान–ऐसा जो नैयायिक मानते हैं, उनके मत का खण्डन करने के लिये व्यासदेव (समाधान पक्ष की ओर से) कहते हैं–'**चित्तस्य धर्म इति**'। 'चित्त' शब्द अन्तःकरणरूप बुद्धि को लक्षित करता है। कूटस्थनित्य (फलतः) अपरिणामिनी चितिशक्ति ज्ञानरूपवृत्ति (धर्म) वाली नहीं हो सकती है, अपितु (परिणामशीला) 'बुद्धि' ही ज्ञानरूप वृत्ति (धर्म) वाली है।

बालप्रिया–

'**केवलो निर्गुणश्च**'–इस श्रुतिवाक्य, '**ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन। ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदाशिवः**'–इस स्मृतिवाक्य तथा '**निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा**'–इस सांख्यसूत्र से सिद्ध है कि ज्ञानरूप वृत्ति चितिशक्ति का (अनुपाधिक) व्यापार नहीं है। ज्ञानरूप वृत्ति तो बुद्धि का ही व्यापार है। इसमें–'**धी ह्री भीरित्येतत्सर्वं मन**

---

1. क ख ग घ छ ज त थ द ध न – **आत्माश्रयः**, च झ – **आत्माश्रितः**।

एव'–यह श्रुतिवाक्य, '**तत्कार्यं धर्मादि**':–यह सांख्यसूत्र तथा '**अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्**'–यह सांख्यकारिका प्रमाण है।

नैयायिकों के अनुसार 'तुष्यतुदुर्जनन्याय' से ज्ञान को चित्ताश्रित न मानकर यदि आत्माश्रित मान भी लिया जाय तो '**उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्**'–इस न्याय से आत्मतत्त्व का कूटस्थत्व व्याहत होता है, क्योंकि तार्किक दृष्टि से प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में प्रतियोगिसामानाधिकरणकत्व है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार वृत्तिनिरोध के सार्वभौमत्व का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–सार्वभौमश्चेद्योगो हन्त भोः क्षिप्तमूढविक्षिप्ता अपि चित्तभूमयः। अस्ति च परस्परापेक्षया वृत्तिनिरोधोऽप्यास्विति तत्रापि [1]योगत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य हेयोपादेयभूमी-रुपन्यस्यति–क्षिप्तमित्यादि। क्षिप्तं सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम्। मूढं तु तमःसमुद्रेकान्निद्रावृत्तिमत्। [2]क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम्। विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादा-चित्कः स्थेमा। सा चास्यास्थेमबहुलता सांसिद्धिकी वा वक्ष्यमाणव्याधिस्त्यानाद्यन्तरायज-निता वा। एकाग्रमेकतानम्। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धम्।

शङ्का–यदि 'योग' सार्वभौम है (अर्थात् चित्त की सभी अवस्थाओं में होने वाले 'यत्किञ्चित्' वृत्तिनिरोध को भी योग कहा जाय) तो दुर्भाग्यवश क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्तसंज्ञक चित्त की भूमियों अर्थात् अवस्थाओं को भी '**योग**' कहना पड़ेगा। क्योंकि इन अवस्थाओं में पारस्परिक (तुलनात्मक) दृष्टि से 'वृत्तिनिरोध' विद्यमान है। अतः (चित्त की) इन क्षिप्तादि अवस्थाओं में भी योगलक्षण का अतिप्रसङ्ग (अनभिप्रेत विस्तार=अतिव्याप्ति दोष) उपस्थित होगा?

समाधान–ऐसी आशङ्का होने पर (योग की दृष्टि से) चित्त की भूमियों के हेयत्व (त्याज्यत्व) और उपादेयत्व (संग्राह्यत्व) को भाष्यकार प्रस्तुत करते हैं–'**क्षिप्त-मित्यादि**'। रजोगुण से (त्रिगुण में से रजोगुण के पारिमाणिक आधिक्य से) तत्- तद् विषयों (पदार्थों) में (अनुरागपूर्वक) उलझकर पूर्णतया चंचलता को प्राप्त चित्त '**क्षिप्त**' (भूमिक) है। तमोगुण के प्राबल्य (अनभिप्रेत आतंक) से तन्द्रादि वृत्ति वाला चित्त '**मूढ़**' (भूमिक) है। क्षिप्तादि से युक्त चित्त '**विक्षिप्त**' (भूमिक) है। 'विक्षिप्त' अवस्थाक चित्त यथेष्ट (प्रचुर) चंचल ही रहता है, किन्तु कभी-कभी तात्कालिक

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **योगत्व०**, थ द ध – **योग०**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम्**, थ ध – **विक्षिप्तं क्षिप्ताद्विशिष्टम्**।

स्थिरता को प्राप्त होता है। चित्त की यह बहु-आयामी अस्थिरता (**बहुविध** विषयाकारता) सहज (स्वाभाविक, प्रयत्ननिरपेक्ष) है अथवा अग्रतः **निर्दिष्ट** (योगसूत्र में) व्याधि, स्त्यानादि (नव) अन्तरायों अर्थात् विघ्नों से समुद्भूत= प्रभावित (कही जा सकती) है। (इस विधा से विक्षिप्तता चित्त का **नैमित्तिक धर्म** है)। एकतान अर्थात् एकविषयाभिमुखता (ध्येयातिरिक्तविषया- प्रसरता) चित्त की '**एकाग्र**' संज्ञक भूमि है। जिसमें संस्कारमात्र ही शेष रहता है, ऐसा सर्ववृत्तिनिरोधक (चित्तव्यापारमात्र के प्रतिबन्धन में सफलीभूत) चित्त '**निरुद्ध**' भूमिक (कहलाता) है।

बालप्रिया–

तत्त्ववैशारदी के टिप्पणीकार बलरामोदासीन ने क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त संज्ञक चितभूमिप्रधान **प्राणियों के उदाहरण इस प्रकार बतलाये हैं–**

(क) दैत्य-देवतादि अथवा अर्थलोलुपता से विक्षुब्ध (विभ्रंशित) विषयासक्त पुरुषों का चित्त '**क्षिप्त**' प्रधान होता है।

(ख) रक्ष, पिशाचादि अथवा मादक द्रव्य के सेवन से अनियन्त्रित (मदहोश) **नीच** मनुष्यों का चित्त '**मूढ़**' प्रधान होता है।

(ग) देवता तथा प्रथम योगभूमि में समारूढ़ जिज्ञासु साधकों का चित्त '**विक्षिप्त**' प्रधान होता है। विक्षिप्तसंज्ञक भूमि में अस्थैर्य-प्रवणता अर्थात् चाञ्चल्य विपुलता है, अतः स्थिरता अल्प है।

(घ) चित्तस्थैर्य की यह अल्पता '**एकाग्र**' भूमि में सघनता को प्राप्त होती है।

(ङ) सघनत्व को प्राप्त हुई चैत्तिक एकतानता की अन्तिम परिणति '**निरुद्ध**' भूमि में संस्काररूप से स्वास्तित्वबोध कराती है।

चित्त की पाँच भूमियों का स्वरूप प्रतिपादित कर तत्त्ववैशारदीकार चैत्तिक भूमियों की उपादेयानुपादेयता के वर्गीकृत कोण को सहेतुक प्रस्तुत करते हैं:–

तत्त्ववैशारदी

तत्र क्षिप्तमूढयोः सत्यपि परस्परापेक्षया वृत्तिनिरोधे पारम्पर्येणापि निःश्रेयसहेतुभावा-भावा[1]त्तदुपघातकत्वाच्च योगपक्षाद् दूरोत्सारितत्वमिति न तयोर्योगत्वं निषिद्धम्।

चित्त की पञ्चविध भूमियों में से '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' संज्ञक भूमियों में गुणात्मक (रजोगुण अथवा तमोगुण के पारिमाणिक आधिक्य के) आधार पर पारस्परिक वृत्तिनिरोध के होने पर भी इन्हें योग-साधना के प्रायोगिक पीठ (मञ्च=पक्ष) से दूर रखना चाहिये, क्योंकि इन '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' भूमियों में परम्परया (गौण रूप से) भी मोक्ष के प्रति हेतुत्व का अभाव है। अर्थात् ये चित्तभूमियाँ मोक्ष-प्राप्ति के

1. क ख ग च थ द ध – तदुप०, घ छ ज झ त न – तद्रूप०।

प्रति सहकारी नहीं हैं। प्रत्युत ये चित्त भूमियाँ मोक्ष-प्राप्ति में गतिरोध (संप्रहार, उत्पीडन) भी उत्पन्न करती हैं–इस प्रकार चित्त की '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' भूमि में योगगन्धत्व का अभाव होने से (योग-परिधि से बहिष्कृत होने के कारण) इनके योगत्व का निषेध ही नहीं किया गया है (निषेध करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई)।

बालप्रिया–

नियम दो प्रकार का होता है–एक विधि नियम तथा दूसरा प्रतिषेध नियम। '**विधि**' प्रवृत्तिमुखेन तथा '**निषेध**' निवृत्तिमुखेन प्रवृत्त होता है। इनमें से '**निषेध**' सर्वथा प्राप्तिपुरस्सर होता है अर्थात् प्राप्त का ही निषेध किया जाता है। तदर्थ मीमांसादर्शन का निषेध प्रकरण द्रष्टव्य है–'**पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः**'–इस '**निषेध**' लक्षण के अनुसार रागतः प्राप्त कलञ्जभक्षण का निषेध–'**न कलञ्जं भक्षयेत्**' इस निषेध वाक्य से किया गया है। प्रकृत स्थल में अर्थात् क्षिप्त और मूढ़ भूमि में '**योगत्व**' की प्राप्ति ही नहीं है (योगगन्धत्व भी नहीं है), अतः तद्भूमिक '**योग**' को '**योग**' न समझा जाय–ऐसा निषेध करना शास्त्रविरुद्ध तथा असंगत है।

सम्प्रति, '**विक्षिप्त**' भूमिक चित्त के योगत्व पर तत्त्ववैशारदीकार विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

विक्षिप्तस्य तु कादाचित्कसद्भूतविषयस्थेमशालिनः सम्भाव्येत योगत्वमिति निषेधति–तत्र इति। विक्षिप्ते चेतसि समाधिः[1]कादाचित्कः सद्भूतविषयश्चित्तस्य स्थेमा न योगपक्षे वर्तते। कस्मात्? यतस्तद्विपक्षविक्षेपोपसर्जनीभूतः। विपक्षवर्गान्तर्गतस्य हि[2] स्वरूपमेव दुर्लभं, प्रागेव कार्य[3]करणं न खलु दहनान्तर्गतं बीजं त्रिचतुरक्षणावस्थितमुप्तमप्यङ्कुराय कल्पत इति भावः।

सद्भूत अर्थात् यथार्थ विषय के प्रति '**विक्षिप्त**' भूमिक चित्त में कादाचित्क (कभी-कभी, खण्डित रूप से) स्थिरशीलता संभव होने से इस भूमि में प्राप्त 'वृत्तिनिरोध' को '**योग**' की संज्ञा प्रदान किये जाने का खण्डन करना आवश्यक है। अतः (योगसाधना के लिये) चित्त की '**विक्षिप्त**' भूमि की उपयोगिता (लाभ-दायकता) का खण्डन व्यासदेव करते है–'**तत्र इति**।' '**विक्षिप्त**' चित्त में होने वाली समाधि (अर्थात् तात्कालिक यथार्थ वस्तुविषयक चित्त की यत्किञ्चित् कालिक स्थिरता=दृढ़ता) '**योग**' कोटि में परिगणित नहीं है।

---

1. क ख ग घ छ झ न – **कादाचित्कः सद्भूतविषयः**, च ज त थ द ध – **कादाचित्कसद्भूतविषयस्य**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **हि** उपलभ्यते, थ ध – **हि** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ ज झ त थ द ध न – **करणम्**, च छ – **कारणम्**।

शङ्का–प्रश्न है कि विक्षिप्तभूमिक कादाचित्क समाधि को '**योग**' क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान–उत्तर यह है कि विक्षिप्तभूमिक चित्त की कादाचित्क समाधि अर्थात् स्थिरता (वृत्तिनिरोध) विरोधी क्षिप्तादि भूमियों की अस्थिरता (चंचलता) के आधिक्य के कारण गौण अर्थात् अभिभूत=धूमिलप्राय (अप्रधान) ही बनी रहती है। अतः अपने विरोधी चैत्तिक चंचल वर्ग के अन्तर्गत पतित चित्तस्थैर्य का स्वरूपबोध (पार्थक्य ज्ञान) ही दुर्लक्ष्य हो जाता है। चित्त में स्वाभाविक चाञ्चल्य विपुलता ही दृष्टिगोचर होती है अर्थात् चित्त पूर्वकालिक व्युत्थितवृत्तिक ही रहता है। (अतः विक्षिप्त अवस्थाक चित्त कैसे योगोपयोगी हो सकता है)? विषय के स्पष्टीकरणार्थ वाचस्पति मिश्र 'स्थाणुनिखननन्याय' से लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–अग्नि में तीन, चार क्षण तक जला हुआ बीज (अग्नि द्वारा विनाश के कगार पर खड़ा हुआ बीज भूमि में) रोपित किये जाने पर भी अंकुरोत्पादन (वंश-वृद्धि) में समर्थ नहीं होता है। अर्थात् जिस प्रकार अनल द्वारा भस्मीभूत बीज में स्वास्तित्व के विकास की शक्ति निहित नहीं रहती है उसी प्रकार चंचल वृत्तियों से प्रताड़ित (समाधि-परिसर के समीप पहुँची) '**विक्षिप्त**' वृत्तिक तन्ववस्था केन प्रकारेण उदारावस्था को प्राप्त हो सकती है? निष्कर्षतः व्यापक विचार के पश्चात् '**विक्षिप्त**' भूमिक चित्त के योगानुपयोगी होने के विषय में लवलेश भी सन्देहावकाश नहीं रह जाता है ।

बालप्रिया–

'**स्थेमा**'–स्थेमन् (स्था+इमनिच्) दृढ़ता। उदाहरणार्थ–'**द्राघीयांसः संहताः स्थेमभाजः**'–शि. १८/३३, '**न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयनाः**'–भामि. १/३२।

सम्प्रति, योगोपयोगी '**चित्तभूमि**' पर विचार प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

यदि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगः कस्तर्हीत्यत आह–यस्त्वेकाग्रे चेतसीति। भूतमिति समारोपितमर्थं निवर्तयति। निद्रावृत्तिरपि स्वालम्बने तमसि भूते भवत्येकाग्रेत्यत उक्तम्-सदिति। शोभनं नितान्ताविर्भूतसत्त्वम्। तमःसमुद्रेकस्त्वशोभनस्तस्य क्लेशहेतुत्वादिति। द्योतनं हि तत्त्वज्ञानमागमाद्वानुमानाद्वा भवदपि परोक्षरूपतया न साक्षात्कारवतीमविद्या-मुच्छिनत्ति, द्विचन्द्रदिङ्मोहादिष्वनुच्छेदकत्वादत आह–प्रेति। [1]प्रशब्दो हि प्रकर्षं द्योतयन् साक्षात्कारं सूचयति।

---

1. क ख घ ज झ त थ द ध न – **प्रशब्दः**, ग च छ – **प्रकारः**।

शङ्का—यदि विक्षेप के कारण गौणता को प्राप्त हुई '**समाधि**' योग कोटिक नहीं है तो फिर कौन सी समाधि योगपक्ष में न्यस्त है?

समाधान—शंका का समाधान करते हुए व्यासदेव कहते हैं—'**यस्त्वेकाग्रे चेतसीति**।' (भाष्य में) '**भूतम्**' इस पद के प्रयोग द्वारा भाष्यकार ने समारोपित अर्थात् अतद्रूप (काल्पनिक) विषय का निषेध किया है। (अर्थात् यथार्थ पदार्थविषयिणी स्थिरता ही चित्त की '**एकाग्रता**' कहलाती है)। किन्तु ऐसा मानने पर वाञ्छित तमोगुण को ही आलम्बन करने वाली '**निद्रावृत्ति**' भी चित्त की एकाग्रावस्था कहलाने लगेगी (जो अनभिप्रेत है)। अतः (इस अवाञ्छित प्रसङ्ग के निवारण के लिये)—भाष्यकार ने कहा है—'**सदिति**।' प्रचुर मात्रा में सत्त्वाविर्भाव शोभनीय है तथा तमोगुण का आधिक्य अशोभनीय है, क्योंकि तमोगुण क्लेश का कारण है। (इस प्रकार '**सद्भूतमर्थम्**' का निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि एकाग्रभूमिक चित्त परमार्थभूत ध्येय तत्त्व को ही विषय बनाता है। इससे अभावप्रत्ययालम्बनक चित्तवृत्ति की भी व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि सद्भूत (यथार्थ) पदार्थ का यथार्थज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा भी संभव है तथापि ऐसा परोक्ष (अप्रत्यक्ष) तात्त्विक ज्ञान प्रत्यक्षयोग्य अविद्या का उच्छेद नहीं कर पाता है। इसके कारण द्विचन्द्रदर्शन, दिङ्मोह आदि भ्रम बने ही रहते हैं—इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भाष्यकार ने कहा है—'**प्रेति**।' ('**द्योतनं**' शब्द के साथ प्रयुक्त) '**प्र**' उपसर्ग प्रकृष्ट द्योतन अर्थात् साक्षात्कार को सूचित करता है। (अतः सिद्धान्तित हुआ कि एकाग्रभूमिक चित्त परमार्थभूत ध्येय तत्त्व का साक्षात्कार कराता है। अर्थात् एकाग्र चित्त में यथार्थ विषय का ही प्रद्योतन होता है)।

जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा अन्धकार उत्पाटित होता है उसी प्रकार एकाग्र चित्त में उदित तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास के द्वारा अज्ञान का नाश अवश्यम्भावी है। क्योंकि परस्पर प्रतिद्वन्द्वियों में सहावस्थान सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

अविद्यामूलत्वादस्मितादीनां क्लेशानां विद्यायाश्चाविद्योच्छेदरूपत्वाद्विद्योदये चाविद्या[1] **दि क्लेशसमुच्छेदो विरोधित्वात्कारणविनाशाच्चेत्याह—क्षिणोति चेति। अतएव कर्मरूपाणि बन्धनानि श्लथयति। कर्म चात्रापूर्वमभिमतम्, कार्ये कारणोपचारात्। श्लथयति स्वकार्या-दवसादयति। वक्ष्यति हि सति मूले तद्विपाक इति।**

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – आदि० उपलभ्यते, द – आदि० नोपलभ्यते।

अस्मितादि क्लेशों के अविद्यामूलक होने से और विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने से विद्या के उदय काल में अविद्यादि (पञ्च) क्लेश उन्मूलित हो जाते हैं। क्योंकि विद्या और अविद्या में परस्पर विरोध है और (दूसरा कारण यह है कि) कारण के न रहने पर कार्य की सत्ता भी नहीं रहती है। (अर्थात् विद्या के द्वारा अविद्या का नाश और अविद्या कारण के न रहने पर अस्मितादि कार्यरूप क्लेशों का समुच्छेद हो जाता है) इसी अभिप्राय से व्यासदेव ने कहा है–'**क्षिणोति चेति**।' (सद्भूत अर्थ के साक्षात्कार द्वारा अविद्यादि क्लेश के क्षीण होने पर अविद्यादि क्लेश की अग्रिम शृंखला कर्म-रूप बन्धन शिथिल हो जाता है। अर्थात् अविवेक के कारण व्यापारयुक्त बन्धनकारक धर्माधर्मरूप कर्म अदृष्टोत्पादन में अक्षम हो जाते हैं। यहाँ '**कर्म**' शब्द से '**अपूर्व**' अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि कार्य में कारण का उपचार (व्यवहार) किया जाता है। '**श्लथयति**'-पद का अर्थ है कि तत्त्वज्ञान धर्माधर्म को अपना कार्य करने से रोक देता है। धर्माधर्म आदि के कार्य (फल) '**सति मूले तद्विपाकः----**' (२/१३) इस अग्रिम योगसूत्र में बतलाये जायेंगे। (सारांशतः क्लेशरूप कर्माशय के मूल में होने पर ही कर्माशय द्वारा–'**जाति**', '**आयु**' तथा '**भोग**' फल प्राप्त होता है।

बालप्रिया–

'**उपचार**': (उप+चर्+घञ्) समता के आधार पर बने काल्पनिक अभिज्ञान को 'उपचार' कहते हैं। जैसा कि कहा गया है–'**अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्**-'**शारी.**। इसी प्रकार यहाँ सत्कार्यवाद के अनुसार कारण-कार्य का अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अतः ''**कार्य**' के लिये (उपचारविधया) '**कारण**' शब्द का प्रयोग युक्तियुक्त है। वात्स्यायन के अनुसार–'**सहचरणादिनिमित्तेनातद्भावे तद्वदभिधानम्–१. २. १४. अथवा शक्यार्थत्यागेन लक्षणयान्यार्थ- बोधनम्। यथा मञ्चा क्रोशन्ति अग्निर्माणवक इत्यादौ। अत्र तु अन्वयानुपपत्तिरेवोपचारबीजम्। यथा आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च-वै ५. १. ६. इत्यादावात्मशब्दः शरीरावयवपर उपचारात् इति-वै. उ. ५. १. ६. तात्पर्यानुपपत्तिरेवोपचारे बीजम्**'-**न्यायकोश पृ. १५८**।

चित्त की एकाग्रभूमिक 'स्थिरता' के स्वरूप प्रतिपादन की शृंखला के अन्तर्गत व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

किं च निरोधमभिमुखं करोत्यभिमुखीकरोति। स च संप्रज्ञातश्चतुष्प्रकार इत्याह-स चेति। असंप्रज्ञातमाह-सर्ववृत्तीति। रजस्तमोमयी किल [1]प्रमाणादिवृत्तिः सात्त्विकीं वृत्तिमुपादाय

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न – प्रमाण०, छ – प्राण०।

संप्रज्ञाते निरुद्धा। असंप्रज्ञाते तु सर्वासामेव निरोध इत्यर्थः।

किञ्च (चित्त का) एकाग्रभूमिक स्थैर्य निरोधरूप समाधि को अभिमुख करता है। अर्थात् असम्प्रज्ञात को प्रत्यासन्न करता है। (एकाग्रभूमिक स्थैर्य सम्प्रज्ञात योग का वाचक है इसलिये)—यह एकाग्रभूमिक 'सम्प्रज्ञात' चार प्रकार का है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'**स चेति**।' यह सम्प्रज्ञात योग—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत है, इसका प्रतिपादन आगे (१/१७ सूत्र में) किया जायेगा। अब भाष्यकार असम्प्रज्ञात को बतलाते हैं—'**सर्ववृत्तीति**।' सम्प्रज्ञात योग में रजस्तमोमयी राजसिक एवं तामसिक प्रमाणादि वृत्तियाँ सत्त्वगुणप्रधान (सात्त्विक) वृत्ति के द्वारा निरुद्ध हो जाती हैं। असम्प्रज्ञात में तो (सात्त्विक वृत्ति भी निरुद्ध होकर) समस्त वृत्तियों का ही निरोध हो जाता है।

बालप्रिया—

कहने का तात्पर्य यह है कि '**सम्प्रज्ञात**' योग में '**क्लिष्ट**' वृत्तियों का नाश करने वाली '**अक्लिष्ट**' वृत्ति बनी रहती है, किन्तु '**असम्प्रज्ञात**' योग में तो अक्लिष्ट वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। '**सम्प्रज्ञात**' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयं यस्मिन्निरोधविशेषे स सम्प्रज्ञातः**। '**असम्प्रज्ञात**' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'**न किञ्चित् प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातः**।'

प्रथम सूत्रगत भाष्य की व्याख्या का समापन करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

तदिह भूमिद्वये समाप्ता या मधुमत्यादयो भूमयस्ताः सर्वास्तासु विदितः सार्वभौम इति सिद्धम्॥१॥

इस प्रकार '**एकाग्र**' और '**निरुद्ध**'—इन दो भूमियों में समर्पित (समाप्त होने वाली) जो '**मधुमती**' आदि चार भूमियाँ हैं, उन सबमें दिखलाई पड़ता हुआ (चित्त-वृत्तिनिरोधरूप) योग '**सार्वभौम**' है— यह सिद्धान्तित (एवं समर्थित) होता है॥१॥

योगवार्त्तिककार मंगलाचरण करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

[1]यश्चिन्मात्ररसोऽपि नित्यविमलोपाधेर्गुणैरीश्वरो
हेयैः क्लेशमुखैर्गुणैर्विरहितो मुक्तः सदा निर्गुणः।

1. क ग घ च छ – **यश्चिन्मात्ररसोऽपि... आविर्भवति स वः** अनेकानि वाक्यानि उपलभ्यन्ते, ख – **यश्चिन्मात्र.....स वः** वाक्यानि नोपलभ्यन्ते।

सोऽस्मान् बुद्धिगुणैः स्वयं निगडितान् [1]स्वांशान् कृपासागरो
दीनान्मोचयतु प्रभुर्गुणमयं पाशं [2]दहल्लीलया॥१॥

जो चिन्मात्ररस होता हुआ भी नित्य, निर्मल, उपाधि के गुणों से तथा क्लेशात्मक हेय गुणों से रहित, सर्वदा मुक्त, निर्गुण ईश्वर है, वह करुणा का समुद्र प्रभु बुद्धि के गुणों से बद्ध अपने अंशभूत दीनहीन पुरुषों के गुणमय पाश अर्थात् अविद्यानिर्मित बन्धनरज्जु को क्रीडामात्र से दग्ध करता हुआ मुक्त करे॥१॥

बालप्रिया–

'**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**'–१/२४ सूत्र में पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप को प्रस्तुत श्लोक की प्रथम और द्वितीय पंक्ति द्वारा स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार ने योगसिद्धान्त पर अपनी आस्था प्रकट की है।

श्लोक की तृतीय पंक्ति द्वारा '**जीव**' का स्वरूप उद्घाटित होता है। बुद्धि के धर्मादि आठ भावों से बंधकर ही यह चिन्मात्र पुरुष '**जीव**' संज्ञा को प्राप्त करता है। जीव को ही योगशास्त्र में "**पुरुष**" शब्द से अभिहित किया गया है। इसी अभिप्राय से '**बुद्धिगुणैः**' पद का प्रयोग हुआ है। वस्तुतस्तु '**जीव**' पदवाच्य यह पुरुष, '**पुरुषविशेष**' का ही अंश है। अतः ग्रन्थकार ने '**स्वांशान्**' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार योगवार्त्तिककार ने पुरुष तथा पुरुषविशेष के मध्य अंशांशिभावसम्बन्ध की उद्घोषणा कर योग तथा वेदान्त दर्शन में समन्वय स्थापित किया है।

श्लोक की चतुर्थ पंक्ति द्वारा 'गुणमय पाश' के छेदन को मोक्ष का साधन बतलाया गया है। तथाकथित अविद्यात्मक पाश-छिन्नता के लिये अष्टाङ्गयोग साधनत्वेन उपदिष्ट है, किन्तु नियमवर्ती ईश्वरभाव से अर्जित भगवत्कृपा की यह महिमा है कि भक्त अन्य साधनाभ्यास से निरपेक्ष रहकर मात्र ईश्वर के क्रीडाविलास से अविद्यापाश को भस्मीसात कराने के लिये ईश्वर को विवश कर देता है। भक्त की यही पुकार '**मोक्षयतु**' पद द्वारा मुखरित हुई है।

'**लीला**'–(ली+क्विप् लियं लाति, ला+क वा) क्रीडा, मनोरंजन। प्रभु अपने कौतुक का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न अवतार धारण करके करता है, ऐसा '**लीला**' पद से 'ध्वनित' होता है॥१॥

सम्प्रति, विज्ञानभिक्षु योगवार्त्तिक के प्रणयन का उद्देश्य बतला रहे हैं–

---

1. क – **स्वान्**, ग घ च छ – **स्वांशान्**, ख – **स्वान् स्वांशान्** नोपलभ्यते।
2. क – **दहेन्नित्यदा**, ग घ च छ – **दहल्लीलया** उपलभ्यते, ख – **दहेन्नित्यदा दहल्लीलया** नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

श्रीपातञ्जलभाष्यदुग्धजलधिर्विज्ञानरत्नाकरो
वेदव्यासमुनीन्द्रबुद्धिखनितो योगीन्द्रपेयामृतः।
भूदेवैरमृतं तदत्र मथितुं विज्ञानविज्ञैरिह
श्रीमद्वार्त्तिकमन्दरो गुरुतरो मन्थानदण्डोऽर्प्यते॥२॥

ऋषिराज वेदव्यास की बुद्धि से '**खनित**' अर्थात् निर्मित, '**योगीन्द्र**' अर्थात् लब्धख्यातिमान् ऋषि के लिये पेयसुधारूप, विज्ञानरूप मणियों का आलयरूप, '**पातञ्जलभाष्य**' अर्थात् पतंजलि द्वारा निर्मित सूत्रों पर लिखा गया जो व्यासभाष्यरूप दुग्धाब्धि है, उसमें से तत्त्ववेत्ता ऋषियों द्वारा अमृत (रूप मोक्ष) के मन्थन के लिये मथनीस्वरूप अत्यन्त विस्तृत वार्त्तिकरूप मन्दर (मन्दराचल पर्वत) को (मैं विज्ञान-भिक्षु) अर्पित कर रहा हूँ॥२॥

बालप्रिया–

'**मन्थानदण्डः**'–प्रस्तुत श्लोक में विज्ञानभिक्षु ने व्यासकृत योगभाष्य को क्षीरसमुद्र से, भाष्य में अन्तर्निहित दार्शनिक तथ्यों को समुद्रगर्भीय रत्नों से, ऋषियों द्वारा प्रापणीय मोक्ष को पेयामृत से, योगभाष्य के अवबोधार्थ योगवार्त्तिक को समुद्रमन्थन के लिये मथनीस्वरूप मन्दराचल से उपमित करते हुए योगप्रेमियों के लिये शास्त्र-मन्थन की सुपात्रता को उद्घाटित किया है। इस प्रकार योगवार्त्तिकरूप दण्ड का उद्देश्य योगभाष्यरूप समुद्र का अवलोडन कर मोक्षरूप नवनीत को ऊपर निकालना है॥२॥

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योगभाष्य की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए व्यासदेव के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः।
योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षुणामिदं गतिः॥३॥

योगभाष्य के व्याज से व्यासदेव ने प्रस्तुत ग्रन्थ में निखिल वेदार्थ का सार बतलाया है। मुमुक्षुओं का यह आधार (गति) है अर्थात् मुमुक्षु को मोक्ष प्रदान करने के लिये यह साधनस्वरूप है॥३॥

बालप्रिया–

'**सर्ववेदार्थसारः**'–इस पद के द्वारा योगवार्त्तिककार ने योगभाष्य की व्यापकता एवं सर्वाङ्गीर्णता के साथ-साथ, वेद को योग-तथ्यों का आदिस्रोत बतला कर, ग्रन्थ की वेदमूलकता एवं प्रामाणिकता को उद्घाटित किया है॥३॥

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योग में सांख्यादि दर्शनों का अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

गङ्गाऽऽद्याः सरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः॥४॥

जिस प्रकार गंगा आदि नदियाँ समुद्र के अंशरूप में अवस्थित रहती हैं, उसी प्रकार सांख्य आदि दर्शन भी पूर्णरूप से योग के अंशों में रहते हैं।

बालप्रिया–

'सांख्यादिदर्शनानि'–सांख्य-योग की समानतन्त्रता तो प्रसिद्ध ही है। अन्य वेदान्तादि दर्शनों के सिद्धान्त भी इस योग-शास्त्र में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। अतः योग को सभी दर्शनों का मूल उसी प्रकार कहा जा सकता है, जिस प्रकार समुद्र गंगादि समस्त जलधाराओं का मूल है॥४॥

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वैयासिक मंगलाचरण की व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

[1]**निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तये योगप्रवर्त्तकमनन्तमीश्वरं स्मरन् शिष्याणां शास्त्रग्रहणानुष्ठाना-दावप्यप्रबिन्धं तत एव प्रार्थयते–यस्त्यक्त्वेति। यः स्वस्याद्यरूपं शेषाख्यं त्यक्त्वा स्वांशैस्ततो विभक्तो भूत्वा लोकानुग्रहार्थं बलरामादिरूपेणाविर्भवति स वो युष्मान् शिष्यान् पालयेत् शास्त्रार्थग्रहणादि- [2]प्रतिबन्धं निवारयत्वित्यर्थः। शेषं सुगमम्।**

निर्बाधरूप से प्रस्तूयमान 'योगभाष्य' नामक ग्रन्थ की समाप्ति के लिये और शिष्यों को शास्त्रीय तत्त्व के ग्रहण और उसके अनुष्ठान अर्थात् प्रयोग (अभ्यास) करने में किसी प्रकार की बाधा न हो, तदर्थ व्यासदेव योग के उद्‌भावक 'अनन्त' अर्थात् शेषनाग ईश्वर पतञ्जलि का स्मरण करते हुए प्रार्थना करते हैं–**'यस्त्यक्त्वेति।'** जो अपने आद्यरूप 'शेष' संज्ञा को छोड़कर और अपने अंशों से विभक्त होकर लोक के अर्थात् संसार के कल्याण के लिये बलराम आदि रूप से आविर्भूत होता है, वह 'शेषनाग' पतञ्जलि तुम सब (योगप्रेमी) अध्येताओं अर्थात् योगसाधकों की रक्षा करे अर्थात् शास्त्रीय तत्त्वों के अवबोधादि में (संभावित) बाधाओं को दूर करे। मंगलात्मक श्लोक के अन्य पदों का अर्थ सुकर है।

बालप्रिया–

'यस्त्यक्त्वेति– सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार है– जो अपने आद्यरूप को

---

1 क ख घ च छ – **निर्विघ्न०**, ग – **निर्विघ्नम्।**

2. क ख ग च छ – **प्रतिबन्धं निवारयतु**; ग – **प्रतिबन्धनिवृत्तिं कारयतु।**

छोड़कर जगत् का अनेक प्रकार से अनुग्रह करने के लिये समर्थ है, जिसकी क्लेशराशि प्रक्षीण हो गई है, जो अनेक मुख वाला विषम 'विषधर' सांप है, सुभोगी है, समस्त ज्ञान की खान है, जो सर्पों से घिरा हुआ है, जिसकी प्रीति के लिये नित्य देवता लोग प्रार्थना करते हैं, जो सफेद स्वच्छ शरीर वाला है, योगयुक्त है और योग को प्रदान करने वाला है, वह हमारी रक्षा करे।

मिश्र-भिक्षु-मतभेद–योगभाष्य के अत्यन्त प्राचीन संस्करणों में '**यस्त्यक्त्वेति**'–यह मंगलात्मक श्लोक, उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये वाचस्पति मिश्र ने तथाकथित मंगलाचरण का व्याख्यान नहीं किया है। किन्तु योगवार्त्तिक में स्पष्टतः इस श्लोक को प्रतीक रूप में उठाकर उसका प्रतिपादन किया गया है।

उक्त मंगलाचरणपरक श्लोक की प्रक्षिप्तता अथवा अप्रक्षिप्तता दोनों के विषय में इतिहासकारों ने अपनी-अपनी अकाट्य युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु एकाधिक हस्तलिखित पाण्डुप्रतियों में '**यस्त्यक्त्वेति**' श्लोक का उपलब्ध होना इसे प्रक्षिप्त के प्रवाद से दूर करता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योग के मोक्षसाधनत्व को श्रुति-स्मृति वाक्यों से प्रमाणित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं[1] मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'
'यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
अतो[2] निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा'॥
'तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
'एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषोऽन्यो [3]ग्रन्थविस्तरः' इत्यादिश्रुतिषु
'मुक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीयते'
'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'–
इत्यादिस्मृतिषु च योगो मोक्षहेतुतया विहितः।

श्रुति-स्मृति वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है–

अध्यात्मयोग की प्राप्ति से देव को जानकर धैर्ययुक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ योगी सुख एवं दुःख दोनों का परित्याग कर देता है अर्थात् सुख और दुःख का अनुभव उसे नहीं होता है।

---

1. क ख घ च छ – **देवं मत्वा** , ग – **मत्वा देवम्**।
2. क ख ग घ छ – **अतः**, च – **यतः**।
3. क घ च छ – **ग्रन्थ०** ख ग – **न्याय०**।

'क्योंकि विषयरहित इस मन की मुक्ति कही गई है' अतः मुमुक्षु को अपने मन को सदा निर्विषयक बनाना चाहिये।'

'तब तक चित्त की वृत्तियों का निरोध करना चाहिये, जब तक मन, हृदय (बुद्धि) में लीन न हो जाय। यही ज्ञान और ध्यान है। इसके अतिरिक्त शेष ग्रन्थ का विस्तर (फैलाव, विवरण) मात्र है'–इन श्रुतियों में तथा–

'मुक्ति, योग से होती है. अतः योग सम्यग्ज्ञान से श्रेष्ठ है।'

'तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है'–
इन स्मृतिवाक्यों में योग को मोक्ष का हेतु कहा गया है।

बालप्रिया–

'इत्यादिश्रुतिषु---इत्यादिस्मृतिषु'–योग की महत्ता के विषय में श्रुति-स्मृतियों के उद्धरणों को संगृहीत कर योगवार्त्तिककार ने योगशास्त्र की प्राचीनता पर प्रकाश डाला है।

श्रुतिस्मृतिमूलक होने से योग मुमुक्षु के लिये जिज्ञासा का विषय रहा है। अतः योगवार्त्तिककार सम्प्रति, योगविषयिणी जिज्ञासा की झलक दिखला रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

तत्र योगः किंस्वरूपः, किमुपायः, केन वा[1] द्वारेण ज्ञानमोक्षयोः कारणमित्यादिकं मुमुक्षूणां विविदिषितं[2] भवति।

योग का क्या स्वरूप है? उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है? किस साधन (द्वार) से वह ज्ञान और मोक्ष (की प्राप्ति) का कारण है–इत्यादि बाते जानने की इच्छा मुमुक्षुओं को होती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अन्य दर्शनों के रहते हुए भी महर्षि पतञ्जलि को योगशास्त्र के प्रणयन की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई, इसे बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ब्रह्ममीमांसासांख्यादिषु च ज्ञानमेव विचारितं बाहुल्येन, ज्ञानसाधनमात्रस्तु योगः सङ्क्षेपतः, ज्ञानजन्ययोगस्तु सङ्क्षेपतोऽपि तेषु नोक्तोऽतोऽति[3]विस्तरेण द्विविधं योगं प्रतिपिपादयिषुर्भगवान् पतञ्जलिः शिष्यावधानायादौ योगानुशासनं शास्त्रमारभ्यतया प्रतिज्ञातवान्–अथ योगानुशासनम्।

---

1. क ग घ च छ – **वा** उपलभ्यते, क – **वा** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ – **विविप्सितम्**, च छ – **विविदिषितम्**।
3. क ग घ च छ – अति उपलभ्यते, ख – **अति** नोपलभ्यते।

ब्रह्ममीमांसा अर्थात् वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों में **'ज्ञान'** के विषय में ही विस्तार से विचार किया गया है, किन्तु वहाँ ज्ञान के एकमात्र उपायभूत **'योग'** की चर्चा अतिसंक्षेप में हुई है और ज्ञानजन्य योग का उपपादन तो उन दर्शनग्रन्थों में अल्पशः भी नहीं हुआ है। अतः शिष्यों (शिष्य-मण्डली) को दत्तावधान करने के लिये अर्थात् योग की ओर साधकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये, विस्तारपूर्वक दो प्रकार के योग का प्रतिपादन करने की इच्छा वाले भगवान् पतञ्जलि सर्वप्रथम **'योगानुशासन'** अर्थात् योगशास्त्र का आरम्भ करने की **'प्रतिज्ञा'** करते हैं–**'अथेति।'**

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रस्तूयमान सूत्र की व्याख्या के लिये व्यासभाष्य को उठाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदिदं सूत्रमारभ्य समग्रं शास्त्रं सर्वलोकहिताय भगवान् बादरायणो व्याचष्टे–अथेत्ययमधिकारार्थ इत्यादिना।

भगवान् बादरायण व्यास प्राणिमात्र के कल्याणार्थ इस सूत्र से आरम्भ होने वाले समग्र शास्त्र की व्याख्या करते हैं–**'अथेत्ययमधिकारार्थ इत्यादिना।'** अर्थात् सूत्र में **'अथ'** शब्द **'अधिकार'** अर्थ में प्रयुक्त है।

योगवार्त्तिककार **'अथ'** शब्द के **'अधिकार'** अर्थ के अभिप्राय को सयुक्तिक परिपुष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अधिकारशब्दो योगरूढतया आरम्भण एव मुख्य इति शास्त्रस्याधिकार्यत्वं मुख्यमेवास्ति। यत्र चार्थस्याधिकार्यत्वमुच्यते, यथा-अथैष ज्योतिः इत्यादौ, तत्राधिकार्यशास्त्रविषयतया गौणं तदित्याशयः। एतेन **शास्त्रस्यानधिकार्यत्वमनिरूप्यत्वादित्यपास्तं प्रकृतभाष्यविरोधादिति। प्रश्नाद्यर्थकत्वमथशब्दस्य किं[1] कुत्रापि नास्तीत्याशङ्कानिरासायोक्तमयमिति। अधिकारार्थोऽधि-कार–वाचक इत्यर्थः। अथ शब्दस्य चोच्चारणमात्रेण [2]मङ्गलत्वमपि बोध्यम्।**

'अधिकार' शब्द योगरूढि से **'आरम्भ'** अर्थ में ही मुख्य है, अतः शास्त्र का आरम्भ करना ही मुख्य है। अर्थात् **'अधिकार'** शब्द के द्वारा भाष्यकार ने 'शास्त्र' की आरम्भणीयता (अधिकार्यत्व) को ही बतलाया है। और जिस किसी ग्रन्थ के 'अर्थ' का आरम्भणत्व (अधिकार्यत्व) अर्थात् अर्थ का आरम्भ करना कहा जाता है, वहाँ अधिकार्य शास्त्र विषयरूप से गौण हो जाता है, उदाहरणार्थ–**'अथैष ज्योतिः'** में। अतः प्रकृत भाष्य के विरुद्ध होने से–**'शास्त्रस्य अनधिकार्यत्वम्'** अर्थात् शास्त्र में

---

1. क ग घ च छ – **किं** उपलभ्यते, ख – **कि** नोपलभ्यते।
2. क – **माङ्गलत्वं**, ख ग घ च छ – **मङ्गलत्वम्।**

अनारम्भणता (अनधिकार्यता) है, प्रतिज्ञा, **अनिरूप्यत्वात्**-अर्थात् निरूपण के योग्य न होने से, हेतु–तथाकथित अनुमानप्रयोग खण्डित हो जाता है। '**अथ**' शब्द के प्रश्नादि अर्थ क्यों नहीं है, इस शंका का निरास करने के लिये ऐसा कहा गया है। भाष्य में '**अधिकारार्थ**' शब्द अधिकारवाचक है। (निष्कर्षतः) '**अथ**' शब्द शास्त्रारम्भ का वाचक है। और '**अथ**' शब्द उच्चारणमात्र से '**मंगल**' अर्थ का भी बोध कराता है।

बालप्रिया–

'अथ' शब्द के अनेक अर्थ–अमरकोश के '**मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ**' ३/३/२४६ वचन के अनुसार '**अथ**' शब्द के अनेक अर्थ हैं। वे अर्थ इस प्रकार हैं– मंगल, अनन्तर, आरम्भ (अधिकार), प्रश्न तथा पूर्णता। योगभाष्यकार तथा योगभाष्य के परवर्ती सभी टीकाकारों ने एक कण्ठ से प्रकृत में '**अथ**' शब्द को '**अधिकार**' अर्थ का वाचक अर्थात् '**शास्त्रारम्भ**' का बोधक माना है तथा इस अर्थ के ग्रहण में युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। इसके साथ-साथ सूत्रकार द्वारा मंगलाचरण की प्रशस्त परम्परा के निर्वाहार्थ योगवार्त्तिककार आदि टीकाकारों ने इतना और बतला दिया है कि '**अथ**' शब्द का प्रयोग देखकर ही मंगल-सिद्धि का अनुमान हो जाता है। अतः पतञ्जलि ने मंगलाचरण की परम्परा का निर्वाह क्यों नहीं किया– इत्याकारक शंका भी निरस्त हो जाती है।

यद्यपि '**अथ**' शब्द के पश्चात् '**योग**' शब्द की व्याख्या का क्रम आता है तथापि सूचीकटाहन्याय से पहले '**अनुशासन**' पद की व्याख्या प्रस्तुत हो रहा है–

योगवार्त्तिकम्

शिष्टस्य शासनमनुशासनं तेन शास्त्रस्य गुरु[1]मूलकतया सूत्रकारेण प्रामाण्यं दर्शितम्–

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः–इति

योगियाज्ञवल्क्येन हिरण्यगर्भस्यादिगुरुत्वबोधनादिति। सूत्रवाक्यार्थमुपसंहरति–योगस्यानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमिति। शिष्यैरिति शेषः। वेदितव्यमिति पूरणेन सूत्रस्य शिष्यावधानार्थकत्वं सूचितम्।

'**शिष्टस्य शासनमनुशासनम्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपदिष्ट का पुनःकथन ही '**अनुशासन**' शब्द का अर्थ है। अतः इस सूत्र के द्वारा शास्त्र के गुरुमूलक होने से सूत्रकार ने प्रस्तूयमान शास्त्र की प्रामाणिकता अर्थात् विश्वसनीयता को प्रदर्शित किया है। अर्थात् शास्त्र की सम्प्रदाय-पुरस्सरता को दिग्दर्शित किया है।

---

1. क ग घ च छ – **मूलकतया**, ख – **मूलकम्**।

योग का आदिगुरु कौन है? इस शंका के शमनार्थ योगवार्त्तिककार वचन को उद्धृत करते हैं–'**हिरण्यगर्भो---पुरातनः**' अर्थात् 'हिरण्यगर्भ ही योग के आदि वक्ता हैं, अन्य कोई व्यक्ति नहीं'–इस वचन के द्वारा योगियाज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को योग का आदिगुरु बतलाया है, इससे योगशास्त्र की गुरुमूलकता सिद्ध होती है। भाष्यकार सूत्र के वाक्यार्थ को उपसंहृत करते हैं–इस प्रकार योगशास्त्र को अधिकृत समझना चाहिये। यहाँ '**शिष्यैः**' यह वाक्यशेष है। अर्थात् शिष्यों द्वारा तथाकथित योगशास्त्र की अधिकृतता समझी जानी चाहिये। भाष्यकार ने '**योगानुशासनं वेदितव्यम्**' में सूत्रार्थ को जो '**वेदितव्यम्**' पद के अनुप्रयोग द्वारा सम्पन्न किया है, उससे सूत्र, शिष्यों के ज्ञान के लिये कहा गया है, ऐसा सूचित होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्रगत '**योग**' शब्द के विषय में विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

योगस्य च फलं सूत्रभाष्ययोः स्थाने स्थाने वक्ष्यमाणं मयोत्तरसूत्रावतारिकायामपि सङ्क्षेपाद्वक्ष्यते। योगलक्षणपरतया द्वितीयसूत्रमवतारयिष्यति। तत्र युज समाधाविति [1]योगलक्षणस्य प्रसिद्धत्वाल्लक्षणान्तराकाङ्क्षैव नास्तीत्याशङ्कां तस्यातिव्याप्तत्वेनादावपाकरोति–योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म इति। युज समाधावित्यनुशासनतः प्रसिद्धो योगः समाधिः चित्तवृत्तिनिरोधः, स च सार्वभौमः सर्वासु वक्ष्यमाणासु क्षिप्ताद्यवस्थासु साधारणश्चित्तस्य धर्मः स्वाभाविको जलस्य द्रवत्ववत् क्षिप्ताद्यवस्थायामपि हि यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधोऽस्त्येवेति। तथा चालक्ष्यास्ववस्थासु तल्लक्षणमतिव्याप्तमिति शेषः।

योगसूत्र तथा व्यासभाष्य में स्थान-स्थान पर बतलाये जाने वाले योग के फल को मैं (विज्ञानभिक्षु) उत्तरसूत्र की अवतरणिका में भी संक्षेप से बतलाऊँगा। तदर्थ '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'–इस द्वितीय सूत्र को योग के लक्षणरूप से अवतरित किया जायेगा।

शङ्का–पूर्वपक्षी शंका कर सकता है कि '**युज समाधौ**' धातु से निष्पन्न समाध्यर्थक योगलक्षण सुविदित है। अतः योग के लक्षणान्तर के विषय में जिज्ञासा ही नहीं होती है?

समाधान–भाष्यकार उक्त शंका का निराकरण, योग के मात्र समाधिपरक लक्षण में अतिव्याप्ति दिखाकर, सर्वप्रथम करते हैं–'**योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म इति**।' '**युज समाधौ**' इस अनुशासन अर्थात् शास्त्र से प्रसिद्ध समाध्यर्थक '**योग**' शब्द चित्तवृत्तिनिरोध रूप है। अर्थात् चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। तथाकथित वृत्तिनिरोधरूप योग '**सार्वभौम**' अर्थात् वक्ष्यमाण समस्त क्षिप्तादि

---

1. क ग घ च छ -- **योग॰**, ख – **रूढ**।

अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला चित्त का स्वाभाविक धर्म उसी प्रकार है, जिस प्रकार जलगत द्रवत्व (निःसरणशीलत्व) जल का स्वाभाविक अर्थात् सामान्य धर्म है। चित्त की क्षिप्तादि अवस्थाओं में भी अत्यल्प वृत्तिनिरोध तो होता ही है, इसलिये अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि (तीन) अवस्थाओं में 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। (अतः अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित योग के निर्दुष्ट लक्षणान्तर की आवश्यकता है—योगवार्त्तिककार का यह कथन औचित्यपूर्ण है)।

बालप्रिया—

'जलस्य' द्रवत्ववत्'—न्यायशास्त्र के अनुसार 'द्रवत्व' गुण जल का 'नैसर्गिक' अर्थात् स्वाभाविक धर्म है। किन्तु द्रवत्वगुण अपने नैमित्तिक रूप में पृथ्वी और तेज में भी रहता है। अतः जलगत 'द्रवत्व' को जल का साधारण धर्म कहा जाता है। तदर्थ तर्कभाषा की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—'**भूतेजोजलवृत्ति, भूतेजसोर्घृतादिसुवर्णयोरग्नि संयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्।**' इसी प्रकार प्रकृत में '**वृत्ति**' ही जिसका जीवन है, इत्याकारक चित्त में असंख्य पदार्थविषयक वृत्तियों की उथल-पुथल, की स्थिति बने रहना अत्यन्त स्वाभाविक है। चित्त की वृत्तियों की इस उथल-पुथल में एकविषयक वृत्ति का दबना और दूसरी पदार्थविषयक वृत्ति का उभरना रूप '**निरोध**' भी अनुभूत होता है। अतः '**वृत्तिनिरोध**' चित्त का सार्वभौम धर्म है। अतः इसे योग का साधारणलक्षण कहा जा सकता है। किन्तु स्वतः प्राप्त वृत्तिनिरोध को प्राप्त कराने में योगशास्त्र की कृतकृत्यता नहीं है। क्योंकि जो सहज प्राप्त है, उसके लिये प्रयास करना व्यर्थ है। वृत्तिनिरोध की असाधारण अवस्था को प्राप्त कराने में योगशास्त्र की सार्थकता है। अतः चित्त की असाधारण अवस्था के निरूपण के लिये योग के असाधारण लक्षण की आवश्यकता बनी रहती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी की '**लक्षणान्तराकाङ्क्षैव नास्ति**' यह अवधारणा भी निरस्त हो जाती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चित्त की भूमियों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

कास्ताः सर्वाः चित्तभूमय इत्याकाङ्क्षायामाह—क्षिप्तमित्यादि। क्षिप्तं रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत्, मूढं तमसा निद्राऽऽदिवृत्तिमत्, क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं सत्त्वाधिक्येन समादधदपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तरान्तरा विषयान्तरवृत्तिमद्, एकस्मिन्नेव विषयेऽग्रं शिखा यस्य चित्तदीपस्येत्येकाग्रं विशुद्धसत्त्वतयैकस्मिन्नेव विषये वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तमचञ्चलं

निवातस्थ[1]दीपवत्। तथा च क्षिप्तादित्रयेऽपि किंचिदैकाग्र्यसत्त्वेऽपि तत्र नातिप्रसङ्गः। निरुद्धं च निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः। रजोधर्मस्य रागादेः प्रतिघातादेव लोकानां [2]तमोधर्मो [3]विषादादिर्दृश्यत इति क्षिप्तात्पूर्वन्न[4] मूढस्योपन्यासः।

शङ्का–चित्त की वे सब भूमियाँ कौन सी हैं?

समाधान–उक्त जिज्ञासा का शमन भाष्यकार करते हैं–'**क्षिप्तमित्यादि**।' रजोगुण के कारण (घट-पटादि बाह्य) पदार्थों में ही वृत्तिशील चित्त (की भूमि) को '**क्षिप्त**' कहते हैं। तमोगुण के हेतु निद्रादि वृत्तियुक्त चित्त (की भूमि) को '**मूढ**' कहते हैं। सत्त्वगुण की अधिकता के कारण समाहित (समाधियुक्त) होते हुए भी रजोलेश के कारण समय-समय पर जब कभी विषयान्तरवृत्तिक होते हुए क्षिप्तादिविशिष्ट चित्त (की भूमि) को '**विक्षिप्त**' कहते हैं। जिस चित्तरूपी प्रदीप की शिखा (लौ) रूपी वृत्ति एक ही विषयरूप लक्ष्य-बिन्दु में समवस्थित रहती है, उस (ध्येयपरायण वृत्तिशील) चित्त (की भूमि) को '**एकाग्र**' कहते हैं। विशुद्ध सत्त्व के कारण एक ही ध्येय विषय में आगे बतलाये जाने वाले निर्धारित कालपर्यन्त चित्त उसी प्रकार चाञ्चल्यरहित अर्थात् वृत्त्यन्तरशून्य बना रहता है, जिस प्रकार वायु से सुरक्षित स्थान पर स्थित प्रदीप-शिखा (सीधी रेखा के समान) अप्रकम्पित बनी रहती है। अतः चित्त की क्षिप्तादि तीन भूमियों में यत्किञ्चित् स्थिरता होने पर भी (निर्धारित कालपर्यन्त वृत्त्यन्तरशून्यता न होने के कारण) इनमें एकाग्रावस्था का व्यभिचार नहीं होता है। समस्त वृत्तिरहित अर्थात् निरुद्ध हो गई हैं समस्त वृत्तियाँ जिसकी, ऐसे संस्कारमात्रशेष चित्त (की भूमि) को '**निरुद्ध**' कहते हैं। योगवार्त्तिककार '**मूढ**' से पूर्व '**क्षिप्त**' भूमि के उपन्यास की यौक्तिकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–रजोधर्मक रागादि वृत्ति के क्षतिग्रस्त अर्थात् बाधायुक्त होने के कारण ही प्राणियों में तमोधर्मक विषादादि वृत्ति दृष्टिगत होती है। इसलिये भाष्यकार ने '**क्षिप्त**' से पूर्व '**मूढ**' को उपन्यस्त नहीं किया है।

बालप्रिया–

'**वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तम्**'–पद के प्रयोग द्वारा वार्त्तिककार ने इस तथ्य को सुस्पष्ट कर दिया है कि शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट चित्त-बन्ध की न्यूनतम अवधि से युक्त होकर ही वृत्तिनिरोध '**योग**' की सीमा में प्रवेश कर पाता है। यह स्थिति एकाग्रभूमिक चित्त में ही सम्भव है। फिर '**योग**' की संज्ञा को प्राप्त करने के लिये

---

1. क घ च छ – **दीप०**, ख ग – **प्रदीप०**।
2. क ख ग घ च – **तमोधर्मः**, छ – **तमोधर्मे**।
3. क – **विवाद०**, ख घ च छ – **विषाद०**, ग – **विषय०**।
4. क च छ – **पूर्वत्र**, ख ग घ – **पूर्वन्न**।

चित्त का वृत्तिनिरोध, जिन भगीरथ प्रयासों सें उत्तरोत्तर प्रौढता को प्राप्त करता है, उसी के लिये योगशास्त्र का प्रणयन हुआ है। अतः क्षिप्तादि प्रथम तीन चित्त-भूमियों में परिलक्षित वृत्ति-निरोध की सहजता प्रस्तुत शास्त्र की उपयोगिता को प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकती है। चित्तैकाग्रता की न्यूनतम अवधि '**धारणा**' के प्रसङ्ग में आगे बतलाई जायेगी। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

'**निवातस्थदीपवत्**'–चित्तवृत्ति को दीप-शिखा से उपमित करने के दो हेतु हैं। प्रथम हेतु यह है कि जिस प्रकार प्रदीप के आलोक में बाह्य पदार्थ अपने नामरूप को धारण करते हैं, उसी प्रकार वृत्त्यालोक में ही घट, पटादि बाह्य विषय तथा सुख-दुःखादि आन्तर विषय, द्रष्टा पुरुष के दृश्य बनकर दृश्यत्व की योग्यता को प्राप्त करते हैं। दूसरा हेतु यह है कि जिस प्रकार दीप-शिखा की निश्चल अवस्थिति अत्यन्त प्रयत्न सापेक्ष रहती है। अत्यल्प वातरूप प्रतिद्वन्द्वी के स्पर्शमात्र से उसका अस्तित्व डगमगाने लगता है। उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर से विषय-जाल में फँसे चित्त को वैषयिक जटिलता से ऊपर उठाकर एक ध्येयोन्मुखी बनाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। क्योंकि चित्तैकाग्रता की प्रारम्भिक अवस्था में बहुरंगी विषय चित्त को उन्मार्गगामी बना देता है अर्थात् विचलित कर देता है।

'**निवात**'–(निवृत्तः वातो यस्मिन्–ब. स.) जहाँ वायु न हो अर्थात् वायु से रहित स्थान को निवात कहते हैं। जैसा कि कहा गया है–'**निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्**।'

'**क्षिप्तादित्रयेऽपि...नातिप्रसङ्गः**'–अंश की व्याख्या '**वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तम्**' के परिप्रेक्ष्य में व्याख्येय है। क्षिप्तादि में एकाग्रभूमि की अनतिव्याप्ति अत्यन्त स्फुट है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चित्त की क्षिप्तादि पाँच भूमियों में से योगोपयोगी भूमि पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

उक्तातिव्याप्तिं प्रतिपादयितुमुक्तभूमिषु [1]लक्ष्यालक्ष्यविभागं करोति–तत्र विक्षिप्त इत्यादिना। तत्र तासु पञ्चसु मध्ये। विक्षिप्ते चेतसि वर्तमानः समाधिरल्पो बहुलविक्षेपशेषीभूतत्वान्न योगपक्षे योगमध्ये प्रविशति क्लेशहान्य[2]हेतुत्वात्, सुतरां तु क्षिप्तमूढयोश्चित्तयोर्वर्त्तमानौ समाध्यभ्यासावित्याशयः। अतो न क्षिप्तमूढभूम्योरलक्ष्यत्वाप्रतिपादनेन न्यूनतेति।

चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगलक्षण की क्षिप्तादि प्रथम तीन भूमियो में होने वाली अतिव्याप्ति को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार इन भूमियों का लक्ष्य तथा अलक्ष्य की दृष्टि से विभाजन करते हैं अर्थात् योगोपयोगिनी तथा योगानुपयोगिनी

---

1. क ग घ च छ -- लक्ष्यालक्ष्य०, ख – लक्ष्य०।
2. क ग घ च छ -- अहेतुत्वात्, ख – अहेतुकत्वात्।

भूमियों को पृथक्-पृथक् करते हैं—'**तत्र विक्षिप्त इत्यादिना।**' 'यहाँ **तत्र**' पद से पांचों भूमियों का ग्रहण होता है। तथाकथित पांच भूमियों के मध्य में विक्षिप्तभूमिक चित्त को अत्यल्प काल के लिये समाधि प्राप्त होती है, क्योंकि (इस समय) चित्त बहुत अधिक विक्षेप से युक्त होता है। अतः चित्त की '**विक्षिप्त**' भूमि योगपक्ष अर्थात् योग के अन्तर्गत नहीं आती है, क्योंकि यह अविद्यादि क्लेशक्षय की हेतु नहीं है। ऐसी स्थिति में जिनमें अत्यल्प काल के लिये भी समाधि की सम्भावना नहीं है, चित्त की उन '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' संज्ञक भूमियों में समाधि के अभ्यास के विषय में क्या कहा जाय अर्थात् इनमें समाध्यभ्यास का अवसर ही कहाँ? अतः भाष्य में '**क्षिप्त**' तथा '**मूढ**' भूमियों के विषय में योग की अलक्ष्यता को प्रतिपादित न करने से किसी प्रकार का अपूर्णतादोष प्रसक्त नहीं होता है।

बालप्रिया—

'**अलक्ष्यत्वाप्रतिपादनेन**'—**शङ्का**—पूर्वपक्षी को ऐसी शङ्का होती है कि भाष्यकार ने केवल '**विक्षिप्त**' भूमि की योगपक्ष में न्यस्तता का निषेध किया है, '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' भूमि का नहीं। ऐसी स्थिति में क्या भाष्यकार के मत में चित्त की क्षिप्त और मूढ भूमियाँ ('**एकाग्र**' और '**निरुद्ध**' भूमियों के समान) समाध्युपयोगिनी हैं?

समाधान—पूर्वपक्षी की शङ्का शतशः त्रुटिपूर्ण है। सत्त्वलेश वाली '**विक्षिप्त**' भूमि की योगोपयोगिता के खण्डित हो जाने से भाष्यकार के मत में रजोगुणप्रधान क्षिप्त और तमोबहुला मूढभूमि की योगानुपयोगिता आक्षेपलभ्य है। अतः उक्त सन्देहावकाश कहाँ?

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योग की लक्ष्यभूत चित्तभूमियों का उपपादन करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

विक्षिप्तमुखेनाद्यभूमित्रयस्यालक्ष्यत्वमुक्त्वाऽन्त्यभूमिद्वयमेव लक्ष्यमित्याह—यस्त्वेकाग्र इति। यस्तु समाधिरेकाग्रे चेतसि वर्तमानोऽर्थं ध्येयं वस्तु सद्भूतं परमार्थभूतं प्रकर्षेण द्योतयति साक्षात्कारयति ततश्च क्लेशानविद्याऽऽदीन् पञ्च क्षिणोति ततोऽपि च कारणोच्छेदाद्धर्माधर्मरूपाणि बन्धनानि बुद्धिपुरुषयोर्बन्धकारणानि श्लथयति अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति तथा निरोधमसम्प्रज्ञातयोगमभिमुखं प्रत्यासन्नं करोति परवैराग्य[1]जननेनेति शेषः, स समाधिः सम्प्रज्ञातो योग इति कथ्यत इत्यर्थः।

विक्षिप्तमुख (विक्षिप्त भूमि की योगालक्ष्यता के कथन) से प्रथम तीन चित्तभूमियों को योग का अलक्ष्य अर्थात् योगाभ्यास का अक्षेत्र बतलाकर अन्तिम दो चित्तभूमियाँ ही योगाभ्यास की स्थली (लक्ष्य) हैं, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—

1. क घ च छ – जननेन, ख ग – जननद्वारा।

'यस्त्वेकाग्र इति।' चित्त के एकाग्र होने पर जो समाधि लगती है, वह **'सद्भूत'** अर्थात् परमार्थभूत **'अर्थ'** अर्थात् ध्येय तत्त्व को प्रकृष्ट रूप से द्योतित करती है अर्थात् ध्येय पदार्थ का साक्षात्कार कराती है, तदनन्तर अविद्या पञ्च क्लेशों को क्षीण करती है, तदनन्तर अविद्या कारण का अपच्छेदन होने से प्रकृति-पुरुष की **बन्धकारिणी-धर्माधर्मरूप** ग्रन्थि को शिथिल करती है अर्थात् धर्माधर्म को अदृष्टोत्पादन में (अदृष्टजन्यफल प्रदान करने में) अशक्त बनाती है तथा **'निरोध'** अर्थात् असम्प्रज्ञात योग को **'अभिमुख'** अर्थात् निकट लाती है। असम्प्रज्ञात योग की यह प्रत्यासन्नता परवैराग्योत्पत्ति द्वारा होती है–यह **'निरोधमभिमुखं करोति'** इस भाष्योक्त अंश का वाक्यशेष है। एकाग्रभूमिक चित्त की इस समाधि को सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

बालप्रिया–

'अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि'–यहाँ **'अदृष्टोत्पादन'** शब्द का अर्थ है–अदृष्टजन्य फलोत्पत्ति। तात्पर्य यह है कि ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध क्लेश से प्रशिथिलीकृत धर्माधर्मादिरूप अदृष्ट जात्यादिरूप फल को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं।

'परवैराग्यजननेनेति शेषः'–इस अंश के द्वारा योगवार्त्तिककार ने उस वक्ष्यमाण तथ्य को सूचित किया है, जिसमें यह बतलाया जायेगा कि **'सबीज'** सम्प्रज्ञात योग को **'निर्बीज'** असम्प्रज्ञात योग का साधन नहीं कहा जा सकता है। सबीजयोग के पराकाष्ठाकाल में उदित होने वाली विवेकख्याति के प्रति हेयत्वबुद्धि रूप **'वैतृष्ण्य-भाव'** विवेकवृत्ति को भी निरुद्ध करता हुआ सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात का साधन बनता है। इस वैतृष्ण्यभाव को **'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'** १/१६ सूत्र में **'परवैराग्य'** शब्द से परिभाषित किया जायेगा। इस प्रकार वार्त्तिककार ने एकाग्र-भूमिक समाधि से असम्प्रज्ञात तक पहुँचने के साध्यसाधनरूप विविध आयामों में **'परवैराग्यजननेन'** पद का उचित स्थान पर सन्निवेश कराकर अपने यौगिक होने का परिचय दिया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **'सम्प्रज्ञात'** पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए भाष्य में प्रयुक्त **'समाधि'** शब्द की अन्तःसङ्गति बैठाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योग इति सम्प्रज्ञातो योगः। यद्यपि समाधिशब्देनैकाग्रताऽतिशयरूपं [1]निरोधद्वयरूपयोगद्वयस्याङ्गमेव परिभाषिष्यते[2]

1. क ग च छ – **निरोधद्वयरूपयोगद्वयस्य**, ख – **निरोधरूपयोगस्य**, घ – **निरोधद्वयरूपं योगद्वयस्य।**
2. क ख घ च छ–**परिभाषिष्यते**, ग–**परिभाष्यते।**

तथापि योगद्वयमङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षयैव समाधिशब्देनोक्तमेवमुत्तरोत्तर[2]सूत्रेऽपि बोध्यम्।

'सम्यक् प्रज्ञायते ध्येयमस्मिन्निति'–इस व्युत्पत्ति के द्वारा जिसमें (चित्त द्वारा) ध्येय तत्त्व का सम्यक् प्रज्ञान अर्थात् साक्षात्कार किया जाता है, उस ध्येयातिरिक्त वृत्तिनिरोधरूप योग को '**सम्प्रज्ञात**' कहते हैं। यद्यपि '**समाधि**' शब्द के द्वारा चित्त की एकाग्रता का उत्कृष्ट रूप दो प्रकार के निरोधरूप योगद्वय के अङ्गरूप से ही परिभाषित किया जायेगा, तथापि योगशास्त्र में अङ्गाङ्गी में अभेद मान्य होने के कारण प्रकृत में अङ्गभूत '**समाधि**' शब्द के द्वारा अङ्गिरूप योगद्वय को अभिहित किया है। यह तथ्य ('**योग**' के लिए '**समाधि**' शब्द का प्रयोग) परवर्ती सूत्रों में भी संसूचित हुआ है।

बालप्रिया–

'योगद्वयम्---सभाधिशब्देनोक्तम्'–सरलार्थ यह है–**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** २/२९ योग सूत्र में समाधि को योग का अङ्ग अर्थात् साधन बतलाया गया है और प्रकृत में भाष्यकार ने अङ्गिरूप '**योग**' के लिये '**समाधि**' शब्द का प्रयोग किया है। अतः सूत्र और भाष्य में यह अन्तर्विरोध कैसा? योगवार्त्तिककार के अनुसार यह अन्तर्विरोध नहीं है। अपितु योगसम्मत अवयवावयविसम्बन्ध, कार्यकारणसम्बन्ध, साध्यसाधनसम्बन्ध की भाँति अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध में अभेद के प्रकाशनेच्छा से भाष्यकार ने '**अङ्गिरूप योग**' के लिये '**अङ्गभूत समाधि**' शब्द का प्रयोग किया है।

सम्प्रति, सम्प्रज्ञात योग के भेदों को संक्षेपतः गिनाया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

स च सम्प्रज्ञातश्चतुर्विध इत्याह–स चेति। न च वितर्कानुगतादित्रिके[2]साक्षात्कारजन-कत्वादिकं साक्षान्नास्त्यविद्यालेशसम्पर्कादिति वाच्यम्, सवितर्कादिक्रमेणैव साक्षात्कारवृद्ध्या चरमभूमिकायामृतम्भरप्रज्ञोदयेन भूमिकाचतुष्टय एव साक्षात्कारसम्बन्धादिति।

किञ्च वह पूर्ववर्णित सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**स चेति**'। वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मितानुगत योग के भेद से।

शङ्का–सम्प्रज्ञात के वितर्कानुगत आदि प्रथम तीन भेदों में साक्षात् रूप से विषय-साक्षात्कार (मुख्यतः आत्मसाक्षात्कार) की योग्यता (जनकता) नहीं है, क्योंकि इन तीन समापत्तियों में चित्त का अविद्या के साथ अत्यल्प (क्षीणप्राय) सम्बन्ध बना रहता है?

---

1. क ख घ च छ – **सूत्रे**, ख ग – **सूत्रेषु**।
2. क ग घ च छ – **साक्षात्कारजनकत्वादिकं** ख – **यथोक्तसाक्षात्कारजनकत्वम्**।

समाधान–पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सवितर्कादि क्रम से ही विषय प्रत्यक्ष की क्षमता निरन्तर विकास को प्राप्त होने से सम्प्रज्ञात की अन्तिम भूमि (अस्मितानुगतयोग) में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि सम्प्रज्ञात के चारों भेदों में ही तथाकथित विषयसाक्षात्कार का सम्बन्ध बना रहता है।

बालप्रिया–

'**अविद्यालेशसम्पर्कात्**'–पूर्वपक्षी की उक्त शंका के उदय का कारण यह है कि भाष्यकार पीछे ऐसा कह चुके हैं कि '**सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति**' अर्थात् एकाग्र भूमि में तत्त्व अपने यथार्थ रूप से चित्त में भासित होता है। किन्तु स्वयं सूत्रकार आगे सवितर्कादि भूमियों में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की भ्रान्तिमूलक संकीर्णता का प्रतिपादन करेंगे। अतः अविद्यालेश का सम्पर्क रहने से वितर्कादि त्रय को प्रकृष्ट साक्षात्कारवती अवस्था कहना संदेहपूर्ण प्रतीत होता है। योगवार्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में शंका को निर्मूल बतलाया है। क्योंकि वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात का स्थूलविषयक साक्षात्कार ही विचारादि विभिन्न सोपानों में होता हुआ अपनी पौढ़ावस्था अर्थात् परिपक्व दशा में '**ऋतम्भरा-प्रज्ञा**' अर्थात् सर्वथा संशयशून्य ज्ञान के रूप में प्रस्फुटित होता है। अतः प्रकृष्ट विषयसाक्षात्कार की स्थिति सम्प्रज्ञात की चारों भूमियों में उसी प्रकार अनुस्यूत है, जिस प्रकार आद्यन्त मौक्तिकों में सूत्र की सम्बद्धता। अतः सूत्र और भाष्य में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। '**ऋतम्भरा प्रज्ञा**'–इसका प्रतिपादक सूत्र है–'**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**' १/४८।

चित्त की एकाग्र भूमि के पश्चात् योगवार्तिककार अन्तिम निरुद्धभूमि को भी योग की उत्पत्तिस्थली बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

निरुद्धभूमेरपि [1]लक्ष्यत्वमाह–सर्ववृत्तीति। सम्प्रज्ञातकालीना साक्षात्काररूपिणी या वृत्तिः तस्या अपि वक्ष्यमाणपरवैराग्येण निरोधे जायमाने त्वसम्प्रज्ञातयोग [2]इत्यर्थः। वृत्ति-निरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था, अभावस्याधिकरणावस्थाविशेषमात्ररूपत्वात्, निरुध्यन्तेऽस्यामवस्थायामिति व्युत्पत्तेर्वा। [3]सा चावस्था संस्कारमात्रैः परिणामधारा, निरोध-

1. क ग घ च छ – **लक्ष्यत्वं**, ख – **लक्षणम्**।
2. क ग घ च छ – **इत्यर्थः**, ख – **इत्याख्यायते**।
3. क ग घ च छ – सा चावस्था संस्कारमात्रैः परिणामधारा, निरोधकाले संस्कारतारतम्य०ख – तथा च चित्ते संस्कारान्तरमुत्तरोत्तरनिरोधकालदैर्ध्यहेतुजन्यत्वे निरोधकाले निरोधजसंस्कार-तारतम्य०।

काले संस्कारतारतम्यरूपस्यैव चित्त[1]परिणामस्य सूत्रभाष्याभ्यां वक्ष्यमाणत्वादिति।[2]

भाष्यकार चित्त की निरुद्ध भूमि को भी योग का लक्ष्य (योगापयोगी) बतलाते हुए कहते हैं–"**सर्ववृत्तीति।**' आगे बतलाये जाने वाले परवैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात काल की साक्षात्कारात्मिका वृत्ति अर्थात् विषयसाक्षात्कारवती वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर '**असम्प्रज्ञात**' योग होता है। '**निरोध**' शब्द के अर्थ का विशदीकरण करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–'**वृत्तिनिरोध**' शब्द का अर्थ चित्तगत वृत्ति की '**संस्कारशेषावस्था**' है, क्योंकि अभाव, अधिकरण का अवस्थाविशेषरूप ही है। अथवा **निरुध्यन्तेऽस्यामवस्थायामिति**–अर्थात् इस अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, इस व्युत्पत्ति से भी वृत्तिनिरोध, चित्त का अवस्थाविशेष है। चित्त की यह निरुद्धावस्था केवल संस्कारों के द्वारा परिणाम-श्रृंखला वाली होती है (अर्थात् निरुद्धावस्था में चित्त का वृत्त्यन्तर परिणाम निरुद्ध होकर परिणामशील चित्त का केवल पूर्ववृत्तिजन्य संस्कारों के आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में प्रतिक्षण परिणाम चलता रहता है), क्योंकि सूत्रकार और भाष्यकार दोनों, निरोधकाल में संस्कारों के उतार-चढ़ाव (के रूप) वाले चित्तपरिणाम को आगे बतलायेंगे।

बालप्रिया–

'**संस्कारमात्रैः परिणामधारा**'–सरलार्थ यह है कि चित्त की आद्यन्त अखिल भूमियों में परिणाम-धारा सुनिश्चित है। चित्त की प्रथम तीन भूमियों में क्षण-प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयाकारा वृत्ति की हलचल अत्यन्त स्फुट है। चित्त के एकाग्रभूमि में पहुँचते-पहुँचते यह हलचल क्षीणप्राय हो जाती है, फिर भी एकाग्रचित्त की **ध्येयाकारा** वृत्ति अपने निस्तब्ध शान्तमय रूप में अवस्थित रहती है। किन्तु आगे चलकर निरुद्ध भूमि में चित्त की यह ध्येयाकारा वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। अतः वृत्ति के द्वारा जिसका स्वरूप-बोध होता है, ऐसे चित्त की पहचान निरुद्धभूमि में समाप्त हो जाती है। अतः निरुद्धभूमिक वृत्तिशून्य चित्त परिणाम-रहित प्रतीत होता है। किन्तु स्थिति इससे भिन्न है, जो चित्त के निर्वृत्तिक होते हुए भी, एक विशिष्ट परिणामधारा के रूप में परिलक्षित होती है। यह परिणामधारा और कुछ नहीं केवल एकाग्रवृत्तिजन्य संस्कारपुञ्ज की हलचल मात्र है। इसका विश्लेषण तृतीय पाद के '**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः**' ३/९ सूत्र में किया जायेगा। **अब** रही बात '**निरोध**' शब्द के अर्थ

1. क घ ग घ – **परिणामस्य**, च छ – **परिमाणस्य**।
2. ख – **अथ वास्तु निरोधो वृत्तीनामनुदयार्थं प्रयत्नाविशेषो जीवनवदतीन्द्रियोऽभ्यासवैराग्यजन्यः, स एव संस्कारहेतुरस्तु** (**वक्ष्यमाणत्वादिति**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **अथ.....रस्तु** नोपलभ्यते।

की **'वृत्तिनिरोध'** अभावरूप नहीं है। यहाँ वृत्ति का अतीतावस्था में पहुँचकर चित्ताधिकरणरूप हो जाना उसी प्रकार है, जिस प्रकार घटावयव के विश्रृंखलित होकर मृत्तिकाधिकरणरूप में परिवर्तित हो जाना। योगशास्त्र में अभावोन्मूलन के लिये ही सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठापना हुई है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **'वृत्तिनिरोध'** शब्द के संभावित विकल्पों को उठाते हुए उनका खण्डन करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

[1]न तु वृत्तिनिरोधो वृत्त्यभावमात्रमेकाग्रताविशेषो वा, निरोधस्याभावमात्रत्वे वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेरेकाग्रतामात्ररूपत्वे[2]समाधिरूपादङ्गात् सम्प्रज्ञाताच्च भेदानुपपत्तेः,

उलकाहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमा[3]लोक्य तास्त्यजेत्।
बोधेन ज्ञानमालोक्य तथा बोधं परित्यजेत्

इत्यादिस्मृतिषु यावद्धृदि गतं[4] क्षयमिति पूर्वोक्तश्रुतौ चासम्प्रज्ञातस्य सकलवृत्तिशून्यत्वश्रवणाच्च।

शङ्का—वृत्तिनिरोध को वृत्त्यभावमात्र अथवा एकाग्रताविशेष माना जाय?

समाधान—वृत्तिनिरोधार्थक ये दोनों विकल्प उपपन्न नहीं होते हैं। निरोध को **'अभावरूप'** मानने पर वृत्तिनिरोध की अग्रिम प्रतिपादित संस्काराविर्भावात्मकता (निरोधात्मक संस्कार की उत्पति) उपपन्न नहीं होती है तथा वृत्तिविरोध को **''एकाग्रतारूप'** मानने पर उसका अङ्गभूत समाधि (अष्टाङ्गान्तर्वर्ती समाधि) तथा सम्प्रज्ञात से अन्तर बतलाना संभव न हो सकेगा। दूसरा तथ्य यह है कि **'उल्काहस्तो...परित्यजेत्'** अर्थात् 'जिस प्रकार उल्काहस्त (आकाश से गिरते हुए किसी ज्वलनशील तत्त्व को हाथ में धारण करने वाला) व्यक्ति द्रव्य को देखकर (उसका विनाशकारी स्वरूप जानते ही) उसका परित्याग कर देता है। उसी प्रकार बोध के द्वारा ज्ञान को देखकर अर्थात् प्रकृत में परवैराग्य द्वारा विवेकज्ञान में हेयत्व की भावना कर उस ज्ञान का भी योगी को परित्याग कर देना चाहिये अर्थात् विवेकवृत्ति का निरोध करना चाहिये' इत्यादि स्मृतिवाक्यों में तथा **"यावद्धृदि गतं क्षयम्'** अर्थात् 'जब तक समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध न हो जायें, तब तक हृदय में योग धारण करें' इत्यादि पूर्वनिर्दिष्ट श्रुति में असम्प्रज्ञात को निखिल वृत्तिशून्य सुना

---

1. क ख ग घ छ—**न तु**, च — **ननु**।
2. ख — **सः** (रूपत्वे–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ — **सः** (**रूपत्वे** — पश्चात्) नोपलभ्यते।
3. क — **आलोक्यत त्यजेत्**, ख घ — **आलोक्य तां त्यजेत्**, ग च छ — **आलोक्य तास्त्यजेत्**।
4. क — **गत०**, ख ग घ च छ—**गतम्**।

(बतलाया) गया है। (अतः निर्वृत्तिक असम्प्रज्ञात को एकाग्रताविशेष मानना शास्त्रविरुद्ध है। क्योंकि '**एकाग्रता**' शब्द का अर्थ ही यह है–जिसमें चित्त की ध्येयरूप वृत्तिमत्ता बनी रहे)।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार शंका-समाधानपूर्वक सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात के प्रयोजन पर प्रसंगतः प्रकाश डाल रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु सम्प्रज्ञाता[1]सम्प्रज्ञातयोर्योगयोर्निरोधरूपयोः किं प्रयोजनम् योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेरिति सूत्रेण योगाङ्गस्यैव ज्ञानहेतुतया वक्ष्यमाणत्वात् संप्रज्ञातयोगकाले ज्ञानस्योत्पत्तेरेव शास्त्रेष्ववगमात्, न तु तद्धेतुतायाः, एक[2]कालकत्वेन [3]हेतुहेतुमद्भावासम्भवाच्च। अस्तु वा विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया ज्ञानहेतुत्वं सम्प्रज्ञातयोगस्य, क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः इत्यागामिसूत्राच्च, न त्वसम्प्रज्ञातयोगस्यापि, तस्य ज्ञानजन्यत्वात्। न च ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं मोक्षायान्यत्साधनमपेक्षणीयम् तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इत्यादिश्रुतिभिर[4]न्यनिरपेक्षज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वसिद्धेरविद्याकामकर्मादिनिवृत्तौ हेत्वभावेन पुनः संसारानुपपत्तेश्च?

शङ्का–पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि निरोधरूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग का प्रयोजन क्या है? (पूर्वपक्षी अपनी अवधारणा को स्पष्ट कर रहा है कि) '**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**' २/२८ सूत्र के द्वारा योगाङ्ग को ही ज्ञान के साधनरूप से बतलाया जाने से तथा सम्प्रज्ञात योग काल में ही ज्ञान की उत्पत्ति शास्त्रों में विहित होने से वृत्तिनिरोधरूप योग, 'ज्ञान' का हेतु नहीं हो सकता है, और एक ही काल में हेतु (वृत्तिनिरोधरूप हेतु) और हेतुमत्त्व (ज्ञानरूपकार्यमत्त्व) सम्भव नहीं है। अथवा अपर प्रक्रिया से ऐसा मान भी लिया जाय कि विषयान्तरसंचाराख्य प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने से सम्प्रज्ञात योग 'ज्ञान' का हेतु है (अर्थात् सम्प्रज्ञात योग, चित्त की सहज विषयदेशप्रवहणशीलता को अवरुद्ध करके अर्थात् चित्त की ध्येयातिरिक्त वृत्तियों को प्रतिबन्धित करके मात्र ध्येयाकार अवस्थिति द्वारा ज्ञान का कारण है) और इसी तथ्य का प्रतिपादक **क्षीणवृत्तेर-**

---

1. क ख घ च छ–**असंप्रज्ञातयोः**, ग–**असंप्रज्ञात०**।
2. क–**कालिकत्वेन**, ख ग घ च छ–**कालकत्वेन**।
3. क ग घ च छ – **हेतुहेतुमद्भावासम्भवाच्च। अस्तु वा विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया ज्ञान०** – उपलभ्यते, ख – **हेतु.....ज्ञान०** नोपलभ्यते।
4. ख ग घ च छ – **अन्य०** उपलभ्यते, क – **अन्य०** नोपलभ्यते।

भिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः १/४१–ऐसा आगामी सूत्र भी है, किन्तु इस स्थिति में भी असम्प्रज्ञात योग को ज्ञान का हेतु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि असम्प्रज्ञात तो ज्ञानजन्य है अर्थात् ज्ञान से असम्प्रज्ञात होता है न कि असम्प्रज्ञात से ज्ञान होता है। अर्थात् असम्प्रज्ञात को ज्ञान का हेतु नहीं कह सकते हैं। अग्रिम तथ्य यह है कि ज्ञानोत्पत्ति (ज्ञानोदय) के अनन्तर मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी अन्य साधन अर्थात् उपाय की अपेक्षा अर्थात् आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि '**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये**' अर्थात् 'ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर चित्त की स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक उसे मोक्ष प्राप्त न हो जाय' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा 'अन्यनिरपेक्ष ज्ञान' अर्थात् किसी अन्य साधन की अपेक्षा न करने वाले ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है और (ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात्) अविद्या, काम, कर्मादि की निवृत्ति हो जाने पर संसार के कारण का अभाव होने से पुनः संसार की प्राप्ति नहीं होती है।

बालप्रिया–

'सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोः ...किं **प्रयोजनम्**'–सारांश यह है कि पूर्वपक्षी योगप्रतिपादक शास्त्र का प्रयोजन जानने का इच्छुक है, क्योंकि सप्रयोजनक शास्त्र उपादेय समझा जाता है और तद्भिन्न निष्प्रयोजन शास्त्र अनुपादेय ही रह जाता है। पूर्वपक्षी अपने दृष्टिकोण से इस तथ्य को मूल्यांकित करता है कि ज्ञानमार्गीय परम्परा में ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः ज्ञानोत्पादक अर्थात् ज्ञानहेतुक योग में मोक्षसाधनत्व आने पर उसे उपादेय कहा जा सकता है। पूर्वपक्षी का कहना है कि विषयान्तरसञ्चारारूप प्रतिबन्धनिवृत्तिरूप ज्ञानहेतुत्व सम्प्रज्ञात में बन सकता है, न कि असम्प्रज्ञात में। अतः सम्प्रज्ञात से ही मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। व्यर्थ में असम्प्रज्ञात को मानने की आवश्यकता नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार उक्त शंका का समाधान करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्रोच्यते-ज्ञाने जातेऽपि प्रारब्धकर्मणा देहधारणस्यावश्यकत्वेन तदानीमपि। बाह्याभ्यन्तरवृत्तिभिर्यद् दुःखं न जायत एतदप्यन्ततो योगद्वयस्य फलमस्ति। तथा हि वक्ष्यति भाष्यकारः–सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, अत एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्या इति। किंच ज्ञानस्य यथा कर्मक्षयहेतुत्वमस्ति तथा योगस्यापि,

विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिराद्

इत्यादिवाक्यशतेभ्यः। तथा च कर्मक्षयद्वारा ज्ञानस्येवासंप्रज्ञातयोगस्यापि मोक्षहेतुत्वं सिद्धम्। तत्र चासंप्रज्ञातयोगेनाखिलसंस्कारदाहकेन प्रारब्धकर्माप्यतिक्रम्यत इति ज्ञानाद्विशेषः।

ज्ञानस्य हि प्रारब्धनाशकत्वे बाधिकाऽस्ति। तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतिर्जीवन्मुक्ति[1]-श्रुतिस्मृतयश्च। योगस्य तु[2] प्रारब्धनाशकत्वे बाधकं नास्ति प्रत्युत दग्धकर्मचयोऽचिरादित्येव स्मर्यते। अतःप्रारब्धमपि कर्म कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादिवदेवातिक्रम्य झटिति मोचनमेव योगस्य फलम्। अन्यच्च योगद्वयेनाखिलसंस्कारक्षये भोगसंस्काराख्यसहकार्यभावात्। प्रारब्धं कर्मापि यत्फलाक्षमं भवति इदमपि योगफलम्। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् इति।

बलं प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण स्वेच्छया शीघ्रमोक्षहेतुः।

समाधान—इस विषय में पूर्ववर्णित शंका का समाधान करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं—ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मानुसार '**देहधारण**' अर्थात् देह की स्थिति अवश्यम्भावी है, इसलिये उस समय (ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् देहधारण की अवस्था में) भी(शब्दादि) बाह्य और (रागादि) आभ्यन्तरवृत्तियों से दुःख प्राप्त न हो सके, यहाँ तक '**सम्प्रज्ञात**' और '**असम्प्रज्ञात**' योगद्वय का प्रयोजन है। जैसा कि भाष्यकार बतलायेंगे—'**सर्वाश्चैता... निरोद्धव्या इति**।' ये सभी वृत्तियाँ सुखात्मिका, दुःखात्मिका तथा मोहात्मिका हैं। अतः सभी वृत्तियाँ निरोध के योग्य हैं। (कथन का अभिप्राय यह है कि सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप ज्ञानोत्पत्ति के लिये जिस प्रकार सम्प्रज्ञात की सार्थकता है, उसी प्रकार वृत्तित्वेन दुःखजनिका विवेकख्याति के निरोध के लिये असम्प्रज्ञात की उपयोगिता है। अतः मोक्षोपलब्धि के लिये ज्ञानोपायरूप '**सम्प्रज्ञात**' तथा सर्ववृत्तिनिरोधोपायरूप '**असम्प्रज्ञात**' दोनों आवश्यक हैं)। दूसरा तथ्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञान कर्मनाश का हेतु है, उसी प्रकार योग से भी कर्मक्षय होता है। यह तथ्य 'विनिष्पन्न... **अचिरात्**'—इत्यादि सैकड़ों वाक्यों से सिद्ध होता है। उद्धरण का अर्थ है'—'योगाग्नि से दग्ध हो गया है कर्मपुञ्ज जिसका, ऐसा समाधिप्राप्त योगी उसी जन्म में अतिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।' इससे ज्ञान की भाँति '**असम्प्रज्ञात**' योग भी कर्मक्षय द्वारा मोक्ष का हेतु सिद्ध होता है। '**असम्प्रज्ञात**' योग के द्वारा यच्च-यावत् निखिल (कर्मजन्य)संस्कारों (कर्माशय) का दग्धीकरण होने से यह '**असम्प्रज्ञात**' योग प्रारब्ध कर्म का भी अतिक्रमण करता है अर्थात् भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म के नाश की अपेक्षा किये विना साधक को मोक्ष दिलाता है—यही ज्ञान से अर्थात् ज्ञानहेतुक '**सम्प्रज्ञात**' से '**असम्प्रज्ञात**' में वैलक्षण्य है। सम्प्रज्ञातयोगजन्य ज्ञान को प्रारब्ध का नाशक मानने में '**तस्य तावदेव चिरम्**' यह श्रुतिवाक्य बाधक है तथा जीवन्मुक्तिपरक श्रुति तथा स्मृतिवाक्यों की अन्तःसंगति नहीं बैठ पायेगी। किन्तु '**असम्प्रज्ञात**' योग को

1. क घ च छ – मुक्ति०, ख ग – मुक्त०।
2. ख घ – तु उपलभ्यते, क ग च छ – तु नोपलभ्यते।

प्रारब्धकर्म का नाशक मानने पर किसी प्रकार की बाधा (आपत्ति) नहीं आती है। प्रत्युत '**दग्धकर्मचयोऽचिरात्**' अर्थात् 'प्रारब्धकर्म अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है'–ऐसा स्मृतिवाक्य भी मिलता है। अतः जिस प्रकार प्रायश्चित्तादि से (अपुण्य)कर्मजन्य विपाक शिथिलप्राय हो जाता है, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म का अतिशीघ्र अतिक्रमण करके मोक्ष दिलाना ही '**असम्प्रज्ञात**' योग का फल है। इतना ही नहीं, अपितु योगद्वय के द्वारा अखिल संस्कारों का क्षय होने पर भोगसंस्काररूप सहकारी (सहकारिगण) की अभावरूपता (आत्यन्तिक अतीतावस्था) हो जाती है। इससे प्रारब्ध कर्म भी फल प्रदान करने में असमर्थ हो जाता है, यह भी योग का फल अर्थात् प्रयोजन है। जैसा कि मोक्षधर्म में कहा गया है–'**नास्ति...बलम्**' अर्थात् '**सांख्य** के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है।' यहाँ '**बल**' शब्द का अर्थ है–जो प्रारब्ध का भी अतिक्रमण करके अर्थात् प्रारब्ध का उल्लंघन कर (बल-प्राप्त योगी की अभिलाषा के अनुसार) यथाशीघ्र मोक्ष का कारण होता है, उसे '**बल**' कहते हैं।

बालप्रिया–

'**योगद्वयस्य** फलम्'–ज्ञानहेतुत्वरूप से असम्प्रज्ञात के प्रयोजन को स्वीकार कर लेने वाले पूर्वपक्षी की असम्प्रज्ञात की पूर्ववर्णित निष्प्रयोजनता के विषय में जो शंका थी, उसके खण्डनार्थ योगवार्त्तिककार ने निम्नांकित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं–

१–'**सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्या**'–वैयासिक वचन के अनुसार चित्त को निर्वृत्तिक अवस्था में पहुँचाने में सहायकीभूत असम्प्रज्ञात विवेकख्यात्मक वृत्ति के निरोधार्थ आवश्यक है।

२–अखिल कर्मसंस्कार की क्षयशक्ति से युक्त असम्प्रज्ञात, प्रारब्ध कर्म की उपेक्षा कर साधक को अचिर मोक्ष प्रदान करता है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म को फलाऽक्षम बनाना असम्प्रज्ञात का उद्देश्य है। और यही '**ज्ञान**' से '**असम्प्रज्ञात**' में अन्तर है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सम्प्रज्ञात की प्रयोजनता को सिद्ध करते हुए उसके दुःखनिवृत्त्यात्मक मोक्षहेतुत्व में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अपि च वृत्ति[1]निरोधात्मको योग एव दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षे साक्षाद्धेतुः, पुरुषे दुःखस्य चित्तवृत्त्यौपाधिकत्वात्। उपाधिनिवृत्तिश्चौपाधिकनिवृत्तौ चरमकारणमतो ज्ञानेन न योगस्यान्यथासिद्धि, ज्ञानवैराग्यकर्मक्षयादीनां वृत्तिनिरोधाख्यचरमकारणद्वारैव दुःखात्यन्तोच्छेदहेतुत्वात्। वृत्त्यत्यन्तानिरोधस्तु चरमासंप्रज्ञाते भवति, यत्र संस्कारस्यात्यन्तक्षयेण चित्तस्य

1. क ख घ च छ – **निरोधात्मकः**, ग – **निरोधात्मक०**।

विलयान्मोक्षो भवति। तथा च द्वारद्वारिभावेनापि ज्ञानस्येव [1]संप्रज्ञातयोगस्यापि मोक्षहेतुत्व सिद्धम्। असंप्रज्ञातयोगस्य च साक्षान्मोक्षहेतुत्वं तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति सूत्रकार स्वयं वक्ष्यति,

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः

इत्यादिवाक्यैरात्यन्तिकस्य स्वरूपावस्थानस्यैव मोक्षत्वादिति दिक् ॥१॥

वृत्तिनिरोधात्मक योग ही (आत्यन्तिक) दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष का साक्षात् साधन (हेतु) है अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनाशरूप मोक्ष की प्राप्ति योग के द्वारा होती है, क्योंकि पुरुष में चित्तवृत्तिजन्य दुःख औपाधिक है और उपाधि की निवृत्ति औपाधिक की निवृत्ति होने पर होती है। अतः ज्ञान से मोक्ष हो सकता है, **'योग'** अन्यथासिद्ध (व्यर्थ) है, यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि ज्ञान, वैराग्य कर्मक्षय आदि (मोक्ष-प्रतिपादक) साधन, वृत्तिनिरोधरूप चरमकारण के द्वारा ही, दुःख के आत्यन्तिक नाश के कारण होते हैं। किञ्च वृत्ति का यह तथाकथित आत्यन्तिक निरोध, (योग की अन्तिम अवस्था) असम्प्रज्ञात में अथवा असम्प्रज्ञात के चरमोत्कर्ष में उदित होता है। जहाँ पहुँचकर संस्कार (वृत्तिजन्यसंस्कार) का भी सर्वथा एवं सर्वदा के लिये सर्वनाश (आत्यन्तिक अतीतावस्था वाला) हो जाने के कारण चित्त का लय हो जाने से मोक्ष होता है, यही चित्तलयता **'मोक्ष'** है। इस पद्धति से द्वारद्वारिभाव अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव से भी, ज्ञान की भाँति, सम्प्रज्ञात योग में भी मोक्षकारणत्व उत्पन्न होता है। और असम्प्रज्ञात योग, मोक्ष का साक्षात् साधन है, इसे आगे चलकर सूत्रकार स्वयं **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** १/३ सूत्र के द्वारा बतलायेंगे। अब योगवार्त्तिककार सूत्र द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के पुष्ट्यर्थ श्रुतिवाक्य प्रस्तुत करते हैं **'मुक्ति---व्यवस्थितिः'** अर्थात् 'अन्यथाभाव को छोड़कर स्वरूप से अवस्थित होना ही मुक्ति है–' इत्यादि वाक्यों के द्वारा पुरुष के आत्यन्तिक स्वरूपावस्थान (पुरुष की औपाधिक दुःखत्यक्तता) को ही **'मोक्ष'** बतलाया गया है॥१॥

बालप्रिया–

'उपाधिनिवृत्तिश्चौपाधिकनिवृत्तौ चरमकारणम्'–तथ्य का सरलीकृत रूप यह है– जिस प्रकार स्फटिक जपाकुसुम रूप उपाधि के अपसारण से प्रतिबिम्बविधया स्वनिष्ठ लौहित्यरूप औपाधिक धर्म से भी निवृत्त हो जाता है। अतः उपाधि की निवृत्ति को औपाधिक धर्म की निवृत्ति का कारण कहा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में पुरुष चित्तवृत्तिरूप उपाधि के निरोध से प्रतिबिम्बविधया स्वनिष्ठ सुखदुःखादि

---

1. क ख ग घ – **असम्प्रज्ञात०**, च छ – **सम्प्रज्ञात०**।

रूप औपाधिक धर्म से भी रहित हो जाता है। पुरुष का यही औपाधिक धर्मराहित्य ही उसका स्वरूपावस्थानरूप '**मोक्ष**' पद का वाच्य है।

'**सम्प्रज्ञातयोगस्य---मोक्षहेतुत्वं, असम्प्रज्ञातयोगस्य च साक्षान्मोक्षहेतुत्वम्**'–वाक्यांश द्वारा योगवार्त्तिककार ने शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय '**योग**' को मोक्ष के कारण रूप से प्रतिपादित कर शास्त्र के प्रयोजन पर प्रकाश डाला है ॥१॥

व्यासभाष्यम्

तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते[1]–

पूर्वोक्त द्विविध 'योग' का लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र रचा जा रहा है–

योगसूत्रम्

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

'योग' चित्तवृत्तियों का निरोध है ॥२॥

व्यासभाष्यम्

सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां [2]संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं[3] भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च[4], सत्त्वगुणात्मिका चेयम्, अतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। तदवस्थं चित्तं[5]

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–प्रववृते, छ थ–प्रवर्त्तते।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **संसृष्टम्**, छ थ – **असंसृष्टम्**।
3. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – उपगम्, छ थ – उपगतम्।
4. क ख ग घ प फ ब भ म य र – **च** उपलभ्यते, च छ ज झ त थ द ध न – **च** नोपलभ्यते।
5. प फ ब य – **चित्तम्** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न भ म र – **चित्तं** नोपलभ्यते।

संस्कारोपगं भवति। स निर्बीजः समाधिः। न तत्र किञ्चित्[1]संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध[2]इति। २॥

सूत्र में 'सर्व' शब्द का ग्रहण न करने से 'सम्प्रज्ञात' को भी 'योग' कहा गया है। चित्त प्रकाशशील, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। प्रकाशशील (प्रख्यारूप) चित्तसत्त्व, रजोगुण एवं तमोगुण से संसृष्ट (अविभक्त) होकर ऐश्वर्य तथा शब्दादि विषयों का इच्छुक होता है अर्थात् उसे अणिमादि ऐश्वर्य और शब्दादि विषय प्रिय लगते हैं। वही चित्त (रजोगुण एवं सत्त्वगुण की न्यूनता होने से) तमोगुण से युक्त होता है तो अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य और अवैराग्य में मग्न होता है। वही चित्त मोह के आवरण से रहित होकर, सब ओर से प्रकाशमान होता हुआ जब कभी रजोगुण की मात्रा से स्पृष्ट होता है, तब वह धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर आकृष्ट होता है। वही चित्त जब उस रजोगुण के लेशमात्र रूप मल के स्पर्श से रहित होता है, तब वह स्वरूप-स्थित होता है, उसमें केवल बुद्धि और पुरुष का भेदज्ञान रहता है और तब वह 'धर्ममेघसमाधि' की स्थिति तक पहुँचने वाला होता है। योगी लोग इसे 'परप्रसंख्यान' कहते हैं। चितिशक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, शुद्धा तथा अनन्ता है और यह विवेकख्याति सत्त्वगुणात्मिका है, इसलिये यह चितिशक्ति से सर्वथा भिन्न है। अतः विवेकख्याति के प्रति विरक्त हुआ चित्त इसको भी निरुद्ध कर देता है। इस (निरोध) की भूमि में स्थित चित्त (निरोध) संस्कारमात्रावशिष्ट रह जाता है। यही 'निर्बीज' समाधि है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार का सम्प्रज्ञान (ज्ञान) नहीं रहता है–इसलिये इसे असम्प्रज्ञात (योग) कहते हैं। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग दो (सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात) प्रकार का है॥२॥

तत्त्ववैशारदी

द्वितीयं सूत्रमवतारयति तस्य लक्षणेति। तस्येति पूर्वसूत्रोपात्तं द्विविधं योगं परामृशति। **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**

भाष्यकार द्वितीय सूत्र को अवतरित (उपस्थित) करते हैं– '**तस्य लक्षणेति**।' (भाष्यस्थ) '**तस्य**' पद पूर्व सूत्र में प्रयुक्त '**योग**' के द्वैविध्य को प्रकट करता है।

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न न प फ ब भ म य र – **संप्रज्ञायते**, ख – **ज्ञायते**।
2. क थ – **त्रिविधोऽर्थात्मकः संप्रज्ञातोऽर्थशून्योऽसंप्रज्ञातः संस्कारशून्यः सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मात्मको योगः (इति–पदस्य पूर्वं)** उपलभ्यते, ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **त्रिविधो....योगः** नोपलभ्यते।

(अर्थात् गत सूत्र में उक्त सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप दो प्रकार के योग का '**लक्षण**' प्रतिपादित करने की इच्छा से अग्रिम सूत्र प्रवृत्त हो रहा है) –'**योग इति**'

तत्त्ववैशारदी

निरुध्यन्ते यस्मिन्प्रमाणादिवृत्तयोऽवस्थाविशेषे चित्तस्य सोऽवस्थाविशेषो योगः।

चित्त की जिस अवस्थाविशेष में प्रमाणादि वृत्तियाँ निरुद्ध (व्यापारशून्य) हो जाती हैं, उस अवस्थाविशेष (चित्त की उस विशिष्ट दशा) को '**योग**' (कहते) हैं।

तत्त्ववैशारदी

ननु संप्रज्ञातस्य योगस्याव्यापकत्वादलक्षणमि[1]दम्। अनिरुद्धा हि तत्र सात्त्विकीचित्तवृत्तिरित्यत आह–सर्वशब्दाग्रहणादिति। यदि सर्वचित्तवृत्तिनिरोधो [2]योग इत्युच्येत भवेद[3]व्यापकं[4] संप्रज्ञातस्य। क्लेशकर्म[5]विपाकाशयपरिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोधस्तु तमपि संगृह्णाति, तत्रापि राजसतामसचित्तवृत्तिनिरोधात्तस्य च तद्भावादित्यर्थः।

शङ्का–'**योग**' का यह लक्षण (लक्ष्यभूत) सम्प्रज्ञात योग में अव्यापक अर्थात् **व्याप्त न** होने से अलक्षण अर्थात् दुष्ट लक्षण है। अर्थात् अव्याप्तिदोष से ग्रसित **होने के** कारण उक्त लक्षण की निर्दुष्टता पर प्रश्नचिह्न लगता है। क्योंकि सम्प्रज्ञात **योग में** सात्त्विकी चित्तवृत्ति (सत्त्वगुणप्रधाना ध्येयाकाराकारित वृत्ति) विद्यमान रहती है?
समाधान–व्यासदेव ने शङ्का-समाधानार्थ कहा है–'**सर्वशब्दग्रहणादिति**'। यदि सूत्रकार चित्त की निखिल वृत्तियों के निरोध को '**योग**' कहते (अर्थात् '**सर्वचित्तवृत्तिनिरोधो योगः**'–इत्याकारक '**योग**' का लक्षण किया जाता) तो (तथाकथित लक्षण लक्ष्यभूत) सम्प्रज्ञात में अवश्यंभावी अव्याप्त रहता। किन्तु क्लेश-कर्म-विपाक-आशय का गतिरोधक=नियन्त्रक (अर्थात् क्लेश-परिवार का प्रहारक) चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग (योगलक्षण) तो लक्ष्यभूत संप्रज्ञात का भी संग्राहक है। क्योंकि सम्प्रज्ञात में–चित्त की राजस तथा तामस वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर भी–क्लेशपरिपन्थिनी सात्त्विकी वृत्ति विद्यमान रहती है।

बालप्रिया–

योगलक्षण की निर्दुष्टता के परीक्षण का सार इस प्रकार है–'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' लक्षण की दोषयुक्तता का उद्‌घोष पूर्वपक्षी द्वारा योग लक्षण में '**अव्याप्ति**'

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **इदम्** उपलभ्यते, ख – **इदम्** नोपलभ्यते।
2. थ द ध–**योगः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **योगः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न – **भवेत्**, झ – **भवेदपि**।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **अव्यापकम्**, छ – **अव्यापकत्वम्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **विपाक०** उपलभ्यते, थ ध – **विपाक०** नोपलभ्यते।

तथा '**अतिव्याप्ति**' के आधार पर किया गया है। यत्किञ्चिद् वृत्तिनिरोध क्षिप्त, **मूढ** तथा विक्षिप्त संज्ञक चित्त-भूमियों में भी उपलब्ध होता है। अतः सामान्यतया 'वृत्तिनिरोध' इत्याकारक योगलक्षण अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि भूमियों में अतिव्याप्त होता है। इस अतिव्याप्तिदोष के निवारण का प्रयास यदि '**सर्व**' पद के प्रयोग द्वारा चित्त के '**सर्ववृत्तिनिरोध**' को योग बतलाकर किया जाय तो लक्ष्यभूत सम्प्रज्ञात में योगलक्षण की अप्राप्ति (अव्याप्ति) होगी, क्योंकि सम्प्रज्ञात में ध्येयाकाराकारित सात्त्विकी वृत्ति विद्यमान रहती है। अतः सदंशपतित वस्तु के समान योगलक्षण में दोनों ओर से अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष उपस्थित होकर वे पतञ्जलिप्रोक्त योगलक्षण की निर्दुष्टता की सिद्धि के लिये चुनौति स्वरूप हैं। किन्तु इस दोषपूर्ण चुनौति को, वाचस्पति मिश्र ने योगलक्षण में निहित गूढ सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए '**क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थी**'–इस संकेतित विशेषण पद से योगलक्षण के परिष्कार द्वारा, धूमिल (उत्पादित) किया है। अर्थात् '**क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योगः**'–योग के इस परिष्कृत लक्षण का आश्रयण करने से क्षिप्तादि में अतिव्याप्तिदोष तथा सम्प्रज्ञात में अव्याप्तिदोष का दूरीकरण इस प्रकार हो जाता है–क्षिप्तादिकालिक यत्किञ्चिद् वृत्तिनिरोध में योग का लक्षण '**अतिव्याप्त**' नहीं हो सकता है और एकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात में चित्त की राजस और तामस वृत्ति के निरोधपूर्वक क्लेशादि का विघटकत्वः, सात्त्विकी वृत्ति के सत्ताकाल में भी, संभव होने से सम्प्रज्ञातकालिक चित्तवृत्तिनिरोध में योग का लक्षण '**अव्याप्त**' नहीं होता है। इसलिये तत्त्ववैशारदी के टिप्पणीकार बालरामोदासीन ने भाष्यस्थ '**तम्**' पद को सम्प्रज्ञात का संग्राहक तथा '**अपि**' पद को क्षिप्तादि में योगलक्षण के अतिप्रसंग का निवारक माना है। अर्थात् '**अपि**' पद उपलक्षण है। असम्प्रज्ञात योग में तो योगलक्षण की निर्दुष्टता सर्वतोभावेन पूर्व सिद्ध ही है।

सम्प्रति, एकल (एक+ला+क) चित्त की एकाधिक भूमियों की अवधारणा तथा चित्त के वृत्तिनिरोध की अवधारणा को सहेतुक उपन्यस्त किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

कुतः पुनरेकस्य चित्तस्य क्षिप्तादिभूमिसम्बन्धः, किमर्थं चैवमवस्थस्य चित्तस्य वृत्तयो निरोद्धव्या इत्याशङ्क्य प्रथमं तावदवस्थासंबन्ध[1]हेतुमुपन्यस्यति–चित्तं हीति। प्रख्याशीलत्वात्सत्त्वगुणम्। प्रवृत्तिशीलत्वाद्रजोगुणम्। स्थितिशीलत्वात्तमोगुणम्। प्रख्याग्रहणमुपलक्षणार्थम्। तेनान्येऽपि सात्त्विकाः प्रसादलाघवप्रीत्यादयः सूच्यन्ते। प्रवृत्त्या च परितापशोकादयो राजसाः। प्रवृत्तिविरोधी तमोवृत्तिधर्मः स्थितिः। स्थितिग्रहणाद्गौरवावरणदैन्यादय

1. क ग घ छ झ त न – **सम्बन्ध०**, ख थ द ध च ज – **सम्बन्धे**।

उपलक्ष्यन्ते। एतदुक्तं भवति—एकमपि चित्तं त्रिगुणनिर्मिततया गुणानां च वैषम्येण परस्परविमर्दवैचित्र्याद्विचित्रपरिणामं सदनेकावस्थमुपपद्यत इति।

शङ्का—क्षिप्तादि अनेक (पञ्च) भूमियों (अवस्थाओं) के साथ एकल चित्त का किस प्रकार से सम्बन्ध हो सकता है? और (यदि 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से एकल चित्त और पञ्च भूमियों का कथमपि सम्बन्ध मान भी लिया जाय तो) तत्तद् भूमिस्थ (इन पांच अवस्था वाले) चित्त की वृत्तियाँ किसलिये निरोद्धव्य बतलाई गई हैं (अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध के मूल में कौन सी धारणा निगूढ़ है?

समाधान—ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार व्यासदेव प्रथमतः चित्त की (पञ्च) अवस्थाओं के सम्बन्ध में निहित कारण (प्रयोजन, तर्कमूलक स्वीकृति) को प्रस्तावित (उपन्यस्त) करते हैं—'**चित्तं हीति**'। चित्त का त्रिगुणत्व सिद्ध किया जा रहा है—चित्त में, तत्त्वज्ञानप्रवणता होने से सत्त्वगुण निहित है, प्रवृत्ति (क्रिया) शीलता होने से रजोगुण निहित है तथा स्थितिस्वभावता (आवरणरूपता) होने से तमोगुण निहित है। (चित्त आधार में ये तीनों गुण आधेयरूप से अवस्थित नहीं हैं, **अपितु** चित्तस्वरूपत्वेन त्रिगुण की मान्यता है)। भाष्यस्थ '**प्रख्या**' (इसी प्रकार '**प्रवृत्ति**' और '**स्थिति**') शब्द उपलक्षक (उपलक्षण मात्र) है। इससे (चित्त की ज्ञानप्रवणता ही नहीं अपितु) प्रसाद (प्रसन्नता), लाघव (शारीरिक लघुताजनित स्फूर्तता) तथा प्रीत्यादि (सुखादि)—सात्त्विक अवस्थाएँ सूचित होती हैं। '**प्रवृत्ति**' शब्द से (चित्त की क्रियाशीलता से) परिताप (पीड़ा), शोक (दुःख) आदि राजस (रजोगुणप्रधान) अवस्थाएं लक्षित होती हैं। तमोगुण स्वभाव वाली '**स्थिति**' (रजोगुणस्वभाव वाली) 'प्रवृत्ति' की विद्वेषी है (अर्थात् क्रिया में गतिरोध उत्पन्न करना तमोगुण का व्यापार है)। '**स्थिति**' शब्द के प्रयोग से गौरव (शारीरिक गुरुताजनित जड़ता), आवरण (ज्ञानाच्छादन) तथा दैन्य आदि अवस्थाएँ (तमोगुण की) उपलक्षित होती हैं। भाव यह है—एक (प्रतिशरीर में एक-एक) होता हुआ भी चित्त त्रिगुणगठित (त्रिगुणात्मक) होने से गुणों की पारिमाणिक एवं स्वाभाविक विषमता से; पारस्परिक विमर्दन (शक्ति-परीक्षण से जयाजय=आविर्भाव-तिरोभाव) की विविधरूपता से बहुरंगी (एकाधिक आश्चर्यकारी) परिणाम वाला होता हुआ अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होता है। (यहाँ एक ही चित्त, आकलन के विभिन्न कोणों से मूल्यांकित किया गया है)।

बालप्रिया—

'**उपलक्षणम्**'—(उप+लक्ष्+ल्युट्) अंकित करना। किसी ऐसी बात का ध्वनित होना, जो वस्तुतः कही न गई हो; अथवा अन्य किसी समरूप पदार्थ की ओर

संकेत, जब कि किसी एक का ही उल्लेख किया गया हो; अथवा समस्त वस्तु के लिये उसके किसी एक भाग के कथन को **'उपलक्षण'** कहते हैं।

दार्शनिक शब्दावली में–**'व्यावर्तकम् प्रकारो वा (१) प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकान्यत् व्यावर्तकम्; (२) अजहत्स्वार्थलक्षणया अन्यग्राहकम्; (३) यथा वा साधर्म्योपमानं वैधर्म्याद्युप- स्थापकम्–यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदं दध्युपघातकत्वेन रूपेण काकाकाको- भयबोधकम्'–(वाच.)**।

'परितापः' (परि + तप् + घञ्); **'शोकः'** (शुच् + घञ्)–रजोगुणप्रधान चित्त में आविर्भूत परिताप और शोक दोनों दुःखमूलक हैं। 'परिताप' शारीरिक दुःख और 'शोक' मानसिक दुःख को इंगित करता है। उदाहरण हैं–**'गुरुपरितापानि गात्राणि' (ऋतु.); 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'–(रघु.)**।

'त्रिगुणम्'–चित्त के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को समझने के लिये; त्रिगुण की मान्यता, सांख्यकारिका १२वीं एवं १३वीं आर्याओं में द्रष्टव्य है।

पूर्वनिर्दिष्ट क्लेशादि के विघटकभूत 'चित्तवृत्तिनिरोध' संज्ञक योगलक्षण की अन्तःसंगति बैठाने के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

क्षिप्ताद्या एव चित्तस्य भूमीर्यथासंभवमवान्तरावस्थाभेदवतीरादर्शयति–प्रख्यारूपं हीति। चित्तरूपेण परिणतं सत्त्वं चित्तसत्त्वम्। तदेवं प्रख्यारूपतया सत्त्वप्राधान्यं चित्तस्य दर्शितम्। तत्र चित्ते[1] सत्त्वात् किञ्चिदूने रजस्तमसी यदा मिथः समे च भवतस्तदैश्वर्यञ्च विषयाश्च शब्दादयस्तान्येव प्रियाणि यस्य तत्तथोक्तम्। सत्त्वप्राधान्यात्खलु चित्तं तत्त्वे प्रणिधित्सदपि तत्त्वस्य तमसा पिहितत्वादणिमादिकमैश्वर्यमेव तत्त्वमभिमन्यमानं तत्प्रणिधित्सति प्रणिधत्ते च[2] क्षणम्। अथ रजसा क्षिप्यमाणं तत्राप्यलब्धस्थिति[3]विशेषात्तत्प्रियमात्रं भवति। शब्दादिषु पुनरस्य स्वरसवाही प्रेमा निरूढ एव। तदनेन विक्षिप्तं चित्तमुक्तम्।

(कथित रीति के अनुसार) शक्य अवान्तर भेद (सम्बद्ध विभाजन) वाली चित्त की क्षिप्तादि भूमियों को ही भाष्यकार (अनुपूरक के रूप में) प्रदर्शित करते हैं–**'प्रख्यारूपं हीति।' 'चित्त'** (तत्त्व) के रूप से पूर्ण विकसित (परिणमित) 'सत्त्व' को **'चित्तसत्त्व'** कहते हैं। इस मान्यता के अनुसार तत्त्वज्ञानवृत्तिक होने से चित्त का सात्त्विक प्रभुत्व (सत्त्वगुणमूलक प्राबल्य) प्रदर्शित किया गया है। ऐसे सत्त्वघटित

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न – **चित्ते**, झ त – **चित्त०**।
2. घ च छ ज झ त थ द ध न – **च** उपलभ्यते, क ख ग – **च** नोपलभ्यते।
3. क ग घ छ झ त न – **विशेषात्** उपलभ्यते, ख च ज थ द ध –**विशेषात्** नोपलभ्यते।

चित्त में (सात्त्विक मात्रा में लवलेश गिरावट=न्यूनता आने पर) जब रजोगुण एवं तमोगुण सत्त्व की अपेक्षा गौण किन्तु परस्पर तुल्य परिमाण वाले होते हैं, तब उसे अणिमादि ऐश्वर्य एवं शब्दादि विषय अनुकूल (वाञ्छित) होते हैं। सत्त्वगुण की प्रबलता से तात्त्विक चिन्तन (तत्त्वज्ञान) की इच्छा रखता हुआ भी (अर्थात् परमार्थभूत ईश्वर तत्त्व में एकाग्रीभूत होता हुआ भी) चित्त; तत्त्व के तमसाच्छादित होने के कारण, अणिमादि ऐश्वर्य को ही तत्त्व (सद्भूत) मानता हुआ उसी के चिन्तन की इच्छा कर उसी में क्षण भर डूब (लवलीन हो) जाता है। तत्पश्चात् रजोगुण के कारण चञ्चलित होता हुआ चित्त उन अणिमादि ऐश्वर्यों में भी स्थिरता को प्राप्त नहीं करता है, फलतः शब्दादि विषयों में ही उसकी प्रियता रहती है। इस प्रकार चित्त की शब्दादि विषयों के प्रति स्वाभाविक प्रियता (आसक्ति) प्रसिद्ध ही है। इस पद्धति से विक्षिप्त चित्त बतलाया गया है।

बालप्रिया–

'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्'–यहाँ **'हि'** अव्यय एवार्थक है। **'प्रख्यारूपं'** पद से पूर्व **'यद्यपि'** और **'चित्तसत्त्वम्'** पद के पश्चात् **'तथापि'** इन पदों को जोड़कर **'यदा'-'तदा'** इन अध्याहृत पदों के माध्यम से वाचस्पति मिश्रकृत उक्त व्याख्या का भाष्यानुसारी वाक्यार्थ इस प्रकार संक्षेपेण समझा जा सकता है–यद्यपि सात्त्विक प्रमुखता के कारण चित्तसत्त्व प्रख्यारूप ही होता है तथापि जब सात्त्विक चित्त रजोगुण एवं तमोगुण से संसृष्ट होता है तब अणिमादि ऐश्वर्य एवं शब्दादि विषय में अनुरक्त होता है। इस पद्धति से चित्त की 'क्षिप्तावस्था' प्रदर्शित की गई है–ऐसा बालरामोदासीन का कथन है।

सम्प्रति, **'मूढ'** चित्त पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

क्षिप्तं चित्तं दर्शयन्मूढमपि सूचयति–तदेव तमसेति। यदा हि तमो रजो विजित्य प्रसृतं तदा चित्तसत्त्वावरकतमःसमुत्सारणेऽशक्तत्वाद्रजसस्तमःस्थगितं चित्तमधर्माद्युपगच्छति। अज्ञानं च विपर्यय- ज्ञानमभावप्रत्ययालम्बनं च निद्राज्ञानमुक्तम्। ततश्च मूढावस्थापि सूचितेति। अनैश्वर्यं सर्वत्रेच्छाप्रतीघातः। अधर्मादिव्याप्तं चित्तं भवतीत्यर्थः।

जिस समय तमोगुण रजोगुण को उल्लंघित कर (पराभूत कर) स्वयं फैला हुआ (प्रबल) अर्थात् निरापद अस्तित्वयुक्त हो जाता है, उस समय अभिभूत रजोगुण–चित्तसत्त्व के आच्छादकरूप तमोगुण के उत्पाटन में (तमोगुण के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने में)–शक्तिहीन (अक्षम) रहता है। इससे (रजोगुण की अशक्यता का लाभ उठाकर) तमसावृत्त चित्त (तामसिक गुरुता=मूढता प्राप्त चित्त) अधर्मादि अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की ओर जाने

वाला हो जाता है। '**अज्ञान**' पद से विपर्ययज्ञान (विपर्ययवृत्ति) तथा अभावात्मक प्रत्यय को आलम्बन बनाने वाले निद्राज्ञान (निद्रावृत्ति) को बतलाया गया है। इससे चित्त की मूढावस्था भी अङ्कित होती है। '**अनैश्वर्य**' का अर्थ है—किसी भी इच्छा की पूर्ति न हो पाना। इस प्रकार अधर्मादि से व्याप्त (संकुल, आच्छादित, अनुविद्ध) तामस चित्त होता है।

बालप्रिया—

'**प्रसृतम्**' (प्र+सृ+क्त) आगे बढ़ा हुआ अर्थात् प्रगतियुक्त।

'**उत्सारणे**' (उद्+सृ+णिच्+ल्युट्, सप्तमी) मार्ग से दूर करने में।

'**तमःस्थगितम्**'—यह पद भाष्यस्थ '**तमसानुविद्धं**' पद के अर्थबोध के लिये प्रयुक्त है। '**तमसाऽऽवृतम्**' पद भी इसी अर्थ को बतलाता है। एकार्थक तीनों पदों में से '**स्थगित**' शब्द क्रियाशीलता के विपरीत जड़ता, '**अनुविद्ध**' शब्द अधर्मादि के प्रति लिप्तता तथा '**आवृत**' शब्द तमोगुण की ज्ञानाच्छादकता की ओर; विशेष रूप से, इंगित करता है।

'**उपगच्छति**'—'उप' उपसर्ग, 'गम्' धातु से पूर्व लगकर तामस चित्त की वैषयिक (अधर्मादिविषयक) निकटता तथा संसक्ति को अभिव्यक्त करता है।

'**अज्ञानं च...च निद्राज्ञानमुक्तम्**'—जिस प्रकार विद्युत्संचार के अवरोध का प्रभाव प्रकाशमय वातावरण को अन्धकारयुक्त करने के साथ-साथ व्यापाररत प्राणियों (विशेषतया बुद्धिजीवियों) के क्रियाकलापों पर भी पड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार चित्त की तमसावृत मूढावस्था सात्त्विक प्रकाशमय ज्ञानादि वृत्तियों की गतिशीलता को अवरुद्ध कर चैत्तिक अन्धकार का आपादन तो करती ही है, साथ-साथ भ्रान्तिमूलक भ्रमज्ञान तथा अभावप्रत्ययालम्बनक निद्राज्ञान का उत्पत्तिबीज भी बनती है। वस्तुतस्तु तामस चित्त की साम्राज्य-लिप्सा के प्रत्यायक चार स्तम्भ हैं—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य।

सम्प्रति, लब्धसत्त्वाधिक्य '**चित्तसत्त्व**' का स्वरूप बतलाया जा रहै है—

तत्त्ववैशारदी

यदा तु तदेव चित्तसत्त्वमाविर्भूतसत्त्वमपगततमःपटलं सरजस्कं भवति तदा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याण्युपगच्छतीत्याह—प्रक्षीणेत्यादि। मोहस्तमस्तदेव चावरणं प्रकर्षेण क्षीणं यस्य तत्तथोक्तम्। अत एव सर्वतो विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गपुरुषेषु प्रद्योतमानम्।

जब वही चित्तसत्त्व (बुद्धितत्त्व) सत्त्वगुण के प्रादुर्भाव वाला अर्थात् सत्त्वप्राचुर्य वाला (होता हुआ) तामसराशि (तमोगुण के समुच्चित परिमाण) के प्रक्षालनपूर्वक रजोगुण से युक्त होता है, तब वह धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य–विषयता को प्राप्त होता है, इसे व्यासदेव बतलाते हैं—'**प्रक्षीणेत्यादि**'। '**मोह**' शब्द का

अर्थ 'तमोगुण' है। यही तमोगुण (चित्तसत्त्व के लिये) '**आवरण**' (अवगुण्ठन) स्वरूप है। यही मोहसंज्ञक आवरण जिस चित्तसत्त्व से तीव्रतापूर्वक अवकर्षित (निष्कासित) हो गया है, उस स्वरूप वाला चित्त यहाँ बतलाया जा रहा है। (अर्थात् जिसका मोहस्थानीय '**तम**' रूप आवरण अच्छी प्रकार से क्षीण हो गया है, ऐसा चित्त '**प्रक्षीणमोहावरणक**' है)। अतएव (सात्त्विक प्रकाश की विस्तीर्णता से) चित्त को सब ओर से विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग तथा पुरुष तत्त्व प्रद्योतित होता है।

बालप्रिया–

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग–ये चार '**गुणपर्व**' हैं। त्रिगुण का विस्तार तात्त्विक दृष्टि से चार प्रकार से होता है। पञ्चमहाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन–ये सोलह तत्त्व '**विशेष**' संज्ञा से अभिहित हैं। पञ्चतन्मात्र तथा अहंकार–ये छह तत्त्व '**अविशेष**' कहे जाते हैं। बुद्धि-तत्त्व की '**लिङ्ग**' संज्ञा है तथा अव्यक्त अर्थात् प्रकृति '**अलिङ्ग**' शब्द से परिभाषित है। त्रिगुण का यह तात्त्विक परिणाम 'जड़ात्मक' है। तत्त्व का द्वितीय मौलिक भेद 'चेतनात्मक' है। पुरुष अर्थात् आत्मा इस वर्ग में आता हैं। तथ्य का विस्तार २/१७ योगसूत्र में द्रष्टव्य है। संक्षेपेण यही कहा जा सकता है कि चित्तसत्त्व की प्रभूत सात्त्विकता यच्च-यावत् पदार्थों के स्फुरण में समर्थ है। टिप्पणीकार बालरामोदासीन के मत में यह चित्त की '**विक्षिप्तावस्था**' है।

सम्प्रति, सत्त्वगुणप्रधान चित्त की धर्मादिप्रियता में गतिशीलता (प्रवृत्ति) लाने के लिये रजोगुण की भूमिका (रजोगुण के दायित्व) को स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तथापि न [1]धर्माद्यैश्वर्याय च कल्पते, प्रवृत्त्यभावादित्यत आह-अनुविद्धं रजोमात्रया इति।[2] रजसः प्रवर्तकत्वादस्ति [3]धर्मादिप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदनेन संप्रज्ञातसमाधिसंपन्नयोर्मधु-भूमिकप्रज्ञाज्योतिषोर्मध्यमयोर्योगिनोश्चित्तसत्त्वं संगृहीतम्।

सत्त्वगुण में धर्मादिस्वभाव होते हुए भी विशुद्ध (रजोमात्राशून्य) सत्त्वविशिष्ट चित्त धर्मादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये समर्थ नहीं होता है क्योंकि सत्त्वगुण में प्रवृत्तिशून्यत्व (क्रियाशीलता नहीं) है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने कहा है–'**अनुविद्धं रजोमात्रया**'। (इसी तथ्य को वाचस्पति मिश्र ने '**सरजस्कम्**' के

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **धर्मादि०**, थ द ध – **धर्माय**।
2. थ द ध – **इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च त थ द ध न – **धर्मादिप्रवृत्तिः**, छ ज झ – **धर्मादिः**।

द्वारा स्पष्ट किया है)। रजोगुण में प्रबोधकत्व (प्रवृत्तिशीलत्व) होने से रजोलेशानुविद्ध प्रचुर सत्त्वप्रधान चित्त में धर्मादि के प्रति प्रवृत्ति संभव है। इससे सम्प्रज्ञात-समाधिप्राप्त '**मधुभूमिक**' एवं '**प्रज्ञाज्योति**' वाले मध्यम योगियों के चित्तसत्त्व का संग्रह होता है।

सम्प्रति, चित्त की क्रमप्राप्त चतुर्थ '**एकाग्रावस्था**' को प्रतिपादित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

संप्रत्यतिक्रान्तभावनीयस्य ध्यायिनश्चतुर्थस्य [1]चित्तावस्थामाह–तदेवेति।[2] चित्तं रजोलेशान्मलादपेतमत एव स्वरूपप्रतिष्ठम्। अभ्यासवैराग्यपुटपाकप्रबन्धविधूतरजस्तमोमलस्य हि बुद्धिसत्त्वतपनीयस्य स्वरूप[3]प्रतिष्ठस्य विषयेन्द्रियप्रत्याहृतस्यानवसिताधिकारतया च कार्यकारिणी विवेकख्यातिः परं कार्यमवशिष्यत इत्याह–सत्त्वेति[4]। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्तं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। धर्ममेघश्च वक्ष्यते। अत्रैव योगिजनप्रसिद्धिमाह–तदिति।[5] सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं चित्तं धर्ममेघपर्यन्तं परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चित्तसामानाधिकरण्यं च धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया द्रष्टव्यम्।

अधुना '**अतिक्रान्तभवनीय**'–संज्ञक चतुर्थ साधक की चैत्तिक दशा को भाष्यकार बतलाते हैं–'**तदेवेति**'। अशुद्धतारूप राजसांश से वियुक्त (रहित) होने के कारण साधक का चित्त स्वरूपप्रतिष्ठ होता है (अर्थात् रजोगुणरूप मल के लेशमात्र से भी रहित होकर चित्त अपने ज्ञानरूप में अवस्थित रहता है। क्योंकि चित्त (बुद्धि) प्रकृति का सात्त्विक परिणाम है)। चित्त की स्वरूपप्रतिष्ठितता को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे बतलाते हैं–अभ्यास और वैराग्यरूप साधन की समवेत साधना से जिसका रजोगुण एवं तमोगुण रूप मल प्रक्षालित हो गया है (क्योंकि अभ्यास-वैराग्यरूपी अग्नि में चैत्तिक मल को शोधित करने का सामर्थ्य है), ऐसे अभ्यास और वैराग्यरूप अग्नि में तप्य बुद्धिसत्त्व (चित्त) विषयेन्द्रिय से बहिर्मुख हो (इन्द्रियों के माध्यम से होने वाली वैषयिक आसक्ति से रहित हो) जाता है, किन्तु स्वकर्त्तव्य की समाप्ति न होने से कार्यशील बुद्धिसत्त्व (चित्त) का विवेकज्ञान रूप उपयोगी (पर=श्रेष्ठ) कर्म अवशिष्ट रहता है, इसलिये व्यासदेव ने कहा है–'**सत्त्वेति**'। प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान से युक्त चित्त '**धर्ममेघ**' समाधि की स्थिति तक

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **चित्तावस्थाम्**, छ – **स्वचित्तावस्थाम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **तदेव**, थ द ध – **तदेवेति**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रतिष्ठस्य**, थ द ध – **प्रतिष्ठायाम्**।
4. थ द ध – **सत्त्वेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सत्त्वेति** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – **तदिति**, थ द ध – **तत्परमिति**।

पहुँचने वाला होता है। **'धर्ममेघ'** संज्ञक ध्यान (समाधि) का वर्णन आगे किया जायेगा। इसी प्रसंग में भाष्यकार व्यासदेव ने **'धर्ममेघ'** समाधिप्राप्त साधक का चित्त योगिसमाज में किस नाम से लब्धख्याति होता है, इसे बतलाया है–**'तत्परमिति'**। धर्ममेघसमाधिपर्यन्त सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्राप्त चित्त को योगिजन **'पर प्रसंख्यान'** (श्रेष्ठतम ज्ञान) कहते हैं। (यद्यपि सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप **'प्रसंख्यान'** चित्तरूप धर्मी का **'धर्म'** अवस्थाविशेष है तथापि योगशास्त्र में धर्म-धर्मी का अभेद अभिप्रेत होने से चित्ताधिकरणक ज्ञानवृत्ति को ही चित्त मानते हुए यहाँ **'प्रसंख्यान चित्त'** कहा गया है।

बालप्रिया–

'अतिक्रान्तभवनीय'–योगशास्त्र में चार प्रकार के योगी बतलाये गये हैं– प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभवनीय। इनका वर्णन आगे किया जायेगा।

'स्वरूपप्रतिष्ठम्'–द्रष्टा (पुरुष) की स्वस्वरूपास्थिति; जो तृतीय सूत्र **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** में बतलाई जायेगी, बुद्धिरूप उपाधि में प्रतिबिम्बिविधया लब्ध औपाधिक संसर्गशून्यता में निहित है अर्थात् बुद्धिगत शब्दादिज्ञानविषयता से पुरुष की औपाधिक असंपृक्तता को पुरुष की **'स्वस्वरूपाव[2]स्थिति'** कहते हैं। यह दार्शनिक पक्ष तो समझ में आता है किन्तु त्रिगुणगठित चित्त की स्वरूपप्रतिष्ठितता उसके शुद्ध सात्त्विक रूप में किस आधार पर कही गई है यह विचारणीय है, क्योंकि रज्जु के त्र्यंश की भांति प्रत्येक जड़ पदार्थ का अस्तित्व गुण की त्रिरूपता में ही; न कि एकरूप अथवा द्विरूप में, संभव है? उत्तर है कि **'चित्तं स्वरूपप्रतिष्ठम्'** अंश के द्वारा न तो त्रिगुणवाद को व्याघात पहुँचता है और न ही चित्तसत्त्व की संघटना पर आँच आती है। सत्त्वांशप्रचुर (सत्त्वगुणप्रधान) प्रकृति के कार्यभूत चित्त (बुद्धि) का सत्त्वाधिक्य, रजस् और तमस् के द्वारा बाधित (अवरुद्ध) न होकर धर्मादिवृत्ति रूप में प्रतिफलित होता हुआ विवेकज्ञान में पर्यवसित हो सके, इतना बतलाना ही लक्ष्य है।

'पुटपाकप्रबन्ध'–आयुर्विज्ञान की दृष्टि से 'पुटपाकप्रबन्ध,' औषधि तैयार करने की विशेष पद्धति है। इसमें औषधियों को पत्तों में लपेटकर ऊपर से मुल्तानी मिट्टी का पोत देते हैं और फिर उसे अग्नि में भूना जाता है। इस प्रकार अग्नि-संयोग से औषधि को तैयार अर्थात् शुद्ध किया जाता है। धातुविज्ञान की दृष्टि से सुवर्णगत मालिन्य का शोधन अग्नि-संयोग से संभव है। इसी प्रकार योगविज्ञान में चित्तगत मालिन्य (रजस्तमोमल) अभ्यास और वैराग्यरूप पुटपाकप्रबन्ध से प्रक्षालित होता

है। अर्थात् सुवर्णस्थानीय बुद्धि (चित्त) अग्निस्थानीय अभ्यास-वैराग्यपुट से परिशुद्ध की जाती है।

'अनवसिताधिकार'–यहाँ **'अधिकार'** शब्द का अर्थ प्रभुसत्ता (हक) नहीं है। अपितु कर्त्तव्य (कार्यभार) अर्थ में **'अधिकार'** शब्द का प्रयोग हुआ है। लौकिक प्राणियों की भाँति दार्शनिक जगत् के नामधारी तत्त्वों के कन्धों पर भी कर्त्तव्य का भार है। सांख्ययोगदर्शन की मान्यता के अनुसार प्रकृति की आद्य परिणामभूता बुद्धि (चित्त), जो अभिव्यक्तिवंश की अग्रजतम इकाई है, के दो अधिकार=कर्त्तव्य कथित हैं–पहला भोगाधिकार तथा दूसरा मोक्षाधिकार। कर्त्तव्य का सम्पादन दूसरे के प्रति किया जाता है। यहाँ **'चित्त'** के कर्त्तव्य का केन्द्र बिन्दु चेतन पुरुष है। **'पुरुष'** के प्रति **'चित्त'** सर्वप्रथम भोगसम्पादन करता है। अर्थात् सर्वप्रथम, पुरुष को जागतिक पदार्थों के विषय में सुख-दुःखानुभूति होती है। जागतिक पदार्थों का भोग-सम्पादन कराते हुए चित्त में जागतिक पदार्थों के विषय में चमत्कृति उत्पन्न होती है। प्रज्ञारूप चमत्कृति की इयत्ता (सीमा, उपसंहृति) सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-पर्यन्त है। ('सत्त्व'=बुद्धि, पुरुष=आत्मा, 'अन्यता'=भेद, ख्याति=ज्ञान अर्थात् जड़-चेतन के भेदज्ञान को **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** कहते हैं। चैत्तिक ज्ञान की यह पराकाष्ठा पुरुष के प्रति 'बुद्धि के द्वितीय मोक्ष (स्वस्वरूपावस्थान) संज्ञक अधिकार के निष्पादन में सहायकीभूत होती है। इसलिये ध्यायियों ने इस विशिष्टज्ञान को **'प्रसंख्यान'** संज्ञा से अलंकृत किया है।

सम्प्रति, चित्त की पञ्चम **'निरुद्धावस्था'** के प्रतिपादन के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

विवेकख्यातेर्हानहेतुं चितिशक्तेश्चोपादानहेतुं निरोधसमाधिमवतारयितुं चितिशक्तेः साधुतामसाधुतां च विवेकख्यातेर्दशयति–चितिशक्तिरित्यादिना।[1] **सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिः। सुखमोहावपि हि विवेकिनं दुःखाकुरुतः। अतो दुःखवद्धेयौ। तथा** [2]**चातिसुन्दरमप्यन्तवद्दुनोति। तेन तदपि हेयमेव विवेकिनः।**

विवेकख्याति (विवेकज्ञान) के हान (त्याज्य) के उपकरणभूत तथा चितिशक्ति (पुरुष) के उपादान (ग्रहण) के कारणभूत निरोधसमाधि (निरुद्धभूमिक असम्प्रज्ञात) को उपस्थापित (प्रस्तावित) करने के लिये (भाष्यकार) चितिशक्ति (पुरुष) का उत्तमत्व और विवेकज्ञानरूप वृत्ति का अधमत्व प्रदर्शित करते हैं–

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इत्यादि**, थ द ध – **इत्यादिना।**
2. क ग च छ थ द ध – **च** उपलभ्यते, ख घ ज झ त न – **च** नोपलभ्यते।

'चितिशक्तिरित्यादिना'। (त्रिगुणनिष्ठ) सुखात्मकत्व, दुःखात्मकत्व तथा मोहात्मकत्व को **'अशुद्धि'** कहते हैं। ('दुःख' की दुःखरूपता तो सर्वजनवेद्य है ही किन्तु) 'सुख' और 'मोह' भी विवेकी (ज्ञानी, तत्त्वद्रष्टा) को निस्सन्देह दुःखी करते हैं। अतः (तात्त्विक दृष्टि से) सुख तथा 'मोह' भी 'दुःख' की भाँति हेय (कोटि में न्यस्त) हैं। (यह तथ्य सामान्यजन की विश्वसनीयता=अनुभवनीयता के विरुद्ध है, अतः वाचस्पति मिश्र तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं)–सुख तथा मोहकारक पदार्थ (आपाततः= व्यवहारतः) रमणीय होता हुआ भी नाशवान् पदार्थ की तरह दुःख प्रदान करता है (अर्थात् सुखकारक पदार्थ की शाश्वत प्राप्ति न होने से 'पुरुष' दुःखी होता है)। अतः विवेकी=ज्ञानी पुरुष के लिये सुखात्मिका वृत्ति भी (चाहे वह विवेकज्ञानरूप वृत्ति ही क्यों न हो) त्याज्य (अपसारणीय) ही है। (इस प्रकार विवेकख्याति को **'अशुद्ध'** बतलाया गया है)।

जिज्ञासा है कि **'विवेकवृत्ति'** में दृष्टिगत (समुपलब्ध) **'अशुद्धि'** क्या चेतन पुरुष में भी निहित है–

तत्त्ववैशारदी

सेयमशुद्धिरन्तश्च चितिशक्तौ पुरुषे न स्त इत्यत[1] **उक्तम्–शुद्धा चानन्ता चेति। ननु सुखदुःखमोहात्मकशब्दादीनियं चेतयमाना तदाकारापन्ना कथं विशुद्धा, तदाकारपरिग्रहपरिवर्जने च कुर्वती कथमनन्तेत्यत उक्तम्–दर्शितविषयेति। दर्शितो विषयः शब्दादिर्यस्यै सा तथोक्ता। भवेदेतदेवं यदि बुद्धिवच्चितिशक्तिर्विषयाकारतामापद्येत, किं तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती अतदाकारायै चितिशक्त्यै विषयमादर्शयति। ततः पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते।**

उपरिवर्णित अशुद्धता तथा नाशशीलता चितिशक्ति पुरुष में (सम्भव) नहीं हैं, इसलिए भाष्यकार ने कहा है– **'शुद्धा चानन्ता चेति'**।

शङ्का–सुख, दुःख तथा मोहात्मक शब्दादि विषयों को जानती हुई तत्तद्विषयाकारिणी चितिशक्ति किस प्रकार **'विशुद्धा'** कही जाती है (अर्थात् विषयोपरक्तता चितिशक्ति में **'अशुद्धि'** का आपादान करती है) तथा तत्तद्विषयाकारता का ग्रहण और त्याग करती हुई चितिशक्ति किस प्रकार **'अनन्ता'** कही जाती है (अर्थात् सुखज्ञान विशिष्ट चितिशक्ति अग्रिम क्षणों में दुःखज्ञानविशिष्ट होने पर अपने में **'अन्तता'** का आपादन करती है)।

समाधान–उक्त शंका के दूरीकरणार्थ भाष्यकार ने कहा है–**'दर्शितविषया इति'** ('दर्शितविषया' इस समस्त पद का विग्रह है–) **'दर्शितो विषयः शब्दादिर्यस्यै सा'**–

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति**, थ द ध – **इत्यतः**।

(बुद्धिसत्त्व द्वारा) शब्दादि विषय जिसके लिये दिखाये जाते हैं, इस प्रकार की चितिशक्ति है अर्थात् बुद्धिद्वारा, प्रतिबिम्बविधया, शब्दादि विषय, पुरुष को समर्पित किये जाते हैं इसलिये चितिशक्ति को '**दर्शितविषया**' कहते हैं। चितिशक्ति में अशुद्धत्व तथा अनित्यत्व दोष तभी सम्भावित हो सकते हैं, जब (परिणामिनी) बुद्धि की भाँति चितिशक्ति भी शब्दादि विषयाकारता को प्राप्त हो सके। (बुद्धिवत् चितिशक्ति को भी परिणामिनी माना जाय)। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। एक मात्र बुद्धि ही (घट, पटादि) विषयाकाराकारित होकर अर्थात् विषय के आकार में परिणत होकर अविषयाकाराकारित अपरिणामी पुरुष को स्वविषय दिखलाती है। जिससे पुरुष विषय का '**बोद्धा**' है–ऐसा कहा जाता है।

बालप्रिया–

'**दर्शित**'–(वि. दृश्+णिच्+क्त) दिखलाया गया। यहाँ प्रेरणार्थक '**णिच्**' प्रत्यय है। बुद्धि के द्वारा पुरुष को विषयज्ञान कराया जाता है। पुरुष का विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, अपितु औपाधिक सम्बन्ध है। जिस प्रकार विक्षुब्ध (तरंगित) जल में प्रतिबिम्बित सूर्य को देखकर होने वाला '**प्रकम्पितः सूर्यः**'– इत्याकारक ज्ञान भ्रान्तिमूलक है। प्रतिबिम्बित सूर्य में प्रकम्प रूप '**अशुद्धि**' और खण्ड रूप अन्तता का भान आकाशस्थ बिम्बभूत सूर्य की निश्चलता तथा अनन्तता को व्याहत नहीं करता है। इसी प्रकार बुद्धिगत (वैषयिक) अशुद्धि तथा अन्तता पुरुष (चितिशक्ति) के अनौपाधिक रूप को विकृत (क्षतिग्रस्त) नहीं कर सकती है। अतः बुद्धिवत् पुरुष में '**अशुद्धि**' तथा '**अन्तता**' की कल्पना भ्रान्तिमूलक है।

'**चितिशक्ति**' को विषयगत '**अशुद्धि**' तथा भिन्न-भिन्न ज्ञान के आधार पर '**अन्त**' दोष से रहित '**विशुद्ध**' तथा '**अनन्त**' मानने पर अन्य दोषों एवं विसंगतियों की उद्भावना करता हुआ पूर्वपक्षी कहता है–

तत्त्ववैशारदी

ननु विषयाकारां बुद्धिमनारूढायाश्चितिशक्तेः कथं विषयवेदनम्, विषयारोहे वा कथं न तदाकारापत्तिरित्यत उक्तम्–अप्रतिसंक्रमेति। प्रतिसंक्रमः संचारः। स चितेर्नास्तीत्यर्थः। स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्–अपरिणामिनीति। न चितेस्त्रिविधोऽपि धर्मलक्षणावस्थालक्षणः परिणामोऽस्ति, येन क्रियारूपेण परिणता सती बुद्धिसंयोगेन परिणमेत चितिशक्तिः। असंक्रान्ताया अपि विषयसंवेदनमुपपादयिष्यते। तत्सिद्धं चितिशक्तिः शोभनेति

शङ्का–(सिद्धान्ती की ओर से '**दर्शितविषया**' पद की व्याख्या सुनकर) पूर्वपक्षी को सन्देह है कि घट, पटादि विषयाकाराकारित बुद्धि में अनारूढ (बुद्धि से असम्पृक्त) चितिशक्ति को किस प्रकार विषय का ज्ञान होता है, अथवा घट, पटादि विषय में

आरूढ हुई (विषय से सम्पृक्त हुई) चितिशक्ति विषयाकारता को क्यों नहीं प्राप्त होती है? (पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय यह है कि यदि चितिशक्ति विषयाकाराकारित बुद्धि में आरूढ नहीं होती है, तो पुरुष को विषय का ज्ञान नहीं होता है–ऐसा मानिये। और यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार 'पुरुष को विषय का ज्ञान होता है'–ऐसा मानते हैं तो विषयाकार बुद्धि में आरूढ हुई चितिशक्ति का परिणाम मानिये। इस प्रकार सिद्धान्ती के मत में उभयतः पाशारज्जु है)।

समाधान–उक्त शंका को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार ने कहा है–'**अप्रतिसंक्रमा** इति'। '**प्रतिसंक्रम**' पद का अर्थ सञ्चार अर्थात् गतिशीलता है। यह संचरणशीलता चितिशक्ति में नहीं हैं, इसलिये चितिशक्ति '**अप्रतिसंक्रमा**' है। (**नास्ति प्रतिसंक्रमः=सङ्गो विषयेषु यस्याः साऽप्रतिसंक्रमा** अर्थात् जिस प्रकार बुद्धि विषयों के पास तक सञ्चरण करती है, वैसी क्रिया जिसमें नहीं है, वह चितिशक्ति है। अतः अप्रतिसंक्रम पुरुष निर्लेप है, फलतः चितिशक्ति में विषयानारूढता सिद्धान्तित होती है)।

शङ्का–जिज्ञासा है कि यह सञ्चरणशीलता (सञ्चार) चितिशक्ति में क्यों नहीं है (अर्थात् चितिशक्ति को '**अप्रतिसंक्रमा**' प्रतिपादित करने में कौन सा तथ्य निगूढ है)?

समाधान–चितिशक्ति के '**अप्रतिसंक्रमा**' स्वरूप को मूल्यांकित करते हुए) भाष्यकार ने कहा है–'**अपरिणामिनी इति**।' चितिशक्ति (पुरुष) में '**धर्म**, लक्षणक, ''**लक्षण**' लक्षणक, तथा '**अवस्था**' लक्षणक–त्रिविध परिणाम भी नहीं हैं, जिससे क्रियारूप से परिणत हुई चितिशक्ति विषयाकारा बुद्धि के साथ संयुक्त (सम्पृक्त) होकर घटादिविषयक परिणाम को प्राप्त हो सके। ('**पूर्वधर्मापचये धर्मान्तरोपजनः परिणामः**'–अथवा '**पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः**'–**यो. वा.** अर्थात् पूर्व धर्म के त्यागपूर्वक अपर धर्म को ग्रहण करना '**परिणाम**' है–इत्याकारक परिणाम कूटस्थ नित्य पुरुष में सम्भव नहीं है। परिणामिनी बुद्धि में ही त्रिविध परिणाम सम्भव हैं। अतः अपरिणामिनी चितिशक्ति में विषयारूढत्व (विषयाकारित्व) की कल्पना ही निर्मूल है)। अब जहाँ तक चितिशक्ति के विषयज्ञान (घटादिवेदन) का प्रश्न है वह भी आगे (४/१८ आदि सूत्रों द्वारा) स्पष्ट किया जायेगा कि '**अप्रतिसंक्रमा**' (सञ्चरणविरहवती) होते हुए भी चितिशक्ति को विषयज्ञान हो सकता है। अतः (युक्तिपूर्वक) यह निर्णीत होता है कि चितिशक्ति '**शोभना**'=बुद्धि से पृथक् स्वरूपात्मक गरिमावाली है।

बालप्रिया–

उपसंहृत तथा संवलित रूप में '**चितिशक्ति**' शुद्धा, अनन्ता, दर्शितविषया, अप्रतिसंक्रमा तथा अपरिणामिनी है। अतः चितिशक्ति शोभना होने से उपादेय है।

इसके विपरीत बुद्धि अशुद्धा, अन्तता, विषयाकारिता, प्रतिसंक्रमा तथा परिणामिता स्वरूप वाली है। अतः बुद्धि अशोभना होने से त्याज्य है।

सम्प्रति, बुद्धिनिष्ठ सर्वोत्कृष्ट विवेकज्ञान की, धर्म-धर्मी में अभेदविवक्षा होने से, हेयरूपता (अशोभनीयता) सिद्ध करने के लिये विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

विवेकख्यातिस्तु बुद्धिसत्त्वात्मिका अशोभनेत्युक्तम्–अतश्चितिशक्तेर्विपरीतेति। यदा च[1] विवेकख्यातिरपि हेया तदा कैव कथा वृत्त्यन्तराणां दोषबहुलानामिति भावः।

सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि की परिणामभूता सत्त्वगुणात्मिका विवेकख्याति (भेदज्ञान-रूप वृत्ति) '**अशोभना**' अर्थात् अन्तवती एवं अशुद्धा है, इसलिये भाष्यकार ने कहा है–'**अतश्चितिशक्तेर्विपरीता इति**।' (चितिशक्ति से विपरीत परिणामशीला, प्रतिसंक्रम-शीला, विषयाकारशीला, विनाशशीला तथा विरुद्धस्वभावा–यह विवेकख्याति है, अतः '**अशोभना**' है)। अतः उपर्युक्त दोषग्रस्त होने से जब ध्येयाकार सात्त्विक बुद्धि-वृत्तिरूप विवेकख्याति–जिसमें जड़-चेतन का भेद स्फुरित करने की समुपयुक्तता है–भी त्याग करने योग्य है (अर्थात् 'हेय' कोटि में परिगणित है) तब दोषबंहिष्ठ (दोषप्रचुर) राजस और तामस वृत्तियों के हेयत्व (त्याज्यत्व, निरोद्धव्यत्व) का तो कहना ही क्या है (अर्थात् राजस तथा तामस वृत्तियों में दोषबहुलता स्फुट होने से उनका हेयत्व तो सुस्पष्ट है)।

'**विवेकख्याति**' का हेयत्व सिद्धान्तित हो जाने पर उसके निरोध के साधन के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ततस्तद्धेतोर्निरोधसमाधेरवतारो युज्यत इत्याह–अतस्तस्यामिति। ज्ञानप्रसादमात्रेण हि परेण वैराग्येण विवेकख्यातिमपि निरुणद्धीत्यर्थः।

इस विवेकख्याति के निरोध के लिये ही निरोधसमाधि (असम्प्रज्ञात) की मान्यता युक्तियुक्त है (अर्थात् निरोधसमाधि द्वारा विवेकख्याति का निरोध होता है), इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**अतस्तस्यामिति**।' ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य के द्वारा योगी '**सत्त्वपुरुषान्यताख्याति**' का भी निरोध कर देता है। ('**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्**' **१/१६**–सूत्र में विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा कि 'विवेकख्याति' के प्रति परवैराग्य द्वारा जागरित '**इयमपि हेयम्**'–ऐसी तुच्छ बुद्धि किस प्रकार ख्यातिनिरोध में सहायकीभूत होती है)।

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **च** उपलभ्यते, द – **च** नोपलभ्यते।

सम्प्रति, निरुद्धभूमिक चित्त का स्वरूप बतलाने के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अथ [1]निरुद्धाशेषवृत्तिं चित्तं कीदृशमित्यत आह–तदवस्थमित्यादि। स निरोधोऽवस्था यस्य तत्तथोक्तम्।

शङ्का–(जिस प्रकार लोक में '**जटाभिः तापसः**'–जटाओं से तपस्वी की, दण्ड से दण्डी की पहचान होती है उसी प्रकार योग में चैतन्य से पुरुष और वृत्ति से चित्त का अवबोध होता है। वृत्ति (व्यापार) तो चित्त का '**जीवन**' है। वृत्तिशून्य चित्त की प्रतीति असम्भव है)। अतः निरुद्ध अशेषवृत्तिक सर्ववृत्तिशून्य=चित्त का स्वरूप कैसा होता है? (यह ज्ञानेप्सा है)।

समाधान–जिज्ञासा के समाधानार्थ व्यासदेव कहते हैं–'**तदवस्थमित्यादि**।' '**निरोध**' अवस्था वाला चित्त संस्कारमात्रशेषरूपता को प्राप्त होता है। (जिस प्रकार दग्धकाष्ठ का अस्तित्व बोध राख के रूप में होता है उसी प्रकार निरुद्धाशेषवृत्तिक चित्त का सत्तात्मक बोध (वृत्तिजन्य) संस्कारविधया होता है। अतः '**निरोध**' शब्द का अर्थ चित्त की '**संस्कारशेषावस्था**' है, न कि '**वृत्त्यभाव**' रूपता)। यह '**निरोधावस्था**' जिस चित्त की होती है, उसे '**निरुद्धाशेषवृत्तिक**' चित्त कहते हैं।

सम्प्रति, '**निरोध**' का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

निरोधस्य स्वरूपमाह–स निर्बीज इति। क्लेशसहितः कर्माशयो [2]जात्यायुर्भोगबीजम्, तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः। अस्यैव योगिजनप्रसिद्धाम[3]न्वर्थसंज्ञामादर्शयति–न तत्रेति। उपसंहरति–द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति॥२॥

भाष्यकार '**निरोध**' का स्वरूप बतलाते हैं–'**स निर्बीज इति**।' इस संस्कारमात्रावशिष्ट अवस्था को '**निर्बीज**' कहते हैं। पांचों क्लेशों सहित कर्माशय अर्थात् क्लेशमूलक कर्मजन्य संस्कार ही जाति, आयु तथा भोग रूपी '**संसार**' का '**बीज**' अर्थात् कारण है। इन संस्कारों से रहित समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) ही '**निर्बीज**' कही जाती है। अधुना भाष्यकार '**निर्बीज**' की उस अन्वर्थसंज्ञा को बतलाते हैं, जो योगियों के मध्य विख्यात है–'**न तत्रेति**।' इस स्थिति में चित्त को किसी भी

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **निरुद्ध०**, द – **अनिरुद्ध०**।
2. क ग – **जात्यायुर्भोगः**, ख घ च छ ज झ त द न – **जात्यायुर्भोग०**, थ ध – **जात्यायुर्भोगाः**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अन्वर्थ०**, थ द ध – **अन्वर्थाम्**।

वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, इसलिये इसे '**असम्प्रज्ञात**' (योग) कहते हैं–'**न किंचित् प्रज्ञायत इति असम्प्रज्ञातः**'। इस प्रकार द्वितीय सूत्रगत '**चित्त**' '**वृत्ति**', '**निरोध**' तथा '**योग**' इन चार शब्दों की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार सूत्र की व्याख्या का समापन करते हुए कहते हैं–'**द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति**।' अतः चित्तवृत्तिनिरोध-लक्षणक यह योग (सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात) दो प्रकार का है (ऐसा सिद्धान्तित होता है ॥२॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं चित्तभूमिषु लक्ष्यालक्ष्यविवेकपूर्वकं प्रसिद्धस्य योगलक्षणस्यातिव्याप्तिं प्रदर्श्य योगलक्षणाकाङ्क्षोपपादिता। अतः परं लक्षणपरतयोत्तरसूत्रमवतारयति–तस्य लक्षणा-भिधित्सयेति। तस्य द्विविधस्य योगस्य। उक्तातिव्याप्तिनिराकरणान्यथाऽनुपपत्त्या सूत्रद्वयेनैव लक्षणसमाप्तिर्भविष्यतीति सूचयितुमभिधित्सयेत्युक्तमन्यथा हि तस्य लक्षणसूत्रं प्रववृत इत्येतावन्मात्रमु[1]च्येत योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

इस प्रकार पीछे चित्त की भूमियों में लक्ष्य तथा अलक्ष्य के भेदपूर्वक (अर्थात् योगसाधना की दृष्टि से उपयोगी तथा अनुपयोगी भूमियों का अन्तर करते हुए) योग के (चित्तवृत्तिनिरोधात्मक) प्रसिद्ध लक्षण में अतिव्याप्ति दोष को दिखाते हुए योगलक्षणविषयिणी जिज्ञासा को उपपादित किया गया है (अर्थात् योग का क्या लक्षण है, ऐसी आकांक्षा बनी रहती है)। अतः प्रथम सूत्र के पश्चात् भाष्यकार लक्षणपरक उत्तरसूत्र अर्थात् अगले सूत्र की अवतरणिका रचते हैं–'**तस्य लक्षणाभिधित्सयेति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**तस्य**' पद का अर्थ है–दो प्रकार का योग, अर्थात् दो प्रकार के योग को बतलाने की इच्छा से सूत्र प्रवृत हो रहा है। (भाष्य में प्रयुक्त '**अभिधित्सया**' पद के प्रयोग के कारण पर योगवार्त्तिककार प्रकाश डालते हुए कहते हैं)–अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि तीन भूमियों में वृत्तिनिरोधात्मक योगलक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण का और कोई उपाय न होने से दो सूत्रों के द्वारा ही योगलक्षण पर्यवसित होगा अर्थात् द्वितीय और तृतीय सूत्र के समन्वित रूप से योग का लक्षण किया जा सकेगा, ऐसा अभिधान करने की इच्छा से भाष्यकार ने "**अभिधित्यया**' पद का प्रयोग किया है। अन्यथा (इससे भिन्न योग के लक्षण की अनतिव्याप्ति की स्थिति में) भाष्यकार इतना ही कहते कि 'योग का लक्षणसूत्र प्रवृत्त हो रहा है'। सूत्र है–'**योग इति**।'

योगवार्त्तिकम्

चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धाऽत्र दर्शने विभागात्,

1. क ग घ च छ – उच्येत, ख – उच्यते।

तस्य [1]यावल्लक्ष्यमाणा वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः, अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्, स योग इत्यर्थः।

अन्तःकरणसामान्य को '**चित्त**' कहते हैं। अर्थात् '**चित्त**' शब्द से अन्तःकरण-सामान्य का ग्रहण होता है। क्योंकि इस दर्शन में एक ही अन्तःकरण का वृत्तिभेद के कारण चार प्रकार से भेद किया जाता है। तथाकथित अन्तःकरणाख्य 'चित्त' की आगे बतलाई जाने वाली जितनी भी 'वृत्तियाँ' हैं, उन निखिल वृत्तियों का '**निरोध**' अर्थात् अधिकरण का ही लयसंज्ञक जो अवस्थाविशेष है, उसे '**योग**' कहते हैं, क्योंकि योगमत में (निवृत्तिरूप) अभाव को (चित्तरूप) अधिकरण का अवस्था-विशेष स्वीकार किया गया है।

बालप्रिया–

'**अभावस्य...अधिकरणावस्था**'–सरलार्थ यह है कि वृत्तिनिरोधाख्य अथवा वृत्ति-लयाख्य अवस्था भी चित्त की उसी प्रकार की अवस्था है, जिस प्रकार वृत्त्याख्य अवस्था। दोनों अवस्थाओं में अन्तर इतना ही है कि चित्त की वृत्त्याख्य **अवस्था** विषयाभिमुखी होती है, जब कि वृत्तिनिरोधाख्य अवस्था पराङ्मुखी। **चित्त की** पहली अवस्था ज्ञानोत्पादिनी तथा दूसरी अवस्था ज्ञानविरोधिनी है। पहली अवस्था में चित्त प्रवृत्तिशील तथा दूसरी अवस्था में निवृत्तिशील रहता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्यकार की युक्ति के अनुसार सम्प्रज्ञात में योग-लक्षण की अव्याप्ति को शंकोपास्थापनपूर्वक निरस्त करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्विदं लक्षणं संप्रज्ञातस्याव्यापकं तत्र ध्येयाकारवृत्तिसत्त्वादित्याशङ्क्य भाष्यकार आह-सर्वशब्देति। सर्ववृत्तिनिरोध इत्यवचनादित्यर्थः।

शङ्का–पूर्वकथित योग का वृत्तिनिरोधाख्य लक्षण लक्ष्यभूत सम्प्रज्ञात में व्याप्त नहीं होता है अर्थात् सम्प्रज्ञात में तथाकथित योगलक्षण घटित न होने से वह अव्याप्ति दोष से युक्त है, क्योंकि सम्प्रज्ञात में तो चित्त की ध्येयाकारवृत्ति रहती है।

समाधान–उक्त शङ्का का उत्तर भाष्यकार देते हैं–'**सर्वशब्देति**।' योग के 'वृत्तिनिरोध' लक्षण में '**सर्व**' शब्द का प्रयोग न करने से अर्थात् 'सर्ववृत्तिनिरोध' को योग न बतलाने से योग का लक्षण लक्ष्यभूत सम्प्रज्ञात में घटित होता है। अतः योगलक्षण में अव्याप्तिदोष की संभावना नहीं है।

लक्षणगत दोष के उपर्युक्त समाधान में आंशिक अपूर्णता रह जाती है। अतः

1. क ख घ च छ – **यावत्**, ग – **या**।

पूर्वपक्षी के अनुसार योगलक्षण में अतिव्याप्ति दोष की उद्भावना कर योग-वार्त्तिककार उसका समाधान-पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

नन्वेवं पूर्वोक्तातिव्याप्तिः, क्षिप्तादिष्वपि यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधादिति चेत्? न, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति वक्ष्यमाणसूत्रसाहित्येनैवास्य लक्षणत्वात्। तथा च द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः क्षिप्ताद्यवस्थासु नास्तीति [1]नातिव्याप्तिः, संप्रज्ञातस्य च स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमसंप्रज्ञातद्वाराऽस्त्येवेति।

शङ्का—योग का वृत्तिनिरोधाख्य लक्षण अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि भूमियों में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि चित्त की क्षिप्तादि भूमियों में भी यत्किंचिद् वृत्तिनिरोध रहता है। अतः योगलक्षण में अतिव्याप्ति दोष है।

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि आगे बतलाये जाने वाले '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' १/३ सूत्र की सहयोगिता से ही योग का लक्षण किया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में चित्त की क्षिप्तादि तीन अवस्थाओं में, 'द्रष्टा' पुरुष के (उपाधिशून्य) स्वरूप का अवस्थानभूत अर्थात् अवस्थितिहेतुक, वृत्तिनिरोधरूप लक्षण घटित नहीं होता है। अतः लक्षण में अतिव्याप्तिदोष नहीं है तथा असम्प्रज्ञात में होनेवाली स्वरूपावस्थिति का सम्प्रज्ञात में कारणत्व होना उपपन्न ही है। अतः योगलक्षण अव्याप्ति दोष से भी शून्य है।

बालप्रिया—

'**द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुः**—'सरलार्थ यह है कि क्षिप्तादि भूमियों में दृष्टिगत यथाकथञ्चित् वृत्तिनिरोध 'योग' की सीमा में नहीं आता है। अपितु योगशास्त्र में यमादि के अभ्यास द्वारा उसी वृत्तिनिरोधात्मक 'योग' को मान्यता प्राप्त है, जो द्रष्टा पुरुष को उसके औपाधिक धर्म (आकस्मिक रूप) से निवृत्त करा सके। पुरुष में सुख-दुःखादि औपाधिक धर्म का आरोप चित्तवृत्ति द्वारा होता है। अतः चित्तवृत्तिरूप उपाधि की निवृत्ति से पुरुषगत औपाधिक धर्म की भी निवृत्ति हो जाती है। सर्ववृत्तिनिरोध की स्थिति चित्त का सहज स्वाभाविक धर्म नहीं है। अपितु विषयान्तर में सञ्चरणशील चित्त की व्युत्थित वृत्तियों को नियन्त्रित करते हुए उसे ध्येयाकारवृत्ति वाला बनाया जाता है। चित्त की ध्येयाकारता की पराकाष्ठा प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान (प्रकृतिप्रतियोगिक पुरुषानुयोगिक भेदज्ञान) में परिलक्षित होती है। सम्प्रज्ञात योग का काम चित्त को इस स्थिति तक पहुँचाना है। बस इसके बाद

---

1. ख – **अत्र प्रलयसमग्रसुषुप्तौ चातिव्याप्तिवारणायात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुत्वमेव विवक्षणीयम्** (**अतिव्याप्तिः**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **अत्र...विवक्षणीयं** नोपलभ्यते।

विवेकख्यात्यात्मक वृत्ति के निरोधपूर्वक सर्ववृत्तिनिरोध द्वारा असम्प्रज्ञात का काम पर्यवसित होता है और पुरुष की स्वरूपावस्थिति होती है। इस प्रकार 'पुरुष' की स्वरूपावस्थिति का हेतुभूत चित्तवृत्तिनिरोध' योग का लक्षण है। यह लक्षण लक्ष्यभूत सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों में घटित होने से तथा अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि तीन भूमियों में अनतिव्याप्त रहने से इसे (**द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः**) योग का निर्दुष्ट लक्षण कहा जाता है। इस प्रकार दो सूत्रों के समन्वय से योग के तथाकथित '**द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुत्वं चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगलक्षणम्**' परिष्कृत लक्षण की उद्भावना का श्रेय स्वयं योगवार्त्तिककार को है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अपने पूर्ववर्ती योगव्याख्याकार वाचस्पति मिश्र द्वारा समर्थित योगलक्षण का भी स्मरण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

परे तु क्षिणोति च क्लेशानिति पूर्वभाष्यानुसारेण क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वं निरोधविशेषणं पूरणीयम्। तथा च क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगद्वयसाधारणं लक्षणमित्याहुः।

(योगभाष्य के) अपर व्याख्याकार प्रथम सूत्र के वैयासिक भाष्य '**क्षिणोति**' च **क्लेशान्**' के अनुसार '**क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्व**' को वृत्तिनिरोध के विशेषण के रूप में जोड़ते हैं और इस प्रकार क्लेश, कर्मादि का नाशक (अवरोधक) जो चित्तवृत्तिनिरोध है, वह योगद्वय का साधारण लक्षण है–ऐसा बतलाते हैं।

बालप्रिया–

'**क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगद्वयसाधारणं लक्षणम्**'–योग का यह लक्षण विज्ञानभिक्षु के पूर्ववर्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा निर्मित है। योगवार्त्तिक में 'परे-.इत्याहुः' के द्वारा मिश्र मत का ही उपस्थापन हुआ है। लक्षण का सरलार्थ यह है–वह असाधारण चित्तवृत्तिनिरोध जो अविद्यादि क्लेश, क्लेशजन्य शुभाशुभ कर्म, कर्मजन्य जात्यादि विपाक तथा विपाकजन्य वासनापुञ्ज का प्रतिद्वन्द्वी होता है वह सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात योगद्वय का साधारण लक्षण है।

मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वस्तुतस्तु मिश्र तथा भिक्षु के योगलक्षण में शाब्दिक अन्तर मात्र है। इससे योग के लक्षण में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता है। वाचस्पति मिश्र के द्वारा निर्मित योगलक्षण, योग के 'गौणफल' को संकेतित करता है, जब कि विज्ञानभिक्षु द्वारा समर्थित योग का परिष्कृत लक्षण योग के 'प्रधान फल' को द्योतित करता है। गौण फल 'प्रधान-फल' को निष्पन्न करता हुआ तथा प्रधान-फल, गौणफल से युक्त होता हुआ योगशास्त्र के उद्देश्य को क्रमिक स्पष्टता प्रदान करता है। यदि योग के दोनों परिष्कृत लक्षणों को एकीकृत करके निम्नाङ्कित योगलक्षण

किया जाय, तो अनुचित न होगा–**क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति द्रष्टृस्वरूपावस्थिति-हेतुत्वं चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगत्वम्।**

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार तथाकथित योगलक्षण की अनतिव्याप्ति को पुनः उपपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अस्य च लक्षणस्य क्षिप्तादिभूमित्रयेऽतिव्याप्तिर्नास्तीत्यत्र हेतुं क्रमेण प्रतिपादयति–चित्तं हीत्यादिना। प्रख्या=तत्त्वज्ञानम्, **अनेन सर्वे सात्त्विका गुणा उपलक्षिताः।** प्रवृत्तिः'**कर्म, अनेन सर्वे राजसा गुणा ग्राह्याः। स्थितिः=वृत्त्याख्यगतिशून्यता, निद्रेति यावद्, अनेन सर्वे तामसा गुणा ग्राह्याः। एते क्रमात् सत्त्वरजस्तमआख्यानां द्रव्याणां धर्माः पराश्रितत्वाद्** [1]**रूपादिवद् गुणा इत्युच्यन्ते, तदा**[2]**श्रयाणि तु** [3]**सत्त्वादिद्रव्याणि रज्ज्वारम्भकतन्तुवदेव गुणा इत्युच्यन्ते। तथा च प्रख्यादिस्वभावकत्वात् चित्तं त्रिगुणं सत्त्वादिगुणत्रयनिर्मितं रज्जुवदित्यर्थः।**

(उपरिवर्णित) योग के इस लक्षण की क्षिप्तादि तीन अवस्थाओं में अतिव्याप्ति नहीं होती है, इस तथ्य को भाष्यकार हेतुक्रम से (अर्थात् क्रमशः हेतु के साथ) प्रतिपादित करते हैं–'**चित्तं हीत्यादिना।**' तत्त्वज्ञान को '**प्रख्या**' कहते हैं। इस '**प्रख्या**' शब्द से बुद्धि के सभी सात्त्विक गुण (धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य) उपलक्षित अर्थात् बोधित होते हैं। '**प्रवृत्ति**' शब्द का अर्थ 'कर्म' है, इससे (चित्त के) समस्त राजस गुणों का संग्रह होता है। वृत्त्याख्यगतिशून्यता अर्थात् वृत्त्यभाव को '**स्थिति**' कहते हैं। यह वृत्त्याख्य गतिशून्यता 'निद्रा' रूप है। इस प्रकार '**स्थिति**' शब्द से समस्त तामस गुण (अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य धर्म) गृहीत होते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् नाम वाले द्रव्यों के क्रमशः प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थितिरूप धर्म पराश्रित होने के कारण रूपादि के समान गुण (गौण) कहे जाते हैं। अर्थात् प्रख्यादि गुणों के आश्रयभूत सत्त्वादि द्रव्य रज्जु के आरम्भक तन्तु के समान ही '**गुण**' कहे जाते हैं। इस प्रकार प्रख्यादि स्वभाव वाला होने के कारण चित्त त्रिगुणात्मक है अर्थात् रस्सी की भाँति सत्त्वादि गुणत्रय से विनिर्मित है।

बालप्रिया–

'**सत्त्वरजस्तमआख्यानां द्रव्याणाम्**'–वाक्यांश के द्वारा योगसम्मत गुण को न्यायसम्मत 'गुण' से पृथक् किया जा सकता है। न्यायदर्शन में रूप, रस आदि चौबीस गुण स्वतंत्र नहीं, अपितु द्रव्याश्रित हैं, जब कि योगसम्मत सत्त्वादि तीन गुण

---

1. ख ग घ च छ – **रूपादिवत्** उपलभ्यते, क – **रूपादिवत्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग छ च – **आश्रयास्तु**, छ – **आश्रयाणि तु।**
3. क ग घ च छ – **सत्त्वादि०**, ख – **सत्त्वादयः।**

स्वयं द्रव्यस्वरूप हैं अर्थात् न्यायसम्मत रूपादि की भाँति सत्त्वादि गुण पराश्रित नहीं, अपितु स्वतन्त्र हैं। अतः एक ही '**गुण**' शब्द के प्रयोग से दोनों दर्शनों में समानता का भ्रम नहीं होना चाहिये।

धर्माः पराश्रितत्वाद् रूपादिवद् गुणा इत्युच्यन्ते–सरलार्थ यह है–प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति रूप सात्त्विक, राजस तथा तामस धर्म सत्त्वादि द्रव्यों के आश्रित होने के कारण उसी प्रकार गुण (अर्थात् गौण) कहे जाते हैं, जिस प्रकार द्रव्याश्रित रूपादि को गुण शब्द से कहा जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चित्त के प्रख्यादि रूपों का विशदीकरण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ततः किमित्यत आह–प्रख्यारूपं हीति। हिशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा। **चित्तसत्त्वमिति चित्तस्य सत्त्वप्राधान्यप्रतिपादनाय पुनरुक्तम्। प्रख्यारूपमिति च** तेजःसत्त्व-**व्यावर्त्तनायोक्तम्। तथा च प्रख्यास्वभावं चित्तरूपं सत्त्वं स्वोपसर्जनभूताभ्यां संसर्गेण क्षिप्तावस्थायामणिमाद्यैश्वर्ये शब्दादिविषये चानुरक्तं भवतीत्यर्थः। अतः क्षिप्तावस्थस्य वृत्तिनिरोधस्य स्वरूपावस्थानाहेतुत्वाद्** [1]**रागादिक्लेशापरिपन्थित्वाद्वा न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः। क्षिप्तावस्थायामतिव्याप्तिं परिहृत्य मूढावस्थायामपि तां परिहरति–तदेव तमसेति। उपगमुन्मुखं तत्प्रियमित्यर्थः। भावस्तु पूर्ववत्। विक्षिप्तावस्थायामतिव्याप्तिं परिहरति–तदेव प्रक्षीणेति। मोहस्तमोद्रव्यं कार्यकारणाभेदात्, तदेव दर्पणस्य मलवच्चित्तसत्त्वस्यावरणं प्रक्षीणं**[2] **यत्र तत्प्रक्षीणमोहावरणम्, सर्वतः प्रद्योतमानं सर्वविषयाकारवृत्तिमत्, एवंभूतं हिरण्यगर्भादीनां चित्तं रजोलेशेन संभेदाद्विक्षिप्तं सद् धर्मादिचतुष्टयप्रियं भवतीत्यर्थः। अत्रापि भावः पूर्ववदेव बोध्यः।**

यह चित्त किस प्रकार का है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**प्रख्यारूपं हीति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**हि**' अव्यय वाक्य-सौन्दर्य अथवा निश्चय अर्थ में अर्थात् तथ्य के दृढ़ीकरणार्थ प्रयुक्त है। भाष्य में '**चित्तसत्त्वम्**'-इत्यंश में चित्त का सत्त्वबाहुल्य प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार ने '**चित्त**' पद के साथ पुनः ('प्रख्यारूप' ऐसा अभिधान हो जाने पर भी') '**सत्त्व**' शब्द का प्रयोग किया है। '**प्रख्यारूप**' इस पद को इसलिये कहा गया है, जिससे रजोगुण को सत्त्वगुण से व्यावृत्त (पृथक्) किया जा सके। निष्कर्ष यह निकला कि '**प्रख्या**' अर्थात् ज्ञानस्वभाव वाला सत्त्वबहुल चित्त (अथवा चित्तरूपसत्त्व) अपने से उपसर्जनीभूत अर्थात् गौणावस्थित हुए रजोगुण एवं तमोगुण के 'संसर्ग' अर्थात् सम्मिश्रण (सहास्तित्व से 'क्षिप्त' संज्ञक अवस्था में

---

1. ग ग घ च छ -- रागादि०, ख – **रागाख्य**०।
2. क ग घ च छ – **प्रक्षीणं** उपलभ्यते, ख – **प्रक्षीणं** नोपलभ्यते।

पहुँचकर अर्थात् क्षिप्तावस्था में अणिमादि ऐश्वर्य और शब्दादि विषय में संलग्न रहता है। अतः क्षिप्तावस्था में होने वाले वृत्तिनिरोध में **'योग'** का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि वह वृत्तिनिरोध (पुरुष के) स्वरूपावस्थान (औपाधिक धर्मापसारण) का हेतु नहीं होता है और न वह रागादि क्लेश का परिपन्थी (अपरोधक) होता है।

इस प्रकार (अलक्ष्यभूत) क्षिप्तावस्था में योग के लक्षण की (पूर्वपक्षी द्वारा आक्षिप्त) अतिव्याप्ति का निराकरण करके सम्प्रति, भाष्यकार चित्त की मूढावस्था में भी परिहार करते हैं–**'तदेव तमसेति।'** भाष्य भाष्य में प्रयुक्त **'उपगम्'** शब्द का अर्थ **'उन्मुख होना'** है, इससे चित्त की अधर्मादिप्रियता बतलाई गई है। शेष भाव पूर्ववत् है। भाष्य के सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है–(मूढ़ावस्था में) तमोगुण से युक्त चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य-प्रियता वाला होता है। इस प्रकार मूढावस्थाक वृत्तिनिरोध स्वरूपावस्थान का हेतु तथा रागादि क्लेश का परिपन्थी न होने से उसमें योग का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है।

सम्प्रति, भाष्यकार विक्षिप्तावस्था में **'योग'** के लक्षण की अतिव्याप्ति का खण्डन करते हैं–**'तदेव प्रक्षीणेति'**। (भाष्य में आये **'मोहावरणम्'** समस्त पद में) **'मोह'** शब्द से तमोगुणाख्य द्रव्य का ग्रहण होता है, इसमें कार्यकारण का अभेद हेतु है। अर्थात् तमोगुण के कार्य **'मोह'** को ही तमोद्रव्य कहा गया है। दर्पणगत मलिनता की भाँति यह **'मोह'** चित्तसत्त्व को आच्छादित करता है। आवरणभूत मोह के क्षीण हो जाने से चित्त 'प्रक्षीणमोहावरण' कहलाता है। प्रक्षीणमोहावरण चित्त 'सब ओर से प्रकाशमान' अर्थात् समस्त विषयाकाराकारित वृत्ति वाला होता है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भादियों का चित्त रजोमात्रा से संश्लिष्ट होने के कारण विक्षिप्तभूमिक होकर धर्मादि चतुष्टय (धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य इन चारों) की प्रियता वाला होता है। यहाँ पर भी 'भाव' (योगलक्षण की अनतिव्याप्त स्थिति) को पूर्ववत् समझना चाहिये।

बालप्रिया–

'प्रख्यारूपं हि...ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति' (व्या. भा.)–भाष्य की इस पंक्ति से चित्त की कौन सी भूमि लक्षित होती है, इसके विषय में वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु में मतभेद है–

मिश्र-भिक्षु-मतभेद–'चित्तरूपेण परिणतं सत्त्वं 'चित्तसत्त्वम्...तदनेन विक्षिप्तं चित्त-मुक्तम्' (त.वै.)–वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त की यह अवस्था **'विक्षिप्त'** भूमि की है।

'**चित्तसत्त्वं...क्षिप्तावस्थायाम्...चानुरक्तं भवति**' (यो.वा.)—विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में चित्त की यह अवस्था '**क्षिप्त**' भूमि की है।

'**तदेव तमसा...अनैश्वर्योपगं भवति**' (व्या. भा.)—इस पंक्ति के विषय में भी दोनों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने '**क्षिप्तं चित्तं दर्शयन् मूढमपि सूचयति** (त. वै.) इस वाक्य के द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि उक्त पंक्ति के द्वारा व्यासदेव ने '**क्षिप्त**' और '**मूढ**' दोनों भूमियों को समवेतरूप से बतलाया है। किन्तु विज्ञानभिक्षु के अनुसार इससे चित्त की 'मूढावस्था' को अंकित किया गया है। विज्ञानभिक्षु की पंक्ति इस प्रकार है—"**क्षिप्तावस्थायां...मूढावस्थायामपि तां परिहरति**' (यो. वा.)।

तदेव प्रक्षीणमोहावरणं...ऐश्वर्योपगं भवति (व्या. भा.)—भाष्य की इस पंक्ति को वाचस्पति मिश्र ने '**एकाग्रभूमि**' की प्रारम्भिक अवस्था वाला बतलाया है किन्तु विज्ञानभिक्षु ने इसे चित्त की '**विक्षिप्तावस्था**' का प्रतिपादक माना है। तदर्थ वैयासिक पंक्ति को उठाते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं—'**विक्षिप्तावस्थायामतिव्याप्तिं परिहरति**' (यो. वा.)।

इस प्रकार अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि तीन भूमियों में योगलक्षण की अनतिव्याप्ति को प्रदर्शित करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार सम्प्रति, चित्त की अन्तिम दो भूमियों में योगलक्षण की संयोजना करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

अवस्थात्रयेऽतिव्याप्तिं परिहृत्यैकाग्रनिरुद्धावस्थयो[1]र्लक्ष्ययोर्लक्षणं क्रमेण योजयति तदेव रजो[2]लेशेनेत्यादिना। विक्षेपहेतुना रोजलेशेनापि मलेनापेतमत एव स्वरूपप्रतिष्ठं स्वाभाविकेन रूपेण प्रसादादिना सम्यगवस्थितं निर्मलदर्पणवत्, अतश्च सत्त्वपुरुषयोर्बुद्ध्यात्मनोर्विवेकख्यातिमात्रं तन्मात्रवृत्तिकं सद् धर्ममेघध्यानमात्रप्रियं भवति न तु क्लेश -[3]प्रियमै[4]श्वर्यप्रियमित्यर्थः।

इस प्रकार चित्त की तीन भूमियों में योग के 'वृत्तिनिरोधात्मक' लक्षण की अतिव्याप्ति को हटाने के पश्चात् (सम्प्रति) भाष्यकार चित्त की एकाग्र और निरुद्ध अवस्था में योगलक्षण को क्रमशः घटित करते हैं—'**तदेव रजोलेशेनेत्यादिना**।' वही चित्त; जब विक्षिप्तकारी रजोगुण के लवलेशमात्र मल से भी रहित हो जाता है, तब 'स्वरूपप्रतिष्ठ' अर्थात् अपने प्रसादादि स्वाभाविक रूप से उसी प्रकार

1. क ख ग घ च – **लक्ष्ययोः** उपलभ्यते, छ – **लक्ष्ययोः** नोपलभ्यते।
2. क ख च छ – **लेशेन**, ग घ – **लेश**०।
3. क ग च छ – **प्रियं**, ख घ – **प्रदम्**।
4. क ख च छ – **ऐश्वर्य**०, ग घ – **ऐश्वर्यादि**०,

सुष्ठुरूपेण अवस्थित रहता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण। अतः 'सत्त्वपुरुष-विषयिणी'=बुद्ध्यात्मविषयिणी भेदज्ञानात्मिका वृत्ति से युक्त हुआ स्थिर चित्त '**धर्ममेघ**' नामक समाधि (ध्यानमात्र) की प्रियता वाला अर्थात् उसकी ओर उन्मुख होता है। अर्थात् चित्त में क्लेशोन्मुखता तथा ऐश्वर्योन्मुखता नहीं रहती है।

बालप्रिया–

'**निर्मलदर्पणवत्**'–सरलार्थ यह है–जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु अपने यथार्थ रूप से भासित होती है उसी प्रकार सत्त्वगुण की स्वच्छता से युक्त सत्त्वबहुल चित्त में ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट प्रकृत-पुरुष-भेद-रूप स्फुरित होता है, जो अविद्यारूप मलिनता से सर्वथा रहित होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार '**धर्ममेघध्यान**' इस पारिभाषिक शब्द के अर्थ को बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

धर्ममेघध्यानं किमित्याकाङ्क्षायामाह–तत्परमिति। **तद्धर्ममेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसंख्यानं तत्त्वज्ञानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठेति** योगिनो **वदन्तीत्यर्थः**।[1] **तथा चेयमेकाग्रता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपिणी** [2]**द्रष्टृस्वरूपा**[3]**वस्थाने** हेतुः, **क्लेशकर्मादिपरिपन्थिनी चेति योगलक्षणाक्रान्तेति** भावः। **धर्ममेघसमाधिश्च सूत्रकारेणैव वक्ष्यते। यद्यप्यस्मितानुगत एव संप्रज्ञातयोगे सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरस्ति न वितर्कानुगतादौ तथाऽप्यनेनैव तेऽप्युपलक्षणीयाः**, [4]**एतदङ्गभूतत्वात्तेषामिति।**

'**धर्ममेघध्यान**' का स्वरूप क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**तत्परमिति**'। 'धर्ममेघ' नाम वाला ध्यान '**परप्रसंख्यान**' अर्थात् तत्त्वज्ञान है, जिसे योगिजन तत्त्वज्ञान की ही पराकाष्ठा (चरमावस्थिति) कहते हैं। इस प्रकार की सत्त्वपुरुषान्यतारूपिणी एकाग्रता (अर्थात् एकाग्रचित्त की भेदसाक्षात्कारविशिष्टा वृत्ति) द्रष्टा-पुरुष के औपाधिक सुखादि धर्म के निवृत्तिपूर्वक अपने पारमार्थिक स्वरूप में अवस्थिति का कारण है तथा क्लेश, कर्मादि का प्रतिरोध करने वाली है–इत्याकारक एकाग्रता योगलक्षण के अधिकृत है। (भाव यह है कि चित्त की एकाग्रभूमि में निष्पादित वृत्तिनिरोध में योग का लक्षण घटित होता है। अतः

---

1. ख – **अत्र ध्यानप्रसंख्यानशब्दाभ्यां सम्प्रज्ञातयोगकाष्ठैवोक्ता कार्यकारणाभेदात्। योगस्यैव धर्म-मेघत्वेन परिभाषिष्यमाणत्वादिति** (**वदन्तीत्यर्थः** – पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **अत्र... दिति** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ – **द्रष्टृ०**, ख ग – **द्रष्टुः**।
3. क घ च छ – **अवस्थाने**, ख ग – **अवस्थान०**।
4. क ग घ च छ – **एतत्**, ख – **तत्**।

एकाग्रभूमि को चित्तवृत्तिनिरोध का लक्ष्य मानते हैं)। सूत्रकार स्वयं आगे **'धर्ममेघसमाधि'** का स्वरूप बतलायेंगे। यद्यपि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातयोग में ही जड़-चेतन की भेदविषयिणी वृत्ति (उदित) होती है, न कि सम्प्रज्ञात के वितर्कानुगतादि प्रथम तीन भेदों में, तथापि अस्मितानुगत ससापत्ति के अङ्गभूत होने के कारण ये वितर्कादि भी उपलक्षणीय हैं।

बालप्रिया–

'तेऽप्युपलक्षणीयाः'–सरलार्थ यह है–**'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः'** १/१७ सूत्र के अनुसार सम्प्रज्ञात योग के चार भेद वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता हैं। चित्त के एकाग्रभूमियुक्त होने पर ही सम्प्रज्ञात की साधना की जाती है और चित्त की एतत्कालिक तत्त्वसाक्षात्कारवती वृत्ति स्थूलसाक्षात्कार से क्रमशः आगे बढ़ती हुई प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान तक पहुँच जाती है। प्रश्न यही है कि सम्प्रज्ञात की चतुर्थ अस्मितानुगत समापत्ति में ही भेदविषयिणी वृत्ति का उदय होता है, तो क्या सम्प्रज्ञात की चतुर्थ भूमि में ही योग का लक्षण घटित होता है? यदि स्थिति ऐसी है तो वितर्कादि प्रथम तीन भूमियों का क्या होगा? उत्तर है कि पूर्व-पूर्व भूमि की परिपक्वता उत्तरोत्तर भूमि में दृष्टिगत होने से पूर्वोत्तर भूमि में संरक्षित अङ्गाङ्गिभाव संबंध सम्पूर्ण श्रृंखला में एकत्व का आपादन करता हुआ योगलक्षण को निरापद घटित करता है।

'तदेव रजोलेशेन...ध्यानोपगं भवति–इस वैयासिक वाक्य को दोनों आचार्यों ने एकाग्रभूमि का प्रतिपादक माना है। यह वर्णन विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पूर्ण एकाग्रभूमि का है और वाचस्पति मिश्र के अनुसार एकाग्र भूमि की अन्तिम अवस्था का है। वस्तुतस्तु इसमें अर्थतः कोई अन्तर नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्तिककार चित्त की अन्तिम लक्ष्यभूत **'निरुद्ध'** भूमि में योगलक्षण की संयोजना करते हैं–

योगवार्तिकम्

निरुद्धावस्थायामपि लक्षणं योजयन्नेव सकारणस्य निरोधस्य स्वरूपमाह–चितिशक्तिरित्यादिना। संप्रज्ञातकाले संसारहेतुत्वादिदोषदर्शनादेवेतरवृत्तिनिरोधो जातस्तस्माच्च सिद्धायां विवेकख्यातिनिष्ठायां विवेकख्यातेरप्यनात्मत्वसाक्षात्करणात् तत्फलसिद्धेश्च तत्रापि वैराग्यं भवति, ततः सर्ववृत्तिनिरोध इति प्रक्रिया। तत्र यादृशी विवेकख्यातिनिष्ठा विवेकख्यातिवैराग्ये हेतुस्तामादौ दर्शयति–ख्यातिरितीत्यन्तेन। चितिशक्तिः पुरुषाख्या न परिणामिनी पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामस्तद्रहिता, कूटस्थनित्या, परमार्थसत्येति यावत्।

चित्त की '**निरुद्ध**' भूमि में भी योगलक्षण को घटाते हुए ही भाष्यकार कारण-सहित निरोध के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं–'**चितिशक्तिरित्यादिना**'। सम्प्रज्ञातकाल में (सुख-दुःखादिरूप वृत्तिचक्र में) संसारहेतुत्वादि का दोषदर्शन होने से ध्येयातिरिक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् एकाग्रवृत्ति को छोड़कर चित्त की समस्त व्युत्थित वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। और इस कारण से विवेकख्याति की पराकाष्ठा सिद्ध होने पर विवेकख्याति और विवेकख्यातिजन्य फल में अनात्मत्त्व (जड़त्व) का प्रत्यक्ष बोध होने से (योगी) में इसके प्रति भी वैराग्य (हेय बुद्धि) उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् (विवेकख्याति के भी निरुद्ध हो जाने पर) '**सर्ववृत्तिनिरोध**' अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होता है–यही वृत्तिनिरोध की प्रक्रिया है। भाष्यकार विवेकख्याति के उस चरमोत्कृष्ट रूप को सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं, जो विवेकख्यातिविषयक वैराग्य का कारण है अर्थात् विवेकख्याति के प्रति त्याज्यबुद्धि अर्थात् अनुपादेय बुद्धि का सम्पादन करता हैं–'**ख्यातिरितीत्यन्तेन**'। '**पुरुष**' नामख्य चितिशक्ति अर्थात् चैतन्यस्वरूपा शक्ति परिणामिनी नहीं है अर्थात् (पदार्थगत) पूर्वधर्म के '**अपाय**' अर्थात् अभिभवपूर्वक जो धर्मान्तर का प्रादुर्भावरूप परिणाम है, उससे चितिशक्ति रहित है। इसलिये '**चितिशक्ति**' कूटस्थनित्य तथा परमार्थसत् है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार '**चितिशक्ति**' पद में '**शक्ति**' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

लोकेऽर्थप्रकाशनरूपे फल एव चैतन्यशब्दः प्रयुज्यते, चैतन्यफलोपधानं च न सर्वदा सर्वपुरुषेऽस्तीत्याशयेन शक्तिपदोपादानम्। तथा च शक्तिरूपेणावस्थिता चितिरित्यर्थः। चितिश्च न गुणः, किं तु प्रकाशस्वरूपं द्रव्यमिति द्रष्टा दृशिमात्र इति सूत्रे[1] विस्तरतः प्रतिपादयिष्यामः।

लौकिक जगत् में अर्थप्रकाशन अर्थात् विषयज्ञानरूप फल के विषय में ही '**चैतन्य**' शब्द का प्रयोग किया जाता है (अर्थात् '**ज्ञान**' के पर्याय रूप में '**चैतन्य**' शब्द व्यवहृत होता है)। किन्तु सर्वदा सभी पुरुषों में चैतन्यफलोपधान अर्थात् विषयज्ञान होना संभव नहीं है, इसी अभिप्राय से (अर्थात् पुरुष की चैतन्यस्वरूपता प्रतिपादित करने के लिये) '**चितिशक्ति**' पद में '**शक्ति**' पद का ग्रहण किया है। इस प्रकार शक्तिरूप से अवस्थित '**चिति**' ही चितिशक्ति है। अर्थात् पुरुष चैतन्यधर्मक नहीं अपितु चैतन्यस्वरूप है। '**चिति**' की गुणरूपता का निषेध करते हुए योगवार्त्तिककार

1. क ग घ च छ – **सूत्रे**, ख – **सूत्रेण**।

कहते हैं–'**चिति**' गुणरूप भी नहीं है अर्थात् '**चिति**' रूप **पुरुष** त्रिगुणात्मक भी नहीं है, वह तो प्रकाशस्वरूप द्रव्य है, इस तथ्य का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन आगे के '**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**' २/२० सूत्र में किया जायेगा।

बालप्रिया–

'**चैतन्यफलोपधानं च न...शक्तिपदोपादानम्**'–सरलार्थ यह है–अपरिणामित्व जिस तत्त्व में प्रतिपादित किया जा रहा है वह तत्त्व अर्थप्रकाशनरूप विषयज्ञान का आधार नहीं है अर्थात् चैतन्य जिसका अपर पर्याय है, ऐसा ज्ञानाधिकरणक आत्मतत्त्व नहीं है। विषयज्ञानरूप आकस्मिक 'चैतन्य' पुरुष का स्वरूप नहीं है। वह तो सर्वदा एवं सर्वथा चैतन्यात्मक अर्थात् ज्ञानात्मक है। अतः चैतन्य (ज्ञान) को आत्मा का गुण मानने वाले दार्शनिकों से भिन्न अपने मत को सुस्थिर करने के लिये ही '**चिति**' शब्द के साथ '**शक्ति**' शब्द का प्रयोग किया है। '**शक्ति**' पद के प्रयोग से पुरुष की चैतन्याधिकरणता का नहीं अपितु चैतन्यात्मकता का बोध कराया गया है।

'**चैतन्यफलोपधान**' शब्द का अर्थ है–प्रतिबिम्बविधया पुरुष को होने वाला विषयबोध। विषयबोध पुरुष का औपाधिक अर्थात् आगन्तुक धर्म है। पुरुष को आगन्तुक विषयज्ञानस्वरूप वाला नहीं माना जा सकता, अन्यथा मुक्त पुरुष में विषयज्ञानाभाव होने से उसका स्वरूप क्या होगा? अतः चैतन्यफलोपधान का पुरुष में निषेध किया गया है। अन्यथा नैयायिकों के 'ज्ञानाधिकरणवान् आत्मा' इस मत को मानने में मोक्षावस्था में आत्मा को जड़ मानना पड़ेगा। और इस प्रकार पुरुष में चैतन्याचैतन्य (ज्ञानाज्ञान) की स्थिति आने पर उसके '**अपरिणामित्व**' स्वरूप को क्षति पहुँचेगी। अतः पुरुष में चैतन्यफलोधान का निषेध किया गया है और जो अर्थप्रकाशन अर्थात् विषयज्ञानरूप फल के लिये '**चैतन्य**' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे गौण समझना चाहिये अथवा बुद्धिवर्ती ज्ञान के लिये औपचारिक समझना चाहिये, क्योंकि पुरुष के संसर्ग से बुद्धि चेतनवती प्रतीत होती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चितिशक्ति के '**अप्रतिसंक्रमा**' रूप को विश्लेषित करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यतोऽपरिणामिनी; अत एव चितिशक्तिरप्रतिसंक्रमाऽसंचारा। यथा बुद्धिर्विषयं गच्छति तद्ग्रहणार्थं नैवं चितिरक्रियत्वात्। अथ[1] वा नास्ति प्रतिसंक्रमः सङ्गो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसंक्रमा, निर्लेपेति यावत्।

1. क ग घ च छ – **अथ वा नास्ति प्रतिसंक्रमः सङ्गो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसंक्रमा, निर्लेपेति यावत्** उपलभ्यते, ख -- **अथ...यावत्** नोपलभ्यते।

चूँकि चितिशक्ति '**अपरिणामिनी**' है, इसलिये वह '**अप्रतिसंक्रमा**' अर्थात् असंचारा (निष्क्रिया) है। जिस प्रकार बुद्धि (घटादि) विषय को ग्रहण (ज्ञान) करने के लिये विषयदेश तक पहुँचती है, उसी प्रकार पुरुष का विषयदेशपर्यन्त सञ्चरण नहीं होता है, क्योंकि पुरुष '**अक्रिय**' अर्थात् क्रियारहित है। अथवा '**नास्ति प्रतिसंक्रमः सङ्गो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसंक्रमा**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस चितिशक्ति में विषयसङ्गता नहीं है, वह चितिशक्ति अप्रतिसंक्रमा कही गई है। इस प्रकार पुरुष निर्लेप है।

बालप्रिया–

व्याप्ति इस प्रकार है– **यत्र-यत्र अप्रतिसंक्रमणत्वं तत्र- तत्र अपरिणामित्वम्– यथा पुरुषः**, अन्वयव्याप्ति। **यत्र-यत्र अपरिणामित्वाभावः तत्र-तत्र अप्रतिसंक्रमणत्वाभावः, यथा बुद्धिः**–व्यतिरेकव्याप्ति।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अपरिणामी पुरुष के विषयस्फुरण को शंकोपस्थापन-पूर्वक हल करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्वपरिणामित्वे चात्मनो विषया[1]कारत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम्? तत्राह– दर्शितविषयेति। दर्शितो **बुद्ध्या निवेदितो विषयो यस्या इति विग्रहः। विषयैः सह बुद्धिवृत्तिश्चितौ प्रतिबिम्बिता सती भासत इति भावः। वृत्तिसारूप्यमितरत्र इति सूत्रे चैतद्व्यक्तं भविष्यति।**

शङ्का–पुरुष को अपरिणामी मानने पर उसका विषयाकार परिणाम नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में विषयाकारता न होने के कारण पुरुष को विषय का स्फुरण अर्थात् अर्थबोध कैसे होगा (अर्थात् **घटमहं जानामि** इत्याकारक ज्ञान कैसे उपपन्न होगा)?

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**दर्शितविषयेति**'। '**दर्शितो बुद्ध्या निवेदितो विषयो यस्या इति दर्शितविषया**–इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि के द्वारा जिसके प्रति विषय निवेदित अर्थात् समर्पित किये जाते हैं, वह चितिशक्ति '**दर्शितविषया**' कहलाती है। (घट, पटादि) विषयों के साथ बुद्धिवृत्ति चितिशक्ति में प्रतिबिम्बित होती हुई पुरुष को विषय का अवबोध कराती है। आगे के **वृत्तिसारूप्यमितरत्र** १/४ सूत्र में इस तथ्य को स्पष्ट किया जायेगा।

बालप्रिया–

'**प्रतिबिम्बिता सती भासते**'– सरलार्थ यह है– विषयाकाराकारित बुद्धि में प्रति-

---

1. क ग घ च छ – आकारत्व०, ख – आकार०।

बिम्बित पुरुष को **'घटमहं जानामि'** इत्यादि ज्ञान होता है। इस प्रकार विषयाकार परिणाम हुए विना भी अपरिणामी पुरुष को होने वाला विषयज्ञान (विषयस्फुरण) उपपन्न होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अपरिणामिनी चितिशक्ति के **'शुद्धा'** तथा **'अनन्ता'** रूप को उपपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यतोऽपरिणामिनी; अत एव शुद्धाऽनन्ता च सुखदुःखमोहाद्यात्मकाशुद्धिरहिता पूर्णा च, उक्ताशुद्धेः परिणामरूपत्वात् सक्रियस्यैव परिच्छिन्नत्वाच्चेति।

चूँकि चितिशक्ति अपरिणामिनी है, इसलिये **'शुद्धा'** अर्थात् सुखदुःखमोहादिरूप अशुद्धि से रहित है तथा **'अनन्ता'** अर्थात् पूर्ण है। क्योंकि सुखदुःखादि अशुद्धियुक्त पदार्थ में परिणामरूपता तथा सक्रिय पदार्थ में ही परिच्छिन्नता रहती है। अर्थात् परिणामशीलता के कारण पदार्थगत अशुद्धि तथा अल्पदेशव्यापिता के कारण पदार्थगत सक्रियता दृष्टिगत होती है। (अतः दृक्शक्ति को दृश्यशक्ति से पृथक् कहा गया है।

बालप्रिया–

शुद्धा अनन्ता च – व्याप्ति इस प्रकार है– **यत्र-यत्र अपरिणामित्वं तत्र-तत्र सुखदुःखाद्यात्मकाशुद्धिरहितत्वम्, यथा पुरुषः। यत्र-यत्र सक्रियत्वाभावः तत्र-तत्र परिच्छिन्नत्वाभावः, यथा पुरुषः।**

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चितिशक्ति से भिन्न विवेकख्यात्यात्मिका बुद्धि अर्थात् दृश्यशक्ति का वर्णन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

इयं विवेकख्यातिः, धर्मधर्म्यभेदात्तद्वती वृत्तिः, सत्त्वगुणात्मिका सत्त्वगुणस्य कार्या, अतश्चितिशक्तितो विपरीता परिणामिनी स्वयमेव [1]विवेकाकारिणी प्रतिसंक्रमवती दीपशिखावद् विषयेषु सर्पणात्[2] तथा जड़ा तथा सुखदुःखाद्यशुद्धिमती परिच्छिन्ना चेति।

यह **'विवेकख्याति'** अर्थात् वृत्तिरूप धर्म तथा (बुद्धिरूप) धर्मी की अभेदविवक्षा से बुद्धिमती विवेकवृत्ति **'सत्त्वगुणात्मिका'** अर्थात् सत्त्वगुण का कार्य है। अतः यह चितिशक्ति से **'विपरीता'** अर्थात् स्वयमेव विवेकख्यातिरूपेण परिणाम वाली, **'प्रतिसंक्रमवती'** अर्थात् प्रदीप के प्रकाश की भाँति (घट, पटादि) विषयों में सञ्चरण

---

1. क च छ – **विवेकाकारिणी**, ख ग घ – **विवेकाकारधारिणी**।
2. ख – **चलेवयतीव वासनाया एव विषयलेपत्वात्** (**सर्पणात्** – पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **चले....त्वात्** नोपलभ्यते।

करने वाली, '**जड़ा**' अर्थात् अचेतन स्वभाव वाली, '**अशुद्धा**' अर्थात् सुख, दुःखादि अशुद्धि से युक्त तथा '**परिच्छिन्ना**' अर्थात् अन्त स्वभाव वाली है।

बालप्रिया–

'**धर्मधर्म्यभेदात्तद्वती** वृत्तिः' सरलार्थ यह है–जिस प्रकार **अध्यवसायो बुद्धिः** (सां.का.२३) में क्रिया-क्रियावान् की अभेदविवक्षा से अध्यवसाय (निश्चय) रूप क्रिया का बुद्धिरूप क्रियावान् के साथ सामानाधिकरण्य करके अभेद प्रतिपादित किया गया है। उसी प्रकार प्रकृत में बुद्धिरूपी धर्मी के विवेकख्यातिरूप धर्म में भी अभेद मान्य होने के कारण 'विवेकख्याति' को ही चितिशक्ति से भिन्न प्रतिपादित करने के लिये जो परिणामिनी, प्रतिसंक्रमवती, अशुद्धिमती तथा परिच्छिन्ना कहा गया है, उसका अभिप्राय, पुरुष से विवेकवती बुद्धि की भिन्नता प्रतिपादित करने में पर्यवसित होता है। अतः चितिशक्ति से बुद्धि अथवा बुद्धिवृत्ति का अन्तर स्थापित करने में किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार विवेकख्याति के 'हेयत्व' की उद्घोषणा करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अतोऽनात्मत्वादिदोषदर्शनात् तत्फलसिद्धेश्च विवेकख्यात्यां विरक्तं प्रत्युत्पन्नालंप्रत्ययं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि आवृणोति विलापयतीति यावत्। परवैराग्येण हेतुना चित्तस्य सा वृत्तिः स्वयमेव विलीयते, यथा निद्रादोषेण सुषुप्तौ जाग्रदादिवृत्तिरिति शर्करास्वादेनेव गुडदोषा अभिव्यज्यन्त इत्यतो विवेकख्यातेर्दोषदर्शने पुरुषगुणदर्शनमुपयुज्यत इति भावः। तथा यावद् वृत्तिदोषालिप्तत्वेन वृत्तिवैधर्म्येण वृत्तिभेदत आत्मा न दृश्यते तावद्दोषदर्शनेऽप्यात्मत्वभ्रमाद् वृत्तिवैराग्यं न घटते; आत्मत्वेनै[1]व परमप्रियत्वात्। अत आत्मवृत्त्योरुभयोरेव गुणदोषाभ्यां विविच्य दर्शनं वृत्तिवैराग्ये हेतुरित्याशयः।

अतः बुद्धि में अनात्मत्वादि दोषदर्शन से और बुद्धि से सिद्ध होने वाले विवेकख्यातिरूप फल के प्रति 'विरक्त' अर्थात् समुत्पादित अलंवृत्ति (हेयबुद्धि) वाला चित्त विवेकख्याति को भी 'निरुद्ध' कर देता है अर्थात् उसे बाधित अर्थात् विलीन कर देता है। परवैराग्यरूप हेतु के द्वारा चित्त की उपरिवर्णित विवेकवृत्ति उसी प्रकार स्वतः शान्त (निरुद्ध) हो जाती है, जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में निद्रादोष के कारण जाग्रदाद्यवस्थाक (जागरित और स्वप्नकालिक) वृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चीनी के आस्वादन से गुड के दोष अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् समझ में आते हैं उसी प्रकार विवेकख्याति के प्रति भी

---

1. क ख च छ – एव, ग घ – इव।

(वृत्तित्वरूप से) दोष दिखलाई पड़ने में, पुरुष के स्वरूपदर्शन की उपयोगिता है। अर्थात् पुरुषज्ञानरूप शर्करास्वादन से विवेकख्यातिविषयिणी गुडात्मकवृत्ति के दोष अभिव्यक्त हो जाते हैं। इससे भिन्न स्थिति में जब वृत्तिदोष से दूषित होने के कारण आत्मा चित्तवृत्ति से विरूप धर्म वाला होने पर भी वृत्ति से भिन्न दिखलाई नहीं पड़ता है, तब वृत्तिगतदोष का ज्ञान रहने पर भी विवेकवृत्ति में आत्मत्व की भ्रान्ति रहने के कारण साधक में विवेकवृत्ति के प्रति वैराग्यबुद्धि का उदय नहीं होता है, क्योंकि साधक को आत्मस्वरूप से विवेकवृत्ति अत्यन्त प्रिय लगती है अर्थात् विवेकख्याति के प्रति रागात्मक बुद्धि बनी रहती है। अतः आत्मा और वृत्ति (चित्त) दोनों में ही गुण-दोष की पर्यालोचना कर निष्पन्न हुआ विविक्तज्ञान, वृत्तिमात्र के प्रति अलंबुद्धिरूप वैराग्य का कारण होता है—यह वस्तुस्थिति है॥

बालप्रिया—

'आत्मवृत्त्योरुभयोरेव गुणदोषाभ्यां विविच्य दर्शनम्'—सरलार्थ यह है—पुरुष को ऐसा ज्ञान हो जाने पर भी कि 'मैं चेतन पुरुष जड़ चित्त से सर्वथा भिन्न हूँ' फिर भी पूर्वजन्मीय आविद्यिक संस्कारों के झंझावात के समक्ष डगमगाता हुआ साधक विवेकज्ञान में सर्वभावाधिष्ठातृत्व का आकर्षण देखकर आकृष्ट हो जाता है और वृत्तित्वेन विवेकवृत्ति भी त्याज्य एवं निरोद्धव्य है—इस तथ्य को भूल बैठता है। चितिशक्ति से भिन्न नाशकारी विवेकवृत्ति का स्वरूप आत्मतत्त्व के परिप्रेक्ष्य में ही तुलनात्मक दृष्टि से जाना जा सकता है, अतः वार्त्तिककार ने **'आत्मा'** तथा **'वृत्ति'** दोनों के गुणदोषदर्शन पर बल डाला है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **'विवेकवृत्ति'** के 'निरोध' के बाद वाली चित्तावस्था का चित्रण करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदवस्थं निरोधावस्थं चित्तं संस्कारोपगं संस्कारमात्रानुसारि संस्कारमात्ररूपेण प्रशान्तवाहि भवति। सेयं प्रशान्तवाहिता स पूर्वोक्तो निर्बीजः समाधिः निरोधयोग;, न किञ्चित्तत्र योगे ज्ञायत इति विग्रहेणासंप्रज्ञातनामा चेति वाक्यार्थः। असंप्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञान[1]जन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहान्निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः। बीजदाहादेव चास्य निरोधस्य स्वरूपावस्थितिहेतुतया क्लेशकर्मादिपरिपन्थितया च लक्षण-सङ्गतिरित्य[2]प्याशयः।

इस प्रकार विवेकवृत्ति के निरुद्ध होने पर पूर्ण निरोधावस्था वाला चित्त **'संस्का-**

---

1. क ग घ च – जन्य० उपलभ्यते, ख छ – जन्य० नोपलभ्यते।
2. क ग घ – अपि उपलभ्यते, ख च छ – अपि नोपलभ्यते।

रोपग' अर्थात् निरोधसंस्कारमात्र का अनुसरण करता हुआ संस्कारमात्ररूप से प्रशान्त प्रवाह वाला हो जाता है। चित्त के इस प्रशान्तवाहितारूप निरोधयोग को ही पीछे 'निर्बीज समाधि' कहा गया है और '**न किञ्चित्तत्र योगे ज्ञायत इति**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस योग में कुछ भी जानने के लिये शेष नहीं रहता है, उसे '**असम्प्रज्ञात**' संज्ञा भी प्रदान की जाती है। निरोधयोग को '**निर्बीज**' संज्ञा से अभिहित किये जाने के कारण पर प्रकाश डालते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–असम्प्रज्ञात योग में चित्तस्थिति का बीजभूत (हेतुरूप) तत्त्वज्ञानपर्यन्त संस्कार पूर्णरूप से भस्मीभूत हो जाता है। अतः इस निरोधयोग को '**निर्बीज**' संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस प्रकार चित्त के वृत्तिजन्य संस्काररूप बीज का नाशक होने से ही निरोधयोग में; पुरुष की स्वरूपावस्थिति की हेतुता तथा क्लेशकर्मादि (के उत्पन्न होने) की प्रतिरोधकता होने के कारण, योगलक्षण घटित होता है अर्थात् निरुद्धभूमिक असम्प्रज्ञात योग में '**चित्तवृत्तिनिरोधत्व**' रूप योगलक्षण निष्पन्न होता है।

बालप्रिया–

संस्कारोपगम्–'उपग' यह विशेषण है, जो समास के अन्त में आता है। 'उप' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर यह '**उपग**' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है–निकट जाने वाला, पीछे चलने वाला अथवा प्राप्त करने वाला। प्रकृत में '**संस्कारोपग**' इस समस्त पद का अर्थ है–वृत्तिरहित चित्त की संस्कारोन्मुखता।

'निर्बीज'– मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र की शब्दावली में–'**क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगबीजं तस्मान्निर्गत इति निर्बीज**'ः। विज्ञानभिक्षु की शब्दावली में–**असम्प्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्तस्याशेषतो दाहान्निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः**। यहाँ '**निर्बीज**' के स्वरूप के विषय में मिश्र तथा भिक्षु में सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि वाचस्पति मिश्र ने यहाँ संसारबीज के सामान्य कारण को प्रतिपादित किया है। और विज्ञानभिक्षु ने असम्प्रज्ञात योग का प्रकरण प्राप्त होने के कारण चित्तबीज के विशेष कारण को संकेतित किया है। क्लेशमूलक कर्माशय और कर्माशयमूलक विपाक संसारागमन का सामान्यरूप से मूलकारण तो है ही, किन्तु तत्त्वज्ञान (विवेकवृत्ति) जन्य संस्कार का भी निरोध न होने तक मुमुक्षु की विदेहमुक्ति रुकी रहती है। अतः संस्कार को भी चित्तबीज का विशेषरूप से कारण कहा जाना युक्तिसंगत है।

इस प्रकार लक्ष्यभूत असम्प्रज्ञात में योगलक्षण का घटित होना प्रतिपादित करने के पश्चात् सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अलक्ष्यभूत '**सुषुप्ति**' में योगलक्षण की अनतिव्याप्ति को सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सुषुप्तौ च निद्राऽऽख्यचित्तवृत्तिसत्वान्न [1]सम्प्रज्ञातलक्षणातिव्याप्तिस्तत्कालीननिरोधस्य क्लेशादिपरिपन्थित्वाभावाच्च।

सुषुप्ति में चित्त की '**निद्रा**' वृत्ति विद्यमान रहने से सम्प्रज्ञात का लक्षण (ध्येयातिरिक्त वृत्तिनिरोध) सुषुप्ति में अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि सुषुप्ति-कालिक यत्किञ्चिद् वृत्तिनिरोध में क्लेशादि की परिपन्थिता (निरोधक शक्ति) का अभाव रहता है। (अतः योग के निर्दुष्ट लक्षण को अलक्ष्यभूत सुषुप्ति में घटाकर उसे अतिव्याप्ति दोष से दूषित करने का प्रयास नहीं किया जा सकता है)।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार असम्प्रज्ञात में '**वृत्ति**' की सत्ता मानने वाले वेदान्तियों के मत का सप्रमाण खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

एतेन यदाधुनिकवेदान्तिब्रुवा असंप्रज्ञातेऽपि निर्विकल्पमात्मज्ञानं स्वरूपसद्बुद्धि-वृत्तिरूपं तिष्ठतीति वदन्ति; तदप्रामाणिकत्वेनैतद्भाष्यविरोधेन चोपेक्षणीयम्,

युञ्जीत योगी निर्जित्य त्रीन् गुणान् परमात्मनि।
तन्मयश्चात्मना भूत्वा चिद्वृत्तिमपि संत्यजेत्

इति मार्कण्डेयपुराणादावैश्वरयोगेऽपि वृत्तिशून्यत्वावगमाच्च।

उपरिवर्णित पद्धति से अपने को आधुनिक वेदान्ती कहने वाले पूर्वपक्षियों के उस मत की उपेक्षा (खण्डन) हो जाती है जो, असम्प्रज्ञात में भी निर्विकल्पक आत्मज्ञानस्वरूप वाली बुद्धिवृत्ति रहती है, ऐसा मानते हैं, क्योंकि यह वार्ता अप्रामाणिक तथा भाष्य के विरुद्ध है (अतः सर्वथा खण्डनीय है)। योगवार्तिककार मार्कण्डेय पुराण के वचन को उद्धत करते है– '**युञ्जीत...संत्यजेत्**'' अर्थात् 'योगी सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप तीन गुणों को जीतकर परमात्मा में मन लगावे; और आत्मरूप से तन्मय होकर चित्तवृत्ति को भी अच्छी प्रकार से छोड़ दे'–इस प्रकार मार्कण्डेय पुराणादि के ऐश्वर्ययोग (असम्प्रज्ञात योग) में चित्त की (सर्व) वृत्ति-शून्यता सुनी जाती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार असम्प्रज्ञात में '**निर्विकल्पक**' आत्मज्ञान का खण्डन करते हुए आगे कहते हैं–

---

1 क घ च छ – सम्प्रज्ञात०, ग – असम्प्रज्ञात० उपलभ्यते, ख – सम्प्रज्ञात०/ असम्प्रज्ञात० नोपलभ्यते

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार असम्प्रज्ञात में '**निर्विकल्पक**' आत्मज्ञान का खण्डन करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

निर्विकल्पं त्वात्मज्ञानं संप्रज्ञातकाल एव भवति, शब्दार्थज्ञानविकल्पशून्यस्य संप्रज्ञात-कालीनज्ञानस्यैव [1]निर्विकल्पकस्य लयस्य मानत्वात्। योगद्वयमुपसंहरति–द्विविध इति॥२॥

(दूसरा तर्क यह है कि) निर्विकल्पक आत्मज्ञान तो सम्प्रज्ञात काल में ही होता है, क्योंकि शब्दार्थज्ञान के विकल्प से शून्य सम्प्रज्ञातकालीन निर्विकल्पक ज्ञान का ही लय होना प्रमाण सिद्ध है। सम्प्रति, भाष्यकार दो प्रकार के योग का उपसंहार करते हैं–'**द्विविध इति**।' इस प्रकार से दो प्रकार का '**योग**' चित्तवृत्तिनिरोधात्मक है॥२॥

बालप्रिया–

योगवार्त्तिककार ने सूत्रगत चित्त, वृत्ति, निरोध तथा योग–इन चारों पदों का अपने यौगिक अनुभव से वर्णन किया है॥२॥

व्यासभाष्यम्

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति?–

चित्त द्वारा तथाकथित (पूर्ववर्णित) निरोधावस्था प्राप्त किये जाने पर विषयाभाव के कारण बुद्धि-बोधात्मक (बुद्धि का ही प्रतिसंवेदन करने वाला) पुरुष किस स्वभाव का रहता है? इस विषय में सूत्र प्रस्तुत हो रहा है–

योगसूत्रम्

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥३॥

उस समय (निरोधावस्था में) द्रष्टा=पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है॥३॥

व्यासभाष्यम्

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि [2]भवन्ती न तथा॥३॥

उस (असम्प्रज्ञात योग की) अवस्था में चितिशक्ति (पुरुष) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठत हो जाती है। जिस प्रकार कैवल्यावस्था में रहती है, उसी प्रकार इस अवस्था में भी रहती है। चित्त की व्युत्थान अवस्था में चितिशक्ति (परमार्थतः) उसी प्रकार की (स्वरूप में प्रतिष्ठित) होने पर भी

---

1. क च छ – **निर्विकल्पकस्य**, ग घ – **निर्विकल्पकत्वस्य** उपलभ्यते, ख – **निर्विकल्पकस्य / निर्विकल्पकत्वस्य** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **भवन्ती**, छ थ – **भवती**।

(व्यवहारतः) वैसी नहीं रहती है। अर्थात् व्युत्थान काल में तो अपने रूप में प्रतिष्ठित होने पर भी पुरुष अपने रूप का प्रतीत नहीं होता है॥३॥

तत्त्ववैशारदी

सम्प्रत्युत्तरसूत्रमवतारयितुं चोदयति—तदवस्थे चेतसीति। किमाक्षेपे। तत्तदाकारपरिणत-बुद्धिबोधात्मा खल्वयं पुरुषः सदाऽनुभूयते, न तु बुद्धिबोधरहितः। अतोऽस्य पुरुषस्य बुद्धिबोधः स्वभावः सवितुरिव प्रकाशः। न च संस्कारशेषे चेतसि सोऽस्ति। न च स्वभावमपहाय भावो वर्तितुमर्हतीति भावः।[1] **स्यादेतत्? संस्कारशेषामपि बुद्धिं कस्मात्पुरुषो न बुध्यत इत्यत आह—विषयाभावादिति। न बुद्धिमात्रं पुरुषस्य विषयः अपि तु पुरुषार्थवती बुद्धिः। विवेकख्यातिविषयभोगौ च पुरुषार्थौ। तौ च निरुद्धावस्थायां न स्त इति सिद्धो विषयाभाव इत्यर्थः।**[2]

तृतीय सूत्र के अवतरण के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं—'**तदवस्थे चेतसीति**'। (भाष्यकार व्यासदेव द्वारा अवतरणिका में प्रयुक्त) '**किम्**' पद आक्षेप (आपत्ति, सन्देह अथवा दोषारोपण) अर्थ में है।

शङ्का—भिन्न-भिन्न विषय के आकार में परिणत बुद्धि के '**बोद्धा**' स्वरूप में **पुरुष** (चितिशक्ति) सर्वदा दिखलाई पड़ता है। अर्थात् पुरुष बुद्धिवृत्तिविशिष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि का बोद्धा बने विना पुरुष की प्रतीति ही नहीं होती है। अतः जैसे प्रकाश सूर्य का स्वरूप है। वैसै ही (विषयाकाराकारित) बुद्धि का बोद्धृत्व (बुद्धिबोध) पुरुष का स्वभाव (अन्तर्हित प्रकृति=स्वरूप) है। (जिस धर्म के होने पर जिसके अस्तित्व की प्रतीति होती है, वह उसका स्वभाव होता है। जैसे प्रकाश होने पर ही सूर्य की प्रतीति होती है, अतः प्रकाश सूर्य का स्वभाव है। इसी प्रकार विषयाकार में परिणत बुद्धि के बोद्धा रूप से ही पुरुष का अस्तित्व समझा जाता है। अतः '**बुद्धिबोध**' पुरुष का स्वभाव है—यह वस्तुस्थिति है।) किन्तु असम्प्रज्ञात योग में निरुद्धाशेषवृत्तिक (शान्तघोरमूढविषयक यच्च-यावत् वृत्तियों का निरोध करते हुए) चित्त के संस्कारविशिष्ट होने पर चित्त के बोद्धा=साक्षी रूप से पुरुष की प्रतीति नहीं होती है। (जैसे मेघाच्छादित आकाश में प्रकाशमय सूर्य की प्रतीति नहीं होती है, इस स्थिति में सैद्धान्तिक समस्या यह उठती है—) भाव पदार्थ की सत्ता स्वभावानस्तित्व के विना सम्भव ही नहीं है अर्थात् बोद्धृत्व स्वरूप को छोड़कर (भावरूप) पुरुष कैसे रह सकता है? यदि ऐसी असंगति आती है तो असंगति-निवारणार्थ ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय कि समस्त वृत्तियों के निरुद्ध

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द न — **भावः** उपलभ्यते, थ ध — **भावः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न — **इत्यर्थः**, उपलभ्यते थ द ध — **इत्यर्थः** नोपलभ्यते।

हो जाने पर पुरुष वृत्तिजन्य संस्कारविशिष्ट चित्त को भी जानता है। (इस प्रकार पुरुष का '**बुद्धिबोध**' स्वभाव चित्त की उभय अवस्थाओं, वृत्तियुक्त तथा वृत्तिरहित दोनों दशाओं, में समान रूप से बना रहता है)।

समाधान–(पूर्वपक्षी के उपर्युक्त त्रुटिपूर्ण समाधान की आशंका से) भाष्यकार ने सूत्र की अवतरणिका में कहा है–'**विषयाभावादिति**।' केवल बुद्धि (निर्वृत्तिक चित्त) पुरुष का विषय नहीं बनती है, अपितु पुरुषार्थवती बुद्धि ही पुरुष का विषय बनती है अर्थात् पुरुष विषयाकाराकारित बुद्धि का ही बोद्धा है। (बुद्धि के) दो पुरुषार्थ हैं– विवेकख्याति तथा विषयभोग। (बुद्धि की मुख्यतम चेष्टा पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है। यह बुद्धि का '**विवेकख्याति**' संज्ञक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ को सम्पादित करने के लिये बुद्धि को यह आवश्यक हो जाता है कि पुरुष को मोहनीय तथा रञ्जनीय विषयों का भरपूर भोग कराये। यह बुद्धि का '**विषयभोग**' संज्ञक पुरुषार्थ है। बुद्धिगत चेष्टा के क्रम में पहले '**विषयभोग**' संज्ञक पुरुषार्थ तथा तथा उसके पश्चात् '**विवेकख्याति**' संज्ञक पुरुषार्थ का स्थान है। किन्तु '**विवेकख्याति**'– मोक्षोपयोगी पुरुषार्थ होने से उसका निर्देश पहले किया गया है)। ये दोनों पुरुषार्थ असम्प्रज्ञातावस्थाक निरुद्ध चित्त में नहीं रहते हैं–अतः विषयाभाव असन्दिग्ध है। (निष्कर्ष रूप में संस्कारशेषवती बुद्धि का बोद्धा बन सकने के विषय में पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तावित विकल्प के निरसनपूर्वक असम्प्रज्ञात योग में बुद्धिबोधात्मा पुरुष 'किस स्वभाव' वाला होता है–यह शंका पूर्ववत् बनी रही)।

बालप्रिया–

'**किं स्वभावः**'–पुरुष के स्वभाव के विषय में उत्पन्न शङ्का का आशय इस प्रकार है–न्यायशास्त्र के समान क्या योगदर्शन में भी आत्मा वास्तविक रूप में जड़ात्मक (जड़ स्वरूप वाला) है और व्युत्थान काल में तत्तद्विषयों के आकार रूप में परिणत बुद्धि के सन्निधान (सामीप्य) से वह चेतनवत् प्रतीत होता है? अर्थात् क्या चैतन्य, पुरुष का '**धर्ममात्र**' है? इसी प्रकार असम्प्रज्ञात अवस्था में बुद्धिवृत्ति का अभाव रहने से क्या पुरुष दग्ध काष्ठ के समान '**अप्रकाश**' रूप ही रहता है–यह प्रथम विकल्प है। अथवा पुरुष '**प्रकाशस्वरूप**' ही है। व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्ति के साथ भेदाग्रह होने से अर्थात् बुद्धिवृत्ति के साथ अविवेकनिबन्धनक अभेदसम्बन्ध होने से पुरुष में '**ज्ञातृत्व**' धर्म उपचरित होता है तथा चित्त के वृत्तिनिरोध की अवस्था में वृत्त्यात्मक प्रतिबिम्बशून्य पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में उसी प्रकार अवस्थित हो जाता है, जिस प्रकार रक्तिम जपाकुसुम के अपसृत होने पर स्फटिक, जो जपाकुसुम के सन्निधान से रक्तमय आभासित होता है, अपने वास्तविक श्वेतिम रूप में प्रत्यावर्तित हो जाता है? (वृत्तिस्थानीय जपाकुसुम तथा पुरुषस्थानीय

स्फटिक यहाँ उपमित हैं)—यह द्वितीय विकल्प है। इन दोनों विकल्पों में से कौन सा विकल्प योगशास्त्र में प्रासंगिक तथा मान्य है, इसके समाधानार्थ तृतीय सूत्र है।

तत्त्ववैशारदी

सूत्रेण परिहरति—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। स्वरूप इत्यारोपितं शान्तघोर-मूढस्वरूपं निवर्त्तयति। पुरुषस्य हि चैतन्यं स्वरूपमनौपाधिकं न तु बुद्धिबोधः शान्तादिरूपः। औपाधिको हि सः, स्फटिकस्येव स्वभावस्वच्छधवलस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिररुणिमा। न चोपाधिनिवृत्तावुपहितनिवृत्तिः, अतिप्रसङ्गादिति भावः। स्वरूपस्य चाभेदेऽपि भेदं[1] विकल्याधिकरणभाव उक्त इति।

सूत्र के द्वारा शङ्का का परिहार किया जा रहा है—'**तदेति**।' सूत्रगत '**स्वरूपे**'—पद के प्रयोग से पुरुष पर अध्यारोपित शान्त, घोर तथा मूढ़ धर्म (जो त्रिगुणात्मक पदार्थ से अभिन्न हैं) का निराकरण किया गया है। पुरुष का निरुपाधिक स्वरूप '**चैतन्य**' है, शान्तादिविशिष्ट '**बुद्धिबोध**' (वृत्त्यात्मक ज्ञान) पुरुष का निरुपाधिक स्वरूप नहीं है। '**अहं सुखी**', '**अहं दुःखी**'—इत्याकारक विषयज्ञान (बुद्धिबोध) —जो पुरुषनिष्ठ है—पुरुष का औपाधिक रूप है। जैसे नैसर्गिक श्वेततायुक्त स्वच्छ स्फटिक मणि में जपाकुसुम के सन्निधान से प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) जपाकुसुमीय अरुणिमा औपाधिक रूप है। अर्थात् परिस्थितिविशेष में दिखलाई पड़ने वाला रूप=धर्म होता है। (यह नियम है कि) उपाधि के निवृत्त होने पर (हट जाने पर) उपहित की निवृत्ति (अभाव) नहीं होती है, (अर्थात् निरुद्ध अवस्था में बुद्धिबोधरूप वृत्ति (उपाधि) के न रहने पर उपहित '**पुरुष**' का अभाव नहीं हो जाता है। जिस प्रकार रक्तिम जपाकुसुम के न रहने पर भी उपहित स्फटिक की सत्ता बनी रहती है। इस प्रकार औपाधिक रूप से रहित पुरुष का अनौपाधिक स्वरूप व्याहत नहीं होता है), अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा अर्थात् उपाधि के अभाव से उपहित का अभाव मानने पर जपाकुसुम के अभाव काल में स्फटिक का अभाव मानना पड़ेगा—जो अनुभवविरुद्ध है। इसी परिप्रेक्ष्य में असम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तिरूप उपाधि से रहित पुरुष का अभाव कहना पड़ेगा—जो शास्त्रविरुद्ध है। स्वरूप का स्वरूपवान् (पदार्थ) के साथ आत्यन्तिक अभेद होने पर भी '**आधाराधेयभाव**' रूप भेद की कल्पना विकल्पवृत्ति के कारण कही गई है। अर्थात् पुरुष में चैतन्य की आधारता नहीं है और चैतन्य में पुरुष की आधेयता नहीं है। अर्थात् पुरुष और चैतन्य में आधाराधेयभावसम्बन्ध नहीं है। '**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**'—इत्यादि अनुभवों में विकल्पवृत्ति के कारण चैतन्य की पुरुष से जो भेद-प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिमूलक है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **भेदम्** उपलभ्यते, थ द ध – **भेदं** नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'उपाधि'–(उप+आ+धा+कि), **'औपाधिक'**–(उपाधि+ठञ्) **'उपहित'**–(उप+धा+क्त)–वह्निरूप उपाधि का दाहकत्वरूप औपाधिक धर्म **'अयः'** रूप उपहित में **'अयो दहति'**–रूप से व्यवहृत होता है। यहाँ अग्निनिष्ठ दाहकत्व **'अयः'** (लोहे) का स्वरूप नहीं, अपितु धर्म है, फिर भी उनके 'भेद' का अभेद के रूप में व्यवहार किया जाता है। **'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'**–उदाहरण में **'अभेद'** का भेद के रूप में व्यवहार हो रहा है। किन्तु सिद्धान्त की कसौटी पर व्यवहारपक्ष के खड़े न हो पाने के कारण उनकी व्यावहारिकता शास्त्र द्वारा काट्य होती है, क्योंकि व्यवहार और शास्त्र में शास्त्र प्रधान होता है।

सम्प्रति, वाचस्पति मिश्र उपरिवर्णित स्वमत को भाष्यानुमोदित बतलाते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अयमेवार्थो भाष्यकृता द्योत्यते–स्वरूपप्रतिष्ठेति। तदानीम्–निरोधावस्थायां न व्युत्थानावस्थायामिति भावः। स्यादेतद्? व्युत्थानावस्थायामप्रतिष्ठिता स्वरूपे चितिशक्ति-र्निरोधावस्थायां प्रतितिष्ठन्ती परिणामिनी सा[1] स्यात्। व्युत्थाने वा स्वरूपप्रतिष्ठाने सति[2] व्युत्थाननिरोधयोरविशेष इत्यत आह–व्युत्थानचित्ते त्विति। न जातु कूटस्थनित्या चितिशक्तिः स्वरूपाच्च्यवते। तेन यथा निरोधे तथैव व्युत्थानेऽपि। न खलु शुक्तिकायाः प्रमाणविपर्ययज्ञानगोचरत्वेऽपि स्वरूपोदयव्ययौ भवतः। प्रतिपत्ता[3] तु तथाभूतमप्यतथात्वेना-भिमन्यते। निरोधसमाधिमपेक्ष्य संप्रज्ञातोऽपि व्युत्थानमेवेति॥३॥

इसी बात को (चैतन्यस्वरूप पुरुष के सिद्धान्त को) भाष्यकार ने भी प्रदर्शित किया है–**'स्वरूपप्रतिष्ठेति'**। भाष्य में प्रयुक्त **'तदानीम्'** पद का अर्थ है–निरोध की अवस्था में, न कि व्युत्थान की अवस्था में। अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात में (चित्त के व्युत्थित काल में नहीं) चितिशक्तिरूप पुरुष की आरोपित शान्त, घोर तथा मूढरहित निर्विषय चैतन्यमात्र प्रकाशस्वरूप में अवस्थिति होती है, यह तात्पर्य है।

शङ्का–(चितिशक्ति के स्वरूप को काल की सीमा में विभक्ताङ्कित करने पर)–चित्त की व्युत्थित अवस्था में, स्वरूप में 'अप्रतिष्ठिता' और चित्त की निरुद्धावस्था में स्वरूप में **प्रतिष्ठिता'** को प्राप्त होती हुई चितिशक्ति **'परिणामिनी'** हो जायेगी। अर्थात्

1. क ख ग घ छ ज झ त न – **सा** उपलभ्यते, च थ द ध – **सा** नोपलभ्यते।
2. द – **सति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **सति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ न – **प्रतिपत्ता**, द – **प्रतिपत्तौ**।

एकाधिक रूप को प्राप्त पुरुष को परिणामी मानना पड़ेगा। किन्तु यह शास्त्रविरुद्ध है। (शास्त्रीय आपत्ति से बचने के लिये यदि सिद्धान्ती यह कहे कि-) अनिरुद्धवृत्तिक व्युत्थान में (सम्प्रज्ञात में और सम्प्रज्ञात की अपेक्षा विक्षिप्तादि अवस्थाओं में) भी चितिशक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठिता बनी रहती है तो व्युत्थान और निरोध-इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर का अभाव हो जायेगा अर्थात् विभाजक चिह्न न रहने से दोनों अवस्थाएँ एक रूप हो जायेंगी। इस प्रकार सम्भावित दोनों विकल्प आपत्ति-जनक हैं।

समाधान-इस पर (उपरिनिर्दिष्ट सम्भावित दोषपूर्ण विकल्पों को दृष्टि में रखते हुए) भाष्यकार कहते हैं-'**व्युत्थानचित्ते त्विति**'। '**कूटस्थनित्य**' (होते हुए) चितिशक्तिरूप पुरुष कदाचित् अपने स्वरूप (अपने नैसर्गिक रूप) से च्युत (विचलित, परिवर्तित) नहीं होता है। इसलिये जैसा 'निरोधकाल' में पुरुष का स्वरूप है, वैसा ही 'व्युत्थानकाल' में भी है। (इस प्रकार चित्त के व्युत्थान और निरोधकाल में चितिशक्ति के स्वरूप की '**अप्रतिष्ठिता**' और '**प्रतिष्ठिता**' के रूप में पूर्वपक्षी द्वारा उत्थित पुरुष के '**परिणामित्व**' का दोष विगलित हो जाता है-यह पूर्वपक्षी के प्रथम विकल्प का उत्तर है)।

(सम्प्रति, पूर्वपक्षी द्वारा आक्षिप्त द्वितीय विकल्प को ध्यान में रखकर विचार प्रस्तुत हो रहा है)-प्रमाणात्मक ज्ञान (प्रमावृत्ति) तथा विपर्ययात्मक ज्ञान (अप्रमावृत्ति) की विषयता (गोचरता) शुक्ति में होने पर भी इससे शुक्ति के स्वरूप का (क्रमशः) आविर्भाव (प्रारम्भ) और तिरोभाव (अन्त) नहीं होता है, (अर्थात् शुक्ति में होने वाली '**इदं रजतम्**'-इत्याकारिका रजतभ्रान्ति के समय शुक्ति का अभाव और रजत की उत्पत्ति नहीं होती है-यह विपर्ययज्ञान का उदाहरण है। इसी प्रकार '**नेदं रजतम्**'-इत्याकारक भ्रान्तिनाश के समय प्रमाणवृत्ति द्वारा पुनः शुक्ति का अभाव (व्यय) नहीं हो जाता है-यह प्रमाणज्ञान का उदाहरण है। शब्दान्तर में प्रमा और अप्रमा वृत्ति द्वारा वस्तु के स्वरूप में अन्तर (क्षयोदय) नहीं आता है। क्या सर्प में होने वाले रज्जुज्ञान (भ्रमज्ञान) से सर्प की दंशक्रिया समाप्त होकर सर्प में रज्जु की गतिशून्यता आ जाती है? उत्तर नकारात्मक है), किन्तु मनुष्य तद्रूप वस्तु को भी अतद्रूप से समझने लगता है (उदाहरणार्थ रज्जुरूप वस्तु को भी सर्परूप समझकर भयभीत होता है अथवा शुक्तिरूप वस्तु को रजतरूप समझ कर '**आहरण**' क्रिया के लिये उद्यत होता है। यह सब अज्ञानता का दुष्परिणाम है। वैसे ही प्रकृत में चितिशक्तिरूप पुरुष भी सर्वदा अखण्ड और एकरस है, परन्तु व्युत्थानकाल में चितिशक्ति के अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी प्रतिपत्ता (बोद्धा) अविद्यावश चितिशक्ति को विपरीत रूप (अप्रतिष्ठरूप) से ही जानता है।

ही जानता है। इतना ही दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। इस प्रकार चित्त के व्युत्थान तथा निरोध दोनों अवस्थाओं में चितिशक्ति के स्वरूपप्रतिष्ठ होते हुए भी उसमें प्रातीतिक अन्तर आ जाता है–यह पूर्वपक्षी के द्वितीय आक्षेप का उत्तर है)।

भाष्य में प्रयुक्त '**व्युत्थान**' शब्द के सापेक्षिक अर्थ का पुनः स्मरण कराते हुए तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र तृतीय सूत्र के वैयासिक भाष्य की व्याख्या का समापन करते हुए कहते हैं–(सम्प्रज्ञात की दृष्टि से विक्षिप्तादि अवस्थाएँ तो व्युत्थानरूप हैं ही किन्तु) निरोधसमाधि की दृष्टि से सम्प्रज्ञात समाधि भी व्युत्थानात्मक ही है॥३॥

योगवार्त्तिकम्

ननु चित्तवृत्तिनिरोधे कः पुरुषार्थ इत्याकाङ्क्षया योगलक्षणपूरणाय च प्रवर्तमानं योगस्य फलप्रतिपादकं सूत्रमधिकप्रश्नमुखेनोत्थापयति प्रसङ्गादात्मनः कौटस्थ्यमपि प्रतिपादयितुम्–तदवस्थ इति। नन्वसंप्रज्ञातावस्थे चेतसि सति बुद्धिबोधात्मा बुद्धिविषयकबोध[1]स्वरूपो बुद्धिसाक्षी पुरुषः किंस्वभावः केन रूपेण तिष्ठति? किं व्युत्थान इव तदानीमपि प्रकाशरूप एव तिष्ठति, वृत्त्याख्यदृश्याभावादेव तु न पश्यति? अथ वा काष्ठवदप्रकाशरूप एव आत्मा तदा तिष्ठति, व्युत्थानकाले तु निमित्तविशेषात् प्रकाशरूपेण परिणमते? किं वा दशाक्षये दीपवन्नश्यतीत्यर्थः। एतेष्वाद्यपक्षं सूत्रेण सिद्धान्तयति–तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

चित्त की वृत्तियों के निरोध का क्या उद्देश्य है–इत्याकारक जिज्ञासा होने से तथा योगलक्षण की पूर्ति के लिये अर्थात् पूर्व सूत्रोल्लिखित योगलक्षण को परिष्कृत (निर्दुष्ट) करने के लिये प्रस्तूयमान योग के फलप्रतिपादक सूत्र को, प्रसङ्गतः आत्मतत्त्व की कूटस्थता प्रतिपादित करने के लिये, भाष्यकार यथेष्ट प्रश्न पूर्वक उठाते हैं–'**तदवस्थ इति**।'

शङ्का–चित्त के असम्प्रज्ञातावस्थाक होने पर अर्थात् जिस समय चित्त को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है उस समय '**बुद्धिबोधात्मा**' अर्थात् बुद्धिविषयक ज्ञान वाला, बुद्धि का साक्षी पुरुष किस '**स्वभाव**' वाला होता है अर्थात् किस रूप में अवस्थित रहता है? (तदर्थ पूर्वपक्षी स्वयं तीन विकल्प प्रस्तुत करता है)–क्या व्युत्थान अवस्था के समान असम्प्रज्ञात में भी पुरुष अपने '**प्रकाशात्मक**' अर्थात् ज्ञानात्मक रूप में बना रहता है, केवल वृत्त्याख्य दृश्य का अभाव होने के कारण (घट, पटादि विषय को) नहीं देख पाता है–(यह प्रथम विकल्प है), अथवा क्या असम्प्रज्ञात काल में पुरुष (वह्निरहित) लकड़ी की भाँति '**अप्रकाशरूप**' अर्थात् अज्ञानरूप होकर रहता है, क्योंकि वह व्युत्थानकाल में ही (वृत्तिरूप) निमित्त-

---

1. क घ च छ – **स्वरूपः**, ग – **स्वरूपे, उपलभ्यते**, ख– **स्वरूपः/स्वरूपे** नोपलभ्यते।

विशेष के कारण (घट, पटादि के) प्रकाश अर्थात् वृत्तिरूप से परिणत होता है–(यह द्वितीय विकल्प है), अथवा क्या 'वृत्ति' के निरुद्ध हो जाने पर पुरुष उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार बत्ती के क्षीण होने पर दीपप्रभा–(यह तृतीय विकल्प है)?

समाधान–उपरिनिर्दिष्ट(असम्प्रज्ञातकालिक पुरुष के स्वरूपप्रतिपादक) तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प को सूत्रकार सिद्धान्तित करते हैं–'**तदेति**'।

योगवार्त्तिकम्

तदाऽसम्प्रज्ञातयोगकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषयचैतन्यमात्रेऽवस्थानमित्यर्थः। यथा [1]जपापाये स्फटिकस्यालोहिते [2]स्वस्वरूपेऽवस्थानं तथा वृत्त्यपाये पुरुषस्य **वृत्तिप्रतिबिम्बशून्ये स्वस्वरूपेऽवस्थानमिति भावः**।[3] **यथा च तदा संस्कारशेषबुद्धेर्भानं न भवति तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। तथा च कूटस्थ एव पुरुषो व्युत्थान इव तदानीमपि प्रकाशस्वरूप एव तिष्ठति; योगलक्षणमप्येतद्धेतुनिरोधत्वमेव, तत्र च वृत्त्यात्मकदुःखाभावः पुरुषार्थ इति भावः। सोऽयं पुरुषार्थो भाष्यकारेण सूचितः–यथा कैवल्य** इत्यनेन। **कैवल्ये हि दुःखनिवृत्तिरेव पुरुषार्थ इति वक्ष्यति–हेयं दुःखमनागतम् इति सूत्रेणेति। क्रमेण चरमासंप्रज्ञातेऽशेषसंस्कारक्षयात् चित्तेन सह वृत्तीनामात्यन्तिकनिरोधे** सत्यात्यन्तिकं **स्वरूपावस्थानं मोक्षाख्यमिति।**

'**तदा**' अर्थात् असम्प्रज्ञात योग के समय '**द्रष्टुः**' अर्थात् चितिशक्ति रूप पुरुष का '**स्वरूपे**' अर्थात् अपने निर्विषयक चैतन्यरूप में '**अवस्थानम्**' अर्थात् अवस्थिति होती है। भाव यह है कि जिस प्रकार (लोहितवर्णीय) जपाकुसुम के हटा लिये जाने पर (स्वच्छ) स्फटिक की अपने रक्तभिन्न शुद्ध (श्वेत) रूप में अवस्थिति होती है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति के '**अपाय**' अर्थात् निरुद्ध हो जाने पर पुरुष की वृत्तिप्रतिबिम्ब से रहित अपने चिति रूप (ज्ञानात्मकरूप) में अवस्थिति होती है। जैसा कि उत्तर सूत्र (अग्रिम सूत्र)में यह बतलाया जायेगा कि पुरुष को संस्कारशेषशून्य बुद्धि का भान अर्थात् ज्ञान नहीं होता है। अतः '**कूटस्थ**' अर्थात् अपरिणामी पुरुष चित्त की व्युत्थान दशा के समान असम्प्रज्ञात दशा में भी (स्वकीय) '**प्रकाशस्वरूप**' अर्थात् ज्ञानात्मक रूप से ही रहता है। अतः '**योग**' का लक्षण भी पुरुष की स्वरूपावस्थिति

---

1. क ग घ च छ – **जपा०**, ख – **जपाकुसुम०**।
2. क ग घ च छ – **स्वस्वरूपे**, ख – **स्वरूपे**।
3. ख – **तदेतत् स्मर्यते – अनाप्ताखिलशैलादिप्रतिबिम्बे हि यादृशी स्याद् दर्पणे दर्पणता केवलात्मस्वरूपिणी, जगति त्वमहमित्यादिदृश्ये सत्तामनुपागते द्रष्टुः स्यात्केवलीभावः, तादृशो विमलात्मनः चिदः न प्रतिबिम्बास्ति दृश्याभावादृते किल। क्व विना प्रतिबिम्बेन किलादर्शो यत् तिष्ठेद् इति** (**इति भावः** – पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तदेतत्.. तिष्ठेद् इति** नोपलभ्यते।

का हेतुभूत वृत्तिनिरोधत्वरूप (**पुरुषस्वरूपावस्थितिहेतुत्वं वृत्तिनिरोधत्वम्**) ही है। इस स्थिति में वृत्त्यात्मक (वृत्तिजन्य) दु:ख के अभाव अर्थात् निवृत्ति को पुरुषार्थ कहा गया है। भाष्यकार ने तथाकथित पुरुषार्थ को '**यथा कैवल्ये**'–इस भाष्यांश के द्वारा उद्घाटित किया है। सूत्रकार आगे के **हेयं दुखमनागतम्** २/१६ सूत्र के द्वारा कैवल्य की अवस्था में दु:खनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ का ही अभिधान करेंगे। इस क्रम से **असम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा** काल में नि:शेष रूप से संस्कारों का क्षय हो जाने के कारण चित्त के साथ वृत्तियों का भी सर्वथा (आत्यन्तिक) निरोध हो जाने पर '**मोक्ष**' संज्ञक आत्यन्तिक स्वरूपावस्थान होता है अर्थात् पुरुष की औपाधिक धर्मराहित्यरूप अपुनरावृत्तिक स्वरूपावस्थिति होती है।

बालप्रिया–

'**वृत्त्यात्मकदु:खाभावः पुरुषार्थः**'–सरलार्थ यह है–'**वृत्ति**' दु:ख का अपर पर्याय है और दु:ख का अपर पर्याय है–बन्ध और बन्ध का अपर पर्याय है–संसार। व्यतिरेकमुख से ऐसा कहा जा सकता है कि वृत्त्यभाव का अपर पर्याय दु:खाभव, दु:खाभाव का अपर पर्याय बन्धाभाव, बन्धाभाव का अपर पर्याय संसाराभाव और संसाराभाव का अपर पर्याय मोक्ष है। चूँकि दु:खरूप संसार '**वृत्ति**' का ही विस्तार मात्र है, अत: मोक्षोत्पादक योग को भी '**वृत्तिनिरोधत्व**' रूप लक्षण से लक्षित किया गया है। '**वृत्ति**' पद के साथ 'आत्म' पद का प्रयोग होने में वृत्ति-दु:ख का अभेदात्मक तथ्य निगूढ है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार उपरिवर्णित व्याख्या पुरुष के '**अपरिणामित्व**' की बाधिका नहीं है, इसी तथ्य को पुरुष के परिणामित्व की शंका द्वारा स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु तदानीं दु:खाभावेऽन्यदा दु:खमस्तीत्यायातम्, तथा चापरिणामित्वानुपपत्तिरित्याशङ्कां परिहरति भाष्यकारः–व्युत्थानेति। व्युत्थानचित्तदशायां तु चितिस्तथाऽपि स्वरूपेण तिष्ठन्ती, न तथा नासंप्रज्ञातस्य कैवल्यस्य च समानरूपेत्यर्थः॥३॥

शङ्का–असम्प्रज्ञातकाल में पुरुष में दु:खाभाव प्रतिपादित करने पर व्युत्थानकाल में पुरुष को दु:ख होता है, यह अर्थाल्लभ्य है अर्थात् व्युत्थानकाल में सुखदु:खादि वृत्तियाँ पुरुष को सुखी-दु:खी करती हैं–यह सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में पुरुष का अपरिणामी होना उपपन्न नहीं होता है?

समाधान–भाष्यकार इत्याकारक उपरिवर्णित शंका का परिहार करते हैं–'**व्युत्थानेति**'। चित्त की व्युत्थित दशा में अर्थात् व्युत्थानावस्था में चितिशक्ति अपने ज्ञानात्मक

स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती हुई भी असम्प्रज्ञात और कैवल्य के समान अपने स्वरूप में स्थित हुई सी प्रतीत नहीं होती है, यह अर्थ है॥३॥

बालप्रिया–

स्वरूपेण तिष्ठन्ती–इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपरिणामिनी चितिशक्ति सर्वदा अपने अपरिवर्तनीय रूप में ही अवस्थित रहती है। उसका परिवर्तनीय रूप भ्रान्तिमूलक है–यह सिद्धान्तित होता है॥३॥

व्यासभाष्यम्

कथं तर्हि? दर्शितविषयत्वात्–

तो फिर व्युत्थानकाल में चितिशक्ति किस रूप से जानी जाती है? (सहेतुक प्रश्न का उत्तर है कि) बुद्धि के द्वारा दिखाये गये विषयों का प्रतिसंवेदी होने के कारण–

योगसूत्रम्

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥४॥

अन्य दशाओं में चितिवृत्तियों के साथ (चितिशक्ति का) सारूप्य (समानरूप) प्रतीत होता है॥४॥

व्यासभाष्यम्

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्–एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् इति। [1]चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः, तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिसंबन्धो हेतुः॥४॥

व्युत्थान काल में जिस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ बनती हैं, पुरुष भी उस समय उसी प्रकार का प्रतीत होता है। इस विषय में (पञ्चशिखाचार्य का) सूत्र प्रमाण है–'(पुरुष और बुद्धि दोनों का) 'दर्शन' एक ही रूप का होता है और वह 'दर्शन' बुद्धिवृत्तियों के रूप का ही होता है।' चित्त अयस्कान्तमणि के समान निकटस्थ होकर ही उपकार करता है। चित्त (पुरुष में प्रतिबिम्बत होकर) पुरुषरूपी 'स्वामी' का दृश्य होता हुआ उसका 'स्व' बनता है। इसलिये पुरुष को जो चित्तवृत्तिज्ञान होता है, उसमें पुरुष (और बुद्धि) का अनादि सम्बन्ध ही कारण है॥४॥

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः** उपलभ्यते, छ थ – **चित्तं...स्वामिनः** नोपलभ्यते।

तत्त्ववैशारदी

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति–कथं तर्हीति। यदि तथा[1] भवन्ती न तथा, केन तर्हि प्रकारेण प्रकाशत इत्यर्थः? हेतुपदमध्याहृत्य सूत्र पठति–दर्शितविषयत्वाद् वृत्तिसारूप्य-मितरत्र।

अगले सूत्र को अवतरित करने के लिए भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं– '**कथं तर्हीति**।'

शङ्का–यदि व्युत्थान में चितिशक्ति पुरुष नित्य कूटस्थरूप होता हुआ भी अपने (नैसर्गिक) कूटस्थनित्यरूप से भासित नहीं होता है, तो अन्य किस रूप से वह दिखलाई पड़ता है? ('**प्रतिपत्ता तु तथा भूतमप्यतथात्वेनाभिमन्यते**'–शब्दावली द्वारा समस्त अवस्थाओं में चितिशक्ति के 'अपरिवर्तनीय स्वरूप' का समर्थित सिद्धान्त चितिशक्ति को किस प्रकार विषम परिस्थितियों में '**अतथात्वरूप**' से आत्मसात् करता है–यह जटिल प्रश्न समाधेय है)।

समाधान–(इस प्रश्न के उत्तर के लिये हेतु दिया जा रहा है–'**दर्शितविषयत्वात्**')। भाष्यकार हेतुबोधक पद का अध्याहार करते हुए सूत्र को पढ़ते हैं– **दर्शितविषयत्वाद्वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**

तत्त्ववैशारदी

इतरत्र व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयः शान्तघोरमूढ़ास्ता एवाविशिष्टा अभिन्ना वृत्तयो यस्य पुरुषस्य, स तथोक्तः। सारूप्यमित्यत्र स शब्द एकपर्यायः। एतदुक्तं, भवति–जपाकुसुम-स्फटिकयोरिव बुद्धिपुरुषयोः संनिधानादभेदग्रहे बुद्धिवृत्तीः पुरुषे[2] समारोप्य शान्तोऽस्मि, दुःखितोऽस्मि, मूढ़ोऽस्मीत्यध्यवस्यति, यथा मलिने दर्पणतले प्रतिबिम्बितं मुखं मलिनमारोप्य शोचत्यात्मानं मलिनोऽस्मीति।

(भाष्यार्थ को प्रस्तुत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)–'**इतरत्र**' अर्थात् व्युत्थान काल में चित्त की शान्त, घोर तथा मूढ रूप (सुखदुःखमोहरूप) जो वृत्तियाँ होती हैं, उनसे '**अविशिष्ट**' अर्थात् अभिन्न वृत्ति वाला पुरुष कहा जाता (भासता) है। '**सारूप्यम्**'–(सूत्रगत) इस पद में प्रयुक्त '**सः**' 'समान' अर्थ का वाचक है। अर्थात् व्युत्थानकाल में पुरुष वृत्ति के समान आकार का हो जाता है। तात्पर्य यह है–जैसे जपाकुसुम और स्फटिक के सन्निधान से दोनों (पृथग्भूत तत्त्वों) में ऐक्यात्मक भ्रम होने पर जपाकुसुमगत आरुण्य धर्म स्फटिक से एकीभूत होकर भासता है। वैसे ही बुद्धि और पुरुष के सामीप्य से बुद्धि और पुरुष में ऐक्यात्मक

---

1. ख थ द ध – **अपि** उपलभ्यते, क ग घ च छ ज झ त न **अपि** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **पुरुषे** उपलभ्यते, न – **पुरुषे** नोपलभ्यते।

भ्रान्ति होने पर बुद्धिनिष्ठ शान्त, घोर तथा मूढादि वृत्तियाँ पुरुष में अवभासित होती हैं। उस समय अपने में आरोपित (निवेदित) शान्तादि वृत्तियों के कारण पुरुष **'मैं शान्त हूँ', 'मैं मोहग्रस्त (मूढ) हूँ'**–इत्याकारक निश्चय (व्यवहार) करता है। आबालवृद्धजनवेद्य उदाहरण द्वारा तत्त्ववैशारदीकार भ्रान्तिजन्य विसङ्गित को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कलुषित दर्पणफलक पर प्रतिफलित (प्रतिच्छायित) मुख पर (वस्तुतः स्वच्छ मुख की प्रतिच्छाया में) मालिन्य का आरोप कर पुरुष (अविवेकिजन) **'मैं मलिन हूँ'**–इस प्रकार चिन्ता करता है। (इस प्रकार व्युत्थानकाल में पुरुष को किस प्रकार विषय समर्पित किया जाता है–यह प्रक्रियातन्त्र समझ में आ जाता है)।

बालप्रिया–

'दर्शितविषयत्वात्'–इस पद के द्वारा पुरुष के औपाधिक वृत्तिसारूप्य को इंगित (संकेतित, उद्घोषित) किया गया है। इस समस्त पद का विग्रह है– **दर्शितो (बुद्ध्या निवेदितो) विषयो यस्यै स दर्शितविषयः (पुरुषः), तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् दर्शित-विषयत्वात्।' 'दर्शितविषय'** पद का अर्थ **'समर्पितविषय'** है और **'समर्पितविषय'** पद का अर्थ **'विषयाधान'** है। यह समर्पण–बुद्ध्युपगृहीत विषय का प्रतिबिम्बरूप चिति में–**'आधान'** रूप है। विष्णुपुराण में कहा भी गया है–**'गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मनेयः प्रयच्छति। अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥'**

'सारूप्यम्'–(समानं रूपमस्य सरूपम्, सरूप+ष्यञ्=सारूप्यम्) रूप की समानता। **'स'** का अर्थ **'एक'** करने से 'एकरूपता' द्वारा भी यही " अर्थ निकलता है।

'दर्पण':–(दृप्+णिच्+ल्युट्) दीप्त्यर्थक 'दृप्' धातु से निष्पन्न 'दर्पण' शब्द की सार्थकता समीपस्थ पदार्थ को प्रकाशित करने में है। जैसे, नेत्रस्थ कज्जल जिसे चक्षुरिन्द्रिय नहीं देख पाती है, को दर्पण की सहायता से देखा जा सकता है।

उपरिवर्णित चर्चा पूर्वपक्षी को कहीं इस प्रकार के मतिभ्रम में न डाल दे कि यथार्थ **'वृत्ति'** बुद्धिनिष्ठ और अयथार्थ **'वृत्ति'** पुरुषनिष्ठ होती है–तदर्थ विषय को स्पष्टता प्रदान करने के लिये तत्त्ववैशारदीकार बतलाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यद्यपि पुरुषसमारोपोऽपि शब्दादिविज्ञानवद्बुद्धिवृत्तिर्यद्यपि च प्राकृतत्वेना चिद्रूपतयानु-भाव्यस्तथापि बुद्धेः पुरुषत्वमापादयन्पुरुषवृत्तिरिवानुभव इवावभासते। तथा चायमविपर्य-योऽप्यात्मा विपर्ययवानिवाभोक्तापि भोक्तेव विवेकख्यातिरहितोऽपि तत्सहित इवाविवेकख्

यात्यां[1] प्रकाशते। एतच्च चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ [2]स्वबुद्धिसंवेदनम् इत्यत्र सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः इत्यत्र चोपपादयिष्यते।

यद्यपि **'मलिनोऽस्मि'**–इत्याकारक पुरुषावस्थित भ्रमज्ञान भी, शब्दादिविषयिणी बुद्धिवृत्ति (शब्दादिविषयक ज्ञान) की तरह बुद्धि का ही व्यापार (वृत्ति) है और विषयज्ञानरूप तद्रूपता (आरोप) भी **'प्राकृत'** अर्थात् जड़ होने से अचिद्रूप (अचेतनरूप) से ही द्योतित (प्रतीत) होती है तथापि **'आरोप'** बुद्धि में पुरुषत्व का सम्पादन करता हुआ पुरुषवृत्ति के समान चेतनवत् प्रतीत होता है। इससे आत्मा **'अविपर्यय'** (विपरीतवृत्ति वाला न) होते हुए भी विपरीत ज्ञान वाला, **'अभोक्ता'** होते हुए भी **'भोक्ता'** के समान, विवेकज्ञानरूप वृत्ति से रहित होता हुआ भी विवेकवृत्ति से युक्त के समान–अविवेकख्याति में–भासित होता है। इस प्रकार से होने वाले अभेदभ्रम को आगे के सूत्रों–**'चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसम्वेदनम्'** ४/२२, **'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः** ३/३५–में प्रतिपादित किया जायेगा।

योगाचार्यों द्वारा उद्घोषित उक्त सिद्धान्त को तत्त्ववैशारदीकार सांख्याचार्यों से समर्थित कराते हुए कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एतच्च मतान्तरेऽपि सिद्धमित्याह–तथा चेति। पञ्चशिखाचार्यस्य सूत्रम् एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् इति। ननु कथमेकं दर्शनं यावता बुद्धेः शब्दादिविषया विवेकविषया च वृत्तिः प्राकृततया जडत्वेनानुभाव्या, दर्शनं ततोऽन्यत्पुरुषस्य चैतन्यमनुभवो दर्शनमित्यत आह–ख्यातिरेव दर्शनमिति। उदयव्ययधर्मिणीं वृत्तिं ख्यातिं लौकिकीमभिप्रेत्यैतदुक्तम्–एकमेवेति। चैतन्यं तु पुरुषस्य स्वभावो न ख्यातेः।[3] [4]तत्तु न लोकप्रत्यक्ष-[5]गोचरः अपि त्वागमानुमानगोचर इत्यर्थः।

यह तथ्य मतान्तर (सांख्य) में भी अङ्गीकृत हुआ है, इसे बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं–**'तथा चेति।'** (प्रमाणस्वरूप) पञ्चशिखाचार्य का सूत्र है–**'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'।** (ऊहापोह के साथ सूत्रार्थ प्रस्तुत हो रहा है)–

शङ्का–बुद्धि और पुरुष में ज्ञान की एकरूपता=दर्शनैक्य कैसे हो सकता है? क्योंकि बुद्धि का शब्दादिविषयक ज्ञान और जड़-चेतन का भेदविषयक ज्ञान वृत्तित्वेन

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **विवेकख्यात्यां**, थ द ध – **अविवेकख्यात्याम्।**
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **स्व॰** उपलभ्यते, ख – **स्व॰** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ ज झ त न – **ख्यातेः**, ख थ द ध – **ख्यातिः।**
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **तत्**, थ द ध – **चैतन्यम्।**
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **गोचरः** उभयत्र, द – **गोचरं** उभयत्र।

प्राकृत (प्रकृति का कार्य) होने से जड़ात्मक प्रतीत होता है (अर्थात् जड़स्वरूपा प्रकृति की कार्यभूता बुद्धि का ज्ञानरूप=वृत्तिरूप व्यापार भी बुद्धि के समान जड़ात्मक ही रहेगा), किन्तु पुरुषनिष्ठ दर्शन (ज्ञान) बुद्धिनिष्ठ दर्शन (ज्ञान) से भिन्न चैतन्यरूप से अनुभवनीय है?

समाधान–इस पर (शंका-समाधानार्थ) कहा गया है–'**ख्यातिरेव दर्शनमिति**'। आविर्भाव और तिरोभावशील (सामयिक) '**वृत्ति**' अर्थात् लौकिक ख्याति (ज्ञान) के तात्पर्य (उपलक्षित भाव) से ही ऐसा कहा गया है–'**एकमेवेति**।' चैतन्य तो पुरुष का स्वरूप है, न कि (सामयिक) ख्याति अर्थात् वृत्तिरूप ज्ञान। यह '**चैतन्य**' (पुरुष की चेतनात्मकता अर्थात् ज्ञानस्वरूपता) लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अर्थात् '**चैतन्य**' लौकिक प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अपितु आगमप्रमाण तथा अनुमानप्रमाण का विषय है।

बालप्रिया–

भाव यह है–ज्ञान दो प्रकार का है, एक नित्यज्ञान तथा दूसरा अनित्यज्ञान। '**नित्यज्ञान**' को '**चैतन्य**' कहते हैं और '**अनित्यज्ञान**' को 'वृत्ति'। नित्यज्ञानरूप चैतन्य पुरुष का स्वरूप है अर्थात् अनौपाधिक (विशेषणशून्य) ज्ञानस्वरूपता को ही '**पुरुष**' कहते हैं। अनित्यज्ञानरूप धर्म का अधिष्ठानभूत धर्मी '**चित्त**' है। वृत्तिरूप ज्ञान चित्त की सहज अवस्था है। यह वृत्तिरूपज्ञान चित्तधर्मी के धर्म के रूप से विश्लेषित किया जाता है। वृत्तिरूप ज्ञान को '**चैतन्य**' की संज्ञा कथमपि प्रदान नहीं की जा सकती है। इसलिये वृत्तिरूपज्ञान बुद्धि का परिणाम होने से '**जड़**' है–यह वस्तुस्थिति है। इसके विपरीत स्थिति यह है कि चित्त की व्युत्थित प्रयोगशाला में अविद्या की प्रणाली से समारोपित चित्तवृत्ति, पुरुष को औपाधिक ज्ञान से आत्मीयता करना सिखाती है। फलतः नित्यज्ञान और अनित्यज्ञान '**एकमेव दर्शनम्**' की परिधि में एकीकृत हो जाते हैं।

'**एकमेव दर्शनम्**' की भ्रान्ति से बुद्धि-पुरुष के कौन-कौन से पारस्परिक सम्बन्ध प्रकाश में आते हैं, इसे तत्त्ववैशारदीकार बतलाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तदनेन व्युत्थानावस्थायां मूलकारणमविद्यां दर्शयता तद्धेतुकः संयोगो भोगहेतुः स्वस्वामिभावोऽपि सूचित इति। तमुपपादयन्नाह [1]चित्तमिति। चित्तं स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिन इति संबन्धः। ननु चित्तजनितमुपकारं भजमानो हि चेतनश्चित्तस्येशिता। न चास्य तज्जनितोपकारसंबन्धसंभवः, तदनुपकार्यत्वात्, तत्संयोगतदुपकारभागित्वे च[2] परिणाम-

1. थ द ध – **चित्तमिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – '**चित्तमिति** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **च** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **च** नोपलभ्यते।

प्रसङ्गादित्यत आह—अयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेनेति। न पुरुषसंयुक्तं चित्तम्, अपि तु [1]तत्संनिहितम्। संनिधिश्च[2] पुरुषस्य न देशतः कालतो वा, तदसंयोगात्, किन्तु योग्यतालक्षणः।

इस प्रकार (चित्त की) व्युत्थित अवस्था में (समस्त व्यवहार की) मूलकारणभूता अविद्या का '**स्वत्व**' दिखलाने से दो तथ्य उद्घाटित (सूचित) होते हैं—पहला, अविद्यानिमित्तक बुद्धि-पुरुष का संयोग '**भोग**' का कारण है तथा दूसरा, बुद्धि और पुरुष के '**स्वस्वामिभाव**' संज्ञक सम्बन्ध का नियामक है। इसी तथ्य को उपपादित करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**चित्तमिति**'। '**स्वामी**' पुरुष का '**स्व**' चित्त है—इस प्रकार दोनों में स्वस्वामिभावसम्बन्ध है।

(पूर्वपक्षी की ओर से की गई शंका की निवृत्ति के लिये सिद्धान्ती द्वारा प्रतिपादित उक्त अपसिद्धान्तशून्य निरापद अवधारणा जहाँ पूर्वपक्षी के पिछले कुतर्क को खण्डित (अभिभूत) करती है, वहीं उनमें दूसरे वितर्क को जन्म भी देती है)।सम्प्रति, '**स्वस्वामिभावसम्बन्ध**' की मान्यता पूर्वपक्षी को प्रश्न करने के लिये प्रेरित कर रही है—

शङ्का—चित्त से प्राप्त अनुग्रह (विषयभोग) का सेवन करता हुआ चेतन पुरुष (आत्मा) '**स्व**' स्थानीय चित्त का '**स्वामी**' कहलाता है—यह कथन आक्षेपपूर्ण है। चेतन पुरुष का चित्तजनित उपकार के साथ '**सम्बन्ध**' सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि जड़ चित्त अनुपकारी है। और यदि बुद्धि तथा पुरुष के संयोग से पुरुष को चित्तजनित उपकार का अधिकारी (भागी) माना जाय तो '**परिणामित्व**' की विसङ्गति पुरुषपक्ष में न्यस्त होगी? (जब कि पीछे 'पुरुष' '**अपरिणामित्व**' रूप से सिद्धान्तित हो चुका है)।

समाधान—इस पर (पुरुष में उपकारभागित्व आदि विकारों की आपाततः प्रतीत विसङ्गति को दूर करने के लिए) भाष्यकार का कथन है—'**अयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन इति**'। अर्थात् चित्त चुम्बक के समान सन्निहितमात्र होकर दृश्य रूप से ('स्व' बनकर) पुरुष ('स्वामी') का उपकार करता है। यहाँ (पुरुष के 'असङ्ग' होने से) पुरुषसंयुक्त (पुरुष से सम्बद्ध अर्थात् पुरुषाभिन्न) चित्त विवक्षित नहीं है, अपितु पुरुष सन्निहित (पुरुष के निकटतम स्थित) चित्त ही विवक्षित है। और चित्त का यह सामीप्य (सन्निधि) पुरुष के प्रति न दैशिक (देशकृत) है और न कालकृत है, क्योंकि पुरुष (व्यापक और नित्य होने से) देश और काल की सीमा से परे है। अतः बुद्धि और पुरुष का दैशिक अथवा कालिक संयोग नहीं होता

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **तत्** उपलभ्यते, ख – **तत्** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **च** उपलभ्यते, ख – **च** नोपलभ्यते।

है। (जिज्ञासा है कि यदि बुद्धि और पुरुष का संयोग ही नहीं होता है तो बुद्धि और पुरुष के संयोगनिमित्तक स्वस्वामिभाव की अवधारणा कैसी?–इस निगूढ़ प्रश्न का उत्तर है कि–) यह तो '**योग्यतारूप**' है। अर्थात् दोनों में सन्निधि की योग्यता है।

बालप्रिया–

'**संयोग**:' (सम्+युज्+घञ्)–'**अप्राप्तयोः प्राप्तिस्संयोगः**'–इत्यंभूत अर्थ में यहाँ '**संयोग**' शब्द परिभाषित (रूढ़) नहीं है। क्योंकि अप्राप्तिपूर्वक संयोग की प्राप्ति '**सादि**' है अर्थात् इत्याकारक संयोग '**अनादि**' नहीं है, जब कि योगशास्त्र में प्रकृति-पुरुष के तथाकथित '**संयोग**' को '**अनादि**' कहा गया है। अतः योगशास्त्र में कथित '**संयोग**' शब्द (प्रकृति-पुरुष के) '**सन्निधान**' का ही वाचक है और '**संयोग**' को सन्निधानार्थक मानने पर बुद्धि और पुरुष का अपना-अपना मौलिक स्वरूप भी व्याहत नहीं होता है।

'**अयस्कान्तमणिकल्पम्**' (इ+असुन्=अयस्, कन् (म्) +क्त=कान्त, मण्+इन्=मणि, कृप्+अच्, घञ्+वा=कल्प)–इसके मूल में '**लोहचुम्बकन्याय**' है, जिसका अर्थ है–लोहे और चुम्बक का आकर्षण न्याय। यह प्रकृतिसिद्ध बात है कि लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है। इसी प्रकार प्राकृतिक घनिष्ठ सम्बन्ध या निसर्गवृत्ति के कारण सभी वस्तुएँ एक दूसरे की ओर आकृष्ट होती हैं। प्रकृतार्थ इस प्रकार है–'**अयस्**' को मणि अत्यधिक प्रिय होने से जड़ अयस् में '**गति**' आ जाती है। किन्तु '**अयस्**' में गतिशीलता तभी आती है जब वह मणि के समीप रहता है। इसी प्रकार उपमानभूत चित्त (मणि) उपमेयभूत पुरुष में सन्निधिमात्र से वृत्त्यभिमानरूप उपकार करता है अर्थात् 'अन्य रूप से प्रतीत होने' का प्रभाव डालता है। '**सन्निधि**' की पद्धति से प्रभावित होने के प्रस्तुत किये गये लौकिक तथा दार्शनिक उदाहरणों में अन्तर यह है कि '**अयस्**' की तात्कालिक गतिमत्ता वास्तविक है, किन्तु पुरुष पर पड़ता हुआ प्रतिसंवेदनरूप उपकार प्रतिच्छाया की भाँति अवास्तविक है।

'**सन्निधिः----योग्यतालक्षणः**'–यह विषय '**स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः**' २/२३-सूत्र में उठाया गया है और टीकाकारों ने इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। यहाँ इतना ही ज्ञातव्य है कि जिस '**संयोग**' (सन्निधि) की यहाँ चर्चा का जा रही है वह '**सामान्यसंयोग**' नहीं, अपितु '**भावगतसंयोग**' है।

बुद्धि और पुरुष में '**स्वस्वामिभाव**' सम्बन्ध की पुष्टि हो जाने के पश्चात् उनके साक्षेप स्वभाव को प्रस्तुत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृशक्तिश्चित्तस्य भोग्यशक्तिः। तदुक्तम्–दृश्यत्वेनेति। शब्दाद्याकारपरिणतस्य भोग्यत्वेनेत्यर्थः। भोगश्च यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिश्चित्तस्य धर्मस्तथापि चित्तचैतन्ययोरभेदसमारोपाद्वृत्तिसारूप्यात्पुरुषस्येत्युक्तम्। तस्माच्चित्तेनासंयोगेऽपि तज्ज-

नितो[1]पकारभागिता च[2] पुरुषस्याऽपरिणामिता चेति सिद्धम्। ननु स्वस्वामिसम्बन्धो भोगहेतुरविद्यानिमित्तः, अविद्या तु किंनिमित्ता, न खल्वनिमित्तं कार्यमुत्पद्यते। यथाहुः–

स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता

इति शङ्कामुपसंहारव्याजेनोद्धरति–तस्माच्चित्तवृत्तिबोध इति।[3] शान्तघोरमूढाकारचित्तवृत्त्युपभोगे अनाद्यविद्यानिमित्तत्वादनादिः संयोगो हेतुः, अविद्यावासनयोश्च सन्तानो बीजाङ्कुर[4]सन्तानवदनादिरिति भावः॥४॥

पुरुष में '**भोक्तृत्व**' शक्ति है तथा चित्त में '**भोग्यत्व**' शक्ति है–तदर्थ भाष्यकार कहते हैं–'**दृश्यत्वेनेति**'। '**दृश्यत्व**' पद का अर्थ '**भोग्यत्व**' है अर्थात् शब्दादि विषयाकाराकारित चित्त में अर्थात् सवृत्तिक चित्त में ही '**दृश्यत्व**' अर्थात् '**भोग्यत्व**' रूप से '**स्वामी**' पुरुष का '**स्व**' बनने की शक्ति निहित है। यद्यपि शब्दाद्याकार (विषयाकार) वृत्तिरूप '**भोग**' चित्त का धर्म (व्यापार) है, तथापि बुद्धि और पुरुष में आरोपित अभेद के कारण (अविद्या के कारण इन तत्त्वों का तात्त्विक भेद आवृत हो जाने के कारण) पुरुष वृत्तिस्वरूप होता है अर्थात् असमाधिकाल=व्युत्थानकाल में जो शान्त, घोर तथा मूढ़ रूप चित्त की वृत्तियाँ हैं, उनसे अभिन्न वृत्ति वाला पुरुष समझा जाता है। अतः चित्त (और उसके वृत्ति रूप धर्म) के साथ (असंग) पुरुष का संयोग न होने पर भी चित्त के द्वारा सम्पादित '**भोग**' का अधिकारी पुरुष बनता है और इससे पुरुष का '**अपरिणामित्व**' स्वरूप भी व्याहत नहीं होता है–ऐसा सिद्धान्त स्वीकृत है।

शङ्का–(पुरुष में) भोगनिष्पत्ति का हेतुभूत स्वस्वामिभावसम्बन्ध '**अविद्या**' के कारण है (चित्त और पुरुष के स्वस्वामिसम्बन्ध के धरातल पर पुरुष में जिस '**भोग**' की काल्पनिक निष्पत्ति होती है–उसका सञ्चालन-सूत्र '**अविद्या**' के पास है) तो '**अविद्या**' का कारण क्या है अर्थात् '**अविद्या**' का सञ्चालक कौन है? क्योंकि विना किसी निमित्त के कार्य सम्पादित नहीं हो सकता है। अर्थात् अमूलाविद्या प्रकृति-पुरुष का भोग कैसे सम्पादित कर सकती है। जैसा कि कहा गया है–'**स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किंकृता**' अर्थात् स्वप्नादि के समान अविद्या की प्रवृत्ति होती है, और इस प्रवृत्ति का प्रयोजन क्या है?

समाधान–(तथाकथित) विषय-समापन के व्याज से भाष्यकार उक्त शंका का समाधान करते हैं–'**तस्माच्चित्तवृत्तिबोध इति**'। (पुरुष द्वारा) शान्त-घोर-मूढ़ाकारवृत्ति अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक वृत्ति का 'उपभोग' होने में अनादि अविद्या (ही)

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **जनित**०, न – **जनयित**०।
2. क ग घ छ ज झ त न – **च** उपलभ्यते, ख च थ द ध – **च** नोपलभ्यते।
3. थ द ध – **इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **सन्तान**०, उपलभ्यते, थ ध – **सन्तान**० नोपलभ्यते।

कारण=हेतु है। अतः '**अविद्या**' प्रकृति-पुरुष के अनादि संयोग का कारण है। अविद्या और भोगवासना की निर्बाध निरन्तरता (श्रृंखला) भी बीजाङ्कुरन्याय के समान अनादि है॥४॥

बालप्रिया–

'**अविद्या**', तज्जन्य प्रकृति-पुरुष '**संयोग**' तथा संयोगजन्य विषयभोगरूप '**वासना**'– ये तीनों '**अनादि**' किन्तु '**सान्त**' हैं। अनवस्थादोष से बचने के लिये इनका '**अनादित्व**' और मोक्षसम्पादन के लिये इनका '**सान्तत्व**' अभिप्रेत है॥४॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति–कथं तर्हीति। कूटस्थाऽपि चितिः केन प्रकारेण तर्हि व्युत्थाने तिष्ठतीत्यर्थः। असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानं बोध्यम्, अत्र प्रत्युत्तरं सूत्रं हेतुपदमध्याहृत्य पठति–दर्शितविषयत्वादिति। वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

भाष्यकार सूत्रान्तर को अवतरित करने के लिये पूछते हैं–'**कथं तर्हीति।**'

शङ्का–(चितिशक्ति के सर्वदा एकरस ज्ञानात्मक रूप में अवस्थित रहने पर यह प्रश्न उठता है–) तो फिर व्युत्थान दशा में, कूटस्था=अपरिणामिनी होती हुई भी चितिशक्ति, किस प्रकार से अवस्थित रहती है अर्थात् चित्त की व्युत्थित अवस्था में चितिशक्ति किस प्रकार की दिखाई पड़ती है? (सम्प्रज्ञात की तुलना में क्षिप्तादि तीन भूमियों की भाँति) असम्प्रज्ञात की अपेक्षा सम्प्रज्ञात को भी यहाँ व्युत्थानरूप समझना चाहिये।

समाधान–यहाँ भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट प्रश्न के उत्तरपरक सूत्र को हेतुपद का अध्याहार करते हुए पढ़ते हैं। अध्याहृत हेतुपरक पद है–'**दर्शितेति।**' सूत्र है–'**वृत्तीति।**'

योगवार्त्तिकम्

इतरत्र व्युत्थाने चित्तेन सह द्रष्टुर्वृत्तौ सारूप्यमित्यर्थः। व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्बुद्धिपुरुषवृत्त्योः सारूप्यम्, तदेतद् व्याचष्टे–व्युत्थानेति। इतरत्र व्युत्थाने याश्चित्तस्य वृत्तयो दीपस्य शिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुरा अवस्थापरिणामाः मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवत् [1]**स्वसंयुक्तार्थाकारास्त्रिगुणकार्यत्वात् सुखदुःखमोहाश्रयतया शान्तघोरमूढाख्याः भवन्ति ताभिरविशिष्टा अविलक्षणा वृत्तयो यस्य**[2] **पुरुषस्य स तथा।**

'**इतरत्र**' अर्थात् व्युत्थानकाल में चित्त के साथ द्रष्टृरूप पुरुष का वृत्त्यात्मक सारूप्य होता है अर्थात् व्युत्थानकाल में बिम्ब और प्रतिबिम्बरूप पुरुषवृत्ति और बुद्धिवृत्ति की समानरूपता होती है, इसी तथ्य की व्याख्या भाष्यकार करते हैं–

---

1. क ग घ च छ – **स्वसंयुक्त०**, ख – **स्वयंयुक्त०**।
2. क ग घ च छ – **यस्य**, ख – **अस्य**।

'व्युत्थानेति।' चित्त की व्युत्थित दशा में दीपशिखा के समान द्रव्यरूप, अस्थिर, अवस्थापरिणामविशिष्ट, सांचे में डाले गये तरल (पिघले) ताँबे की भाँति अपने से संयुक्त (अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के पश्चात्) पदार्थ के आकार से आकरित होने वाली, तथा त्रिगुण का कार्य होने के कारण सुख-सुख-मोहाश्रित होकर शान्त, घोर तथा मूढ संज्ञा को प्राप्त होने वाली जो चित्त की वृत्तियाँ हैं, उनसे **'अविशिष्ट'** अर्थात् अविलक्षण अर्थात् समरूप (प्रतीत होने वाली) वृत्तियाँ जिस पुरुष की होती है, वह पुरुष उन वृत्तियों वाला हो जाता है।

योगवार्त्तिकम्

वृत्तिश्च गुणो न भवति भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति सांख्यसत्राद्, भागो विभक्तांशोऽग्निविस्फुलिङ्गवदिति कुतः पुनरपरिणामिनो वृत्तिस्तत्रोक्तम्-दर्शितविषयत्वादिति। बुद्ध्या निवेदितविषयत्वादित्यर्थः। निवेदनं च स्वारूढ़विषयस्य प्रतिबिम्बरूपेण चित्याधानम्,

गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति ।
अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ इति विष्णुपुराणादिभ्यः

'वृत्ति' को गुण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि **'भागगुणाभ्यां...सर्पतीति'** इत्याकारक सांख्यसूत्र के अनुसार अग्नि के स्फुलिङ्ग की भाँति वृत्ति (रूप स्फुलिङ्ग) गुण (रूप अग्नि) का **'भाग'** अर्थात् विभक्तांश है।

शङ्का—यदि **'वृत्ति'** गुण का विभक्तांश है तो अपरिणामी पुरुष की 'वृत्ति' की पुरुष से विभक्तांशता कैसे बनेगी?

समाधान—इस पर भाष्यकार ने कहा है—**'दर्शितविषयत्वादिति'**। बुद्धि के द्वारा 'निवेदित' अर्थात् दर्शित (समर्पित) विषय वाला होने से (अपरिणामी चितिशक्ति की विषयवृत्ति कही गई है)। और **'निवेदन'** शब्द का अर्थ है—बुद्धि द्वारा विषयाकाराकारित विषय का प्रतिबिम्बरूप से चितिशक्ति में प्रतिनिधान (स्थापित) किया जाना। यह तथ्य **'गृहीतानि...विश्वात्मने नमः'** इत्याकारक विष्णु पुराणादि के वचनों से सिद्ध होता है। वाक्य का अर्थ है—'(जो चित्त) इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों को आत्मा में रखता है, उस विश्वरूप अन्तःकरण के लिये नमस्कार है।'

योगवार्त्तिककार **'निवेदितविषयत्व'** को निवेदन-प्रक्रिया द्वारा सुस्पष्ट करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

एतदुक्तं भवति--यद्यपि पुरुषश्चिन्मात्रोऽविकारी तथाऽपि बुद्धेर्विषयाकारवृत्तीनां पुरुषे यानि प्रतिबिम्बानि तान्येव पुरुषस्य वृत्तयः, न च ताभिरवस्तुभूताभिः परिणामित्वम् स्फटिकस्येवातत्त्वतोऽन्यथाभावादिति। तदुक्तं साङ्ख्ये—जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किं त्वभिमान इति। सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति—चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् इति। एतेन सुखदुःखमोहगुणकवृत्तिसारूप्याद् व्युत्थाने चितिरपि दुःखादिमतीव यद्

यद् भवति तदेव चितेर्दुःखभोगो दुःखाभ्यवहरण[1]रूपः प्रतिबिम्बरूपदुःखहानमेव चासंप्रज्ञातस्य फलमिति सूत्रद्वयेन सिद्धम्।

अभिप्राय यह है–यद्यपि चैतन्यस्वरूप पुरुष '**अविकारी**' अर्थात् अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) है तथापि बुद्धि की विषयाकारवृत्तियाँ जो पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हैं, वे बुद्धिवृत्तियाँ ही पुरुष की वृत्तियाँ कही जाती हैं और इन प्रतिबिम्बित अवास्तविक वृत्तियों से पुरुष में परिणामित्व नहीं आता है अर्थात् पुरुष बुद्धिवत् परिणामी नहीं होता है। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक का, जपाकुसुम से समर्पित लौहित्य वर्ण के कारण, अतात्त्विक अन्यथाभाव समझा जाता है उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति से अभिन्न पुरुष वृत्तिमान् प्रतीत होता है। वस्तुतस्तु अवास्तविक वृत्तिप्रतिबिम्बरूप वस्तु से उसमें तात्त्विक अन्यथाभाव नहीं आता है। जैसा कि सांख्यसूत्र में कहा गया है–'**जपास्फटिकयोरिव...त्वभिमान इति**' ६/२८ अर्थात् 'जपाकुसुम और स्फटिक मणि के समान बुद्धि का पुरुष में '**उपराग**' नहीं है, अपितु '**अभिमान**' है।' सूत्रकार भी आगे बतलायेंगे–'**चिते...संवेदनमिति**' ४/२२ अर्थात् 'प्रतिसंक्रमणरहित पुरुष के उस (बुद्धिवृत्ति) के रूप का हो जाने पर (उसको) अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है।' इस प्रक्रिया से सुख, दुःख तथा मोहगुणक बुद्धिवृत्ति की सरूपता प्राप्त होने से व्युत्थानावस्था में चितिशक्ति में जो दुःखादिमत्त्व सा हो जाना है अर्थात् पुरुष का दुःखादि विषय वाला प्रतीत होना है, वही चितिशक्ति का '**दुःखाभ्यवहरणरूप**' दुःखभोग है और प्रतिबिम्बरूप 'दुःखहान' ही असम्प्रज्ञात का फल है–इस प्रकार दो सूत्रों से यह सिद्धान्तित होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुषवृत्ति को पारमार्थिक मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ये त्वहं सुखी दुःखीत्यादिप्रत्ययादात्मन एव पारमार्थिकीं वृत्तिमिच्छन्ति त एवं प्रत्याख्येयाः–स्वत एव चेदात्मनः [2]परिणामास्तर्हि सर्वा[3]वयवावच्छेदेन सर्वदा वृत्तिप्रसंगादनिर्मोक्षादिप्रसङ्गः। यदि मनःसंयोगो निमित्तं तर्हि लाघवादेकेन मनस्त्वेनैव हेतुताऽस्तु, आत्ममनस्तत्संयोगानां त्रयाणां हेतुत्वे गौरवात्, अनुमानं चार्थाकारपरिणामसुखादिकमन्तःकरणोपादानकं बाधकाभावे सति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद् मनःसंयोगवदिति। भोगे व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। बुद्धेः स्वभोक्तृत्वे च बाधकं [4]कर्तृकर्मविरोधं सूत्रकारो वक्ष्यति।

---

1. क ख घ च छ – **रूपः**, ग – **स्वरूपः**।
2. क ख घ च छ – **परिणामाः**, ग – **परिणामः**।
3. क घ च छ – **अवयव०** उपलभ्यते, ख ग – **अवयव०** नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ – **कर्तृकर्म०**, ग – **कर्मकर्तृ०**।

अहं कर्त्ता, सुखीत्यादिप्रत्ययास्तुअहं गौर इत्यादिभ्रमशतान्तःपातित्वेनाप्रामाण्य[1]ज्ञानास्कन्दिताः नोक्तानुमानस्य बाधकाः., प्रत्युत–

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
य पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति

इत्यादि स्मृत्युपोद्बलितेनोक्तानुमानेनैव बाध्यन्ते देहभिन्नात्मसाधकैरनुमानैर[2]हं गौर इत्यादिप्रत्ययवदिति दिक्।

'मैं सुखी हूँ', मैं दुःखी हूँ'–इत्याकारक अनुभव के कारण जो लोग पुरुष (आत्मा) की ही पारमार्थिक (यथार्थ) वृत्ति (के मत) को स्वीकार करते हैं, वे लोग इस प्रकार भर्त्सना के योग्य हैं अर्थात् उनका मत इस प्रकार निराकरणीय है–यदि आत्मा का परिणाम, स्वाभाविक (यथार्थ) माना जाय तो पुरुष के समस्त अवयवों का परिणाम से मर्यादित होने पर हमेशा आत्मवृत्ति का प्रसङ्ग उठेगा और इससे मोक्ष न होने की परिस्थिति आयेगी। यदि उपरिनिर्दिष्ट अनुपपत्ति के निराकरण के लिये पूर्ववादी ऐसा कहे कि–आत्ममनःसंयोग आत्मपरिणाम (पुरुषवृत्ति)का प्रयोजक है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लाघवगुण के कारण अकेला मन ही परिणाम का हेतु माना गया है। आत्मा, मन तथा उनके संयोग–इन तीनों में परिणामहेतुता मानने पर गौरवदोष प्रसक्त होगा। तदर्थ अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–

प्रतिज्ञा–**अर्थाकारपरिणामसुखादिकमन्तःकरणोपादानकम्**–अर्थात् सुखादिक विषयाकार परिणाम अन्तःकरणरूप उपादानकारण वाला है।

हेतु–**बाधकाभावे सति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्**–अर्थात् बाधक का अभाव रहते हुए अन्वयव्यतिरेकानुविधायी होने से।

उदाहरण–**मनःसंयोगवत्**–अर्थात् मनःसंयोग के समान।

उक्त अनुमान में भोग में व्यभिचार का वारण करने के लिये **'बाधकाभावे सति'** यह अंश कहा गया है। (तात्पर्य यह है कि दुःखादि अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः सर्वदा भोगापत्ति की स्थिति आ सकती है। इसलिये भाष्यकार ने **'बाधकाभावे सति'** इस अंश को हेतु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। इससे यह फलित होता है कि सुख-दुःख की अभावात्मकता में कोई प्रमाण न होने से सर्वदा सुखाद्यन्यतर= सुख अथवा दुःख की स्थिति बनी रहती है। किन्तु एक ऐसी भी तटस्थावस्था है जब सुख-दुःखानुभूति नहीं होती है और वह अवस्था है-मोक्ष। निष्कर्ष यह हुआ कि अन्तःकरण की सुखादि के प्रति उपादानकारणता तभी तक सम्भव है जब तक

---

1. क घ च छ – **ज्ञान०**, ख ग – **शङ्का०**।
2. क ग घ च छ – **अहं गौरः**, ख – **अहं गौरहं गौरः**।

अन्तःकरण की वृत्ति को रोकने वाला कोई नहीं रहता है। अतः तत्त्वज्ञान के पश्चात् असम्प्रज्ञात में समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से पुरुष की स्वरूपावस्थितिरूप विमुक्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है)। सूत्रकार स्वयं आगे बतलायेंगे कि बुद्धि को ही भोक्त्री (और भोग्या दोनों) मानने पर कर्मकर्तृविरोधरूप बाधा उपस्थित होती है। **'मैं कर्त्ता हूँ', मैं सुखी हूँ'**–इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) तो **'मैं गौर हूँ'**–इत्यादि सैकड़ों भ्रमज्ञानानुपाती प्रत्ययों के समान होने से अप्रामाण्यज्ञान से आक्रमित होते हैं अर्थात् अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। अतः **'मैं सुखी हूँ'**–इत्यादि वाक्य उपरिनिर्दिष्ट अनुमान के बाधक (बाधास्वरूप) नहीं (कहे जा सकते) हैं। अपितु **'प्रकृत्यैव...पश्यति'** अर्थात् 'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बात को तत्त्वतः समझ लेता है कि प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में विद्यमान रहते हैं तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही देखता है'–इत्याकारक स्मृतिवाक्य से **'उपोद्बलित'** अर्थात् समर्थित (परिपुष्ट) उक्त अनुमान प्रयोग से ही वे (**मैं सुखी हूँ** इत्यादि) वाक्य उसी प्रकार खण्डित हो जाते हैं जिस प्रकार देह से भिन्न आत्मा के साधक (अर्थात् आत्मतत्त्व को सिद्ध करने वाले) अनुमान-प्रयोगों से **'मैं गौर हूँ'** इत्यादि वाक्य खण्डित हो जाते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अन्य योगाचार्यों के वचन को उद्धृत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्वोक्ते बुद्धिपुरुषयोर्वृत्तिसारूप्ये पंचशिखाचार्यसूत्रं प्रमाणयति–तथा च सूत्रमिति। ख्यातिर्बुद्धिर्दर्शनं पुरुषस्य। इत्यन्तम् च सूत्रम्। तथा च ख्यातिरेव दर्शनमित्ये[1]**कमेवैकाकारमेव दर्शनं भ्रमो लोकानामिति सूत्रार्थः। इतिशब्दश्चान्यो भाष्ययोजनार्थं पूरणीयः।**

भाष्यकार अपने द्वारा कही गई बुद्धि-पुरुष की वृत्तिसरूपता अर्थात् अविशिष्टवृत्तिता में (अर्थात् तथ्य को सिद्ध करने के लिये) **पञ्चशिखाचार्य** के सूत्र को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं–**'तथा च सूत्रमिति'**। सूत्र में प्रयुक्त **'ख्याति'** शब्द का अर्थ है–बुद्धि अर्थात् पुरुषविषयक दर्शन (ज्ञान)। पञ्चशिखाचार्य का सूत्र **'इति'** शब्दान्त तक है। इस प्रकार **'ख्यातिरेव दर्शनम्'** अर्थात् बुद्धि-पुरुष के एकाकार ज्ञान का ही प्राणियों को भ्रम होता है, ऐसा सूत्रार्थ है। (**'तथा च सूत्रमिति'**-इस प्रथम **'इति'** शब्द के अतिरिक्त) दूसरा जो 'इति' शब्द है, वह भाष्य की योजना के लिये (अर्थात् सूत्र को भाष्य से पृथक् करने के लिये) है, अतः पूरणीय (वाक्यपूर्ति का द्योतक) है।

---

1. **क ख ग घ च** – **एकमेव** उपलभ्यते, **छ** – **एकमेव** नोपलभ्यते।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुषज्ञान के लिये योगसम्मत बिम्ब-प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया का सयुक्तिक पुष्टीकरण, पूर्वपक्ष के परिप्रेक्ष्य में, करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु सविषयवृत्तेः स्फुरणं चेतनसंयोगादेव भवतु यथा सजलघटादिप्रकाशः सूर्यसम्बन्धात्, अतः किमर्थं चैतन्ये वृत्तिप्रतिबिम्बं वृत्तौ वा [1]वक्ष्यमाणचैतन्यप्रतिबिम्बं कल्प्यते, सुख्यहं जानामीति बुद्धिपुरुषयोरेकताभ्रमस्तु परस्परप्रतिबिम्बं विनाऽपि दूरस्थवनस्पत्योरिव दोषवशादेव संभवति, तत्कथं बुद्धिपुरुषयोर्वृत्तिसारूप्यसिद्धिरिति? अत्रोच्यते– चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम् अन्यथा कूटस्थनित्यविभुचैतन्यस्य सर्वसंबन्धात्सदैव सर्वं वस्तु सर्वै[2]र्ज्ञायेत, न हि सूर्यसंबन्धे सति घटाद्यप्रकाशो दृष्ट इति।

शङ्का–चेतन (पुरुष) के संयोग से ही विषयसहित वृत्ति का स्फुरण उसी प्रकार मानना चाहिये, जिस प्रकार सूर्य के सम्बन्ध से अर्थात् सूर्यरश्मि के प्रकाश से जलापूरित घटादि विषयों का प्रकाश होता है अर्थात् विषय का ज्ञान होता है। अतः किस उद्देश्य से चैतन्य में वृत्ति का प्रतिफलन (प्रतिबिम्ब) अथवा चित्तवृत्ति में विवेच्यमान (आगे बतलाये जाने वाले) चैतन्य-प्रतिबिम्ब (चैतन्य के प्रतिफलन) की कल्पना की जाय? दूसरी बात यह है कि–'**मैं सुखी हूँ**', '**मैं जानता हूँ**'–इत्याकारक बुद्धि-पुरुष की जो एकत्व प्रतीति है, वह तो (बुद्धि-पुरुष के) परस्पर प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रतिफलन के विना भी उसी प्रकार (अविद्यादि) दोष के कारण सम्भव हो सकती है, जिस प्रकार (काच, कामलादि) दोष के कारण दूरवर्ती दो वनस्पतियाँ (वृक्ष) एकरूप प्रतिभासित होती हैं, तो फिर कैसे बुद्धि-पुरुष की वृत्तिसरूपता को सिद्ध किया जा रहा है?

समाधान–इस विषय में बतलाया जा रहा है–चेतन में तो बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना अनिवार्य है, अन्यथा कूटस्थनित्य तथा व्यापक पुरुष का सभी वस्तुओं से सर्वदा संयोग बना रहने से सभी वस्तुएँ (विषय) सभी पुरुषों के द्वारा सर्वदा ज्ञात रहने लगेंगी। क्योंकि सूर्य के साथ सम्बन्ध होने पर घटादि अप्रकाशरूप नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

बालप्रिया–

'**सर्वैर्ज्ञायेत**'– भाव यह है कि सूर्यालोक में पदार्थ का प्रकाशित होना जिस प्रकार अनिवार्य है, उसी प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया को माने विना विषयसंयुक्त व्यापक पुरुष को सर्वदा विषयज्ञान बना रहेगा। किन्तु यह अनभिप्रेत

---

1. क ख ग घ – **वक्ष्यमाणं**, च छ – **बक्ष्यमाण**०।
2. क ग घ च छ – **ज्ञायेत**, ख – **ज्ञायते**।

(अव्यवहारिक) प्रसंग है। इसके निवारणार्थ पुरुष के विषयज्ञान के लिये चेतन में बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना अनिवार्य है।

आगे शंका की जा रही है–

योगवार्त्तिकम्

न चाज्ञानाख्यं ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतन्ये कल्पनीयम्, [1]नित्यज्ञानस्य प्रतिबन्धासंभवात्,

दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः।

इत्यादिभिरात्मन्यज्ञानप्रतिषेधाच्च।[2] अतोऽर्थभानस्य कादाचित्कत्वाद्युपपत्तयेऽर्थाकारतैवार्थग्रहणं वाच्यम्, बुद्धौ तथा दृष्टत्वात्। बुद्धावपि हि संयोगमात्रस्यार्थग्रहणत्वे [3]ऽतीन्द्रियस्याप्यर्थस्य बुद्धिग्राह्यत्वप्रसंगात्। सा चार्थाकारता बुद्धौ परिणामरूपा, स्वप्नादौ विषयाभावेन तत्प्रतिबिम्बासंभवात्। पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा, विद्यमानवृत्तिमात्रग्राहके पुंसि प्रतिबिम्बेनैवोपपत्तेरिति न केवलं तर्कादेव चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बं कल्प्यते, किंतु–

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥
यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः।

इत्यादिस्मृतिशतैरपीति।

शङ्का–(यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि पुरुष के कादाचित्क ज्ञान की उपपत्ति के लिये) चैतन्य में ज्ञान के अवरोधक '**अज्ञान**' की कल्पना कर लेनी चाहिये?

समाधान–पुरुष में ज्ञानप्रतिबन्धक '**अज्ञान**' की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि '**नित्यज्ञान**' का प्रतिबन्धित होना सम्भव नहीं है। अर्थात् पुरुष की अपने नित्य ज्ञानात्मक स्वरूप से अज्ञानवशात् प्रच्युति नहीं हो सकती है और '**दुःखाज्ञान-- नात्मनः**' अर्थात् 'प्रकृति के दुःख और अज्ञानरूप धर्म हैं, न कि आत्मा के'–इत्यादि प्रमाणों (वाक्यों) के द्वारा आत्मा में '**अज्ञान**' धर्म का निषेध किया गया है। अतः विषयज्ञान के कादाचित्कत्वादि की उपपत्ति के लिये अर्थात् पुरुष को अर्थभान कभी-कभी होता है, इस औचित्यपूर्ण निश्चय के लिये अर्थाकारता को ही '**अर्थग्रहण**' कहना चाहिये, क्योंकि बुद्धि में इस प्रकार की अर्थाकारता देखी जाती है और

---

1. क ग घ च छ -- नित्य०, ख – विभुकूटस्थनित्य०।
2. ख – न चैवमपि तत्तद्वृत्तिविशेषा एव तत्तच्चैतन्यस्य विषयताख्यस्वरूपसंबन्धोऽस्त्विति वाच्यं, वृत्तिव्यक्तिविशेषाणामननुगमेन दुर्ज्ञेयत्वात्। न च स्वस्वोपाधिवृत्तित्वेन वृत्तीनामनुगमः स्यादिति वाच्यम्। स त्वस्य भोगघटितया भोगस्य च ज्ञानरूपतया ज्ञानव्यवस्थायाश्च प्रागनिर्धारणादिति (**प्रतिषेधाच्च** – पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – न...इति नोपलभ्यते।
3. क घ च छ – अतीन्द्रियस्याप्यर्थस्य, ख ग – अतीन्द्रियार्थस्यापि।

और बुद्धि में भी पदार्थ के संयोगमात्र को अर्थात् बुद्धि और विषय के केवल संयोग को '**अर्थग्रहण**' का प्रयोजक मानने पर अतीन्द्रिय पदार्थ के भी बुद्धि द्वारा ग्राह्य होने का प्रसंग आयेगा। किञ्च यह अर्थाकारता बुद्धि में '**परिणामरूपा**' है अर्थात् बुद्धि के विषयाकार परिणाम को '**अर्थाकारता**' कहते हैं, क्योंकि स्वप्नादि में विषय का अभाव होने से निर्विषयक बुद्धि अर्थात् निर्वृत्तिक चित्त (विषयानाकारित बुद्धि) का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं रहता है। तथाकथित अर्थाकारता पुरुष में '**प्रतिबिम्बरूपा**' है (अर्थात् पुरुष का विषयाकार परिणाम नहीं होता है, अपितु पुरुष में विषयाकाराकारित बुद्धि-प्रतिबिम्ब को ही पुरुष का प्रतिबिम्बाख्य परिणाम कहते हैं), क्योंकि पुरुष में विषयाकाराकारित बुद्धि का ग्राहकत्व प्रतिबिम्बविधया ही उपपन्न हो जाता है। केवल युक्ति के द्वारा ही चितिशक्ति में प्रतिबिम्ब की कल्पना नहीं की जाती है, अपितु '**तस्मिंश्चिद्--परमपूरुषः**'—इत्यादि सैकड़ों स्मृतिवाक्यों से भी यह तथ्य (चितिशक्ति में विषयाकाराकारित बुद्धि का प्रतिबिम्ब) प्रमाणित होता है। स्मृतिवाक्यों का अर्थ है—'अतिधवल चिद्रूप दर्पण में समस्त दृश्य पदार्थ उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जिस प्रकार जलाशय में तटवर्ती वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं। रञ्जक जपाकुसुमादि के सामीप्य से जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि मनुष्यों को लाल दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्ति के सामीप्य से पुरुष वृत्तिमान् प्रतीत होता है।'

पुरुष में बुद्धिप्रतिबिम्ब के विषय में पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है—

योगवार्त्तिकम्

न चैवं संस्कारशेषा बुद्धिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता भावादित्यसंप्रज्ञातयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम्, परमाणोरिव वृत्त्यतिरिक्तानां प्रतिबिम्बसमर्पणासामर्थ्यस्य फलबलेन कल्पनात्। अनादिस्वस्वामिभावस्यैव प्रतिबिम्बनियामकतया वक्ष्यमाणत्वात्तु न परबुद्धिवृत्तेर्भानम्। अत एव पुरुषार्थवत्येव बुद्धिः पुरुषस्य विषय इति सांख्यसिद्धान्तो विवेकख्यातिविषयभोगौ च पुरुषार्थाविति। यथा च चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमेवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चैतन्यस्य भानानुपपत्तेः; स्वयं साक्षात्स्वदर्शने कर्मकर्तृविरोधेन बुद्ध्यारूढतयैवात्मनो घटादिवज्ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्। तथा च वक्ष्यति सूत्रकारः—द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थमिति।[1] बुद्धावात्मप्रतिबिम्बमेव च तान्त्रिका बुद्धेश्चिच्छायाऽऽपत्तिरित्यात्माकारतेति प्राहुः।[2] [3]प्रतिबिम्बोपाधौ बिम्बाकारो बुद्धेः परिणाम एव, स च साक्षिभास्य इति।

---

1. ख – नन्वेवं वृत्तौ चैतन्यप्रतिबिम्ब एव वृत्तिचैतन्ययोरन्योन्यविषयतास्तु किमिति चैतन्येऽपि प्रतिबिम्बक्लृप्त इति चेन्न विनिगमनाविरहेणाऽन्योन्यस्मिन्नन्योन्यप्रतिबिम्बसिद्धेः। वृत्तिसारूप्यसूत्रादिभ्यश्च घटादिबाह्यस्थले तत्तदर्थाकारताया एव तत्तद्विषयतात्वसिद्ध्या अन्तरपि तत्त्यागानौ-

शङ्का–यदि पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाय तो संस्कारशेषात्मक बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ने से असम्प्रज्ञात योग ही उपपन्न न हो सकेगा?
समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार (नीरूप) परमाणु का प्रतिबिम्ब पड़ना असम्भव रहता है, उसी प्रकार वृत्ति से भिन्न (विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति के अतिरिक्त) मात्र संस्कारों (संस्कारशेष बुद्धि) में प्रतिबिम्बरूप प्रतिफलन का असामर्थ्य फलबलकल्प्य है अर्थात् फलरूप कार्य से यह अनुमान किया जाता है कि (वृत्तिजन्य) संस्कारों में प्रतिबिम्बजनकता नहीं है। दूसरी युक्ति यह है कि अनादि स्वस्वाभिभावसम्बन्ध को ही प्रतिबिम्ब के नियामक रूप से आगे बतलाया जायेगा, इसलिये पुरुष को दूसरे की बुद्धिवृत्ति का ज्ञान न हो पायेगा। अतः सांख्य (सांख्ययोग) सिद्धान्त के अनुसार पुरुषार्थवती बुद्धि ही पुरुष का (पुरुषज्ञान का) विषय बनती है अर्थात् पुरुषार्थवती बुद्धि ही विषयत्वेन पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है और विवेकख्याति तथा विषयभोग–ये दो (बुद्धि के) पुरुषार्थ हैं।

बुद्धि तथा पुरुष के परस्पर प्रतिबिम्ब का समर्थन करते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–जिस प्रकार बुद्धि का चितिशक्ति में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में भी पड़ता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा बुद्धिवृत्ति का अपने को चैतन्यवती समझना अनुपपन्न होगा। कर्मकर्तृविरोध के भय से यह भी नहीं कहा जा सकता है कि बुद्धि साक्षात् अपने को देखती है। अतः जैसे घटादि बुद्धि में आरूढ़ अर्थात् प्रतिबिम्बित होने से ही ज्ञेय समझे जाते हैं, वैसे ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ पुरुष ज्ञेय कहलाता है। सूत्रकार स्वयं **'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्'** ४/२३ सूत्र द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त को आगे बतलायेंगे। तान्त्रिक लोग बुद्धि में आत्मप्रतिबिम्ब को ही बुद्धि की चिच्छायापत्तिरूप आत्माकारता कहते हैं। पुरुषप्रतिबिम्बरूप उपाधि में बुद्धि का बिम्बाकार परिणाम ही होता है और यही **'साक्षिभास्य'** है।

बालप्रिया–

'अनादिस्वस्वामिभावस्य'– इस सिद्धान्त का प्रतिपादक सूत्र है– **'स्वस्वामिशक्त्योः**

चित्याच्चेति (**सर्वार्थमिति** – पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **नन्वेवं...चेति** – नोपलभ्यते।

2. क ग घ च छ -- **प्राहुः**, क – **आहुः**।

3. क ग घ च छ – **प्रतिबिम्बोपाधौ बिम्बाकारो बुद्धेः परिणाम एव, स च साक्षिभास्य इति**, ख – **प्रतिबिम्बः चाधिष्ठाने बिम्बाकारो बुद्धेः परिणाम एव सौपाधिकभ्रमस्यैव प्रतिबिम्बशब्दार्थत्वात् तदभाववति तदाकारवृत्तेरेव भ्रमात्। स च साक्षिभास्य इति।**

स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः' २/२३।

'पुरुषार्थवत्येव बुद्धिः---सांख्यसिद्धान्तः'—तदर्थ बयालीसवीं सांख्यकारिका है—**पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥**

'बिम्बाकारो बुद्धेः परिणामः'—सरलार्थ यह है—जलादि में जो सूर्यादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस प्रतिबिम्ब के बिम्बरूप से सूर्यादि नहीं, अपितु तदाकारा बुद्धिवृत्ति ही गृहीत होती है। इस प्रकार वृत्ति के ही सर्वत्र बिम्बरूप से होने के कारण कहीं भी स्वरूप (सूर्यादि) का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। इस प्रकार सर्वत्र बुद्धिवृत्ति का ही परिणाम मानने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है और बिम्बस्थानीय वृत्ति के ज्ञान के लिये वृत्त्यन्तर को स्वीकार करने में अनवस्थादोष आता है। इसलिये बुद्धिवृत्ति को **'साक्षिभास्य'** कहा गया है।

परस्परबिम्बप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को सुस्पष्ट करते हुए आगे कहा जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

एतेन नीरूपत्वाद् बुद्धिपुरुषयोर[1]न्योन्यं प्रतिबिम्बनं न सम्भवतीत्यपास्तम्। उभयत्रोभयाकारबुद्धिपरिणामस्यैव प्रतिबिम्बशब्देनात्र विवक्षितत्वात्, जलादावपि सूर्याद्याकारबुद्धिपरिणामस्यैव सूर्यादिप्रतिबिम्बितत्वाच्च। तदेवं बुद्ध्यात्मनोः परस्परप्रतिबिम्बरूपाद्दोषादेवैकताभ्रमो[2]ऽहं कर्त्ता सुखी जानामीत्यादिरूप इति। तदेतत्[3]परस्परं प्रतिबिम्बं साङ्ख्यकारिकायामिवशब्दाभ्यामुक्तम्—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः

इति दिक्। यच्चैतच्चैतन्ये बुद्धिवृत्तिसारूप्यमुक्तं चैतन्यस्य [4]बुद्ध्याकारतारूपम्। इदमेव चैतन्यस्यार्थोपरक्तवृत्तिभानम्, तस्य चाकारोऽयं घट इत्यादिरूप एव, अन्यथा वृत्तिसारूप्यानुपपत्तेः। न तु वृत्तिबोधस्य पृथगाकारोऽस्ति।[5] घटमहं जानामि दुःखितोऽहमित्यादिकं तु बुद्धेरेवाकारान्तरम्, पुरुषस्यापरिणामित्वाद् अभ्रान्तत्वाच्चेति। तथा च सूत्रकारो वक्ष्यति-

---

1. क — **अन्यं**, ख ग घ च छ — **अन्योन्यम्**।
2. क ग घ च छ — **अहं कर्त्ता सुखी**, ख — **अहं सुखी**।
3. क ख च छ — **परस्परं**, ग घ — **परस्पर०**।
4. क घ च छ — **बुद्ध्याकारता**, ख ग — **बुद्धिवृत्त्याकारता**।
5. ख — **वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव वृत्तिबोधरूपत्वात्** (**अस्ति** — पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ — **वृत्त्य........वात्** नोपलभ्यते।

चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनमिति।[1]

इस प्रक्रिया से नैयायिकों की यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि नीरूप होने के कारण बुद्धि-पुरुष का परस्पर प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) सम्भव नहीं है। क्योंकि बुद्धि और पुरुष दोनों में उभयाकार बुद्धि का परिणाम ही '**प्रतिबिम्ब**' शब्द से यहाँ विवक्षित है और जलादि में भी सूर्याद्याकार बुद्धि का परिणाम ही सूर्यादि के प्रतिबिम्बरूप से है अर्थात् जलादि में सूर्याद्याकार बुद्धिपरिणाम ही सूर्यादि के प्रतिबिम्बरूप से प्रतिफलित होता है। अतः बुद्धि और पुरुष के परस्परप्रतिबिम्बरूप दोष के कारण ही '**मैं कर्त्ता हूँ**', '**मैं सुखी हूँ**', '**मैं जानता हूँ**'–इत्यादि रूप वाली भ्रमात्मक एकता की प्रतीति होती है। योगसम्मत बुद्धि-पुरुष के परस्परप्रतिबिम्ब को सांख्यकारिका में दो बार '**इव**' शब्द के प्रयोग द्वारा बतलाया गया है–'**तस्मात्तत्---भवत्युदासीनः**' (२०) अर्थात् 'जिस प्रकार आत्मा के संयोग से अचेतन लिङ्गशरीर भी चेतनत्वधर्म से विशिष्ट प्रतीत होता है उसी प्रकार गुणों के कर्त्तृत्वधर्म वाला होने पर भी बुद्ध्युपराग के कारण उदासीन (कृतिरहित) होता हुआ भी आत्मा कृतिमान् प्रतीत होता है।'

और यह जो (प्रस्तूयमान '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र**' सूत्र के द्वारा) पुरुष को बुद्धिवृत्ति के समान रूप वाला कहा गया है, वह पुरुष की बुद्ध्याकारता है अर्थात् पुरुष का बुद्धि के रूप का प्रतीत होना है और यही चैतन्य का विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का ज्ञान (भान) होना है अर्थात् यही पुरुष का विषयज्ञान कहलाता है। चैतन्य के वृत्तिभान का आकार '**यह घट** है'–इत्याकारक है, अन्यथा पुरुष की वृत्तिसरूपता नहीं बन पायेगी। वृत्तिबोध का पृथक् आकार तो हो नहीं सकता है अर्थात् पुरुष का विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का ज्ञान, बुद्धि की विषयवृत्ति से भिन्न नहीं होता है और जो '**मैं घट को जानता हूँ**', **मैं दुःखी हूँ**'–इत्यादि आकार का ज्ञान होता है, वह भी बुद्धि का ही एक अन्य आकार है, (न कि पुरुष का), क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा भ्रमज्ञानशून्य अर्थात् यथार्थ ज्ञानस्वरूप है। जैसा कि सूत्रकार स्वयं **चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्**–४/२२ सूत्र द्वारा अपरिणामी पुरुष की बुद्धिवेद्यता को आगे बतलायेंगे।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार बुद्धिवृत्ति और पौरुषेयबोध की प्रतिनियतता को शंका-समाधानपूर्वक सिद्ध कर रहे हैं–

---

1. ख – **यदेतद् वृत्तिबोधयोः सारूप्यमुक्तमनेनैव दोषेण भ्रान्ता जैमिनीया, बौद्धाश्च तप्तायःपिण्डवद-विवेकाद्वृत्तिं स्वप्रकाशां मन्यन्ते। तत्त्वतस्तु स्वप्नादौ घटाकारपरिणामरूपायाः वृत्तेर्बाह्यघटादिवदेव दृश्यतया तदनुभवस्ततो भिन्न इति दिक्** (**संवेदनमिति** – पश्चाद्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **यदेतत्.....इति दिक्** नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

ननु वृत्तितद्बोधौ यदि घटदीपाविवात्यन्तभिन्नौ न तु चिज्जडात्मकमविभक्तमकं वस्तु मणिकान्तिवत् तर्हि तत्तच्चित्तवृत्तीनां प्रतिनियततत्तत्पुरुषमात्रबोध्यत्वे किं नियामकमित्याकाङ्क्षायां प्रतिनियतयोरेव चित्तात्मनोरनादिः स्वस्वामिभावसंबन्धस्तन्नियामक इति प्रतिपादयतिचित्तमयस्कान्तेत्यादिना सम्बन्धो हेतुरित्यन्तेन। तत्राप्यादावनादिं स्वस्वामिभावं युक्त्योपपादयति–चित्तमिति। यथाऽयस्कान्तमणिः स्वस्मिन्नेवायःसंनिधीकरणमात्रात् शल्यनिष्कर्षणाख्यमुपकारं कुर्वन् स्वामिनः स्वं भवति भोगसाधनत्वात्, तथैव चित्तमप्ययःसदृशविषयजातस्य स्वस्मिन् संनिधीकरणमात्राद् दृश्यत्वरूपमुपकारं कुर्वत् पुरुषस्य स्वामिनः स्वं भवति भोगसाधनत्वात्। अतश्चित्तपुरुषयोरनादिः स्वस्वामिभावः सम्बन्ध इति शेषः।

शङ्का–यदि बुद्धिवृत्ति और पौरुषेयबोध घट और प्रदीप के समान अत्यन्त भिन्न हैं, मणि और उसकी कान्ति के समान चिदात्मक और जडात्मक तत्त्व, अविभक्त एकता वाले नहीं हैं तो इस स्थिति में प्रतिनियत बुद्धिवृत्तियाँ, प्रतिनियत पुरुष के द्वारा ग्राह्य होती हैं, इसमें क्या नियम है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार, बुद्धिवृत्ति और पौरुषेयबोध के प्रतिनियत होने में उन दोनों चित्त और आत्मा का अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध नियामक है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–'**चित्तमयस्कान्त**'–इत्यादि से लेकर '**सम्बन्धो हेतुरिति**' यहाँ तक के भाष्य द्वारा। उसमें भी भाष्यकार पहले युक्ति द्वारा बुद्धि-पुरुष के अनादि स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का व्युत्पादन करते हैं–**चित्तमिति**। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि, लोह के समीप में रखे जाने मात्र से, शरीर में विद्ध हुए लोह-कांटे को बाहर निकालने का उपकार करता हुआ अपने '**स्वामी**' पुरुष के आनन्दरूप भोग का साधन होने के कारण उसका '**स्व**' बनता है। उसी प्रकार (अयस्कान्तसदृश) चित्त भी सन्निधिमात्र से (अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मात्र से) लोहसदृश विषयसमूह में दृश्यत्वरूप उपकार करता हुआ (विषयसमूह को '**दृश्य**' बनाता हुआ अर्थात् विषयाकाराकारित होकर) अपने '**स्वामी**' पुरुष के भोग का साधन होने के कारण उसका '**स्व**' बनता है। अतः चित्त और पुरुष का अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध है।

बालप्रिया–

'**अयःसदृशविषयजातस्य**'–सरलार्थ यह है–यहाँ अयस्कान्तमणिसदृश चित्त के अयःसदृश विषय को अपनी ओर खींचनारूप विषयाकार परिणाम को प्रतिपादित करते हुए वार्त्तिककार ने चित्त और पुरुष के अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध को बतलाया है। इससे प्रतिनियत चित्त और आत्मा का ग्राह्य-ग्राहकभाव-सम्बन्ध भी स्थापित होता हैं और इस प्रकार पूर्वपक्षी की शंका का निरसन भी हो जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार बुद्धि और पुरुष के स्वस्वामिभावसम्बन्ध से क्या सिद्ध होता है? इसका प्रतिपादन कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

ततः किमित्यत आह– तस्मादिति। तस्मात् स्वस्वामिभावस्य सिद्धत्वात् स एवानादिसम्बन्धः पुरुषस्य चित्तवृत्तिदर्शने हेतुरित्यर्थः। अतो न परचित्तेन परस्य वृत्तिसारूप्यं भवति, कदाऽपि तद्वृत्त्यबोधने तयोः स्वस्वामि[1]भावसम्बन्धाभावात्।

बुद्धि तथा पुरुष के अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध से क्या होता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**तस्मादिति।**' बुद्धि और पुरुष का स्वस्वामिभावसम्बन्ध सिद्ध होने से यही '**अनादिसम्बन्ध**' पुरुष के चित्तवृत्तिबोध का हेतु है, यह तात्पर्य है। (भाव यह है कि प्रतिनियत बुद्धि और पुरुष के अनादि स्वस्वामिभावसम्बन्ध के कारण पुरुष को सविषयक बुद्धिवृत्ति का ज्ञान होता है)। अतः यह सिद्ध होता है कि अन्य चित्त के साथ अन्य पुरुष की वृत्तिसरूपता नहीं होती है, क्योंकि पुरुष को चित्तवृत्ति का बोध न होने से उन दोनों के स्वस्वामिभावसम्बन्ध का अभाव (संसार दशा में) कभी भी नहीं होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार स्वस्वामिभावसम्बन्ध के अनादित्व को शंका-समाधान-पूर्वक सिद्ध कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु स्वस्वामिभावस्य कथमनादित्वम्, स हि भोग्यभोक्तृभावरूपतया प्रलये न तिष्ठतीति? मैवम्–अभुज्यमानधनेऽपि सुषुप्तस्य स्वस्वामिभावेन स्वत्वस्वामित्वयोरतिरिक्तपदार्थत्वात्। स्वरूपसंबन्धविशेषत्वाद्वा प्रतियोग्यनुयोगिभाववत्।

शङ्का–बुद्धि और पुरुष के स्वस्वामिभावसम्बन्ध को कैसे '**अनादि**' कहा जा सकता है, क्योंकि प्रलयकाल में भोग्यभोक्तृभावरूप से तथाकथित सम्बन्ध अवस्थित नहीं रहता है?

समाधान–प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार सुषुप्त-अवस्थाक व्यक्ति सुषुप्ति में धन का उपभोग न करता हुआ भी धनरूप '**स्व**' का अपने को '**स्वामी**' समझता है, उसी प्रकार प्रलयावस्था में भोग्यभोक्तृभाव न रहने पर भी '**स्व**' के प्रति पुरुष का '**स्वामित्व**' समाप्त नहीं होता है, क्योंकि स्वत्वरूप बुद्धि और स्वामित्वरूप पुरुष के भिन्न-भिन्न पदार्थ होने से जब इनकी सत्ता सिद्ध है तो इनका सम्बन्ध भी सिद्ध हो जाता है। अथवा अनुयोगि-प्रतियोगिभाव के समान बुद्धि और पुरुष में '**स्वरूपसम्बन्धविशेष**' होने से उसका

---

1. क – **भाव**० उपलभ्यते, ख ग घ च छ – **भाव**० नोपलभ्यते।

अनादित्व बाधित नहीं होता है।

बालप्रिया–

'स्वरूपसम्बन्धविशेषत्वात्'–सरलार्थ यह है–स्वरूपाभिन्न सम्बन्ध को **'स्वरूपसम्बन्ध'** कहते हैं अर्थात् जो सम्बन्ध अपने सम्बन्धिद्वय से पृथक् नहीं होता है, उसे **'स्वरूप-सम्बन्ध'** कहते हैं। तथाकथित स्वरूपसम्बन्ध में सम्बन्धान्तर के विना विशिष्टप्रत्यय-जनकत्व है। निष्कर्षतः स्वस्वामिभावसम्बन्ध **'स्व'** (रूप बुद्धि) और **'स्वामी'** (रूप पुरुष) से भिन्न नहीं है। अतः प्रलय की अवस्था में भी इनका स्वस्वामिभावसम्बन्ध निरापद (निर्बाध) रहता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार उक्त स्वस्वामिभावसम्बन्ध की **'अनादिता'** को अन्य व्याख्या द्वारा सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अथवा स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वमेव बुद्धौ पुरुषस्य स्वत्वम्, ईदृशो भोग्यभोक्तृभाव एव च तान्त्रिकैर्भोग्यभोक्तृयोग्यतेत्युच्यते, चिदवसानो भोग इति सांख्यसूत्रोक्तस्य सुखदुःखानु-भवरूपभोगस्य पुरुषधर्मत्वादिति। स च स्वस्वामिभावश्चित्तपुरुषयोर[1]नादिरेव स्वीक्रियते।

अथवा पुरुषभुक्त वृत्ति की वासना से विशिष्ट बुद्धि पुरुष का **'स्व'** होती है और पुरुष बुद्धि का **'स्वामी'** होता है–इत्याकारक भोग्यभोक्तृभाव को ही तान्त्रिक लोग **'भोग्यभोक्तृयोग्यता'** कहते हैं, क्योंकि सांख्यसूत्र **'चिदवसानो भोगः'** के अनुसार सुख-दुःख का अनुभवरूप **'भोग'** पुरुष का धर्म है और बुद्धि-पुरुष का यही स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध अनादि ही स्वीकार किया गया है।

बालप्रिया–

'चिदवसानो भोगः' सां. सू. १/१०४–सरलार्थ यह है–**'पुरुष'** स्वरूप जो चैतन्य है, उसी में पर्यवसान है जिसका, ऐसी भोग-सिद्धि। सुख-दुःखादि की जो अनुभूति होती है, उसी को **'भोग'** कहते हैं। उस **'भोग'** की गति, बुद्धि के माध्यम से चेतनपर्यन्त है अर्थात् सुख-दुःख आदि का अनुभवरूप भोग 'चेतन आत्मा' के समीप पहुँचकर समाप्त हो जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पूर्ववर्णित बुद्धि-पुरुष-सम्बन्ध के **'अनादित्व'** को शंका-समाधान की शैली में स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

न च महत्तत्त्वरूपस्य चित्तस्य कार्यतया कथं तद्धर्मस्यानादित्वमिति वाच्यम्। अन्तः-

---

1. ग – **अनाद्योः** (**पुरुषयोः** -पश्चात्) उपलभ्यते, क ख घ च छ – **अनाद्योः** नोपलभ्यते।

करणस्य वृक्षवत् कार्यावस्थायामेव महत्तत्त्वपरिभाषास्वीकाराद् बीजावस्था तु प्रकृत्यंशत्व[1]-रूपा नित्यैव। अन्यथा धर्माधर्मसंस्कारादीनामाश्रयं विना प्रलयेऽवस्थानानुपपत्तेः। प्रकृति-मात्रस्य तदाश्रयत्वे तत्कार्यभोगस्मृत्यादेरपि तन्निष्ठत्वस्यैवौचित्याद् अन्तःकरणकल्पनाऽऽनर्थक-यम्, अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनामिति सांख्यसूत्रस्य यथाश्रुतार्थानुपपत्तिश्चेति।

शङ्का–महत्तत्त्वरूप चित्त के कार्यरूप होने से उसके '**स्व**' रूप धर्म का अनादित्व कैसे उपपन्न हो सकता है? (शंका का सरल भाव यह है–महत्तत्त्व '**चित्त**' का पर्याय है। जब यह चित्त ही कार्य होने से अनित्य है, तो उसका धर्म '**स्व**' कैसे नित्य हो सकता है? अर्थात् धर्मिरूप चित्त के न रहने से उसका '**स्व**' धर्म निराधार होकर कैसे रह सकता है)?

समाधान–पूर्वपक्षी की उक्त शंका निराधार है। वृक्ष की भाँति अन्तःकरण की कार्यावस्था में ही '**महत्तत्त्व**' की परिभाषा स्वीकार किये जाने से, उसकी प्रकृत्यंशरूप बीजावस्था तो नित्य ही है। (सरलार्थ यह है–जिस प्रकार बीज कार्यावस्था में '**वृक्ष**' कहलाता है उसी प्रकार अन्तःकरण को कार्यावस्था में महत्तत्त्व कहते हैं। कार्यरूप वृक्ष की अपेक्षा कारणरूप बीज की मान्य नित्यता की भाँति कार्यरूप महत्तत्त्व की अपेक्षा कारणावस्थापक अन्तःकरण प्रकृत्यंशत्वेन नित्यरूप है)। अन्यथा (यदि प्रकृत्यशंत्वेन अन्तःकरण को नित्य न माना जाय तो) प्रलयावस्था में आश्रय के विना धर्माधर्मरूप संस्कारों की स्थिति उपपन्न नहीं हो सकती है।

शङ्का–पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि प्रलयावस्था में '**प्रकृति**' के ही धर्माधर्मरूप संस्कारों का आश्रय होने पर, उन संस्कारों के कार्य भोग, स्मृति आदि को भी प्रकृतिनिष्ठ मानने का ही औचित्य होने से '**अन्तःकरण**' की कल्पना व्यर्थ है। भाव यह है कि धर्माधर्मरूप संस्कारों की भाँति तत्कार्यरूप भोग, स्मृति आदि को भी प्रकृतिनिष्ठ माना जाय और इस स्थिति में अन्तःकरण की कल्पना अनावश्यक है?

समाधान–यह धारणा उचित नहीं है, क्योंकि '**अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनामिंति** (सां. सू. ५/२५) इस सूत्र का वर्णित तथ्य अनुपपन्न हो जाता है। सूत्र में धर्मादि को '**अन्तःकरण**' का धर्म बतलाया गया है। अतः अन्तःकरण का निषेध करना शास्त्रविरुद्ध है।

बालप्रिया–

'**अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्**'–सां. सू. ५/२५ सूत्रार्थ है–धर्माधर्म आदि भाव अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः इस सूत्र के द्वारा प्रमाणित 'अन्तःकरण' को व्यर्थ कहकर अन्य प्रकार से अर्थात् प्रकृति में धर्मादि तथा भोगस्मृत्यादि का आश्रयत्व प्रतिपादित करना उचित नहीं है।

---

1. क ख च छ – **अंशत्व॰**, ग घ॰ – **अंशसत्त्व**।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार उपरिनिर्दिष्ट तथ्य में गौरवदोष की कल्पना (संभावना) का खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अथैवं बुद्धितत्कारणयोरुभयोर्धर्मादिकल्पने गौरवमिति चेत्? दृष्टानुसारितयाऽस्य गौरवस्य प्रामाणिकत्वात्। यथा हि परमाणुपर्यन्तमेव घटे पाकेन रूपं जायते तद्घटभङ्गे च तैरणुभिर्घटान्तरं तद्रूपकं भवति तथैव प्रकृतिपर्यन्तमेव बुद्धौ धर्मादिकमुत्पद्यते, तद्बुद्धिनाशे च तत्प्रकृतिभिः तादृशधर्मादिमदेव बुद्ध्यन्तरमुत्पद्यते कारणगुणप्रक्रमादिति दिक्॥४॥

शङ्का–इस पद्धति से बुद्धि और उसकी कारणभूता प्रकृति दोनों में धर्मादि की कल्पना करने में गौरवदोष आता है अर्थात् संसारावस्था में बुद्धि को धर्मादि का आश्रय मानना और प्रलयावस्था में प्रकृति को धर्मादि का आश्रय कहना–इस प्रकार बुद्धि और प्रकृति दोनों में धर्मादि के आश्रयत्व की कल्पना गौरवदोष से युक्त है।

समाधान–ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवसिद्ध होने से उक्त गौरव (कालभेद से प्रकृति और उसके कार्य बुद्धि में धर्मादि संस्कारों के आश्रयत्व का गौरवपूर्ण व्याख्यान) प्रामाणिक है अर्थात् अप्रामाणिक कहकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार अग्निसंयोग से घट में परमाणुपर्यन्त ही पाक-क्रिया के निष्पन्न होने से घट के श्यामरूप के नाशपूर्वक उसमें रक्त रूप की उत्पत्ति होती है और पुनः उस रक्त घट के ध्वस्त होने पर उन्हीं रक्तगुणविशिष्ट परमाणुओं से तद्रूपविशिष्ट घटान्तर की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार प्रकृतिपर्यन्त ही बुद्धि में धर्मादि उत्पन्न होते हैं और उन धर्मादि संस्कारविशिष्ट बुद्धि का नाश होने पर उस बुद्धि के कारणरूप प्रकृति तत्त्व से तादृश धर्मादिविशिष्ट ही बुद्ध्यन्तर की उत्पत्ति होती है, क्योंकि कार्यकारण के धर्मों में समानता ही रहती है॥४॥

व्यासभाष्यम्

ता पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य–

निरोध करने योग्य वे चित्तवृत्तियाँ बहुत होने पर भी–

योगसूत्रम्

वृत्तयः पञ्चतय्यः [1]क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥५॥

चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं॥५॥

---

1. **क्लिष्टा अक्लिष्टाः, क्लिष्टाक्लिष्टाश्च**–इति पाठान्तरे।

व्यासभाष्यम्

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। [1]ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। [2]क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति। [3]ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च[4] पञ्चधा वृत्तयः॥५॥

अविद्यादि क्लेशों से उत्पन्न होने वाली तथा समस्त कर्मसंस्कारों को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' कहलाती हैं। विवेकख्यातिविषयक और गुणों के कार्य की विरोधिनी वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में पड़ी हुई ये वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' ही रहती हैं। अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियों के विरोधी अवसरों में स्थित ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' नहीं हो जाती हैं, अपितु 'अक्लिष्ट' ही रहती हैं। इसी प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियों के विरोधी अवसरों में स्थित ये क्लिष्ट वृत्तियाँ भी 'क्लिष्ट' ही रहती हैं अर्थात् 'अक्लिष्ट' नहीं हो जाती हैं। क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों से ही तद्वर्गीय क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं और उन संस्कारों से पुनः (तज्जातीय) वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार (निरोध समाधि तक) वृत्ति और संस्कार का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है। गुणाधिकार का अवसान हो जाने पर अर्थात् चित्त के कृतकृत्य (सर्वथा विक्षेपशून्य) हो जाने पर निरुद्ध चित्त अपने विशुद्ध सत्त्वमात्ररूप में प्रतिष्ठित हो जाता है अथवा चितिशक्ति के समान गुणातीत जैसा रहता है और फिर (अव्यक्त में) लीन हो जाता है। इस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं॥५॥

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्यः**, छ थ–**ख्यातिविषयगुणाधिकारिन्यः।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टाः**, थ–**पुण्यफलयुक्ताः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति पुण्योत्कर्षात् पापाल्पफलयुक्ताः। अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टाः पुण्याल्पपापोत्कर्षफलयुक्ताः।**
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प भ य–**ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः** १/५ सूत्रस्य टीका, फ ब म र–**ताः...वृत्तयः** १/६ सूत्रस्य अवतरणिका।
4. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र–**अक्लिष्टाश्च** उपलभ्यते, त–**अक्लिष्टाश्च** नोपलभ्यते।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत वैयासिकी अवतरणिका के अभिप्राय को समझाते हुए लिखते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्? पुरुषो हि शक्य उपदिश्यते। न च वृत्तिनिरोधो वृत्तीरविज्ञाय शक्यः। न च सहस्रेणापि पुरुषायुषैरलमिमाः कश्चित् परिगणयितुम्। असंख्याताश्च कथं निरोद्धव्या इत्याशङ्क्य तासामियत्तास्वरूपप्रतिपादनपरं सूत्रमवतारयति–ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्येति।[1] वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।

प्रथम सूत्र से योगशास्त्र के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा की गई है और द्वितीय सूत्र से चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग का लक्षण कर चित्त और पुरुष तत्त्व को लेकर उपस्थित अन्तर्विसङ्गतियों का परिहार भी किया गया है–इस प्रकार '**चित्तवृत्तिनिरोध**' में प्रकृत शास्त्र की उपयोगिता भले ही समर्थित हो फिर भी आक्षेपणीय तथ्य यह है–(यह '**स्यादेतत्**' का तात्पर्य है)–कि कार्यान्वयन में सम्भव क्रिया के विषय में पुरुष को उपदेश किया जाता है (पुरुष-प्रयत्न-साध्य वस्तु ही उपदेशार्ह होती है)। यहाँ '**वृत्तिनिरोध**' क्रिया शक्यरूप में प्रतिपादित है, जो सम्भव नहीं है। (दूसरा तथ्य यह है कि)–ज्ञान हुए विना वृत्तियों का निरोध करना भी संभव नहीं हो सकता है। (वृत्तियों का ज्ञान न हो पाने का कारण बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि)–कोई भी व्यक्ति (गणितज्ञ) सहस्र आयु वाले व्यक्तियों की सहायता से भी असंख्येय वृत्तियों को संख्यायित करने में समर्थ नहीं हो सकता है। अतः गणनारहित (संख्यातीत, अनन्त) चित्तवृत्तियाँ किस प्रकार निरोध के योग्य हैं? (अर्थात् असंख्य वृत्तियाँ कथमपि निरोद्धव्य न हो सकने के कारण योगशास्त्र की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगता है)–इस आशंका को ध्यान में रखकर ही निरोद्धव्य वृत्तियों की इयत्ता (सीमित संख्या) और उनके स्वरूप का प्रतिपादक सूत्र अवतरित हो रहा है–'**वृत्तय इति।**'

तत्त्ववैशारदी

वृत्तिरूपोऽवयव्येकः, तस्य प्रमाणादयोऽवयवाः पञ्च। ततस्तदवयवा पञ्चतयी पञ्चावयवा वृत्तिर्भवति। ताश्च वृत्तयश्चैत्रमैत्रादिचित्तभेदाद् बह्व्य इति बहुवचनमुपपन्नम्। एतदुक्तं भवति–चैत्रो वा मैत्रो [2]वान्यो वा कश्चित्सर्वेषामेव तेषां वृत्तयः पञ्चतय्य एव नाधिका इति। चित्तस्येति चैकवचनं जात्यभिप्रायम्। चित्तानामिति तु द्रष्टव्यम्।

---

1. थ द ध – **इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **वा** उपलभ्यते, ख – **वा** नोपलभ्यते।

वृत्तिरूप अवयवी एक है। उस वृत्तिरूप एक अवयवी के प्रमाणादि पाँच अवयव हैं। इस प्रकार वृत्ति **'पञ्चतयी'** है अर्थात् पाँच अवयव वाली वृत्ति होती है। (जिज्ञासा है कि जब वृत्ति एकरूप है तो सूत्र में **'वृत्तयः'**–बहुवचन का प्रयोग क्यों किया गया? सूत्रगत इसी शंका को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–) चैत्र, मैत्र आदि प्रति व्यक्ति के चित्त-भेद से अवयविरूप एक वृत्ति (संख्या में) बहुत है, अतः सूत्रस्थ **'वृत्तयः'** यह बहुवचनान्त पद उपयुक्त है। भाव यह है–चैत्र, मैत्र अथवा जिस किसी भी व्यक्ति की अर्थात् उन सभी व्यक्तियों की पाँच अवयव वाली ही वृत्तियाँ हैं, उनसे अधिक (या कम) वृत्तियाँ नहीं हैं। (चैत्र, मैत्र आदि व्यक्तियों के बहुत होने से तत्तत्पुरुषीय चित्त भी संख्या में अनेक हैं। अर्थात् जब चित्तभेद से वृत्ति का बहुत्व प्रतिपादित किया जा रहा है तो भाष्यकार व्यासदेव ने प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में **'चित्तस्य'**–एकवचनान्त पद का प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर देते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि–)**'चित्तस्य'**–यहाँ चित्त में एकवचन का प्रयोग जाति (सामान्य) के तात्पर्य से किया गया है (अर्थात् अवयविरूप वृत्ति का एकत्वबोध चित्त के जातित्वबोध पर निर्भर करता है)। वस्तुतस्तु चित्तव्यक्तियों के अनेक होने से **'चित्तानाम्'**–ऐसा बहुवचन समझना चाहिये।

बालप्रिया–

प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में भाष्यकार द्वारा उपस्थापित पंक्ति, सूत्र के साथ इस प्रकार अन्वित की जा सकती है–व्यक्ति की दृष्टि से वृत्तियों का बहुत्व होने पर भी क्लिष्टाक्लिष्ट के भेद से भिन्न स्वभाव वाली चित्त की निरोद्धव्य वृत्तियाँ **'पञ्चतय्य'** ही हैं। यद्यपि चित्त में लज्जादि स्वभाव वाली वृत्तियों का भी अस्तित्व है, तथापि प्रमाणादि पांच वृत्तियों में ही लज्जादिलक्षणक अन्य समस्त वृत्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इनका पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। दूसरा तथ्य यह है कि प्रनाणादि पञ्च वृत्तियों के निरोध से सूत्र में असंकेतित इतर वृत्तियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। अतः इनके निरोध के लिये पृथक् उपाय का निर्देश अपेक्षित नहीं है।

'चित्तस्येति एकवचनम्'–पाणिनि सूत्र है–**'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'**–सूत्र के अनुसार **'जाति'** से जहाँ अर्थ बतलाना हो, वहाँ बहुवचन विकल्प से होता है। अर्थात् एकवचन और बहुवचन में से कोई भी एक हो सकता है। इस नियम के अनुसार प्रकृत में जात्यभिप्राय विवक्षित होने से एकवचनान्त **'चित्तस्य'** पद का प्रयोग भाष्यकार ने किया है। वैसे बहुवचनान्त **'चित्तानाम्'** पद का प्रयोग भी किया जा सकता था।

सूत्रगत प्रथम **'वृत्तयः'** और द्वितीय **'पञ्चतय्यः'** पदों की व्याख्या करने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार क्रमप्राप्त **'क्लिष्टाऽक्लिष्टाः'** पर विचार कर रहे हैं–

तत्त्ववैशारदी

तासामवान्तरविशेषमनुष्ठानोपयोगिनं दर्शयति–क्लिष्टाक्लिष्टा इति। [1]**अक्लिष्टा उपादाय**[2] **क्लिष्टा निरोद्धव्याः, ता अपि परेण वैराग्येणेति। अस्य व्याख्यानमा**[3]**ह–क्लेशहेतुका इति। क्लेशा अस्मितादयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां तास्तथोक्ताः। यद्वा पुरुषार्थप्रधानस्य रजस्तमोभयीनां हि वृत्तीनां क्लेश**[4]**कारणत्वेन क्लेशायैव प्रवृत्तिः। क्लेशः क्लिष्टं तदासामस्तीति क्लिष्टा इति। यत एव क्लेशोपार्जनार्थममूषां प्रवृत्तिरत एव कर्माशय**[5]**प्रचयक्षेत्रीभूताः। प्रमाणादिना खल्वयं प्रतिपत्ता**[6] **अर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्म**[7]**प्रचयप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टा इति।**

वृत्तियों में अन्तर्निहित तरतमता (क्रमांकन, तुलनात्मक मूल्य), जो **'निरोध'** रूप क्रियानिष्पत्ति के लिये आवश्यक है, को सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं–**'क्लिष्टाऽक्लिष्टा इति।'** वृत्तिनिरोध का क्रम यह है–पहले विवेकख्याति आदि **'अक्लिष्ट'** वृत्तियों को लेकर (साधक को) **'क्लिष्ट'** वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। तदनन्तर परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति आदि **'अक्लिष्ट'** वृत्तियों का निरोध किया जाता है। भाष्यकार (क्लिष्टाक्लिष्टरूप वृत्तियों में से) क्लिष्टवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–**'क्लेशहेतुका** इति। जिन चित्तवृत्तियों की प्रवृत्ति (परिणाम) में अस्मितादि क्लेश कारण होते हैं, वे क्लेशमूलक वृत्तियाँ **'क्लिष्ट'** कही जाती हैं। अथवा पुरुष के भोगरूपी पुरुषार्थ की सहायक राजस तथा तामस वृत्तियाँ अविद्यादिकारणक होने से दुःख के लिये ही प्रवृत्त होती हैं। **'क्लेश'** शब्द का अर्थ **'क्लिष्ट'** (दुःखपरक) है। यह क्लिष्टता (दुःखात्मकता) जिन राजस तथा तामस वृत्तियों में (धर्मत्वेन) निहित है, वे वृत्तियाँ **'क्लिष्ट'** कहलाती हैं। अविद्यादि **'क्लेश'** के अवाप्त्यर्थ ही इन राजस तथा तामस वृत्तियों का उद्यम (चेष्टा) रहता है। अतः शुभाशुभकर्मजन्य **'वासना'** रूप **'कर्माशय'** की वृद्धि करने में ये क्लिष्ट वृत्तियाँ **'उत्पत्तिभूमि'** (आविर्भावस्थली) मानी

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – **अक्लिष्टा....वैराग्येणेति** उपलभ्यते, थ – **अक्लिष्टा....वैराग्येण** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **उपादाय**, द – **उपादेयाः**।
3. थ द ध – **आह** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **आह** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **कारणत्वेन**, थ द ध – **कारित्वेन**।
5. क ख ग घ छ झ त थ द ध न – **प्रचय॰**, च ज – **प्रचये**।
6. ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **प्रतिपत्ता**, क छ – **प्रतिपन्न॰**।
7. क ग घ च छ ज झ त न – **प्रचय॰** उपलभ्यते, ख थ द ध – **प्रचय॰** नोपलभ्यते।

गई हैं। अर्थात् क्लेशमूलक वृत्तियों से 'कर्मवासना' ही पुञ्जीभूत होती है। कर्माशय-संग्रह की पद्धति पर प्रकाश डालते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं– प्रमाणादि वृत्तियों के द्वारा शब्दादि विषय की भोगरूपता को प्राप्त करके पुरुष उनके प्रति अनुरक्त अथवा अननुरक्त होता हुआ कर्माशय का संग्रह करता है। इसलिये धर्माधर्म की वृद्धि की '**प्रसवभूमि**' रूप वृत्तियाँ '**क्लिष्ट**' (कही जाती) हैं।

बालप्रिया–

'**क्लेशः क्लिष्टं तदासामस्तीति क्लिष्टाः**'–क्लेश (क्लिश्+घञ्)। प्रदातृता राजस और तामस वृत्तियों का आकस्मिक अथवा आरोपित स्वभाव नहीं है, अपितु उनका स्वरूप है। इसी अभिप्राय से उन्हें '**क्लिष्ट**' (क्लिश्+क्त) कहा जाता है। यहाँ '**भाव**' अर्थ में '**क्त**' प्रत्यय है। अतः 'दुःखफलक' अर्थ का वाचक यह '**क्लिष्ट**' शब्द है।

'**सक्तो द्विष्टो वा**'–वाक्यांश का तात्पर्य यह है–प्रतिपत्ता अर्थात् परीक्षक प्रमाणादि वृत्तियों के द्वारा करणीय और अकरणीय अर्थ का निश्चय करके अनुकूल ज्ञान से उसमें अनुरक्त होकर '**धर्म**' को सञ्चित करता है तथा प्रतिकूल ज्ञान से विषय के प्रति द्वेष करता हुआ '**अधर्म**' को सञ्चित करता है। इस दृष्टि से रजोगुण एवं तमोगुणप्रधान प्रमाणादि वृत्तियों को '**क्लिष्ट**' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

'**प्रसवभूमयः**'–जिस प्रकार बीज की 'प्रसवभूमि' क्षेत्र है उसी प्रकार राजस तथा तामस वृत्तिरूप बीज की प्रसवभूमि '**अविद्या**' रूपी क्षेत्र है। अतः अविद्यारूपी धरा पर अंकुरित होने वाली राजस तथा तामस वृत्तियाँ क्यों कर क्लिष्टता से अननुस्यूत रहेंगी?

सम्प्रति, क्रमप्राप्त '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अक्लिष्टा व्याचष्टे–ख्यातिविषया इति। विधूतरजस्[1]तमसो बुद्धिसत्त्वस्य प्रशान्तवाहिनः प्रज्ञाप्रसादः ख्यातिः, तथा विषयिण्या तद्विषयं सत्त्वपुरुषविवेकमुपलक्षयति। तेन सत्त्वपुरुष-विवेकविषया यतोऽत एव[2] गुणाधिकारविरोधिन्यः। कार्यारम्भणं हि गुणानामधिकारो विवेकख्यातिपर्यवसानं च तदिति चरिताधिकाराणां गुणानामधिकारं [3]निरुन्धन्तीति। अतस्ता अक्लिष्टाः प्रमाणप्रभृतयो वृत्तयः।

भाष्यकार '**अक्लिष्ट**' वृत्ति को बतलाते हैं–'**ख्यातिविषया इति।**' राजस और तामस वृत्तियों से रहित बुद्धिसत्त्व का जो प्रशान्तवाही प्रज्ञाप्रसाद है, उसे '**ख्याति**' कहते हैं।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **तमसः**, द – **तमसी**।
2. ख ग घ च ज झ त थ द ध – **एव**, क छ – **एवम्**।
3. क घ च छ ज झ त न – **विरुन्धन्ति**, ख ग थ द ध – **निरुन्धन्ति**।

इस '**ख्याति**' रूप विषयी से '**सत्त्वपुरुषविवेक**' रूप विषय उपलक्षित होता है। (सात्त्विक बुद्धि में राजस तथा तामसवृत्तिजन्य उद्विग्नता के प्रक्षालनपूर्वक होने वाली स्थिरता की अवस्था में, ज्ञानगाम्भीर्य उत्पन्न होता है। बुद्धि के सामान्यज्ञान से भिन्न विशिष्टज्ञान को योगशास्त्र में '**ख्याति**' नाम से जाना जाता है। इस ख्यातिरूप विषयी का विषय, ज्ञान सविषयक होता है इस नियम के अनुसार, 'जड़-चेतन का भेद' है)। फलतः प्रकृति तथा पुरुष के भेद को विषय करने वाली ख्यातिरूप (ज्ञानरूप) '**अक्लिष्ट**' वृत्तियाँ गुणाधिकार की विरोधिनी हैं। अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियाँ गुणों के क्लिष्टात्मक कार्यारम्भ को स्थगित करती हैं। '**अधिकार**' शब्द को '**कर्त्तव्य**' अर्थ में लेते हुए तत्त्ववैशारदीकार '**गुणाधिकार**' पद की व्याख्या करते हैं—कार्यारम्भ ही गुणों का अधिकार है, जो अधिकार '**भोग**' से प्रारम्भ होकर '**विवेकख्याति**' में पर्यवसित होता है। अक्लिष्ट वृत्तियाँ (ख्यातियुक्त पुरुष के प्रति) कृतकृत्य हुए गुणों को पुनः अधिकार अर्थात् कर्तव्य करने के लिये रोक देती हैं। इस प्रकार की प्रमाणादि वृत्तियाँ '**अक्लिष्ट**' कही जाती हैं।

बालप्रिया–

'**विधूत**' (वि+धू+क्त)–'**धूञ् कम्पने**' धातु से निर्मित '**विधूत**' शब्द राजस तथा तामस वृत्तियों पर होने वाले तुषारापात की ओर संकेत करता है।

'**प्रशान्त**'–(प्र+शम्+णिच्+क्त)–संक्षोभनिवृत्ति चित्त की '**प्रशान्त**' अवस्था है। इसमें चित्त की बाह्य विषयोन्मुखता विवेकविषयाभिमुखी हो जाती है। इस प्रकार चित्त की प्रशान्तप्रवणता स्फुट है।

'**प्रसादः**' (प्र+सद्+घञ्)–'**प्रसाद**' शब्द के कई अर्थ हैं। यहाँ 'गाम्भीर्य' तथा 'निर्मलता'–ये दो अर्थ प्रासंगिक हैं। विवेकख्यातिरूप वृत्ति ज्ञानप्रौढ़ता का अन्यतम उदाहरण है। अतः ज्ञान की उस अवस्था को '**प्रज्ञाप्रसाद**' कहना युक्तियुक्त है। '**प्रसाद**' शब्द का '**नैर्मल्य**' अर्थ लेने पर चित्तसम्बन्धी कलुषता (राग, द्वेषादि) की हेतुभूत राजस- तामस वृत्तियों से प्रक्षालित '**ख्याति**' को '**प्रज्ञाप्रसाद**' शब्द से विशेषित किया जाना तर्कसंगत है।

'**चरिताधिकाराणाम्**'–तात्पर्य यह है कि धर्म और अधर्म के उत्पादन द्वारा आगामी जन्मादि का आरम्भ करना, गुणों के अधिकार (कर्त्तव्य) का प्रारम्भ होना है और विवेकख्याति का उदय गुणाधिकार की समाप्ति होना है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों में प्रथम वृत्ति गुणाधिकार की सहयोगिनी है और दूसरी वृत्ति गुणाधिकार की विरोधिनी है। ज्ञातव्य है कि यह तत्तत् पुरुषीय गुणाधिकार की व्यवस्था है, पुरुषमात्र के प्रति समवेत व्यवस्था नहीं।

सूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार विभक्त '**क्लिष्ट और अक्लिष्ट**' वृत्तियों के स्वरूप और उनकी तरतमता पर साधना की दृष्टि से भी दार्शनिकों ने प्रकाश डाला है। किन्तु पूर्वपक्षी के अनुसार '**अक्लिष्ट**' वृत्ति के अस्तित्व की असम्भवता पिछले प्रकरण के एकदेश पर प्रश्नचिह्न लगाती है। अतः तत्त्ववैशारदीकार ऐसे प्रश्न को उठाकर उसका खण्डन करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतद्–वीतरागजन्मादर्शनात् क्लिष्टवृत्तय एव सर्वे प्राणभृतः। न च क्लिष्टवृत्तिप्रवाहे भवितुमर्हन्त्यक्लिष्टा वृत्तयः। न चामूषां भावेऽपि कार्यकारिता, विरोधिमध्यपातित्वात्। तस्मात्क्लिष्टानामक्लिष्टाभिर्निरोधः, तासां च वैराग्येण परेणेति मनोरथमात्रमित्यत आह–क्लिष्टप्रवाहेति। आगमानुमानाचार्योपदेशपरिशीलनलब्धजन्मनी अभ्यास-**वैराग्ये क्लिष्टच्छिद्रम**[1]**न्तरा तत्र** पतिताः **स्वयमक्लिष्टा एव यद्यपि क्लिष्टप्रवाहपतिताः।** न **खलु** [2]**शालग्रामे किरातशतसंकीर्णे प्रतिवसन्नपि ब्राह्मणः** किरातो भवति। **अक्लिष्टच्छिद्रेष्विति निदर्शनम्।**

शङ्का–सिद्धान्ती ने '**अक्लिष्ट**' वृत्ति के विषय में पीछे बहुत कुछ कहा, किन्तु यह सब अनुभवविरुद्ध है। वस्तुस्थिति यह है–इच्छारहित (रागशून्य) प्राणियों का जन्म नहीं देखा जाता है अर्थात् रागयुक्त प्राणी ही जन्मधारी होते हैं। अतः जन्मधारी प्राणियों में '**क्लिष्ट**' वृत्तियाँ ही विद्यमान हैं। अर्थात् वीतराग साधक भी जन्म धारण करते तो उनमें '**अक्लिष्ट**' वृत्तियाँ देखी जा सकती थीं, किन्तु ऐसा नहीं है। यह '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों के अस्तित्व का दार्शनिक पक्ष है और व्यावहारिक पक्ष यह है कि '**क्लिष्ट**' वृत्तियों के अविच्छिन्न बहाव में '**अक्लिष्ट**' वृत्तियाँ ठहर भी नहीं सकती हैं। (**तुष्यतुदुर्जनन्याय से**) एतत्सम्बन्धी दार्शनिक और व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो अपनी विरोधिनी (अनन्त और प्रबल) '**क्लिष्ट**' वृत्तियों के बीच फँसी होने के कारण अर्थात् '**क्लिष्ट**' वृत्तियों के प्रभाव से सामर्थ्यशून्य होने के कारण उनमें क्रियाकारिता (गुणाधिकारनिरोधरूप करणीयता) नहीं रहती है। यह '**अक्लिष्ट**' वृत्ति की अनुपयोगिता की दृष्टि से विचार किया गया। इस विकल्प से यह तथ्य निकलता है कि '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों के द्वारा '**क्लिष्ट**' वृत्तियों का निरोध और तत्पश्चात् परवैराग्य के द्वारा विवेकख्यातिरूप '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों का निरोध होता है–यह कथन मनोराज्यविजृम्भणमात्र है अर्थात् काल्पनिक वस्तुस्थिति है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अन्तरा,** थ द ध – **अन्तरम्।**
2. क ख ग ज त – **साल०,** घ च छ झ थ द ध न – **शाल०।**

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**क्लिष्टप्रवाह इति**।' आगम, अनुमान तथा आप्तपुरुष के उपदेश पर निरन्तर मनन करने से उदित अभ्यास और वैराग्य, जो क्लिष्टच्छिद्र अर्थात् क्लिष्टवृत्तियों के विरोधी अवसर हैं; के क्षणों में उत्पन्न '**अक्लिष्ट**' वृत्तियाँ, क्लिष्ट वृत्तियों के प्रबल प्रवाह के मध्य पतित होने पर भी स्वतः '**अक्लिष्ट**' ही रहती हैं। जैसे भीलों की बस्ती में सैकड़ों भीलों से घिरा होकर रहने वाला **ब्राह्मण** किरात नहीं हो जाता है, अपितु ब्राह्मण ही रहता है। इस तथ्य के द्वितीय प्रकार पर प्रकाश डालते हुए तत्त्ववैशारदीकार का कहना है कि भाष्यस्थ '**अक्लिष्टच्छिद्रेषु**' यह पंक्ति उक्त तथ्य के उदाहरणस्वरूप है। अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियों के छिद्ररूप विरोधी अवसरों में उदित क्लिष्ट वृत्तियाँ 'क्लिष्टात्मक' ही रहती हैं।

बालप्रिया–

तत्त्ववैशारदीकार ने पूर्वपक्षी के दो प्रश्नों का उत्तर दिया है। वीतरागी का जन्म न दिखाई पड़ने से जगत् में **अक्लिष्ट**' वृत्ति का अस्तित्व (पूर्वपक्षी को) जो असंभव प्रतीत हो रहा था, उसका खण्डन सिद्धान्ती ने इस प्रकार किया है कि उच्चस्तरीय तथ्य का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहने से सामान्य साधक (विषयासक्त) के जीवन में भी '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' रूप दो अभेद्य स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उन अभेद्य स्थितियों का पल्लवन चित्त में '**अक्लिष्ट**' वृत्तियों के अंकुरण के रूप में देखा जा सकता है। अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के माहात्म्य से चित्त में अक्लिष्ट वृत्तियों का उदय होता है। अभ्यास और वैराग्यरूप अभेद्य व्यूह के अन्दर अंकुरित ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ अपने को पूर्ण सुरक्षित पाती हैं। अतः चित्त का क्लिष्टात्मक प्रवाह अक्लिष्ट वृत्तियों के अस्तित्व को बहाकर समाप्त नहीं कर पाता है और न ही शक्ति-प्रदर्शन द्वारा उनके स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर उन्हें '**क्लिष्ट**' का ताना-बाना पहनाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त समर्थित होता है. कि दोनों प्रकार की '**क्लिष्ट**' तथा '**अक्लिष्ट**' वृत्तियाँ अपनी विरोधिनी वृत्तियों के प्रभुसत्ताकाल में अपनी पहचान बनाये रखती हैं।

सम्प्रति, प्रबल क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य पतित दुर्बल अक्लिष्ट वृत्तियों की अर्थक्रियाकारिता पर विचार प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

क्लिष्टान्तर्वर्तितया च क्लिष्टाभिरनभिभूता अक्लिष्टाः [1]स्वसंस्कारपरिपाकक्रमेण क्लिष्टा एव तावदभिभवन्तीत्याह–तथाजातीयका इति। अक्लिष्टाभिर्वृत्तिभिरक्लिष्टाः

1. क ख ग थ द ध – **स्व०** उपलभ्यते, घ च छ ज झ त न – **स्व०** नोपलभ्यते।

संस्कारा इत्यर्थः। तदिदं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते, आनिरोधसमाधेः। तदेवंभूतं चित्तं निरोधावस्थं संस्कारशेषं भूत्वात्मकल्पेनावतिष्ठत इत्यापाततः, प्रलयं वा गच्छतीति [1]परमार्थतः। पिण्डीकृत्य सूत्रार्थमाह–ता इति। पञ्चधेत्यर्थकथनमात्रम्, न तु शब्द[2]वृत्ति-व्याख्यानम्, तयपः प्रकारेऽस्मरणात् ॥५॥

'**क्लिष्ट**' वृत्तियों में अन्तःक्षिप्त और उनसे अभिभूत (दबी) न होती हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ–(अभ्यास और वैराग्य के द्वारा) स्वजन्य संस्कार की दृढ़ता के क्रम से–क्लिष्ट वृत्तियों को ही (क्रमशः) अभिभूत (नष्ट) कर देती हैं, इसी बात को भाष्यकार कहते हैं–'**तथाजातीयका इति**।' अक्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्टजातीय संस्कार उत्पन्न होते हैं और अक्लिष्टात्मक संस्कारों से अक्लिष्टजातीय वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। (यह स्थिति क्लिष्ट वृत्तियों और तज्जन्य सजातीय संस्कारों में भी चरितार्थ होती है)। इस प्रकार निरोधसमाधिपर्यन्त (निरोधसमाधि प्राप्त न होने तक) वृत्ति और संस्कार का चक्र अहर्निश चलता रहता है। इस प्रकार का निरुद्ध चित्त संस्कार के रूप में स्थित होकर आत्मभाव के समान रह जाता है। **अर्थात्** दुःखरहित होने के कारण आत्मा के समान उसकी स्थिति आपाततः प्रतीत **होती** है। निरुद्ध चित्त की यह आपाततः प्रतीत होने वाली स्थिति है। अथवा पारमार्थिक दृष्टि से वह अव्यक्त में लीन हो जाता है। संक्षेपेण सूत्रार्थ करते हुए भाष्यकार कहते है–"**ता इति**।' (भाष्य में) '**पञ्चधा**' इस पद के प्रयोग से सूत्र का भावार्थमात्र बतलाया गया है। शब्दवृत्ति अर्थात् ज्ञानवृत्ति के पञ्च प्रकार को नहीं बतलाया गया है, **क्योंकि** '**तयप्**' प्रत्यय को '**प्रकार**' अर्थ में नहीं माना जाता है॥५॥

बालप्रिया–

'**आत्मकल्पेनावतिष्ठते**'–अपने स्वरूप से अविभक्त हुआ (आत्मस्वरूप से) चित्त रहता है–इसके मूल में निहित सिद्धान्त निम्नाङ्कित है–

'स आत्मा सर्वगो राम! नित्योदितमहावपुः।
यत्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मनः उच्यते॥

इस वासिष्ठ उक्ति के अनुसार संकल्प-विकल्परूप क्रिया को धारण करने के कारण 'आत्मा' को 'मन' कहा गया है। इसलिये असम्प्रज्ञात समाधिकाल में चित्त की जब संकल्प-विकल्पात्मक समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब (आत्मपद-वाच्य) चित्त '**आत्मस्वरूप**' से अवस्थित रहता है–ऐसा कहा जाता है।

---

1. घ च छ ज झ त थ ध न – **परमार्थतः...प्रकारेऽस्मरणात्** – १/५ सूत्रस्य टीका, द – १/६ सूत्रस्योपस्थानिका, क ख ग – अस्पष्टम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **वृत्ति०**, द – **प्रवृत्ति०**।

'प्रलयं वा गच्छति'–इस वाक्य के प्रयोग द्वारा दो प्रकार से मन का नाश बतलाया गया है–एक **'सरूपनाश'** तथा दूसरा **'अरूपनाश'**। जीवन्मुक्त दशा में चित्त का **'सरूपनाश'** होता है, क्योंकि इस दशा में **'रूप'** रहते हुए भी चित्त नपुंसक (बन्ध्य) होकर पड़ा रहता है। किन्तु विदेहमुक्त दशा में चित्त का भी लय हो जाता है। अतः विदेहमुक्ति में चित्त का **'अरूपनाश'** बतलाया गया है। यही तथ्य योगवासिष्ठ में उक्त है–

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः॥

'तयपः प्रकारेऽस्मरणात्'–पाणिनि सूत्र है–**'संख्याया अवयवे तयप्'** ५/२/४२ संख्यावाचक **'तयप्'** प्रत्यय **'अवयव'** अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जैसे–**पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दारु।** अभिधाशक्ति के द्वारा **'तयप्'** प्रत्यय का **'प्रकार'** अर्थ नहीं निकल सकता है। ऐसी स्थिति में 'लक्षणा' करनी पड़ेगी, जो अनभीष्ट है॥५॥

योगवार्त्तिकम्

कृत्यादिलक्षणा अपि वृत्तयः सन्तीत्यागामिसूत्रस्य न्यूनतां परिहर्तुं चित्तस्येत्यन्तं पूरयित्वोत्तरसूत्रमवतारयति-ताः पुनरिति। चित्तस्य बहुवृत्तिकत्वे सत्यपि ता निरोद्धव्या वृत्तयः क्लिष्टाऽक्लिष्टरूपा वक्ष्यमाणाः पञ्चतय्य एवेति सूत्रेण सहान्वयः। प्रमाणादिरूपवक्ष्यमाणवृत्तिपञ्चकनिरोधेनैव तत्कार्याणामन्यवृत्तीनां निरोधसिद्धिरिति भावः। वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।

शङ्का–(लोक में) कृत्यादिलक्षणक अर्थात् कृति, इच्छा आदि स्वरूप वाली अनेक वृत्तियाँ भी विद्यमान हैं, (अतः सूत्र द्वारा वृत्तियों को पांच की परिधि में क्यों बांधा जा रहा है)?

समाधान–इस प्रकार आगामी सूत्र के विषय में (पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित) उक्त न्यूनता (दोष) का परिहार करने के लिये भाष्यकार **'चित्तस्य'** इत्याकारक पदपर्यन्त वाक्यांश को (सूत्र के प्रारम्भ में) जोड़कर उत्तरसूत्र को अवतरित करते हैं–**'ताः पुनरिति।'** चित्त अनन्त वृत्ति वाला होने पर भी क्लिष्टाक्लिष्टरूप वाली अर्थात् सुखदुःखरूप फल वाली वे वक्ष्यमाण निरोद्धव्य वृत्तियाँ पाँच प्रकार की ही हैं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका का सूत्र के साथ अन्वय किया जाता है। प्रमाणादिरूप वक्ष्यमाण वृत्तिपञ्चक के निरोध से अर्थात् आगे बतलाई जाने वाली प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृतिसंज्ञक पांच वृत्तियों का निरोध करने से ही इन (वृत्तिपञ्चक) की कार्यभूता अन्य वृत्तियों का निरोध स्वतःसिद्ध है। (कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापक कारण की निवृत्ति से व्याप्य कार्य की निवृत्ति स्वतः हो जाती है)। सूत्र इस प्रकार है–**'वृत्तय इति।'**

योगवार्त्तिकम्

यैः प्रमाणादिलक्षणव्यापारैः चित्तं जीवति ते तद्वृत्तय उच्यन्ते [1]द्विजानां याजनादिवत्। क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च क्लिष्टाऽक्लिष्टाः। निरोद्धव्या वृत्तयः क्लिष्टा वा अक्लिष्टा वा भवन्तु वक्ष्यमाणाः पञ्चतय्यः पञ्चप्रकारा एवेति सूत्रार्थः। वृत्तीनामसंख्यव्यक्तितयाऽवयवार्थकत्वानुपपत्त्या तयपो लक्षणयाऽत्र प्रकारवाचित्वं ताः पञ्चधा वृत्तय इत्यागामिभाष्यादिति।

ब्राह्मणों के (निर्धारित) यज्ञादि व्यापार की भाँति जिन प्रमाणादि लक्षणव्यापारों के द्वारा चित्त अवस्थित (जीवित) रहता है, वे प्रमाणादि व्यापार 'चित्त' की वृत्तियाँ कहे जाते हैं। सूत्रगत '**क्लिष्टाऽक्लिष्टाः**' का द्वन्द्वपरक विग्रह करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं–'**क्लिष्टाश्च अक्लिष्टाश्च**' अर्थात् क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो स्वरूप वाली वृत्तियाँ हैं। वक्ष्यमाण निरोद्धव्य वृत्तियाँ चाहे क्लिष्टस्वरूपा हों अथवा अक्लिष्टस्वरूपा हों, '**पञ्चतय्यः**' अर्थात् पञ्च प्रकार की ही हैं, ऐसा सूत्रार्थ है। व्यक्ति रूप से वृत्तियों के असंख्य होने से ('**पञ्चतय्यः**' में प्रयुक्त) '**तयप्**' प्रत्यय का '**अवयवार्थकत्व**' अर्थात् '**अवयव**' अर्थ उपपन्न नहीं होता है। इस कारण प्रकृत में 'तयप्' प्रत्यय का लक्षणा द्वारा '**प्रकारवाचित्व**' विवक्षित है, क्योंकि 'ताः पञ्चधा वृत्तयः' इत्याकारक आगामी भाष्य उपलब्ध होता है।

बालप्रिया–

पञ्चतय्यः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–' (पञ्च+तयप्+ङीप्) '**संख्याया अवयवे तयप्**' ५/२/४२ पा. सू. के अनुसार संख्यावाचक शब्द के साथ प्रयुक्त '**तयप्**' प्रत्यय अवयवार्थक है। वाचस्पति मिश्र ने '**वृत्ति**' को एक '**अवयवी**' के रूप में मानते हुए उसके प्रमाणादि पांच '**अवयव**' बतलाये हैं। तदर्थ तत्त्ववैशारदी का वाक्य है– '**वृत्तिरूपोऽवयव्येकः, तस्य प्रमाणादयोऽवयवाः पञ्च**'। विज्ञानभिक्षु ने असंख्य वृत्तियों में एक अवयवी की कल्पना न करते हुए '**तयप्**' के अवयवार्थ का निषेध किया है तथा प्रकृत सूत्र के भाष्य के अन्त में प्रयुक्त '**पञ्चधा**' पद के आधार पर '**तयप्**' प्रत्यय के '**प्रकार**' वाचित्व को लक्षणा द्वारा समर्थित किया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्र के '**क्लिष्टाऽक्लिष्टाः**' इस वृत्तिभेदक समस्त पद के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

क्लिष्टवद[2]क्लिष्टाया अपि हेयत्वप्रतिपादनाय क्लिष्टाऽक्लिष्टविभागप्रदर्शनम्। तत्र चायं क्रमोऽक्लिष्टा उपादाय क्लिष्टा निरोद्धव्याः, ततस्ता अपि परवैराग्येणेति।

सत्त्वेनान्यतमं हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि

---

1. क च छ – **द्विजानां**, ख ग घ – **द्विजादीनाम्**।
2. क च छ – **अक्लिष्टायाः**, ख ग घ – **अक्लिष्टस्य**।

इति स्मरणात्।

वृत्ति के **'क्लिष्ट'** रूप के समान उसका **'अक्लिष्ट'** रूप भी हेय है। अतः वृत्ति के उभयरूप में हेयत्व (त्याज्यत्व) को प्रतिपादित करने के लिये वृत्ति का क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप से विभाग प्रदर्शित किया गया है और विभक्त वृत्तिस्वभाव के क्रम का आधार यह है कि अक्लिष्टस्वभावा वृत्तियों की प्राप्ति के लिये क्लिष्टस्वभावा वृत्तियाँ निरोध के योग्य रहती हैं। तदनन्तर (क्लिष्ट वृत्तियों को पराभूत कर उदित हुई) अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी परवैराग्य के द्वारा निरुद्ध की जाती हैं। क्योंकि **'सत्त्वेन...हि'** इस स्मृति वाक्य से भी द्विस्वभावा निरोद्धव्य वृत्तियाँ यथोक्त क्रमानुसार ही निरोध के योग्य, बतलाई गई हैं। स्मृतिवाक्य का अर्थ है–'सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्तियों से अन्य राजस तथा तामस वृत्तियों का निरोध करे और फिर सात्त्विक वृत्ति के पराकाष्ठारूप परवैराग्यात्मक अक्लिष्ट वृत्ति (परवैराग्य बुद्धि)से भी सामान्य सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करना चाहिये।

बालप्रिया–

'परवैराग्येण'–परवैराग्य का प्रतिपादक सूत्र है–**'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'** १/१६।

सम्प्रति, योगवार्तिककार क्लिष्टवृत्ति की व्याख्या करते हुए वृत्तियों के क्लिष्टाक्लिष्टभेदप्रदर्शन की सार्थकता को शङ्कामुखेन सिद्ध करते हैं–

योगवार्तिकम्

क्लिष्टा व्याचष्टे–क्लेशहेतुका इति। त्रिगुणात्मकतया सर्वासामेव वृत्तीनां [1]क्लेशवत्त्वेन क्लिष्टाऽक्लिष्टविभागो नोपपद्यत इत्यतः क्लेशसम्बन्धविशेषपरतयेत्थं व्याख्यायते। अत्र च हेतुः प्रयोजनम्। क्लेशश्चात्र मुख्य एव ग्राह्यो दुःखाख्यः। तथा च क्लेशहेतुकाः दुःखफलिका विषयाकारवृत्तय इत्यर्थः।

भाष्यकार क्लिष्टवृत्ति की व्याख्या करते हैं–**'क्लेशहेतुका इति।'**

शङ्का–त्रिगुणात्मक होने के कारण समस्त वृत्तियाँ क्लेशकारी हैं। अतः **'क्लिष्ट'** तथा **'अक्लिष्ट'** रूप से वृत्तियों का विभाजन करना युक्तिसङ्गत नहीं है?

समाधान–प्रश्न का समाधान करते हुए वार्तिककार कहते हैं कि क्लेश सम्बन्धविशेषपरक होने के कारण वृत्तियों की उक्त भेदपरक व्याख्या की गई है। (अतः वृत्तिविभाजन को असंगत नहीं कहा जा सकता है)। भाष्य के **'क्लेशहेतुकाः'** पद में प्रयुक्त **हेतु'** शब्द का अर्थ है–प्रयोजन और **'क्लेश'** शब्द से मुख्यतया दुःखसंज्ञक

1. क ग घ च छ – **क्लेशवत्त्वेन**, ख – **क्लेशत्वेन**।

क्लेश को लिया गया है। फलितार्थ यह हुआ कि दुःखफलक विषयाकार वृत्तियाँ '**क्लेशहेतुक**' हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार क्लिष्ट वृत्तियों की क्लेशजनकता के हेतु पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

क्लेशजनकत्वे हेतुः–कर्मेत्यादि। कर्माशयप्रचयानां धर्माधर्म[1]वासनासमूहानां क्षेत्रीभूता आलम्बनीभूताः क्लिष्टा इत्यर्थः। विषयाकारवृत्तिजन्यतृष्णाऽऽद्यभिहतस्तद्धानार्थं यतमानः परपीडाऽनुग्रहाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति, ततश्च दुःखधारा भवतीति भावः।

भाष्यकार क्लिष्ट वृत्तियों की क्लेशजनकता में हेतु को उपन्यस्त करते हैं-'**कर्मेत्यादि**'। 'कर्माशयप्रचय' अर्थात् धर्माधर्मवासनासमूह की '**क्षेत्रीभूत**' अर्थात् आलम्बनीभूत वृत्तियाँ '**क्लिष्ट**' कही जाती हैं। सरलार्थ यह है कि जो वृत्तियाँ धर्म, अधर्म तथा वासनासमूह की उत्पत्ति करने वाली एवं अविद्यादि क्लेशमूल वाली हैं, वे "**क्लिष्ट**' पदवाच्य हैं। विषयाकार वृत्तिजन्य तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति दुःख-हान के लिये प्रयत्न करता हुआ परपीडा और अनुग्रह द्वारा धर्माधर्म का सञ्चय करता है और तब दुःख का **अजस्र-स्रोत** प्रवाहित होता है, ऐसा अभिप्राय है।

क्लिष्ट वृत्तियों के प्रतिपादन के पश्चात् अक्लिष्ट वृत्तियों पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

अक्लिष्टा व्याचष्टे–ख्यातीति। अक्लिष्टा अक्लेशफलिकाः। ताश्च गुणाधिकारविरोधिन्यः, गुणानां सत्त्वादीनामधिकारः कार्यारम्भणं तद्विरोधिन्योऽविद्याकामकर्मादिरूप[2]कारणनाशकत्वात्। ख्यातिविषया विवेकख्यातिसंबद्धा इत्यर्थः। ख्यातिसाधनस्यापि संग्रहाय विषयपदमिति।

भाष्यकार अक्लिष्ट वृत्तियों की व्याख्या करते हैं–'**ख्यातीति**'। '**अक्लेशफलिका**' अर्थात् सुखरूप फल को देने वाली अर्थात् दुःखरूप फल को न देने वाली वृत्तियाँ '**अक्लिष्ट**' कही जाती हैं। ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ गुणाधिकार की विरोधिनी होती हैं। अर्थात् सत्त्वादि गुणों का कार्यारम्भणरूप जो अधिकार है, उनका ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ विरोध करती हैं, क्योंकि ये अविद्या, काम, कर्मादिरूप कारण के नाश की हेतु होती हैं और '**ख्यातिविषया**' अर्थात् विवेकख्याति से सम्बद्ध अर्थात् विवेकज्ञानोत्पादिनी होती हैं। योगवार्त्तिककार भाष्य के '**ख्यातिविषया**' पद में आये

---

1. क ग घ च छ – **वासना०** उपलभ्यते, ख – **वासना०** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **कारण०**, ख – **सहकारिकारण०**।

'विषय' पद का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं–ख्याति (ज्ञान) के साधन का संग्रह करने के लिये भाष्यकार ने **'विषय'** पद का प्रयोग किया है।

बालप्रिया–

'विषयपदम्'–सरलार्थ यह है कि **'ख्याति'** ज्ञान को कहते हैं और ज्ञान सर्वदा सविषयक ही होता है। ज्ञानोत्पत्ति के लिये इन्द्रियादि साधन के समान विषय का होना भी आवश्यक रहता है। विवेकख्यातिविषयिणी अक्लिष्ट वृत्ति के विषय प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व हैं। और ये दो तत्त्व भी परस्पर भेदरूप में अवभासित होते हैं। अतः भाष्यकार ने **'ख्याति'** के साधन के संग्रहार्थ **'ख्याति'** पद के साथ **'विषय'** पद का प्रयोग किया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वृत्तियों के क्लिष्टत्व और अक्लिष्टत्व रूप की परित्याज्यता को एक अन्य शंका के साथ उठाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु सूत्रकारेण तामसीनां सात्त्विकीनां च द्विविधानामेव वृत्तीनां निरोद्धव्यत्वमुक्तं न तु राजसीनां क्लिष्टाक्लिष्टरूपमिश्रवृत्तीनामिति न्यूनतेत्याशङ्क्य मिश्रवृत्तीनामुक्तास्वेवान्तर्भावमाह–क्लिष्टप्रवाहेति। क्लिष्टशेषीभूता अपि अक्लिष्टरूपास्तदंशाः। यद्यपि क्लिष्टच्छिद्रेषु सन्ति तथाऽप्यक्लिष्टा एवाक्लिष्टशब्देन गृहीता भवन्ति। एवमक्लिष्टच्छिद्रेष्वपि क्लिष्टाः क्लिष्टशब्देन गृहीता इत्यर्थः तथा च राजस्या मिश्रवृत्तेरंशाभ्यामंशिन्योः प्रवेश इति न न्यूनता।

शङ्का–सूत्रकार ने तामस और सात्त्विक अर्थात् तमोगुणप्रधान **'क्लिष्ट'** और सत्त्वगुणप्रधान **'अक्लिष्ट'** इन द्विविध प्रकार की वृत्तियों के निरोध के विषय में कहा है, किन्तु क्लिष्टाक्लिष्टोभयात्मक अर्थात् मिश्ररूप राजसवृत्तियों के निरोध का संकेत नहीं किया है। अतः सूत्रग्रन्थ में न्यूनता (कमी) प्रतीत होती है?

समाधान–भाष्यकार मिश्र वृत्तियों का अन्तर्भाव सूत्रोक्त (सात्त्विक एवं तामस) वृत्तियों में ही बतलाते हैं–**'क्लिष्टप्रवाहेति।'** अङ्गिरूप क्लिष्ट वृत्तियों की अङ्गभूत अर्थात् प्रधान क्लिष्ट वृत्तियों की उपसर्जनीभूत होती हुई भी ये अक्लिष्टरूपा वृत्तियाँ आंशिक अक्लिष्टता से युक्त रहती हैं। वार्त्तिककार इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं कि यद्यपि अक्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट वृत्तियों के **'छिद्र'** अर्थात् अन्तराल (क्लिष्ट वृत्तियों की खण्डित अवस्था) में होती हैं, तथापि अक्लिष्टात्मक होती हुई (अपने सुखप्रद स्वरूप के साथ ही) **'अक्लिष्ट'** शब्द से जानी जाती हैं। क्लिष्ट के मध्य पतित अक्लिष्ट वृत्तियों की भाँति अक्लिष्ट के मध्य अवस्थित क्लिष्ट वृत्तियाँ भी क्लिष्टात्मक अर्थात् दुःखप्रद होती हुई **'क्लिष्ट'** शब्द से जानी जाती हैं। इसी प्रकार रजोगुणप्रधान **क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्ति** का अपने अंश

(गौण) और अंशी (प्रधान) वाले दोनों रूपों में प्रवेश हो जाता है। अतः मिश्रवृत्ति के अकथन से किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आती है।

बालप्रिया–

'**न तु राजसीनां क्लिष्टाक्लिष्टरूपमिश्रवृत्तीनाम्**–' ऐसा कहकर विज्ञानभिक्षु ने सात्त्विक और तामस वृत्ति से अतिरिक्त राजस वृत्ति की उभयात्मकता बतलाई है और उसके सुखप्रद और दुःखप्रद उभयरूप पर बल डाला है। इस प्रकार स्वोद्भावित सूत्रगत न्यूनता का परिहार किया है। यह वार्त्तिककार की निजी चिन्तन-शैली है। अपर दृष्टि से ऐसा भी व्याख्यान किया जा सकता है कि सूत्रकार को '**क्लिष्ट**' शब्द से ही राजस और तामस दोनों वृत्तियाँ अभिप्रेत रही होंगी। क्योंकि परपीडा और परानुग्रह दोनों से धर्माधर्म का उपचय होता है और दुःखधारा प्रवाहित होती है। यही क्लिष्ट वृत्तियों का दुःखफलकत्व है। अतः "**क्लिष्ट**' शब्द से ही वृत्ति का राजसरूप भी ध्वनित होता है।

सम्प्रति, क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तिजन्य '**संस्कार**' के विषय में बतलाया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीं वृत्तिनिरोधस्य फलं वक्तुमादौ संसारानर्थबीजं संस्कारं दर्शयति–तथाजातीयका इति। क्लिष्टाक्लिष्टजातीयकाः संस्कारा इत्यर्थः। अस्य जीवभ्रामकस्य वृत्तिसंस्कारचक्रस्य स्तम्भने प्रलये च निरोध एवोपाय इत्याह तदेवंभूतमिति। तत् वृत्तिसंस्कारचक्रात्मकं चित्तम्, एवंभूतं निरोधावस्थम्, अवसिताधिकारं क्रमेण समाप्यमानाधिकारं सदात्म-कल्पेनात्माविभागेन निर्दुःखतया तिष्ठति व्युत्थानपर्यन्तम्। अथ[1] वाऽभ्यासपाटवेनाखिल-संस्कारक्षये सति प्रलयमात्यन्तिकलयमेव गच्छति, विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। निरोधसमाधेः पुनरनुत्थानमेव योगिनां [2]मुक्तिरिति भावः॥५॥

अधुना वृत्तिनिरोध का फल बतलाने के लिये भाष्यकार प्रथमतः नाशकारी संसार के कारण '**संस्कार**' के विषय में बतलाते हैं–'**तथाजातीयका इति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**तथाजातीयकाः**' पद का अर्थ है–क्लिष्टाक्लिष्ट जातीय वाले संस्कार अर्थात् क्लिष्ट वृत्ति और अक्लिष्ट वृत्तिजन्य संस्कार। जीव को भ्रमित करने वाले इन वृत्तिजन्य संस्कारचक्र के स्तम्भन (रुकने) तथा प्रलय (आत्यन्तिक लय) होने में '**निरोध**' ही एक मात्र उपाय है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**तदेवंभूतमिति**।' '**तत्**' शब्द का अर्थ है–वृत्तिजन्य संस्कार और संस्कारजन्य वृत्ति से वर्तुलाकारित चित्त। '**एवंभूत**' शब्द का अर्थ है–निरोधावस्थाक। '**अवसिताधिकार**' शब्द का अर्थ है–

---

1. क ग घ च छ – **अथ**, ख – **किम्**।
2. क ख ग च छ – **मुक्तिः**, घ – **समाधिः**।

क्रमशः समाप्यमान अधिकार वाला अर्थात् कृतकार्य। **'आत्मकल्पेन'** पद का अर्थ है–आत्मा के अविभक्त निर्दुःख रूप से व्युत्थानपर्यन्त अवस्थित रहना। (इन व्यस्त पदों का संगठित अर्थ यह हुआ–वृत्तिजन्य संस्कार और संस्कारजन्य वृत्ति से आबद्ध चित्त समस्त वृत्तियों की निरोधावस्था में समाप्ताधिकार होकर दुःख, मोहादि से शून्य होने के कारण व्युत्थानपर्यन्त गुणातीत पुरुष जैसा रह जाता है। यह जीवन्मुक्तावस्थाक चित्त का वर्णन है)। अथवा अभ्यास के वैशारद्य से यच्च-यावत् संस्कारों का नाश होने पर चित्त **'प्रलय'** अर्थात् आत्यन्तिक लय को प्राप्त होता है अर्थात् योगी विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है। वस्तुतस्तु **'निरोधसमाधि'** अर्थात् असम्प्रज्ञात योग से पुनः व्युत्थान की ओर चित्त का प्रत्यावर्तित न होना ही योगियों की मुक्ति है अर्थात् चित्त की अव्युत्थित अवस्था को ही **'मोक्ष'** कहते हैं॥५॥

भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः–

वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पांच प्रकार की हैं–

योगसूत्रम्

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥६॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति–ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ हैं॥६॥

तत्त्ववैशारदी

ताः स्वसंज्ञाभिरुद्दिशति–प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। निर्देशे यथावचनं विग्रहः। चार्थे द्वन्द्वः समास इतरेतरयोगे।[1] यथा अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या इत्युक्तेऽपि न दिङ्मोहालातचक्रादिविभ्रमा व्युदस्यन्त एवमिहापि प्रमाणाद्यभिधानेऽपि वृत्त्यन्तरसद्भावशङ्का न व्युदस्येतेति तन्निरासाय वक्तव्यं पञ्चतय्य इति। एतावत्य एव वृत्तयो नापराः सन्तीति दर्शितं भवति॥६॥

तत्तत् संज्ञाओं के द्वारा सूत्रकार उन (पूर्व प्रतिज्ञात) वृत्तियों को अभिहित करते हैं–**'प्रमाणेति।'** **'निर्देशे'**=प्रमाण आदि वृत्तियो का लक्षण करने वाले सूत्रों (१/७, ८, ९, १० तथा ११ वें) में लक्ष्य को **'यथावचनम्'**=जिस वचन से कहा गया है, उस वचन का **अतिक्रमण** न करके उसी वचन में विग्रह करना

1. क ख ग थ द ध – **इतरेतरयोगः**, घ च छ ज झ त न – **इतरेतरयोगे।**

चाहिये। विग्रह है–**'प्रमाणानि च विपर्ययश्च विकल्पश्च निद्रा च स्मृतिश्चेति।' 'चार्थे द्वन्द्वः'** (२.२.२९) पाणिनि सूत्र के अनुसार यहाँ **'इतरतरयोग'** में द्वन्द्वसमास विवक्षित है। चित्तवृत्तियों की निश्चित (पञ्च) संख्या के विषय में संभावित आशंकाओं के निवारण के लिये तत्त्ववैशारदीकार सूत्र में 'पञ्चतय्यः' पद के जोड़ने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं–जिस प्रकार **'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'** २/५ अर्थात् (१) अनित्य में नित्य, (२) अशुचि में शुचि (३) दुःख में सुख तथा (४) अनात्म में आत्मबुद्धिरूप अविद्या के प्रतिपादक सूत्र में **'अविद्या'** के चार प्रकार वर्णित होने पर भी दिङ्मोह, आलातचक्र आदि भ्रान्तियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अर्थात् दिङ्मोहादि भ्रान्तियों में **'अविद्यात्व'** का निषेध नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार प्रकृत सूत्र में प्रमाणादि पाँच वृत्तियों का नाम लिये जाने पर भी तदतिरिक्त वृत्तियों (वृत्त्यन्तरों) के अस्तित्व (सद्भाव) के विषय में शंका होना रुकता नहीं है अर्थात् वृत्त्यन्तरों के अस्तित्व का भ्रम बना रहता है। अतः वृत्त्यन्तरसम्बन्धी शंका को दूर करने के लिये अर्थात् योगशास्त्र में वृत्त्यन्तरों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये **'पञ्चतय्यः'** ऐसा कहना चाहिये। **'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः पञ्चतय्यः'**–ऐसा सूत्र होना चाहिये। इससे प्रमाणादि पाँच वृत्तियाँ ही (निरोद्धव्य) हैं, अन्य वृत्तियाँ नहीं–यह सूचित हो जाता है॥६॥

बालप्रिया–

'व्युदस्यन्ते'–(वि+उद्+अस्+झ) एक ओर फैंकना अर्थात् अस्वीकार करना। **'व्युदस्त'** और **'व्युदास'** आदि शब्द भी इसी धातु से निष्पन्न होते हैं॥६॥

योगवार्त्तिकम्

पूर्वसूत्रेण सह योजनार्थं ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तय इति पूरयित्वोत्तरं[1] सूत्रं पठति–प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।सुगमं सूत्रम् ॥६॥

पूर्व सूत्र के साथ अग्रिम सूत्र को संयोजित करने के लिये भाष्यकार 'ताः... **वृत्तयः**' इस पूरित अंश के साथ उत्तर सूत्र को पढ़ते हैं–**'प्रमाणेति।'** सूत्रार्थ सुगम है॥६॥

बालप्रिया–

ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः'– मिश्र-भिक्षु-मतभेद– यह वैयासिक वाक्य प्रस्तूयमान सूत्र का पूरक अवतरणांश है अथवा विगतसूत्र के भाष्य का अंश है? इस विषय में मिश्र तथा भिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने

---

1. **क ख घ च छ – उत्तर०, ग – उत्तरम्।**

उपरिनिर्दिष्ट वैयासिक वाक्य को विगत सूत्र के भाष्य का अन्तिम अंश माना है, और वहीं इस वाक्य का सूत्र के पिण्डीकृत अर्थ के रूप में व्याख्यान भी किया है। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने इसे प्रस्तुत सूत्र के पूरक के रूप में पठित माना है। वस्तुतस्तु उक्त वैयासिक वाक्य के विभिन्न स्थानों में पढ़े जाने का अन्तर व्याख्याकारों के दार्शनिक मत-वैभिन्य को प्रकट नहीं करता है॥६॥

व्यासभाष्यम्

तत्र—

इन पांच प्रकार की वृत्तियों में से—

योगसूत्रम्

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥७॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम— ये तीन प्रमाण (वृत्तियाँ) हैं॥७॥

व्यासभाष्यम्

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषयः सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः [1]बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः। अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकम् चैत्रवत्, विन्ध्यश्चा[2]प्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्या[3]गमस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः, स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्॥७॥

इन्द्रियरूपी नलिका के माध्यम से चित्त का बाह्य वस्तु के साथ सम्पर्क (उपराग) होने से (अर्थात् घट, पट आदि के आकार को धारण कर लेने से) तद्विषयिणी, सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के 'विशेष' (अंश) का प्रधानतया

---

1. ख घ ज द प फ ब म—**बुद्धेः** उपलभ्यते, क ग च छ झ त थ ध न भ प र—**बुद्धेः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न ब भ य— **अप्राप्तेः**, घ द प फ म र — **अप्राप्तिः**।
3. फ— **आगमस्य** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र - **आगमस्य** नोपलभ्यते।

निश्चय करने वाली चित्तवृत्ति 'प्रत्यक्षप्रमाण' है। बुद्धि के साथ अविशिष्ट अर्थात् उस प्रमाण के समान रूप वाला पौरुषेय बोध अर्थात् चित्तवृत्ति का बोध ही (प्रमाण का) फल है। पुरुष, बुद्धि (कृत संवेदन) का प्रतिसंवेदन करने वाला है अर्थात् पुरुष बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न होता है—यह आगे प्रतिपादित किया जायेगा। अनुमेय के सजातीयों में रहने वाला और अनुमेय के विजातीयों में न रहने वाला जो सम्बन्ध अर्थात् लिङ्ग है, उस सम्बन्ध (व्याप्ति) को विषय बनाकर पदार्थ के 'सामान्य' (अंश) को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति 'अनुमानप्रमाण' है। जैसे—चन्द्र और तारे गतिशील हैं, भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचने के कारण, चैत्र के समान। विन्ध्य पर्वत गतिमान् नहीं है, क्योंकि वह भिन्न देशों (स्थानों) में नहीं पहुँचता है। आप्त पुरुष अपने द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित अर्थ का जब दूसरे को बोध कराने के लिये शब्दों से उपदेश करता है, तब शब्दों को सुनने से श्रोता की जो अर्थविषयिणी चित्तवृत्ति बनती है, उसे 'आगम-प्रमाण' कहते हैं। जिस वाक्यरूप आगम का वक्ता वञ्चक (श्रद्धास्पद नहीं) होता है, (तो) उसके द्वारा कहा आगम (वाक्य) प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि उसके द्वारा (स्वयं) पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अनुमित नहीं रहता है। जो विषय मूल वक्ता (आप्त) के द्वारा दृष्ट तथा अनुमित होता है, उस विषय का आगमप्रमाण निर्भ्रान्त होता है॥७॥

तत्त्ववैशारदी

तत्र प्रमाणवृत्तिं विभजन्सामान्यलक्षणमाह—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

इन पांच वृत्तियों में प्रमाणवृत्ति के भेद बतलाते हुए सूत्रकार प्रमाण का सामान्यलक्षण करते हैं—'**प्रत्यक्षेति**।'

बालप्रिया— 'सामान्यलक्षणम्'।

शङ्का—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने '**प्रमाण**' के भेद बतलाये हैं। अतः यह प्रमाण का भेदप्रतिपादक सूत्र है। किन्तु तत्त्ववैशारदीकार ने सूत्र को उठाते हुए उसे भेदपरक के साथ-साथ '**प्रमाण**' का सामान्यलक्षणपरक क्यों माना है?—यह विचारणीय है।

समाधान—आपाततः प्रतीत सूत्रगत न्यूनता के परिहार के लिये, दर्शन-शैली की कसौटी पर सूत्र की 'पूर्णता' सिद्ध करने के लिये, वाचस्पति मिश्र ने '**सामान्यलक्षणम्**' पद का प्रयोग करके अपने चिन्तन को मौलिकता प्रदान की है।

शङ्का—सूत्रगत न्यूनता क्या है?

समाधान–दर्शन-शैली के अनुसार लक्षणीय पदार्थ का '**सामान्यलक्षण**' करने के पश्चात् ही उसका '**विशेषलक्षण**' किया जाता है तथा उसके भेदों पर प्रकाश डाला जाता है। सूत्रकार ने यहाँ लक्षणीय पदार्थ '**प्रमाण**' का सामान्यलक्षण किये विना विशेषलक्षणान्तर्वर्ती प्रमाण के भेद बतलाये हैं, यही सूत्रगत न्यूनता प्रतीत होती है।
शङ्का–ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र असमाधेय सूत्रगत न्यूनता को स्वीकार क्यों नहीं कर लेते हैं?
समाधान–पहली बात यह है कि यहाँ सूत्रगत न्यूनता ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि तुष्यतुदुर्जनन्याय से सूत्र में उक्त न्यूनता मान लेने पर भी वह असमाधेय नहीं है।
शङ्का–सूत्रगत न्यूनता का समाधानपक्ष क्या है?
समाधान–सूत्रगत न्यूनता का परिहार दो प्रकार से किया जा सकता है–पहली तन्त्रयुक्ति तथा दूसरी व्याकरणनीति।

तन्त्रयुक्ति–एक बार उच्चरित पद से एकाधिक अर्थों का बोध कराने की प्रक्रिया का नाम '**तन्त्रयुक्ति**' है। योगिजन विषयसङ्गति के लिये पदों में '**तन्त्र**' मानते हैं। प्रस्तुत सूत्र में '**प्रमाणानि**' पद का प्रयोग एक बार होने पर भी '**तन्त्रयुक्ति**' से इसे दो बार उच्चरित समझना चाहिये। '**प्र**' उपसर्गपूर्वक '**मा**' (**माङ् माने**) धातु से '**करण**' अर्थ में '**ल्युट्**' प्रत्यय करते हुए '**प्रमाण**' पद का विग्रह इस प्रकार किया जाता है–'**प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्**' अर्थात् जिस साधन से प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उसे '**प्रमाण**' कहते हैं। यह '**प्रमाण**' का सामान्य लक्षण है। इस प्रकार एक '**प्रमाण**' पद से सूत्र को प्रमाण का सामान्यलक्षणपरक बनाते हुए द्वितीय '**प्रमाण**' पद से उसे भेदप्रदर्शनपूर्वक प्रमाण का विशेषलक्षणपरक समझना चाहिये। इस प्रकार '**तन्त्रयुक्ति**' से न्यूनता का परिहार हो जाता है।

व्याकरणनीति–'**स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**' यह पाणिनि सूत्र के अनुसार '**प्रमाणानि**' पद में एकशेष है अर्थात् दो '**प्रमाणानि**' पदों के स्थान पर एक '**प्रमाणानि**' पद का प्रयोग हुआ है। सूत्रगत न्यूनता के परिहार के लिये प्रथम '**प्रमाण**' पद को सामान्यलक्षणपरक तथा द्वितीय '**प्रमाण**' पद को विशेषलक्षणपरक समझना चाहिये।

सम्प्रति, स्वप्रतिज्ञा के अनुसार तत्त्ववैशारदीकार प्रमाण, प्रमा तथा प्रमाण-भेद पर विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा। तत्करणं प्रमाणम्। विभागवचनं च न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थम्।

पहले से अज्ञात विषय का बोध कराने वाला, व्यवहार का हेतुभूत पुरुषनिष्ठ ज्ञान '**प्रमा**' कहलाता है। '**प्रमा**' (ज्ञान) के करण (साधन) को '**प्रमाण**' कहते हैं। सूत्र में प्रमाण के '**भेद**' का कथन प्रमाणों की न्यूनाधिक संख्या के परिहार के लिये किया गया है। अर्थात् तीन से कम या तीन से अधिक प्रमाणों की संख्या योग को मान्य नहीं है, यह बतलाने के लिये नामनिर्देशपूर्वक प्रमाणों का विभाजन पतञ्जलि ने सूत्र में किया है।

बालप्रिया–

प्रमा के लक्षण में चार पदों का प्रयोग हुआ है। '**प्रमा**' यह '**लक्ष्य**' पद है तथा शेष तीन '**लक्षण**' पद हैं। लक्षणगत प्रत्येक पद की सार्थकता निम्नाङ्कित प्रकार से बोद्धव्य है–

'**अनधिगततत्त्वबोधः**'–'**तत्त्वबोधः**' के विशेषणरूप में प्रयुक्त '**अनधिगत**' पद की सार्थकता अधिगततत्त्वबोधरूप स्मृति (स्मृत्यात्मक ज्ञान) में प्रमाणात्मक प्रमा के लक्षण को अतिव्याप्त होने से बचाना है। स्मृति का लक्षण है–'**अनुभूतविषया-सम्प्रमोषः स्मृतिः** १/११। अननुभूतविषयज्ञान को '**प्रमा**' कहने पर अनुभूतविषय वाले स्मृतिवृत्तिजन्य ज्ञान को '**प्रमा**' कहने में बाधा आती है। अतः 'प्रमा' के लक्षण में '**अनधिगत**' पद का प्रयोग उचित है।

'**पौरुषेयः**'–इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य बुद्धि के विषयाकाररूप परिणाम, जिसे बुद्धिवृत्ति अथवा बौद्ध प्रमा कहते हैं, से **पौरुषेय** प्रमा को पृथक् करने के लिये '**पौरुषेय**' पद का प्रयोग किया गया है। पौरुषेय प्रमा की निष्पत्ति के लिये यह बौद्ध प्रमा करण का काम करती है। पौरुषेय प्रमा स्वीकार किये विना '**घटमहं जानामि**' इत्याकारक अनुभव भी नहीं हो सकता है और बौद्ध प्रमा स्वीकार किये विना पौरुषेय प्रमा का उदय नहीं हो सकता है। अतः सांख्ययोगशास्त्र में 'प्रमा की उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ स्वीकृत हैं। प्रमा के लक्षणपरक वाक्य में दूसरी (चरम) प्रमा का बोध कराने के लिये '**पौरुषेयः**' पद का प्रयोग सार्थक है।

'**व्यवहारहेतुः**'–बौद्ध प्रमा से 'पौरुषेय प्रमा' के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट करने के लिये प्रमा के लक्षण में '**व्यवहारहेतुः**' पद का प्रयोग किया गया है। बौद्ध प्रमा परिणामरूप है और पौरुषेय प्रमा प्रतिबिम्बरूप है। पुरुष में बुद्धिनिष्ठ ज्ञान का प्रतिबिम्बविधया औपाधिक व्यवहार किया जाता है। वस्तुतस्तु पारमार्थिक दृष्टि से बुद्धिनिष्ठ ज्ञान ही प्रमा है। अतः पौरुषेय प्रमा में परिणामित्व के खण्डनार्थ '**व्यवहारहेतुः**' पद का प्रयोग हुआ है।

'**विभागवचनम्**'–प्रत्येक दर्शन में 'प्रमाण' का विभाजन पृथक्-पृथक् प्रकार से किया गया है। तदर्थ अतिप्रसिद्ध श्लोक निम्नाङ्कित हैं–

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः। अनुमानञ्च तच्चापि सांख्यशब्दश्च ते उभे॥
नैयायिकैकदेशिनोऽप्येवं उपमानं च केचन। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्राभाकराः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः॥

प्रमाण का सामान्यलक्षण करने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तत्र सकलप्रमाणमूलत्वात्प्रथमतः प्रत्यक्षं लक्षयति–इन्द्रियेति। अर्थस्येति समारोपितत्वं निषेधति। तद्विषयेति बाह्यगोचरतया ज्ञानाकारगोचरत्वं [1]निवारयति। चित्तवर्तिनो ज्ञानाकारस्य बाह्यज्ञेयसम्बन्धं दर्शयति–बाह्यवस्तूपरागादिति। व्यवहितस्य तदुपरागे हेतुमाह–इन्द्रियप्रणालिकयेति।

भाष्यकार सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हैं, क्योंकि प्रत्यक्षेतर (अनुमान तथा आगम) प्रमाण प्रत्यक्षप्रमाणसापेक्ष हैं अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण इतर प्रमाणों का उत्पत्ति-स्थल है–'**इन्द्रियेति**'। इन्द्रियों के द्वारा चित्त का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होने से उनको अपना विषय बनाने वाली, सामान्य और विशेषरूप पदार्थ के '**विशेष**' अंश का प्रधानरूप से निश्चय कराने वाली वृत्ति '**प्रत्यक्ष**' प्रमाण कहलाती है। व्यासकृत प्रत्यक्ष के लक्षणपरक वाक्य में प्रयुक्त पदों को उठाकर उनकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं–'**अर्थस्येति**'। '**अर्थ**' पद समारोपित पदार्थ का निषेध करता है अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति का विषय यथार्थ (असमारोपित) होता है। शुक्ति में आरोपित रजत तथा रज्जु में आरोपित सर्प के समान आरोपित (अतद्रूप) पदार्थविषयक प्रत्यक्षप्रमाण नहीं होता है। इस प्रकार समारोपित पदार्थ-विषयक '**विपर्यय**' वृत्ति से प्रत्यक्षवृत्ति भिन्न है–इसे ज्ञापित करने के लिये प्रत्यक्षवृत्ति के लक्षण में '**अर्थस्य**' पद का प्रयोग किया गया है।

असमारोपित विषय बाह्य या आन्तर भेद से दो प्रकार का है। यहाँ कौन सा विषय अभिप्रेत है–इसे स्पष्ट किया जा रहा है–'**तद्विषयेति**'। '**विषय**' पद बाह्यस्थ पदार्थ का बोधक होने से अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति बाह्य पदार्थविषयक होने से वह ज्ञानाकारविषयता का निषेध करता है। (वस्तुतस्तु क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य विषय को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार क्षणिक विज्ञानस्वरूप बुद्धि ही बाह्याकाररूप से भासित होती है। बौद्धों के इस मत के खण्डनार्थ ही प्रत्यक्षवृत्ति के लक्षण में '**तद्विषया**' पद का सन्निवेश किया गया है। अर्थात् योगसम्मत प्रत्यक्षप्रमाण का विषय '**बाह्य**' है, न कि विज्ञानरूप '**आन्तर**' पदार्थ)।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **निवारयति**, थ द ध – **वारयति**।

बाह्य ज्ञेय (पदार्थ) के साथ होने वाले चित्तनिष्ठ ज्ञान के सम्बन्ध को भाष्यकार दिखलाते हैं–'**बाह्यवस्तूपरागादिति**।' बाह्य विषय के साथ चित्त का '**उपराग**' (संयोग सम्बन्ध) **होता है**। न्यायशास्त्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को '**संयोग**' कहते हैं। योगशास्त्र में चित्त का विषय के साथ '**उपराग**' होता है। '**उप**' उपसर्गपूर्वक '**रञ्ज रागे**' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न 'उपराग' शब्द उस 'सामीप्य' का बोधक है, जिसमें चित्त विषयदेशपर्यन्त पहुँचकर विषयानुरञ्जित होता है अर्थात् विषय के आकार से आकारित होता है। अतः न्यायसम्मत विषय-संयोग से योगसम्मत विषय-संयोग का वैशिष्ट्य बतलाने के लिये '**उपराग**' शब्द का प्रयोग किया गया है)।

व्यवहित विषय के साथ चित्त के अनुरक्त होने में भाष्यकार कारण बतलाते हैं–'**इन्द्रियप्रणालिकयेति**'।'इन्द्रियरूप प्रणालिका के द्वारा चित्त का बाह्य '**विषय**' के साथ '**उपरागात्मक**' सम्बन्ध होता है।

बालप्रिया–

'**प्रणालिका**'–प्र+नल्+घञ् =प्रणाल, प्रणाल+ङीष् =प्रणाली, प्रणाली+कन्–टाप् ह्रस्वः = **प्रणालिका**। जिस प्रकार तडागस्थ जल और क्षेत्र (खेत) की मध्यवर्ती दूरी कुल्या आदि द्वारा पाटी जाती है अर्थात् कुल्यारूप नलिका दो दूरवर्ती पदार्थों में सम्पर्क स्थापित कराती है। फलतः तडागस्थ जल को क्यारी के आकार में परिणत होने में बाधा नहीं पड़ती है। उसी प्रकार आन्तर चित्त और बाह्य विषय की व्यवहितता इन्द्रियरूप (चक्षुरादिरूप) साधन से समाप्त की जाती है। अतः चित्त का विषय के साथ '**उपरागात्मक**' सम्बन्ध (विषयानुरञ्जन, विषयाकाररूप परिणाम) होने में कोई सैद्धान्तिक बाधा नहीं आती है। दृष्टान्त (तडागस्थ जल) और दार्ष्टान्त (चित्त) में अन्तर यह है कि जल का विषयदेशपर्यन्त पहुँचकर तदाकाराकारित (त्रिकोणाकारित, चतुष्कोणाकारित अथवा वर्तुलाकारित) होना '**प्रत्यक्ष**' है किन्तु चित्त की 'विषयोपरागजनित तद्रूपा परिणति '**अनुमेय**' मात्र है।

'**इन्द्रियप्रणालिकया**'–उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि 'चित्तवृत्ति' ही मुख्य प्रमाण (साधन) है। द्वारभूत चक्षुरादि में प्रमाणत्व का व्यवहार गौण है। जिस प्रकार लोक में नेत्रादिगत काच, कामलादि (पीलियादि) दोष के सद्भाव (अन्वय) अथवा असद्भाव (व्यतिरेक) के कारण शंख में पीतिमा की प्रतीति अथवा अप्रतीति होती है, उसी प्रकार योगशास्त्र में इन्द्रियसहयोग (इन्द्रियसाहित्य) से ही चित्त का अर्थाकार परिणाम होता है अर्थात् इन्द्रियनिरपेक्ष चित्त की विषयाकारिता नहीं होती है। इसलिये चक्षुरादि में '**करणत्व**' का व्यवहार किया जाता है।

सम्प्रति, चित्त-परिणाम के आधारभूत **'विषय'** (अर्थ, पदार्थ) का स्वरूप बतलाया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

सामान्यमात्रमर्थ इत्येके। विशेष[1] एवेत्यन्ये। सामान्यविशेषतद्वत्तेत्यपरे वादिनः प्रतिपन्नाः तन्निरासायाह–सामान्यविशेषात्मन इति न तद्वत्ता, किं तु तादात्म्यमर्थस्य। एतच्च एकान्तानभ्युपगमाद् इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते।

कुछ दार्शनिक अर्थ (पदार्थ, विषय) को **'सामान्यमात्र'** ही मानते हैं। कुछ दार्शनिक अर्थ को **'विशेषरूप'** ही कहते हैं तथा किसी के मत में पदार्थ **'सामान्य'** और **'विशेष'** दोनों से युक्त होता है अर्थात् **'सामान्यविशेषविशिष्ट'** होता है। इन तीनों मतों का खण्डन करने के लिये भाष्यकार योगानुसारी स्वमत को बतलाते हैं– **'सामान्यविशेषात्मन इति।'** पदार्थ **'सामान्यविशेषविशिष्ट** नहीं, अपितु तदात्मक है अर्थात् सामान्य और विशेष, पदार्थ के **'धर्म'** नहीं, अपितु **'स्वरूप'** हैं। इस प्रकार चित्त-परिणाम का आधारभूत विषय **'सामान्यविशेषात्मक'** है। यह तथ्य **'एकान्तान-भ्युपगमात्'** प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जायेगा।

बालप्रिया–

'सामान्यमात्रमर्थः'–यह मत **'आकृति'** पदार्थवादी मीमांसकों का है। भाट्टसम्प्रदाय के अनुसार यद्यपि त्वक् और चक्षुरिन्द्रिय व्यक्तिविशेष (घट, पट आदि) को ही ग्रहण करती है, **'घटत्व', 'पटत्व'** आदि 'सामान्य' (जाति) मात्र को नहीं, तथापि द्रव्य के साथ 'सामान्य' का तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध है। इसीलिये चक्षुरादि इन्द्रियाँ पदार्थगत 'सामान्य' का ही ग्रहण करती हैं। भाट्टसम्मत आकृतिवाद का विवेचन **'आकृतिस्तु क्रियाऽर्थत्वात्'** सूत्र में किया गया है।

'विशेष एव'–यह मत **'स्वलक्षणविषयक'** ज्ञानप्रामाण्यवादी बौद्धों का है। इनके मत में प्रत्येक पदार्थ क्षणिक **'स्वलक्षणक'** है। वे क्षणिक पदार्थ में **'सामान्य'** (जाति) रूप धर्म को स्वीकार नहीं करते हैं। क्योंकि **'सामान्य'** तो अनेक पदार्थानुगत नित्य धर्म है। इनके मत में जब पदार्थ ही नित्य नहीं है तब धर्मिरूप अधिकरण की अपेक्षा रखने वाला **'सामान्य'** ही कैसे नित्य हो सकता है? दूसरी बात यह है कि अनेक क्षणिक घटों की एक साथ स्थिति सम्भव न होने से उनमें अनेक घटानुगत सामान्य धर्म भी नहीं माना जा सकता है। तीसरा तथ्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ का पृथक्-पृथक् **'स्वलक्षण'** (वैशिष्ट्य) होता है। अतः इनके मत में प्रत्यक्ष प्रमाण से

1. क घ च छ ज झ त न – **विशेषः**, ख ग थ द ध – **विशेषाः**।

द्रव्यमात्र (स्वलक्षणक विशेष) का ही प्रत्यक्ष होता है। पदार्थ में अन्य कोई '**धर्म**' ही नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष हो सके।

'**सामान्यविशेषतद्वत्ता**'–यह मत जात्याकृतिव्यक्तिपदार्थवादी नैयायिकों का है। ये लोग '**जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः**–ऐसा मानते हैं। इनके मत में जातिविशिष्ट व्यक्ति (सामान्यविशिष्ट व्यक्तिविशेष) का ही प्रत्यक्ष होता है।

'**सामान्यविशेषात्मनः**'–यह मत सामान्यविशेषात्मक तत्त्ववादी योगाचार्यों का है। इनके मत में पदार्थ 'सामान्यमात्र', 'विशेषमात्र', अथवा '**सामान्यविशेषतद्वत्ता**' रूप नहीं है, अपितु '**सामान्यविशेषस्वरूप**' है। यहाँ सामान्य-विशेष शब्द से धर्म-धर्मी का ग्रहण होता है। जिस प्रकार धर्म-धर्मी में तादात्म्यसम्बन्ध है, उसी प्रकार 'सामान्य-विशेष' में भी तादात्म्यसम्बन्ध समझना चाहिये।

'**एकान्तानभ्युपगमात्**'–यह प्रसंग योग सूत्र ३/१३ के व्यासभाष्य की व्याख्या करते हुए उठाया जायेगा। सूत्र है–'**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः**।

योगसम्मत '**पदार्थ**' का स्वरूप क्या है– यह जिज्ञासा शान्त हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, अनुमान तथा आगम प्रमाण के विषयभूत 'पदार्थ' के स्वरूप से भिन्न प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के कौन से रूप का प्रत्यक्ष होता है, यह बतलाने के लिये विवेचन प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अनुमानागमविषयात्प्रत्यक्षविषयं व्यवच्छिनत्ति–विशेषावधारणप्रधानेति। **यद्यपि सामान्यमपि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तथापि विशेषं प्रत्यपसर्जनीभूतमित्यर्थः।** एतच्च **साक्षात्कारोपलक्षणपरम्। तथा च विवेकख्यातिरपि लक्षिता भवति।**

अनुमान और आगमवृत्ति के विषय से प्रत्यक्षवृत्ति के विषय को भाष्यकार पृथक् करते हैं–'**विशेषावधारणप्रधाना इति**।'प्रत्यक्षवृत्ति विशेषावधारणप्रधाना होती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षवृत्ति में यद्यपि (पदार्थनिष्ठ) '**सामान्य**' रूप भी स्फुरित होता है, तथापि (प्रत्यक्षवृत्ति का विषयभूत) वह '**सामान्य**' (पदार्थगत) '**विशेष**' के प्रति गौण (अप्रधान) रूप से भासित होता है। किञ्च प्रत्यक्षप्रमाण से होने वाला यह 'प्रत्यक्षात्मक' ज्ञान '**साक्षात्कार**' का उपलक्षक (बोधक) है। इससे विवेकख्याति-रूप साक्षात्कार भी अभिलक्षित होता है।

बालप्रिया–

'**विशेषावधारणप्रधाना**'–प्रत्यक्षवृत्ति '**सामान्याऽवधारणप्रधाना**' अनुमानवृत्ति से भिन्न है। इसी प्रकार अनुमानमूलक आगमवृत्ति से भी यह भिन्न है। '**पर्वतो वह्निमान्, धूमात्**,'**स्थल** में अनुमान प्रमाण से पर्वतीय वह्नि का अनुमित्यात्मक ज्ञान

(अनुमिति) होता है जब कि प्रत्यक्षप्रमाण से पाकशाला में 'व्यक्तित्वेन' पाकशालीय वह्नि का प्रत्यक्ष होता है। अतः पदार्थगत विशेष का मुख्यतया निश्चय कराने वाली वृत्ति **'प्रत्यक्ष'** है।

'विवेकख्यातिः'–घट, पटादि स्थूल विषय का प्रत्यक्षज्ञान कराने में योगशास्त्र का ध्येय नहीं है। घट, पटादि स्थूलविषय तो सर्वजनवेद्य ही हैं। साधना के माध्यम से साक्षात्कार (प्रत्यक्ष ज्ञान) स्थूल से सूक्ष्म विषय की ओर बढ़ता हुआ अन्त में जड़-चेतन के भेदज्ञानरूप प्रत्यक्षज्ञान में पर्यवसित होता है। अतः विवेकख्याति को भी प्रत्यक्षवृत्ति में अन्तर्हित समझना चाहिये।

सम्प्रति, चित्तवृत्तिजन्य **'प्रमा'**, जिसे **'फल'** शब्द से अभिहित किया गया है, पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

फलविप्रतिपत्तिं निराकरोति–फलं पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध इति। ननु पुरुषवर्ती बोधः कथं चित्तगताया वृत्तेः फलम्, न हि खदिरगोचरव्यापारेण परशुना पलाशे छिदा क्रियत इत्यत आह–अविशिष्ट इति। न हि पुरुषगतो बोधो जन्यते, अपि तु चैतन्यमेव बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं[1] बुद्धिवृत्त्यार्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलम्। तच्च तथाभूतं बुद्धेरविशिष्टं बुद्ध्यात्मकम्, वृत्तिश्च बुद्ध्यात्मिकेति सामानाधिकरण्याद्युक्तः प्रमाणफलभाव इत्यर्थः।

(चित्तवृत्तिजन्य) 'फल' के विषय में पारस्परिक असंगति का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'फलं पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध इति।'** चित्तवृत्ति से उत्पन्न पुरुषनिष्ठ ज्ञान फल अर्थात् **'प्रमा'** है। अर्थात् विषयरूपिणी चित्तवृत्ति को विषय करने वाला ज्ञान, जो पुरुषनिष्ठ है, वृत्तिजन्य **'प्रमा'** (फल) कहलाता है।

शङ्का–चित्तगत वृत्ति (प्रमाण) का 'फल' (प्रमा) पुरुषवर्ती 'बोध' कैसे हो सकता है? अर्थात् पुरुषगत बोध को चित्तवृत्तिरूप प्रमाण का फल (प्रमा) कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि खदिर के वृक्ष में परशु (कुल्हाड़ी) चलाने पर पलाश के वृक्ष में 'छेदन' रूप फल नहीं देखा जाता है। परशु साधन से निष्पादित खण्ड-क्रिया के अधिष्ठानभूत खदिर वृक्ष में ही 'छेदन' फल की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) देखी जाती है। इसी प्रकार प्रकृत में चित्त का वृत्तिरूप व्यापार चित्त में और चित्तवृत्तिरूप व्यापार का पौरुषेयबोधरूप फल पुरुष में कैसे हो सकता है? चित्तरूप अधिकरण में

---

1. क ख ग थ द ध – **बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं** उपलभ्यते, घ च छ ज झ त न – **बुद्धि...बिम्बितं** नोपलभ्यते।

उदित विषयव्यापाररूप वृत्ति (क्रिया) का 'प्रमा' रूप फल भी उसी चित्ताधिकरण में ही होना चाहिये।

समाधान–(आपाततः प्रतीत उक्त असंगति के स्पष्टीकरण के लिये) व्यासदेव ने कहा है–'**अविशिष्ट इति**।' पुरुष में ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न नहीं होता है, वह तो ज्ञानस्वरूप (चैतन्यात्मक) ही है अर्थात् पुरुष में नित्यज्ञान है। अनित्य विषयज्ञान के साथ सम्बन्धित पुरुष में कथित 'पौरुषेय बोध' की मान्यता इस प्रकार है–अर्थाकारित=विषयाकारित बुद्धिवृत्ति से तदाकारता को प्राप्त होना पुरुष का 'फल' है। ('यह प्रमा'=फल जन्य है)। इस प्रकार का जन्य प्रमारूप फल बुद्धि से '**अविशिष्ट**'=अविभक्त है अर्थात् 'बुद्ध्यात्मक' है और 'वृत्ति' भी बुद्ध्यात्मिका है। अतः सामानाधिकरण्य (बुद्धि अधिकरण में वृत्ति और वृत्तिजन्य फल दोनों के) होने के कारण प्रमाण-प्रमा-भाव (व्यवस्थित) है।

बालप्रिया–

'**चित्तवृत्तिबोधः**'–भाषानुवाद की सीमा से मुक्त होकर उपर्युक्त तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है–चक्षुरादि इन्द्रियरूप प्रणाली=नलिका द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने के पश्चात् (बाह्य पदार्थ के साथ चित्त का '**उपराग**' होने से) उत्पन्न होने वाली '**अयं घटः**' इत्याकारिका चित्तवृत्ति 'प्रत्यक्ष प्रमाण नाम से व्यवहृत होती है। '**अयं घटः**' इस चित्तवृत्ति का '**बोध**' अर्थात् तत्तदर्थोपरक्त चित्तवृत्तिविषयक '**घटमहं जानामि**'–इत्याकारक जो अनुभव (ज्ञान=प्रमा) होता है, वही प्रमाणरूप चित्तवृत्ति का '**फल**' कहलाता है। और यह फलरूप '**बोध**'–बौद्ध नहीं है, अपितु बुद्धि (दर्पण) में प्रतिबिम्बित पुरुष की प्रतिबिम्बाधाररूपा बुद्धि से अभेदापत्ति (तादात्म्यप्रतीति) होने से पुरुष में ज्ञानादि (विषयज्ञानमत्ता) उपचरित होने के कारण–'**पौरुषेय**' रूप है। फलरूप बोध को '**पौरुषेय**' कहने से '**बोध**' की पुरुषनिष्ठता नहीं बतलाई जा रही है, अन्यथा प्रमातृत्वादि धर्मों से (पुरुष प्रमाता है–ऐसा कहने से) पुरुष '**परिणामी**' होने लगेगा। यहाँ फलरूप बोध से पुरुष की 'बुद्धिवृत्ति के साथ अविशिष्टता अर्थात् अभिन्नता ही प्रतिपादित की गई है। चिति-चित्त में अभेद स्थापित होने से पुरुष में उपचरित 'बोध' वस्तुतस्तु बुद्धिवृत्त्यात्मक ही है। ऐसा पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है–'**प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याऽऽख्यायते**।'

तत्त्ववैशारदी

एतच्चोपपादयिष्याम इत्याह–बुद्धेः[1] प्रतिसंवेदीति।

1. थ द ध – **बुद्धेः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **बुद्धेः** नोपलभ्यते।

पौरुषेय बोध की उक्त मान्यता आगे स्पष्ट की जायेगी, इस तथ्य को भाष्यकार इस प्रकार संकेतित करते हैं–**प्रतिसंवेदीति।'** चिच्छायापत्ति से बुद्धि वस्तुसंवेदिनी (विषयानुभवनी) होती है और इस बुद्धिकृत संवेदन (अनुभव) का प्रतिसंवेदन (प्रत्यनुभव) करने वाला पुरुष बुद्धि का **'प्रतिसंवेदी'** (प्रत्यनुभावक) कहा जाता है।

बालप्रिया–

'प्रतिसंवेदी'–प्रतिसंवित् (प्रति+सम्+विद्+क्विप्) **संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिरूपस्तत्ता-दात्म्याऽऽपन्नत्वेन तत्समानाकारः पुरुष इति।** सत्त्वगुणप्रधान बुद्धिरूप दर्पण में पुरुष के प्रतिबिम्ब का संक्रमण ही पुरुष में बुद्धिप्रतिसंवेदित्व का नियामक है। जिस प्रकार बिम्बभूत चन्द्र में चलन (कम्पन) क्रिया न होते हुए भी जल में उपसंक्रमित चन्द्रप्रतिबिम्ब ही, जलगत चलन क्रिया की प्रतीति का आधार बनता हुआ बिम्बभूत चन्द्र में चलन-क्रिया का आभास कराता है अर्थात् प्रतिच्छाया (प्रतिबिम्ब) अपने में आरुढ़ आकस्मिक धर्मों को छाया (बिम्ब) में उपचरित कराती है। उसी प्रकार चितिव्यापार के विना भी बुद्धि (विषयाकाराकारित बुद्धि में, न कि निर्वृत्तिक बुद्धि) में उपसंक्रमित चित्प्रतिबिम्ब अपने में बुद्धिगत ज्ञानादि क्रिया का आरोप करता हुआ बिम्बभूत असंग पुरुष में ज्ञानादि क्रिया का आभास कराता है, जिससे चित् (चितिशक्ति) अपने को 'प्रमाता' (प्रमात्री) समझता है। पारमार्थिक दृष्टि से पुरुष **'प्रमाता'** नहीं है और न ही वह बुद्धिनिष्ठ बोध 'फल' वाला है। ऐसा ही आदित्यपुराण में कहा गया है–

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसत्तया। यथा यथा भवेद् बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते॥'

किरणावली में भी कहा गया है–**'चित्तवृत्तेः फलं यः पुरुषवर्ती बोधः अर्थात् बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः, सा मुख्या प्रमा। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणम्।'**

प्रत्यक्षप्रमाण और तज्जन्य (गौण तथा मुख्य) प्रमा का स्वरूप विस्तारपूर्वक प्रतिपादित करने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार क्रमप्राप्त अनुमान प्रमाण पर विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

प्रत्यक्षानन्तरं प्रवृत्त्यादिलिङ्गकश्रोतृबुद्ध्यनुमानप्रभवसंबन्धदर्शनसमुत्थतयाऽऽगमस्यानु-मानजत्वादनुमितस्य चागमेनान्वाख्यानादागमात्प्रागनुमानं लक्षयति–अनुमेयस्येति।

प्रत्यक्ष के पश्चात्–प्रवृत्त्यादिलिङ्गक श्रोतृज्ञानानुमान के कारण संबन्धदर्शन अर्थात् शक्तिग्रह का उदय होता है, इससे आगमप्रमाण के अनुमानमूलक अर्थात् अनुमानजन्य होने से तथा अनुमित पदार्थ का आगमप्रमाण के द्वारा अन्वाख्यान

अर्थात् दृढ़तापूर्वक स्थापन होने से—आगमवृत्ति से पूर्व अनुमानवृत्ति का लक्षण (भाष्यकार) करते हैं—'**अनुमेयस्य इति।**'

बालप्रिया—

'प्रत्यक्षानन्तरं...अनुमानं लक्षयति'—

शङ्का—जिज्ञासा है कि जब प्रमाणत्रय का प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह सर्वसम्मत क्रम प्रसिद्ध है तब वाचस्पति मिश्र ने अनुमान प्रमाण को द्वितीय स्थान पर निर्धारित करने के लिये हेतूपन्यास का अतिरिक्त बौद्धिक श्रम क्यों किया?

समाधान—आचार्य उद्योतकर के मत के खण्डनपूर्वक स्वमतस्थापन के लिये वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में यह प्रसङ्ग उठाया है। उद्योतकर की उक्ति (मान्यता) हैं—'**उभयं महाविषयं शब्दश्च प्रत्यक्षं च। कथमिति? प्रत्यक्षेणापि सामान्य-विशेषतद्वतां ग्रहणं, शब्देनाऽपि**—' अर्थात् प्रत्यक्ष और आगम दोनों प्रमाणों में 'सारूप्य' अर्थात् समानविषयत्व है। दोनों से सामान्य और विशेषविशिष्ट पदार्थ का ग्रहण होता है। जब कि अनुमान में 'वैरूप्य' अर्थात् असमानविषयत्व है। अनुमान प्रमाण सामान्यविषयक ही होता है। अतः विषयग्रहण की समानता की दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमाण के अनन्तर आगम प्रमाण का निरूपण होना चाहिये और आगम प्रमाण के पश्चात् अनुमान **को** प्रतिपादित किया जाना चाहिये।

आचार्य उद्योतकर के उक्त मत का खण्डन करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने दो युक्तियाँ दी हैं—पहली आगम प्रमाण की प्रत्यक्ष-सापेक्षता तथा दूसरी अनुमान से असिद्ध पदार्थ का आगमप्रमाण से सिद्ध होना।

१. '**आगमस्यानुमानजत्वात्**'—प्रयोजक वृद्ध के '**गामानय**' वाक्य को सुनने के पश्चात् **मध्यम वृद्ध** की गवानयनक्रिया को देखकर जिज्ञासु बालक इस प्रकार निर्धारण करता है—

एतत्प्रवृत्तिरेतत्कार्यज्ञानपूर्विका—प्रतिज्ञा।

स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात्—हेतु।

मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिवत्—उदाहरण।

निम्नाङ्कित प्रकार से भी अनुमान-प्रयोग किया जा सकता है—

प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिः गवानयनविषयकज्ञानजन्या—प्रतिज्ञा।

गवानयनविषयकप्रवृत्तित्वात्—हेतु।

या यद्गोचरप्रवृत्तिः सा तद्विषयकज्ञानजन्या, यथा स्वीयस्तन्यपानप्रवृत्तिः-उदाहरण

उक्त अनुमान से जब वह प्रयोज्यवृद्धगत गवानयनविषयक ज्ञान का अनुमान कर लेता है, तो फिर दूसरा अनुमान करता है—

इदं गवानयनविषयकज्ञानं प्रयोजकवृद्धोच्चारितवाक्यजन्यम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तज्जन्यं यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायि घटः—इस प्रकार अनुमान करके वह व्युत्पित्सु बालक यह निश्चित करता है कि '**गामानय**' इस पूरे वाक्य का 'सास्नादिमती व्यक्ति लाओ' यह अर्थ है।

फिर जब '**गां बधान अश्वमानय**' वाक्य को सुनकर प्रयोज्य वृद्ध लाये हुए जीव को शङ्कु-रज्जु से संयुक्त कर, एक दूसरे जीव को लाता है, तब व्युत्पित्सु बालक देखता है कि प्रयोज्य वृद्ध ने '**गामानय**' इस वाक्य में से '**आनय**' शब्द का उद्वाप (प्रक्षेप) किया तो वही जीव, शङ्कु-रज्जु से संयुक्त कर दिया गया। अतः उक्त रीति से अनुमान कर बालक यह निश्चय करता है कि '**गां**' पद की शक्ति 'गो' में, '**आनय**' पद की शक्ति 'आहरण' में तथा '**बधान**' पद की शक्ति 'शङ्कुरज्जुसंयोगानुकूल-व्यापार' में है।

इस प्रकार चाहे वाक्यनिष्ठ शक्तिज्ञान हो अथवा पदनिष्ठ शक्तिज्ञान हो—दोनों के मूल में अनुमान रहता है। वैसे अन्यान्य प्रमाणों से भी शक्तिज्ञान होता है, परन्तु जहाँ अनुमान और शब्द की बात आती है वहाँ अनुमान शब्दप्रमाण का उपजीव्य होने से प्राथमिकता को प्राप्त करता है। इस प्रकार आगमप्रमाण की अनुमानसापेक्षता स्फुट है। शक्तिग्रह के अन्यान्य साधन इस प्रकार हैं—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमनाकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् व्यवहारतश्च सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'— मुक्तावली।

२. '**अनुमितस्य चागमेनान्वाख्यानात्**'—अनुमित पदार्थ आगम (श्रुति) से दृढीकृत भी होता है। जैसे '**भेदानां परिमाणात्**' (सां. का. १५) कारिका द्वारा अनुमित प्रकृति तत्त्व की निम्नाङ्कित श्रुति द्वारा परिपुष्टि की जाती है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इस प्रकार अनुमानप्रमाण के द्वितीय स्थान की असन्दिग्धता सुनिश्चित हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, अनुमानवृत्ति को विशदीकृत किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

जिज्ञासितधर्मविशिष्टो धर्म्यनुमेयः, तस्य तुल्यजातीयाः साध्यधर्मसामान्येन समानार्थाः सपक्षास्तेष्वनुवृत्त इत्यनेन विरुद्धत्वमसाधारणत्वं च साधनधर्मस्य निराकरोति। भिन्नजातीया असपक्षाः, ते च सपक्षादन्ये तद्विरुद्धास्तद[1]भावश्च तेभ्यो व्यावृत्तः, तदनेन साधारणानै-

1. क थ द ध – अभाववन्तः, ख ग ग च छ ज झ त न – अभावः।

कान्तिकत्वमपाकरोति। संबध्यत इति संबन्धो लिङ्गम्। अनेन पक्षधर्मता दर्शयन्नसिद्धतां निवारयति। तद्विषया तन्निबन्धना, षिञ् बन्धने इत्यस्माद्विषयपदव्युत्पत्तेः।

जिज्ञासित सन्दिग्ध धर्म (पर्वत धर्म) से विशिष्ट (युक्त) धर्मी=साध्य (वह्नि) अनुमेय होता है। अर्थात् साध्यविशिष्ट पक्ष (वह्निसाध्यविशिष्ट पर्वत पक्ष) अनुमेय=अनुमान के योग्य होता है। शब्दान्तर में पर्वतीय वह्नि अनुमेय है, क्योंकि वह्नित्वेन वह्नि पाकशाला में पहले से ही दृष्ट है। साध्यविशिष्ट 'पक्ष' की तरह 'सपक्ष' में वह्नि साध्य के अस्तित्व को बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र 'सपक्ष' का लक्षण करते हैं—साध्यरूपी धर्म से युक्त होने के कारण जो तत्समान पदार्थ होते हैं उन्हें 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे साध्य वह्नि से युक्त 'महानस' आदि पदार्थ 'सपक्ष' कहलाते हैं। इन सपक्षों में अनुमेय अनुवृत्त रहता है अर्थात् सपक्ष पाकशाला में अनुमेय वह्नि पहले से विद्यमान है।

'सपक्ष' में साध्य 'वह्नि' की सत्ता क्यों बतलाई जा रही है? इसे स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र असद् हेतु की त्याज्य परिधि को संकेतित करना चाहते हैं—इससे अर्थात् सपक्ष में अनुमेय की अनुवृत्तता से, साध्य के साधन धर्म (जैसे वह्निसाध्य के धूमसाधन) में विरुद्धत्व तथा असाधारणधर्मत्व का निराकरण करना है अर्थात् सद्धेतु को 'विरुद्ध' तथा 'असाधारण अनैकान्तिक' संज्ञक हेत्वाभासों से पृथक् करना है। यह '**अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तः**' की व्याख्या है। साध्यरूपी धर्म से भिन्नजातीय पदार्थ असपक्ष कहलाते हैं। ये असपक्ष पदार्थ सपक्ष से भिन्न होते हैं। अतः ये सपक्ष से विरुद्ध और सपक्ष के साध्यरूपी धर्म के अभाव वाले होते हैं—इत्याकारक असपक्षों (जिसे 'विपक्ष' भी कहते हैं) से=साध्यविशिष्ट पक्ष से भिन्न प्रकार के पदार्थों से अनुमेय व्यावृत्त रहता है। अर्थात् असपक्ष (विपक्ष) जलाशयादि में अनुमेय वह्नि का अभाव (अनस्तित्व) रहता है—इससे अर्थात् विपक्ष में अनुमेय की व्यावृत्तता से, 'साधारण अनैकान्तिक' संज्ञक हेत्वाभास निरस्त हो जाता है। यह '**अनुमेयस्य भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः** भाष्यांश की व्याख्या है। '**संबध्यत इति सम्बन्धः**' अर्थात् जो (साध्य के साथ) सम्बद्ध होता है, वह 'सम्बन्ध' कहलाता है, जिसे लिङ्ग अर्थात् हेतु कहते हैं। जैसे धूम और वह्नि में साध्यसाधनभाव अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। यहाँ धूम अपने 'वह्निसम्बन्धी' के साथ 'लिङ्ग' अथवा 'कारण' रूप सम्बन्ध से सम्बन्धित है। इससे हेतु (व्याप्य) की पक्षधर्मता (जैसे धूमहेतु की पर्वतादिवृत्तिता) को प्रदर्शित करते हुए असिद्धता ('**असिद्ध**' नामक हेत्वाभास) का प्रतिषेध किया जाता है। इस प्रकार की सम्बन्धविषयिणी अर्थात् हेतुरूपविषयनिबन्धिनी यह अनुमानवृत्ति होती है। '**षिञ् बन्धने**' धातु से विषय पद का व्युत्पादन अर्थात् निर्वचन किया जाता है।

बालप्रिया–

'**अनुमिति**' (प्रमा) के करण (प्रमाण) को '**अनुमान**' कहते हैं। अनुमान चित्त की एक वृत्ति है, जिससे अनुमित्यात्मक पौरुषेय बोध होता है। 'लिङ्गपरामर्श' को ही अनुमान कहते हैं। क्योंकि 'लिङ्गपरामर्श' से अनुमिति ज्ञान होता है। व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं। इस प्रकार अनुमान के दो अङ्ग हैं–व्याप्ति और पक्षधर्मता। 'व्याप्ति' साहचर्य नियम अर्थात् कार्यकारण के सहभाव को कहते हैं। व्याप्ति का निर्धारण 'विधिमुख' (**यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः**) अथवा 'निषेधमुख' (**यत्र-यत्र वह्न्यभावः तत्र-तत्र धूमाभावः**) से किया जाता है। व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट धूम आदि हेतु) का पक्ष (पर्वतादि) में रहना 'पक्षधर्मता' है। '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' में धूम हेतु के द्वारा पर्वत पक्ष में वह्नि साध्य को सिद्ध करने के लिये (वह्नि के अनुमित्यात्मक ज्ञान के लिये) अधोलिखित मूलभूत तथ्यों की जानकारी रहना आवश्यक है–

'पक्ष' **सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः**' अर्थात् जहाँ साध्य का सन्देह रहता है उसे 'पक्ष' कहते हैं। जैसे धूमवत्त्व हेतु में पर्वत पक्ष है। सपक्ष–'**निश्चितसाध्यवान् सपक्षः**' अर्थात् जहाँ साध्य का निश्चय रहता है, उसे '**सपक्ष**' कहते हैं, जैसे–महानस। विपक्ष–'**निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः**' अर्थात् जहाँ साध्य का अभाव निश्चित रहता है, उसे 'विपक्ष' कहते हैं, जैसे–जलाशय। इनमें से 'सपक्ष' अन्वयव्याप्तिमूलक (यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः, यथा महानसः) है तथा 'विपक्ष' व्यतिरेकव्याप्तिमूलक (यत्र-यत्र वह्न्यभावः तत्र-तत्र धूमाभावः, यथा जलह्रदः) है। वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य के '**तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तः**' अंश द्वारा अन्वयव्याप्तिमूलक सपक्ष 'महानस' में धूम हेतु के आधार पर वह्नि साध्य की निश्चित स्थिति को प्रदर्शित किया है तथा '**भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः**' द्वारा व्यतिरेकव्याप्तिमूलक विपक्ष 'जलह्रदः' में साध्य वह्नि के अभाव को (धूम हेतु के अभाव के कारण) सिद्ध किया है अर्थात् 'विपक्ष' में साध्य की व्यावृत्ति की गई है। इस प्रकार व्यासभाष्य के '**अनुवृत्तः**' तथा '**व्यावृत्तः**' ये दो पद अनुमान प्रक्रिया के आधारभूत अङ्ग 'व्याप्ति' के सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। अनुमान के दूसरे अङ्ग 'पक्षधर्मता' का बोध कराने के लिये वाचस्पति मिश्र ने अनुमेय=साध्य (वह्नि) के पक्षगत सन्देह को '**जिज्ञासितधर्मविशिष्टो धर्म्यनुमेयः**' द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार पक्ष में साध्यवत्व का प्रतिपादन करने से बाध अर्थात् बाधित हेत्वाभास का निरास हो जाता है। जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से पक्ष में निश्चित होता है, उसे बाधित हेतु (हेत्वाभास) कहते हैं। जैसे '**वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्**' अर्थात् वह्नि अनुष्ण (शीतल) है, द्रव्य होने से। यहाँ 'द्रव्यत्व' हेतु का साध्य 'अनुष्णत्व' है, उसका अभाव अर्थात् 'उष्णत्व' की उपलब्धि

अग्नि रूप पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित हो चुकी है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से ही अग्नि में उष्णत्व का ज्ञान हो जाता है। किन्तु यह स्थिति **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** में नहीं है। यहाँ धर्मिरूप पक्ष (अनुमेय) **'जिज्ञासितधर्मविशिष्ट'** है, अर्थात् हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से पक्ष में निश्चित नहीं है।

'विरुद्धत्वमसाधारणत्वं च साधनधर्मस्य निराकरोति'—विरुद्ध और असाधारण-अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास **'सपक्षास्तेष्वनुवृत्तः'** इस प्रयोग से निराकृत हो जाते हैं। क्योंकि इनमें सद्धेतु का अभाव रहता है। **'विरुद्ध'** नामक हेत्वाभास का लक्षण है—**साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः'** अर्थात् जो हेतु साध्य के अभाव में व्याप्त रहता है, उसे 'विरुद्ध' कहते हैं। जैसे—**'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'** अर्थात् शब्द नित्य हैं, क्योंकि वह कृतक है। इस उदाहरण में 'कृतकत्व' हेतु' नित्यत्व' रूप साध्य के अभाव 'अनित्यत्व' से व्याप्त है। क्योंकि जो कृतक (जन्य) होता है, वह अनित्य होता है, नित्य नहीं। अतः 'कृतकत्व' हेतु में 'विरुद्ध' दोष आ जाने से उसे विरुद्ध संज्ञक हेत्वाभास कहते हैं। **'असाधारण-अनैकान्तिक'** हेत्वाभास का लक्षण है—**'सर्वसपक्षविपक्ष-व्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः'** अर्थात् जब हेतु सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त होकर केवल 'पक्ष' में रहता है, तब उसे 'असाधारण-अनैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—**'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'** अर्थात् शब्द नित्य है, शब्दत्व होने से। यहाँ 'नित्यत्व' साध्य है 'शब्दत्व' हेतु है, 'शब्द' पक्ष है। यहाँ शब्दत्व सभी सपक्ष नित्य आकाशादियों और विपक्ष अनित्य घटादियों में न रहकर केवल पक्ष 'शब्द' में रहता है। जब कि नियम से सद्धेतु को 'सपक्ष' में रहना चाहिए। अतः उक्त औचित्य का उल्लंघन करने के कारण यह असाधारण अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास (असद्हेतु) है। इस प्रकार तत्त्ववैशारदीकार का यह कथन व्याख्यात हो जाता है—**'विरुद्धत्वमसाधारणत्वं च साधनधर्मस्य निराकरोति'**।

'साधारणानैकान्तिकत्वमपाकरोति'—'साधारण-अनैकान्तिक' हेत्वाभास **'असपक्षाः... तेभ्यो व्यावृत्तः'** इस प्रयोग से निराकृत हो जाता है, क्योंकि 'साधारण-अनैकान्तिक' में सद्धेतु का अभाव रहता है। इसका लक्षण है—**'साध्याभाववद् वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः'** अर्थात् जो हेतु साध्याभाव के अधिकरण में रहता है, उसे 'साधारण-अनैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। अर्थात् यह असद्धेतु तीनों में रहता है। जैसे—**'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्'** अर्थात् शब्द नित्य है, प्रमेय होने से। इस अनुमान में 'प्रमेयत्व' हेतु साधारण-अनैकान्तिक है। क्योंकि वह नित्य (पक्ष या सपक्ष) और अनित्य (विपक्ष) तीनों में रहता है। यहाँ 'शब्द' पक्ष है, 'आकाश' सपक्ष है तथा घट, पटादि अनित्य पदार्थ विपक्ष हैं। अतः हेतु की विपक्षवृत्तिता उसे 'असद्धेतु'

सिद्ध करती है। इस प्रकार तत्त्ववैशारदीय **असपक्षाः...तेभ्यः व्यावृत्तः, साधारणानैकान्तिकत्वमपाकरोति**' वाक्यांश स्पष्ट हो जाता है।

'**अनेन पक्षधर्मतां दर्शयन्नसिद्धतां निवारयति**'—इस प्रकार अनुमान के द्वितीय अंग 'पक्षधर्मता' का विशदीकरण '**अनुवृत्तः**' तथा **व्यावृत्तः**' पदों में निगूढ़ सिद्धान्तों के स्फुटीकरण से हो जाता है तथा इससे 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास भी निराकृत हो जाता है। 'असिद्ध' हेत्वाभास का लक्षण है—'**व्याप्यस्य हेतोः पक्षे सत्त्वस्य प्रतीतिः सिद्धिः, तदभावः असिद्धिः**।' यह असिद्धि तीन प्रकार की है—आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि तथा व्याप्यत्वासिद्धि। यहाँ पर मुख्यरूप से स्वरूपासिद्धि का निराकरण किया गया है। जो हेतु आश्रय (पक्ष) में अपने स्वरूप से न पाया जाय अर्थात् जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) में अस्तित्व न हो, उसे 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं—'**यो हेतुः आश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः**।' जैसे '**अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात्**' अर्थात् शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष है। यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु है, किन्तु वह शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होता है अर्थात् वह श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है। उपरिवर्णित विवेचन से यह सिद्धान्तित हुआ कि असद्धेतु अनुमेय साध्य का अनुमित्यात्मक ज्ञान कराने में गतिरोध उत्पन्न करता है। अतः पाँच प्रकार के हेत्वाभासों से सद्धेतु को रहित होना चाहिए।

अनुमान प्रमाण का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् अनुमानजन्य अनुमित्यात्मक 'ज्ञान' के स्वरूप को निर्धारित किया जा रहा है, जिससे प्रत्यक्षवृत्तिजन्य ज्ञान से उसे पृथक् किया जा सके—

तत्त्ववैशारदी

सामान्यावधारणेति प्रत्यक्षविषयाद्व्यवच्छिनत्ति। संबन्धसंवेदना[1]धीनजमनुमानं विशेषेषु संबन्धग्रहणाभावेन सामान्यमेव सुकरसंबन्ध[2]ग्रहणं गोचरयतीति।

तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—'**सामान्यावधारणेति**।' भाष्यगत '**सामान्यावधारणा**' पद अनुमान को प्रत्यक्ष के विषय से पृथक् करता है। अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति "विशेषावधारणप्रधाना' होती है और अनुमानवृत्ति 'सामान्यावधारणप्रधाना'। व्याप्तिज्ञानाधीनसत्ताक अनुमान, पदार्थ के विशेषरूप के साथ व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ज्ञान का अभाव होने के कारण, पदार्थगत (अनुमेयगत) 'सामान्य' (जाति) रूप को ही अनुमित्यात्मक ज्ञान का विषय बनाता है, क्योंकि सामान्यविषयक व्याप्तिग्रह सुकर है।

---

1. क ख ग थ द ध – **अधीनजन्म०**, घ च छ ज झ त न – **अधीनजम्**।
2. क घ च ज थ द ध – **ग्रहणम्**, ख ग छ झ त न – **ग्रहम्**।

बालप्रिया–

'सम्बन्धसंवेदनाधीनजन्मा'–'सम्बन्ध' शब्द का अर्थ व्याप्तिसम्बन्ध, **'संवेदन'** शब्द का अर्थ ज्ञान, **"अधीन'** शब्द का अर्थ निर्भर तथा **'जन्म'** शब्द का अर्थ उत्पन्न है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञानमूलसत्ताक अनुमान प्रमाण होता है–यह सिद्ध हुआ।

'सामान्यमेव सुकरसम्बन्धग्रहणम्'–सर्वज्ञ न होने से व्यक्ति पदार्थगत अनन्त व्यक्तिविशेषों को जानने में असमर्थ रहता है। अतः व्यक्तिविशेष को लेकर व्याप्तिज्ञान भी सम्भव नहीं होता है। किन्तु अनन्त व्यक्तिरूप वह्नियों में रहने वाला 'वह्नित्व' सामान्य एक है तथा अनन्त व्यक्तिरूप धूमों में रहने वाला 'धूमत्व' सामान्य एक है। अतः धूमत्व और वह्नित्व को लेकर व्याप्तिग्रह 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' सम्भव होता है। अतः अनुमानवृत्ति को 'सामान्यावधारणप्रधाना' कहा गया है। इस पर यह सन्देह किया जा सकता है कि अग्निसामान्य (अग्नित्व) तो पाकशालादि में गृहीत ही है और पर्वत का भी प्रत्यक्ष हो ही रहा है, ऐसी स्थिति में अनुमानप्रमाण की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि अग्नि और पर्वत पृथक्-पृथक् गृहीत होने पर भी 'अग्निविशिष्ट पर्वत' का ज्ञान नहीं रहता है। अतः **'अग्निविशिष्ट पर्वत'** अनुमेय है–इससे अनुमानप्रमाण की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इसलिये वाचस्पति मिश्र ने साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी को **'अनुमेय'** कहा है।

इस प्रकार भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत अनुमानवृत्ति की व्याख्या तत्त्ववैशारदी के अनुसार हो जाने के पश्चात् संक्षेपेण अनुमानवृत्ति का स्वरूप इस प्रकार अंकित किया जा सकता है–'अनुमेय के सजातीयों में रहने वाला और विजातीयों में न रहने वाला जो सम्बन्ध (लिङ्ग) है, तद्विधया पदार्थ के सामान्य अंश का मुख्यरूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति 'अनुमान' कहलाती है।

उक्त साङ्गोपाङ्ग व्याख्या द्वारा अनुमान की निर्दुष्टता स्फुट हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

उदाहरणमाह-यथेति। चो हेत्वर्थः[1] विन्ध्योऽगतिर्यतस्तस्मात्तस्याप्राप्तिरतो गतिनिवृत्तौ प्राप्तेर्निवृत्तेर्देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवदिति सिद्धम्।

भाष्यकार अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–**'यथेति।'**

अन्वयव्याप्ति–

गतिमच्चन्द्रतारकम्'– अर्थात् चन्द्रमा और तारे गतिशील हैं–**'प्रतिज्ञा।**

'देशान्तरप्राप्तेः'– अर्थात् अनेक स्थानों में पहुँचने के कारण–**'हेतु।**

1. क ख ग घ छ ज झ त न – **हेत्वर्थः** च थ द ध – **हेत्वर्थे।**

चैत्रवत्–चैत्र' के समान–**उदाहरण।**

(उपनय और निगमन इस प्रकार हैं)–

जो स्थानान्तरित होता है वह गतिशील होता है–**उपनय।**

चन्द्रमा और तारे गतिशील हैं–**निगमन।**

व्यतिरेकव्याप्ति–

जहाँ गतिमत्ता नहीं होती, वहाँ दूसरे स्थानों पर पहुँचना भी नहीं होता है, जैसे विन्ध्य पर्वत–'**विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः**।' (व्यतिरेकव्याप्ति में) '**च**' अव्यय हेतुबोधक है। क्योंकि विन्ध्य में गतिमत्ता नहीं है। अतः विन्ध्य की (देशान्तर में) अप्राप्ति है। इस प्रकार विन्ध्य में (हेतुभूत) गति की निवृत्ति होने से (साध्यभूत) देशान्तरप्राप्ति की भी निवृत्ति हो जाती है। (दूसरी ओर) देशान्तरप्राप्तिरूप से चन्द्र और तारों में गतिमत्तारूप साध्य सिद्ध होता है। दृष्टान्त के रूप में चैत्र है। देशान्तरप्राप्ति से चैत्र की गतिमत्ता सिद्ध की गई है।

बालप्रिया–

'**देशान्तरप्राप्तेः**'–उपरिवर्णित अनुमान-प्रयोग में '**देशान्तरप्राप्तेः**' हेतु है। इस हेतु को लेकर एक विचार है–

शङ्का–चन्द्र एवं तारों में गतिमत्ता सिद्ध करने के लिये 'देशान्तरप्राप्ति' को लिङ्ग अर्थात् हेतु मानना उचित नहीं है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति ने मार्तण्ड की देशान्तरप्राप्ति का प्रत्यक्ष नहीं किया है। जिज्ञासा है कि 'देशान्तर' शब्द से 'दिग्देश' अथवा 'नभदेश' में से किसका ग्रहण होता है? दोनों में से किसी का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अंगुली द्वारा संकेत से जिस प्रकार चन्द्र का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार 'दिक्' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि चक्षुरादि बाह्य करण से अरूप (रूपरहित) दिक् का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। और अंगुली द्रारा दिक्-प्रत्यक्ष का जो व्यवहार किया जाता है, वह तो दिग्देश से सम्बन्धित वृक्षादि को लक्षित करते हुए सम्भव है, विशुद्ध रूप से नहीं। अतः प्रत्यक्षायोग्य अर्थात् अतीन्द्रिय 'देशान्तर की प्राप्ति' में हेतुत्व की कल्पना कर चन्द्रादि में गतिमत्त्व सिद्ध करना उचित नहीं है।

समाधान–आचार्य उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में इस प्रस्तावित शङ्का को निरस्त किया है। उसका आशय यह है कि यहाँ पर आदित्य में गत्यनुमान साक्षात् नहीं किया जा रहा है। स्थिर चक्षु से अव्यवहित हुए विना दृष्ट पदार्थ पुनः दर्शन का विषय नहीं बन सकता है, चैत्र के समान। इसी प्रकार दृष्ट आदित्य, पुनः अनुमान ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है। किन्तु आदित्य की देशान्तरप्राप्ति का अनुमान

करके आदित्य में गतिमत्ता का अनुमान करना दोषावह नहीं है। न्यायवार्तिक में यह विषय विस्तार से द्रष्टव्य है।

'चैत्रवदिति विन्ध्यश्च'–इनमें से 'चैत्रवत्' अन्वयी दृष्टान्त है और 'विन्ध्यः' यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार आगमप्रमाण की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

आगमस्य वृत्तेर्लक्षणमाह–आप्तेनेति। तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवाभिसंबन्ध आप्तिः, तया सह[1] वर्तत इत्याप्तः, तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः। श्रुतस्य पृथगनुपादानं तस्य दृष्टानुमित-मूलत्वेन ताभ्यामेव चरितार्थत्वात्। आप्तचित्तवर्तिज्ञानसदृशस्य ज्ञानस्य श्रोतृचित्ते समुत्पादः स्वबोधसंक्रान्तिस्[2]तस्यै, अर्थ उपदिश्यते श्रोतृहिताहितप्राप्तिपरिहारोपायतया प्रज्ञाप्यते। शेषं सुगमम्। यस्यागमस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता, यथा यान्येव दश दाडिमानि तान्ये[3]व षडपूपा भविष्यन्ति इति; न दृष्टानुमितार्थः, यथा चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः इति स आगमः प्लवते। नन्वेवं मन्वादीनामप्यागमः प्लवेत। न हि तेऽपि दृष्टानुमितार्थाः। यथाहु–

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

[4]इत्यत आह–मूलवक्तरि त्विति। मूलवक्ता हि तत्रेश्वरो दृष्टानुमितार्थ इत्यर्थः॥७॥

भाष्यकार आगमवृत्ति का लक्षण करते हैं–'आप्तेनेति।' तत्त्वज्ञान, करुणा तथा ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता से संयुक्त होना 'आप्ति' है। इस आप्ति से जो युक्त होता है, उसे 'आप्त' कहते हैं। अर्थात् तत्त्ववेत्ता, कारुण्यवान् तथा ज्ञानेन्द्रियसामर्थ्यवान् व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। ऐसे आप्त व्यक्ति के द्वारा अर्थ अर्थात् पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अनुमित होता है। दृष्ट और अनुमित पदार्थ से भिन्न श्रुत पदार्थ के विषय में स्वमत को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि भाष्यकार ने आगम का लक्षण करते हुए 'श्रुत पदार्थ' का पृथक् ग्रहण (संकेत) इसलिए नहीं किया है, क्योंकि दृष्ट और अनुमानमूलक (प्रत्यक्ष और अनुमान वृत्ति से सम्बन्धित) होने से 'श्रुत पदार्थ' इनमें ही अन्तर्भुक् हो जाता है। (अतः श्रुत पदार्थ का पृथक्तया उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।) आप्त पुरुष के चित्त में अन्तर्निहित ज्ञान को श्रोता के चित्त में उत्पन्न करना अर्थात् स्वज्ञान को परचित्त में पहुँचाना

---

1. क ख ग घ छ झ त न – **सह** उपलभ्यते, च ज थ द ध – **सह** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – **तस्यै**, थ – **तस्याः**।
3. क घ च छ ज झ त थ द ध – **एव** उपलभ्यते, ख ग न – **एव** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इत्यत आह...दृष्टानुमितार्थः** वाक्यं श्लोकात् पश्चाद् वर्तते, थ द ध – **इत्यत...तार्थः**–वाक्यं श्लोकात् पूर्वं वर्तते।

'स्वबोधसंक्रान्ति' कहलाता है। आप्त पुरुष अपना ज्ञान क्यों दूसरों तक हस्तान्तरित करना चाहता है, इसे बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि—आप्त स्वबोधसंक्रान्ति के लिये 'अर्थ' का उपदेश इसलिए करता है, क्योंकि आप्तोपदेश श्रोता की हित-प्राप्ति तथा अहित-परिहार के उपाय के रूप से जाना जाता है। भाष्यकारकृत आगमवृत्ति के लक्षण के अवशिष्ट पद (अर्थावबोध के लिये) सुगम हैं। फलितार्थ यह हुआ कि आप्त पुरुष के द्वारा प्रत्यक्षीकृत अथवा अनुमित पदार्थ शब्द के द्वारा दूसरे को ज्ञान कराने के लिये उपदेश किया जाता है। आप्तशब्द को सुनने के पश्चात् अभिधीयमान पदार्थ के विषय में श्रोता की जो चित्तवृत्ति बनती है, वह 'आगम' कहलाती है।

(**शङ्का**—भाष्यस्थ **'आप्तेन'** पद को ध्यान में रखकर शङ्का की जा सकती है कि आगमप्रमाण के लक्षण में **'आप्त'** शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है? किसी के भी शब्द या वाक्य को सुन कर होने वाली अर्थविषयक चित्तवृत्ति को 'आगम' प्रमाण कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में विप्रलम्भक के वाक्य को सुनकर होने वाली अर्थविषयक चित्तवृत्ति भी आगमप्रमाण के अन्तर्गत आती है।

समाधान—इसी भ्रम के निवारण के लिये प्रस्तुत आगमवृत्ति का विशदीकरण किया जा रहा है कि)—जिस वाक्यरूप आगम का वक्ता अयोग्य अर्थात् निष्ठावान् व्यक्ति नहीं होता है, उसे 'आप्त' नहीं कहते हैं। जैसे **यान्येव दश दाडिमानि तान्येव षडपूपा भविष्यन्ति'** अर्थात् 'ये जो दश दाडिम हैं वे ही षट् मालपूए हो जायेंगे' इस प्रकार के वाक्य का वक्ता श्रद्धास्पद नहीं होता है। अथवा वक्ता जिस अर्थ को (जिस पदार्थ के विषय में) कह रहा है, वह पदार्थ यदि दृष्ट अथवा अनुमित नहीं रहता है, तो वह आगम नाम की वृत्ति बाधायुक्त अर्थात् सदोष हो जाती है। जैसे—**'चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः'** अर्थात् 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाला व्यक्ति चैत्य की वन्दना करे' यह वाक्य प्रामाण्यपथ में नहीं आता है।

शङ्का—ऐसी स्थिति में मन्वादियों के वाक्यों का भी अप्रामाण्य होगा? (क्योंकि उन वाक्यों के अर्थ (पदार्थ) भी दृष्ट अथवा अनुमित नहीं हैं)?

समाधान—(चैत्य-वन्दन के समान) मन्वादि द्वारा कथित वाक्यों के विषय 'दृष्ट' अथवा 'अनुमित' नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है अर्थात् ये विषय दृष्ट अथवा अनुमित हैं। जैसा कि कहा गया है—**'यः कश्चित् हि सः'** अर्थात् 'मनु भगवान् के द्वारा जिसके लिये वर्णाश्रम धर्म कहा गया है, वह सब वेद में प्रतिपादित है। क्योंकि मनु भगवान् सम्पूर्ण वेद के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं।' इसीलिए व्यासदेव ने कहा है—**'मूलवक्तरि त्विति।'** 'मूलवक्ता के दृष्टानुमितार्थ होने पर आगम निर्भ्रान्त होता है। यहाँ

पर 'मूलवक्ता' शब्द का अर्थ ईश्वर है, जिसे समस्त पदार्थ दृष्ट और अनुमित रहते हैं॥७॥

बालप्रिया–

'दृष्टोऽनुमितो वार्थः'–बालरामोदासीन का कहना है कि 'आप्तपुरुष' के ज्योतिष्टोमादि पदार्थ दृष्ट हैं तथा अष्टकादिरूप अर्थ अनुमित हैं।

'चैत्यम्'–(चित्य+अण्) बुद्धायतन अथवा बुद्धप्रतिमा को चैत्य कहते हैं।

'सर्वज्ञानमयः'–विलुप्त (उत्सन्न) और इधर-उधर बिखरे हुए (विप्रकीर्ण) पठ्यमान वेद के अर्थ के ज्ञाता होने से मनु भगवान् को 'सर्वज्ञ' कहते हैं।

'सर्वोऽभिहितो वेदे'–शङ्का होती है कि यदि समस्त स्मार्त धर्म वेद में निहित हैं तो अनुवादमात्र होने से मन्वादि स्मृतिवाक्यों का प्रामाण्य कैसे हो सकता है? शङ्का-समाधानार्थ यह बताया जा रहा है कि वेद की शाखाओं को मनु भगवान् ने जानकर उनके तत्तद्धर्मों को अनुष्ठानार्थ एकत्र उपनिबद्ध किया है। अतः वेदानुक्तता नहीं है। शाखाएं तो आज भी पढ़ी जाती हैं किन्तु तत्प्रतिपादित धर्म यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। जैसे किसी शाखा में अष्टकादि धर्मों की उत्पत्ति बतलाई गई है, किसी शाखा में देवता, किसी में मन्त्र और किसी शाखा में द्रव्य के बारे में बतलाया गया है–इस प्रकार विप्रकीर्ण धर्मों को मन्वादि आचार्यों ने एकत्र संकलित किया, जिससे तत्तद् शाखीय धर्मों का सुकरतया अवबोध हो सके।

ईश्वरो दृष्टानुमितार्थः'–ईश्वर में अनुमितार्थत्व का कथन आपाततः समझना चाहिए क्योंकि 'ईश्वर' को समस्त पदार्थ साक्षात्कृत ही हैं। अथवा 'ईश्वर' शब्द को औपचारिक ईश्वर अर्थात् 'आप्तपुरुष' के अर्थ में लेने पर 'अनुमितार्थ' की सङ्गति बैठ जाती है, क्योंकि आप्तपुरुष को पदार्थ दृष्ट अथवा अनुमित होते हैं।

'चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः'–जैन-बौद्धों के इन वाक्यों में श्रुतिमूलकत्व का अभाव होने से इन वाक्यों को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। किन्तु मन्वादि द्वारा उक्त वाक्य वेदमूलक होने से प्रामाणिक हैं। इसीलिए आगमवृत्ति के लक्षण में **'आप्तेन'** पद का प्रयोग कर भ्रममूलक वाक्यों और तज्जन्य वृत्तियों को आगम की परिधि से बहिष्कृत किया गया है॥७॥

योगवार्त्तिकम्

तत्रेति पूरयित्वोत्तरसूत्रमवतारयति–तत्र, तासु वृत्तिषु मध्ये–प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

भाष्यकार **'तत्र'** पद को जोड़कर अगले सूत्र को अवतरित करते हैं, **'तत्र'** अर्थात् उन वृत्तियों के मध्य में प्रमाणवृत्ति इस प्रकार है–**'प्रत्यक्षेति।'**

बालप्रिया–

'तत्र'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद– भाष्य में प्रयुक्त **'तत्र'** पद को मिश्र ने प्रस्तूयमान सूत्र का उपस्थापक माना है जब कि विज्ञानभिक्षु ने **'तत्र'** पद को सूत्र का पूरक बतलाया है, किन्तु **'तत्र'** पद के इस स्थानिक अन्तर से योग-सिद्धान्त में किसी प्रकार का पार्थक्य दृष्टिगत नहीं होता है।

सूत्र की व्याख्या प्रारम्भ हो रही है–

योगवार्त्तिकम्

अनधिगततत्त्वबोधः प्रमाः, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं सुगमत्वादकृत्वैव विभागः कृतः। परोक्तानि चेतराणि प्रमाणान्येष्वेवान्तर्भाव्याणीत्याशय इति।

'अनधिगत' अर्थात् अज्ञात (अननुभूत) पदार्थ के ज्ञान को **'प्रमा'** कहते हैं और इत्याकारक प्रमा अर्थात् ज्ञान के **'करण'** अर्थात् साधन को 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमाण का यह सामान्य लक्षण सरल होने के कारण सूत्रकार ने प्रमाण का लक्षण किये विना ही उसका विभाजन किया है। किञ्च प्रमाण के भेदों को बतलाने का तात्पर्य यह है कि जिससे दूसरे आचार्यों द्वारा मान्य तदतिरिक्त प्रमाणों को भी इन्हीं में अन्तर्भाव्य समझा जा सके।

त्रिविध प्रमाणों में सर्वप्रथम क्रमप्राप्त 'प्रत्यक्ष' को उठाया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

प्रत्यक्षं व्याचष्टे–इन्द्रियेति। इन्द्रियाण्येव नाडी चित्तसंचरणमार्गः, तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य, शङ्खपैत्त्याद्याकारतायां नयनादिगतपित्ताद्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। अतो रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनामपि कारणत्वं[1] शास्त्रेषूच्यते।[2] अत्रोपरागादित्यन्तेन बाह्यवृत्तेः कारणमात्रं दर्शितं[3] न तु तल्लक्षणे प्रवेशनीयम्, आत्मादिप्रत्यक्षाव्यापनादीश्वरप्रत्यक्षाव्यापनाच्च तस्याजन्यत्वात्।

भाष्यकार प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हैं– इन्द्रियेति।' (चक्षुरादि) इन्द्रियाँ ही **'नाडी'** अर्थात् चित्त के सञ्चरण की मार्ग हैं। इन मार्गभूता चक्षुरादि नाडियों से संयुक्त होकर उन इन्द्रियों के गोलक द्वारा बाह्य (घट, पटादि) पदार्थों से उपरक्त हुए

---

1. क घ च छ – **कारणत्वं,** ख ग – **करणत्वम्।**
2. **ख – स्वयं भाष्यकारो विभूतिपादे ग्रहणस्वरूपास्मितेत्यादिसूत्रभाष्ये वक्ष्यति–शब्दादिष्विन्द्रियाणां वृत्तिग्रहणमिति। सांख्यकारिकयाऽपि शब्दादिष्विन्द्रियाणामालोचनरूपा वृत्तिरुक्तेति** (उच्यते पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ – **स्वयं......रुक्तेति** नोपलभ्यते।
3. क च छ – **दर्शितं,** ख ग घ – **प्रदर्शितम्।**

चित्त का इन्द्रियसाहचर्य के साथ ही (घटादि) विषयाकार परिणाम होता है, केवल इन्द्रियनिरपेक्ष चित्त का विषयाकार परिणाम नहीं होता है (अपितु इन्द्रिय का भी विषयाकार परिणाम होता है), क्योंकि शङ्खगत पीताद्याकारता में नेत्रादिसम्बन्धी पित्तादि (दोष) का होना (अन्वय) अथवा न होना (व्यतिरेक) निर्भर करता है। अतः शास्त्रों में चक्षुरादि इन्द्रियों को भी रूपादि वृत्तियों का कारण होना बतलाया गया है। यहाँ **'उपरागात्'** तक के वाक्यांश द्वारा भाष्यकार ने उपराग का घट, पटादि बाह्यविषयक वृत्ति के प्रति कारणमात्र होना प्रदर्शित किया है। किन्तु इस अंश का प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में प्रवेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि आत्मप्रत्यक्ष और ईश्वरप्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं होते हैं। (वे तो नित्य प्रत्यक्षज्ञान हैं)।

बालप्रिया–

'चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैव'–प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया के अनुसार लौकिकजन की चक्षुरादि इन्द्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध रहने पर भी, उनमें प्रत्यक्ष की योग्यता न होने के कारण परमाणु के आकार का इन्द्रियपरिणाम नहीं होता है। अतः परमाण्वादि के प्रत्यक्ष का प्रसङ्ग भी नहीं उठता है। दूसरी बात यह है कि महत्परिणाम न होने के कारण परमाण्वादि सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, यह कथन भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि पदार्थगत महत्परिमाण तो इन्द्रियपरिणाममात्र के लिये उपयोगी होने के कारण प्रत्यक्ष के प्रति वह (महत्परिमाण) अन्यथासिद्ध (अनावश्यक) है। किञ्च इन्द्रियपरिणामत्वरूप प्रत्यक्षत्व से ही जब कार्यकारणभाव (साध्यसाधनभाव) सम्भव है, तो महत्तत्त्वादि पदार्थगत महत्परिमाण) द्वारा कार्यकारणभाव मानने में गौरवदोष आता है। यह विचार न्याय-वैशेषिक द्वारा मान्य प्रत्यक्ष के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर किया गया है।

'न केवलस्य... व्यतिरेकाभ्याम्'–सरलार्थ यह है–रूपादि वृत्तियों में केवल चित्त का ही नहीं, अपितु चक्षुरादि इन्द्रियों का भी कारणत्व अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है। जब तक पित्तादिदोषविशिष्ट चक्षुरिन्द्रिय का विषय के साथ संयोग नहीं होता है, तब तक चित्त को **'पीतः शंखः'** इत्याकारक ज्ञान नहीं होता है। इस अन्वय-व्यतिरेक से यह तथ्य सामने आता है कि रूपादि गुणवान् पदार्थों का ज्ञान होने में चक्षुरादि इन्द्रियों का भी कारणत्व है। इसलिये योगवार्त्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इन्द्रिय के साथ ही बाह्यवस्तूपरक्त चित्त का विषयाकार परिणाम होता है।

'उपरागादित्यन्तेन'–इस पद के द्वारा योगवार्त्तिककार यह बतलाना चाहते हैं कि व्यासदेवकृत प्रत्यक्ष के लक्षण **'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्'** में 'उपराग'

पद का प्रयोग जन्यप्रत्यक्ष का लक्षण अजन्य अर्थात् नित्यप्रत्यक्ष में अतिव्याप्त न होनें के लिये किया गया है। आत्मप्रत्यक्ष (आत्मा की ज्ञानात्मकता) और ईश्वरप्रत्यक्ष (ईश्वर की चिद्रूपता=प्रत्यक्षात्मकता) कादाचित्क नहीं, अपितु आत्मा और ईश्वर ज्ञानस्वरूप होने से नित्यज्ञानवान् हैं। अतः प्रत्यक्षसामान्य का लक्षण करने के लिये निर्दिष्ट **'उपराग'** पद को प्रत्यक्ष के लक्षण में सन्निविष्ट नहीं करना चाहिये। निष्कर्षतः अनित्य प्रत्यक्ष का लक्षण आत्मप्रत्यक्ष और ईश्वरप्रत्यक्ष में अतिव्याप्त नहीं होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार व्यासदेवकृत प्रत्यक्ष-लक्षण के **'तद्विषयः सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य'** इत्यंश पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

अर्थस्येत्यनेन समारोपितत्वप्रतिषेधान्न विपर्ययेऽतिव्याप्तिः।

'अर्थ' पद के प्रयोग द्वारा **'समारोपित'** अर्थ का प्रतिषेध किया जाने से प्रत्यक्ष का लक्षण **'विपर्यय'** में अतिव्याप्त नहीं होता है।

बालप्रिया–

'अर्थस्य'–सरलार्थ यह है–प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण में **'अर्थ'** पद, का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमाण को विपर्यय से व्यावृत्त कराने के लिये किया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण में **'अर्थ'** अर्थात् विषय समारोपित (दूसरी वस्तु के धर्म से युक्त) नहीं होता है। जैसे शुक्ति का शुक्ति के रूप से ही ज्ञान होता है। किन्तु विपर्यय में अतद्रूप पदार्थ में तद्रूप का ज्ञान होता है। जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान **'विपर्यय'** रूप है। निष्कर्षतः **'अर्थ'** पद के प्रयोग से 'प्रत्यक्ष' का लक्षण **'विपर्यय'** में अतिव्याप्त होने से बच जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार व्यासदेवकृत प्रत्यक्ष–लक्षण के **'विशेषावधारणप्रधाना'** इत्यंश पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

विशेषावधारणप्रधानेति विशेषणादनुमानागमयोर्व्यावृत्तिः।

भाष्यकार ने **'विशेषावधारणप्रधाना'** इस विशेषण पद का प्रत्यक्ष लक्षण में सन्निवेश करके प्रत्यक्ष को अनुमान और आगम प्रमाण से पृथक् किया है।

बालप्रिया–

'विशेषावधारणप्रधाना'–सरलार्थ यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के विशेषांश का मुख्यतः ज्ञान होता है। **'विशेषावधारणप्रधाना'** इस विशेषणपद के प्रयोग से प्रत्यक्ष के लक्षण की अनुमान और आगमप्रमाण से

व्यावृत्ति भी हो जाती है। क्योंकि अनुमान और आगमप्रमाण सामान्यावधारणप्रधान होते हैं।

सम्प्रति, वार्त्तिककार प्रत्यक्ष-लक्षण के **'तद्विषय:'** पद पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्मृतिव्यावर्त्तनाय–तद्विषयेति। उपरक्तवस्तुविषयेत्यर्थः।

स्मृति से प्रत्यक्ष के लक्षण को व्यावृत्त कराने के लिये भाष्यकार कहते हैं– **'तद्विषयेति।'** 'तद्विषय' पद का अर्थ है–इन्द्रियसम्बद्ध (उपरक्त) वस्तु है विषय जिसका ऐसी वृत्ति को प्रत्यक्ष कहा गया है।

बालप्रिया–

'तद्विषयेति'–सरलार्थ यह है कि प्रत्यक्षज्ञान में पदार्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट रहता है। अतः चित्त की विषयोपरक्तता कही गई है। ऐसी विषयोपरक्तता प्रत्यक्षज्ञानजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाले स्मृतिज्ञान में नहीं रहती है। अतः स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण अतिव्याप्त न हो सके, तदर्थ भाष्यकार ने प्रत्यक्ष के लक्षण में **'तद्विषया'** पद का सन्निवेश किया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रत्यक्ष के विषयीभूत पदार्थ के स्वरूप के विषय में बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सामान्यविशेषाभ्यामत्यन्तभिन्न एवार्थ [1]इत्येके तन्निरासायोक्तं सामान्यविशेषात्मन इति। अनेन चावयवी न निराकृतः किं त्ववयविनि सामान्यविशेषयोरविभागलक्षणं तादात्म्यमुक्तं पश्चादवयविव्यवस्थापनादिति।

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि,
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

इत्यादिस्मृतिभ्यो रश्मिशाखादितुल्यतालाभात्।

पदार्थ के सामान्य तथा विशेषरूप से अत्यन्त भिन्न ही 'पदार्थ' होता है, इत्याकारक मत का खण्डन करने के लिये भाष्यकार ने 'विषय' के विशेषण रूप में **'सामान्यविशेषात्मनः'** पद का प्रयोग किया है अर्थात् पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक ही होता है, इस पर बल डाला है। इस व्याख्यान के द्वारा भाष्यकार ने ('अवयव' से भिन्न) 'अवयवी' का खण्डन नहीं किया है, अपितु **'अवयवी'** में **'सामान्यविशेष'** के अविभागस्वरूप तादात्म्यसम्बन्ध को बताया है, क्योंकि भाष्यकार ने आगे **'अवयवी'**

---

1. क घ च छ – **इत्येतत्**, ख ग – **इत्येके तत्**।

की स्थापना की है। **'अनन्ता अव्यवसायिनाम्'** इत्याकारक स्मृतिवाक्यों द्वारा बुद्धि-वृत्तियों की रश्मि, शाखा आदि से समानता उपलब्ध होती है। स्मृतिवाक्यांश का अर्थ यह है—'हृदय में प्रदीप के समान जो चेतन पुरुष स्थित है, उसकी अनन्त रश्मियाँ हैं। और अनिश्चयात्मक चित्त वाले व्यक्तियों की बहुशाखीय असंख्य बुद्धि-वृत्तियाँ हैं।

बालप्रिया—

'सामान्यविशेषात्मनः'—इस समस्त पद के द्वारा अवयवी का स्वरूप बतलाया गया है। घट, पटादि पदार्थों में घटत्व, पटत्व वाला एक सामान्यप्रधान (जातिप्रधान) रूप होता है और दूसरा श्याम, रक्तादि वाला विशेष (व्यक्तिप्रधान) रूप होता है। इसी को **'जातिव्यक्त्यात्मक'** भी कहते हैं। पदार्थ में रहने वाला सामान्य और विशेष रूप, **'अवयवी'** से अत्यन्त भिन्न नहीं है। इसे प्रदर्शित करने के लिये अभेदबोधक **'आत्म'** पद का प्रयोग किया गया है। किन्तु इससे अवयव से भिन्न अवयवी के सिद्धान्त को व्याघात नहीं पहुँचता है।

'रश्मिशाखादितुल्यतालाभात्'—सरलार्थ यह है—चित्तरूप अवयवी से प्रमाणादि वृत्तिरूप अवयव भिन्न हैं। जैसे कि पहले स्मृतिवाक्यांश में पुरुष को प्रदीप से उपमित करते हुए उसकी वृत्तिरूप अनन्त किरणें बताई गई हैं। दूसरे स्मृतिवाक्यांश में चित्त को वृक्ष से उपमित करते हुए उसकी वृत्तिरूप असंख्य शाखाएँ बतलाई गयी हैं। यह विवरण अवयव से भिन्न अवयवी की पृथक् सत्ता को सिद्ध करता है। किन्तु यह पार्थक्य घट और पट की भाँति सर्वथा भिन्न नहीं अपितु **'भेदाभेदात्मक'** है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'प्रमाणवृत्ति' के बारे में आगे बतला रहे हैं—

योगवार्त्तिकम्

वृत्तिः प्रभावद् द्रव्यमेवेति प्रागेवोक्तम्। सा वृत्तिरेव दीपप्रभावद् बाह्यार्थमुपसृत्य चक्षुराद्येकीभावेन घटाद्याकारा भवति, स्वप्नध्यानादौ घटाद्याकारतया चित्तवृत्तेरनुभूयमानत्वाद् बाह्येऽपि ज्ञानाकारः सिध्यति। अत्रांशे बौद्धानामस्माकं चैकवाक्यत्वेऽपि न साम्यम्, अस्माभिर्बाह्यार्थस्यापि स्वीकारादिति।

'वृत्ति' प्रभा के समान द्रव्यरूप है, ऐसा पीछे कह चुके हैं। तथाकथित चित्तवृत्ति ही प्रदीप की कान्ति के समान बाह्य पदार्थ तक विस्तीर्ण होकर अर्थात् फैलकर चक्षुरादि से एकापन्न होकर घटादि के आकार वाली हो जाती है। (यह योग का सिद्धान्त है)। बौद्धाचार्यों का कहना है कि स्वप्नावस्था तथा ध्यानादि की अवस्था में चित्तवृत्ति ही घटादि आकार से अनुभूत होती है, इस कारण जाग्रदावस्था में भी घटादि पदार्थ ज्ञानाकार से ही भासित होते हैं। (यह बौद्ध मत है)। इस प्रकार

'विषयाकारता' अंश में बौद्ध और सांख्ययोग में मतैक्य है, तथापि साम्य (पूर्ण समानता) नहीं है। क्योंकि सांख्ययोग में वृत्तिरूप ज्ञान से भिन्न 'बाह्य पदार्थ' को भी स्वीकार किया गया है।

बालप्रिया–

'स्वप्नध्यानादौ'–बौद्धों के कथन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वप्न, ध्यानादि की अवस्था में बाह्यार्थ के न रहते हुए भी ज्ञानरूपवृत्ति ही तदाकाररूप से भासित होती है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में पदार्थ के न रहते हुए भी ज्ञान ही तदाकार (विषयाकार) प्रतीत होता है। वस्तुतस्तु बाह्यार्थ है ही नहीं। सांख्य-योगाचार्यों को बौद्धों का बाह्यार्थ-खण्डन मान्य नहीं है। इसीलिये विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि तदाकारता की दृष्टि से योग तथा बौद्ध मत में समानता कही जा सकती है, किन्तु ज्ञानरूप चित्तवृत्ति की जो तदाकारता है, वह बाह्यार्थ विषय को लेकर ही है, अन्यथा नहीं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रमाण के फल अर्थात् प्रमा के स्वरूप पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रत्यक्षस्य लक्षणं कृतमिदानीं तस्य प्रमाकरणत्वेन प्रमाणत्वमुपपादयति–फलमिति। वृत्तिरूपस्य करणस्य फलं पुरुषनिष्ठश्चित्तवृत्तिविषयको बोधः[1] **पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेः। अयं च बोधो विषयदेश एव भवति विभुत्वात्।**

भाष्यकार ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया। सम्प्रति, भाष्यकार प्रमा के करणरूप से प्रमाण के प्रमाणत्व का उपपादन कर रहे हैं अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण किस प्रकार प्रमा का करण है, इसे बताते हैं–**'फलमिति।'** चित्तवृत्तिरूप करण का फल पुरुषनिष्ठ चित्तवृत्तिविषयक बोध है, क्योंकि बुद्धि आदि करणों की प्रवृत्ति पुरुषप्रयोजनार्थ होती है और यह पुरुषनिष्ठज्ञान अर्थात् **पौरुषेयबोध** विषयदेश में ही होता है, क्योंकि पुरुष विभु है।

बालप्रिया–

'बोधो विषयदेश एव' सरलार्थ यह है–व्यापक होने के कारण यद्यपि पुरुष का विषय के साथ सर्वदा सम्बन्ध बना रहता है, तथापि पुरुष को पदार्थ का ज्ञान तभी होता है, जब विषयाकारा वृत्ति पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, अन्यथा नहीं। अतः विषयदेश में ही पुरुष को ज्ञान होता है, यह कथन अनुपपन्न नहीं है। इस व्याख्यान

---

1. ख – **प्रत्यक्षस्य करणस्य फलं पुरुषनिष्ठश्चित्तवृत्तिविषयको बोधः** (**बोधः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **प्रत्यक्षस्य... बोधः** नोपलभ्यते।

से, **पौरुषेयबोध** के प्रति चित्तवृत्ति '**अनन्यथासिद्ध**' अर्थात् मुख्य कारण है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

सम्प्रति, पुरुषनिष्ठ ज्ञान के स्वरूप पर शंका-समाधानपूर्वक विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

नन्वयं घट इति वृत्तेर्बोधो घटमहं जानामीतिरूपस्तस्य च पौरुषेयत्वे पुरुषस्य स्वतन्त्राकारेण परिणामित्त्वापत्तिरिति? तत्राह–अविशिष्ट इति। स च बोधश्चित्तवृत्त्या सहाविशिष्ट इति वृत्तिसारूप्यसूत्र [1]उपपादित इत्यर्थः। अयं घट इत्याकारा बिम्बरूपा वृत्तिः कारणम्, तस्या एव वृत्तिश्चैतन्ये प्रतिबिम्बनाच्चैतन्यमप्ययं घट इत्याकारमिव सद्बोधाख्यं फलं भवतीति। नात्र विशेषः शब्देन वक्तुं शक्यते, विवेकिभिरेवेक्षुक्षीरादिमाधुर्यस्येव स्वयं विशेषोऽनुभूयते दृग्दृश्यादिवैधर्म्यादिति भावः। पौरुषेयो बोध इत्याधाराधेयभावश्च गगने श्रोत्रमितिवद्विशिष्टाविशिष्टभेदेनोपपादनीयः। करणलक्षणं चात्र फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्व-मिति।

शङ्का–'यह घट है'–इस चित्तवृत्ति से 'मैं घट को जान रहा हूँ'–इत्याकारक बोध होता है। '**घटमहं जानामि**' इत्याकारक बोध को पुरुषनिष्ठ मानने पर स्वतन्त्ररूप से पुरुष के परिणाम की आपत्ति आयेगी अर्थात् पुरुष को परिणामी मानना पड़ेगा। (क्योंकि पहले वाले '**अयं घटः**' इत्याकारक बुद्धिबोध से '**घटमहं जानामि**' इत्याकारक पौरुषेयबोध का स्वरूप भिन्न है)।

समाधान–उक्त शंका का समाधान भाष्यकार करते हैं–'**अविशिष्ट इति।**' (पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि) यह पौरुषेयबोध चित्तवृत्ति से अभिन्न है। यह तथ्य **वृत्तिसारूप्यमितरत्र** १/४ विगत सूत्र में व्युत्पादित अर्थात् विशदीकृत हो चुका है। '**अयं घटः**' अर्थात् 'यह घट है' इत्याकारक बिम्बरूपा वृत्ति कारण है। इस बिम्बरूपा वृत्ति का चैतन्य में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे चैतन्य भी '**अयं घटः**' इस वृत्ति के आकार के समान होकर पौरुषेयबोधरूप फल वाला हो जाता है। पौरुषेयबोध और बुद्धिबोध में क्या अन्तर है इसे शब्द से नहीं कहा जा सकता है। इक्षुरस और दुग्ध के भिन्न-भिन्न माधुर्य के (आस्वादक व्यक्ति के) समान विवेकिजन द्वारा ही बुद्धिबोध और पुरुषबोध का अन्तर ज्ञात होता है, क्योंकि दोनों में द्रष्टा (द्रष्टृत्व) और दृश्य (दृश्यत्व) आदि के रूप में विरूपता (विपरीत धर्मता) है। '**पौरुषेयबोध**' (अर्थात् पुरुष में ज्ञान) में जो आधार-आधेय-भाव है, वह

1. क ग घ च छ – **उपपादितः**, ख – **प्रतिपादितः**।

'आकाश' में श्रोत्र है' के समान विशिष्टाविशिष्ट रूप से भेद के द्वारा स्थापित करने योग्य है। इस प्रकार प्रकृत में '**फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्व**' को '**करण**' कहते हैं।

बालप्रिया–

'**फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्वम्**'–सरलार्थ यह है कि चित्तवृत्तियाँ पुरुषबोधरूप फल के अयोग (असम्बन्ध) को दूर करती हैं। चित्तवृत्ति के पश्चात् पौरुषेयरूप फल उत्पन्न होता है। अतः चित्तवृत्तियाँ पुरुषज्ञान का करण हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार इन्द्रियों के करणत्व का शंका-समाधानपूर्वक उपपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु रूपादिषु चक्षुरादीनामेव करणत्वं श्रुतिस्मृत्योरवगम्यत इति चेत्? सत्यं; किं तु बुद्धिवृत्त्याख्यप्रमाऽन्तरं प्रत्येव तेषां करणत्वं न तु पौरुषेयबोधरूपां मुख्यप्रमां प्रति। प्रमाद्वयं च साङ्ख्ये [1]सूत्रितम्–द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमेति। चक्षुरादीनां च वृत्तौ करणत्वं व्यापारवत्कारणत्वरूपं कुठारादाविवेति शेषः।

शङ्का–श्रुति-स्मृतियों में रूपादियों के प्रति चक्षुरादियों का ही करणत्व विवेचित है अर्थात् रूपवान् आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा होता है। अतः श्रुति-स्मृतियों में इन्द्रियों को ज्ञान का करण बतलाया गया है। (अतः आपने कैसे चित्तवृत्तियों को ज्ञान का कारण कहा है)?

समाधान–पूर्वपक्षी की उक्त शंका उचित है, पर इतना और समझ लेना चाहिये कि इन्द्रियाँ बुद्धिवृत्त्याख्य (गौण) प्रमा के प्रति ही करण हैं, न कि पौरुषेयबोधरूप मुख्यप्रमा के प्रति। किञ्च दो प्रकार की प्रमा सांख्यरूप में सूत्रित (कथित) है। सूत्र है–'**द्वयोरेकतरस्य...प्रमेति**' (१/८७)। सूत्र का अर्थ है–'बुद्धि अथवा आत्मा दोनों में से एक का पूर्व से अनधिगत अर्थ का अवधारण होना प्रमा (ज्ञान) है।' कुठारादि के करणत्वरूप व्यापार के समान चक्षुरादि इन्द्रियों का चित्तवृत्ति के प्रति करणत्व है।

बालप्रिया–

'**द्वयोरेकतरस्य...**' सम्पूर्ण सांख्यसूत्र इस प्रकार है–**द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् १/८७**

'**कुठारादाविवेति**'–सरलार्थ यह है–जिस प्रकार कुठार उद्यमन-निपातनरूप व्यापार के द्वारा काष्ठच्छेदन का करण होता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त के

---

1. क ग घ च छ – सूत्रितं, ख – सूचितम्।

बहिर्गमन की **'प्रणालिका'** बनकर चित्तवृत्ति की करण कहलाती हैं। वस्तुतस्तु इन्द्रियों में पौरुषेयबोध के प्रति साक्षात् करणत्व नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुष को किस प्रकार ज्ञान होता है? इसे शंका-समाधानपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु विषयाकारतैव विषयग्रहणं चित्तस्थले दृष्टं पुरुषस्तु कूटस्थो न वृत्त्याकारतां भजते। अतः कथं पुरुषश्चित्तवृत्तिसाक्षी स्यात्, कथं वाऽविशिष्टः पौरुषेयो बोध इत्याशङ्कायामाह– प्रतिसंवेदीति। [1]संवेदिन्या बुद्धेः प्रतिसंवेदी तत्समानाकारः पुरुष इत्येतच्चतुर्थपादे चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनमिति सूत्र उपपादयिष्याम इत्यर्थः। **यद्यपि चितेः स्वयमाकारो नास्ति तथाऽपि प्रतिबिम्बवशाद् वृत्त्याकारापत्त्या वृत्तिबोध इत्यस्माभिर्वृत्तिसारूप्यप्रसङ्गेन प्रागेव व्याख्यातम्।**[2]

शङ्का–जब चित्त विषयाकार में परिणत होता है, तभी चित्त को विषय गृहीत होता है, किन्तु पुरुष तो कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी है। अतः वह (चित्त की) वृत्त्याकारता को प्राप्त नहीं हो सकता है अर्थात् चित्त की भाँति पुरुष का विषयाकार परिणाम सम्भव नहीं है। फिर इस स्थिति में पुरुष को चित्तवृत्ति का 'साक्षी' होना कैसे कहा जा सकता है? अथवा कैसे पौरुषेयबोध को बुद्धिवृत्ति से अविशिष्ट अर्थात् अभेदापन्न कहा जा सकता है?

समाधान–शङ्का-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'प्रतिसंवेदीति'**। **'संवेदी'** (ज्ञानवती) बुद्धि का 'प्रतिसंवेदी' अर्थात् तत्समानाकार (बुद्धिवृत्ति समानाकार) पुरुष होता है, यह तथ्य चतुर्थ पाद के **'चिते...संवेदनमिति'** (४/२२) सूत्र में उपपादित (वर्णित) किया जायेगा। यद्यपि चितिशक्ति का आकार नहीं है अर्थात् चितिशक्ति का विषयाकार परिणाम नहीं होता है, तथापि अपने में पड़ते हुए बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब से वृत्त्याकारता को प्राप्त हुआ पुरुष चित्तवृत्ति का बोद्धा होता है, ऐसा हम **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'** (१/४) सूत्र के प्रसङ्ग में पीछे बतला चुके हैं।

---

1. क ग घ च छ – **संवेदिन्याः** उपलभ्यते, ख – **संवेदिन्याः** नोपलभ्यते।
2. ख – **न नु वृत्तिबोधस्य फलत्वे प्रमाणस्यैव प्रमेयत्वाऽऽपत्त्या कर्मत्वकरणत्वविरोधः, घटमनुभवामीत्यनुभवसिद्धस्यार्थप्रमेयत्वस्याऽनुपपत्तिश्चेति मैवम्। अर्थबोधत्वे नैव वृत्तिबोधस्य फलत्वात्। वृत्तिद्वारिका ह्यर्थाकारता चैतन्यस्य वृत्तिबोधोऽर्थबोधश्चोच्यत इति। अत एव प्रमाणतत्फलयोरेकविषयत्वं चास्ति, अर्थाकारत्वरूपस्यार्थविषयत्वस्योभयसाधारण्यात्। करणाश्रिततत्वनियमस्तु फलस्य नास्ति, छिदादौ व्यभिचारादिति (व्याख्यातं पश्चात्)** उपलभ्यते, क ग घ च छ – **ननु....व्यभिचारादिति** नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'बुद्धेः प्रतिसंवेदी तत्समानाकारः पुरुषः'–सरलार्थ यह है कि पुरुष में बोध उत्पन्न नहीं होता है अपितु बुद्धि में ही बोध उत्पन्न होता है। परन्तु बुद्धि के साथ पुरुष का तादात्म्य होने से बुद्धिगत बोध पुरुष में प्रतीत होता है। अतः वृत्तिरूप प्रमाण और पौरुषेयबोधरूप प्रमा का आधारभूत एक ही 'बुद्धि' तत्त्व होने से पूर्वपक्षी की शङ्का निर्मूल सिद्ध होती है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पौरुषेयबोध के विषय में मतान्तर को उपस्थित कर उसका खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

कश्चित्तु–वृत्त्याख्य[1]कारणसामानाधिकरण्येन बुद्धावेव प्रमाऽऽख्यं फलं जायते, चैतन्यमेव हि बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं बुद्धिवृत्त्याऽर्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलं, तच्च चिच्छायाऽऽख्यं चित्प्रतिबिम्बं बुद्धेरेव धर्म इति वदति[2], तन्न, पौरुषेशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्यागा-पत्तेः, प्रतिबिम्बस्य तुच्छतयाऽर्थभानरूपत्वानुपपत्तेश्च। प्रतिबिम्बस्य प्रकाशाद्यर्थक्रिया-कारितायाः क्वाप्यदर्शनाच्च। प्रतिबिम्बं हि तत्तदुपाधिषु बुद्धेर्बिम्बाकारपरिणाममात्रमिति। किंच परस्परं प्रतिबिम्बस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धतया चितेरेव वृत्तिप्रतिबिम्बोपहितायाः फलत्वं युक्तं ज्ञानशब्देनात्मन एव प्रतिपादनात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, ज्ञानमेव परं ब्रह्म, ज्ञानं बन्धाय चेष्यते इत्यादिश्रुतिस्मृतिष्विति। बुद्धेश्चिच्छायाऽऽपत्तिश्चाहमित्यादिरूपैश्चितो भानार्थमेवेष्यते, बुद्ध्यारोहं विना साक्षात्स्वभाने कर्मकर्तृविरोधादित्युक्तमेव। अपि च बुद्धेरेव प्रमातृत्वे पुरुषो न सिध्येत्। वृत्तिसाक्षितया पुरुषसिद्धिरिति चेत्? एवं सति वृत्तिद्रष्टुरेव वृत्त्यारूढार्थद्रष्टृत्वकल्पनोचिता न तु बिम्बप्रतिबिम्बयोरुभयोरेव द्रष्टृत्वमर्थभेदेन कल्पयितुं युक्त गौरवादिति। किं च जानामीत्येवं बुद्धिवृत्तौ भासमानं प्रतिबिम्बचैतन्यं स्वज्ञेयं न संभवति, कर्मकर्तृविरोधात्, अतो बिम्बचैतन्ये भानमावश्यकमिति। अत्रायं प्रमात्रादिविभागः–

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥

इति दिक्। पुरुषे वृत्तिबोधरूपं च फलमनुमानादिसकलवृत्तिष्वपि बोध्यम्।

---

1. क ग घ च छ – कारण०, ख – करण०।
2. ख ग घ च छ – वदति उपलभ्यते, क – वदति नोपलभ्यते।

मतान्तर का उपस्थापन–कारण और कार्य में सामानाधिकरण्य होने से वृत्तिरूप करण का अधिकरण चित्त अर्थात् बुद्धि है तो करणजन्य मुख्य प्रमा का अधिकरण भी बुद्धि को मानना चाहिए अर्थात् बुद्धि में ही मुख्य प्रमा उदित होती है। इसी प्रमाविशिष्ट बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष बुद्धिवृत्त्याकारता को प्राप्त होने से अपने को प्रमावान् समझता है। किञ्च चैतन्य का यह चिच्छायाख्य प्रतिबिम्ब, बुद्धि का ही धर्म है– ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

मतान्तर का खण्डन–किन्तु यह व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि इससे '**पौरुषेय**' शब्द के यथाश्रुत अर्थ (पुरुष से सम्बन्धित अर्थ) के त्याग की आपत्ति आयेगी और प्रतिबिम्ब के तुच्छ (अलीक) होने से (पुरुष को) अर्थभान अर्थात् विषय का ज्ञान (**'घटमहं जानामि'** रूप से) नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब में प्रकाशादि अर्थक्रियाकारिता भी नहीं देखी जाती है। तत्तद् उपाधियों में पड़ने वाले बुद्धि के बिम्बाकार परिणाम को ही '**प्रतिबिम्ब**' कहते हैं। किञ्च श्रुति-स्मृतिशास्त्रों में बुद्धि और पुरुष का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रसिद्ध है। अतः बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्बरूप उपाधि से उपहित चितिशक्ति में ही प्रमारूप फल उत्पन्न होता है। क्योंकि श्रुति, स्मृतियों में भी '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, '**ज्ञानमेव परं ब्रह्म**' अर्थात् 'ज्ञान ही परब्रह्म है'–इत्यादि वाक्यों द्वारा 'ज्ञान' शब्द से आत्मतत्त्व का ही वर्णन किया गया है। बुद्धि में 'चिच्छायापत्ति' (चैतन्य के प्रतिबिम्बि) को इसलिए स्वीकार किया गया है, जिससे '**अहम्**' अर्थात् "मैं" इत्यादि रूप से '**चितिशक्ति**' को ज्ञान हो सके। क्योंकि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए विना पुरुष को विषयरूप में अपना ज्ञान साक्षात् नहीं हो सकता है, अन्यथा कर्मकर्तृविरोध का अतिप्रसंग आयेगा। अर्थात् कर्त्तारूप पुरुष कर्मरूप अपने को जानता है, ऐसा कहना पड़ेगा किन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। किञ्च इस (विसंगति के अपसारण की) स्थिति में यदि बुद्धि को ही '**प्रमाता**' मान लिया जाये तो पुरुष की सत्ता सिद्ध न हो सकेगी। यदि (तुष्यतुदुर्जनन्याय से) वृत्ति के साक्षिरूप से पुरुष की सत्ता सिद्ध की जाय तो वृत्ति के द्रष्टा को ही वृत्त्यारूढ़ पदार्थ का भी द्रष्टा मानना चाहिये। अन्यथा बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों का ही द्रष्टृत्व अर्थभेद से मानने पर गौरवदोष आयेगा। किञ्च बुद्धिवृत्ति में भासमान प्रतिबिम्बित चैतन्य अपना ही ज्ञेय नहीं हो सकता है, अन्यथा कर्मकर्तृविरोध होगा। अतः बिम्बभूत चैतन्य में भी ज्ञान होना आवश्यक है।

यहाँ पर विज्ञानभिक्षु 'प्रमाता' आदि (प्रमाता, प्रमाण, प्रमा और प्रमेयादि) का विभाग इस प्रकार बता रहे हैं–'**प्रमाता...चापरे जगुः**' अर्थात् 'शुद्ध चेतन को '**प्रमाता**', वृत्ति को '**प्रमाण**' और चेतन में प्रतिबिम्बित तदाकारवृत्ति को '**प्रमा**' कहते हैं।'

'प्रतिबिम्बित वृत्तियों के विषय को मेय अर्थात् '**प्रमेय**' कहते हैं। करण अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित वृत्तियाँ '**साक्षिभास्य**' होती हैं।' 'सांख्यसूत्र में साक्षात् दर्शन (ज्ञान) को ही '**साक्षी**' कहा गया है। किन्तु दूसरे लोग विकाररहित '**द्रष्टा**' को '**साक्षी**' कहते हैं।'

पुरुष में उपरिवर्णित जो वृत्तिबोधरूप फल है, उसे (जिसे '**पौरुषेयबोध**' भी कहते हैं) अनुमानादि सकल वृत्तियों में भी योज्य समझना चाहिये।

बालप्रिया–

'**पौरुषेयः बोधः**'– **मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–वाचस्पति मिश्र ने '**चितिच्छाया**' को ही पुरुषनिष्ठ ज्ञान का प्रयोजक माना है। एक शब्द में पुरुषगत बोध, जन्य नहीं है, अपितु चैतन्य ही अर्थात् चितिच्छाया या पुरुषप्रतिबिम्ब ही बुद्धिवृत्ति की विषयाकारता से सम्पादित तदाकारतारूप फल वाला होता है। प्रतिबिम्बरूप पुरुष के द्वारा अभिमत यही बोध 'पौरुषेयबोध' या प्रमा कहलाता है। स्वयं वाचस्पति मिश्र के शब्दों में–'**न हि पुरुषगतो बोधो जन्योऽपितु चैतन्यमेव बुद्धिदर्पणप्रतिबिम्बितं बुद्धिवृत्त्या अर्थाकारया तदाकारतामापद्यमानं फलम्। बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिसंवेदित्वं पुंसः**।' यह सिद्धान्त **प्रतिबिम्बवाद**' के नाम से विदित है। किन्तु विज्ञान-भिक्षु ने श्रुतिस्मृति के आधार पर '**परस्पर-प्रतिबिम्बवाद**' का समर्थन किया है–'**यथा च चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमेवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यम्**'। स्वमत के समर्थनार्थ विज्ञानभिक्षु ने प्रस्तुत सूत्र और विगत चतुर्थ सूत्र की व्याख्या करते हुए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

योगदर्शन के प्रसिद्ध टिप्पणकार बालरामोदासीन ने विज्ञानभिक्षु के मत में अरुचि व्यक्त कर अपने अभिप्राय को इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुरुष का 'प्रमातृत्व' और तन्निष्ठबोध फल (प्रमा) नहीं है–'**एतेन यदत्र विज्ञानभिक्षुणा 'पुरुषनिष्ठो बोधः फलम्' इति 'प्रमाता चेतनः शुद्धः' इति च प्रलपितं, तन्निराकृतम्**।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार–वृत्तिबोधरूप फल की प्रक्रिया की अनुमानादि सकल वृत्तियों में तुल्यता को स्पष्ट करने के पश्चात्–अनुमान प्रमाण पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अनुमानं लक्षयति [1]अनुमेयस्येति। साध्यविशिष्टः पक्षोऽनुमेयः, तस्य साध्यवत्त्वेन तुल्यजातीयेषु सपक्षेष्वनुवृत्तो विजातीयेभ्यो विपक्षेभ्यो[2] व्यावृत्तो यः सम्बन्धोऽर्थात्तत्रैवानुमेये

1. क ख ग घ छ – **अनुमेयस्य**, च – **अनुमानस्य**।
2. ख ग घ च – **विपक्षेभ्यः** उपलभ्यते, क छ – **विपक्षेभ्यः** नोपलभ्यते।

पक्षवृत्तिरिति यावत्। तद्विषया तन्निबन्धना, षिञ् बन्धने इत्यनुशासनात् तद्विषयज्ञानजन्येति यावत्। एवंभूता या सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिः साऽनुमानमित्यर्थः। सम्बन्ध इति पाठेऽपि सम्बध्यत इति संबन्धः। तथा[1] च स एवार्थः।

भाष्यकार अनुमान का लक्षण करते हैं–'**अनुमेयस्येति**।' साध्यविशिष्ट '**पक्ष**' को अनुमेय कहते हैं। यह अनुमेय साध्य रूप से तुल्यजातीय '**सपक्षों**' में अनुवृत्त रहता है और अतुल्यजातीय '**विपक्षों**' से व्यावृत्त रहता है। इस व्याप्ति के अनुसार '**अनुमेय**' अर्थात् साध्य में पक्षवृत्तिता रहती है। '**षिञ् बन्धने**' इस (पाणिनीय) अनुशासन के अनुसार '**तद्विषया**' पद का अर्थ है–तन्निबन्धना। इस दृष्टि से विषय भी चित्त को बाँधते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि 'अनुमेय विषय के ज्ञान से जन्य वृत्ति।' इस प्रकार तथाकथित विषय के सामान्यरूप का मुख्यतया ज्ञान कराने वाली '**सामान्याव-धारणप्रधाना**' वृत्ति को अनुमान कहते हैं। भाष्य में जहाँ-कहीं '**सम्बन्ध इति**' इत्याकारक पाठ भी मिलता है वहाँ भी '**सम्बध्यते**' अर्थात् 'सम्बन्धित होती है' इस अर्थ में '**सम्बन्ध**' पद प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् अनुमेय पदार्थ के साथ चित्त के सम्बन्धित होने को '**सम्बन्ध**' शब्द के द्वारा द्योतित किया गया है। इस प्रकार '**सम्बन्ध**' शब्द से उपलब्ध पाठ (पाठभेद) भी उपरिनिर्दिष्ट अर्थ को ही बतलाता है (तद्भिन्न अर्थ को नहीं)।

अनुमान के लक्षण में '**सामान्यावधारणप्रधाना**' इस समस्त पद के प्रयोग की उपयोगिता को बतलाते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सामान्येत्यादि प्रत्यक्षव्यावृत्तस्वरूपकथनमात्रं न तु लक्षणान्तर्गतं वैयर्थ्यादिति। अनुमान-वृत्तेरुदाहरणमाह–यथा देशान्तरप्राप्तेरिति। अत्रान्वयव्याप्तौ दृष्टान्तश्चैत्रवदिति, व्यतिरेकव्याप्तौ च दृष्टान्तो विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिरिति। अप्राप्तेरिति पञ्चमीपाठस्तु लेखक-प्रमादात्, प्रत्यक्षसिद्धेऽनुमितिवैयर्थ्यादिति।

भाष्य में '**सामान्यावधारणप्रधाना**' पद का प्रयोग, '**विशेषावधारणप्रधाना**' प्रमाणवृत्ति से, अनुमानवृत्ति को व्यावृत्त करने के लिये ही हुआ है। अनुमान के लक्षण में '**सामान्यावधारणप्रधाना**'–पद का प्रयोग नहीं हुआ है, क्योंकि अनुमान के लक्षण में इस पद की कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार व्याप्तिविधया अनुमेय का ज्ञान कराने वाली वृत्ति को अनुमान कहते हैं–ऐसा सुनिश्चित होता है। भाष्यकार अनुमानवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–'**यथा देशान्तरप्राप्तेरिति**।' यहाँ अन्वयव्याप्ति में '**चैत्रवत्**' दृष्टान्त है और व्यतिरेकव्याप्ति में '**विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगति-**

---

1. क ख ग घं छ – **तथा**, च – **यथा**।

रिति' यह दृष्टान्त है। यहाँ लेखक ने प्रमाद से ('**अप्राप्तिः**' के स्थान पर) '**अप्राप्तेः**' पञ्चम्यन्त पाठ किया है। क्योंकि '**अप्राप्तेः**' पाठ मानने पर विन्ध्य की अप्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने से तद्विषयक अनुमिति व्यर्थ हो जायेगी।

बालप्रिया–

'**सम्बन्ध इति**'–भाष्यकार ने कार्य-कारण की अन्वय और व्यतिरेकमूलक व्याप्ति द्योतित करने के लिये '**सम्बन्ध**' शब्द का प्रयोग किया है। सांख्यसूत्र में इस व्याप्तिसम्बन्ध के लिये '**प्रतिबन्ध**' शब्द आया है। सूत्र है–**प्रतिबन्धदृशः प्रतिबन्धज्ञानमनुमानम्** सां.सू. १/१००। इस पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य है–'**प्रतिबन्धो व्याप्तिः। व्याप्तिदर्शनाद् व्यापकज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणमित्यर्थः। अनुमितिस्तु पौरुषेयो बोध इति।**' इस प्रकार कार्य-कारण के व्याप्तिदर्शन से व्याप्यभूत कार्य के आधार पर जो व्यापक (कारण) का ज्ञान होता है, उस ज्ञान के करण को अनुमान प्रमाण कहते हैं और उससे होने वाला जो ज्ञान है उसे अनुमिति अर्थात् अनुमान का फल कहते हैं। एवं च अनुमिति ही 'पौरुषेय बोध' है। यही अनुमान का फल है। योगवार्त्तिककार के '**सम्बन्ध इति पाठेऽपि**' ऐसा कहने का अभिप्राय यही है कि व्याप्ति के लिये सांख्य में प्रयुक्त '**प्रतिबन्ध**' और योगभाष्य में प्रयुक्त '**सम्बन्ध**' इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है।

'**आगम**' प्रमाण पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

योगवार्त्तिकम्

आगमाख्यां वृत्तिं लक्षयति–आप्तेनेति। भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषरहितेनेत्यर्थः। मूलवक्त्रभिप्रायेण श्रुतो वेति नोक्तं, तदप्युपलक्षणीयम्। स्वबोधसंक्रान्तये स्वबोधसदृशबोधोत्पत्त्यर्थमित्यर्थः। श्रोतुर्वृत्तिरिति व्युत्क्रमेणान्वयः। अत्राप्तोक्तार्थविषयिणी शब्दजन्या वृत्तिरित्येवागमप्रमाणस्य लक्षणं, शेषं त्वागमशब्दव्युत्पत्तिमात्रमाप्तादागच्छति वृत्तिरित्यागम इत्याशयः। तदर्थविषयेऽत्यन्तविशेषणव्यावृत्त्या[1]ऽत्र प्रमाणमागमवृत्तिं दर्शयति यस्येति। दृष्टानुमितार्थकत्वाभावेनाश्रद्धेयार्थो[2]ऽवेद्यप्रतिपाद्यको यस्यागमस्य वक्ता स आगमः शास्त्रं चैत्यं वन्देत स्वर्गकाम इत्यादिरूपं प्लवते, प्रमाणवृत्तिजननासमर्थ इत्यर्थः। नन्वेवं दृष्टानुमितार्थकवक्त्रनिर्मितस्य श्रुतिमूलस्याधुनिकागमस्यापि प्लवः स्यादत[3] आह–मूलेति॥७॥

भाष्यकार '**आगम**' वृत्ति का लक्षण करते हैं–'**आप्तेनेति**।' '**आप्त**' शब्द से भ्रम, प्रमाद (आलस्य), प्रवञ्चना, चक्षुरादि (त्रयोदश) करणों के असामर्थ्यादि दोषों से

---

1. क च छ – **अत्र प्रमाणं**, ख – **अभिप्रमाणं**, ग – **अप्रमाणं**, घ – **न प्रमाणम्**।
2. क ख ग – **अश्रद्धेय**0, घ च छ – **अवेद्य**0।
3. क घ च छ – **अत आह**, ख ग – **इत्याशंक्याह**।

रहित ज्ञानी पुरुष (पुरुषविशेष ईश्वर) का ग्रहण होता है। चूँकि भाष्य में मूलवक्ता (ईश्वर) के अभिप्राय से '**आप्त**' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः '**दृष्टोऽनुमितो वा**' के आगे '**श्रुतो वा**' पद को अर्थ (पदार्थ) के विशेषण के रूप में नहीं कहा है। मूलवक्ता ईश्वर को कोई दूसरा व्यक्ति पदार्थ के विषय में सुना नहीं सकता है, क्योंकि ईश्वर से पूर्व कोई दूसरा आप्त ईश्वर तो है नहीं) इसलिये ईश्वर के अभिप्राय से नियमतः होने वाले दृष्ट और अनुमित अर्थ को लिया गया है। किन्तु '**आप्त**' शब्द का व्यापक अर्थ लौकिक आप्त पुरुष करने पर दृष्ट और अनुमित अर्थ को श्रुत का भी उपलक्षण मान लेना होगा। यहाँ तक योगवार्त्तिककार ने भाष्य के '**आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः**' तक की व्याख्या की है। '**स्वबोधसंक्रान्तये**' इस शब्द का अर्थ है– स्वबोधसदृश (अपने ज्ञान के समान दूसरे में) बोध (ज्ञान) को उत्पन्न करने के लिए। योगवार्त्तिककार का कहना है कि '**वृत्तिः श्रोतुः**' पदों के इस वैयासिक क्रम का '**श्रोतुर्वृत्तिः**' इत्याकारक व्युत्क्रम करके ('**आगम**' पद के साथ) अन्वय करना चाहिए अर्थात् श्रोता की वृत्ति को आगम कहते हैं, ऐसा अन्वय किया जाना चाहिए।

योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं कि '**आप्तेन**' से लेकर '**श्रोतुरागम**': यहाँ तक के वाक्य में 'आप्तोक्त (आप्त द्वारा कथित) अर्थविषयिणी (अर्थ=पदार्थ को विषय करने वाली) शब्दजन्या (शब्द से उत्पन्न) वृत्ति आगम है'–यही आगमप्रमाण का लक्षण है। वाक्य का शेष अंश तो '**आगम**' शब्द की व्युत्पत्ति करता है। '**आगम**' की व्युत्पत्ति है–'**आप्तादागच्छति वृत्तिरित्यागमः**' अर्थात् जो वृत्ति आप्त (आप्तवचन) से निकलती है अर्थात् प्रसृत होती है, उसे 'आगम' कहते हैं। भाष्य में '**तदर्थविषया वृत्तिः**' में '**अत्यन्त**' विशेषणपद की व्यावृत्ति द्वारा (अर्थात् 'अत्यन्त' पद का प्रयोग न करके) भाष्यकार ने आगमवृत्ति के प्रमाणरूप होने को प्रदर्शित किया है। अर्थात् आगमवृत्ति विपर्ययादिरूप न होकर '**प्रमाणरूप**' है–'**यस्येति**।' दृष्ट तथा अनुमित अर्थ का अभाव होने से जिस आगम का वक्ता 'अश्रद्धेय अर्थ' (अविश्वसनीय पदार्थ) अर्थात् न जानने योग्य पदार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है, वह '**आगम**' अर्थात् शास्त्र अप्रामाणिक होता है, जैसे–'**चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः**।' अर्थात् 'स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति चैत्य (बौद्ध देवालय) में पूजा करे इत्याद्याकारक शास्त्र अप्रमाण है, अर्थात् प्रमाणवृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।

शङ्का–ऐसी स्थिति में तो दृष्ट और अनुमित अर्थ को बतलाने वालों द्वारा निर्मित श्रुतिमूलक आधुनिक शास्त्र भी बाधित हो जायेंगे?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**मूलेति**।' ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस वाक्य का मूल वक्ता ईश्वर है तथा जिसका अर्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों से निश्चित है, वह अबाधित होता है अर्थात् वह वाक्य प्रामाणिक कहा जाता है॥७॥

बालप्रिया–

'मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्'–आप्त पुरुष के कथन से श्रोता की शब्दवृत्ति बनती है, जिसे आगम प्रमाण कहते हैं। श्रोता की शब्दवृत्ति किसके शब्द को सुनकर बन रही है, इसके लिए वक्ता का आप्तत्व और अनाप्तत्व निर्भर करता है। यथार्थ वक्ता द्वारा कथित शब्द से श्रोता की यथार्थ शब्दवृत्ति और अयथार्थ वक्ता द्वारा कथित शब्द से श्रोता की अयथार्थ शब्दवृत्ति बनती है। इसी अभिप्राय से "**मूलवक्ता**' शब्द में '**मूल**' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेद में अपनी स्वाभाविक यथार्थज्ञान-जननशक्ति निहित है, इसलिये वेद का तो स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। अतः ईश्वर का आप्तत्व भी निर्विवाद सिद्ध है। अतः '**मूलवक्ता**' के रूप में ईश्वररूप विशेष तत्त्व का तो ग्रहण होता ही है, किन्तु श्रुतिमूलक अर्थ को देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुमान किये हुए व्यक्ति को भी यहाँ '**आप्त**' शब्द में अन्तर्भावित करना चाहिए। अन्यथा ईश्वरवचन के अतिरिक्त शुद्ध आगम की सत्ता ही नहीं मानी जा सकेगी। अप्रामाणिक आगमों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ पर '**निर्विप्लव**' अर्थात् श्रुतिमूलक सामान्य आगमवचनों का भी प्रामाण्य प्रतिपादित किया **गया है**। अतः अयथार्थ वक्ता का पूर्णतः खण्डन करने के लिए भाष्य में '**मूलवक्ता**' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा अभिप्राय है। इसीलिए योगवार्त्तिककार ने सांख्यसूत्र '**आप्तोपदेशः शब्दः**' १/१०१ की व्याख्या करते हुए '**आप्ति**' शब्द का अर्थ '**योग्यता**' किया है। वस्तुतस्तु '**योग्य**' शब्द से जन्य जो ज्ञान, उसे शब्दप्रमाण कहते हैं। उस शब्दप्रमाण का फल है–'**पौरुषेय बोध**'॥७॥

सम्प्रति, यथाक्रम विपर्ययवृत्ति प्राप्त है–

योगसूत्रम्

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥८॥

वस्तु के यथार्थ रूप में स्थित न होने वाला मिथ्याज्ञान ही 'विपर्यय' (नाम की वृत्ति) है ॥८॥

व्यासभाष्यम्

स कस्मान्न प्रमाणम्? यतः प्रमाणेन बाध्यते। भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा–द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च[1]

1. क ख ग–**पञ्च** उपलभ्यते, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**पञ्च** नोपलभ्यते।

क्लेशा इति। एत[1] एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥८॥

वह विपर्ययज्ञान क्यों नहीं प्रमाण होता है? (उत्तर है)—क्योंकि वह (उत्तरकालिक) प्रमाणरूप यथार्थज्ञान के द्वारा बाधित (निराकृत) हो जाता है (और) प्रमाण वह ज्ञान है जो यथार्थ वस्तु को अपना विषय बनाता है। लोक में प्रमाणज्ञान के द्वारा अप्रमाणज्ञान का बाधित होना देखा जाता है। जैसे—आकाश में द्विचन्द्रदर्शनरूप मिथ्याज्ञान यथार्थविषयक एक चन्द्र के दर्शन से बाधित होता है। यह मिथ्याज्ञानरूप विपर्ययवृत्ति 'अविद्या' है। इस अविद्या के पाँच भेद हैं। इनके नाम हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। क्लेश के हेतु होने से ये ही पञ्च 'क्लेश' कहे जाते हैं। अविद्या आदि ये ही पञ्च क्लेश अपने अनुरूप क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र—इन नामों (संज्ञाओं) से भी व्यवहृत होते हैं। अविद्या आदि क्लेश 'चित्तमल' के निरूपण के प्रसङ्ग में विस्तार से कहे जायेंगे॥८॥

तत्त्ववैशारदी

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः। मिथ्याज्ञानमित्यादि लक्षणम्। यज्ज्ञान[2]प्रतिभासरूपं तद्रूपाप्रतिष्ठमेवातद्रूपप्रतिष्ठम्।

(विपर्यय वृत्ति के लक्षणपरक सूत्र में) "**विपर्ययः**' पद से लक्ष्य का निर्देश किया गया है तथा (अवशिष्ट दो अंशों) '**मिथ्याज्ञानम्**' इत्यादि द्वारा लक्षण का संकेत किया गया है। '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्** पद का विग्रहपरक अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि)—ज्ञान में प्रतिभासित होने वाले रूप की अप्रतिष्ठा अर्थात् अनवस्थिति को ही '**अतद्रूपप्रतिष्ठ**' कहते हैं।

बालप्रिया—

'**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**'—अतद्रूपे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य ज्ञानस्य तज्ज्ञानम् '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**'। संशयात्मक ज्ञान का ग्रहण करने के लिये '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**' में नञ् को प्रसज्य-प्रतिषेधार्थक माना गया है। ज्ञान के द्वारा यत्प्रकारक तथा यद्विशेष्यकरूप प्रतिभासित होता है, उस रूप में जो ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं होता है, प्रत्युत उत्तरकालिक ज्ञान के द्वारा जिसका बाध (निषेध, खण्डन, अप्रतिष्ठा) हो जाता है; ऐसा ज्ञान चाहे एककोटिक हो अथवा उभयकोटिक हो—तद्रूप में अप्रतिष्ठत्व के कारण '**अतद्रूपप्रतिष्ठ**' कहलाता है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र—एत एव, फ—अत एव।
2. क ग थ द ध – प्रतिभासि०, ख घ च छ ज झ त न – प्रतिभास०।

'अतद्रूपप्रतिष्ठम्'-में 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह उपरिवर्णित व्याख्या से स्पष्ट हो चुका है। यह जानना अप्रासंगिक न होगा कि **'निषेध'** दो प्रकार का है, पहला **'पर्युदास'** तथा दूसरा **'प्रसज्यप्रतिषेध'**। **'पर्युदास'** वहाँ होता है, जहाँ 'नञ्' का धात्वर्थ के साथ अन्वय होता है और 'प्रसज्यप्रतिषेध' वहाँ होता है, जहाँ 'नञ्' का प्रत्ययांश के साथ अन्वय होता है। कहा भी गया है–

'पर्युदासः सः विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञः।

प्रतिषेधः सः विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्' ॥

'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' में नञ् के 'प्रसज्यप्रतिषेध' अर्थ को स्पष्ट करने के लिये तत्त्ववैशारदीकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यथाऽश्राद्धभोजीति। अतः संशयोऽपि संगृहीतः। एतावांस्तु विशेषः– तत्र ज्ञानारूढैवा-[1]प्रतिष्ठितता, द्विचन्द्रादेस्तु बाधज्ञानेन। नन्वेवं विकल्पोऽपि तद्रूपाप्रतिष्ठानाद्विचारतो विपर्ययः प्रसज्येतेत्यत आह– मिथ्याज्ञानमिति। अनेन हि सर्वजनीनानुभवसिद्धो बाध उक्तः। स चास्ति विपर्यये न तु विकल्पे, तेन व्यवहारात्। पण्डितरूपाणामेव तु विचारयतां तत्र बाधबुद्धेरिति।

जैसे **'अश्राद्धभोजी'**। (यहाँ 'अश्राद्धभोजी' इस समस्त पद का कौन सा विग्रह मान्य है यह विचारणीय है। **'अश्राद्धं भुङ्क्ते'** अर्थात् श्राद्ध भोजन को जो नहीं करता है–ऐसा विग्रह करना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा विग्रह मानने पर श्राद्धभोजन के अभावकाल में व्रतलोप का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जो अनभीष्ट है। 'न श्राद्धभोजी' ऐसा विग्रह करना भी उचित नहीं है। अन्यथा अव्यय पूर्वपदप्रकृतिस्वर से आदि उदात्त होने का अनभीष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अपितु **'न भुङ्क्ते श्राद्धं यः'** ऐसा विग्रह करने से नञ् का क्रियार्थ (प्रत्ययार्थ) के साथ अन्वय होता है और यह 'असमर्थसमास' है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी **'तद्रूपे न प्रतिष्ठत इति अतद्रूपप्रतिष्ठम्'**। ऐसा विग्रह करना चाहिये। निष्कर्षतः यहाँ प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नञ् का 'प्रतिष्ठ' के साथ अन्वय करके 'अपने-अपने रूप में जो प्रतिष्ठित नहीं है' ऐसा **'अतद्रूपप्रतिष्ठम्'** का अर्थ करना चाहिए। विपर्ययज्ञान के तद्रूपाप्रतिष्ठ का दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण इस प्रकार है– जैसे शुक्तिरूप्य ज्ञान **'इदं रजतम्'** को ही लिया जाय तो वह वर्तमानकाल में जैसा रजत रूप से भासित होता है, वैसा उत्तरकाल में शुक्ति का साक्षात्कार **'नेदं रजतम्'** रूप से होने पर वह भासित नहीं होता है। अतः शुक्तिरूप्यज्ञान अतद्रूपप्रतिष्ठ होने से मिथ्याज्ञानरूप 'विपर्यय' है। **'न भुङ्क्ते श्राद्धं यः**

---

1. क ग द – **अप्रतिष्ठिता,** ख च झ थ ध – **अप्रतिष्ठता,** घ छ ज त न – **अप्रतिष्ठितता।**

य: ऐसा विग्रह 'अश्राद्धभोजी' का किया जाता है। 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' में नञ् का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ करने से 'संशय' ज्ञान का भी संग्रह हो जाता है, क्योंकि संशयज्ञान जैसे–'**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**' में भी तद्रूपाप्रतिष्ठत्व (अतद्रूपप्रतिष्ठत्व) होता है। दोनों में अंतर इतना है कि संशय में अप्रतिष्ठितता ज्ञानारूढ ही होती है जब कि विपर्यय में एक चन्द्र में द्विचन्द्रविषयक ज्ञान की अप्रतिष्ठितता तो उत्तरवर्ती बाधज्ञान के द्वारा समाप्त हो जाती है। यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि यह अप्रतिष्ठितता ज्ञानारूढ ही होती है। भले ही बाद में एक चन्द्र में होने वाला द्विचन्द्रविषयकज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाता है। (तात्पर्य यह है कि विपर्यय में ज्ञानशून्यता नहीं है, अपितु तथाकथित ज्ञान में तद्विषयरूपाप्रतिष्ठितता मात्र है। क्योंकि योगशास्त्र इस विषय में 'अन्यथाख्यातिवाद' को ही स्वीकार करता है)।

शङ्का–यदि विपर्यय ज्ञान को '**अतद्रूपप्रतिष्ठ** (तद्रूपाप्रतिष्ठ) माना जायेगा तो वैचारिक दृष्टि से तद्रूप में अप्रतिष्ठित ज्ञानरूप '**विकल्प**' वृत्ति को भी '**विपर्यय**' कहना पड़ेगा अर्थात् विपर्ययवृत्ति का लक्षण विकल्पवृत्ति में अतिप्रसक्त (अतिव्याप्त) होगा?

समाधान–शङ्का-निवारणार्थ (सूत्र में) कहा गया है–'**मिथ्याज्ञानमिति**। 'यहाँ मिथ्याज्ञान' पद के द्वारा सर्वजनीन अनुभवसिद्ध विपर्ययवृत्ति का बाध (निषेध) होना कहा गया है। अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान (विपर्ययज्ञान) का विरोधी ज्ञान जिस प्रकार **विपर्ययवृत्ति**' में (सर्वजनवेद्य होने से) संभव है, उस प्रकार '**विकल्पवृत्ति**' में संभव नहीं है। क्योंकि '**विकल्प**' के 'वस्तुशून्य' अर्थात् '**अलीक**' पदार्थविषयक होने पर भी उसमें शब्दजन्यज्ञान के माहात्म्य से तद्विषयक व्यवहार देखा जाता है। केवल तात्त्विक चिन्तकों (योगियों) को ही विकल्पवृत्ति के विषय में बाधबुद्धि होती है, सभी साधारण मनुष्यों को नहीं।

बालप्रिया–

सूत्र में '**मिथ्याज्ञानम्**' इस विशेषण पद के प्रयोग से ही 'विकल्पवृत्ति' में '**विपर्ययवृत्ति**' के लक्षण की अतिव्याप्ति निराकृत हो जाती है। अतः विपर्यय वृत्ति के लक्षण की निर्दुष्टता की दृष्टि से '**विकल्पभिन्नत्वम्**' पद का सन्निवेश कर 'विपर्यय' का परिष्कृत लक्षण करने के विषय में विचार किया जाना व्यर्थ है। '**मिथ्याज्ञानम्**' पद से विपर्यय और विकल्प का पृथक् रूप इस प्रकार सीमांकित है–शुक्ति में होने वाला '**इदं रजतम्**' ज्ञान (भ्रमज्ञान) पश्चाद्वर्ती '**नेदं रजतम्**' इत्याकारक बाधज्ञान से बाधित हो जाता है। '**नेदं रजतम्**' ज्ञान का होना भी उतना ही सहज है, जितना कि '**इदं रजतम्**' ज्ञान का होना। बस रजतग्रहण के लिए गये हुए व्यक्ति को रजत की प्राप्ति न हो सकने से '**नेदं रजतम्**' ज्ञान का उदय होता है, जो पूर्ववर्ती अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान

को रोक देता है। निष्कर्षतः विपर्ययज्ञानविषयक बाधबुद्धि किसी वर्गविशेष की प्रयत्नसाध्य स्थिति नहीं है। किन्तु विकल्पवृत्ति का स्वरूप इससे भिन्न है। जगत् में पदार्थ की सत्ता न होते हुए भी वस्तुशून्यात्मक विकल्पवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति (मूर्ख अथवा विद्वान्) को अवश्य होती है। किन्तु तद्विषयक बाधज्ञान मनीषी को ही संभव है, सर्वसाधारण को नहीं। इस प्रकार विपर्यय और विकल्प वृत्ति का अन्तर सुस्पष्ट है।

विपर्ययज्ञान किंकोटिक ज्ञान है–प्रमाणकोटिक अथवा अप्रमाणकोटिक? इस पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

चोदयति–स कस्मान्न प्रमाणम् इति।[1] नोत्तरेणोपजातविरोधिना ज्ञानेन पूर्वं बाधनीयमपि तु पूर्वेणैव प्रथममुपजातेनानुपजातविरोधिना परमिति भावः। परिहरति–यतः प्रमाणेनेति। यत्र हि पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिस्तत्रैवम्।

शङ्का–भाष्यकार ज्ञानकोटिता पर विचार करते हैं–'**स कस्मान्न प्रमाणमिति**।' यह मिथ्याज्ञान प्रमाणकोटिक क्यों न माना जाय? अर्थात् विपर्यय ज्ञान को प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि सञ्जातविरोधी (समुद्भूतविरोधी) उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान का बाध नहीं होता है, अपितु प्रथम उत्पन्न होने से असञ्जात विरोधी (अनुपजात-विरोधी=जिसका विरोधी उत्पन्न नहीं है)पूर्वज्ञान से ही उत्तरज्ञान (जिसका विरोधी उत्पन्न हो चुका है) का 'बाध' होता है।

समाधान–उक्त शंका द्वारा प्रस्तावित विषय का परिहार (खण्डन) करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**यतः प्रमाणेनेति**।' जहाँ पर '**पूर्व**' की अपेक्षा से '**पर**' की उत्पत्ति होती है, वहीं पर पूर्वशास्त्र से परशास्त्र के 'बाधित' होने का नियम चरितार्थ (क्रियान्वित) होता है। किन्तु यहाँ की स्थिति इसके विपरीत है।

बालप्रिया–

'**पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिः**–पूर्वापेक्ष परोत्पत्ति के स्थल में पूर्वशास्त्र से परशास्त्र के '**बाध**' होने के सिद्धान्त का विशदीकरण इस प्रकार है–

(१) पूर्व '**श्रुति**' की अपेक्षा से पर '**स्मृति**' की उत्पत्ति होती है, इसलिये स्मृति वाक्यों का साक्षात् प्रामाण्य नहीं है। अपितु श्रुति की कल्पना द्वारा ही स्मृति का प्रामाण्य माना गया है। अतः 'स्मृति' में 'श्रुति' सापेक्षता है। जैसा कि कहा गया है–'**स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न सम्मतम्**।' इस स्थिति में ही; जहाँ स्मृति का प्रामाण्य श्रुति पर आधारित है वहाँ; पूर्व (श्रुतिवाक्य) और पर (स्मृतिवाक्य) का विरोध

---

1. थ द ध – **इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति** नोपलभ्यते।

होने पर पूर्व श्रुतिवाक्य से पर स्मृतिवाक्य का **'बाध'** हो जाता है। उदाहरणार्थ– **'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्'** (श्रुतिवाक्य) तथा **'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या'** (स्मृतिवाक्य) हैं। उनमें से श्रुति के द्वारा विधेय **'औदुम्बरी स्पर्श'** तथा स्मृति के द्वारा **'सर्ववेष्टन'** विधेय होने पर पूर्व विहित **'स्पर्श'** श्रुति से **'सर्ववेष्टन'** स्मृति का विरोध हो जाता है। अर्थात् श्रुति-स्मृति प्रतिपादित विधेय में यदि भिन्नता रहती है तो श्रुति से दुर्बल स्मृति द्वारा प्रतिपादित विधेय का बाध होकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित विधेय का विनियोग किया जाता है। यह श्रुति-स्मृति के बाध्यबाधकभाव की स्थिति है। यह विषय **'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'** १/३/३/२ जैमिनि सूत्र के तन्त्रवार्त्तिक में द्रष्टव्य है।

(२) श्रुति, लिङ्गादि के स्थल में 'बाध्यबाधकभाव' के सिद्धान्त का **'पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिः'** स्वरूप निम्नाङ्कित है–

मीमांसाशास्त्र के अनुसार विनियोगविधिबोधक श्रुति, लिङ्गादि षडङ्गों के स्थल में जहाँ **'पूर्व'** की अपेक्षा **'पर'** की उत्पत्ति होती है, वहाँ **'पूर्व'** से **'पर'** का **'बाध'** किया जाता है। जैसे विनियोगविधि के अङ्गबोधक छह प्रमाणों में से 'लिङ्गप्रमाण' साक्षात् अङ्ग का विनियोजक नहीं होता है, क्योंकि लिङ्गादि प्रमाणों में **'अङ्ग'** के साथ **'प्रधान'** का सम्बन्धबोधक पद साक्षात् श्रुत नही रहता है, किन्तु **'श्रुतिप्रमाण'** की कल्पना द्वारा ही 'लिङ्गप्रमाण' 'अङ्ग' का विनियोजक होता है। इसलिये लिङ्गप्रमाण श्रुतिसापेक्ष कहा जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ **'श्रुतिप्रमाण'** तथा **'लिङ्गप्रमाण'** में 'अङ्गविनियोग' की दृष्टि से विरोध होता है, वहाँ पूर्व प्रबल श्रुति से पर दुर्बल लिङ्गप्रमाण द्वारा प्रतिपादित (विधेय) अङ्ग के विनियोग का बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ–**'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इस मन्त्र में लिङ्गप्रमाण से **'इन्द्रोपस्थानाङ्गत्त्व'** के लिये ऐन्द्री ऋक् को नहीं माना गया है, अपितु प्रत्यक्ष द्वितीय श्रुति के द्वारा ऐन्द्री ऋक् को **'गार्हपत्य-उपस्थान'** का अङ्ग माना गया है। उपरिवर्णित पारदौर्बल्यन्याय की प्रामाणिकता निम्नांकित जैमिनि सूत्र से स्फुट है–

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्–३/३/१४/७।

(३) **'पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिः'**-द्वारा तथ्यीकृत बाध्यबाधकभाव की तृतीय स्थिति इस प्रकार है–

प्रत्यक्ष और अनुमान के स्थल में जहाँ **'पूर्व'** प्रत्यक्ष की अपेक्षा 'पर' अनुमान की उत्पत्ति होती है, वहीं पर 'पूर्व' प्रत्यक्ष से 'पर' अनुमान का बाध होता है। क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षसापेक्ष होता है। जैसे वह्नि में शीतलत्व का अनुमान (वह्नि शीतल है) वह्नि के औष्ण्यरूप स्पार्शनप्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है।

सम्प्रति, 'विपर्यय' की परस्पर निरपेक्ष बाध्यबाधकस्थिति को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

इह तु स्वस्वकारणादन्योन्यानपेक्षे ज्ञाने जायेते। तेनोत्तरस्य पूर्वमनुपमृद्योदयमनासादयतस्तदपबाधात्मैवोदयो न तु पूर्वस्योत्तर[1]बाधात्मा, तस्य तदानीमप्रसक्तेः। तस्मादनुपजातविरोधिता बाध्यत्वे हेतुः, उपजातविरोधिता च बाधकत्वे। तस्माद् भूतार्थविषयत्वात्-प्रमाणेनाप्रमाणस्य बाधनं सिद्धम्।

विपर्यय के स्थल में पूर्वज्ञान से परज्ञान का बाध न होकर परज्ञान के द्वारा ही पूर्वज्ञान बाधित होता है, क्योंकि यह **'विपर्यय'** परस्परसापेक्ष वाक्यों की बाध्यबाधकस्थिति से भिन्न परस्पर निरपेक्ष वाक्यों के बाध्यबाधकभाव का स्थल है, इसी विषय को तत्त्ववैशारदीकार उठा रहे हैं–भ्रमज्ञान के स्थल में तो अन्योन्यानपेक्ष (परस्पर निरपेक्ष) दो ज्ञान–('द्विचन्द्रदर्शन' तथा 'एकचन्द्रदर्शन' अथवा 'इदं रजतम् तथा 'नेदं रजतम्' ज्ञान) अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं। इस कारण से पूर्वज्ञान (इदं रजतम्) का उपमर्दन (घर्षण, नाश, बाध) किये विना उत्तरज्ञान (नेदं रजतम्) का उदय नहीं होता है। अर्थात् पूर्वज्ञान के अनुपमृद्य रहते उत्तरज्ञान भी अनासादित होता है। अतः पूर्वज्ञान के बाधस्वरूप ही (पूर्वज्ञानापबाधात्मरूप से ही) उत्तरज्ञान का उदय होता है। उत्तरज्ञान के बाधस्वरूप (उत्तरज्ञानापबाधात्मरूप से) पूर्वज्ञान की उत्पत्ति (कथमपि) नहीं होती है। क्योंकि पूर्वज्ञान (**इदं रजतम्**') के क्षण में (उत्तरक्षणावस्थायी) उत्तरज्ञान (**नेदं रजतम्**) की प्राप्ति ही नहीं है। अर्थात् '**नेदं रजतम्**' इत्याकारक ज्ञान से पूर्व रजत की प्राप्ति का अभाव हुए विना शुक्ति में रजतत्व का निषेध सम्भव नहीं है। अतः पूर्वज्ञान में उत्तरज्ञान के प्रति बाधकत्व नहीं है। जैसा कि कहा गया है–'**प्रसक्तं हि प्रतिषिद्धयते**।' इसलिये अनुपजातविरोधिता बाध्यत्व में हेतु है और उपजातविरोधिता बाधकत्व में कारण है। अर्थात् अनुपजातविरोधिज्ञान उपजातविरोधिज्ञान से बाधित होता है। अतः अनुपजातविरोधिज्ञान में बाध्यत्व है और उपजातविरोधी ज्ञान अनुपजातविरोधिज्ञान को बाधित करता है। अतः उपजातविरोधी ज्ञान में बाधकत्व है। अतः प्रमाणवृत्ति के भूतार्थ (यथार्थ विषय) विषयक होने के कारण प्रमाणवृत्ति के द्वारा अप्रमाणकोटिक विपर्ययज्ञान का बाधित होना सिद्ध होता है। अतः विपर्ययज्ञान को प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता है। यह प्रमाणभिन्न चित्त की स्वतन्त्र 'वृत्ति है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **बाधात्मा**, थ द ध – **बाधात्मोदयः**।

बालप्रिया–

उत्तरज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान के बाधित होने का सिद्धान्त निम्नाङ्कित है–

'पौर्वापर्ये पौर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' जै. सू. ६/५/५४/१९ पर कुमारिलभट्ट की व्याख्या द्रष्टव्य है। स्वयं कुमारिल भट्ट के शब्दों में–

'पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् ।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ॥
आगामित्वादबाधित्वा परं पूर्वं हि जायते ।
पूर्वं पुनरबाधित्वा परं नोत्पद्यते क्वचित् ॥'

श्लोक का भावार्थ यह है–**'पूर्व'** की अपेक्षा **'पर'** का बलीयस्त्व वहाँ दिखलाई पड़ता है जहाँ परस्पर निरपेक्ष दो ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। आगामी (भविष्य में उत्पत्ति) होने के कारण, 'पर' का बाध न करके ही **'पूर्व'** ज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु 'पर' ज्ञान 'पूर्व' ज्ञान का बाध किये विना कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। प्रकृत में **'इदं रजतम्'** पूर्वज्ञान का बाध किये विना **नेदं रजतम्** इत्याकारक उत्तरज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। अतः पौर्वदौर्बल्यन्याय यहाँ चरितार्थ होता है।

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्–सूत्र की व्याख्या, आनुपूर्वापच्छेद में उत्तरापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरण नाम से संज्ञित कर, श्री माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमालाविस्तर में इस प्रकार की है–

अपच्छेदक्रमे पूर्वः प्रबलः स्यादुतोत्तरः ।
असंजातविरोधेन पूर्वेणोत्तरबाधनम् ॥
निरपेक्षोत्तरज्ञानं जायते पूर्वबाधया ।
न बाधकान्तरं तस्य तेन प्रबलमुत्तरम् ॥

प्रातःसवनीय ज्योतिष्टोम याग में परस्पर सम्बद्ध रहकर (एक दूसरे ऋत्विक् की काँछ पकड़ कर) यज्ञशाला से बाहर आने वाले ऋत्विजों से होने वाले अपच्छेद (स्पर्शराहित्य) के कारण विहित प्रायश्चित्त का यह प्रकरण है–

पूर्वपक्ष–पूर्वपक्षी का कहना है कि उद्गाता तथा प्रतिहर्ता नामक दो ऋत्विजों द्वारा युगपद् अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त का विकल्प होना चाहिये, क्योंकि दोनों समान-बल हैं। और जब इन ऋत्विजों द्वारा क्रमशः अपच्छेद की स्थिति आती है तब असंजातविरोधी के रूप से पूर्व के प्रबल होने के कारण श्रुति, लिङ्गादि प्रकरण के समान उत्तर की प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति, लिङ्गादि प्रकरण में तो उत्तरवर्ती लिङ्गादि प्रमाण पूर्ववर्ती श्रुत्यादिप्रमाणसापेक्ष होते हैं। अतः पूर्व श्रुत्यादि प्रमाण से उत्तर लिङ्गादि प्रमाण का विरोध होने पर उत्तरवर्ती लिङ्गादि

प्रमाण की प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। किन्तु प्रकृत में अन्योन्यनिरपेक्ष ज्ञानद्वय, वाक्यद्वय से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ज्ञानद्वय की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार उत्पद्यमान उत्तरज्ञान स्वविरुद्ध पूर्वज्ञान के बाध से ही उत्पन्न होता है। **पूर्वपक्ष**–निरपेक्षता तुल्य होने से पूर्वज्ञान को ही उत्तरज्ञान का बाधक माना जाय? **उत्तरपक्ष**–पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वज्ञान की उत्पत्तिदशा में अविद्यमान उत्तरज्ञान में बाध्यत्व की स्थिति कैसे आ सकती है और उत्तरकाल में स्वयं बाधित होने वाला पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान का बाधक कैसे बन सकता है? अतः उत्तरकालिक अपच्छेद के निमित्त प्रायश्चित्त अनुष्ठेय है।

प्रायश्चित्त का स्वरूपप्रतिपादक मीमांसा सूत्र इस प्रकार है–'**यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद्यथेतरस्मिन्** (६/५/५५/२०)/३ इस पर जैमिनीयन्याय-मालाविस्तरकार माधवाचार्य लिखते हैं–

उद्गातुः पश्चिमच्छेदे पुनर्यागस्य दक्षिणा। शतं द्वादशयुक्तं स्याद्यदि वा सर्ववेदसम्॥
तद्दद्याद्यत्पुरा दित्सुरित्युक्तेः शतदक्षिणा। प्रतिहर्तुः पुरा छेदात्सर्ववेदसबाधितम्॥
शतदानं पूर्वयागे सर्ववेदसदित्सुता। प्राप्तेत्यूर्ध्वं प्रयोगे तद्दातव्यं सर्ववेदसम्॥

सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि अनुपजातविरोधिता बाध्यत्व **में** हेतु है तथा उपजातविरोधिता बाधकत्व में। उदाहरणार्थ–भ्रम के स्थल में शुक्ति में होने वाले अनुपजातविरोधी '**इदं रजतम्**' ज्ञान में बाध्यत्व है तथा उपजातविरोधी '**नेदं रजतम्**' ज्ञान में बाधकत्व। अतः उपजातविरोधी 'उत्तरवर्ती '**नेदं रजतम्**' ज्ञान से अनुपजातविरोधी '**इदं रजतम्**' ज्ञान का बाध (निषेध) हो जाता है। इसीलिये भाष्यकार ने विपर्यय का प्रमाण द्वारा बाधित होना बतलाते हुए उसके प्रमाण-कोटिक होने का निषेध किया है।

सम्प्रति, विपर्ययवृत्ति के उदाहरण की विधिवत् घोषणा की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

उदाहरणमाह–तत्र प्रमाणेनेति।

प्रमाणज्ञान के द्वारा अप्रमाणज्ञान का बाधित होना देखा गया है–इस नियम के अनुसार '**द्विचन्द्रविषयकज्ञान**', जो अयथार्थ है, वह '**एकचन्द्रविषयक ज्ञान**', जो यथार्थ है, के द्वारा निराकृत हो जाता है।

इस प्रकार विपर्ययवृत्ति के लक्षण की निर्दुष्टता, उसके उदाहरण, अप्रमाणत्व तथा बाध्यबाधकत्व आदि विभिन्न पहलुओं पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया। सम्प्रति, '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (१/२) सूत्र से विपर्ययवृत्ति को अनुबन्धित कराने के लिये उसके हेयत्व (त्याज्यत्व) पक्ष को अवान्तरभेद के साथ उपस्थित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

[1]अस्य कुत्सितत्वं हानाय दर्शयति—सेयं पञ्चेति। अविद्यासामान्यमविद्यास्मितादिषु पञ्चसु पर्वस्वित्यर्थः।

विपर्ययवृत्ति के '**हान**' के लिये उसके तिरस्करणीय रूप को भाष्यकार बतलाते हैं। अर्थात् विपर्ययवृत्ति कुत्सित संसार का बीज होने से सर्वथा '**हेय**' है, इस तथ्य को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—'**सेयं पञ्चेति**।' अविद्यारूप विपर्ययवृत्ति अविद्या, अस्मिता आदि पांच अवस्थाओं वाली है।

बालप्रिया—

'विपर्ययवृत्ति' ही '**पञ्चपर्वा अविद्या**' कहलाती है। 'विपर्यय' अविद्यादि पञ्चक का सामान्य अभिधान है। अतः प्रकृत में अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश संज्ञक वृत्तियों का कथन न होने पर भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं समझनी चाहिये। क्योंकि 'विपर्ययवृत्ति' के कथन से ही अविद्यादि पञ्च वृत्तियों का संग्रह हो जाता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भाष्यकार ने विपर्यय के प्रसंग में '**अविद्या**' के पांच पर्वों की बात उठाई है।

सम्प्रति, विपर्ययरूप अविद्यादि के स्वरूप को उनके नामान्तर के साथ तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वष्टस्वानात्मस्वात्मबुद्धिरविद्या तमः। एवं योगिनामष्टस्वणिमादिकेष्वैश्वर्येष्वश्रेयःसु श्रेयोबुद्धिरष्टविधो मोहः पूर्वस्माज्जघन्यः स चास्मितोच्यते। तथा योगेनाष्टविधमैश्वर्यमुपादाय सिद्धो भूत्वा दृष्टानुश्रविकान् शब्दादीन्दश विषयान्भोक्ष्य इत्येवमात्मिका [2]प्रतिपत्तिर्महामोहो रागः। एवमेतेनैवाभिसंधिना प्रवर्तमानस्य केनचित्प्रतिबद्धत्वादणिमादीनामनुत्पत्तौ तन्निबन्धनस्य दृष्टानुश्रविकविषयोपभोगस्यासिद्धेः प्रतिबन्धविषयः क्रोधः स तामिस्राख्यो द्वेषः। एवमणिमादिगुणसंपत्तौ दृष्टानुश्रविकविषयप्रत्युपस्थाने च कल्पान्ते सर्वमेतन्नङ्क्ष्यतीति यस्त्रासः सोऽभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। तदुक्तम्—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥ इति॥८॥

अनात्मभूत—अव्यक्त= प्रकृति, महत्=बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र इन आठ— में आत्मबुद्धिरूप वृत्ति '**अविद्या**' है, जिसे '**तम**' भी कहते हैं। अश्रेयभूत

---

1. ख ग घ च छ ज झ त न – **अस्य**, थ द ध – **तस्य**।
2. घ च छ ज झ थ द ध न – **प्रतिपत्तिः**, क ख ग त – **प्रीतिः**।

अणिमादि आठ ऐश्वर्यों के प्रति योगियों की अष्टविध श्रेयबुद्धिरूप वृत्ति '**मोह**' है। जो '**तम**' की अपेक्षा निंद्यतर (धृष्टतर) है, '**अस्मिता**' नाम से अभिहित है। योगशक्ति के द्वारा अणिमादि आठ ऐश्वर्यों (सिद्धियों) की प्राप्ति से सिद्धयोगी बनकर भी होने वाली दृष्ट (लौकिक) तथा आनुश्रविक (अलौकिक) शब्दादि विषयविषयिका भोगात्मिका (प्रीत्यात्मिका) वृत्ति '**महामोह**' है, जिसे '**राग**' कहते हैं। उपरिवर्णित भोगात्मिका वृत्ति के अनुसार प्रवृत्त सिद्ध को किसी अवरोधक के कारण अणिमादि हस्तगत न होने से तन्निबन्धक (तदाश्रित) दृष्टानुश्रविक विषयभोगविषयिका वृत्ति भी उसमें उत्पन्न नहीं होती है। अणिमादि विषयों के प्राप्त न होने पर उत्पन्न होने वाली क्रोधात्मिका (अप्रीत्यात्मिका) वृत्ति '**तामिस्र**' संज्ञक '**द्वेष**' कहलाती है। (सरल शब्दों में अणिमादि आठ ऐश्वर्यों तथा दिव्यादिव्य दस प्रकार के शब्दादि विषयों को भोगने के लिये प्रवृत्त होने पर, किन्तु किसी प्रतिबन्धक के कारण उन ऐश्वर्यों तथा विषयों का भोग प्राप्त न होने से, उस प्रतिबन्धक पर जो क्रोधरूप '**द्वेष**' होता है, उसे ही '**तामिस्र**' कहते हैं)। अणिमादि सामर्थ्यसम्पत्ति तथा दृष्टादृष्ट विषय-सम्पत्ति की (निरापद) समुपस्थिति=प्राप्ति होते रहने पर भी 'ये सब कल्प के अन्त में नष्ट हो जायेंगे' अर्थात् मरणोपरान्त इनकी प्राप्ति नहीं होगी–इत्याकारक त्रासात्मिका (भयात्मिका) वृत्ति '**अभिनिवेश**' है, जिसे '**अन्धतामिस्र**' भी कहते हैं। जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है–'**भेदस्तमसो भवन्त्यन्धतामिस्रः**' (सां. का. ४८) अर्थात् तम (अविद्या) के अष्टविध भेद हैं तथा मोह (अस्मिता) के भी अष्टविध भेद हैं। महामोह (राग) दशविध, तामिस्र (द्वेष) अष्टादशप्रकारक तथा अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) भी अष्टादश भेद वाला है॥८॥

बालप्रिया–

अविद्यादि की '**तम**' आदि संज्ञाएँ स्मृति द्वारा भी समर्थित हैं–

'**तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।**
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥'

'**अभिसन्धिना**'–अभिसन्धि (अभि+सम्+धा+कि) उद्घोषणा, प्रतिज्ञा, अभिप्रेत अर्थ। '**अयमभिसन्धिः**' इस पद का प्रयोग संस्कृत के टीकाकार स्वमत टीका को प्रस्तुत करने के लिये प्रायः करते हैं॥८॥

योगवार्त्तिकम्

प्रमाणं लक्षयित्वा विपर्ययं लक्षयति–विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशो मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम्। मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति। न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तत्प्रतिष्ठं तद्विशेष्यकमित्यर्थः। भ्रमस्थले ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोप इति भावः। संशयस्याप्यत्रैवान्तर्भावः। अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्तो न तु

सांख्यवदविवेकमात्रम्, अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्ये-त्यागामिसूत्रात्। वैशेषिकाच्चात्रायं विशेषो यद्बाह्यरजतादेर्नारोपः किं त्वान्तरस्यैवेति। ज्ञानाकारमनुभवसिद्धं शुक्त्यादिकं सन्निकृष्टं विहाय दूरस्थरजतादिविषयकत्वकल्पने गौरवात्, स्वप्ने दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपतो बाधानुपपत्तेश्च।[1] **तथा च ब्रह्मसूत्रद्वयम्—संध्ये सृष्टिराह हि इति, तदभिध्यानादेव तत्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ इति चेति।**

'**प्रमाण**' का लक्षण करने के पश्चात् सूत्रकार '**विपर्यय**' का लक्षण करते हैं— '**विपर्यय इति।**' यहाँ '**विपर्यय**' पद से लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जा रहा है) का निर्देश तथा '**मिथ्याज्ञान**' पद से (विपर्यय के) लक्षण का निर्देश किया गया है। '**मिथ्या**' के विवरण के रूप में (सूत्र का अवशिष्टांश) '**अतद्रूपप्रतिष्ठ**' पद है। अर्थात् '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**' यह '**मिथ्याज्ञानम्**' इस विशेष्यपद का विशेषण है। फलितार्थ यह हुआ—तद्रूप वाला नहीं अर्थात् अपने आकार के रूप वाला जो विषय नहीं होता है उसे '**अतद्रूप**' कहते हैं। इस प्रकार जो '**अतद्रूप**' में प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित (अवस्थित) है, उसे '**अतद्रूपप्रतिष्ठ**' कहते हैं। इस प्रकार अतद्रूपविशेष्यक ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। भ्रमस्थल में ज्ञानाकार का ही विषय में समारोप (आरोप) होता है। संशय का भी विपर्यय में ही अन्तर्भाव होता है। योगदर्शन में '**अन्यथाख्याति**' सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, न कि सांख्य दर्शन के समान '**अविवेकमात्र**' अर्थात्' अख्यातिवाद को मान्यता प्राप्त है, क्योंकि (अन्यथाख्यातिवाद का समर्थक) '**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**' २/५ इत्याकारक आगामी योगसूत्र है। वैशेपिक भी '**अन्यथाख्याति**' को मानते हैं, किन्तु दोनों के अन्यथाख्यातिवाद में अन्तर है। वैशेषिकों की '**अन्यथाख्याति**' से योग की '**अन्यथाख्याति**' में यह पार्थक्य (वैलक्षण्य) है कि योग दार्शनिक शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान के समय वैशेषिकों के समान '**बाह्य**' अर्थात् हटस्थ रजत का शुक्ति में आरोपित होना स्वीकार नहीं करते हैं, अपितु आन्तरिक (चित्तकल्पित) रजत को ही शुक्ति में आरोपित मानते हैं। क्योंकि ज्ञान के आकार वाली अनुभवसिद्ध सन्निकृष्ट (चित्तपरिकल्पित) शुक्त्यादि को त्यागकर दूरस्थ (हट्टस्थ) रजतादि-विषयिणी कल्पना करने में गौरवदोष आयेगा तथा 'स्वप्न में देखी हुई रजत को इस समय नहीं देख रहा हूँ'—इस प्रकार का होने वाला स्वरूपतः बाध भी अनुपपन्न रह जायेगा (क्योंकि जाग्रत् अवस्था में रजत का स्वरूपतः बाध नहीं होता है। हट्ट में तो रजत विद्यमान रहती ही है)। ब्रह्मसूत्र के दो वाक्यों से भी यही तथ्य

---

1. ख – **विप्र! पृथिव्यादिचित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन। स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयत इति– स्मृत्या भ्रमेऽपि चित्तस्थविषयस्यैव दर्शनसिद्धेश्च** (**बाधानुपपत्तेश्च** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ– **विप्र:....सिद्धेश्च** नोपलभ्यते।

परिपुष्ट होता है। सूत्र इस प्रकार हैं– **'संध्ये सृष्टिराह हि'** तथा **'तदभिध्यानादेव तत्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।'**

बालप्रिया–

'अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः'–सरलार्थ यह है कि भ्रमज्ञान किस प्रकार होता है? उसका आधार क्या है? तथा उसका स्वरूप क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्नों पर दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मतों को प्रकट किया है। इसे शास्त्रीय शब्दों में ख्यातिविचार कहते हैं। दर्शन में मुख्यतया पाँच ख्यातियाँ हैं। इनका संग्राहक श्लोक है–

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥

अर्थात् आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीय-ख्याति–ये ख्यातिपञ्चक हैं।

असत्ख्याति : शून्यवादी बौद्ध–

भ्रान्ति के स्थल में रजत न होते हुए भी रजत की जो प्रतीति होती है, वह रजत असद्रूप है, ऐसा शून्यवादी बौद्ध मानते हैं। अतः इस वाद को **'असत्ख्याति'** कहते हैं।

सत्ख्याति (आत्मख्याति): विज्ञानवादी बौद्ध–

भ्रम स्थल में रजत की जो प्रतीति होती है, वह रजत कहीं न कहीं 'सद्रूप' है। रजत के सद्रूप रहने पर ही उसकी भ्रमस्थल में प्रतीति होती है, ऐसा विज्ञानवादी योगाचार मानते हैं। इनका यह मत **'सत्ख्याति'** अथवा **'आत्मख्याति'** के नाम से प्रसिद्ध है।

अन्यथाख्याति : नैयायिक–

दूरस्थ रजत का मरुस्थलीय शुक्ति में प्रतिभासित होना अर्थात् सत् वस्तु की अन्यथाप्रतीति होना **'अन्यथाख्याति'** है। इस वाद के पोषक नैयायिक हैं।

अनिर्वचनीयख्याति : वेदान्ती–

वेदान्तियों का मत है कि शुक्ति में होने वाली रजतप्रतीति को न **'सत्'** कहा जा सकता है और न ही उसे **'असत्'** माना जा सकता है। इसे सदसद्रूप से भिन्न एक विलक्षण प्रतीति ही कहा जा सकता है। अतः यह वाद **'अनिर्वचनीयख्याति'** के नाम से प्रसिद्ध है।

सदसत्ख्याति : सांख्य–

भ्रम-स्थल में प्रतीत होने वाला रजत किसी अंश में **सत्** है और किसी अंश में **असत्** है। तथाकथित सदसत्ख्यातिवाद के पोषक सांख्याचार्य हैं।

विज्ञानभिक्षु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में योग को अन्यथाख्यातिवादी माना है, सांख्यवत् '**अविवेकमात्र**' रूप नहीं। क्योंकि योगदर्शन में सांख्यदर्शन के समान '**अविद्या**' शब्द का अर्थ '**अविवेक**' नहीं है, अपितु वैशेषिकों के समान '**विशिष्टज्ञान**' ही है। स्वयं विज्ञानभिक्षु के शब्दों में–'**अस्मिंश्च दर्शने सांख्यानामिव अविवेको नाऽविद्या शब्दार्थः, किन्तु वैशेषिकादिवत् विशिष्टज्ञानमेवेति**' यो. सू. २/५ योगवार्त्तिक। '**अन्यथाख्याति**' को स्पष्ट करते हुए भिक्षु ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि योग का अन्यथाख्यातिवाद नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद से भिन्न है। इसलिये योगमत में भ्रमस्थल में असद्वस्तु का भान कैसे होता है? यह समस्या भी नहीं आती है। जैसा कि सांख्य में अन्यथाख्याति का खण्डन करते हुए कहा है– '**नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात्**' सां. सू. ५/५५।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **विपर्यय**' के '**प्रमाणत्व**' को शंका-समाधान की शैली से खण्डित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु प्रतीतिबलेनैव विषयः सिध्यतु, तथा च शुक्तिरजतादिस्थलेऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वमसिद्ध-मित्याशयेन पृच्छति–स कस्मादिति। परिहरति– यत इति। अबाधितानुभवेनैव विषय-सिद्धिरिति भावः। ननु बाध्यबाधकभाव एव वैपरीत्येन कथं न भवति तत्राह–भूतार्थेति। सदर्थविषयत्वेन प्रमाणस्य बलवत्त्वात्, तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभाव इति।[1] अत्रोदाहरण-माह–तत्र प्रमाणेनेत्यादिना। विपर्ययवृत्तेरतिहेयत्वख्यापनायाह–सेयमिति। पञ्चपर्वा याऽविद्या संसारानर्थबीजं सा, इयमेव=मिथ्याज्ञानरूपा वृत्तिरेव, एतद्विशेष एवेति यावत्। अत इयमवश्यं निरोद्धव्येति भावः। पर्वाणि गणयति–अविद्याऽस्मितेति। क्लेशाः क्लेशाख्याः, क्लेशदत्वादिति[2] भावः। रागादीनां मिथ्याज्ञानत्वाभावेऽप्यविद्ययाऽनुगतत्वादविद्यापर्वत्वं विपर्ययत्वं च, यथाऽङ्कुरस्य बीजपर्वत्वं बीजत्वं चेति बोध्यम्।

शङ्का–(सिद्धान्ती के '**विषयाकारमनुभवसिद्धम्**' को ध्यान में रखते हुए पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि) जब प्रतीति के बल पर ही विषय की सिद्धि हो जाती है तब शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान आदि स्थल में भी '**अतद्रूपप्रतिष्ठत्व**' सिद्ध नहीं होता है? इस

---

1. ख – **बाधकताप्रयोजकं प्रदर्श्य बाध्यबाधकभावे प्रत्यक्षं प्रमाणं दर्शयति** (**स्वभाव इति पश्चात्**) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **बाधकता**......दर्शयति नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **इति भावः**, ख ग – **इत्यर्थः**।

आशय से पूर्वपक्षी प्रश्न करता है–'**स कस्मादिति**'। '**विपर्यय**' वृत्ति को '**प्रमाण**' क्यों नहीं माना जाता है? अर्थात् '**विपर्यय**' का प्रमाणवृत्ति में अन्तर्भाव किया जाय?

समाधान–भाष्यकार पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं–'**यत इति**।' क्योंकि प्रमाण के द्वारा विपर्ययज्ञान का बाध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अबाधित अनुभव से ही विषय की सिद्धि होती है।

शङ्का–बाध्यबाधकभाव ही विपरीत क्रम से क्यों नहीं होता है? अर्थात् ऐसा मान लिया जाय कि विपर्ययवृत्ति से ही प्रमाणवृत्ति का बाध होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**भूतार्थेति**।' यथार्थविषयक होने से प्रमाण-वृत्ति (अयथार्थविषयिणी विपर्ययवृत्ति से) बलवती है। बुद्धि यथार्थतत्त्वपक्षपातिनी स्वभाव वाली होती है। अतः विपर्यय द्वारा प्रमाण का बाध क्यों नहीं होता है? इत्याकारक शङ्का खण्डित हो जाती है। इस विषय में भाष्यकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–'**तत्र प्रमाणेनेत्यादिना**।' प्रमाण के द्वारा अप्रमाण का बाध इस प्रकार देखा जाता है कि द्विचन्द्रविषयक भ्रमज्ञान सद्विषयक एकचन्द्रदर्शन से बाधित हो जाता है।

विपर्ययवृत्ति की अतिहेयता (सर्वथा अलंबुद्धिता) को बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**सेयमिति**।' अविद्यादि पाँच पर्व वाली जो '**अविद्या**' है, वही संसाररूप अनर्थ की हेतुभूता है और यही मिथ्याज्ञानरूप वृत्ति है। यही अन्य वृत्ति से इस वृत्ति का अन्तर है। अर्थात् संसार दिलाना ही विपर्ययवृत्ति का फल है। अतएव संसारफलक यह विपर्ययवृत्ति अवश्य ही निरोध के योग्य है। अविद्या के पर्वों (अंशों, घटकों) को भाष्यकार गिनाते हैं–'**अविद्याऽस्मितेति**।' क्लेशदायक (कष्टप्रद) होने के कारण ये अविद्यादि '**क्लेश**' संज्ञा से अभिहित हैं। यद्यपि रागादि क्लेशों में मिथ्याज्ञानत्व का अभाव रहता है, तथापि अविद्या से अनुगत अर्थात् सम्बद्ध अर्थात् अविद्यामूलक होने के कारण इनमें अविद्यापर्वत्व और विपर्ययत्व दोनों उसी प्रकार अनुस्यूत रहते हैं, जिस प्रकार अङ्कुर में बीजपर्वत्व और बीजत्व दोनों निहित रहते हैं।

बालप्रिया–

'**यथाऽङ्कुरस्य बीजपर्वत्वं बीजत्वं चेति**'–सरलार्थ यह है–जिस प्रकार बीजत्वधर्म-विशिष्ट अङ्कुर अपने धर्मीभूत बीज का अनागतलक्षणपरिणामविशेष होता है। अतः अङ्कुर अपने बीजत्व और बीजपर्वत्व दोनों धर्मों से युक्त होता है। उसी प्रकार धर्मीभूत अविद्या का विपर्ययत्व धर्मभूत रागादि में अनुस्यूत रहता है। अतः रागादि अपने कारणरूप अविद्या के विपर्ययत्व और अविद्यापर्वत्व धर्मों को कैसे छोड़ सकते हैं?

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वृत्तियों के शान्तत्वादि रूप को शङ्का-समाधान की शैली में सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्वविद्या विपर्ययो मोह इति पर्यायाः, एवं च सति मोहवृत्त्योरभेदात् कथं शान्तघोरमूढ़त्वं वृत्तीनामिति सिद्धान्तो घटेतेति चेत्? न, धर्मधर्म्यभेदेनैवात्र वृत्तीनां विपर्ययादिरूपविभागकरणात्। वस्तुतस्तु वृत्तयो विपर्ययादिगत्य एवेत्यत्यन्तहेयत्वप्रतिपादनायान्वर्थसंज्ञापञ्चकं क्लेशानामाह–एत एवेति। स्वसंज्ञाभिः=स्वानुरूपसंज्ञाभिः। तथा च विष्णु[1]पुराणम्–

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

इति। एतेषामेव च प्राधान्येनावान्तरविभागः सांख्यकारिकायामुक्तः–

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥

इति। अव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मस्व[2]ष्टस्वात्मबुद्धिरविद्या=अष्टविधं तमः, ज्ञानावरकत्वात्। एतास्वेव देहाद्यात्मबुद्धीनामन्तर्भावः, देहादीनामेतदष्टककार्यत्वात्। शुक्तिरजतादिविपर्ययाणां तु संसाराहेतुतया नात्र गणना, विपर्ययादिष्यते बन्ध इति पूर्वकारिकया बन्धहेतुविपर्ययस्यैव प्रकृतत्वादिति। मोहादिष्वप्येवं बोध्यम्। अष्टस्वणिमाद्यैश्वर्येष्व[3]नात्मस्वात्मीयबुद्धिरस्मिता, स्वत्वास्मितयोः पर्यायत्वात्। सैव चाष्टविषयकतयाऽष्टविधो मोहो [4]मुख्यत उच्यते। शेषं पूर्ववत्। तथा दृष्टानुश्रविकभेदेन दशसु शब्दादिविषयेषु रागो दशविधो महामोहः। शेषं पूर्ववत्। तथाऽष्टैश्वर्यस्य विषयदशकस्य च परिपन्थिनि द्वेषोऽष्टादशधा तामिस्रः। शेषं पूर्ववत्। तथैश्वर्याष्टकं विषयदशकं च न[5] नङ्क्ष्यतीति यस्त्रासः सोऽष्टादशधाऽभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। शेषं पूर्ववत्। एत इति। अविद्याऽऽदय इत्यर्थः॥८॥

शङ्का–अविद्या, विपर्यय और मोह पर्याय हैं। इस स्थिति में मोह और वृत्ति का अभेद होने के कारण वृत्तियों का 'शान्तत्व' 'घोरत्व' और 'मूढत्व' रूप वाला सिद्धान्त किस प्रकार उपपन्न हो सकता है?

---

1. क ख घ च छ – **पुराणं**, ग – **पुराणे**।
2. क ग घ च छ – **अष्टस्वात्मबुद्धिरविद्या, अष्टविधं तमः, ज्ञानावरकत्वात्। एतास्वैव देहाद्यात्म०** उपलभ्यते, **ख – अष्टं.....त्म०** नोपलभ्यते।
3. क च छ – **अनात्मसु**, ख ग घ – **अनात्मीयेषु**।
4. क ग घ च छ – **मुख्यत उच्यते** उपलभ्यते, ख – **मुख्यत उच्यते** नोपलभ्यते।
5. क ख छ – **न** (**च** पश्चात्) उपलभ्यते, ग घ च – **न** नोपलभ्यते।

समाधान–ऐसी बात नहीं है। धर्म और धर्मी में अभेद होने से ही वृत्तियों का विपर्ययादि रूप से विभाग किया जाता है। वस्तुतस्तु विपर्ययादि स्वभाव वाली वृत्तियाँ ही हैं। ये वृत्तियाँ पूर्णतः त्याज्य हैं, ऐसा प्रतिपादित करने के लिए भाष्यकार अविद्यादि पञ्च क्लेशों के अन्वर्थ पर्यायों (संज्ञाओं) को बतलाते हैं–'**एत एवेति**।' '**स्वसंज्ञा**' शब्द का अर्थ है– स्वानुरूप संज्ञा अर्थात् ये अविद्यादि क्लेश अपने-अपने स्वरूप के अनुसार तमादि लब्धसंज्ञा वाले हैं। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा है– '**तमो...महात्मनः**' अर्थात् 'तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र संज्ञा वाली यह पञ्चपर्वा 'अविद्या' महात्मा (परमेश्वर) से प्रादुर्भूत हुई।' सांख्यकारिका में भी इन अविद्यादि के ही मुख्यतः अवान्तरभेद (प्रभेद) बतलाये गये हैं। कारिका इस प्रकार है–'**भेदस्तमसो...भवत्यन्धतामिस्रः**' सां. का. ४८। योगवार्त्तिककार कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं–अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पञ्च तन्मात्ररूप आठ अनात्मपदार्थों में जो आत्मविषयिणी वृत्ति (बुद्धि) है, उसे '**अविद्या**' कहते हैं। तथाकथित '**अविद्या**' को ही अष्टविध '**तम**' कहते है, क्योंकि यह ज्ञान को आवृत्त करती है। (वस्तुतस्तु पदार्थ का यथार्थ बोध न होना ही '**तम**' है)। अनात्म में आत्मबुद्धिरूप अष्टविध अविद्या में ही, देहादि में आत्मबुद्धिरूप भ्रान्तियों का भी समावेश हो जाता है, क्योंकि (अनात्मभूत) देहादि इन्हीं अव्यक्तादि आठ अनात्म-तत्त्वों के कार्य हैं। 'शुक्ति' आदि विषय में होने वाले रजतादिविषयक (भ्रमात्मक) विपर्ययात्मक ज्ञानों की '**तम**' में परिगणना नहीं की जाती है, क्योंकि तथाकथित भ्रमात्मक ज्ञान संसार का कारण नहीं है। दूसरा तर्क यह है कि कारिकाकार ने भी '**विपर्ययादिष्यते बन्धः** इत्याकारक विगत कारिकांश द्वारा बन्ध के हेतुभूत विपर्यय को ही '**अविद्या**' (तम) कहा है। इसी प्रकार संसारहेतुभूत मोहादि में ही विपर्यय का स्वरूप निहित है। अनात्मभूत अर्थात् जडात्मक अणिमादि आठ ऐश्वर्यों में आत्मबुद्धि होना '**अस्मिता**' है, क्योंकि 'स्वत्व' अर्थात् अधिकारत्व और 'अस्मिता' अर्थात् अहंत्व पर्याय हैं। भाव यह है कि 'अणिमादि ऐश्वर्यों पर मेरा अधिकार है' अथवा 'अणिमादि ऐश्वर्यवान् मैं हूँ'–ये दोनों ही अस्मिता (मोह) वृत्ति के रूप हैं। यह अस्मिता भी आठ प्रकार के अनात्मभूत पदार्थों में आत्मबुद्धि करने से '**मोह**' कही जाती है। शेष तमवत् है। दृष्ट (लौकिक) और आनुश्रविक (अलौकिक) के भेद से दस प्रकार के शब्दादि विषयों में जो दस प्रकार का '**राग**' क्लेश है, वही '**महामोह**' कहलाता है। शेष पूर्ववत् है। आठ प्रकार के ऐश्वर्यों और दस प्रकार के शब्दादि विषयों के विरोधियों में होने वाला अठारह प्रकार का '**द्वेष**' क्लेश '**तामिस्र**' कहलाता है। शेष पूर्ववत् है। 'प्राप्त किये हुए आठ प्रकार के ऐश्वर्य और दसों विषय मेरे नष्ट हो जायेंगे, इस प्रकार का जो अठारह प्रकार का '**अभिनिवेश**' क्लेश

है, वही '**अन्धतामिस्र**' कहलाता है। शेष पूर्ववत् है। योगवार्त्तिककार सूत्र के भाष्य की अन्तिम पंक्ति को उठाते हैं–'**एत इति**।' ये अविद्यादि क्लेश 'चित्तमल' के प्रसंग में आगे बतलाये जायेंगे॥८॥

यथाक्रम '**विकल्प**' वृत्ति का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥९॥

शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से प्रतीत होने वाली अलीक पदार्थ विषयक वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं॥९॥

व्यासभाष्यम्

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च।[1] वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान-माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा–चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः, यथा–चैत्रस्य गोरिति। तथा–प्रतिषिद्धवस्तु[2]धर्मा निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति, स्थित इति। गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथा अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मः, तेन चास्ति व्यवहार इति ॥९॥

विकल्पवृत्ति न तो प्रमाण के अन्तर्गत आती है और न विपर्यय के अन्तर्गत। (कारण है)–वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान की महिमा से इसका व्यवहार देखा जाता है। जैसे, 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'–ऐसा व्यवहार देखा जाता है। जब 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'–तो कौन किसके द्वारा विशेषित किया जा सकता है? किन्तु 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'–इस प्रकार व्यपदेश (विशेष्यविशेषणभाव का कथन) करने पर तथाकथित वृत्ति तो बनती ही है अर्थात् वैसा ज्ञान तो होता ही है। जैसे कि '**चैत्रस्य गौः**' इस वाक्य के कहने पर 'चैत्र की गाय है'–इत्याकारक चित्तवृत्ति उदित होती है। (विकल्प के अन्य उदाहरण हैं)–'वस्तुनिष्ठ समस्त धर्मों से रहित पुरुष निष्क्रिय है (यह शास्त्रीय उदाहरण है),' बाण चलता नहीं है, बाण चलेगा नहीं, बाण चला नहीं'–(ये लौकिक उदाहरण हैं)। यहाँ गतिनिवृत्तिरूप

---

1. घ द ध प फ व य र – **च** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ न भ य – च नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द न प फ भ म य – **धर्मा**, घ ध ब र – **धर्मः**।

धात्वर्थ का ही बोध होता है (अर्थात् इसमें जो गतिनिवृत्ति है, उससे 'स्था' धातु के अर्थमात्र का ज्ञान होता है)। एक और उदाहरण दिया जा रहा है– 'उत्पत्तिरूप धर्म के अभाव वाला पुरुष है'–(इस कथन में) पुरुषान्वयी किसी धर्म का ज्ञान नहीं होता, केवल उत्पत्तिरूप धर्म का अभाव मात्र प्रतीत होता है। फिर भी पुरुष में उत्पत्ति रूप धर्म का अभाव भासता है। इसलिये इस अभावरूपी धर्म की वृत्ति कल्पित ही है अर्थात् अभावरूप धर्म विकल्पात्मक ही है और उससे (कल्पित धर्म से) इस प्रकार का व्यवहार भी होता है॥९॥

तत्त्ववैशारदी

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। ननु शब्दज्ञानानुपाती चेदागमप्रमाणान्तर्गतो विकल्पः प्रसज्येत, निर्वस्तुकत्वे वा विपर्ययः स्यादित्यत आह–स नेति। स[1] न [2]प्रमाणविपर्ययान्तर्गतः। कस्मात्? यतो [3]वस्त्विति। वस्तुशून्यत्वेऽपीति प्रमाणान्तर्गतिं निषेधति। शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन इति विपर्ययान्तर्गतिम्। एतदुक्तं भवति–क्वचिदभेदे भेदमारोपयति, क्वचित्पुनर्भिन्नानामभेदम्। ततो भेदस्याभेदस्य च वस्तुतोऽभावात्तदाभासो विकल्पो न प्रमाणम्; नापि विपर्ययः, व्यवहाराविसंवादादिति।

शङ्का–(विकल्पवृत्ति को '**शब्दज्ञानानुपाती**' कहने पर शङ्का की जा रही है)–यदि '**विकल्प**' वृत्ति शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होती है, तो उसके आगमप्रमाण में अन्तर्भुक् होने की आपत्ति आयेगी। अथवा ('**वस्तुशून्यः**' कहने पर) यदि 'विकल्प' वृत्ति निर्वस्तुक (अयथार्थ वस्तुविषयक) है, तो उसका विपर्यय में सम्मिलित होना प्राप्त होता है। (पूर्वपक्षी की शङ्का का तात्पर्य यह है कि सूत्रकारकृत विकल्पवृत्ति का लक्षण '**विकल्प**' के 'स्वतन्त्र वृत्तित्वस्थापन' में अक्षम है। अतः '**विकल्प**' को शब्द अथवा विपर्ययवृत्ति ही माना जाय अथवा लक्षणगत सन्देह को दूर किया जाय)।

समाधान–उक्त शंका को दृष्टिगत रखते हुए भाष्यकार ने कहा है–'**स नेति**' इस विकल्पवृत्ति का '**प्रमाण**' अथवा '**विपर्यय**' में से किसी भी वृत्ति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

शङ्का–पूर्व वर्णन के अनुसार '**विकल्प**' की वृत्त्यन्तर में सम्भावित अन्तर्भाविता को कैसे रोका जा सकता है?

---

1. थ द ध – **सः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रमाणविपर्ययान्तर्गतः**, थ द ध – **प्रमाणान्तर्गतः विपर्ययान्तर्गतो वा**।
3. थ द ध – **वस्त्विति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – वस्त्विति नोपलभ्यते।

समाधान—उत्तर है—**'वस्त्विति'**। वस्तुशून्य=वास्तविक अर्थ से रहित होने के कारण अर्थात् वस्तुशून्यत्व के आधार पर ही विकल्पवृत्ति की प्रमाणान्तर्भाविता को निरस्त किया गया है। (यथार्थविषयक **'प्रमाण'** में अयथार्थविषयक **'विकल्प'** का कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता है)। किञ्च शब्दज्ञान की महिमा से युक्त होने के कारण विकल्पवृत्ति की विपर्ययान्तर्भाविता अपसारित की गई है। शब्दज्ञानाननुपाती **'विपर्यय'** में शब्दज्ञानानुपाती **'विकल्प'** का कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। विकल्प के विषय में कहा गया है—विकल्पवृत्ति कहीं अभेद में भेद का आरोप करती है और कहीं परस्पर भिन्नों में अभेद स्थापित करती है। जब कि भेद और अभेद का वस्तुतः अभाव ही रहता है। अतः अवास्तविक (वस्तुशून्य) भेद अथवा अभेद का प्रतिभास (ज्ञान) कराने वाली विकल्पवृत्ति, प्रमाणवृत्ति नहीं है। यह विपर्ययवृत्ति भी नहीं है, क्योंकि विकल्प में व्यवहार-नैरन्तर्य बना रहता है।

बालप्रिया—

'राहोः शिरः'—यह अभेद में भेदकल्पनारूप **'विकल्प'** है। राहु का सिर है ही नहीं, फिर भी यहाँ भेद विवक्षित है। अतः यह शब्दनिबन्धन वस्तुशून्य अभेद में भेद का आपादन कराने वाली विकल्पवृत्ति है।

'अयःपिण्डे दग्धृ'— यह भेद में अभेदकल्पनारूप **'विकल्प'** है। वास्तविक रूप में 'दग्धृत्व' वह्निनिष्ठ है, लोहनिष्ठ नहीं। अतः दग्धृता और अयःपिण्ड परस्पर भिन्न हैं, फिर भी यहाँ अभेद विवक्षित है। अतः यह शब्दज्ञाननिबन्धन वस्तुशून्य भेद में अभेद का आपादन करने वाली विकल्पवृत्ति है। **'अयःपिण्डो दहति'** से भी उक्त तथ्य सीमांकित होता है। अतः अवास्तविक भेद अथवा अभेदविषयिणी वस्तुशून्यात्मिका विकल्पवृत्ति यथार्थविषयिणी **'प्रमाणवृत्ति'** की परिधि में नहीं आ सकती है। **'राहोः शिरः'** की अवास्तविकता समझ में आ जाने पर भी **'राहोः शिरः'** के शब्दप्रयोग से तदाकाराकारित वस्तुशून्यात्मक विकल्पवृत्ति अवश्य ही बनती है। अतः व्यवहार में अबाधित (अविसंवादित) **'विकल्पवृत्ति'** का, उत्तरज्ञान से बाधित होने वाली, विपर्यय वृत्ति में समावेश नहीं किया जा सकता है। विपर्ययज्ञान में पुरोदृश्यमान पदार्थ के चाक्चक्य और प्रमाता के अज्ञान आदि कारणों से शुक्ति में रजतभ्रम होने पर **'इदं रजतम्'** इस प्रकार की वृत्ति बनती है। परन्तु बाद में वस्तु के पास जाकर देखने पर जब यह विदित होता है कि **'नेदं रजतम्'** अर्थात् यह रजत नहीं (अपितु शुक्ति) है, तब प्रथम विपर्ययात्मक ज्ञान के व्यवहार का लोप हो जाता है। किन्तु **'विकल्प'** में व्यवहार का लोप नहीं हो पाता है। वृत्त्यन्तर (प्रमाण अथवा विपर्यय) में विकल्प के अनन्तर्भावित्व को परिपुष्ट करने वाले ये लौकिक एवं प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

सम्प्रति, विकल्पवृत्ति को शास्त्रीय उदाहरणों से स्पष्ट किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

शास्त्रप्रसिद्धमुदाहरणमाह—तद्यथेति। किं विशेष्यं केन व्यपदिश्यते विशेष्यते। नाभेदे विशेष्यविशेषणभावः, न हि गवा गौर्विशेष्यते, किं तु भिन्नेन [1]चैत्रेण। तदिदमाह—भवति च व्यपदेशे वृत्तिः इति।[2] व्यपदेशव्यपदेश्ययोर्भावो व्यपदेशः विशेषणविशेष्यभाव इति यावत्; तस्मिन्वृत्तिर्वाक्यस्य, यथा—चैत्रस्य गौरिति।

भाष्यकार शास्त्रप्रसिद्ध उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं—'**तद्यथेति।**' '**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**' अर्थात् 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'—(जब चैतन्य ही पुरुष है तब) इस उदाहरण में कौन सा विशेष्य किस विशेषण के द्वारा विशेषित (व्यपदिष्ट) किया जा रहा है। वस्तु के अभिन्न (अभेद) होने पर विशेष्यविशेषणभाव नहीं होता है अर्थात् भिन्न-भिन्न अधिकरणक वस्तुओं में ही विशेष्यविशेषणभाव के द्वारा भेद प्रतिपादित किया जाता है। जैसे गाय से ही गाय को विशेषित नहीं किया जा सकता है, किन्तु गाय को गाय से भिन्न वस्तु चैत्र के द्वारा ही व्यपदिष्ट (विशेषित) कर सकते हैं—यह वस्तुस्थिति है। फिर भी विकल्पवृत्ति के लिये बतलाया जा रहा है—'**भवति च व्यपदेशे वृत्तिः।**' व्यपदेश-व्यपदेश्यभाव को '**व्यपदेश**' कहते हैं अर्थात् विशेष्य-विशेषणभाव ही व्यपदेश-व्यपदेश्यभाव है। अतः '**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**' ऐसा व्यपदेश करने पर इस वाक्य की विशेष्य-विशेषणभावविषयिणी (अयथार्थ) वृत्ति उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार '**चैत्रस्य गौः**' इस वाक्य की (यथार्थ) विशेषण-विशेष्यभावविषयिणी वृत्ति बनती है।

बालप्रिया—

'**किमत्र**'—इस अंश के द्वारा भाष्यकार ने '**विकल्पवृत्ति**' के '**वस्तुशून्यत्व**' को इंगित किया है और '**भवति च व्यपदेशे वृत्तिः**' वाक्य द्वारा विकल्प के '**शब्दज्ञानानुपातित्व**' स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण—'**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**' पुरुष और चैतन्य में सर्वथा अभेद होने के कारण अर्थात् चैतन्य ही चिति होने के कारण पुरुष और चैतन्य में विशेष्यविशेषणभाव संभव नहीं है फिर भी '**चैत्रस्य गौः**' द्वारा बोधित चैत्र और गौ के यथार्थ विशेष्यविशेषणभाव का ज्ञान विद्वानों को जिस प्रकार होता है उसी प्रकार का बोध '**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**' इस वाक्य से भी होगा। चित्त की तथाकथित शब्दज्ञाननिबन्धनी तदाकाराकारित वृत्ति और तज्जन्य ज्ञान

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **चैत्रेण** उपलभ्यते, न – **चैत्रेण** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति** नोपलभ्यते।

ज्ञान होने में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है। वृत्तित्वेन दोनों उदाहरणों में समानता है। यह तो पर्यालोचन के पश्चात् ज्ञात होता है कि **'चैत्रस्य गौः'** यह प्रमाणवृत्ति का उदाहरण है और **'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'** यह शब्दज्ञानानुपातिनी वस्तुशून्या 'विकल्प' वृत्ति का उदाहरण है। **'चैत्रस्य गौः'** में गाय विशेष्य है और चैत्र विशेषण है।

स्थाणुनिखननन्याय से उक्त तथ्य के पुष्ट्यर्थ एकाधिक शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

तत्त्ववैशारदी

शास्त्रीयमेवोदाहरणान्तरं समुच्चिनोति–तथेति। प्रतिषिद्धो वस्तुनः पृथिव्यादेर्धर्मः परिस्पन्दो यस्य स तथोक्तः। कोऽसौ? निष्क्रियः पुरुषः। न खलु सांख्यीये राद्धान्तेऽभावो नाम कश्चिदस्ति वस्तुधर्मो येन पुरुषो विशेष्येतेत्यर्थः। क्वचित्पाठः प्रतिषिद्धा वस्तुधर्मा इति। तस्यार्थः–प्रतिषेधव्याप्ताः प्रतिषिद्धाः। न वस्तुधर्माणां तद्व्याप्यता, भावाभावयोरसंबन्धात्, अथ च तथा प्रतीतिरिति।

भाष्यकार विकल्पवृत्ति के दर्शनसम्मत अन्य उदाहरणों को संगृहीत करते हैं– **'तथेति'** **'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः'** अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ का परिस्पंद धर्म जिसमें निषिद्ध है, ऐसा पुरुष है। (यहाँ पृथिव्यादिनिष्ठ परिस्पन्द– किसी देश से संयोग-विभाग हुए विना होने वाले चलन, कम्पन आदि क्रिया को **'परिस्पन्द'** कहते हैं–आदि धर्मों का पुरुष में शास्त्रानुसार निषेध किया जा रहा है। अर्थात् पुरुष को निखिल पदार्थनिष्ठ धर्मों से रहित बतलाया जा रहा है।) तो फिर यह पुरुष कैसा है? उत्तर है कि पुरुष निष्क्रिय है। वस्तुतस्तु सांख्यशास्त्र में (इसी प्रकार योगशास्त्र में) **'अभाव'** नामक कोई वस्तुनिष्ठ धर्म ही नहीं है, जिस 'अभाव' धर्म से पुरुष को विशेषित किया जा सके। (इस प्रकार अभेद में भेद की कल्पना से=विशेष्यविशेषणभाव की अवधारणा से पुरुष में जिस धर्म (परिस्पन्द) और क्रिया के अभाव की प्रतीति होती है, वह **'विकल्प'** वृत्ति रूप ही है। क्योंकि शब्दज्ञानानुपातिनी वस्तुशून्यता इत्याकारक वृत्ति में विद्यमान है)। कहीं-कहीं **'प्रतिषिद्धा वस्तुधर्मा'** ऐसा पाठ (पाठभेद) मिलता है। इसका अर्थ है–जो प्रतिषेध से व्याप्त हैं, वे 'प्रतिषिद्ध' कहे जाते हैं। किन्तु वस्तुनिष्ठ धर्मों (भावों) में प्रतिषेध (अभाव) की व्याप्यता= सहवर्तिता नहीं हो सकती है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध भाव और अभाव में संयोग नहीं होता है (अर्थात् परस्पर विरुद्ध पदार्थों जैसे प्रकाश और अन्धकार में सम्बन्ध की योग्यता ही नहीं है। फिर भी **'प्रतिषिद्धा वस्तुधर्मा'** इस वाक्य से भाव, अभाव से

व्याप्त प्रतीत होता है। अतः शब्दज्ञाननिबन्धन अवास्तविक पदार्थ को विषय करने वाली यह वृत्ति '**विकल्पात्मक**' कही जाती है।

बालप्रिया–

नैयायिकों के अनुसार 'अभाव' की मान्यता–न्यायसम्मत सात पदार्थों में '**अभाव**' नामक पदार्थ द्रव्यादि छह भाव पदार्थों से भिन्न है। वे द्रव्यादि छह पदार्थों से अतिरिक्त '**अभाव**' को सप्तम पदार्थ मानते हैं। नैयायिक लोग '**अभाव**' के सिद्ध्यर्थ '**भूतले घटो नास्ति**' उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस कथन में 'भूतल' और 'घटाभाव' में आधाराधेयभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है। यदि घटाभाव को भूतलरूप अधिकरण से अतिरिक्त (भिन्न) पदार्थ न माना जाय तो उक्त आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु तथाकथित प्रतीति तो होती है। अतः '**अभाव**' स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है।

सांख्ययोगाचार्यों के अनुसार 'अभाव' की मान्यता–सांख्ययोगसम्मत अभाव 'अधिकण स्वरूप' ही है। अधिकरण से अतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में 'अभाव' मान्य नही है। इनके अनुसार भूतल परिणामी पदार्थ है। भूतल किसी समय (घटकाल में) घटरूप से परिणत होता है और किसी समय (घटाभावकाल में) अपने केवल भूतल स्वरूप से ही परिणत होता है। तत्तत् परिणामों के अनुसार भूतल की प्रतीति होती है। घटकाल में घटरूप से भासमान भूतल, घटाभावकाल में अपने भूतलस्वरूप से ही भासित होता है। अतः भूतल से अतिरिक्त घटाभाव नहीं है, अपितु अधिकरणस्वरूप=भूतलस्वरूप ही घटाभाव है। रही बात '**भूतले घटो नास्ति**'– इत्याकारक वाक्य की, तो यह शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य विकल्पवृत्ति का उदाहरण है, जिसमें अधिकरण से भिन्न वस्तुशूंन्य 'अभाव' की प्रतीति होती है। इस प्रकार '**भावाभावयोरसम्बन्धात्**' इस तत्त्ववैशारदीय वाक्यांश में निहित सिद्धान्त भी सुस्पष्ट हो जाता है।

'**विकल्पवृत्ति**' के प्रतिषेधपरक शास्त्रीय दृष्टान्त के पश्चात् सम्प्रति, उसके लौकिक दृष्टान्त की व्याख्या की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

लौकिकमुदाहरणमाह–तिष्ठति बाण इति। यथा हि पचति, भिनत्तीत्यत्र पूर्वापरीभूतः **कर्मक्षणप्रचय एकफलावच्छिन्नः प्रतीयत एवं तिष्ठतीत्यत्रापि पूर्वापरीभावमेवाह–स्थास्यति,** [1]**स्थित इति। ननु भवतु पाकवत्पूर्वापरीभूतयाऽवस्थानक्रियया बाणाद्भिन्नया बाणस्य व्यप-**

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **स्थितः** उपलभ्यते, न – **स्थितः** नोपलभ्यते।

देश इत्यत आह–गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यत इति।[1] **गतिनिवृत्तिरेव तावत्कल्पिता, तस्या अपि भावरूपत्वम्, तत्रापि पूर्वापरीभाव इत्यहो कल्पनापरम्परेत्यर्थः॥**

(विकल्पवृत्ति के पूर्वोदाहृत अभावात्मक शास्त्रीय दृष्टान्त में निहित तथ्य के प्रकाशनार्थ उसके) लौकिक उदाहरण को भाष्यकार बतलाते हैं–'**तिष्ठति बाण इति।**' जिस प्रकार '**पचति**' '**भिनत्ति**' इत्यादि पदों से पौर्वापर्ययुक्त (क्रमविशिष्ट) एक फल से अवच्छिन्न पाक अथवा छेदनरूप फल से युक्त अनेक क्रियाक्षणों का समूह प्रतीत होता है उसी प्रकार **तिष्ठति**' क्रिया पद से भी पूर्वापरीभावयुक्त अनेक (गौण) क्रियाक्षणों का समूह, एक फल (गतिनिवृत्ति) से अवच्छिन्न (युक्त) प्रतीत होता है। '**तिष्ठति**' क्रिया पद के इस पौर्वापर्यभाव को ही व्यासदेव बतलाते है–'**स्थास्यति, स्थित इति।**' अर्थात् बाण स्थित (हो रहा) है–के पौर्वापर्य को 'बाण रुकेगा' 'बाण रुक गया है' के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

बालप्रिया–

भाव यह है कि किसी क्रिया के प्रारम्भ से लेकर उसकी समाप्ति तक पौर्वापर्य से अवस्थित यावन्मात्र क्रिया को '**पचति**', **भिनत्ति**, अथवा '**व्रजति**' आदि आख्यात पद से बतलाया जाता है। उदाहरणार्थ '**देवदत्तो लवपुरं व्रजति**'–इस वाक्यगत '**व्रजति**' में जूता पहनना, एक के बाद दूसरा पैर रखना, रास्ते में भोजन करना, उठना-बैठना आदि अनेक क्रियाक्षणविशिष्ट पौर्वापर्ययुक्त फलावच्छिन्न अवान्तर क्रियाएँ समाविष्ट हैं। इन अवान्तर क्रियाओं को करता हुआ भी देवदत्त '**व्रजति**' अर्थात् जा रहा है, इसी एक मुख्य क्रिया से अभिहित होता है। '**पचति**' **भिनत्ति**, **तिष्ठति** आदि की भी यही स्थिति है। इस परिप्रेक्ष्य में '**बाणः तिष्ठति**' की कथित विकल्पात्मकता को सीमांकित करना है कि कैसे यह विकल्पवृत्ति का उदाहरण बनता है?

शङ्का–तो ठीक है–'**पचति**' (पाकक्रिया) की तरह पूर्वापरीभाव से अवस्थित, बाण से भिन्न '**तिष्ठति**' क्रिया का बाण में व्यपदेश (अभिधान) किया जाय। (किन्तु इससे '**बाणः तिष्ठति**' यह विकल्पवृत्ति का उदाहरण नहीं बनता है)?

समाधान–'**बाणः तिष्ठति**' वाक्य की विकल्पात्मकता को सिद्ध करने लिये भाष्यकार ने आगे कहा है–'**गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते।**' '**स्था**' धातु से तो '**गतिनिवृत्ति**' रूप धात्वर्थ का ही बोध होता है किन्तु यहाँ बाण में '**गतिनिवृत्ति**' रूप क्रिया की कल्पना की जा रही है अर्थात् बाण में 'गतिनिवृत्ति' रूप क्रिया का व्यपदेश किया जा रहा है और यह '**गतिनिवृत्ति**' रूप क्रिया '**भावरूप**' है। अतः गतिनिवृत्तिरूप भावक्रिया के पौर्वापर्यभाव का भी बाण में व्यपदेश (काल्पनिक व्यवहार) किया जाता है। इसी

1. **थ द ध** – **इति** उपलभ्यते, **क ख ग घ च छ ज झ त न** – **इति** नोपलभ्यते।

प्रकार जड़स्वरूप बाण में गतिनिवृत्ति के अनुकूल चेतन धर्म '**यत्न**' की भी कल्पना करनी पड़ेगी–इत्यादि आश्चर्यजनक कल्पना परम्परा के सद्भाव से '**तिष्ठति बाणः**' इत्यादि व्यवहार की विकल्परूपता (विकल्पवृत्तिता) सिद्ध हो जाती है।

बालप्रिया–

इस प्रकार यह निर्वस्तुक शब्दज्ञानानुपातिनी विकल्पवृत्ति का उदाहरण है। यह '**प्रमाणवृत्ति**' भी नहीं है और '**विपर्ययवृत्ति**' भी नहीं है। बाण में 'स्था' धातु से प्रतिपादित 'गतिनिवृत्ति' रूप क्रिया; जो बाण में सम्भव नहीं है, का अभिधान होने से '**तिष्ठति बाणः**' विकल्प का उदाहरण सिद्ध होता है।

सम्प्रति, '**विकल्प**' के दूसरे शास्त्रीय उदाहरण को प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अभावः कल्पितो भाव इव चानुगत इव च सर्वपुरुषेषु गम्यते, न पुनः पुरुषव्यतिरिक्तो धर्मः कश्चिदित्युदाहरणान्तरमाह–तथानुत्पत्तिधर्मेति।

(भाष्यकार के '**अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः**–इस उदाहरण को दृष्टिगत रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार विचार कर रहे हैं)–यहाँ उत्पत्तिरूप धर्म का '**अभाव**', '**भाव**' रूप से कल्पित (व्यपदिष्ट) हो रहा है और उस (अभाव) को समस्त पुरुषों में अनुगत (युक्त) के समान बतलाया जा रहा है। अर्थात् 'पुरुष उत्पत्तिरूप धर्म के अभाव वाला है'–इस उदाहरण में पुरुष में अनुगत (रहने वाला) 'उत्पत्तिरूप धर्म का अभाव' ज्ञात होता है। शब्दान्तर में पुरुष में रहने वाले उत्पत्तिधर्माभाव की प्रतीति हो रही है। यह विकल्प का उदाहरण कैसे है–इसे बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–पुरुष में अपने से व्यतिरिक्त (भिन्न) कोई धर्म ही नहीं है। अतः पुरुष में कथित '**अनुत्पत्तिधर्म**' की अनुगतता (स्थिति) असंभव है। फलतः वह सर्वथा कल्पित ही है, क्योंकि व्यवहार तो चलता है। अतः यह शब्दज्ञानानुपातिनी वस्तुशून्य विकल्पवृत्ति का सटीक उदाहरण है। इसीलिये भाष्यकार ने उदाहरणान्तर को प्रस्तुत किया है–'**तथाऽनुत्पत्तिधर्मेति।**'

जिज्ञासा है कि विकल्पवृत्ति के एकाधिक शास्त्रीय एवं लौकिक उदाहरणों को भाष्यकार ने क्यों प्रस्तुत किया है? उत्तर है–

तत्त्ववैशारदी

प्रमाणविपर्ययाभ्यामन्या न विकल्पवृत्तिरिति वादिनो बहवः प्रतिपेदिरे। तत्प्रतिबोधनायोदाहरणप्रपञ्च इति मन्तव्यम्॥९॥

'प्रमाण और विपर्यय से अतिरिक्त (पृथक्) विकल्पवृत्ति नहीं है'–ऐसा बहुत से विपक्षी मानते हैं। इन विपक्षियों को प्रतिबुद्ध कराने के लिये अर्थात् विपक्षियों के

तथाकथित भ्रम को उन्मूलित करने के लिये एकाधिक उदाहरणों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है–ऐसा समझना चाहिए॥९॥

बालप्रिया–

'वादिनः'–वादिन् (वद्+णिनि) तर्क-वितर्क करने वाला या दृढ़तापूर्वक कहने वाले विपक्षी को **'वादी'** कहते हैं।

प्रतिबोधनाय–प्रतिबोधन (प्रतिबुध्+णिच्+ल्युट्) जगाना, शिक्षण, अनुदेश। वादियों के मत के प्रति तुच्छता को ज्ञापित करने के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने **'प्रतिबोधन'** शब्द का प्रयोग किया है॥९॥

योगवार्त्तिकम्

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः प्रत्ययो विकल्प इत्यर्थः। शब्दश्च शाब्दज्ञानं च, ते अनुपातिनी यस्य स तथा। तथा च तदुभयजनकः सर्वदैव बाधाबाधकालविशेषेणे[1]त्याद्यविशेषणार्थः। ननु विकल्पस्य सवस्तुकत्वे प्रमाणेऽन्तर्भावः, निर्वस्तुकत्वे तु विपर्ययेऽन्तर्भावस्तृतीयप्रकारासम्भवादित्याशङ्कां परिहरन्नेव विशेषणयोर्व्यावर्त्यमाह–स नेति। उपारोहोऽन्तर्भावः प्रमाणकोट्यनन्तर्भावे हेतुः–वस्तुशून्यत्वेऽपीति। विपर्ययकोट्यनन्तर्भावे च हेतुः–शब्दज्ञानेत्यादि। माहात्म्यं याथार्थ्यम्। तथा च यथाऽर्थशब्देन यथाऽर्थज्ञानेन च यादृशो व्यवहारो भवति शब्दज्ञानरूपस्तादृश एव व्यवहारो विकल्पादपि दृश्यते विवेकिनामपीत्यर्थः। विपर्ययस्तु नैवम्, बाधोत्तरमिदं रजतमिति शब्दप्रत्यययोरभावादिति। एतेन विपर्ययलक्षणे शब्दज्ञानानुपातित्वं विशेषणं देयमिति भावः। विकल्पस्यो[2]दाहरणमाह–तद्यथेत्यादिना। किं विशेष्यं केन विशेषणेन व्यपदिश्यते।[3] अत्यन्ताभेदान्नास्त्यत्र विकल्पज्ञाने विशेषणविशेष्यभावरूपोऽर्थ इत्यर्थः। वस्तुशून्यत्वमुपपाद्य शब्दज्ञानानुपातित्वमुपपादयति–भवति चेति। चैत्रस्य गौरिति यथाऽर्थ[4]शब्दवदत्रापि विशेष्यविशेषणभावव्यपदेशे सति तथा वृत्तिर्बोधो विवेकिनामपि भवति चेत्यर्थः। अन्यान्यप्युदाहरणान्याह–तथेत्यादिना। शास्त्रैः प्रतिषिद्धा वस्तुभूताः सुखादयो धर्मा यत्रेति प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा पुरुषः। इयं वृत्तिरेकमुदाहरणम्, अभावस्याधिकरणमात्ररूपत्वेनाधाराधेयभावविरहादिति। निष्क्रियः पुरुष इत्यन्यदुदाहरणम्। लौकिकमप्युदाहरण[5]त्रयमाह–तिष्ठतीति। तिष्ठति बाणः, स्थास्यति, स्थित इति गतिनिवृत्तौ गतिनिवृत्तिविषयकविकल्पे वर्त्तमानत्वादिविशिष्टं स्थाधात्वर्थमात्रं

---

1. क घ च छ – इत्याद्य, ख ग – उत्पाद्य।
2. क ख च छ – उदाहरणं, ग घ – उदाहरणानि।
3. क ख ग घ च – व्यपदिश्यते, छ – व्यपदिश्येत।
4. क ग घ च छ – शब्दवत्, ख – शब्दज्ञानवत्।
5. क ग घ च छ – त्रयं उपलभ्यंते, ख – त्रयं नोपलभ्यते।

पारमार्थिकतया प्रतीयते कर्त्तृत्वं कर्त्तृत्वस्य वर्त्तमानत्वादिकं च, [1]प्रत्ययार्थत्रयस्तु विकल्पित इत्यर्थः, बाणे गतिनिवृत्त्यनुकूलकृत्यभावादिति। उदाहरणान्तरमाह–तथाऽनुत्पत्तीत्यादिना व्यवहार इतीत्यन्तेन। अनुत्पत्तिर्धर्मो यस्येत्यनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः, स धर्मोऽनुत्पत्तिर्धर्मः। प्रमाणविपर्ययातिरिक्तायां विकल्पवृत्तौ बहुवादिविप्रतिपत्तेस्तन्निरासाय बहून्युदाहरणानि। एवं खपुष्पशशशृङ्गा[2]दिप्रत्यया अपि विकल्पमध्ये प्रवेशनीयाः, खपुष्पं नास्तीति प्रत्ययानुरोधेन तादृशप्रत्ययसिद्धेः।

शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाला वस्तुशून्य प्रत्यय विकल्प (वृत्ति) है। '**शब्दज्ञानानुपाती**' में बहुव्रीहि समास करते हुए योगवार्त्तिककार लिखते हैं–'**शब्दश्च शाब्दज्ञानञ्च ते अनुपातिनी यस्य स तथा शब्दज्ञानानुपाती**' अर्थात् शब्द और शब्दजन्य ज्ञान, ये अनुपतनशील हैं जिसके वह (वस्तुशून्य) वृत्ति '**विकल्प**' कही जाती है। वार्त्तिककार का कहना है कि '**बाधाबाधकालाविशेषेण**' इतना अंश शब्दज्ञानानुपाती के विशेषण के रूप में जोड़ना चाहिये। अतः फलितार्थ हुआ–शब्दप्रत्यक्ष और शाब्दबोध दोनों को उत्पन्न करने वाली यह '**बिकल्पवृत्ति**' सर्वदा बाध तथा अबाधकाल में समानरूप से होती है।

शङ्का–यदि '**विकल्प**' ज्ञान यथार्थ वस्तुविषयक है, तो इसका '**प्रमाण**' में अन्तर्भाव किया जाय और यदि यह निर्वस्तुक (अयथार्थ वस्तुविषयक) है, तो इसका '**विपर्यय**' में अन्तर्भाव किया जाय। इन दोनों से भिन्न विकल्पज्ञान का तृतीय प्रकार सम्भव ही नहीं है?

समाधान–पूर्वपक्षी की उपरिनिर्दिष्ट शंका को निरस्त करते हुए ही भाष्यकार सूत्रगत दो विशेषण ('**शब्दज्ञानानुपाती**' तथा '**वस्तुशून्यः**') पदों के द्वारा '**विकल्प**' को प्रमाण और विपर्यय से पृथक् 'वृत्ति' बतलाते हैं–'**स नेति।**' '**उपारोह**' शब्द का अर्थ है–अन्तर्भाव। विकल्पवृत्ति का प्रमाणवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। प्रमाण में विपर्यय के अन्तर्भूत न होने का कारण यह है–'**वस्तुशून्यत्वेऽपीति।**' (वस्तुशून्य अर्थात् जगत् में तथाकथित पदार्थ की सत्ता न होते हुए भी शब्दज्ञान के माहात्म्य से वस्तुशून्यात्मक 'विकल्पवृत्ति' का व्यवहार देखा जाता है, जब कि प्रमाणवृत्ति वस्तु के न रहने पर कथमपि संभव नहीं होती है। अतः सवस्तुक प्रमाण में निर्वस्तुक विकल्प का अन्तर्भाव स्वरूपभिन्नता के कारण नहीं किया जा सकता है)।

विकल्प का विपर्यय में अन्तर्भाव न हो सकने का कारण यह है–'**शब्दज्ञानेत्यादि।**' '**माहात्म्य**' शब्द का अर्थ '**याथार्थ्य**' है अर्थात् विकल्पवृत्ति शब्दज्ञान से उत्पन्न होने के कारण यथार्थ है। योगवार्त्तिककार इस कथित तथ्य का विशदीकरण करते

---

1. क छ – **प्रत्ययार्थत्रयस्तु**, ख ग घ च – **प्रत्ययत्रयार्थस्तु**।
2. ख ग च – **आदि** उपलभ्यते, क घ छ – **आदि** नोपलभ्यते।

हैं–यथार्थशब्द और (शब्दजन्य) यथार्थ ज्ञान के द्वारा लोक में जिस प्रकार का यथार्थ व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार का शब्दज्ञाननिबन्धक यथार्थ व्यवहार विकल्पात्मक वृत्ति से भी होता हुआ दिखलाई पड़ता है। यह विकल्पवृत्ति अज्ञ की ही बनती है, ऐसी बात नहीं है। अपितु तत्त्वज्ञ में भी विकल्पज्ञान देखा जाता है। (उदाहरणार्थ '**राहोः शिरः** इत्याकारक शब्दज्ञान से ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों की अबाधित विकल्पवृत्ति बनती है)। किन्तु विपर्ययवृत्ति ऐसी नहीं है, क्योंकि बाधज्ञान के पश्चात् ('**नेदं रजतम्**' इस प्रकार की उत्तरकालिक बाधबुद्धि के पश्चात् पूर्वकालिक) **इदं रजतम्** इत्याकारक शब्दप्रयोग (शब्दप्रत्यक्ष) और शब्दजन्यज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान के द्वारा पूर्ववर्ती अयथार्थज्ञान का बाध हो जाता है। इससे यह भाव निकलता है कि '**विपर्यय**' के लक्षण में '**शब्द-ज्ञानाननुपातित्वम्**' अर्थात् शब्दज्ञान के पश्चात् न होने वाला–इत्याकारक विशेषणपद का सन्निवेश करना चाहिये।

भाष्यकार विकल्पवृत्ति के उदाहरण को बतलाते हैं–'**तद्यथेत्यादिना।**' विकल्पज्ञान में अत्यन्त अभेद होने के कारण विशेषणविशेष्यभावविशिष्ट पदार्थ ही नहीं होता है। अतः अत्यन्त अभिन्न पदार्थ में किस विशेष्य को किस विशेषण से व्यवहृत किया जा सकता है? अर्थात् भेद-व्यवहार नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार विकल्प में '**वस्तुशून्यत्व**' को उपपादित करके भाष्यकार विकल्प में '**शब्दज्ञानानुपातित्व**' को प्रतिपादित करते हैं–'**भवति चेति।**' 'चैत्र की गाय है'–यहाँ दो पदार्थों में परस्पर यथार्थ भेद है, जिस भेद को शब्द के द्वारा विशेष्यविशेषणभाव से व्यवहृत किया जा रहा है। इस प्रकार तथाकथित भेदव्यवहार के होने पर विवेकियों की भी उसी प्रकार की विशेष्यविशेषणभाव से युक्त वृत्ति (ज्ञान) होती है। भाष्यकार विकल्पवृत्ति के अन्यान्य (एकाधिक) उदाहरणों को बतलाते हैं–'**तथेत्यादिना।**' शास्त्र के द्वारा वस्तुनिष्ठ (जडान्तर्वर्ती) सुखादि धर्मों का जिसमें निषेध किया जाता है, ऐसा प्रतिषिद्धवस्तुधर्म वाला पुरुष है। यह विकल्पवृत्ति का एक उदाहरण है, क्योंकि अभाव के अधिकरणस्वरूप होने से आधाराधेयभाव अर्थात् पुरुषरूप आधार में प्रतिषिद्ध वस्तुधर्मरूप आधेय उपपन्न नहीं हो सकता है। 'पुरुष निष्क्रिय है'–यह विकल्पवृत्ति का दूसरा उदाहरण है। (विकल्पवृत्ति के शास्त्रीय उदाहरणों को प्रस्तुत करने के पश्चात्) भाष्यकार विकल्प के तीन लौकिक उदाहरणों को बतलाते हैं–'**तिष्ठतीति।**' बाण ठहरता है, बाण ठहरेगा और बाण ठहरा–' यहाँ '**गतिनिवृत्ति**' अर्थात् **गतिनिवृत्तिविषयक** 'विकल्प' में वर्तमानत्वादि (वर्तमानत्व, भविष्यत्व तथा भूतत्व) विशिष्ट '**स्था**' धातु का अर्थ (गतिनिवृत्ति) ही वास्तविक रूप से प्रतीत होता है। (बाण में) कर्तृत्व और कर्तृत्व में वर्तमानत्वादि

प्रत्ययार्थत्रय तो विकल्परूप हैं, क्योंकि बाण में गतिनिवृत्त्यनुकूल 'कृति' अर्थात् यत्न का अभाव रहता है। (कृति अर्थात् प्रयत्न चैतन्य का धर्म है, न कि जड़ का)। भाष्यकार विकल्प का दूसरा उदाहरण देते हैं–'**तथाऽनुत्पत्तीत्यादिना, व्यवहार इतीत्यन्तेन**।' अनुत्पत्ति है धर्म जिसका, ऐसा अनुत्पत्तिधर्म वाला पुरुष है और वह धर्म '**अनुत्पत्तिधर्म**' है। यहाँ पर भी धर्मविरहित पुरुष में अनुत्पत्तिरूप धर्म की कल्पना का जा रही है। अतः यह विकल्पवृत्ति का उदाहरण है। प्रमाण और विपर्यय से अतिरिक्त विकल्पवृत्ति के विषय में बहुत से वादियों को आपत्ति है। अतः वादियों की विप्रतिपत्ति का निरसन करने के लिये भाष्यकार ने विकल्पवृत्ति के एकाधिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार खपुष्प (आकाशकमल), शशशृंग (खरगोश के सींग) आदि ज्ञानों का भी विकल्पवृत्ति में प्रवेश किया जाना चाहिये। क्योंकि 'आकाशपुष्प नहीं है'–इत्याकारक प्रत्ययानुरोध से विकल्पात्मक प्रत्यय की सिद्धि होती है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार वैशेषिकों के '**आहार्यज्ञान**' से **विकल्पवृत्ति**' का अन्तर स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

विकल्पप्रत्ययास्तु वैशेषिकैराहार्यज्ञानविशेषतयैष्टव्या एव। विशेषस्तु तैर्मिथ्याज्ञानमध्ये प्रवेश्यन्ते, अस्माभिस्तु सविकल्पनिर्विकल्परूपाभ्यां श्रुतिसिद्धयोगविभागार्थं पृथङ् निर्दिश्यन्त इति॥९॥

वैशेषिकों द्वारा विकल्पप्रत्यय, आहार्यज्ञानविशेष के रूप से स्वीकृत है। अर्थात् वैशेषिक लोग '**विकल्पवृत्ति**' को '**आहार्य-ज्ञानविशेष**' मानते हैं। दोनों दर्शनों में अन्तर यह है कि वैशेषिक लोग '**आहार्यज्ञान**' को मिथ्याज्ञान में परिगणित करते हैं। हम यौगिक लोग सविकल्पक और निर्विकल्पक के रूप से श्रुतिप्रमाणित योग का विभाग करने के लिये 'विकल्पप्रत्यय' का पृथक् निर्देश करते हैं॥९॥

बालप्रिया–

'**आहार्यज्ञानविशेषतया**'–बाधज्ञान के समकालिक इच्छाजन्यज्ञान को '**आहार्यज्ञान**' कहते हैं। जैसे '**एकश्चन्द्रः**' 'अर्थात् चन्द्र एक है, ऐसा भली प्रकार जानते हुए भी एक पुरुष द्वारा दूसरे व्यक्ति को छल करने के लिये '**द्वौ चन्द्रमसौ**' अर्थात् दो चन्द्रमा हैं, ऐसा प्रतिपादित किया जाना। शब्दान्तर में–'**स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदकं स्वप्रकारकं ज्ञानम्। यथा निर्वह्निः पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानम्**'। अथवा '**बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानम्। यथा ह्रदो वह्निमान् इति ज्ञानम्**। न्याय-वैशेषिक दर्शन में आहार्यज्ञान को प्रत्यक्ष कोटि में रखा गया है। किन्तु आलंकारिक लोग आहार्यज्ञान को शाब्दबोधात्मक भी मानते हैं। '**आहार्य**' शब्द का अर्थ '**व्याप्य**' भी होता है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा गया

है—**'कार्यं च तस्य आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च'** (३२)। याज्ञिक लोग औपासनिक अग्नि को 'आहार्य' कहते हैं॥९॥

सम्प्रति **'निद्रा'** वृत्ति का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

अभावप्रत्यया[1]लम्बना वृत्तिर्निद्रा॥१०॥

(जाग्रत् तथा स्वप्न वृत्तियों के) अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय करने वाली वृत्ति 'निद्रा' है॥१०॥

व्यासभाष्यम्

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः। कथम्? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः[2] प्रज्ञां मे विशारदीकरोति; दुःखमहमस्वाप्सम् स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्; गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे[3] चित्तम् अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य[4] प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति॥१०॥

निद्रा से उठने के बाद स्मृति होने से यह निद्रा 'वृत्तिविशेष' है, ऐसा सिद्ध होता है। किस प्रकार की स्मृति (स्मरणज्ञान) होती है? (स्मृति का स्वरूप है)—मैं सुखपूर्वक सोया था। क्योंकि इस समय मेरा मन प्रसन्न है और वह मेरी बुद्धि (प्रज्ञा) को स्वच्छ कर रहा है (या) मैं दुःखपूर्वक सोया था, (क्योंकि) मेरा मन चञ्चलता से अस्थिर और अकर्मण्य हो रहा है' अथवा 'गाढी निद्रा में मैं मूढ होकर सोया था, (क्योंकि) मेरे अङ्ग भारी मालूम पड़ रहे हैं। थका हुआ सा मेरा मन किसी कार्य की ओर उन्मुख नहीं हो रहा है और वह ठगे हुए व्यक्ति की भाँति स्तब्ध बना हुआ है'—इस प्रकार की स्मृतियाँ व्यक्ति को हुआ करती हैं। यदि सुषुप्ति की अवस्था में अज्ञान की अनुभवरूप वृत्ति न होती तो सोकर उठे हुए व्यक्ति को उक्त प्रकार की स्मृतियाँ न होतीं। और सुषुप्ति के अनुभव से होने वाले संस्कारों के आधार

---

1. **अवलम्बना** – इति पाठान्तरम् ।
2. **ज—लघूनि मेऽङ्गानि (मनः** पश्चात्)उपलभ्यते, क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**लघूनि मेऽङ्गानि** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**मे** उपलभ्यते, म—**मे** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – **प्रबुद्धस्य** उपलभ्यते, म – **प्रबुद्धस्य** नोपलभ्यते।

पर तद्विषयक स्मृतियाँ भी न होतीं (किन्तु स्मृति होती है)। अतः यह सिद्ध होता है कि निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान (वृत्ति) ही है अर्थात् निद्रा 'वृत्तिविशेष' है। और यह 'निद्रा' वृत्ति भी समाधि में अन्य (प्रमाणादि) वृत्तियों की भाँति निरोध करने के योग्य है॥१०॥

तत्त्ववैशारदी

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। अधिकृतं हि वृत्तिपदमनुवादकम्। प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनां वृत्तित्वं प्रति परीक्षकाणामविप्रतिपत्तेः। अतस्तदनूद्यते विशेषविधानाय। निद्रायास्तु वृत्तित्वे परीक्षकाणामस्ति विप्रतिपत्तिरिति वृत्तित्वं विधेयम्। न च प्रकृतमनुवादकं विधानाय कल्पत इति पुनर्वृत्तिग्रहणम्।

'निद्रा' वृत्तिपरक सूत्र का अर्थ करने से पूर्व तत्त्ववैशारदीकार निद्रावृत्ति के लक्षण में प्रयुक्त **'वृत्तिः'** पद के अभिप्राय अर्थात् प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं–

(**शङ्का**–यहाँ यह शंका निहित है कि **'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः'** यो. सू. ५ से **'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'** यो. सू. ६ में **'वृत्ति'** पद की अनुवृत्तिपूर्वक 'निद्रा' संज्ञक चैत्तिक अवस्था का 'वृत्ति' होना स्वतःसिद्ध है। अतः **'निद्रा'** का वृत्तित्व पूर्वाधिकृत होने से प्रस्तुत सूत्र में **'वृत्तिः'** पद का पुनः प्रयोग निष्प्रयोजन है?

समाधान–इस निहित शंका के समाधानार्थ तत्त्ववैशारदीकार का कथन है कि) अनुवृत्ति से प्राप्त (अधिकृत) **'वृत्ति'** पद तो अनुवादक मात्र होता है अर्थात् विधायक=विधान करने वाला नहीं होता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प तथा स्मृति को **'वृत्ति'** रूप मानने में दार्शनिकों में परस्पर विरोध नहीं है इसलिये विशेष विधान के लिये अधिकाररूप से प्राप्त **'वृत्ति'** पद इन चारों में सर्वसम्मत **'वृत्तित्व'** का अनुवाद करता है। किन्तु **'निद्रा'** को वृत्ति मानने में कतिपय दार्शनिकों में विरोध है। अर्थात् कितने ही तत्त्वपरीक्षक **'निद्रा'** को **'वृत्तित्वेन'** स्वीकार नहीं करते हैं। अतः (विवादास्पद) **'निद्रा'** में वृत्तित्व का विधान होना चाहिये अर्थात् **'निद्रा'** में **'वृत्तित्व'** की स्थापना आवश्यक है। किन्तु प्रकृत अधिकाररूप से प्राप्त **'वृत्ति'** पद तो अनुवादक मात्र है, वह विधायक नहीं हो सकता है। अतः विधायक रूप से गृहीत होने के लिये (निद्रा के लक्षणपरक सूत्र में) **'वृत्ति'** पद का पुनः प्रयोग करना पड़ा है।

बालप्रिया–

निष्कर्ष यह निकला कि अधिकाररूप से प्राप्त **'वृत्ति'** पद से प्रमाणादि चार वृत्तियों में सूत्रकार ने **'वृत्तित्व'** का 'अनुवाद' किया है और इस सूत्र में प्रयुक्त **'वृत्ति'** पद से **'निद्रा'** में पुनः **'वृत्तित्व'** का विधान किया है।

शब्दान्तर में उक्त विषय इस प्रकार समझा जा सकता है—

शङ्का—प्रमाणादि प्रकरण में अनुवादक होता हुआ भी '**वृत्ति**' पद निद्रा के प्रकरण में अनुवर्तमान का विधान करने वाला हो जायेगा?

समाधान—इस पर वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'**न च प्रकृतमनुवादकं विधानाय कल्पते**'—अर्थात् एक अर्थ से प्रस्तुत वस्तु अनुवर्तन के द्वारा, अन्य अर्थ वाली नहीं हो सकती है। अर्थात् एक जगह अनुवृत्ति से प्राप्त अनुवादक वस्तु दूसरी जगह विधायक नहीं हो सकती है। जैसे एक देश से दूसरे देश में संसरण करता हुआ गोधा (मगरमच्छ) गोधात्व का परित्याग कर सर्पत्व को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् देशान्तर से गोधात्व में परिवर्तन नहीं आता है। अतः अनुवादक रूप से प्राप्त '**वृत्ति**' पद '**निद्रा**' के सूत्र में—'**वृत्ति**' पद के प्रयोग के विना ही अनुवर्तन द्वारा—विधायक नहीं बन सकता है। अतः '**निद्रा**' में वृत्तित्व का विधान करने के लिये '**वृत्तिः**' पद का पुनःकथन आवश्यक है। यह '**अर्थाधिकारपक्ष**' से विचार किया गया है, क्योंकि इस पक्ष में '**अर्थ**' विरुद्धधर्माध्यास को ग्रहण करने में असमर्थ है। दूसरा '**शब्दाधिकारपक्ष**' होता है। इस पक्ष के अनुसार सूत्र में प्रयुक्त '**वृत्ति**' पद को स्पष्टार्थ ही माना जा सकता है। विज्ञानभिक्षु ने '**वृत्तिः**' पद को स्पष्टार्थक ही माना है। '**शब्दाधिकारपक्ष**' के अनुसार शब्द उसी के साथ सम्बद्ध होता है, जिसके साथ सम्बद्ध होने की वह योग्यता रखता है। कहा भी गया है— '**शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाऽभिसंबध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति**।'

सम्प्रति, निद्रावृत्ति को लक्षित किया जा रहै है—

तत्त्ववैशारदी

जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावः तस्य प्रत्ययः कारणं बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमः, तदेवालम्बनं विषयो यस्याः सा[1] तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा। बुद्धिसत्त्वे हि त्रिगुणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकमाविरस्ति तमस्तदा बुद्धेर्विषयाकारपरिणामाऽभावादुद्भूततमोमयीं बुद्धिमवबुध्यमानः पुरुषः सुषुप्तोऽन्तःसंज्ञ इत्युच्यते। कस्मात्पुनर्निरूद्धकैवल्ययोरिव वृत्त्यभाव एव न निद्रेत्यत आह— [2]सेति। सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्सोपपत्तिकात्स्मरणात्प्रत्ययविशेषः।

जाग्रत् और स्वप्न वृत्तियों के अभाव के कारणभूत (प्रत्ययभूत) बुद्धिसत्त्व के आच्छादक (आवरक) तमोगुण को विषय (आलम्बन) करने वाली वृत्ति '**निद्रा**' कहलाती है। त्रिगुणात्मक बुद्धिसत्त्व में निहित सत्त्व और रजस् को दमित (वशीभूत) करके इन्द्रियादि समस्त ज्ञानात्मक करणों का आवरकभूत (आच्छादक-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **सा** उपलभ्यते, न – **सा** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **सेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सेति** नोपलभ्यते।

रूप) तमोगुण जब आविर्भूत होता है, तब बुद्धिसत्त्व का विषयाकार परिणाम नहीं होता है। इस कारण (बुद्धिसत्त्व की विषयाकारा वृत्ति न बनने के कारण) चित्त समुद्भूत तमोमयी (अज्ञानमयी) **'निद्रा'** वृत्ति वाला होता है। इस तमःप्रधाना अज्ञानमयी चित्तवृत्ति को जानने वाला सुषुप्त पुरुष **'अन्तःप्रज्ञ'** कहा जाता है। संक्षेपतः तमोगुणावलम्बिनी वृत्ति को **'निद्रा'** कहते हैं।

शङ्का–निरुद्ध और कैवल्य के समान **'निद्रा'** को वृत्त्यभावरूप ही क्यों नहीं माना जाता है अर्थात् जिस प्रकार चित्त निरुद्ध तथा कैवल्य अवस्था में सर्वथा वृत्त्यभाव वाला रहता है उसी प्रकार सुषुप्त्यवस्था में नितान्त वृत्त्यभाव मानना चाहिये, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नकालिक वृत्तियों के अभाव का कारणीभूत **'तम'** चित्त में आच्छादित रहता है।

समाधान–**'वृत्त्यभावरूप निद्रा'** इत्याकारक भ्रान्तिपूर्ण शंका के समाधानार्थ (वृत्तित्वेन 'निद्रा' के स्थापनार्थ) भाष्यकार कहते हैं–**"सेति।'** सुषुप्ति से जागरण (संप्रबोध) होने पर कारणसहित (सोपपत्ति) स्मरणज्ञान (प्रत्यवमर्श) होता है, इससे **'निद्रा'** एक ज्ञानविशेष अर्थात् **'वृत्तिविशेष'** है।

बालप्रिया–

'प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः'–विचारणीय है कि 'निद्रा' में ज्ञान रहता है अथवा नही। अर्थात् निद्रा ज्ञानावस्था है अथवा ज्ञानाभावावस्था है। सांख्य, योग तथा वेदान्त के अनुसार 'निद्रा' ज्ञान की एक अवस्था है। नैयायिकों के अनुसार 'निद्रा' **'ज्ञानाभावरूप'** है।

योगमत–जागरित अवस्था में होने वाले **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि प्रत्यवमर्श अर्थात् स्मरणज्ञान के आधार पर **'निद्रा'** प्रत्ययविशेष (ज्ञानरूप वृत्तिविशेष) है, न कि ज्ञानाभावरूप। अर्थात् निद्रा में ज्ञान का सद्भाव है, न कि असद्भाव। इस प्रकार **'निद्रा'** को ज्ञानरूप अवस्था सिद्ध करने के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने सोकर उठे हुए व्यक्ति को होने वाले **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्याकारक स्मरण को हेतुरूप से उपन्यस्त किया है, क्योंकि **'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'** के अनुसार स्मरणज्ञान अनुभवजन्य संस्कार से ही उत्पन्न होता है।

न्यायमत–आचार्य उदयनाचार्य **'सुखमहमस्वाप्सम्'** का व्याख्यान अन्य प्रकार से करते हुए **'निद्रा'** को **'ज्ञानाभाव'** रूप अवस्था वाला होना इस प्रकार से सिद्ध करते हैं– उदयनाचार्य का कथन है कि सुषुप्ति (निद्रा) में हुए अनुभव से जागने पर **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि रूप से स्मरणात्मक ज्ञान नहीं होता है। सरल एवं स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि **'सुखमहमस्वाप्सम्'** अर्थात् मैं सुखपूर्वक सोया, यह स्मरण-

ज्ञान नहीं है। अपितु सोकर उठा हुआ व्यक्ति जागरित अवस्था में **'सुखंमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि रूप से सौषुप्त **'ज्ञानाभाव'** का **'अनुमान'** करता है।

शङ्का–किन्तु तदानीन्तन सौषुप्त आत्मा के अननुभूत रहने से (सौषुप्त आत्मा को अनुभव अर्थात् ज्ञान न होने से) सोकर उठा हुआ व्यक्ति अननुभूत धर्मी में **'ज्ञानाभाव'** का अनुमान कैसे कर सकता है? अर्थात् अननुभूत आत्मधर्मी में ज्ञानाभाव का उदय नहीं हो सकता है।

समाधान–अननुभूत आत्मधर्मी में ज्ञानाभावविषयक अनुमान का उदय नहीं हो सकता, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। जैसे प्रातःकाल चत्वरविषयक ज्ञान न रहने पर भी सायंकाल उसी अननुभूत चत्वरधर्मी में **'गजाभाव'** का अनुमान देखा जाता है। पूर्वापरावस्था में धर्मी के एकत्व का प्रत्यभिज्ञान होने से मध्यावस्था में भी धर्मी का सामान्यरूप से ग्रहण होता है। अर्थात् दो जागरित अवस्थाओं में आत्मधर्मी की एकत्वप्रतीति होती है तो मध्यावस्था में भी आत्मधर्मी का सामान्यत्वेन ग्रहण हो जाता है–इस नियम से मेरे अनुसार (उदयनाचार्य के अनुसार) ज्ञानाभावरूप सुषुप्ति की अवस्था में आत्मरूप धर्मी का सामान्यत्वग्रहण होने से जागरित अवस्था में आत्मधर्मी में **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि रूप से ज्ञानाभाव का अनुमान किया जाता है। निष्कर्षतः उदयनाचार्य के अनुसार **'सुषुप्ति'** (निद्रा) **'ज्ञानाभाव'** रूप है।

न्यायमत का खण्डन–नैयायिक प्रक्रिया से सुषुप्ति में आत्मरूपधर्मी का सद्भाव मान लेने पर सौषुप्त आत्म-धर्मी में ज्ञानाभाव (साध्य) को सिद्ध करने के लिये (उनके अनुसार) हेतु को उपन्यस्त करना ('हेतु' का क़थन करना) कठिन है–

पूर्वपक्ष–सौषुप्त आत्मधर्मी में ज्ञानाभाव का साधक अनुमान-प्रयोग इस प्रकार किया जाता है–**'सौषुप्तात्मा दुःखादिज्ञानाऽभाववान् अस्मर्यमाणतदानीन्तनदुःखादित्वात्।'** यहाँ **'सौषुप्तात्मा'** पक्ष है। **'दुःखादिज्ञानाऽभाववान्'** साध्य है तथा **'अस्मर्यमाणतदानीन्तनदुःखादित्वात्'** हेतु है। अर्थ है–सौषुप्तात्मा दुःखादिज्ञानाभाव वाला है, तदानीन्तन (सुषुप्तिकालिक) दुःखादि का स्मरण न होने से।

उत्तरपक्ष–**'अस्मर्यमाणतदानीन्तनदुःखादित्वात्'**–यह व्यभिचरित (अनैकान्तिक) हेतु है अर्थात् यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभाव से युक्त है। मार्ग में जाते हुए तृणादि का स्पर्श (स्पार्शन ज्ञान) होने पर भी (कालान्तर में) तृणादिविषयक स्मरण नहीं देखा जाता है। अर्थात् अस्मर्यमाणता हेतु ज्ञानाभाव का ही साधक होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि तथाकथित लौकिक उदाहरण में अनुभव के रहते हुए भी स्मरणज्ञान नहीं हो रहा है। अतः **'अस्मर्यमाणता'** असद्धेतु है।

पूर्वपक्ष–हेतुगत अनैकान्तिकता को दूर करने के लिये '**नियमेन**' पद को हेतु के विशेषण के रूप में जोड़ना चाहिये। अर्थात् सौषुप्त आत्मा में ज्ञानाभाव का साधक हेतु इस प्रकार होगा–'**नियमेन अस्मर्यमाणतदानीन्तन्दुःखादित्वात्**।' इससे हेतुगत अनैकान्तिक दोष दूर हो जायेगा और जागने पर नियमतः (कभी भी) सौषुप्त-कालिक दुःखादि का स्मरण न होने से सौषुप्त आत्मा में 'ज्ञानाभावत्व' सिद्ध हो जायेगा।

उत्तरपक्ष–'**नियमेन अस्मर्यमाणता**' हेतु ज्ञानाभाव को ही सिद्ध करे, यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इस स्थिति में नियमतः स्मरण के अजनकीभूत निर्विकल्पकज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् '**नियमतः अस्मर्यमाणता**' हेतु ज्ञानाभाव (साध्य) को सिद्ध नहीं करता है। जैसे स्मरणज्ञान के न रहते हुए भी निर्विकल्पक ज्ञान रहता है। सिद्धान्त है कि निर्विकल्पकज्ञानजन्य संस्कार से स्मरणोत्पत्ति नहीं होती है।

पूर्वपक्ष–'**नियमेन ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणक अस्मर्यमाणता**'–हेतु से उपरिवर्णित असंगति दूर हो जाती है।

उत्तरपक्ष–हेतु' को 'ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणक' मानने पर हेतु अन्योन्याश्रयदोष से युक्त हो जायेगा। '**ज्ञानसामग्री**' के अभाव से '**ज्ञानाभाव**' का अनुमान और '**ज्ञानाभाव**' के अनुमान से '**ज्ञानसामग्र्ययभाव**' का अनुमान करने पर 'अन्योन्याश्रयता' सुस्पष्ट है। और यह 'ज्ञानसामग्रीवैकल्य' हेत्वंश 'असिद्ध' भी है अर्थात् नियमेन ज्ञानसामग्री-विकलतापूर्वक अस्मर्यमाणत्वहेतु सिद्ध भी नहीं होता है। क्योंकि सुषुप्ति (निद्रा) में अविद्यासुखादिविषयक अविद्यावृत्ति (उपनिषदों के अनुसार भी) स्वीकार की गई है। इस प्रकार असद्धेतु पर आधारित सौषुप्त ज्ञानाभाव (साध्य) सिद्ध नहीं होता है। फलतः '**सुखमहमस्वाप्सम्**' तत्त्ववैशारदीकारसम्मत स्मरणज्ञान पर, आक्षिप्त अनुमानज्ञान की अवधारणा भी खण्डित हो जाती है तथा सुषुप्ति (निद्रा) की ज्ञानरूपता भी सिद्ध हो जाती है।

वेदान्तमत–वेदान्ती बुद्धि की '**कारणात्मावस्थिति**' को '**सुषुप्ति**' कहते हैं। इससे वेदान्तियों के अनुसार सुषुप्ति (निद्रा) में अन्तःकरण का अभाव रहने पर भी अन्तःकरण की वासना से वासित अज्ञानोपहित चैतन्य का सद्भाव रहता है। अतः सौषुप्त '**तम**' आदि '**साक्षिभास्य**' हैं। सुषुप्ति में चित्त का अपने उपादानकारण अविद्या में लय हो जाता है–यह श्रुतिसम्मत है। तदर्थ श्रुतियाँ हैं–'**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति**-छा. उ., '**प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्**'-बृ. उ, '**सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति-कै. म.**। इस प्रकार 'निद्रा' ज्ञानविशेष अवस्था है।

योग और वेदान्त में अन्तर–सांख्ययोग तथा वेदान्तियों के अनुसार '**निद्रा**' '**ज्ञानविशेष**' अवस्था है अर्थात् '**निद्रा**' ज्ञानाभावरूप नहीं है। किन्तु दोनों शास्त्रों में अन्तर यह है कि योग के अनुसार सुषुप्ति (निद्रा) में चित्त की वृत्ति स्वीकार की गई है। अतः चित्तवृत्ति ही सौषुप्त तमः, सुखादि को ज्ञान का विषय बनाती है। वेदान्त के अनुसार सौषुप्त तमः, सुखादि साक्षिभास्य हैं। अर्थात् अविद्या की वृत्ति द्वारा साक्षी चेतन सौषुप्त तमः, सुखादि को जानता है।

'**प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः**'– तथ्य के द्वारा '**निद्रा**' का '**वृत्तित्व**' सिद्धान्तित हो जाने पर स्मरण के स्वरूप को लेकर आगे विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

कथम्? यदा हि सत्त्वसचिवं तम आविरस्ति तदेदृशः प्रत्यवमर्शः सुप्तोत्थितस्य भवति– सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति स्वच्छीकरोतीति। यदा तु रजःसचिवं तम आविरस्ति तदेदृशः प्रत्यवनर्श इत्याह–दुःखमहमस्वाप्सम्, स्त्यानमकर्मण्यं मे मनः। कस्मात्? यतो भ्रमत्यनवस्थितम्। नितान्ताभिभूतरजःसत्त्वे तमःसमुल्लासे स्वापे **प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शमाह–गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति।**

शङ्का–यह कैसा प्रत्यवमर्श (स्मृति) है? अर्थात् प्रबुद्ध पुरुषनिष्ठ स्मरणज्ञान का आकार कैसा है?

समाधान–जिस समय सत्त्वगुणसहित तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय (सात्त्विक) निद्रा से उठे हुए पुरुष को जो प्रत्यवमर्श (स्मृति) होता है, उसका आकार है– '**सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः, प्रज्ञां मे विशारदीकरोति**' अर्थात् 'मैं सुखपूर्वक सोया, (क्योंकि) मेरा मन प्रसन्न है (अतः) मेरी बुद्धि को निर्मल कर रहा हैं। '**विशारदीकरोति**' का अर्थ है–स्वच्छ कर रहा है। जिस समय रजोगुणसहित तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय (राजसी) निद्रा से उठे हुए व्यक्ति को जिस प्रकार का प्रत्यवमर्श (स्मरण) होता है, उसका आकार भाष्यकार बतलाते हैं–'**दुःखमहमस्वाप्सम्, स्त्यानं मे मनः**' अर्थात् मैं, दुःखपूर्वक सोया, (क्योंकि) मेरा मन भ्रमित है'। यहाँ '**स्त्यान**' पद का अर्थ है–अकर्मण्य। चित्त क्यों अकर्मण्य है? इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**भ्रमत्यनवस्थितम्**' क्योंकि मेरा चञ्चल मन भ्रमित हो रहा है। जब रजोगुण एवं सत्त्वगुण का अत्यधिक रूप से अभिभव हो जाता है, तब पूर्णरूप से तमोगुणप्रधान सुषुप्ति में होने वाले '**प्रत्यय**' (अनुभव) का स्मरण प्रबुद्ध व्यक्ति को जिस प्रकार से होता है, उसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठति**' अर्थात् 'गहन निद्रा में मूढ़

(बेखबर) होकर मैं सोया, मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं। मेरा चित्त क्लान्त, आलस्ययुक्त खाली सा हो रहा है।

बालप्रिया–

'क्लान्तम्' पद का अर्थ ग्लानियुक्त अथवा श्रमार्त्त है। **'अलसम्'** पद का अर्थ कार्याक्षम है। **'मुषितम्'** पद का अर्थ दूसरों के द्वारा अपहृत अथवा बद्ध है। 'जिस प्रकार दूसरे के द्वारा आक्रान्त व्यक्ति स्तब्धीभूत होकर बैठता है उसी प्रकार मेरा चित्त भी मानों दूसरों के द्वारा अपहृत होकर स्तब्धीभूत सा हो रहा है।

दर्शनशास्त्र का प्रारम्भिक पाठक सन्देह कर सकता है कि सौषुप्त अनुभवरूप वृत्ति के सन्दर्भ में सोकर उठे हुए व्यक्ति को होने वाले स्मरणज्ञान के विषय में यहाँ विचार क्यों किया जा रहा है? इसी शंका को ध्यान में रखते हुए अनुभव और स्मरण के कार्यकारणरूप अटूट गठबन्धन पर प्रकाश डाला जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

साध्यव्यतिरेके हेतुव्यतिरेकमाह–स खल्वयमिति। [1]प्रबुद्धस्य प्रबुद्धमात्रस्य। प्रत्ययानुभवे वृत्त्यभावकारणानुभवे। तदाश्रिताः बोधकाल इत्यर्थः।

साध्य का व्यतिरेक (अभाव, वियोग, अपवर्जन) होने पर हेतु का व्यतिरेक होता है। (अर्थात् साध्य के अभाव से हेतु का अभाव होता है जैसे वह्नि के अभाव से धूम का अभाव रहता है)।' इसी साध्य के व्यतिरेक में हेतु के व्यतिरेक को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'सा खल्वयमिति।'** **'प्रबुद्धस्य'** पद का अर्थ प्रबुद्धमात्र है। **'प्रत्ययानुभवे'** पद का अर्थ वृत्त्यभावकारणानुभव है। संवलित अर्थ यह हुआ कि निद्राकाल में, जाग्रत् और स्वप्न वृत्तियों के अभाव के कारणभूत **'तम'** का अनुभव हुए विना सोकर उठे प्रबुद्ध व्यक्ति को इस प्रकार का प्रत्यवमर्श (स्मरणज्ञान) नहीं हो सकता है। शब्दान्तर में– **'सौषुप्ताभावप्रत्ययानुभवेऽसति प्रबुद्धस्य स्मरणं न स्यात् संस्काराभावात्'**–यदि सुषुप्ति में अनुभव नहीं मानेंगे तो तदाश्रित=चित्ताश्रित तद्विषया=वृत्त्यभावकारणविषया अर्थात् अभावप्रत्ययविषयिणी स्मृति भी नहीं होगी। क्योंकि अननुभूत विषय स्मरणज्ञान का विषय नहीं होता है। इसलिए 'निद्रा' 'प्रत्ययविशेष' है।

---

1. क ग – **प्रबुद्धस्येति प्रबुद्धमात्रस्य। तदाश्रिताश्चेति बोधकाले प्रत्ययानुभवे वृत्त्यभावकारणानुभव इत्यर्थः**, ख – **प्रबुद्धस्य प्रबुद्धमात्रस्य। तदाश्रिताश्चेति बोधकाले प्रत्ययानुभवे वृत्त्यभावकारणानुभवे तदाश्रिता बोधजन्याः तद्विषया वृत्यभावकारणविषया इत्यर्थः।** घ च छ ज झ त न – **प्रबुद्धस्य प्रबुद्धमात्रस्य बोधकाले। प्रत्ययानुभवे वृत्त्यभावकारणानुभवे तदाश्रिता बोधजन्या तद्विषया वृत्त्यभावकारणविषया इत्यर्थः**, थ द ध – **प्रबुद्धस्य प्रबुद्धमात्रस्य प्रत्ययानुभवे वृत्त्यभावकारणानुभवे तदाश्रिताः बोधकाल इत्यर्थः।**

बालप्रिया–

इस प्रसङ्ग में 'अनुभव' साध्य है तथा स्मरण 'हेतु' है। जाग्रत् काल में **'सुखमहमस्वाप्सम्'** इत्यादि रूप से होने वाला प्रत्यवमर्श (स्मरण) अनुभवपूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि जाग्रत्कालिक ज्ञान स्मृतिरूप है–इस अनुमान से यह व्यतिरेकव्याप्ति गठित होती है–**'यत्राऽनुभवाभावः तत्र स्मृत्यभावः।'** इसमें साध्याभाव में हेत्वभाव को बतलाया गया है। तदर्थ अन्वयव्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है–**'या या स्मृतिः सा साऽनुभवपूर्विका, सा मे माता इति स्मृतिवत्'**

योगशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'वृत्तिनिरोध' की दृष्टि से विचार प्रस्तुत है कि निद्रावृत्ति निरोद्धव्य है अथवा नहीं–

तत्त्ववैशारदी

ननु प्रमाणादयो व्युत्थानचित्ताधिकरणा निरुध्यन्ताम्, समाधिप्रतिपक्षत्वात्, निद्रायास्त्वेकाग्रवृत्तितुल्यायाः कथं समाधिप्रतिपक्षतेत्यत आह–सा च समाधाविति। एकाग्रतुल्यापि तामसत्वेन निद्रा सबीजनिर्बीजसमाधिप्रतिपक्षेति सापि निरोद्धव्येत्यर्थः॥१०॥

शङ्का–व्युत्थित चित्त से सम्बन्धित (निद्रेतर) प्रमाणादि वृत्तियों का ही निरोध करना चाहिये, क्योंकि वे समाधि की विरोधिनी हैं। किन्तु निद्रावृत्ति तो एकाग्र-वृत्ति के समान है, अतः निद्रावृत्ति में समाधि के प्रति प्रतिपक्षता (विरोधिता) कैसे हो सकती है? अर्थात् एकाग्रवृत्ति सदृशी निद्रावृत्ति निरोद्धव्य नहीं है।

समाधान–(निद्रावृत्ति के निरोद्धव्य पर तथाकथित उक्त शङ्का का) उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'सा च समाधाविति।'** एकाग्रतुल्य होते हुए भी, तामस होने के कारण, यह निद्रावृत्ति सबीजयोग (सम्प्रज्ञात) तथा निर्बीजयोग (असम्प्रज्ञात)–दोनों समाधियों के प्रति प्रतिपक्षिनी (अवरोधोत्पादिनी) है। अतः (अन्य प्रमाणादि वृत्तियों की भाँति) यह निद्रावृत्ति भी निरोद्धव्य है। अर्थात् निद्रावृत्ति का निरोध भी उतनी सतर्कता से किया जाना चाहिये, जितना निद्रेतर वृत्तियों का निरोध। इतना ही क्यों वृत्तित्वेन सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदायिनी **'विवेकख्याति'** रूप वृत्ति भी निरोद्धव्य है, ऐसा आगे बतलाया जायेगा ॥१०॥

बालप्रिया–

अतएव सूत्रकार ने निरोध करने के लिये ही निद्रावृत्ति का भी निद्रेतर वृत्तियों के साथ संग्रह किया है– **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**–यो. सू. १/६॥१०॥

योगवार्त्तिकम्

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। निद्राया वृत्तित्वस्फुटीकरणाय पुनर्वृत्तिग्रहणम्।

जाग्रत्स्वप्न[1]वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः प्रतिसंक्रमस्थानं कारणमिति यावत्, तच्च, चित्तसत्त्वाच्छादकं तमोद्रव्यमन्धकारादिवत् तदेवालम्बनं विषयो यस्याः सा तथा[2] तादृशी वृत्तिर्निद्रेत्यर्थः। बुद्धेर्हि त्रिगुणतया यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदा मलिनस्य चित्तसत्त्वस्य [3]तमआकारैव वृत्तिः स्वपिमीत्याकारा जायते। स्वापश्चात्र जाग्रत्स्वप्नवृत्त्यभावः। तां च निद्राऽऽख्यां वृत्तिमवबुध्यमानः पुरुष सुषुप्त-स्थानोऽन्तःप्रज्ञ इति श्रुतिभिरुच्यत इति।

सूत्र है–'**अभावेति**।' सर्वप्रथम वार्त्तिककार यह बतलाने जा रहे हैं कि प्रसंगप्राप्त वृत्ति-प्रकरण में सूत्रकार '**निद्रा**' का लक्षण करते हुए '**वृत्ति**' पद का प्रयोग क्यों करते हैं–(कई दार्शनिकों द्वारा '**निद्रा**' को वृत्तित्वेन मान्यता प्रदान नहीं की गई है, अतः) निद्रा की वृत्तिता स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने (निद्रावृत्ति के लक्षण में) पुनः '**वृत्ति**' पद का उपादान (ग्रहण) किया है। जाग्रत् और स्वप्न वृत्तियों के '**अभाव**' के '**प्रत्यय**' अर्थात् प्रतिच्छाया के कारणभूत, अन्धकारादि के समान चित्तसत्त्व का आवरणभूत तमोद्रव्य ही '**आलम्बन**' अर्थात् विषय जिसका है, उस प्रकार की वृत्ति '**निद्रा**' कहलाती है। (भाव यह है–सूत्रगत '**अभाव**' शब्द का अर्थ 'जाग्रत् और स्वप्न वृत्तियों का अभाव' है।' '**प्रत्यय**' शब्द का अर्थ 'अभाव के प्रतिच्छाया का कारण' है। वह कारण है–वस्तुओं के आच्छादक अन्धकार की भाँति चित्तसत्त्वरूप वस्तु का आवरक तमोद्रव्यरूप अन्धकार। '**आलम्बन**' शब्द का अर्थ 'विषय' है। संपुटित अर्थ इस प्रकार हुआ–जाग्रत् और स्वप्नवृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को ज्ञान का विषय बनाने वाली चित्तवृत्ति '**निद्रा**' कही जाती है)। बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से जब समस्त इन्द्रियादि करणों का आवरक तमोगुण; सत्त्व और रजोगुण को धूमिल करके प्रादुर्भूत होता है, तब मलिन चित्तसत्त्व अर्थात् तमोगुणप्रधान चित्त की केवल तमोगुणाकारात्मक वृत्ति बनती है, जिसका स्वरूप है–'**स्वपिमि**।' यहाँ '**स्वाप**' शब्द का अर्थ 'जाग्रत् तथा स्वप्नवृत्तियों का अभाव' लिया गया है। निद्रा वृत्ति को जानता हुआ पुरुष श्रुतियों द्वारा '**सुषुप्त**' और '**अन्तःप्रज्ञ**' कहा गया है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार निद्रावृत्ति के उक्त लक्षण में तथा 'निद्रा' के वृत्ति होने में सम्भावित शङ्काओं का उपस्थापन कर उनका समाधान करते हैं–

---

1. क ग घ च छ – **वृत्तीनां**, ख – **प्रवृत्तीनाम्**।
2. ख – **तमःप्रचुरचेत्तविषयिणी इति यावत्** (**तथा पश्चात्**) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तमःप्रचुरचित्तविषयिणी इति यावत्** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – **तमआकारैव**, ख – **स्वविषयिणी**$_0$।

योगवार्त्तिकम्

न च चित्तेन चित्तग्रहणे कर्मकर्त्तृविरोधः, वृत्त्या चित्तस्य ग्रहणेन कर्मकर्त्रोर्भेदात्। न चैवमेकया वृत्त्या वृत्त्यन्तरग्रहणसंभवे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यम्, नियमेन वृत्तिगोचरवृत्तिकल्पनेऽनवस्थायाः सूत्रेण[1] वक्ष्यमाणत्वादिति। ननु निरोधे कैवल्यप्रलयादिष्विव वृत्त्यभाव एव सर्वस्यां सुषुप्तौ कथं न स्वीक्रियते? नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येदिति सौषुप्तश्रुतावपि तदानीं ज्ञानाभावस्यैवावगमादित्याशङ्क्याह—सा तु संप्रबोध इति। सा तु निद्रा प्रत्ययविशेष एव, जागरे स्मरणादित्यर्थः। अत एव—

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्

इत्यादिश्रुतयः सुषुप्तस्थानेऽपि भोग्यमस्तीत्याहुः। न चैवं श्रुत्योर्विरोध इति वाच्यम्, अर्धसमग्रभेदेन सुषुप्तेर्द्वैविध्यात्, मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिरिति सुषुप्तिप्रकरणस्थवेदान्तसूत्रात्। अन्यथा श्रुत्योर्विरोधस्यापरिहार्यत्वाच्च कदाचिद्गाढतमसा चित्तसत्त्वस्य तमोगोचरवृत्तावप्यसामर्थ्यं च संभवत्येवेति। यत्त्वाधुनिका वेदान्तिब्रुवा आहुः—सुषुप्तौ तमः साक्षिभास्यमेव न तत्र वृत्तिरस्तीति, तन्न; वक्ष्यमाणस्मरणानुपपत्तेः, साक्षिण्यपरिणामिनि संस्कारस्मृत्योरनभ्युपगमात्। यच्च तदेकदेशी सुषुप्तावज्ञानाख्यप्रकृतेरेव वृत्तिमाह न तु चित्तस्य, तदपि हेयम्-एवं सति जाग्रत्स्वप्नयोरपि तस्या एव वृत्तिसंभवे चित्तकल्पनावैयर्थ्यादिति। तस्माज्जाग्रत्स्वप्नयोरिव सुषुप्तेऽपि चित्तस्यैव वृत्तिः,

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः[2]

इति स्मृतिभ्यश्च, तथा चित्तत्वेनैव वृत्तिसामान्ये हेतुतायां लाघवाच्चेति।

शङ्का—चित्त के द्वारा चित्त का ही ग्रहण मानने पर कर्तृ-कर्म-विरोध की आपत्ति आयेगी? अर्थात् एक ही चित्त का कर्तृत्व और कर्मत्व कैसे उपपन्न हो सकेगा?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वृत्ति के द्वारा चित्त का ग्रहण (ज्ञान) होने से कर्त्ता और कर्म का भेद हो जाता है। अर्थात् वृत्तिरूप कर्त्ता द्वारा चित्तरूप कर्म का ज्ञान होने से कर्तृकर्मविरोध की असंगति नहीं आती है।

शङ्का—(सिद्धान्ती के कथनानुसार वृत्ति के द्वारा चित्त का ग्रहण मानने पर) एक वृत्ति से वृत्त्यन्तर का ग्रहण हो जाने पर पुरुष की कल्पना व्यर्थ है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि नियमतः वृत्तिविषयक वृत्ति की कल्पना करने में समुपस्थित (आड़े हाथ आने वाले) अनवस्थादोष का सूत्र द्वारा आगे प्रतिपादन किया जायेगा।

---

1. ख ग घ – **एव (सूत्रेण** पश्चात्) उपलभ्यते, क च छ – **एव** नोपलभ्यते।
2. ख – **तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन व्यवस्थितः (बुद्धिवृत्तयः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तासां.......स्थितः** नोपलभ्यते।

शङ्का–निरोध होने पर (निरुद्धभूमिक चित्त की समस्त वृत्तियों के निरुद्ध होने पर) जैसे कैवल्य और प्रलय आदि की अवस्था में वृत्त्यभाव स्वीकार किया जाता है वैसे ही निरोधरूप सुषुप्ति की सभी अवस्थाओं में वृत्त्यभाव को ही क्यों न स्वीकार किया जाय? अर्थात् सुषुप्ति में चित्त को निर्वृत्तिक ही मानना चाहिए। क्योंकि निम्नाङ्कित सुषुप्तिबोधक श्रुति में भी उस समय चित्त को ज्ञानाभावरूप ही प्रतिपादित किया गया है। श्रुति है–'**न तु...पश्येत्**' अर्थात् 'सुषुप्ति में कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं, जिसे चित्त (सौषुप्त पुरुष) अपने से भिन्न रूप से देख सके।'

समाधान–उक्त शङ्का होने पर (समाधानरूप में) भाष्यकार बतलाते हैं–'**सा तु संप्रबोध इति**।' चित्त की यह निद्रावस्था ज्ञानविशेष (वृत्तिविशेष) ही है, क्योंकि जाग्रत् अवस्था में (तदवस्थाक अनुभूत पदार्थ का) स्मरण होता है। इसीलिए श्रुतिवाक्यों द्वारा भी सुषुप्तस्थान अर्थात् चित्त की सुषुप्ति अवस्था में भोग्य की सत्ता बतलाई गई है। श्रुति है-'**त्रिषु...यद्भवेत्**'' अर्थात् तीनों धामों (जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति–इन तीनों स्थानों में) जो भोग्य, भोक्ता तथा भोग रूप है।'

शङ्का–सुषुप्ति में भोग्य की सत्ता मानने पर '**न तु...द्वितीयमस्ति**' अर्थात् 'सुषुप्ति में कुछ भी दूसरा नहीं रहता है'–इत्याकारक श्रुति से अन्तर्विरोध होगा?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सुषुप्ति दो प्रकार की है–अर्द्ध सुषुप्ति तथा समग्र सुषुप्ति। यह बात वेदान्त सूत्र के सुषुप्तिप्रकरण में '**मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः**' ३/२/१० सूत्र से कही गई है। अन्यथा श्रुतियों के अन्तर्विरोध का परिहार असम्भव हो जायेगा अर्थात् श्रुतियों में सैद्धान्तिक सामञ्जस्य की स्थापना नहीं की जा सकेगी तथा कभी-कभी अत्यन्त घनीभूत तमोगुण के कारण चित्तसत्त्व (अर्थात् तमोबहुल चित्त) तमोविषयिणी वृत्ति को ग्रहण करने में समर्थ भी नहीं हो सकता है।

पूर्वपक्ष–और जो आधुनिक वेदान्ती लोग कहते हैं कि सुषुप्ति में तमोगुण साक्षिभास्य ही होता है अर्थात् साक्षी द्वारा तमोगुण ग्राह्य होता है, उस समय वृत्ति नहीं रहती है।

उत्तरपक्ष–यह पूर्वपक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि (जागने पर चित्त को सुषुप्तिकालिक अनुभव का स्मरण होता है, इस प्रकार) आगे बतलाये जाने वाला स्मरणज्ञान उपपन्न नहीं हो पायेगा तथा अपरिणामी साक्षी में संस्कार और स्मृति को स्वीकार नहीं किया गया है। (अतः सुषप्ति से जाग्रत् अवस्था में आने पर स्मरण नहीं बन पायेगा)।

पूर्वपक्ष–और जो वेदान्तैकदेशी सुषुप्ति में अज्ञानसंज्ञक प्रकृति (माया) की वृत्ति को बतलाते हैं, न कि चित्त की।

उत्तरपक्ष–तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है अर्थात् उपेक्षणीय है। क्योंकि इस अवधारणा के अनुसार जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भी अज्ञानाख्य प्रकृति की ही वृत्ति मानने की अपरिहार्यता आने पर चित्त की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी। इन तर्कों के आधार पर यह सिद्धान्तित होता है कि जाग्रत् और स्वप्नकालिक चित्तवृत्तियों के समान सुषुप्ति में भी चित्त की ही वृत्ति बनती है। अर्थात् अज्ञानाख्य प्रकृति को नहीं, अपितु चित्त को ही ज्ञान होता है। स्मृतिवाक्यों से भी यही तथ्य परिपुष्ट होता है। स्मृतिवाक्य है– '**जाग्रत्...बुद्धिवृत्तयः**' अर्थात् 'त्रिगुणात्मक होने से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में बुद्धि अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ होती है।' अगली युक्ति यह है कि वृत्तिसामान्य के प्रति चित्तत्वेन चित्त को हेतु मानने में लाघव (गुण) भी है।

सुषुप्ति में ज्ञान (वृत्ति) के सद्भावपूर्वक चैत्तिक परिणाम को ही युक्तियों द्वारा परिपुष्ट करने के पश्चात् सम्प्रति, वार्त्तिककार सुषुप्तिकालिक अनुभव के आधार पर होने वाले स्मरण को प्रतिपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्मरणाकारं पृच्छति–कथमिति। यस्याः[1] सत्त्वसचिवं तम आविर्भवति तस्याः सात्त्विक्या निद्राया उत्थितस्य स्मरणाकारमाह–सुखमिति। प्रसन्नं निर्मलं मनः स्वस्मिन् जायमानां प्रज्ञां यथाऽर्थवृत्तिं [2]विशारदीकरोति=सूक्ष्मार्थप्रतिबिम्बोद्ग्राहिणीं करोतीत्यर्थः। विशारदां करोतीति पाठस्तु साधुः।

शङ्का–पूर्वपक्षी स्मरणज्ञान के स्वरूप के विषय में प्रश्न करता–'**कथमिति**।' जागरित अवस्था में किस प्रकार का स्मरण होता है?

समाधान–जिस निद्रा में सत्त्वमिश्रित तम का आविर्भाव होता है, उस प्रकार की सात्त्विकी निद्रा से उठे हुए व्यक्ति (चित्त) के स्मरणज्ञान के आकार को भाष्यकार बतलाते हैं– '**सुखमिति**।' 'प्रसन्न' अर्थात् निर्मल मन अपने में समुद्भूत (जायमान) 'प्रज्ञा' अर्थात् यथार्थवृत्ति को '**विशारदीकरोति**' अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिये समर्थ (सक्षम) बना रहा है। वार्त्तिककार का मत है कि भाष्य में '**विशारदीकरोति**' यह पाठ शुद्ध नहीं है। '**विशारदां करोति**' इत्याकारक पाठ ही साधु (व्याकरणसम्मत) है।

बालप्रिया–

'**विशारदीकरोति विशारदां करोति**'– सरलार्थ यह है– भाष्य में प्रायः '**विशारदी-**

1. क च छ – **यस्याः**, ख ग घ – **यस्याम्**।
2. क ग घ च छ – **विशारदीकरोति**, ख – **विशारदां करोति**।

करोति पाठ उपलब्ध होता है, किन्तु यह पाठ व्याकरणसम्मत नहीं है। क्योंकि '**अभूततद्भावे च्विः**' के अनुसार 'जो पहले नहीं था, अब किया जा रहा है'–इस अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय होता है, जैसे '**प्रकटीकरोति**' आदि। '**विशारदीकरोति**' यहाँ पर '**च्वि**' प्रत्ययान्त रूप का प्रयोग दार्शनिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है। क्योंकि पहले चित्त, प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ नहीं था, अब तथाकथित निद्रावृत्ति के द्वारा उसे विषयग्रहण में सक्षम बनाया जा रहा है, ऐसी बात नहीं है। अपितु सूक्ष्मार्थग्राही होने पर भी चित्त के आवरण को ही इस वृत्ति के द्वारा हटाया जा रहा है। अतः अभूततद्भावार्थक '**च्वि**' प्रत्ययान्त प्रयोग उचित नहीं है। अतः '**विशारदीकरोति**' के स्थान पर '**विशारदां करोति**' पाठ उचित है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार रजोगुणप्रधान निद्रा से उठे व्यक्ति के स्मरण का स्वरूप बतलाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यस्यां रजःसचिवं तम आविर्भवति तस्या राजस्या निद्राया उत्थितस्य स्मरणाकारमाह–दुःखमिति। स्त्यानमकर्मण्यम्। तामस्या निद्राया उत्थितस्य स्मरणाकारमाह–गाढमिति। अलमत्यन्तं मुषितमिव परैरपहृतमिव तिष्ठतीत्यर्थः। अलसमिति पाठे तु स्त्यानता चित्तस्यातिचाञ्चल्येन कर्माक्षमता। आलस्यं तु तमोधर्मगुरुत्वेन कर्माक्षमता कर्मण्यनिच्छा [1]वेति भेदः।

जिस निद्रावस्था में रजोबहुल तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस रजोमयी निद्रा से उठे व्यक्ति (चित्त) के स्मरणज्ञान के आकार को भाष्यकार बतलाते हैं– '**दुःखमिति**।' यहाँ '**स्त्यान**' शब्द का अर्थ अकर्मण्य (कर्मशून्यता) है। तामसी निद्रा से उठे व्यक्ति (चित्त) के स्मरणज्ञान के आकार को भाष्यकार बतलाते हैं–'**गाढमिति**।' (भाष्य में '**अलसं**' के स्थान पर '**अलम्**' पाठ को दृष्टि में रखते हुए योगवार्त्तिककार अर्थ करते हैं–) '**अलम्**' अर्थात् अत्यन्त '**मुषित**' की भाँति अर्थात् दूसरों के द्वारा ठगे हुए के समान चित्त पड़ा रहता है। और जहाँ '**अलसम्**' ऐसा पाठ भाष्य में उपलब्ध होता है, वहाँ '**अलसम्**' का अर्थ स्त्यानता अर्थात् अतिचञ्चल होने के कारण चित्त की कर्म न करने की अनर्हता (विवक्षित) है। तमोधर्म की गुरुता से कर्म न करने की अक्षमता को आलस्य कहते हैं अथवा कर्म न करने की इच्छा को आलस्य कहते हैं। यही '**स्त्यान**' और '**अलस**' में अन्तर है। (भाव यह कि '**स्त्यान**' में रजोगुण की अधिकता के कारण कर्माक्षमत्व है और '**अलस**' में तमोबहुलता के कारण कर्माक्षमत्व है। अथवा पहले में कर्माक्षमता और दूसरे में कर्मानिच्छता है)।

---

1. क ग घ च छ – वा, ख – च।

सम्प्रति, जाग्रत् अवस्था में सुखादि का स्मरण होने पर सुषुप्ति में ज्ञान के सद्भाव में शङ्का करने वालों के मतवाद का खण्डन किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ननु भवतु प्रत्यवमर्शस्तथाऽपि कथं सुषुप्तौ प्रत्ययसिद्धिस्तत्राह–स खल्विति। प्रत्ययानुभवे सूत्रोक्तस्याभावप्रत्ययस्यानुभवे[1]ऽसति सोऽयं प्रत्यवमर्शः खलु न स्यादित्यर्थः, संस्कारासंभवादिति भावः। ननु वृत्तिं विनाऽपि सुखादिवत् सुषुप्तौ स्वापस्य[2] साक्षिभास्यत्वमभ्युपगम्य तत्स्मरणमुपपादनीयमित्याशङ्क्याह–तदाश्रिता इति। तद्विषयाः प्रत्ययविषयिकाः स्मृतयोऽपि तदाश्रिताश्चित्ताश्रिता न स्युरन्यदृष्टस्यान्येनास्मरणादित्यर्थः। न च स्मरणमपि साक्षिण्येवास्त्विति वाच्यम्, तत्र संस्कारासंभवात् स्मृत्याख्यपरिणामासंभवाच्चेति।

शङ्का–ठीक है, जाग्रत् अवस्था में (चित्त को) **'प्रत्यवमर्श'** अर्थात् स्मरणज्ञान रहे, फिर भी इसके आधार पर सुषुप्ति में ज्ञान (वृत्ति) की सत्ता किस प्रकार सिद्ध हो सकेगी? अर्थात् जाग्रत् अवस्था के स्मरणज्ञान से सुषुप्तिकालिक अनुभवात्मक निद्रावृत्ति को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'स खल्विति।'** 'प्रत्ययानुभव' अर्थात् सूत्रोक्त वृत्त्यभाव के हेतुभूत तमोद्रव्य का अनुभव (ज्ञान) हुए विना **'सोऽयं'** अर्थात् 'वह यह है' इत्याकारक स्मरणज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुभव के विना तज्जन्य संस्कार भी सम्भव नहीं होता है।

शङ्का–जैसे वृत्ति के विना भी सुखादि साक्षिभास्य हैं, उसी प्रकार वृत्ति के विना सुषुप्ति में **'स्वाप'** को साक्षिभास्य स्वीकार कर (जाग्रदावस्था में) स्वापविषयक स्मरण को उपपन्न मानना चाहिये। (इस प्रकार सुषुप्ति में चित्त की निद्रावृत्ति नहीं माननी पड़ेगी)।

समाधान–पूर्वपक्षी के अनुसार इत्याकारक शंका करके भाष्यकार उसका समाधान करते हैं–**'तदाश्रिता इति।'** यदि तमोद्रव्यविषयिणी स्मृतियाँ भी चित्ताश्रित न हों तो **'अन्यदृष्ट'** अर्थात् साक्षी द्वारा दृष्ट का 'अन्य' अर्थात् चित्त के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता है, (क्योंकि अनुभव और स्मरण में वैयधिकरण्य नहीं होता है)।

शङ्का–(अनुभव और स्मरण की उक्त व्यधिकरणप्रधान अनुपपत्ति के वारण के लिये यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि) स्वापानुभव के समान तद्विषयक स्मरण को भी साक्षिभास्य मान लिया जाय?

---

1. क घ च छ – **सति**, ग – **असति**, ख – **सति/असति** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ – **स्वापस्य**, ग – **स्वीयस्य**, ख – **स्वापस्य/स्वीयस्य** नोपलभ्यते।

समाधान–पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि साक्षी में संस्कार तथा स्मृत्याख्य परिणाम दोनों सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार '**निद्रा**' के चित्तवृत्तित्व की स्थापना हो जाने के पश्चात् वार्त्तिककार निद्राख्यवृत्ति के निरोध को शंकासमाधानपूर्वक स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु निद्रावृत्तिरपि तमस्येकाग्रा विषयदुःखशून्या चेति सा किमर्थं निरोद्धव्येत्याशङ्क्याह– सा चेति। इतरवृत्तिवत् सुखदुःखमोहात्मकत्वेन समाधिप्रतिपक्षत्वेन च निद्राऽपि समाधौ निरोद्धव्येत्यर्थः॥१०॥

शङ्का–तमोमयी निद्रावृत्ति (मात्र तमोद्रव्य विषयिणी होने से) एकाग्र तथा विषयजन्य दुःख से शून्य है–अतः ऐसी निद्रावृत्ति किस कारण से निरोध के योग्य है?

समाधान–ऐसी आशंका करके भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**सा चेति**।' सुख-दुःख-मोहात्मक होने से तथा समाधि की प्रतिबन्धक होने से चित्त की अन्य वृत्तियों की भाँति निद्रावृत्ति भी समाधि के इच्छुक के लिये निरोद्धव्य है॥१०॥

योगसूत्रम्

अनुभूतविषया[1]संप्रमोषः स्मृतिः॥११॥

अनुभूत विषय का असम्प्रमोष अर्थात् तदनुरूप आकार से युक्त वृत्ति 'स्मृति' कहलाती है॥११॥

व्यासभाष्यम्

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्[2]तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र [3]ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। [4]ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाश्चैताः[5] स्मृतयः

---

1. **असंप्रमोषा**–इति पाठान्तरम्।
2. क च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – तत्, ख ग घ प फ र – **तथा**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **ग्रहणाकार**$_0$, थ – **ग्रहणाकारा**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **ग्राह्याकार**$_0$, थ – **ग्राह्याकारा**।
5. ग च छ ज झ त ध द ध न भ म य – **चैताः** उपलभ्यते, क ख घ प फ ब र – **चैताः** नोपलभ्यते।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात्[1]प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःख-मोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति॥११॥

(स्मृति के समय) क्या चित्त घटादिरूप विषय के ज्ञान का स्मरण करता है अथवा घटादि विषय का? (उत्तर है)–ग्राह्य विषय से उपरक्त होने पर भी प्रत्यय (विषयानुभव) ग्राह्य और ग्रहण इन दोनों के स्वरूप को निर्भासित अर्थात् प्रकाशित करता है और उसी प्रकार के संस्कार को भी उत्पन्न करता है। और वह (ग्राह्यग्रहणोभय) संस्कार अपने उद्बोधक से प्रेरित होकर अपने समान आकार वाली ही विषयविषयक और ज्ञानविषयक (ग्राह्यग्रहणोभयविषयक) स्मृति को उत्पन्न करता है अर्थात् चित्त विषय और विषय के ज्ञान इन दोनों का स्मरण करता है। (अनुभव और स्मृति में अन्तर भी है)–इनमें अनुभव ज्ञानाकारप्रधान होता है, जब कि स्मृति विषयाकारप्रधान होती है। यह स्मृति दो प्रकार की है–भावितस्मर्तव्या (मिथ्या पदार्थ का स्मरण करने वाली) तथा अभावितस्मर्तव्या (यथार्थ पदार्थ का स्मरण करने वाली)। स्वप्नावस्था में स्मृति अयथार्थ विषय वाली होती है और जाग्रत् अवस्था में स्मृति का विषय यथार्थ रहता है। (स्मृति वृत्ति का उल्लेख सबसे अन्त में इसलिये किया गया क्योंकि)–सभी स्मृतियाँ; प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिजन्य अनुभव से उत्पन्न होती हैं। ये सभी वृत्तियाँ सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक होती हैं। सुख, दुःख और मोह का व्याख्यान क्लेशों के प्रसंग में (विस्तार से) किया जायेगा। सुख का अनुगामी राग है, दुःखानुवर्ती द्वेष है और मोह तो अविद्या ही है। इन सभी वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। इनका निरोध होने पर सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है॥११॥

तत्त्ववैशारदी

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। प्रमाणादिभिरनुभूते विषये योऽसंप्रमोषोऽस्तेयं सा स्मृतिः। संस्कारमात्र[2]जस्य हि ज्ञानस्य संस्कारकारणानुभवावभासितो विषय आत्मीयः, तदधिकविषयपरिग्रहस्तु संप्रमोषः स्तेयम्।[3] कस्मात्? सादृश्यात्, मुष स्तेये इत्यस्मात्सं-

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य र – **प्रभवन्ति,** घ प फ – **भवन्ति।**
2. क ख घ च छ ज झ त न – **जस्य,** ग थ द ध – **जन्यस्य।**
3. क ख ग छ ज झ त थ द ध – **स्तेयः,** घ च न – **स्तेयम्।**

प्रमोषपदव्युत्पत्तेः। एतदुक्तं भवति–सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति। स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति। तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया। सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति।

सूत्र है–'**अनुभूतेति**।' प्रमाणादि वृत्तियों के द्वारा ज्ञात '**विषय**' का जो असम्प्रमोष= अस्तेय= अपृथक्करणत्व है, उसे '**स्मृति**' वृत्ति कहते हैं। अर्थात् अनुभूत विषय-विषयक ज्ञान को '**स्मृति**' कहते हैं। संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला स्मरणात्मक ज्ञान; संस्कार के कारणभूत अनुभव के द्वारा ज्ञात विषय को अपना विषय बनाता है। (अर्थात् अनुभूत विषय ही '**स्मृति**' की वंशानुगत सम्पत्ति है, जिसमें 'स्मृति' वृत्ति का स्वामित्व है–यही अनुभूतविषयासम्प्रमोषत्व है)। अनुभूत विषय से अधिक (अननुभूत) विषय का '**स्मृति**' द्वारा ग्रहण किया जाय तो यह सम्प्रमोष=स्तेय कहलाता है (अर्थात् वंशानुगत विषय-सम्पत्ति का अतिक्रमण कर यदि स्मृति तदतिरिक्त अननुभूत विषयग्रहण का प्रयास करती है, तो यह उसका चौर्य कर्म कहलाता है, क्योंकि अननुभूत विषय में '**स्मृति**' का अधिकारत्व=स्वामित्व नहीं है)।

शङ्का–स्मृतिवृत्ति द्वारा अननुभूत विषय-ग्रहण को 'सम्प्रमोष'' अर्थात् स्तेय क्यों कहते हैं?

समाधान–चौर्य की सदृशता के कारण '**सम्प्रमोष**' को स्तेय कहते हैं, क्योंकि '**मुष स्तेये**' धातु से '**सम्प्रमोष**' पद निष्पन्न होता है। (सम्+प्र+मुष्+घञ् पूर्वक '**सम्प्रमोष**' शब्द बनता है)। अभिप्राय यह है–स्मृतिभिन्न सभी प्रमाणादि वृत्तियाँ अनधिगत=अज्ञात पदार्थ को सामान्यरूप से अथवा विशेषरूप से जानती हैं। (उदाहरणार्थ प्रत्यक्षवृत्ति पदार्थ के विशेष रूप को जानती है और अनुमानवृत्ति पदार्थ के सामान्य रूप को ग्रहण करती है)। किन्तु स्मृति वृत्ति (अपने पूर्ववर्ती अनुभव के द्वारा) अनुभूत विषय की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती है। (शंका है कि स्मृतिपथ में क्या सकल रूप से अनुभूत विषय उपस्थित होता है अथवा कुछ न्यून रूप से? इसमें क्या नियम है?–इसी सन्देह को ध्यान में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार द्वारा स्पष्टीकरण किया जा रहा है–यह स्मृतिवृत्ति '**सम्पूर्ण**' अनुभूतविषयावगाहिनी हो सकती है अथवा '**किञ्चिद्**' अनुभूतविषयावलम्बिनी, किन्तु अनुभूतविषयाधिक-विषयिणी (अननुभूतविषयिणी) नहीं हो सकती है। यही स्मृतिवृत्ति का प्रमाणादि वृत्तियों से अन्तर है।

बालप्रिया–

'**तदूनविषया वा**'='**पूर्वानुभूतादूनविषया वा**'। सूत्रगत '**असम्प्रमोष**' शब्द से '**स्मृति**' में अनुभूत विषय से अधिक विषय का परिग्रहाभाव ही बतलाया गया है न कि

'ऊनविषयग्रहाभाव'। फलतः **'प्रमुष्टतत्ताकस्मृतिः'**–इत्याकारक स्मृति का लक्षण भी संगृहीत हो जाता है। **'तदूनविषया'** का उदाहरण समूहालम्बनात्मक स्मरणज्ञान है, क्योंकि समूहालम्बनज्ञानजन्य संस्कार द्वारा आंशिक रूप से स्मरणोद्बोध होता है।

'न तु तदधिकविषया'–स्मरणज्ञान में जहाँ अननुभूत विषय की दृष्टि से अधिकविषयत्व की प्रतीति होती है, वहाँ भी विभिन्नकालीन अनुभवजन्य संस्कारों का एक साथ उद्बोध समझना चाहिये। किन्तु स्मरणज्ञान कभी भी अनुभूतविषय की परिधि का उल्लंघन नहीं करता है।

सम्प्रति, स्मृति के 'विषय' का अनुभव के विषय से आन्तरिक अन्तर को स्फुट करने के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

विमृशति–किं प्रत्ययस्येति। ग्राह्यप्रवणत्वादनुभवस्य स्वानुभवाभावात्तज्जः स[1] संस्कारो ग्राह्यमेव स्मारयतीति प्रतिभाति।[2] मे अनुभवमात्रजनितत्वाच्चानुभवमेव वेति। विमृश्योपपत्तित उभयस्मरणमे[3]वावधारयति–ग्राह्योपरक्त इति। ग्राह्यप्रवणतया ग्राह्योपरक्तः। परमार्थतस्तु ग्राह्यग्रहणे एवोभयं तयोराकारं स्वरूपं निर्भासयति प्रकाशयति। [4]स्वव्यञ्जनकारणमञ्जनमाकारो यस्य स तथोक्तः। स्वकारणाकार इत्यर्थः। [5]स्वकारणाकारव्यञ्जकमुद्बोधकम्, तेनाञ्जनं फलाभिमुखीकरणं यस्येति वेत्यर्थः।

भाष्यकार (परीक्षणार्थ) विषय को उठाते हैं–**किं प्रत्ययस्येति।**'

शङ्का–(प्रश्न है कि स्मरणज्ञान के विषय का स्वरूप क्या है)-अनुभव ग्राह्यप्रवण होता है अर्थात् ज्ञान सविषयक होता है, किन्तु विषयानुभव के पश्चात् (तृतीय क्षण में) अनुभव (ज्ञान) नष्ट हो जाता है। इसलिये अनुभवजन्य संस्कार क्या **'ग्राह्य'** विषय का ही स्मरण अर्थात् प्रतिभान कराता है?– यह प्रथम विकल्प है। अथवा अनुभवमात्र से उत्पन्न होने के कारण संस्कार **'अनुभव'** अर्थात् प्रत्ययज्ञान का ही स्मरण कराता है?–यह द्वितीय विकल्प है।

---

1. थ द ध – **सः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सः** नोपलभ्यते।
2. त द ध ट ठ ड ढ च छ ज ध न – **प्रतिभाति** उपलभ्यते, ख – **प्रतिभाति** नोपलभ्यते।
3. थ द ध – **एव** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **एव** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द ध – **स्वव्यञ्जकं कारणमञ्जनम्**, थ – **स्वव्यञ्जकं कारणम्**, न – **स्वव्यञ्जनकारणमञ्जनम्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – **स्वकारणाकारव्यञ्जकमुद्बोधकं तेनाञ्जनम्**, थ द ध – **यद्वा व्यञ्जकमुद्बोधकं=अञ्जनम्**।

समाधान—पूर्वपक्षी की उक्त शंका पर विचार करके औचित्य (युक्ति) के आधार पर भाष्यकार '**ग्राह्यग्रहणोभयात्मक**' स्मरण (अनुभवजन्यसंस्कार ग्राह्यग्रहणोभयविषयक होता है) के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक बतलाते हैं—'**ग्राह्योपरक्त इति।**' ग्राह्याभिमुख होने से प्रत्यय (ज्ञान) ग्राह्योपरक्त ही होता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से अनुभव (प्रत्यय) ग्राह्यग्रहणोभयात्मक है। अतः ग्राह्य तथा ग्रहण दोनों के आकार अर्थात् स्वरूप का प्रकाशन (निर्भास) करता है। अपने अभिव्यञ्जकीभूत कारणरूप अनुभव से उत्पन्न संस्कार भी अपने कारणाकार अर्थात् ग्राह्यग्रहणोभयाकारात्मक होता है और वह भी कारणाकार (ग्राह्यग्रहणोभयाकाररूप ज्ञान) का उद्बोधक होता है। फलतः संस्कार अपने समान आकार वाली अर्थात् विषय और ज्ञान उभय विषय वाली, स्मृति को उत्पन्न करता है। इससे संस्कार में फलाभिमुखकरणत्व है।

बालप्रिया—

'**किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति**'—स्मरणार्थक 'स्मृ' धातु से '**स्मरति**' यह क्रिया पद निष्पन्न होता है। अतः स्मरणार्थक '**स्मृ**' धातु के योग से '**प्रत्ययस्य**' में 'कर्म' के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। तदर्थ सूत्र है—'**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**'। अतः उक्त वाक्य का अर्थ है—'**चित्तं किं ज्ञानं स्मरति, किं विषयं स्मरति**'—अर्थात् चित्त क्या 'ज्ञान' का स्मरण करता है अथवा '**विषय**' का स्मरण करता है? यहाँ इतना और समझना चाहिये कि उक्त दो विकल्पों से तृतीय विकल्प का भी अध्याहार हो जाता है। तृतीय विकल्प है—'**किमुभयं स्मरति।**' इस तृतीय विकल्प के अध्याहार का कारण यह है कि सिद्धान्ततः स्मृति को '**ग्राह्यग्रहणोभयविषयक**' प्रतिपादित किया जायेगा।

'**ग्राह्योपरक्तः**'—भावार्थ यह है—यद्यपि ज्ञानानुभव के अभाव से (ज्ञान के त्रिक्षणावस्थायी होने से) '**अयं घटः**' में '**प्रत्यय**' ग्राह्योपरक्त होकर ही प्रतीत होता है तथापि '**घटमहं जानामि**' इत्याकारक अनुव्यवसाय ज्ञान में '**ग्राह्य**' और '**ग्रहण**' दोनों की ही प्रतीति होती है। इससे '**प्रत्यय**' अर्थात् अनुभव '**ग्राह्यग्रहणोभयाकार**' का ही निर्भासक होता है। और वह अनुभव स्वजातीय अर्थात् ग्राह्यग्रहणोभयाकार वाले ही संस्कार को उत्पन्न करता है और यह उभयविषयक (ग्राह्यग्रहणोभयविषयक) संस्कार उद्बोधक सामग्री से फलाभिमुख होता हुआ स्वसमानाकार वाली ही ग्राह्यग्रहणोभयविषयिणी '**स्मृति**' को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अनुभव, अनुभव-जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति में समानाकारता होने के कारण ही इनमें कार्यकारणभाव की कल्पना की गई है।

अनुभव, संस्कार और स्मरण की समानाकारता के विषय में प्रतिपादित उक्त न्याय, पूर्वपक्षी के अन्तःकरण में एक नवीन जिज्ञासा को जन्म देता है। अतः

पूर्वपक्षी की ओर से नूतन शङ्का के उपस्थापनपूर्वक उसका समाधान पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु यदि कारणविचारणे बुद्धिस्मरणयोः सारूप्यम्, कस्तर्हि भेद[1] इत्यत आह–तत्र ग्रहणेति। ग्रहणमुपादानम्। न च गृहीतस्यो[2]पात्तस्योपादानं संभवति। तदनेनानधिगतबोधनं बुद्धिरित्युक्तम्। ग्रहणाकारो ग्रहणरूपं पूर्वं प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता। विकल्पितश्चायमभेदेऽपि बुद्धिग्रहणयोः[3] गुणप्रधानभाव इति। ग्राह्याकारः पूर्वः प्रथमो यस्याः सा तथोक्ता। इदमेव च ग्राह्याकारस्य ग्राह्यस्य पूर्वत्वं यद्वृत्त्यन्तरविषयीकृतत्वमर्थस्य। तदनेन वृत्त्यन्तरविषयीकृत-गोचरा स्मृतिरित्युक्तं भवति। सोऽयमसंप्रमोष इति।

शङ्का–कारणवाद पर विचार करने पर बुद्धि (अनुभव) और स्मरण (स्मृति)–इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में यदि समानता (सरूपता, समानविषयाकारता) है, तो फिर इन दो प्रकार के ज्ञानों में अन्तर क्या है? अर्थात् अनुभव और स्मरण दोनों के एकरूप होने से उनमें भेदविवक्षा करना व्यर्थ है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तत्र ग्रहणेति**'। यहाँ (भाष्यस्थ) '**ग्रहण**' शब्द का अर्थ '**उपादान**' अर्थात् प्राप्त करना (अधिग्रहण करना) है और गृहीत अर्थात् उपात्त वस्तु का पुनः उपादान संभव नहीं है अर्थात् प्राप्त वस्तु के लिये पुनः प्राप्ति की बात नहीं रहती है। इसलिये अनधिगत तत्त्व के ज्ञान को '**बुद्धि**' (अनुभव) कहते हैं। यह '**ग्रहणाकार**' अर्थात् ग्रहणरूप, जिसमें '**पूर्व**' अर्थात् प्रधान रहता है, उस प्रकार की 'बुद्धि', '**ग्रहणाकारपूर्वा**' कहलाती है। (जिज्ञासा है कि बुद्धि और ग्रहण में कथित गौणप्रधानभाव की स्थिति वास्तविक है अथवा काल्पनिक? उसी का उत्तर देते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)–'**बुद्धि**' और '**ग्रहण**' में अभेद होने पर भी गौण-प्रधान-भाव से कथित भेद को '**राहोः शिरः**' के समान कल्पित समझना चाहिये। अर्थात् विकल्पवृत्ति पर आधारित समझना चाहिये अर्थात् '**बुद्धि**' और '**ग्रहण**' में कल्पित भेद को '**विकल्पवृत्ति**' का दृष्टान्त समझना चाहिये।

(बुद्धि=अनुभव के लक्षण '**ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः**' की व्याख्या हो जाने के पश्चात् स्मृति के तथाकथित लक्षण '**ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः**' को स्पष्ट किया जा रहा है)–जिसका '**ग्राह्याकार**' अर्थात् ग्राह्यरूप 'पूर्व' अर्थात् प्रथम अर्थात् प्रधान रहता है, उस प्रकार की '**स्मृति**' कही जाती है। और ग्राह्याकार के ग्राह्यत्व का '**पूर्वत्व**' अर्थात्

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **भेदः** थ द ध – **विशेषः**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **उपात्तस्य** उपलभ्यते, थ द ध – **उपात्तस्य** नोपलभ्यते।
3. थ द ध – **बुद्धिग्रहणयोः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **बुद्धिग्रहणयोः** नोपलभ्यते।

प्रधानत्व यही है कि **'ग्राह्य'** पदार्थ प्रमाणादि वृत्त्यन्तरों का विषय हो चुका रहता है। अतः वृत्त्यन्तर से विषयीकृत (अनुभूत) पदार्थ को विषय करने वाली वृत्ति **'स्मृति'** कहलाती है। और यही स्मृतिवृत्ति का (सूत्रकार द्वारा कथित) **'असम्प्रमोषत्व'** है। (इस प्रकार कार्यकारण के सिद्धान्त पर स्थापित 'समानविषयाकार' अनुभव और स्मरण का भेद स्पष्ट हो जाता है)।

स्मृति में **'असंप्रमोष'** की मान्यता को सुनकर पूर्वपक्षी स्मृति में **'संप्रमोष'** की स्थिति को समाविष्ट करने के लिये शंका करता है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वस्ति–स्मृतेरपि संप्रमोषः। दर्शयति हि पित्रादेरतीतस्य देशकालान्तरानुभूतस्याननु-भूतचरदेशकालान्तर[1]संबन्धं स्वप्न इत्यत आह–सा च द्वयीति। भावितः कल्पितः स्मर्तव्यो यया सा तथोक्ता। अभावितोऽकल्पितः पारमार्थिक इति यावत्। नेयं स्मृतिः, अपि तु विपर्ययः, तल्लक्षणोपपन्नत्वात्। स्मृत्याभासतया तु स्मृतिरुक्ता प्रमाणाभासमिव प्रमाणमिति भावः।

शङ्का–(**'स्मृति'** केवल अनुभूतविषयक ही नहीं होती है, अपितु अपने जनक अनुभव के विषय से अधिक (अननुभूत) विषय को ग्रहण करने वाली होने से) स्मृति में **'सम्प्रमोषत्व'** (चौर्य) भी है। जैसे स्मृतिवृत्ति देशकालान्तर में अनुभूत मृत पिता आदि का स्वप्न में अननुभूत देशकालान्तर के साथ सम्बन्ध स्थापित कराती है।

समाधान–इस पर (शंका को सिद्धान्त में प्रकारान्तर से समाविष्ट करते हुए) भाष्यकार कहते हैं–**सा च द्वयीति।** जिससे **'भावित'**=कल्पित अर्थात् मिथ्या पदार्थ का स्मरण होता है, उसे **'भावितस्मर्तव्या'** स्मृति कहते हैं और जिससे **'अभावित'**= अकल्पित अर्थात् वास्तविक पदार्थ का स्मरण होता है, उसे **'अभावितस्मर्तव्या'** स्मृति कहते हैं।

शङ्का–(स्मृति में **'असंप्रमोषत्व'** के निर्वाह के लिये–पूर्वपक्षी द्वारा स्मृति में उत्थित **'संप्रमोषत्व'** की उक्त आशंका को–सिद्धान्ती ने स्मृति को **'भावितस्मर्तव्या'** भेद में अन्तर्हित करने का जो प्रयास किया है, उससे दूसरी आशंका जन्म धारण करती है। आशंका का स्वरूप इस प्रकार है)–उपरिवर्णित यह **'भावितस्मर्तव्या'** स्मृति ज्ञानरूप नहीं अपितु विपर्ययज्ञान रूप है, क्योंकि इसमें विपर्ययज्ञान (विपर्ययवृत्ति) का **'मिथ्यात्व'** रूप लक्षण घटित हो रहा है। अर्थात् भावितस्मर्तव्य ज्ञान विपर्ययरूप है, न कि स्मरणरूप।

समाधान–ऐसी बात नहीं है। वस्तुस्थिति यह है जिस प्रकार रज्ज्वादि में मिथ्याभूत सर्पादि पदार्थ का अनुभव, अनुभवरूप नहीं अपितु अनुभवाभास है। अर्थात्

---

1. क च छ – **सम्बन्धः**, ख ग घ ज झ त थ द ध न – **सम्बन्धम्।**

विपर्यय प्रमाण नहीं अपितु प्रमाणाभास है। उसी प्रकार स्वप्न में होने वाली **'भावितस्मर्तव्या'** रूप जो स्मृति है, वह स्मृति नहीं अपितु स्मृत्याभास है। अर्थात् संस्कारजन्य होने से वह स्मृति सदृश प्रतीत होती है। अतः वह विपर्ययरूप नही है।

बालप्रिया–

स्वाप्निक वृत्ति को लेकर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

शङ्का–जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में प्रमाणादि सभी वृत्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार क्या स्वप्न में स्मृत्यतिरिक्त प्रमाणादि सभी वृत्तियाँ भी होती हैं अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष–'नेयं स्मृतिरपितु विपर्ययः'–स्वप्न में स्मृतिवृत्ति को ही स्वीकार किया जाय तो स्वप्न में **'अयमश्वः धावति'** इत्यादि अनुभवात्मक ज्ञान का उदय नहीं होगा और न ही स्वप्न से उत्थित व्यक्ति को **'राजनमद्राक्षम्'** इत्यादि स्मरणात्मक ज्ञान हो सकेगा। क्योंकि स्मृति वर्तमानकालिक तथा अननुभूत पदार्थविषयक नहीं, अपितु भूतकालिक अनुभूत पदार्थविषयक ही होती है। स्वप्नस्मृतिवाद के अनुसार **'सोऽश्वः'**, **'राजानमस्मार्षम्'** इत्याकारक ज्ञान (प्रतिपत्ति) ही सम्भव है। इसलिये स्वप्न में अपूर्व प्रातिभासिक पदार्थों (भावों) की सृष्टि होती है ऐसा कहना युक्तियुक्त है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जाग्रत् अवस्था में आदित्यादि प्रकाश तथा वागादि ज्योति विद्यमान रहती है। इसलिये जाग्रत् अवस्था में प्रकाशादि के कारण **'दर्शन' 'आसन'** आदि व्यवहार संभव हैं। फलतः जाग्रत् अवस्था में आत्मचैतन्य के कारण उक्त व्यवहार को सिद्ध करना सम्भव नहीं है। किन्तु स्वप्न में सूर्यादि ज्योति का अभाव रहने पर भी ज्ञानादि (ज्ञानेन्द्रियों की अनुभवादि क्रिया और कर्मेन्द्रियों की आसनादि शारीरिक क्रिया) का व्यवहार देखा जाता है। स्वप्नकालिक यह व्यवहार प्रकाशादि के कारण तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि तब प्रकाशादि का अभाव रहता है। अतः इस (व्यवहार) को आत्मचैतन्यनिमित्तक ही स्वीकार किया जाता है। इसी अभिप्राय से आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व (ज्योतिस्वरूपता) बतलाने के लिये अनेक श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नाङ्कित श्रुति को लिया जा सकता है–**'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'** अर्थात् 'स्वप्न में न रथ है, न रथयोग (सारथि) है और न ही मार्ग है, फिर भी रथ, रथयोग तथा मार्ग की सृष्टि होती है।' इस प्रकार श्रुतियाँ भी **'अपूर्व'** के द्वारा प्रातिभासिक रथादि सृष्टि का प्रतिपादन करती हैं। इस पद्धति से **'भावितस्मर्तव्या'** स्मृति का मूल्यांकन करने पर पूर्वपक्षी के अनुसार यह **'स्मृति'** रूप नहीं, अपितु **'विपर्यय'** रूप है। अतः **'भावितस्मर्तव्या'** का स्मृतित्वविधान अनुपपन्न है।

उत्तरपक्ष–'स्मृत्याभासतया तु स्मृतिरुक्ता'–पूर्वपक्षी के अनुसार **'भावितस्मर्तव्या'** को 'विपयर्य' रूप तो कथमपि नहीं कह सकते हैं, अपितु स्मृत्याभास होने से इसे स्मृति

ही कहा जाता है। क्योंकि इस (भावितस्मर्तव्या) में विषय सन्निकृष्ट नहीं रहता है, यह प्रमाणजन्य ज्ञान नहीं है और यह संस्कारजन्य होती है–इन तीन कारणों से **'भावितस्मर्तव्या'** के लिये **'स्मृत्याभास'** कथन युक्तियुक्त है। क्योंकि यह स्मृति की तरह अवभासित होती है। शारीरकभाष्य में भी **'स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्'** २/२/२९ स्वप्न ज्ञान को स्मृतिरूप ही बतलाया गया है। निष्कर्षतः स्वप्न में प्रमाणादि वृत्तियाँ तो नहीं होती हैं तथा **'भावितस्मर्तव्या'** के आधार पर पूर्वपक्षी ने स्वप्न में 'विपर्यय' वृत्ति के होने का जो सन्देह किया था वह भी निरस्त हो जाता है। किञ्च स्वप्न में **'भावितस्मर्तव्या'** नामक स्मृत्याभास का होना भी सिद्ध हो जाता है।

सम्प्रति, **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः** १/६ सूत्र में स्मृति को पञ्चम तथा अन्तिम स्थान पर रखने की युक्तियुक्तता पर विचार प्रस्तुत है–

तत्त्ववैशारदी

कस्मात्पुनरन्ते स्मृतेरुपन्यास इत्यत आह–**सर्वाश्[1]चैताः स्मृतय** इति। **अनुभवः** प्राप्तिः। **प्राप्तिपूर्वा वृत्तिः स्मृतिस्ततः स्मृतीनामुपजन इत्यर्थः।**

शङ्का–प्रमाणादि पांच वृत्तियों में **'स्मृति'** वृत्ति का सबसे अन्त में उल्लेख क्यों किया गया है?

समाधान–समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'सर्वाश्चैताः स्मृतय इति।' 'अनुभव'** शब्द का अर्थ **'प्राप्ति'** है और प्राप्तिपूर्विका वृत्ति **'स्मृति'** है। अतः स्मृतियों का उपजन अर्थात् उद्गम स्थल अनुभव है। (अर्थात् स्मृति अनुभवजन्य है। अतः सभी प्रकार के अनुभवों से स्मृति का उदय होता है। अतः उपसर्जन अर्थात् गौणरूप होने से भी स्मृतिवृत्ति का सबसे अन्त में उपस्थापन किया गया है। इतना और जान लेना आवश्यक है कि अनुभवजन्य स्मृति, स्मृत्यन्तर का कारण है। ऐसी स्थिति में 'पूर्व' स्मृति अनुभव रूप से **'पर'** स्मृति की जनक होती है। निष्कर्षतः समस्त स्मृतियाँ; प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृतिरूप अनुभवों से उत्पन्न होती हैं)।

प्रमाणादि पांच वृत्तियों के प्रतिपादन की उपसंहृति के अवसर पर एक बार पुनः **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** सूत्र द्वारा प्रतिपादित वृत्तिनिरोध से प्रमाणादि की अन्तःसंगति बैठाने के लिय विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु ये पुरुषं [2]क्लिश्यन्ति ते निरोद्धव्याः प्रेक्षावता। क्लेशाश्च तथा, न च वृत्तयः। तत्किमर्थमासां निरोध इत्यत आह–**सर्वाश्चैता** इति। **सुगमम्॥११॥**

---

1. घ च छ ज झ त न – **चैताः** उपलभ्यते, क ख ग थ द ध – **चैताः** नोपलभ्यते।
2. क च ज – **क्लिश्नन्ति**, ख ग घ छ झ त थ द ध न – **क्लिश्यन्ति**।

शङ्का–जो पुरुष को क्लेश प्रदान करते हैं, वे ही बुद्धिमानों के द्वारा निरोद्धव्य (निरोध योग्य) होते हैं। इस प्रकार का क्लेशदायकत्व अविद्यादि में निहित है, प्रमाणादि वृत्तियों में नहीं। अतः प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध का प्रयोजन क्या है?
समाधान–(प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के प्रयोजन को बतलाते हुए) भाष्यकार कहते हैं–'**सर्वाश्चैता इति**।' (तत्त्ववैशारदीकार के अनुसार) एतत्सन्दर्भीय भाष्य सुगम है। (भाष्य का तात्पर्य यह है कि त्रिगुणात्मिका बुद्धि की विस्तरविलासरूपा प्रमाणादि वृत्तियों का '**क्लेशत्व**' उनका प्राणसर्वस्व है और क्लेशमूलक वृत्तिनिरोध के पीठ पर ही चित्त में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग की प्राणप्रतिष्ठा होती है)॥११॥

योगवार्त्तिकम्

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। भाष्यानुसारेणास्य सूत्रस्यायमर्थः–[1]पूर्वमनुभूतौ यौ विषयौ वृत्तितदारूढार्थौ तयोरसंप्रमोषोऽस्तेयमनपहरणं धर्मधर्म्यभेदात्तद्वती तदुभयविषयिणीति यावत्, एवंभूता वृत्तिः स्मृतिरिति।

'**अनुभूतेति**।' व्यासभाष्य के अनुसार प्रस्तूयमान सूत्र का अर्थ यह है–'**अनुभूत विषय**' अर्थात् अनुभूत '**वृत्ति**' और अनुभूत वृत्त्यारूढ '**विषय**'–इन दोनों का जिसमें '**असंप्रमोष**' अर्थात् अपहरण नहीं होता है, उस वृत्ति को '**स्मृति**' कहते हैं। धर्म और धर्मी का अभेद होने से यह स्मृतिवृत्ति उभयविषयिणी होती है।
बालप्रिया–

'**धर्मधर्म्यभेदात्**'–भाव यह है कि धर्मीभूत चित्त का धर्म वृत्ति है। अतः चित्त और उसकी वृत्ति में धर्मधर्मिभावसम्बन्ध है। धर्मधर्मिभावसम्बन्ध सापेक्ष होता है। चित्त की वृत्ति को तद्विषय की दृष्टि से '**धर्मी**' तथा 'विषय' को 'वृत्ति' की दृष्टि से '**धर्म**' कहा जाता है। प्रकृत में वृत्तिरूप विषय की धर्मरूप धर्मिता कही गई है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार '**स्मृति**' लक्षण पर विचार करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्र प्रत्यभिज्ञाऽऽदिव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वमेव स्मृतिलक्षणम्, सूत्रकारेण तु स्मृतेः प्रायिकं स्वरूपमेवोक्तम्, तेन न प्रमुष्टतत्ताकस्मरणाव्याप्तिः।

'**प्रत्यभिज्ञा**' आदि ज्ञानों से '**स्मृति**' ज्ञान को व्यावृत्त (पृथक्) करने के लिये '**संस्कारमात्रजन्यत्व**' को ही '**स्मृति**' का लक्षण कहना चाहिये। अर्थात् '**संस्कारमात्रजन्यत्वं स्मृतित्वम्**' यह स्मृति का लक्षण है। सूत्रकार ने तो प्रकृत सूत्र के द्वारा स्मृति के स्वरूप को ही प्रायेण बतलाया है। अतः सूत्रकारकृत स्मृतिलक्षण की प्रमुष्टतत्ताक

---

1. क ख घ च छ – **पूर्वम्**, ग – **एवम्**।

स्मरण में अव्याप्ति नहीं समझनी चाहिये। (योगवार्त्तिककार की ओर से सूत्र की यह एक प्रकार की व्याख्या है)।

बालप्रिया–

'संस्कारमात्रजन्यत्वम्'–यह स्मृतिलक्षण **'प्रत्यभिज्ञा'** में इसलिये अतिव्याप्त नहीं होता है कि **'प्रत्यभिज्ञा'** तो संस्कारसचिव-इन्द्रियजन्या है, केवल संस्कारजन्या नहीं।

'स्मृति' लक्षण की द्वितीय प्रकार से व्याख्या करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अथवा सूत्रोक्तमेव लक्षणम्, तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम्। प्रमुष्टतत्ताकं तु संस्कारमात्रजन्यमपि ज्ञानमनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्, शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ स्मरामीति स्फुटं व्यवहारादर्शनात्।

अथवा (प्रकृत सूत्र को **'स्मृति'** का स्वरूपप्रतिपादक न मान कर लक्षणपरक ही मान लिया जाय अर्थात्) सूत्रोक्त ही स्मरण का लक्षण रहे। किन्तु सूत्रोक्त स्मृतिलक्षण में **'संस्कारमात्रजन्यत्व'** इस अंश को विशेषण रूप से सन्निविष्ट करना चाहिये। और संस्कारमात्रजन्य होते हुए भी **'प्रमुष्टतत्ताक'** ज्ञान को अनुभव के अन्तर्गत मानना चाहिये, क्योंकि जहाँ शब्दजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है, वहाँ **'स्मरामि'** इत्याकारक स्फुट (स्पष्ट) व्यवहार नहीं देखा जाता है।

बालप्रिया–

प्रमुष्टतत्ताकं ज्ञानम्–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र **'प्रमुष्टतत्ताक'** ज्ञान को स्मृत्यन्तर्गत मानते हैं, जब कि विज्ञानभिक्षु **'प्रमुष्टतत्ताक'** ज्ञान का अनुभव में प्रवेश करते हैं। स्मृति के विषय का स्वरूप बतलाते हुए वाचस्पति मिश्र ने **'तदूनविषया वा न तु तदधिकविषया'** इस शब्दावली का प्रयोग किया है। मिश्र को स्मृति में अननुभूत (अनुभव का विषय न बने हुए) अधिक विषय का ही परिग्रहाभाव मान्य है, न कि ऊनविषयग्रहाभाव। इससे मिश्र ने **'प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान'** को स्मृत्यन्तर्गत रखा है। विज्ञानभिक्षु ने **प्रमुष्टतत्ताकं तु संस्कारमात्रजन्यमपि ज्ञानमनुभवमध्ये प्रवेशनीयम्**–इस शब्दावली द्वारा स्पष्टतः **'प्रमुष्टतत्ताकं** ज्ञान को अनुभव के अन्तर्गत रखा है और इसमें हेतु यह दिया है कि शब्दजन्य पदार्थोपस्थिति में **'स्मरामि'** ऐसा व्यवहार नहीं होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार छठे और ग्यारहवें सूत्र में प्रतिपादित स्मृतिविषयक अन्तर को बतलाते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रमाणेत्यादिवृत्तिविभागसूत्रे तु संस्कारमात्रजन्यत्वगुणेन तादृशं ज्ञानं स्मृतिशब्दगृहीतमनेन च सूत्रेण मुख्यस्मृतिर्लक्षितेति। स्मृतेर्वृत्तितदर्थोभयविषयकत्व **सूत्रोक्तमवधारयितुं भाष्यकारो विमृशति—किं प्रत्ययस्येति। स्मृत्यर्थधातुयोगात् कर्मणि षष्ठी। चित्तं किं पूर्वानुभवरूपं प्रत्ययमपि स्मरति, आहोस्विद्विषयमात्रमित्यर्थः। तत्र स्मृतेरुभयविषयकत्वरूपमाद्यं पक्षं सिद्धान्तयितुमादावुभयस्मरणे कारणमुभयगोचरसंस्कारमुपपादयति—ग्राह्योपरक्त इत्यादिना। यतो ग्राह्योपरक्तो ज्ञानविशेषणतया घटादिभिरप्याकारितोऽतो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तदुभयाकारतया प्रसिद्धो यः प्रत्ययो घटं जानामीत्यनुव्यवसायः स तथाजातीयकं ग्राह्यग्रहणोभयाकारमेव संस्कारं जनयति, समानाकारत्वेनैव लाघवादनुभवसंस्कारस्मृतीनां कार्यकारणभावादित्यर्थः। नन्वत्र व्यवसायरूपवृत्तेः स्वप्रकाशत्वमेव निर्भासान्तविशेषणार्थः कथं नेष्यत इति चेत्? न; कर्मकर्तृविरोधेन वृत्तेः स्वविषयकत्वस्य सूत्रभाष्याभ्यां चतुर्थपादे निराकरिष्यमाणत्वात्। ननु किं व्यवसायस्य संस्कारजनकत्वमेव नास्ति? न[1] नास्ति, किंतु तत्संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिर्न भवति, प्रमुष्टतत्ताकस्य पराभिमतस्य स्मरणस्यास्माभिर्व्यवहारानुसारेणानुभवमध्य एव प्रवेशनादिति। नन्वस्तूभयविषयकसंस्कारस्ततः किमित्यत आह—स संस्कार इति। स चोभयविषयकसंस्कारो यदा स्वाभिव्यञ्जकेन कालादिनाऽभिव्यक्तो भवति तदा तदाकारां स्वसमानाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां तदुभयविषयिणीं स्मृतिं जनयतीत्यर्थः।**

प्रमाणादि (पञ्च) वृत्तियों के भेदप्रतिपादक सूत्र **'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'** (१/६) में **'संस्कारमात्रजन्यत्व'** साधन (गुण) से उत्पन्न हुए ज्ञान को **'स्मृति'** शब्द से कहा गया है और प्रस्तुत सूत्र के द्वारा **'मुख्य स्मृति'** का लक्षण किया गया है। **'वृत्ति'** अर्थात् ज्ञान और ज्ञानारूढ **'विषय'** दोनों को **'स्मृति'** ग्रहण करने वाली होती है। इस प्रकार स्मृति के सूत्रोक्त उभयविषयकत्व का निश्चय कराने के लिये भाष्यकार विचार कर रहे हैं—**'किं प्रत्ययस्येति।'** योगवार्त्तिककार भाष्य के **'किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति'** में प्रयुक्त षष्ठ्यन्त **'प्रत्ययस्य'** पद की व्याकरणसम्मत स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाँ स्मृत्यर्थक धातु के योग से कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। (तदर्थ पाणिनि सूत्र है-'अधीगर्थदयेशां कर्मणि')। वाक्य का अर्थ है—क्या चित्त पूर्वानुभवरूप प्रत्यय का भी स्मरण करता है अथवा विषयमात्र का? इन दो विकल्पों में से स्मृति वृत्ति अनुभूत **'प्रत्यय'** और **'विषय'** दोनों को अपने ज्ञान का विषय बनाती है। स्मृति में उभयविषयकत्व है, इस प्रथम पक्ष को सिद्ध करने के लिये उभयाकार स्मरण के प्रति कारणभूत उभयाकारविषयक संस्कार का उपपादन भाष्यकार करते हैं—

---

1. ग घ च छ — **न नास्ति** उपलभ्यते, क ख — **न नास्ति** नोपलभ्यते।

'**ग्राह्योपरक्त** इत्यादिना।' '**ग्राह्योपरक्त**' अर्थात् ज्ञान के विशेषण के रूप में घटादि ग्राह्य से भी आकारित, ग्राह्य तथा ग्रहण दोनों के आकार से भासित होने वाला अर्थात् उभयाकाररूप से प्रसिद्ध जो '**प्रत्यय**' अर्थात् 'घट को जान रहा हूँ'—इत्याकारक अनुव्यवसायज्ञान होता है, वह (ज्ञान) अपने अनुरूप ही ग्राह्यग्रहणोभयरूप संस्कार को उत्पन्न करता है। फलतः समानाकारत्वरूप से ही लाघव होने के कारण अनुभव, अनुभवजन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति में कार्यकारणभावसम्बन्ध है।

शङ्का—इस प्रसङ्ग में ('**अयं घटः**'—इत्याकारक) व्यवसायरूप वृत्ति में स्वप्रकाशत्व ही है। अतः व्यवसायरूप वृत्ति में '**ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भास**' पर्यन्त विशेषण को क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है?

समाधान—पूर्वपक्षी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कर्मकर्त्तृविरोध से वृत्ति के स्वविषयकत्व का (अर्थात् वृत्तिरूप कर्त्ता स्वयं अपने को विषयरूप कर्म भी बनाती है—इत्याकारक कर्मकर्त्तृविरोध का) चतुर्थ पाद में सूत्रकार तथा भाष्यकार द्वारा निराकरण किया जायेगा।

शङ्का—तो क्या व्यवसायज्ञान में संस्कारजनकता ही नहीं है अर्थात् व्यवसायज्ञान से संस्कार उत्पन्न नहीं होता है?

समाधान—व्यवसायज्ञान से संस्कारोत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा नहीं है। किन्तु व्यवसायज्ञानजन्य संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को '**स्मृति**' नहीं कहते हैं, क्योंकि अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्यता-प्राप्त '**प्रमुष्टतत्ताक स्मरण**' का हम लोग व्यवहार के आधार पर अनुभव में प्रवेश करते हैं अर्थात् प्रमुष्टतत्ताक ज्ञान स्मरणरूप नहीं, अपितु अनुभवरूप है—ऐसा मानते हैं।

शङ्का—भले ही अनुभव से ग्राह्यग्रहणोभयविषयक संस्कार का उत्पन्न होना माना जाय किन्तु इत्याकारक संस्कार से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**स संस्कार** इति।' अनुभवजन्य ग्राह्यग्रहणोभयविषयक संस्कार जब अपने '**अभिव्यञ्जक**' कालादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है, तब 'तदाकार' अर्थात् स्वसमानाकार ही '**ग्राह्यग्रहणोभयात्मिका**' अर्थात ग्राह्यग्रहणोभयविषयिणी स्मृति को उत्पन्न करता है।

सम्प्रति, '**अनुभव**' और '**स्मृति**' के अन्तर को प्रतिपादित किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

अनुभूतविषयासंप्रमोषं सूत्रोक्तं व्याख्यायानुव्यवसायतज्जन्यस्मरणयोर्विशेषमप्याह—तत्र ग्रहण इति। पूर्वं मुख्यं विशेष्यमिति यावत्, तयोः प्रत्ययस्मरणयोरत्यन्तं समानाकारत्वं न **मन्तव्यं यतस्तत्र तयोर्मध्ये बुद्धिरनुव्यवसायरूपा यथोक्तप्रत्ययो ग्रहणाकारविशेष्यिका भवति घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाये ज्ञानस्य घटांशे विशेष्यत्वात्; स्मृतिस्तु ग्राह्याकारविशेष्यिका**

भवति, स घट इत्येव स्मरणात्; तत्ता च पूर्व[1]ज्ञानत्वरूपा; अतः स्मृतौ ज्ञानस्य ग्राह्यं विशेष्यमिति। अयं चाकारभेदोऽनुभवसिद्ध इति भावः।

सूत्रवर्णित '**अनुभूतविषयासंप्रमोष**' पद की व्याख्या करके भाष्यकार अनुव्यवसाय-ज्ञान और तज्जन्य स्मरणज्ञान के वैलक्षण्य को भी बताते हैं–'**तत्र ग्रहण इति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**पूर्व**' शब्द का अर्थ है–मुख्य अर्थात् विशेष्य। (विशेष्य और विशेषण में विशेष्य मुख्य और विशेषण गौण होता है)। इन दोनों अनुभव और स्मरण में अत्यन्त समानाकारता नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि इन दोनों में से 'बुद्धि' अर्थात् अनुव्यवसायरूपा अनुभवात्मिका वृत्ति, ग्रहणाकारविशेष्यरूपा होती है। उदाहरणार्थ '**घटमहं जानामि**' अर्थात् 'मैं घट को जान रहा हूँ' इस अनुव्यवसायज्ञान में, ज्ञान में 'घट' भाग के प्रति विशेष्यत्व है। किन्तु स्मृतिवृत्ति ग्राह्याकारविशेष्यरूपा होती है, क्योंकि '**स घटः**' अर्थात् 'यह घट है'–इत्याकारक ही स्मरणज्ञान होता है, '**तत्ता**' तो पूर्वज्ञानत्वरूप होता है। अतः स्मृति में ज्ञान का विषयभूत '**ग्राह्य**' विशेष्य (मुख्य) होता है और 'ज्ञान' विशेषण गौण होता है। अनुव्यवसाय और स्मरण का इत्याकारक अन्तर अनुभवसिद्ध है।

बालप्रिया–

'**घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाये ज्ञानस्य घटांशे विशेष्यत्वात्**'–वाक्य का अर्थ है–'**अयं घट इति ज्ञानवानहम्**' अर्थात् 'यह घट है–इस ज्ञानवाला मैं हूँ।' इस वाक्य में ज्ञान '**विशेष्य**' और ग्राह्य घट '**विशेषण**' है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार स्मृति के भेदों पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्मृतेरवान्तरभेदं दर्शयति–सा च द्वयीति। भावित उद्भावितः सूचितः स्मर्त्तव्यार्थो ययेति भावितस्मर्त्तव्या, तद्भिन्ना चाभावितस्मर्त्तव्या। तयोरुदाहरणे दर्शयति–स्वप्न इति। स्वप्नदर्शनमेव हि भाव्यर्थसूचकतया शास्त्रे सिद्धं न तु जाग्रत्कालीना स्मृतिरिति।

भाष्यकार स्मृति के अवान्तरभेदों को प्रदर्शित करते हैं–'**सा च द्वयीति**।' (स्मृति दो प्रकार की है-पहली भावितस्मर्तव्या तथा दूसरी अभावितस्मर्तव्या)। जिसके द्वारा स्मर्तव्य पदार्थ '**भावित**' अर्थात् उद्भावित अर्थात् भावी पदार्थ को सूचित करता है, वह '**भावितस्मर्त्तव्या**' स्मृति कहलाती है। और इससे भिन्न स्मृति को '**अभावितस्मर्त्तव्या**' स्मृति कहते हैं। भाष्यकार, दोनों स्मृतियों के उदाहरणों को बतलाते हैं–'**स्वप्न इति**।' (स्वप्न में भावितस्मर्त्तव्या स्मृति और जाग्रदवस्था में अभावितस्मर्त्तव्या स्मृति होती है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर योगवार्त्तिककार कह रहे हैं कि)–शास्त्र में

---

1. क क ग घ – **ज्ञातत्व**0, च छ – **ज्ञानत्व**0, ख – **ज्ञातत्व**0/**ज्ञानत्व**0 नोपलभ्यते।

भाव्यर्थ अर्थात् भावी पदार्थ के सूचक रूप से स्वप्नदर्शन को ही मान्यता प्राप्त है, न कि जाग्रत्कालीन स्मृति को।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार '**भावितस्मर्त्तव्या**' स्मृति के स्मृतित्व को शंकोपस्थापन-पूर्वक सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु स्वप्ने पूर्वदृष्टत्वास्मरणात् संस्कारमात्रजन्यत्वाभावाच्च कथं स्मृतित्वमिति चेत्? न; अंशतस्तदुभयरूपत्वस्य स्वप्नज्ञानेष्वपि सत्त्वात् तादृशस्य स्वप्नांशस्यैवात्रोपन्यासादिति।

शङ्का–स्वप्न में न तो पूर्वदृष्ट अर्थात् पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरणज्ञान होता है और न ही स्वप्नज्ञान में संस्कारमात्रजन्यता है। अतः स्वप्नज्ञान का स्मृतित्व भला कैसे उपपन्न हो सकता है? अर्थात् स्वप्नज्ञान न तो संस्कारजन्य होता है और न ही अनुभूतविषयक होता है। अतः स्वप्नज्ञान को स्मृति कहना अनुपपन्न है।

समाधान–पूर्वपक्षी का वक्तव्य अनुचित है, क्योंकि स्वप्नज्ञान में भी पूर्वदृष्टत्व (अनुभूतविषयत्व) तथा संस्कारमात्रजन्यत्व दोनों आंशिक रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः इस प्रकार के स्वप्नांश का ही स्मृति के रूप में भाष्य में उपन्यास हुआ है। अर्थात् भावितस्मर्त्तव्या स्मृति को भाष्य में मान्यता प्राप्त हुई है।

सम्प्रति, वृत्तिप्रकरण में '**स्मृति**' का सबसे अन्त में वर्णन किये जाने पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

सर्ववृत्त्यन्ते स्मृतिवृत्तेरुपन्यासस्य बीजमाह–सर्वा इति। अनुभवात्=अनुव्यवसायात्, अनुभावादिति पाठे प्रभावादित्यर्थः।

(**शङ्का**–प्रमाणादि समस्त वृत्तियों के अन्त में स्मृतिवृत्ति के उपस्थापन का प्रयोजन क्या है?

समाधान–अन्तर्निहित इस शंका के निरसनार्थ) सब वृत्तियों के अन्त में स्मृति वृत्ति के प्रतिपादन के कारण को भाष्यकार बतलाते हैं–'**सर्वा इति**।' प्रमाणादि समस्त (पञ्च) वृत्तियों के 'अनुभव' अर्थात् अनुव्यवसायज्ञान से स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः सबसे अन्त में स्मृतिवृत्ति के उपपादन का प्रयोजन यही है। योगवार्त्तिककार भाष्य के भिन्न-भिन्न पाठों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि–'**अनुभवात्**' ऐसा पाठ उपलब्ध होने पर '**अनुव्यवसायात्**' अर्थ करना चाहिये और 'अनुभावात्' इत्याकारक समुपलब्ध पाठ का अर्थ है–**प्रभावात्**, अर्थात् प्रमाणादि पञ्च वृत्तियों के प्रभाव से स्मरणज्ञान का उदय होना। अतः स्मृतिवृत्ति को सब वृत्तियों के अन्त में उपन्यस्त किया गया है।

सम्प्रति, निखिल वृत्तियों के निरोध के कारण पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

यथोक्तानां वृत्तीनां निरोध्यत्वे बीजमाह–सर्वाश्चैता इति। एताः सर्वाः प्रमाणादिवृत्तयो बुद्धिद्रव्यस्य सुवर्णस्येव प्रतिमाऽऽदिवद्विषयाकारा द्रव्यरूपाः परिणामाः सुखदुःखमोहगुणका इत्यर्थः। बुद्धिवृत्तिर्हि रूपादिमती भार्येव सुखादिमती पुरुषस्य भोग्येति। अतो दुःखवत्त्वेन वृत्तयो निरोद्धव्या इत्यु[1]पसंहरिष्यति। ननु सुखवत्त्वेनोपादेयत्वमेव कुतो[2] न भवेदित्यत आह–सुखदुःखेति। क्लेशेषु क्लेशव्याख्यानसूत्रेषु व्याख्येयाः। व्याख्यानमेवाह–सुखानुशयी राग इत्यादि। सुखदुःखानुशयी सुखदुःखविषयकः। तथा च रागजनकतया दुःखवत्सुखमपि हेयम्, मोहस्त्वविद्यारूपतया शोकाद्यखिलदुःखनिदानत्वेन हेय इत्याशयः। एता इति। अतो दुःखात्मकत्वादेताः सर्वा निरोद्धव्या इत्यर्थः। प्रकरणार्थमुपसंहरति–आसामिति॥११॥

(**शङ्का**–वृत्तियों के निरोध का प्रयोजन क्या है?

समाधान–अन्तर्निहित इस शंका के निरसनार्थ) भाष्यकार प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध का कारण बतलाते हैं–'**सर्वाश्चैता इति**।' सुवर्ण के मूर्त्ति आदि परिणाम की भाँति पूर्वकथित ये सभी प्रमाणादि वृत्तियाँ बुद्धिरूप द्रव्य की सुख-दुःख-मोहात्मक विषय वाली द्रव्यारूप परिणाम हैं। रूपवती भार्या की भाँति सुखाद्यात्मिका बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) पुरुष के उपभोग के योग्य है अर्थात् पुरुष के भोग का साधन है। अतः दुःखदायी होने से वृत्तियाँ निरोद्धव्य हैं, ऐसा भाष्यकार अन्त में कहेंगे।

शङ्का–दुःखदायी होने से यदि वृत्तियाँ निरोद्धव्य हैं तो सुखदायी होने से उनकी उपादेयता ही क्यों न मान ली जाय? अर्थात् सुखदायी वृत्तियों का निरोध क्यों किया जाय?

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं- 'सुखदुःखेति।' वृत्तियों की सुख-दुःख-मोहात्मकता क्लेशप्रतिपादक सूत्रों में आगे बतलाई जायेगी। यहाँ नाममात्र के लिये ही भाष्यकार क्लेश का प्रतिपादन कर रहे हैं–'**सुखानुशयी राग** इत्यादि।' '**सुखदुःखानुशयी**' का अर्थ है–सुखदुःखविषयक। अर्थात् '**राग**' क्लेश सुखविषयक और '**द्वेष**' क्लेश दुःखविषयक होता है। जिस प्रकार दुःख द्वेष का जनक होता है उसी प्रकार सुख भी राग का जनक होने से हेय अर्थात् त्याज्य है। और मोह तो अविद्यारूप ही होने से शोकादि समस्त दुःखों का कारण है, अतः सर्वथा त्याज्य है। वृत्तियों की निरोद्धव्यता को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एता** इति।' अतः दुःखात्मक होने से पूर्ववर्णित

1. क ग घ च छ – **उपसंहरिष्यति**, ख – **उपसंहरति**।
2. क ख घ च छ – **कुतः**, ग – **कथम्**।

समस्त वृत्तियाँ निरोद्धव्य हैं। अर्थात् चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करना चाहिये। भाष्यकार प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हैं–'**आसामिति।**' वृत्तियों के निरुद्ध होने पर सम्प्रज्ञात समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है॥११॥

भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथासां निरोधे क उपाय इति?

तो फिर इन वृत्तियों के निरोध का कौन सा उपाय है? (उत्तर है)–

योगसूत्रम्

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥१२॥

अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है॥१२॥

व्यासभाष्यम्

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषय-निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन [1]विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्त[2]वृत्तिनिरोधः॥१२॥

चित्तरूपी नदी दो दिशा रूप धाराओं में बहती है। अर्थात् भीतर तथा बाहर दोनों तरफ बहने वाली है। वह आत्मकल्याण के लिये (भीतर की तरफ) बहती है और पाप अर्थात् जन्म, मरणादि भीषण कष्टों के लिये (बाहर विषय-संसार की ओर) बहती है। और जो चित्तरूपी नदी कैवल्याभिमुख होकर विवेकविषयमार्गगामिनी होती है अर्थात् विवेकविषय-रूपी मार्ग की तरफ बहा करती है, वह (कल्याण का कारण होने से) 'कल्याणवहा' कही जाती है। और जो संसाराभिमुख होकर अज्ञानविषयरूपी तुच्छ मार्ग की ओर बहती है, वह (दुःख का कारण होने से) 'पापवहा' कही जाती है। चित्तरूपी नदी के इन दोनों प्रवाहों में से बाह्य विषयाभिमुख प्रवाह को 'वैराग्य' के द्वारा रोका जाता है और सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप विवेकज्ञान के 'अभ्यास' से आत्मज्ञानाभिमुख अन्तःप्रवाह को प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य इन दोनों (साधनों) के अधीन है॥१२॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – विवेकस्रोतः, त – कल्याणस्रोतः।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – चित्त०, द – च तत्।

तत्त्ववैशारदी

निरोधोपायं पृच्छति—अथेति। सूत्रेणोत्तरमाह—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। अभ्यासवैराग्ययोर्निरोधे जनयितव्येऽवान्तरव्यापारभेदेन समुच्चयः, न तु विकल्प इत्याह— चित्तनदीति। प्राग्भारः प्रबन्धः। निम्नता गम्भीरता, अगाधतेति यावत्॥१२॥

चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय=साधन को पूछा जा रहा है—'**अथेति**।' अर्थात् इन वृत्तियों के निरोध का उपाय क्या है? सूत्र के द्वारा उत्तर दिया जा रहा है— '**अभ्यासेति**।' वृत्तिनिरोध की अवाप्ति में अर्थात् वृत्तिनिरोधविधया होने वाली योग-निष्पत्ति में अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों में अवान्तर व्यापार की भिन्नता होने से इनका (अभ्यास-वैराग्य का) समुच्चित हेतुत्व (सांघातिक उपायत्व) विवक्षित है न कि वैकल्पिक हेतुत्व। इसी (तथ्य को तथ्यीकृत करने के) लिये भाष्यकार ने बतलाया है—'**चित्तनदीति**।' यहाँ '**प्राग्भार**' शब्द का अर्थ '**प्रबन्ध**' अर्थात् नैरन्तर्य है, जिससे विषय से सम्बन्धित '**निम्नता**' अर्थात् गंभीरता और अगाधता आती है॥१२॥

बालप्रिया—

'**समुच्चयः न तु विकल्पः**'—जिस प्रकार नदी के तीव्र प्रवाह को सेतुबन्ध (पुल-निर्माण) द्वारा नियन्त्रित कर 'कुल्या' आदि माध्यम से क्षेत्राभिमुख कर तिर्यक् अथवा विपरीत प्रवाह वाला किया जाता है, उसी प्रकार '**वैराग्य**' द्वारा चित्तरूपी नदी के विषयप्रवाह (विषयोन्मुखता) को दमित=नियन्त्रित किया जाता है और योगाभ्यास द्वारा चित्तरूपी नदी की '**प्रशान्तवाहिता**' अर्थात् गभीरज्ञानप्रवहणता उन्मुख की जाती है। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोधार्थ 'द्वार' अर्थात् अवान्तर व्यापार के भेद से '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' की सांघातिक हेतुता प्रतिपादित है, न कि एक द्वारत्वेन व्रीहि और यव की भाँति विकल्प। अर्थात् मुमुक्षु को इन उपायों में से किसी एक उपाय के ग्रहण में ऐच्छिकता नहीं है, अपितु मोक्षार्थी के लिये दोनों उपायों के ग्रहण में अनिवार्यता है। स्वयं श्रीकृष्ण के शब्दों में—'**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**।' यहाँ '**च**' अव्यय समुच्चयबोधक है।

'**प्राग्भारः**'—जलप्रवहण के अयोग्य उच्चप्रदेश को '**प्राग्भार**' कहा गया है।

'**निम्नम्**'—जलप्रवहण के योग्य अधोदेश को '**निम्न**' शब्द से बतलाया गया है।

वस्तुनिष्ठ आत्मरूप और अनात्मरूप के भेदमार्ग (ज्ञानरूपी मार्ग) में प्रवाहित होने वाली चित्तनदी कल्याणमय मार्गों से होती हुई कैवल्यरूप गन्तव्य स्थल तक पहुँचती है और आत्मानात्म के अविवेक मार्ग (अज्ञानरूपी कुमार्ग) में प्रवाहित होने वाली चित्तनदी पापमय पथ से विषयोपभोग रूपी भूमि में चक्कर काटती रहती है॥१२॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं सामान्यतो योगस्य लक्षणं कृतमिदानीं तस्योपायं प्रतिपादयिष्यति सूत्रकारः; तत्र संक्षेपाद् उपायसारसंग्राहकं सूत्रमवतारयति–अथासामिति। अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। अभ्यासवैराग्ये व्याख्यास्येते, अभ्यासवैराग्ययोरवान्तरव्यापारभेदेन निरोधजनने समुच्चय एव न विकल्प इत्याह–चित्तनदीति। यथा नदी कदाचित् समुद्राभिमुखी वहति कदाचिच्च तद्वैपरीत्येन पृथिव्यभिमुखी वहति, अन्यथा समुद्रगमनमात्रेण शुष्येदेव एवं चित्तनद्यप्युभयतो वाहिनी। उभयतो वहनस्य प्रयोजनमाह–वहतीति। कल्याणं मोक्षस्तदर्थम्, पापं संसारस्तत्फलत्वात्तत्कारणत्वाद्वा तदर्थम्। तथा चोक्तम्–

प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय पराग्दृशाम्।
अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः ॥ इति॥

इस प्रकार सामान्य रूप से योग का लक्षण किया गया। अधुना सूत्रकार पतञ्जलि योग (की प्राप्ति) के उपाय को प्रतिपादित करेंगे। भाष्यकार यहाँ संक्षेप में योग के उपायसार के संग्राहक सूत्र को अवतरित करते हैं–'**अथासामिति**' सूत्र है–'**अभ्यासेति**।' भाष्यकार स्वयं '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' की व्याख्या करेंगे। वृत्तिनिरोधार्थ अवान्तरव्यापार के भेद से अभ्यास और वैराग्य का समुच्चित प्रयास ही उपदिष्ट हुआ है, न कि इनमें विकल्प (किसी एक उपाय के ग्रहण की ऐच्छिकता) अभिप्रेत है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं–'**चित्तनदीति**।' जिस प्रकार नदी कभी समुद्र की ओर प्रवाहित होती है और कभी उस दिशा से विपरीत पृथिवी दिशा की ओर प्रवाहित होती है। अन्यथा (पृथिव्यभिमुखी न होते हुए) समुद्राभिमुखी होकर ही प्रवाहित होने से नदी शुष्कता को प्राप्त हो जायेगी अर्थात् सूखकर उसे अस्तित्वविहीन हो जाना चाहिये। किन्तु ऐसी स्थिति नहीं आती है। उसका उभयमुखी प्रवाह दृष्टिगत होता है। उसी प्रकार चित्तरूपी नदी भी दो दिशाओं में प्रवहणशीला है। चित्त-नदी की उभयमुखी प्रवहणशीलता के उद्देश्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**वहतीति**।' यहाँ '**कल्याण**' शब्द का अर्थ है–'**मोक्ष**'। इस प्रकार चित्त-नदी की कल्याणाभिमुखता मोक्षप्रदा है। यहाँ '**पाप**' शब्द का अर्थ है–'**संसार**'। इस प्रकार चित्त-नदी की पापाभिमुखता संसारप्रदा है। इस प्रकार मोक्ष अथवा संसाररूप फल वाली अथवा तत्-तत् कारणों वाली होने से चित्त-नदी का प्रयोजन (अर्थ) बतलाया गया है। जैसा कि कहा गया है–'**प्रत्यग्दृशां...विरुद्धफलदो भवः**।' श्लोक का अर्थ है–'अपामार्ग की लता की तरह विरुद्ध फल देने वाला यह संसार अन्तर्दृष्टि वालों के मोक्ष और बहिर्दृष्टि वालों के बन्ध का कारण होता है।'

बालप्रिया–

'**अपामार्ग**'–(अप+मृज्+घञ्, कुत्वदीर्घ) चिचड़ा तथा एक विशेष प्रकार की लता को '**अपामार्ग**' कहते हैं।

चित्त-नदी का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

प्रवाहद्वयं विशिष्य दर्शयति–या त्विति। [1]**प्राग्भारा=अभिमुखी, विवेकविषयो निम्नो गमनमार्गो यस्या इत्यर्थः। जलस्य हि प्रवाहाभिमुखं वर्त्म नीचं भवतीति। तत्र=चित्तनद्यां वैराग्येण विषयमार्गगं वृत्तिस्रोतः खिलीक्रियते=अल्पीक्रियते; विवेकदर्शनस्याभ्यासेन च विवेकमार्गगं वृत्तिस्रोत उद्घाट्यते बलवत् क्रियते येन निरोधाख्ये कैवल्यसागरे विलीयत इत्यतोऽवान्तरव्यापारभेदेनोभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्यर्थः। तदुक्तं गीतायाम्–**

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥ इति।

अत्र विवेकदर्शनमात्रस्याभ्यासः प्राधान्येनोक्तः; आगामिसूत्रे निरोधसाधनानुष्ठान-सामान्यस्यैवाभ्यासत्वावगमादिति॥१२॥

सम्प्रति, भाष्यकार चित्त-नदी के प्रवाहद्वय का वैलक्षण्य प्रतिपादित करते हैं– 'या त्विति' भाष्य में प्रयुक्त '**प्राग्भार**' शब्द का अर्थ है–अभिमुख और '**निम्न**' शब्द का अर्थ है–गमनमार्ग। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ हुआ–जो कैवल्याभिमुखी विवेक-विषयमार्गीया है, वह '**कल्याणवाहिनी**' चित्त-धारा है और जो संसाराभिमुखी अविवेकविषयमार्गीया है, वह '**पापवाहिनी**' चित्त-धारा है)। जिस प्रकार जल की प्रवाहाभिमुखता (बहने की दिशा) नीचे की ओर सहज होती है, (उसी प्रकार चित्त-नदी का अज्ञानाभिमुखी होना सहज है)। चित्त-नदी की इन दो धाराओं में से विषयमार्गीय धारा के वृत्त्यात्मक प्रपात (प्रगाढ़विषयवृत्तित्व) को '**वैराग्य**' द्वारा अल्पप्राय अर्थात् क्षीणप्राय किया जाता है और विवेकमार्गीय धारा के विवेक-ख्यातिप्रधान स्रोत को सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के '**अभ्यास**' द्वारा प्रबल किया जाता है, जिससे चित्त-नदी, निरोधाख्य कैवल्यसमुद्र में विलीन हो सके अर्थात् साधक को मोक्ष प्राप्त करा सके। इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध अवान्तर क्रियाओं की भिन्नता के कारण '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' दोनों के अधीन है। ऐसा ही गीता में कहा गया है– '**असंशयं...गृह्यते**'' ६/३५। श्लोक का अर्थ है–'हे महाबाहो! यद्यपि मन की चञ्चलता

---

1. क ग घ च छ – **प्राग्भारा अभिमुखी विवेकविषयो निम्नो गमनमार्गो यस्या इत्यर्थः**, ख – **कैवल्यप्राग्भारा अभिमुख्यं यस्याः सा कैवल्याभिमुखी विवेकविषयो निम्नमार्गो यस्या इत्यर्थः।**

और दुर्निग्रहता में कोई संशय नहीं है, तथापि हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह होता है'।

प्रस्तुत सूत्र के व्याख्यान में मुख्य रूप से विवेकदर्शनप्रधान '**अभ्यास**' को बतलाया गया है, क्योंकि आगामी सूत्र में वृत्तिनिरोध के साधनानुष्ठान के रूप में सामान्यरूप से ही अभ्यास का परिचय प्राप्त होगा ॥१२॥

योगसूत्रम्

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥१३॥

उन (अभ्यास और वैराग्य) में से चित्त की स्थिरता के लिये किया गया प्रयत्न 'अभ्यास' कहलाता है॥१३॥

व्यासभाष्यम्

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः॥१३॥

राजस तथा तामस वृत्तियों से रहित चित्त के सात्त्विक एकाग्र वृत्ति-प्रवाह को 'स्थिति' कहते हैं। उस 'स्थिति' को बनाये रखने के लिये मानसिक उत्साह अथवा प्रयास को 'प्रयत्न' कहते हैं। और स्थिति को सम्पादित करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना 'अभ्यास' कहलाता है॥१३॥

तत्त्ववैशारदी

तत्राभ्यासस्य स्वरूपप्रयोजनाभ्यां लक्षणमाह—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। तद्व्याचष्टे—चित्तस्य इति। अवृत्तिकस्य=राजसतामसवृत्तिरहितस्य, प्रशान्तवाहिता=विमलता[1], सात्त्विकवृत्तिवाहितैकाग्रता स्थितिः, तदर्थ इति। स्थिताविति निमित्तसप्तमी व्याख्याता। यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति।

वृत्तिनिरोध के समुच्चित उपाय अभ्यास और वैराग्य में से अभ्यास का स्वरूप और प्रयोजन बतलाने के लिए सूत्रकार 'अभ्यास' का लक्षण करते हैं—**तत्रेति**।' भाष्यकार '**अभ्यास**' को बतलाते हैं—'**चित्तस्येति**।' '**अवृत्तिक**' अर्थात् राजस तथा तामस वृत्तिरहित चित्त की '**प्रशान्तवाहिता**' अर्थात् सात्त्विकवृत्ति की प्रवहणतारूप 'विमलता' अर्थात् निर्मलता को '**एकाग्रता**' कहते हैं। इसी (एकाग्रता) को '**स्थिति**' शब्द से सूत्र में कहा गया है। इस एकाग्रतारूप स्थिति के लिये किये जाने वाले '**यत्न**' (प्रयत्न) को '**अभ्यास**' कहते हैं। तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत '**स्थितौ**' पद के व्याकरणिक विभक्ति-

विपर्यय पर ध्यान आकृष्ट कराते हुए कहते हैं कि **'स्थितौ'** में **'निमित्त'** (एकाग्रतारूप निमित्त के) अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अर्थात् 'स्थिति रूप फल के लिये'–इस अर्थ में सप्तमी विभक्ति समझनी चाहिए। जिस प्रकार **'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'**–अर्थात् 'चर्म के लिए हाथी को मारता है'–वाक्य में **'चर्मणि'** में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति **'निमित्त'** (के लिये) अर्थ में प्रयुक्त है।

बालप्रिया–

अभ्यास के लक्षणपरक सूत्र में **'यत्न'**: पद के द्वारा अभ्यास का स्वरूप तथा **'स्थितौ'** पद के द्वारा अभ्यास का प्रयोजन विवक्षित है। **'तत्र'** पद से पुरुष की 'स्वरूपावस्थिति' संकेतित है। सब मिलाकर सूत्र का अर्थ हुआ–पुरुष की 'स्वरूपावस्थिति' के लिये चित्त की जो स्थिरता अपेक्षित है, तदर्थ किया जाने वाला **'यत्न'** ही **'अभ्यास'** कहलाता है। अर्थात् नैसर्गिक चपलता (स्वेच्छाचारिक अस्थिरता) के कारण बाह्य विषयाभिमुख हुए चित्त को भी **'सर्वथा निरोत्स्यामि** 'अर्थात् पूर्णरूप से निरुद्ध करुँगा' इस प्रकार के 'मानस उत्साह' की क्रियात्मक आवृत्ति को **'अभ्यास'** कहते हैं। सूत्रस्थ **'तत्र'** पद का 'अभ्यास और वैराग्य के मध्य में से' यह अर्थ भी किया जाता है।

'स्थितौ' इति निमित्तसप्तमी'–प्रश्न है कि **'स्थितौ'** में **'वैषयिकाधार'** अर्थ में सप्तमी विभक्ति मानी जाय अथवा 'निमित्त' अर्थ में सप्तमी विभक्ति समझी जाय? प्रथम पक्ष के अनुसार सूत्र में कर्मयोग का अभाव होने से **'स्थितौ'** में **'निमित्तार्थीय'** सप्तमी विभक्ति नहीं है, अपितु **'वैषयिकाधार'** अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग समझना चाहिये। द्वितीय पक्ष के अनुसार **'निमित्तकारण...'** वार्त्तिक के द्वारा **'निमित्त'** पद का अध्याहार करते हुए **'स्थितौ'** में निमित्तार्था सप्तमी विभक्ति माननी चाहिये। इस पक्ष के अनुसार **'यत्न'** में पुरुषकर्तृक करणक्रियानिरूपित कर्मत्व का योग है। अतः कर्मयोग से **'स्थितौ'** में **'निमित्त सप्तमी'** है, न कि **वैषयिकाधाररूप सप्तमी**। तदर्थ **'निमित्तात् कर्मयोगे'** वार्तिक स्मरणीय है। वार्तिक का अर्थ है–' कर्म के साथ यदि फल का योग हो तो निमित्त (फल) वाचक से सप्तमी विभक्ति की जाय। उदाहरणार्थ–

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

यह दृष्टान्त अर्थांश की दृष्टि से है, न कि लक्षणांश की दृष्टि से। वाचस्पति मिश्र द्वितीय पक्ष के पोषक हैं।

सम्प्रति, **'यत्न'** के पर्यायों पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

प्रयत्नमेव पर्यायाभ्यां विशदयति—वीर्यमुत्साह इति। तस्येच्छा[1]योनितामाह—तत्संपिपादयिषयेति। तदिति स्थितिं परामृशति। प्रयत्नस्य विषयमाह—तत्साधनेति। स्थितिसाधनान्यन्तरङ्गबहिरङ्गाणि यमनियमादीनि। साधनगोचरः कर्तृव्यापारो न फलगोचर इति[2]॥१३॥

भाष्यकार पर्यायों द्वारा **'प्रयत्न'** का विशदीकरण करते हैं—**'वीर्यमुत्साह इति।'** वीर्य और उत्साह **'यत्न'** के पर्याय हैं। यत्नेच्छा का कारण क्या है? इसे बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'तत्संपिपादयिषयेति।'** यहाँ 'तत्' शब्द से **'स्थिति'** का ग्रहण होता है। **'स्थिति'** को सम्पादित करने की इच्छा ही **'यत्न'** का कारण है। यह प्रयत्न किंविषयक है, इसे बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'तत्साधनेति।'** **'स्थिति'** (स्थैर्य) के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधनभूत यम, नियमादि ही **'यत्न'** के विषय हैं। अर्थात् प्रयत्न यमादिविषयक होता है। जिज्ञासा है कि यदि **'यत्न'** यमादिविषयक (यमादि के लिए) है तो प्रयत्न का फल यमादि को ही मान लिया जाय? इस अन्तर्निहित शंका के स्पष्टीकरणार्थ तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि कर्त्ता का साधनविषयक व्यापार फलविषयक नहीं होता है। अर्थात् साधक के **'यत्न'** द्वारा अनुष्ठित **'यमादि'** साधन स्वयं फलरूप नहीं हो सकते, अपितु **'स्थिति'** (चित्तस्थैर्य) रूप फल (निमित्त) के लिए वे साधनरूप ही हैं॥१३॥

योगवार्त्तिकम्

[3]अत्राभ्यासवैराग्ये क्रमाल्लक्षयति सूत्रजातेन—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। तत्राभ्यासवैराग्ययोर्मध्ये। चित्तस्येति। अवृत्तिकस्य वृत्त्यन्तरशून्यस्य न तु वृत्तिसामान्याभाववतः, स्थित्यनन्तरं संप्रज्ञातस्य समापत्तिसूत्रे भाष्यकारैर्व्याख्येयत्वात्। प्रशान्तवाहितेति। वृत्त्यन्तराभावात् प्रशान्ता हर्षशोकादितरङ्गरहिता, एकाग्रवृत्तिधारेत्यर्थः। शान्तिश्च तन्त्रेषूक्ता— महोपनिषद् 4-32

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति च स शान्त इति कथ्यते ॥ इति ॥

यहाँ पतञ्जलि अभ्यास और वैराग्य का लक्षण सूत्रसमूह के द्वारा क्रमशः करते हैं—**'तत्रेति।'** सूत्रगत **'तत्र'** शब्द से अभ्यास और वैराग्य को लिया गया है अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य में से प्रस्तूयमान सूत्र के द्वारा अभ्यास का लक्षण किया जा

---

1. क – **योनिजाम्**, ख ग च ज थ द ध न – **योनिताम्**, घ छ झ त – **योगिताम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति**, थ द ध – **इत्यर्थः**।
3. च छ – **अत्र** उपलभ्यते, क ख ग घ – **अत्र** नोपलभ्यते।

रहा है, यह बतलाना सूत्रकार को अभीष्ट है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**चित्तस्येति**।' यहाँ '**अवृत्तिक**' शब्द से चित्त की वृत्त्यन्तरशून्यता बतलाई गई है, न कि वृत्तिसामान्य का अभाव विवक्षित है। क्योंकि अवृत्तिक चित्त की '**स्थिति**' के अनन्तर प्राप्त होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि को भाष्यकार '**क्षीणवृत्तेः**' १/४१ इस समापत्ति सूत्र द्वारा बतलायेंगे। योगवार्त्तिककार भाष्य के अगले पद को उठाते हैं– **प्रशान्त- वाहितेति**।' वृत्त्यन्तराभाव से चित्त '**प्रशान्त**' अर्थात् हर्ष, शोकादि तरङ्गविरहित स्थिति वाला हो जाता है अर्थात् चित्त की एकाग्रवृत्त्यात्मक धारा प्रवाहित होती है। चित्त की शान्त स्थिति शास्त्रों में वर्णित है–'**श्रुत्वा...कथ्यते**'। श्लोक का अर्थ है–'शुभ और अशुभ को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, छोड़कर, सूँघकर जो न हर्षित होता है और न खिन्न होता है, उसे '**शान्त**' कहते हैं।'

बालप्रिया–

'**अवृत्तिकस्य वृत्त्यन्तरशून्यस्य न तु वृत्तिसामान्याभाववतः**'–सरलार्थ यह है–'नञर्थ छह प्रकार का है। तदर्थ निम्नाङ्कित श्लोक है–

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

प्रकृत में '**अवृत्तिक**' पद में '**अल्पार्थ**' में '**नञ्**' है। जिस प्रकार '**अलवणा यवागूः**' में नञ् अल्पार्थ है अर्थात् 'ईषल्लवण' यह '**अलवणा**' पद का अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी राजस तथा तामस वृत्तिरहित चित्त की **सत्त्ववृत्तिता** विवक्षित है। क्योंकि वृत्तिसामान्याभाव मानने पर चित्त की सम्प्रज्ञात समापत्ति उपपन्न न हो सकेगी।

सम्प्रति, सूत्रगत '**स्थितौ**' पद की व्याख्या प्रस्तुत हो रही है–

योगवार्त्तिकम्

स्थितिशब्दार्थं व्याख्याय सप्तम्यर्थं व्याचष्टे–तदर्थ इति। तथा च चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवदियं निमित्तसप्तमीति।

'**स्थिति**' शब्द के अर्थ की व्याख्या करने के लिए भाष्यकार '**स्थितौ**' पद के सप्तम्यर्थ ('**आधार**' अथवा '**निमित्त**' में से किस अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है) को बतलाते हैं–'**तदर्थ इति**।' जिस प्रकार '**चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**' अर्थात् '**चर्म** के लिये व्याघ्र को मारता है'–इस उदाहरण में '**निमित्त**' अर्थ में '**चर्म**' शब्द से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार प्रकृत में 'निमित्तसप्तमी' है।

बालप्रिया–

'**निमित्तसप्तमी**'–**मिश्र-भिक्षु-मत-समानता**–मिश्र तथा भिक्षु दोनों आचार्यों ने '**स्थितौ**' में 'निमित्त' सप्तमी का समर्थन किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कर्मयोगाभाव के कारण यहाँ निमित्तसप्तमी नहीं, अपितु वैषयिकाधारसप्तमी है।

सूत्रगत **यत्न**' पद का विशदीकरण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

यत्नशब्दं व्याचष्टे—प्रयत्न इति। प्रयत्नमपि पर्यायाभ्यां विशदयति—[1]वीर्यमुत्साह इति। तथाऽप्यस्पष्टं मन्वानोऽतिविशेषत आह—तत्संपिपादयिषयेति। तत्संपादनेच्छया श्रद्धावीर्य-स्मृतिसमाधिप्रज्ञाऽऽदीनां वक्ष्यमाणानां साधनानामनुष्ठानमभ्यासलक्षणं **कृतम्॥१३॥**

भाष्यकार **'यत्न'** शब्द की व्याख्या करते हैं—**'प्रयत्न** इति।' **'यत्न'** शब्द का अर्थ **'प्रयत्न'** है। भाष्यकार **'प्रयत्न'** शब्द के भी पर्यायों को बतलाते हैं—**'वीर्यमुत्साह इति।'** वीर्य और उत्साह **'प्रयत्न'** शब्द के पर्याय हैं। **'अभ्यास'** के यहाँ तक के स्वरूपबोधक व्याख्यान को अस्पष्ट मानते हुए भाष्यकार (पुनः) विशेषरूप से अभ्यास को बतलाते हैं—**'तत्संपिपादयिषयेति।'** चित्तस्थैर्य के सम्पादन की इच्छा से वक्ष्यमाण श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा आदि साधनों का अनुष्ठान करना ही **'अभ्यास'** है। इस प्रकार सूत्रकार ने अभ्यास का लक्षण किया है॥१३॥

बालप्रिया—

'श्रद्धा...दीनाम्'—तदर्थ सूत्र है—**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्** १/२०॥१३॥

योगसूत्रम्

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य[2]सत्कारासेवितो दृढभूमिः॥१४॥

वह अभ्यास दीर्घकाल तक, अन्तरायरहित तथा श्रद्धा (सत्कार) के साथ आचरित (आसेवित) होने पर 'दृढभूमि' वाला होता है॥१४॥

व्यासभाष्यम्

दीर्घकालाऽऽसेवितो निरन्तराऽऽसेवितः, तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत-विषय इत्यर्थः॥१४॥

दीर्घकाल तक अनुष्ठान किया हुआ, विना व्यवधान के आसेवित तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से सम्पादित सत्कारयुक्त अभ्यास 'दृढभूमि' (बद्धमूल) होता है। 'दृढभूमि' का अभिप्राय यह है कि वह सुदृढ बद्धमूल अभ्यास व्युत्थानसंस्कारों के द्वारा सरलता से अभिभूत नहीं किया जा सकता है॥१४॥

---

1. क ग घ च छ – **वीर्यमुत्साह इति। तथाऽप्यस्पष्टं** मन्वानोऽतिविशेषत आह-तत्संपिपादयिषयेति उपलभ्यते, ख – **वीर्यं........षयेति** नोपलभ्यते।
2. **सत्कारसेवितः, श्रद्धासेवितः**—इति पाठान्तरे।

तत्त्ववैशारदी

ननु व्युत्थानसंस्कारेणा[1]नादिना परिपन्थिना प्रतिबद्धोऽभ्यासः कथं स्थित्यै कल्पत इत्यत आह–स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। सोऽयमभ्यासो विशेषणत्रय-सम्पन्नः सन्दृढावस्थो न सहसा व्युत्थानसंस्कारैरभिभूतस्थितिरूपविषयो भवति। यदि पुनरेवं-भूतम[2]प्यभ्यासं कृत्वोपरमेत्ततः कालपरिवासेना[3]भिभूयेत। तस्मान्नोपरन्तव्यमिति भावः ॥१४॥

शङ्का–शत्रुस्वरूप अनादि व्युत्थित संस्कार से ग्रसित (प्रतिबद्ध=बंधा हुआ) अभ्यास किस प्रकार '**स्थिति**' (चित्तस्थैर्य) के लिये सम्भव हो सकता है?

समाधान–इस पर सूत्रकार कहते है–'**स त्विति**।' दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कारपूर्वक सेवित–इन तीन विशेषणों से युक्त 'अभ्यास' दृढीभूत होता हुआ व्युत्थित संस्कारों के द्वारा सहसा (अकस्मात्) अभिभूत स्थिति वाला नहीं होता है। अर्थात् दीर्घकाल तक निरन्तरतापूर्वक सत्कार (श्रद्धा) के साथ परिनिष्ठित '**अभ्यास**' परिपुष्टता को ही प्राप्त होता है। अतः पूर्वकालिक व्युत्थित संस्कारसमूह '**अभ्यास**' की दुर्भेद्य स्थिति पर सहज प्रहार कर चित्त को पूर्ववत् अस्थिर बनाने में सक्षम नहीं होता है। किन्तु अभ्यास के दृढभूमि वाला हो जाने पर भी यदि साधक अभ्यास से उपरत अर्थात् उदासीन हो जाय तो कालक्रम से सेवित अभ्यास क्षीणप्राय हो जाता है। अतः साधक में अभ्यास के प्रति उपरति (विरक्ति) नहीं होनी चाहिये॥१४॥

बालप्रिया–

'**विशेषणत्रयसम्पन्नः**'–अदीर्घकाल (कुछ समय) तक सेवन किया गया अदृढ-भूमिक अभ्यास स्थितिरूप फल प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। दीर्घकालत्व रहने पर भी अवरोध के साथ (रुक-रुक कर) सेवन किये जाते हुए अदृढभूमिक अभ्यास में भी स्थित्युपलब्धता नहीं रहती है। अभ्यास में '**दीर्घकाल**' तथा '**नैरन्तर्य**' की सहावस्थिति रहते हुए भी श्रद्धातिशयाभाव '**अभ्यास**' को पुनः दृढभूमि से दूर रखता है क्योंकि इससे लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वादरूप अन्तरायों का परिहार नहीं होता है, अपितु व्युत्थित संस्कारों का प्राबल्य बना रहता है। इसीलिये तत्त्ववैशारदीकार ने अभ्यासानुष्ठान में तीनों (दीर्घकाल नैरन्तर्य, तथा सत्कार) की अनिवार्यता को इंगित किया है।

'**तस्मान्नोपरन्तव्यम्**'–यहाँ '**तस्मात्**' पद हेत्वर्थक है। क्योंकि अनादृत अभ्यास कालक्रम से विलीन हो जाता है। अतः '**अभ्यास**' में उपरति (विरक्ति, आलस्य) नहीं करनी चाहिये। अपितु भगवान् श्रीकृष्ण की '**स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनि-**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अनादिना**, थ द ध – **अनादि**०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **अपि उपलभ्यते**, थ ध – **अपि नोपलभ्यते**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अभिभूयेत**, थ ध – **परिभवेत्**, द – **अभिभवेत्**।

विण्णचेतसा' उक्ति के अनुसार अनिर्वेदमनस् (खिन्नरहित मन वाला) होकर यत्न करते रहना चाहिये—यही सूत्र का तात्पर्य है॥१४॥

योगवार्त्तिकम्

ननु व्युत्थानसंस्कारेणानादिना प्रतिबन्धात् कथमभ्यासः स्थितिं [1]संपादयत्वित्याकाङ्क्षायामाह सूत्रकारः—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। सत्कारासेवित इत्येतद्विवृणोति—तपसेत्यादिना सत्कारवानित्यन्तेन। दृढभूमिरित्येतद्विवृणोति—व्युत्थानेति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव सहसाऽ[2]नभिभूतः=[3]स्थितरूपो विषयो यस्य स भवतीत्यर्थः। अभ्यासं कृत्वोपरमे च कालक्रमादभिभवो भवत्येवेति प्रतिपादयितुं द्रागित्येवेत्युक्तम्॥१४॥

शङ्का—अनादि व्युत्थान संस्कारों से प्रतिबन्धित अर्थात् नाकेबन्दी युक्त होने के कारण (विवश) अभ्यास किस प्रकार चित्तस्थैर्य को सम्पादित कर सकता है?

समाधान—ऐसी आकांक्षा (शंका) होने पर सूत्रकार कहते हैं—'**स त्विति**।' 'अभ्यास' के दार्ढ्य के लिये सूत्र में यत्न-सम्पादन के तीन क्रमिक चरण बतलाये हैं, वे हैं—'दीर्घकालासेवित' 'नैरन्तर्यासेवित' तथा 'सत्कारासेवित'। इनमें से 'सत्कारासेवित' को लेकर ही योगवार्त्तिककार कह रहे हैं कि सूत्रगत 'सत्कारासेवित' को भाष्यकार ने '**तपसेति**' से लेकर '**सत्कारवानिति**' यहाँ तक के भाष्य द्वारा विश्लेषित किया है। भाष्यकार सूत्रगत '**दृढभूमिः**' पद को उद्घाटित (विवृत) करते हैं—'**व्युत्थानेति**।' व्युत्थान संस्कार के द्वारा 'द्राक्' अर्थात् अतिशीघ्र सहसा 'अनभिभूत' अर्थात् अभिभूत न होने वाला अर्थात् स्थितरूप विषय वाला जो '**अभ्यास**' है, वह '**दृढभूमि**' को प्राप्त करता है। किन्तु ऐसा दृढभूमिक अभ्यास निष्पादित करके उसके प्रति उदासीन हो जाने पर कालक्रम से वह (व्युत्थान संस्कारों द्वारा) अभिभूत (विलुप्तप्राय) हो जाता है, यह प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार ने '**द्रागित्येव**' ऐसा कहा है॥१४॥

अगला सूत्र है—

योगसूत्रम्

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥१५॥

ऐहिक और पारलौकिक विषयों से निःस्पृह चित्त का 'वशीकार' संज्ञक (अपर) वैराग्य होता है॥१५॥

---

1. क ग घ च छ – **संपादयतु**, ख – **अभ्यासयतु**।
2. क ख च छ – **अनभिभूतः**, ग घ – **अभिभूतः**।
3. क च छ **स्थित०**, ख ग घ **स्थिति०**।

व्यासभाष्यम्

स्त्रियोऽ[1]न्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य[2] स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा [3]वैराग्यम्॥१५॥

स्त्री, अन्न-पान तथा प्रभुता–इन दृष्ट (ऐहिक) विषयों के प्रति तृष्णारहित तथा स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्वाधिगतरूप आनुश्रविक (पारलौकिक) विषयों के प्रति निःस्पृह (उदासीन) अर्थात् अभावपरक औदासीन्य नहीं, अपितु लौकिक और अलौकिक विषयों का सम्पर्क होने पर भी विषयगत दोषों का ज्ञान रखने वाले चित्त की, विवेकज्ञान के बल से त्याग अथवा ग्रहण की बुद्धि से शून्य जो भोगाभावरूपिणी स्थिति होती है, उसे 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं॥१५॥

तत्त्ववैशारदी

वैराग्यमाह–दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। चेतनाचेतनेषु **दृष्टविषयेषु वितृष्णतामाह–स्त्रिय इति।** ऐश्वर्यमाधिपत्यम्। अनुश्रवः वेदः, ततोऽधिगता आनुश्रविकाः स्वर्गादयः। तत्रापि वैतृष्ण्यमाह–स्वर्गेति। देहरहिता विदेहाः करणेषु लीनाः, तेषां भावो वैदेह्यम्। अन्ये तु प्रकृतिमेवात्मानमभिमन्यमानाः प्रकृत्युपासकाः प्रकृतौ साधिकारायामेव लीनास्तेषां भावः प्रकृतिलयत्वम्, तत्प्राप्तिविषये, [4]आनुश्रविकविषये वितृष्णस्य। आनुश्रविकविषये वितृष्णो हि स्वर्गादिप्राप्तविषये वितृष्ण इति उच्यते। ननु यदि वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम् हन्त विषयाप्राप्तावपि तदस्तीति वैराग्यं स्यादित्यत आह–**दिव्यादिव्येति।** न वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम्, अपि तु दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका, तामे[5]व स्पष्टयति–[6]**हेय इति।** हेयोपादेयशून्या [7]आसङ्गद्वेषरहितो-

---

1. क ख घ प फ म र – अन्न०, ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य – अन्नम्।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ – **विरक्तस्य**, ख ग प फ ब म य र – वितृष्णस्य।
3. ख ग घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र – **वैराग्यम्** उपलभ्यते, क छ थ – **वैराग्यं** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **आनुश्रविकविषये** उपलभ्यते, थ द ध – **आनुश्रविकविषये** नोपलभ्यते।
5. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न – **एव** उपलभ्यते, ग – **एव** नोपलभ्यते।
6. थ द ध – **हेय इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **हेय इति** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त न – **आसङ्गद्वेषरहितोपेक्षाबुद्धिः**, थ द ध – **सङ्गदोषरहिता या उपेक्षाबुद्धिः**।

पेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञा। कुतः पुनरियमित्यत्राह–प्रसंख्यानबलादिति। तापत्रयपरीतता विषयाणां दोषः, तत्परिभावनया तत्साक्षात्कारः प्रसंख्यानम्, तद्बलादित्यर्थः।

सूत्रकार **'वैराग्य'** को बताते हैं–**'दृष्टेति।'** सजीव और निर्जीव लौकिक पदार्थों के प्रति वैतृष्ण्यभाव को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'स्त्रिय** इति।' स्त्र्यादि चेतन तथा अन्नपान आदि अचेतन **'लौकिक'** विषय हैं। **'ऐश्वर्य'** पद का अर्थ आधिपत्य अर्थात् प्रभुसत्ता है। **'अनुश्रव'** वेद को कहते हैं और वेद के द्वारा प्रतिपादित (ज्ञात) स्वर्गादि पदार्थ **'आनुश्रविक'** कहे जाते हैं। ('दृष्ट' पदार्थ की भाँति) **'आनुश्रविक'** पदार्थों के प्रति भी वैतृष्ण्य को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'स्वर्गेति।'** इन्द्रियादि करणों में लय को प्राप्त स्थूलदेह से रहित योगी **'विदेह'** कहलाते हैं। विदेह के भाव को 'वैदेह्य' कहते हैं। दूसरे प्रकृतिलीन योगी वे हैं, जो प्रकृति में आत्माभिमान करते हुए **'प्रकृति'** की उपासना करते हैं और अन्त में साधिकार प्रकृति में लीन हो जाते हैं। प्रकृतिलय के भाव को प्राप्त होना **'प्रकृतिलयत्व'** कहा जाता है। इस प्रकार वैदेह्य और प्रकृतिलयत्वरूप **'आनुश्रविक'** विषय के प्रति साधक का तृष्णाशून्य होना विवक्षित है। साधक का 'आनुश्रविक' विषय में तष्णारहित होने का अर्थ 'स्वर्गादिप्राप्ति के विषय में तृष्णाशून्य' होना है।

शङ्का–यदि वैतृष्ण्यमात्र को यहाँ **'वैराग्य'** बतलाया गया है तो लौकिक तथा आनुश्रविक विषय के अनवाप्तिकाल में भी तद्विषयक होने वाले वैतृष्ण्य को **'वैराग्य'** कहना पड़ेगा अर्थात् विषयाप्राप्तिप्रयुक्त वैतृष्ण्य भी **'वैराग्य'** पदवाच्य होगा?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'दिव्यादिव्येति।'** भोगराहित्य-रूपता ही वितृष्णता नहीं है। अपितु स्वर्गादि **'दिव्य'** और स्त्र्यादि **'अदिव्य'** विषयों अर्थात् ऐहिक और आमुष्मिक विषयों का **'सम्प्रयोग'** अर्थात् सम्पर्क (भोग) प्राप्त होने पर भी चित्त की **'अनाभोगात्मिका'** अर्थात् आभोगराहित्यरूप (भोगाभाव-रूपिणी) वृत्ति को **'वैराग्य'** कहते हैं। चित्त की अनाभोगात्मिका बुद्धि को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'हेय** इति।' यहाँ **'हेयोपादेयशून्या'** का अर्थ है–राग तथा द्वेष से रहित बुद्धि अर्थात् विषयभोग के प्रति सङ्ग अर्थात् आसक्ति तथा विषयभोग के प्राप्त न होने पर द्वेष–इन दोनों से रहित अर्थात् **'हेयशून्यता'**=द्वेषराहित्य और **'उपादेयशून्यता'**=रागराहित्य रूप जो उपेक्षा बुद्धि है, वह **'वशीकार'** संज्ञा वाली है।

शङ्का–विषयभोग के उपस्थित रहते हुए भी चित्त 'विषय' के प्रति राग-द्वेष से रहित कैसे हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार का कथन है–**'प्रसंख्यानबलादिति।'** (आध्यात्मिकादि दुःखत्रय से मिश्रित होने के कारण) विषयों की जो तापपर्यावृतता (तापत्रययुक्तता) है, उसे विषयगत दोष कहते हैं। इस प्रकार के विषयों में दोषानुसन्धान

(दोषचिन्तन) करने से विषयगत दोषों की जो प्रत्यक्षानुभूति होती है, उसे **'प्रसंख्यान'** (उत्कृष्टतम ज्ञान) कहते हैं। इस 'प्रसंख्यान' के बल से चित्त में विषयमात्र के प्रति रागद्वेष से शून्य बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी उपेक्षाबुद्धि को **'वशीकार** संज्ञक वैराग्य कहते हैं।

बालप्रिया–

'तत्परिभावना'=दोषपरिभावना। स्मृतिग्रन्थों में विषयगत दोषपरिभावना निम्नाङ्कित प्रकार से वर्णित है–

परोत्कर्षाऽसहिष्णुत्वे स्पर्द्धा चैव समैश्च तैः। क्षीणे पुण्ये विशन्त्येतं मर्त्यलोकं च मानवाः॥
किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंसृतिः। जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च॥
चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे। संप्रभृतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव॥
पुत्रमित्रकलत्रादितृष्णया नित्यकृष्टया। खगेष्विव किरत्येदं जालं लोकेषु रच्यते॥

शास्त्रों में **'वशीकार'** संज्ञक वैराग्य से पूर्व तीन वैराग्य और बतलाये गये हैं, जिन्हें प्राप्त करके ही चतुर्थ वैराग्य तक पहुँचा जा सकता है। अतः तत्त्ववैशारदीकार चारों वैराग्यों का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति चतस्रः संज्ञा इत्यागमिनः। रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्तन्ते, तन्मा प्रवर्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः, सा यतमानसंज्ञा।

आगमशास्त्र को जानने वाले वैराग्य की चार संज्ञाएँ अर्थात् चार भेद बतलाते हैं। वैराग्य की वे चार संज्ञाएँ इस प्रकार हैं–यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा। चित्त में रहने वाले रागादि **'कषाय'** स्वरूप हैं, क्योंकि इन रागादि कषायों के कारण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। ये रागादि मल इन्द्रियों को तत्तद् विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, इसलिए उनके परिपाचनार्थ (रागादि मलों के प्रक्षालनार्थ) जो प्रयत्नारम्भ (मैत्री, करुणा आदि भावना का अनुष्ठानरूप प्रारम्भिक प्रयत्न) किया जाता है, उसी को **'यतमान'** संज्ञक वैराग्य कहते हैं।

बालप्रिया–

'कषायाः'–'कषाय' शब्द का अर्थ है–मल। मंजीठ की तरह रागादि भी चित्त को रंग देते हैं, इसलिए रागादि **'कषाय'** कहे जाते हैं। चित्तमलों के कारण चित्त में छह प्रकार की कलुषता जन्म लेती है। वे छह कालुष्य हैं–रागकालुष्य, द्वेषकालुष्य, ईर्ष्याकालुष्य, परापकारचिकीर्षाकालुष्य, असूयाकालुष्य तथा अमर्षकालुष्य।

'यतमानसंज्ञा'–मधुसूदनसरस्वती ने गीताविवरण के षष्ठ अध्याय के ३५वें श्लोक में यतमानसंज्ञक वैराग्य का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–**'अत्र जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानसंज्ञा वैराग्यम्'** अर्थात् जगत् में क्या सार (यथार्थ) है और क्या असार (तुच्छ) है–ऐसा गुरु और शास्त्रों के द्वारा जान लूँगा–तदर्थ किया जाने वाला उद्योग **'यतमान'** संज्ञक **'वैराग्य'** है।

तत्त्ववैशारदी

तदारम्भे सति केचित्कषायाः पक्वाः, पच्यन्ते, पक्ष्यन्ते च केचित्। तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां [1]व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा।

रागादि मलों के प्रक्षालन के लिए प्रयास प्रारम्भ करते समय अर्थात् मैत्र्यादि भावना करते समय (चिकित्सक की तरह) यह विवेचन करना कि इतने मल (कषाय) शान्त (निवृत्त) हो चुके हैं और इतने मलों को अभी शान्त (शक्तिशून्य) करना है–इस प्रकार अवशिष्ट मलों के विधूननार्थ जो **'प्रयत्न'** किया जाता है उसे **'व्यतिरेक'** संज्ञक **'वैराग्य'** कहते हैं।

तत्त्ववैशारदी

इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञा।

निवृत्त हुए मल इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में जब प्रवृत्त नहीं करा पाते, तब वे चित्त में अवस्थित मात्र होकर विषयों के प्रति कुछ-कुछ उत्कण्ठित से होते रहते हैं, इसी अवस्था को **'एकेन्द्रिय'** संज्ञक **'वैराग्य'** कहते हैं।

तत्त्ववैशारदी

औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरूपस्थितेष्व[2]पि **दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञात्रयात्परा वशीकारसंज्ञा। एतयैव च पूर्वासां चरितार्थत्वान्न ताः पृथगुक्ता इति सर्वमवदातम्॥१५॥**

ललनादि लौकिक विषय तथा वेदवर्णित स्वर्गादि विषयों की उपस्थिति रहने पर भी तद्विषयक जो उपेक्षा बुद्धि है, उसे **'वशीकार'** संज्ञक **'वैराग्य'** कहते हैं। यह 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य पूर्ववर्णित तीनों वैराग्यों के पश्चात् होने वाला है। अर्थात् पूर्वोक्त तीन वैराग्यों के विना **'वशीकार'** संज्ञक वैराग्य का सिद्ध होना सम्भव नहीं है। अतः (सूत्र में) पश्चाद्भावी **'वशीकार'** संज्ञक वैराग्य के कथन से ही पूर्वभावी तीन वैराग्य सूचित (अध्याहृत) हो जाते हैं। अतः (सूत्रकार ने) पृथक् रूप से इन तीन यतमानादि वैराग्यों का उल्लेख नहीं किया है॥१५॥

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **व्यतिरेकेण**, ख – **व्यतिरेक०**।
2. क ग – **च**, ख घ च छ ज झ त थ द ध न – **अपि**।

योगवार्तिकम्

अभ्यासं लक्षयित्वा वैराग्यं लक्षयति—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। [1]रागाभावमात्रं दोषदर्शनजन्यो रागाभावो वा न निरोधहेतुर्वैराग्यं रोगादिनिमित्तकारुचितो योगानुदयाद्, दोषदर्शन[2]जवैराग्यादनन्तरमपि विषयसांनिध्येन चित्तक्षोभतः सौभयदिर्योगानिष्पत्तेश्च। अतोऽत्र वैराग्यस्य वैतृष्ण्यमात्रं न लक्षणं किं तु यथोक्तवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञेति।

अभ्यास का लक्षण करके सूत्रकार वैराग्य का लक्षण करते हैं–'**दृष्टेति**।' (सहज) रागाभावमात्र अथवा दोषदर्शनजन्य रागाभाव 'वृत्तिनिरोध' का साधनभूत (हेतुभूत) 'वैराग्य' नहीं है, क्योंकि रोगादि के कारण विषयों के प्रति इच्छा न होने से योग का प्रादुर्भाव नहीं होता है अर्थात् येन-केन-प्रकारेण उदित वैराग्य वृत्तिनिरोधरूप योग के लिये अनुपयोगी है, क्योंकि विषयों के प्रति दोषदृष्टि से उद्भावित वैराग्य के पश्चात् भी विषयसान्निध्य से क्षुभित (चंचल) चित्त वाले (शास्त्रप्रसिद्ध) सौभर्यादि ऋषियों को 'योग' सिद्ध न हो सका। अतः '**वैतृष्ण्यमात्र**' ही '**वैराग्य**' का लक्षण नहीं है, अपितु सूत्रवर्णित दृष्टानुश्रविकविषयक वशीकारसंज्ञक वैतृष्ण्य (रागाभाव) ही '**वैराग्य**' का लक्षण है। (इस प्रकार योगवार्तिककार ने वैराग्यप्रतिपादक सूत्र में अन्तर्निहित तथ्य को उद्घाटित कर वैराग्य का निर्भ्रान्त तथा निरापद स्वरूप प्रस्तुत किया है)।

बालप्रिया–

'**सौभयदिर्योगानिष्पत्तेः**'-'सौभरि नाम के एक ऋषि थे। वे नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहा करते थे। उन्होंने तपस्या द्वारा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, तथापि उनके अन्तःकरण में सांसारिक विषयवासनाएँ निवास करती थीं। स्नान करने के लिये जब वे गये तब उन्होंने किसी मत्स्य को अन्य मछलियों तथा परिवार के साथ जल-क्रीड़ा करते हुए देखा। उस दृश्य को देखकर मुनि के अन्तःकरण में छिपी वासना जागरित हो उठी और उस जीव में उसी सुख की कामना करके अपने एकान्तवास और तपोमय जीवन का परित्याग कर पुनः सांसारिक जीवन में उन्होंने प्रवेश किया। किसी राजा के यहां जाकर भिक्षा की जगह उसकी कुमारी कन्याओं को उससे माँगा। राजा ने बहुत से साधन और ऐश्वर्य प्रदान करते हुए अपनी कन्याओं को उसे समर्पित कर दिया। चिरकाल तक मुनि ने आनन्द के साथ उनका उपभोग किया, तथापि उनका चित्त उन उपभोगों

1. क ग घ च छ – राग०, ख – रागादि०।
2. क ख घ च छ – ज०, ग – जन्य०।

से विरत नहीं हो पाया। उनकी इच्छाएँ अधिकाधिक बढ़ने ही लगीं। इसी तथ्य को सौभरि ने विष्णुपुराण ४/२/४७ में कहा है–

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञानमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि॥

अर्थात् 'मृत्युकाल के उपस्थित होने पर भी मनोरथों अर्थात् वासनाओं का अन्त नहीं होता है। विषयों के उपभोग में अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत कर देने पर इस तथ्य को आज मैं जान पाया हूँ। इच्छापूर्ति में लगा हुआ यह चित्त कभी भी परमार्थ की ओर नहीं मुड़ता है।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वैयासिक भाष्य पर वार्त्तिक लिख रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेतद् व्याचष्टे–स्त्रिय इति। दृष्टविषयवितृष्णस्येति व्याख्यायानुश्रविकविषयवितृष्णस्येति व्याचष्टे–स्वर्गेति। स्वर्गश्च वैदेह्यं च प्रतिलयत्वं च तेषां प्राप्तिरेवानुश्रवाख्यवेदो[1]क्तो विषयस्तत्र च वितृष्णस्येत्यर्थः।

भाष्यकार (सूत्रोक्त वशीकारसंज्ञक) वैराग्य की व्याख्या करते हैं–'**स्त्रिय इति**।' '**दृष्टविषयवितृष्णस्य**' यहाँ तक दृष्टविषयक' (स्त्री अन्नपानादि इहत्यविषयक) वैराग्य की व्याख्या करके भाष्यकार '**आनुश्रविक**' (शास्त्रश्रुत पारलौकिक) विषयक वैराग्य को बतलाते हैं–'**स्वर्गेति**।' स्वर्ग, विदेहलय तथा प्रकृतिलय, इन विषयों की प्राप्ति अनुश्रवाख्य '**वेद**' में वर्णित है, अतः ये स्वर्गादि, 'आनुश्रविक' विषय कहलाते हैं और तद्विषयक वितृष्णा को **वशीकार**' संज्ञक वैराग्य कहते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वैदेह्यादि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्थूलदेहविरहेऽपि लिङ्गशरीरेणैव येषां देवानां भोगस्ते विदेहास्तद्रूपता च वैदेह्यम्। ये तु **सावरणब्रह्माण्डाद्बहिरावरणे प्रकृतौ लीनाः श्लिष्टाः, लिङ्गदेहेन सह गता इति यावत्,** तेषां **भावः प्रकृतिलयत्वं न तु प्रलय एवात्रोक्तः, करणं[2] गतस्यैव श्रुतिस्मृत्योर्भोगश्रवणाद्, अन्यथा [3]प्राकृतप्रलयवदपुरुषार्थत्वाच्च।**

(पाञ्चभौतिक) स्थूलशरीर के विना भी (सप्तदशावयवात्मक) सूक्ष्मशरीर के द्वारा ही जो देव भोगसम्पादन करते हैं, वे '**विदेह**' कहलाते हैं और इस प्रकार की विदेहरूपता को '**वैदेह्य**' कहते हैं। जो देव, सावरण ब्रह्माण्ड से बाहर रहकर

---

1. क ग घ च छ – उक्तः, ख – उक्त०।
2. क च छ – **करणं**, ख ग घ – **कारणं**।
3. क ग घ च छ – **प्राकृत०** ख – **प्रकृति०**।

(प्रकृतिजात महदादि तत्त्वों में अनात्मत्व का बोध कर लेने पर भी) आवरणभूत प्रकृति से (आत्मचिन्तनवशात्) संश्लिष्ट रहते हैं, फलतः सूक्ष्मशरीर के साथ उसी में तद्रूपतारूप विलयता को प्राप्त करते हैं, वे देव **'प्रकृतिलीन'** कहलाते हैं। यहाँ प्रकृतिलय के भाव को **'प्रकृतिलयत्व'** कहा गया है, न कि **'प्रकृतिलय'** शब्द से इस प्रकार के देवों का प्रलय ही विवक्षित है। क्योंकि श्रुति, स्मृतिशास्त्रों में तत्तत् करणों में लीन हुए योगिजन (देवगण) की भोगक्रिया सुनी जाती है। यदि **'विदेहलीन'** और **'प्रकृतिलीन'** अवस्था को प्रलयरूप मानेंगे तो प्राकृतप्रलय के समान इन्हें पुरुषार्थरूप नहीं कहा जा सकेगा।

बालप्रिया–

प्राकृतप्रलयवदपुरुषार्थत्वात्–सरलार्थ यह है–प्रलय के दो भेद हैं–खण्डप्रलय तथा महाप्रलय। जिस प्रकार सूर्य की उदयास्त क्रियाएँ सहज रूप हैं न कि पुरुषार्थरूप, उसी प्रकार प्रकृति की सर्ग-प्रतिसर्ग, आविर्भाव-तिरोभाव, सृष्टि-प्रलय रूप क्रियाएँ भी सहज अतएव प्रयत्ननिरपेक्ष हैं। **'विदेहलय'** और **'प्रकृतिलय'** को भी प्रलय का ही रूप माना जाय तो तथाकथित लय सहज स्वाभाविक होने से उपास्य नहीं रहेगा। 'विदेहलयत्व' और 'प्रकृतिलयत्व' की प्राप्ति के लिये उपासकों द्वारा की जाने वाली उपासना भी व्यर्थ हो जायेगी और ये अपुरुषार्थरूप ही सिद्ध हो जायेंगे। सूत्रकार ने **'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्** १/१९ सूत्र में विदेह और प्रकृतिलय साधकों की भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि बतलाई है। योग के प्रारम्भिक अभ्यासी के लिये **'विदेहलय'** और **'प्रकृतिलय'** की अवस्था बहुप्रयत्नसाध्य है। अतः वह पुरुषार्थरूप ही है। इसी मूलभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखकर योगवार्त्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में **'प्रकृतिलय'** के **'प्रलयरूप'** होने का खण्डन किया है। अन्यथा तत्तत् करणों में लीन हुए इन उपासकों की शास्त्र द्वारा मान्य कालपर्यन्त कैवल्यपद की सी अनुभवनीयता उपपन्न नहीं हो पायेगी। तदर्थ वायुपुराण का वचन द्रष्टव्य है–

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥

सम्प्रति, वार्त्तिककार विदेहलीन और प्रकृतिलीन साधकों में अन्तर बताते हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रकृतिलयानां च विदेहेभ्योऽयं भेदः–विदेहाः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्पमैश्वर्यं मलिनं च विषयं भुञ्जते, प्रकृतिलयास्तु बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपीशते स्वसंकल्पमात्रेण तत्रैव निर्मलं कारणसत्त्वनिर्मितं विषयं च भुञ्जते त ईश्वरकोटय उच्यन्त इति।

'विदेह' देवों से **'प्रकृतिलय'** देवों में पार्थक्य (अन्तर) यह है–**'विदेह'** देवता (योगी) सावरण ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत (अधीन) रहते हुए ही अल्प ऐश्वर्य तथा

मलिन विषय का सेवन (उपभोग) करते हैं। जब कि 'प्रकृतिलय' देवता लोग सावरण ब्रह्माण्ड से बाहर रहते हुए अर्थात् सावरण ब्रह्माण्ड से निरपेक्ष रहकर ही क्रिया-कलाप कर पाने में क्षम होने के कारण विदेह योगियों को भी अपने वश में रखते हैं तथा अपनी उत्कटेच्छा मात्र से चित्तसत्त्व द्वारा निर्मित अर्थात् उद्भावित विषयों का सेवन करते हैं इसलिये ये **'प्रकृतिलीन'** साधक **ईश्वरकोटि** के कहे जाते हैं।

सम्प्रति, सूत्रगत **'वशीकारसंज्ञा'** पद पर विचार किया जा रहा है -

योगवार्त्तिकम्

षष्ठ्यन्तं हेतुगर्भविशेषणपदं व्याख्याय वशीकारसंज्ञेति विशेष्यपदं व्याचष्टे–दिव्यादिव्येति। अयमर्थः–आदौ विषयसान्निध्यरूपेऽवसरे दोषावरकाभावाद् दोषदर्शनेन वैतृष्ण्यं भवति विरक्तिर्दोषदर्शनादिति स्मृतेः। तच्च त्रिविधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञेति। एताश्च पश्चाद्व्याख्यास्यामः। एतस्माच्च त्रिविधवैतृष्ण्यादभ्यस्यमानाद्विषय-संयोगकालेऽपि दोषदर्शनमप्रतिबद्धमुत्पद्यते, [1]वैराग्याद्दोषदर्शनमिति स्मृत्यन्तरात्। कुतः पुनरप्रतिबन्धः? तत्रोक्तम्–प्रसंख्यानबलादिति। प्रसंख्यानबलाद् दोषसाक्षात्कारस्य बलवत्त्वादिति। दोषसाक्षात्काररूपबलाभावात्तु सौभयदिः प्राग्विरक्तस्यापि विषयसन्निकर्षेण दोषदर्शनं प्रतिबध्य पुना राग उत्पादित इति। एतस्माच्च दोषदर्शनोत्कर्षाद्विषयसंयोगकालेऽपि या चित्तस्यानाभोगात्मिकाऽऽभोगरहिता। एतस्य विवरणम्–हेयोपादेयशून्या। [2]रागद्वेषशून्या वशीकारसंज्ञा या वितृष्णा सा वैराग्यपरमिति शेषः। उत्तरसूत्रे तत्परमिति वचनादस्या-परत्वम्। तथा च रागद्वेषशून्यस्य विषयसाक्षात्कारस्य योग्यता वशीकारसंज्ञाऽऽख्यं वैराग्यमिति पर्यवसितम्। तेन [3]सर्वदैतादृशविषयसंयोगाभावेऽपि न निरोधासंभवः।

सूत्रगत हेतुगर्भविशेषणपरक **'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य'** इस षष्ठ्यन्तपद की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार सूत्रगत **'वशीकारसंज्ञा'** पद की व्याख्या करते हैं– **'दिव्यादिव्येति।'** इसका अर्थ यह है–(स्त्री, अन्नपानादि) विषय-सामीप्य रूप अवसर के प्राप्त होने पर भी तद्विषयक दोषदर्शन से आसक्ति का उदय न होने के कारण प्रथमतः, वितृष्णा का प्रादुर्भाव होता है, यह तथ्य **'विरक्तिर्दोषदर्शनात्'** इस स्मृतिवाक्य से सिद्ध होता है। स्मृतिवाक्य का अर्थ है–'दोषदर्शन से विरक्ति होती है।' दोषदर्शन से होने वाला वैतृष्ण्य तीन प्रकार का है–यतमानसंज्ञक वैतृष्ण्य, व्यतिरेकसंज्ञक वैतृष्ण्य तथा एकेन्द्रियसंज्ञक वैतृष्ण्य। इन तीन प्रकार की विरक्तियों (वैराग्यों) का प्रतिपादन आगे किया जायेगा। इन तीन प्रकार के वैराग्यों का अभ्यास करते रहने

---

1. क ख घ च छ – **वैराग्यात्**, ग – **वैराग्य०**।
2. क ग घ च छ – **रागद्वेषशून्या** उपलभ्यते, ख – **रागद्वेषशून्या** नोपलभ्यते।
3. क ख च छ – **सर्वदैतादृश०**, ग – **सर्वदैव तादृश०**।

से जब विषयसेवनकाल में भी दोषदर्शन अप्रतिहत (अबाधित) रहता है, तब वैराग्य से दोषदर्शन का उदय होता है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि '**वैराग्याद्दोषदर्शनम्**' अर्थात् 'वैराग्य से दोषदर्शन होता है'—ऐसा दूसरा स्मृतिवाक्य मिलता है। **शङ्का**—एक बार 'दोषदर्शन से विरक्ति' बतलाने के पश्चात् पुनः 'वैराग्य से दोषदर्शन' होना क्यों प्रतिपादित किया गया है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**प्रसंख्यानबलादिति**।' क्योंकि '**प्रसंख्यानबल**' अर्थात् तत्त्वज्ञान की अपेक्षा दोषसाक्षात्कार अधिक बलवान् होता है। (इसलिये 'दोषदर्शन से वैराग्य' के बाद वैराग्य से दोषदर्शन' होना आवश्यक है। तभी विषय के समीप रहते हुए भी चित्त की विषयभोगोन्मुखता नहीं होती है)। यही कारण है कि दोषसाक्षात्काररूप सामर्थ्य का अभाव रहने के कारण पहले विरक्त रहते हुए भी सौभर्यादि ऋषि का विषय-सान्निध्य से दोषदर्शन प्रतिबद्ध (बाधित) हुआ और पुनः राग की उत्पत्ति हुई। जब कि दोषदर्शन के उत्कर्ष से विषयसान्निध्यकाल में भी चित्त की '**अनाभोगात्मिका**' अर्थात् आभोगरहिता विरक्ति बनी रहती है। इस प्रकार की अनाभोगात्मिका विरक्ति का विवरण है—'**हेयोपादेयशून्या**।' राग तथा द्वेष से शून्य '**वशीकार**' संज्ञा वाली जो वितृष्णा है, वही '**अपर वैराग्य**' है। 'तत्पर' **पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्**' १/१६ इस उत्तर सूत्र में कथित '**पर वैराग्य**' की अपेक्षा प्रस्तूयमान सूत्र में प्रतिपादित वैराग्य '**अपर वैराग्य**' कहलाता है। इस विवरण से यह उपसंहृत (पर्यवसित) होता है कि राग-द्वेष से शून्य विषयसाक्षात्कार की योग्यता वाला वशीकारसंज्ञाख्य वैराग्य होता है। इससे सर्वदा इस प्रकार के विषयसंयोग का अभाव रहने पर भी निरोध असंभव नहीं रहता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अपरवैराग्य के चार भेदों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदेवमनेन सूत्रेण हेतुहेतुमद्भावरूपतस्तन्त्रान्तरसिद्धं वैराग्यचतुष्टयमेवोक्तम्। तत्र प्रथमभूमिका यतमानसंज्ञानाम्नी वितृष्णाज्ञानपूर्वकं वैराग्यसाधनानुष्ठानम्; द्वितीयभूमिका व्यतिरेकसंज्ञा, सा च जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणयोग्यता; तृतीयभूमिका चैकेन्द्रियसंज्ञा, सा च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सत्येकस्मिन्नेव मनसि मानापमानादिविषयकरागद्वेषादिक्षयो [1]रागद्वेषज्ञानपूर्वक इति; चतुर्थभूमिका तु वशीकारसंज्ञा स्पष्टमुक्तैवेति॥१५॥

उपरिनिर्दिष्ट व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र के द्वारा; तन्त्रान्तरसिद्ध (योग के समानतन्त्र सांख्य में प्रतिपादित) वैराग्यचतुष्टय (यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार) को ही सूत्रकार ने हेतुहेतुमद्भाव (साध्यसाधनभाव) रूप से बतलाया है। इनमें से प्रथमभूमिक **'यतमान'** संज्ञक वैराग्य ज्ञानपूर्वक वैराग्य के साधन का अनुष्ठान करना है। द्वितीयभूमिक **'व्यतिरेक'** संज्ञक वैराग्य, पृथक्तया निश्चय (व्यतिरेकावधारण) करने की योग्यता प्राप्त करना है कि 'इतनी इन्द्रियाँ वशीभूत हो गई हैं और अभी इन-इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अवशिष्ट है' अर्थात् इतनी इन्द्रियाँ जेतव्य हैं। तृतीयभूमिक **'एकेन्द्रिय'** संज्ञक वैराग्य वह है, जिसमें चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के रूपादि विषयों के प्रति रागादि का क्षय हो जाता है अर्थात् रूपादि विषयों में आसक्ति नहीं रहती है केवल एक मात्र मन में मानापमानादिविषयक राग-द्वेष आदि का रागद्वेष के ज्ञानपूर्वक क्षय करना शेष रहता है। चतुर्थभूमिक **'वशीकार'** संज्ञक वैराग्य तो स्पष्टतया उक्त ही है॥१५॥

बालप्रिया–'

विरक्तिर्दोषदर्शनात्', 'वैराग्याद्दोषदर्शनम्'–इन दो स्मृतिवाक्यों के द्वारा योगवार्तिककार ने विषयदोषदर्शन को अपरवैराग्य के प्रथम तीन भेदों का उत्पत्तिस्रोत घोषित किया है। वैराग्य की प्रारम्भिक अवस्था में योगपथिक को मोहनीय, रञ्जनीय तथा कोपनीय विषय के प्रति अर्जन, रक्षण, क्षयादि दोषों की भावना ही करनी पड़ती है। इस प्रकार के क्रमिक अभ्यास से दृढीभूत वैराग्य **'वशीकार'** संज्ञा को प्राप्त होता हुआ **'विषयदोषदर्शन'** धारा को ही प्रसृत करता है। वैराग्य से पुरस्सृत विषयदोषदर्शन के पश्चात् साधक में वैषयिक स्खलन की सम्भावना नहीं रहती है। अतः योगवार्तिककार ने 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य को दोषदर्शन का उत्पत्तिस्रोत बतलाया है। यही चतुर्थ वैराग्य का प्रथम तीन वैराग्यों से अन्तर है। योगवार्तिककार का यह स्मृतिसम्मत मौलिक चिन्तन है॥१५॥

योगसूत्रम्

तत्परं[1] पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्[2]॥१६॥

पुरुषख्याति (प्रकृति और पुरुष के वास्तविक स्वरूप का प्रत्यक्ष) होने पर गुणों के प्रति (विवेकज्ञान के प्रति भी) जो उपेक्षा बुद्धि होती है, उसे 'परवैराग्य' कहते हैं॥१६॥

---

1. **परमम्** – इति पाठान्तरम्।
2. **ईरितं** – सूत्रान्ते उपलभ्यते।

व्यासभाष्यम्

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्, यस्योदये [1]सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते– प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः यस्याऽविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति॥१६॥

दृष्ट और वेदबोधित विषयों के दोषों (न्यूनताओं) को देखने वाला वितृष्णसाधक (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति काल में) पुरुष के दर्शन के अभ्यास से उस पुरुषतत्त्व की शुद्धि के ज्ञान से तृप्त चित्त वाला होकर स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है। इस भाँति वैराग्य (अपर और पर) दो प्रकार का है। इनमें से जो दूसरा (बाद वाला) वैराग्य है, वह ज्ञान का चरमोत्कृष्ट रूप है, जिसके उदित होने पर प्राप्त आत्मज्ञान वाला योगी ऐसा समझता है–'प्राप्तव्य प्राप्त हो गया है, नष्ट करने योग्य अविद्यादि क्लेश (वासनासहित) क्षीण हो गये हैं, अविरल (श्रृंखलाबद्ध) संसारचक्र (एक जन्म से जुड़ा हुआ दूसरा जन्म, दूसरे जन्म से जुड़ा हुआ तीसरा जन्म-इत्याकारक जन्मचक्र) टूट गया है, जिसके न टूटने से प्राणी, उत्पन्न होकर मरता है और मरकर पुनः उत्पन्न होता रहता है।' ज्ञान की पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा, चरमावधि) ही 'परवैराग्य' है। इस 'परवैराग्य' के अनन्तर होने वाला कैवल्य इसी का फल है। अर्थात् कैवल्य वैराग्य का अविनाभावी है। अर्थात् 'परवैराग्य' के विना 'मोक्ष' होना असम्भव है॥१६॥

तत्त्ववैशारदी

अपरं वैराग्यमुक्त्वा परमाह–तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥१६॥ अपरवैराग्यस्य परं वैराग्यं प्रति कारणत्वम्। तत्र च द्वारमादर्शयति–दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्त इति। अनेनापरं वैराग्यं दर्शितम्। पुरुषदर्शनाभ्यासात् आगमानुमानाचार्योपदेशसमधिगतस्य पुरुषस्य यद्[2] दर्शनम् तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन निषेवणम्, तस्मात्; तस्य दर्शनस्य शुद्धी रजस्तमःपरिहाण्या[3] सत्त्वैकतानता, तया यो गुणपुरुषयोः प्रकर्षेण विवेकः–पुरुषः

---

1. ग ध ब – **सति योगी** उपलभ्यते, क ख घ च छ ज झ त थ द न प फ भ म य र – सति योगी नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **यत्** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **यत्** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **परिहाण्या**, थ द ध – **हान्या**।

शुद्धोऽनन्तस्तद्विपरीता गुणा इति तेनाप्यायिता बुद्धिर्यस्य योगिनः स तथोक्तः। तदनेन धर्ममेघा[1]ख्यः समाधिरुक्तः। स तथा भूतो योगी गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यः, सर्वथा विरक्तः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावपि गुणात्मिकायां यावद्विरक्त इति। [2]तत् तस्माद्, द्वयं वैराग्यम्।

'परवैराग्य' के प्रति (पूर्ववर्णित) **'अपरवैराग्य'** कारण है अर्थात् अपरवैराग्य के पश्चात् **परवैराग्य** का उदय होता है। **'अपरवैराग्य'** किस प्रकार (किस मध्यवर्ती व्यापार द्वारा) **"परवैराग्य'** का कारण है अर्थात् **द्वारीभूत** परवैराग्य के प्रति अपरवैराग्य किस प्रकार **'द्वार'** है–इसे भाष्यकार दिखलाते हैं– **'दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्त इति।'** इसके द्वारा भाष्यकार ने **'अपरवैराग्य'** को प्रदर्शित किया है। अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक विषयों में यथार्थ दोषदृष्टि रखने वाला अपरवैराग्यसम्पन्न विरक्त साधक ही **'परवैराग्य'** के सोपान में आरुढ होने में समर्थ होता है। इस प्रकार विषयवैतृष्ण्यरूप वैराग्य विषयों के प्रति दोषदर्शन द्वारा 'परवैराग्य' रूप द्वारि का द्वार (हेतु) बनता है। व्यासभाष्य के **'पुरुषदर्शनाभ्यासात्'** पद का अर्थ तत्त्ववैशारदीकार इस प्रकार करते हैं–आगम, अनुमान तथा आचार्योपदेश द्वारा उपदिष्ट (साक्षात्कृत) पुरुषज्ञान का पौनःपुन्येन चिन्तन (आराधना) करने से विवेकज्ञानरूप बुद्धि की रजस् और तमस् से रहित नितान्त ध्यानमग्नरूप सात्त्विक एकतानता होती है; जिससे गुण (बुद्धि) और पुरुष का पूर्णरूप से **'भेदज्ञान'** होता है। अर्थात् पुरुष शुद्ध तथा अनन्त है और गुण (बुद्धि) इसके विपरीत अशुद्ध तथा नाशशील हैं–ऐसे भेदज्ञान (विवेकज्ञान) से आप्यायित (तृप्त) बुद्धि जिस साधक की होती है, वह योगी विरक्त कहलाता है। इस प्रकार के विरक्त साधक को **'धर्ममेघ'** संज्ञक (सम्प्रज्ञात) समाधि प्राप्त होती है। (तदनन्तर) धर्ममेधसमाधिप्राप्त योगी व्यक्त (अभिव्यक्त=स्थूल) तथा अव्यक्त (अनभिव्यक्त=सूक्ष्म) रूप धर्म वाले गुणों (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) से नितान्त विरक्त (अनासक्त) होता हुआ त्रिगुणात्मिका **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** (प्रकृतिपुरुषविषयक भेदज्ञान) से भी उदासीन (विरक्त, आसक्तिरहित) हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य दो प्रकार का है।

बालप्रिया–

'तस्माद् द्वयं वैराग्यम्'–उपरिवर्णित तथ्य का स्पष्टीकृत रूप इस प्रकार है–मुमुक्षु सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के प्राप्त्यर्थ सर्वप्रथम दृष्टानुश्रविक विषयों में अबाधित दोषदृष्टि (यतमानादि वैराग्यक्रम से) प्राप्त करता है। इस प्रकार की दोषदृष्टि से विषयवैतृष्ण्य हुए अपरवैराग्यसम्पन्न साधक को **'सम्प्रज्ञात'** समाधि प्राप्त होती है। तदनन्तर वैराग्य की पराकाष्ठा में बुद्धि से भिन्न पुरुष का ज्ञान होने पर

1. ख घ च छ ज झ त थ द ध न – **आख्यः** उपलभ्यते, क ग – **आख्यः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **तत्** उपलभ्यते, न – **तत्** नोपलभ्यते।

त्रिगुणात्मिका विवेकख्याति के प्रति भी विरक्त हुआ योगी असम्प्रज्ञातसमाधिस्थ होता है। अर्थात् विवेकख्याति में भी अलंबुद्धि रखने वाले लब्धसम्प्रज्ञात योगी को असम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होती है। इसलिये निष्ठा-द्वैविध्य (अवस्थाद्वय) से वैराग्य भी दो प्रकार का है। पहला सम्प्रज्ञातफलक **'अपरवैराग्य'** है और दूसरा असम्प्रज्ञातफलक **'परवैराग्य'** है।

पूर्व सूत्र में अपरवैराग्य का प्रतिपादन हो जाने पर भी तत्त्ववैशारदीकार तुलनात्मक दृष्टि से 'अपर' और 'पर' रूप दोनों वैराग्यों का पुनः कथन करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

पूर्वं हि वैराग्यं सत्त्वसमुद्रेकविधूततमसि रजःकणकलङ्कसंपृक्ते चित्तसत्त्वे। तच्च तौष्टिकानामपि समानम्। ते हि तेनैव प्रकृतिलया बभूवुः। [1]यथोक्तम्—वैराग्यात्प्रकृतिलयः इति। तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये, यदुत्तरम् तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। मात्रग्रहणेन निर्विषयतां सूचयति। तदेव हि तादृशं चित्तसत्त्वं रजोलेशमलेनाप्यपरामृष्टमस्याश्रयोऽत एव ज्ञानप्रसाद इत्युच्यते। चित्तसत्त्वं हि प्रसादस्वभावमपि रजस्तमःसम्पर्कान्मलिनतामनुभवति। वैराग्याभ्यासविमल-वारिधाराधौतसमस्तरजस्तमोमलं त्वतिप्रसन्नं ज्ञानप्रसीदमात्रपरिशेषं भवति।

सत्त्वाधिक्य के कारण अभिभूत तम किन्तु रजोलेश से युक्त चित्तसत्त्व (बुद्धि) में पहले **'अपरवैराग्य'** का उदय होता है। अर्थात् तमोगुण के नितान्त अभिभवपूर्वक रजोगुण के लेशमात्र से अनुविद्ध सत्त्वाधिक्य की अवस्था में उदीयमान वैराग्य **'अपरवैराग्य'** कहलाता है। 'तौष्टिकों' को भी इस प्रकार का अपर वैराग्य होता है। 'तौष्टिक' लोग इसी अपर वैराग्य से प्रकृतिलय को प्राप्त हुए अर्थात् **'प्रकृतिलय'** देव कहलाये। जैसा कि (सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण द्वारा) कहा गया है— 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः' अर्थात् वैराग्य से प्रकृतिलय होता है। इन दो प्रकार के वैराग्यों में से उत्तरवर्ती (पश्चाद्वर्ती) **'पर'** वैराग्य **'ज्ञानप्रसादरूप'** (ज्ञानप्रसाद मात्र) ही है। यहाँ **'मात्र'** शब्द के प्रयोग से चित्त के विषयराहित्य (निर्विषयक होने) को सूचित किया गया है। इस प्रकार रजोलेश से भी असम्पृक्त सत्त्वबहुलमात्र चित्तसत्त्व 'पर **वैराग्य'** का आश्रय होता है। अतएव परवैराग्य को **'ज्ञानप्रसाद'** कहते हैं। अर्थात् परवैराग्य का आधारभूत चित्तसत्त्व ज्ञानप्रसादरूप होने से आधाराधेयभाव सम्बन्ध से परवैराग्य को भी **'ज्ञानप्रसादमात्र'** कहा गया है। यद्यपि चित्तसत्त्व प्रसादस्वभाव (निर्मलस्वभाव=ज्ञानस्वभाव) वाला है, तथापि रजोगुण एवं तमोगुण के सम्पर्क से अपने में मलिनता का अनुभव करता है। किन्तु जब वैराग्य और अभ्यासरूप स्वच्छ जलप्रवाह से समस्त रजोगुण और तमोगुणरूप मल (मालिन्य) प्रक्षालित

1. क ख ग घ च छ ज झ त न — **यथा,** थ द ध — **तथा।**

हो जाता है, तब अतिप्रसन्न चित्तसत्त्व **'ज्ञानप्रसादमात्र'** से अवस्थित रहता है अर्थात् ऐसे चित्तसत्त्व के लिये ज्ञेय कुछ नहीं रहता है।

बालप्रिया–

'तौष्टिकानाम्'–अम्भ, सलिल, मेघ, वृष्टि, पार, सुपार, परापार, अनुत्तमाम्भ तथा उत्तमाम्भ संज्ञक नव तुष्टियों को प्राप्त करना ही जिनका प्रयोजन (लक्ष्य) होता है, वे साधक **'तौष्टिक'** कहलाते हैं।

सम्प्रति, सूत्रगत **'गुणवैतृष्ण्यम्'** पद के व्याख्यानार्थ अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तस्य गुणानुपादेयत्वाय दर्शयति–यस्योदय [1]इति। यस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिः। ख्यातिविशेषे सति वर्तमानख्यातिमानित्यर्थः। प्रापणीयं कैवल्यं प्राप्तम्। यथा वक्ष्यति–जीवन्नेव विद्वान्मुक्तो भवतीति। संस्कारमात्रस्य छिन्नमूलस्य [2]सिद्धत्वादिति भावः। कुतः प्राप्तम्? यतः–क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशा अविद्यादयः सवासनाः। नन्वस्ति धर्माधर्मसमूहो भवस्य जन्ममरणप्रबन्धस्य संक्रमः प्राणिनाम्। तत्कुतः कैवल्यमित्यत आह–छिन्न इति। श्लिष्टानि निःसंधीनि पर्वाणि यस्य स तथोक्तः। धर्माधर्मसमूहस्य समूहिनः पर्वाणि तानि श्लिष्टानि। न हि जातु जन्तुर्मरणजन्मप्रबन्धेन त्यक्ष्यते।[3] सोयं भवसंक्रमः क्लेशक्षये छिन्नः। यथा वक्ष्यति–क्लेशमूलः कर्माशयः, सति मूले तद्विपाकः इति।

परवैराग्य के द्वारा गुणों के प्रति भी होने वाली अनुपादेय (हेय) बुद्धि को भाष्यकार दिखलाते हैं–'**यस्योदय** इति।' जिस (परवैराग्य) के उदित होने पर योगी प्रत्युदितख्याति वाला अर्थात् ज्ञानप्रसादरूप ख्यातिविशेष में धर्ममेघसमाधिनिष्ठ होता है और ऐसा मानता है कि प्रापणीय (प्राप्त करने योग्य) '**कैवल्य**' को मैंने प्राप्त कर लिया है। जैसा कि श्रुति बतलाती है–'**जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति**' अर्थात् 'धर्ममेघसमाधिनिष्ठ विद्वान् शरीर-धारण करता हुआ ही मुक्त हो जाता है।' जीवन्मुक्त के शरीर-धारण का हेतु यह है कि छिन्नमूल वाले संस्कारों का अस्तित्व चित्त में सम्प्रति बना रहता है।

शङ्का–(पहले कहा गया कि मुक्त होते हुए भी साधक शरीर-धारण करता है। यदि व्यक्ति मुक्त है तो शरीरधारण कैसा? और यदि शरीर-धारण है तो मुक्तता कैसी? इन दो विरुद्ध स्थितियों की एकत्र सहावस्थिति कैसे सम्भव है? प्रथम विकल्प के

---

1. क ख ग थ द ध – **इति। यस्योदये सति योगी** उपलभ्यते, घ च छ ज झ त न – **इति–योगी** नोपलभ्यते।
2. क ख ग न – **सिद्धत्वात्,** घ च छ ज झ त थ द ध – **सत्त्वात्।**
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **त्यक्ष्यते,** थ द ध – **वियुज्यते।**

अनुसार मुक्त पुरुष के शरीर-धारण का कारण यदि संस्कारावशेष अर्थात् प्रारब्ध संस्कारास्तित्व को मान लिया जाय तो) जीवन्मुक्त के लिये यह कैसे कहा जाता है कि उसने प्रापणीय कैवल्य को प्राप्त कर लिया है?

समाधान–जीवन्मुक्त को मुक्त इसलिये कहा जाता है, क्योंकि उसके नष्ट करने योग्य अविद्यादि क्लेश वासनासहित नष्ट हो चुकते हैं।

शङ्का–प्राणियों के जन्म-मरण-रूप संसार चक्र का कारण धर्माधर्मपुञ्ज है, अतः उसके नष्ट हुए विना कैवल्य कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार बतलाते हैं–'**छिन्न इति**।' '**छिन्नः श्लिष्टपर्वा**' का विग्रह है–'**श्लिष्टानि निःसंधीनि पर्वाणि यस्य सः**' अर्थात् जिसके (धर्माधर्मरूप) श्लिष्ट पर्व सन्धिरहित हो गये हैं ऐसा '**भवसंक्रम**' यहाँ विवक्षित है। जब कि धर्माधर्मसमूहरूप समूही के जन्म और मरणरूप पर्व संश्लिष्ट रहते हैं। कोई भी प्राणी जन्म-मरणरूप श्रृंखला का अकस्मात् परित्याग नहीं कर सकता है। इस प्रकार अविद्यादि क्लेश के क्षीण होने पर (घटीयन्त्रवत्) जन्म-मरणरूप चक्र का नाश हो जाता है। इस विषय का प्रतिपादन आगे किया जायेगा–'**क्लेशमूलः कर्माशयः**'... यो. सू. २/१२, तथा '**सति मूले तद्विपाकः**...' यो. सू. २/१३।

बालप्रिया–

उक्त तथ्य का सारांश इस प्रकार है–प्रत्युदितख्यातिमान् अर्थात् धर्ममेघसमाधि-निष्ठ के ही अविद्यादि क्लेश निवृत्त होते हैं। स्वयं पतञ्जलि का सूत्र है–'**ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः**' ४/३०। '**भव**' अर्थात् जन्म-मरण की अविच्छिन्न श्रृंखला घटीयन्त्र-वत् है, जिसका कारण (कर्मजन्य) धर्माधर्मरूप समूह है। धर्माधर्म का समूलोच्छेद '**ज्ञानप्रसाद**' के विना कथमपि सम्भव नहीं है। और **ज्ञानप्रसाद**' का उदय '**पर वैराग्य**' के वातावरण में ही होता है। इस प्रकार परवैराग्यसम्पन्न साधक छिन्नक्लेश वाला होता है और इसी क्लेशछिन्नता का अपर पर्याय '**जीवन्मुक्ति**' है। इसमें श्रुतिद्वय प्रमाण हैं–'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि**', '**उभे उ हैवैष एते तरति**।'

विषय का उपसंहार करते हुए '**ज्ञानप्रसाद**' का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु प्रसंख्यानपरिपाकं धर्ममेघं च[1] **निरोधमन्तरा किं तदस्ति यज्ज्ञानप्रसादमात्रमित्यत आह–ज्ञानस्यैवेति। धर्ममेघभेद एव परं वैराग्यं नान्यत्। यथा वक्ष्यति–प्रसंख्यानेऽप्य-**

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **च निरोधं**, थ द ध – **निरोधं च**।

कुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः, तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् इति च। तस्मादेतस्य हि नान्तरीयकमविनाभावि कैवल्यमिति॥१६॥

शङ्का–प्रसंख्यानपरिपाक और निरोधरूप धर्ममेघ से अतिरिक्त वह क्या है, जिसे भाष्यकार ने **'ज्ञानप्रसादमात्र'** कहा है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'ज्ञानस्यैवेति।'** ज्ञान की पराकाष्ठा अर्थात् ज्ञान की अन्तिम अवस्थाविशेष को **'परवैराग्य'** कहते हैं। और यह परवैराग्य **'धर्ममेघ'** का ही भेद है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं। ऐसा ही आगे (के सूत्रों में) कहा जायेगा– **'प्रसंख्याने...समाधिः'** ४/२९; तथा **'तदा...ज्ञेयमल्पम्'** ४/३१। इसीलिये कैवल्य को परवैराग्य का नान्तरीयक अर्थात् अविनाभावी कहा गया है अर्थात् परवैराग्य के होने पर कैवल्य भी नियतरूप से प्राप्त होता है॥१६॥

बालप्रिया–

'नान्तरीयकम्'–(न अन्तराविनाभवः– अन्तरा+छ+कन्) येन विना यत् न भवतीति तत् नान्तरीयकम् अर्थात् जो अलग न किया जा सके, अपितु अनिवार्य रूप से जुड़ा हो उसे 'नान्तरीयक' कहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि परवैराग्य होने पर भी कैवल्य प्राप्त न हो। परवैराग्य और कैवल्य में अविनाभावसम्बन्ध है॥१६॥

योगवार्त्तिकम्

अपरवैराग्यमुक्त्वा परवैराग्यमाह–तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। तदिति वैराग्यं परामृश्यते। तथा चात्मद्वयान्यतरसाक्षात्काराभ्यासाद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेषु वैतृष्ण्यं परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः। पूर्वसूत्रोक्तवैराग्यादस्य भेदं [1]दर्शयति–दृष्टेत्यादिना। पूर्वसूत्रे विषयदोषदर्शनाद्विषयेष्वेव वैराग्यमुक्तं न तु ज्ञाने, तदानीं ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसाम्येऽपि नालंबुद्धिरूपं वैराग्यं संभवति; अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवत्त्वात्। अत्र तु[2] सूत्रे ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्यादौ सिद्धे तेनैव दोषदर्शनेनानात्मत्वदृष्ट्या च ज्ञानसाधारणेष्वखिलकार्यकारणेष्वात्मतृप्तस्योपेक्षेति वैराग्ययोर्भेद इति वाक्यार्थः। तच्छुद्धीति। पुरुषशुद्धिप्रविवेकश्चितिशक्तिरपरिणामिनीत्यादिना दर्शितस्तेनाप्यायिता तृप्ता समाप्तपुरुषार्था बुद्धिर्यस्येति विग्रहः। व्यक्ताव्यक्तेति। व्यक्ताव्यक्ते स्थूलसूक्ष्मे कार्ये धर्मावाश्रिते येषु सत्त्वादिगुणेषु तेभ्यः, तैः कार्यैः सहितेभ्यस्[3]तेभ्य इति यावत्। तद्[4]द्वयमिति। तत्तस्मादुभयं परस्परभिन्नं वैराग्यमित्यर्थः।

---

1. क घ च छ – दर्शयति, ख ग – प्रतिपादयति।
2. क ख घ च छ – तु सूत्रे, ग – सूत्रे तु।
3. क ग घ च छ – तेभ्यः उपलभ्यते, ख – तेभ्यः नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च – द्वयं, छ – उभयम्।

अपरवैराग्य को बतलाकर सम्प्रति सूत्रकार परवैराग्य का स्वरूप बतलाते हैं– '**तदिति**।' सूत्रगत '**तत्**' पद से वैराग्य का ग्रहण होता है। अर्थात् '**तत्**' पद वैराग्य का परामर्शक है। आत्मद्वय अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में से किसी एक के साक्षात्कार का अभ्यास करने से गुणमात्र के प्रति उत्पन्न होने वाली वितृष्णा को '**परवैराग्य**' कहते हैं। '**पर**' शब्द का अर्थ है–श्रेष्ठ, (क्योंकि '**परवैराग्य**' वैराग्य का चरमोत्कृष्टरूप है)।

भाष्यकार पूर्व सूत्र में वर्णित वैराग्य से प्रकृत सूत्र द्वारा प्रतिपादित वैराग्य के अन्तर को प्रदर्शित करते हैं–'**दृष्टेत्यादिना**।' पिछले सूत्र के अनुसार विषयदोषदर्शन से (दृष्ट एवं आनुश्रविक) विषयों के प्रति ही वैराग्य (का उदय) होता है, न कि ज्ञान के प्रति भी वैतृष्ण्य जागरित होता है। यद्यपि '**अपरवैराग्य**' की अवस्था में ज्ञान के प्रति भी विनाशित्व आदि दोषदर्शन विद्यमान रहता है तथापि उस अवस्था में ज्ञान के प्रति अलंबुद्धि (हेयबुद्धि) रूप वैराग्य होना सम्भव नहीं रहता है, क्योंकि अपरवैराग्य में अविद्या की निवृत्ति करना ही प्रयोजन (लक्ष्य) रहता है। प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर उस ज्ञान के प्रति भी विनाशित्व तथा अनात्मत्वादि दोषदर्शन से 'आत्मतृप्त' योगी का समस्त कार्यकारणात्मक ज्ञानसाधारणों के प्रति उपेक्षाभाव जागरित होता है। यही दोनों वैराग्यों में अन्तर है।

योगवार्त्तिककार भाष्य के परवैराग्यबोधक अग्रिम अंश को उठाते हैं– '**तच्छुद्धीति**।' बुद्धि की अपेक्षा पुरुष की शुद्धि का पार्थक्यरूप पीछे '**चितिशक्तिरपरिणामिनी**' १/२ के भाष्य द्वारा प्रदर्शित किया जा चुका है। चितिशक्ति–अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, शुद्धा तथा अनन्ता है तो बुद्धि इसके विपरीत परिणामिनी, प्रतिसंक्रमवती, सुखदुःखाद्यशुद्धिमती तथा परिच्छिन्ना है–इस प्रकार के भेदज्ञान से 'आप्यायित' अर्थात् तृप्त अर्थात् कृतकृत्य बुद्धि विरक्त साधक की होती है।

भाष्य का अग्रिम पद है–'**व्यक्ताव्यक्तेति**।' 'व्यक्ताव्यक्त' रूप स्थूल-सूक्ष्मात्मक कार्य, जिसे 'धर्म' कहते हैं, यह कार्यात्मक महदादि धर्म सत्त्वादि त्रिगुण के आश्रित रहता हैं। इस प्रकार योगी महदादि गुणों से विरक्त हो जाता है। भाष्य का अग्रिम पद है–'**तद्द्वयमिति**'। इस कारण से दोनों वैराग्य परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। (सरल शब्दों में विषयविषयक वैराग्य '**अपरवैराग्य**' तथा ज्ञानविषयक वैराग्य '**परवैराग्य**' कहलाता है। ऐहिक दृष्ट विषयों में तथा पारलौकिक अदृष्ट विषयों में दोषदृष्टि वाला रागरहित योगी प्रथम प्रकार के **अपरवैराग्य** से सम्पन्न होता है और पुरुषदर्शन अर्थात् विवेकज्ञान के अभ्यास से त्रिगुणात्मक प्रकृति से पृथक् शुद्ध अपरिणामित्व आदि ज्ञानरूप पुरुष के विवेक द्वारा आप्यायित अर्थात् पुरुषार्थ समाप्त होने से तृप्ति का

अनुभव करने वाला स्थूल-सूक्ष्म कार्यरूप धर्मवाले सत्त्वादि गुणों से रागरहित योगी द्वितीय प्रकार के **'परवैराग्य'** से सम्पन्न होता है)।

सम्प्रति, परवैराग्य के **'परत्व'** पर अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

योगवार्त्तिकम्

द्वितीयवैराग्यस्य परत्वे हेतुमाह–तत्र यदुत्तरमिति। ज्ञानप्रसादमात्रं वैराग्यमित्यागामिनाऽन्वयः ज्ञानस्य प्रसादश्च स्वयं व्याख्यास्यते। ननु वैतृष्ण्यं तृष्णाविरहरूपं वैराग्यं सूत्रकारेणोक्तं तद्विहाय कथं भाष्यकारेण ज्ञानरूपं तदुच्यत इति चेत्? न; शब्दभेदेऽप्यर्थाभेदात्, न ह्यभावोऽस्मन्मतेऽतिरिक्तोऽस्ति, अधिकरणस्यावस्थाविशेषस्यैवाभावत्वात्। तथा च चित्तस्यैव तादृशी ज्ञानावस्थैव तृष्णाविरह इति। यदि च सुषुप्त्यादौ तृष्णाविरहोऽपेक्षितस्तदा ज्ञानप्रसादयोग्यतैव परवैराग्यमुच्यताम्। योग्यता च निर्मलसत्त्वतेति। अपि च भवतु वैतृष्ण्यमेव वैराग्यं तथाऽपि ज्ञानप्रसादेनैव वैतृष्ण्यगतो विशेषोऽनुमीयत इति लिङ्गलिङ्गिनोरभेदोपचारात्सूत्रभाष्ययोर्न विरोधः। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व इत्यागामिसूत्रेऽपि परवैराग्यस्य प्रत्ययत्वलाभाच्चेति।

भाष्यकार दूसरे वैराग्य (परवैराग्य) की श्रेष्ठता (परता) में हेतु बतलाते हैं– **'तत्र यदुत्तरमिति।'** आगमिक लोग ज्ञानप्रसादमात्र को (पर) वैराग्य कहते हैं। ज्ञान के प्रसाद (ज्ञानप्रसाद) को स्वयं भाष्यकार आगे बतलायेंगे।

शङ्का–'सूत्रकार ने **वैतृष्ण्य** अर्थात् तृष्णाराहित्यरूप वैराग्य का प्रतिपादन किया है, तो फिर इस प्रकार के वैराग्य को छोड़कर भाष्यकार भला कैसे ज्ञानप्रसादरूप वैराग्य को बतला रहे हैं? (अर्थात् सूत्र और भाष्य में विसंगति प्रतीत होती है)?

समाधान–बात ऐसी नहीं है। तृष्णाभावरूप वैराग्य और ज्ञानप्रसादरूप वैराग्य में शब्दतः भेद-प्रतीति है। अर्थ की दृष्टि से दोनों में साम्य (अभेद) है। योगमत में अभाव अतिरिक्त पदार्थ नहीं है अपितु अधिकरण का अवस्थाविशेष ही 'अभाव' पद का अर्थ है। अतः चित्त की उक्त ज्ञानावस्था को ही तृष्णाविरह (वैतृष्ण्य) कहते हैं। और यदि सुषुप्ति आदि की अवस्था में तृष्णाभाव अपेक्षित है तो ज्ञानप्रसादयोग्यता को ही **'परवैराग्य'** कहना चाहिये। किञ्च **'योग्यता'** चित्त के (राजस तथा तामस मल से रहित) विशुद्ध सात्त्विकरूप को कहते हैं।

(**'वैराग्य'** को **'ज्ञानप्रसादरूप'** कहे जाने का द्वितीय समाधान पक्ष यह हो सकता है कि) विषयवितृष्णा को ही वैराग्य माना जाय, तथापि ज्ञानप्रसाद (ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था) के द्वारा ही वितृष्णागत वैशिष्ट्य (विशेष) का अनुमान किया जाता है और इस प्रक्रिया से लिङ्ग-लिङ्गी (कार्य-कारण) में अभेद व्यवहार होने से सूत्र तथा भाष्य में वर्णित वैराग्य के स्वरूप में विरोध नहीं समझना चाहिये।

तृतीय समाधान यह है कि **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'**...१/१८ इस आगामी सूत्र के द्वारा भी परवैराग्य को प्रत्ययरूप अर्थात् ज्ञानरूप ही प्रतिपादित किया गया है। (इससे भी सूत्र तथा भाष्य में प्रतिपादित तृष्णाविरहरूप वैराग्य और ज्ञानप्रसादरूप वैराग्य में प्रतिभासित अन्तर्विरोध का निरसन हो जाता है)।

परवैराग्य की ज्ञानप्रसादरूपता वर्णित करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार **'ज्ञानप्रसाद'** के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ज्ञानप्रसादस्य लक्षणमाह–यस्योदय इति। यस्य ज्ञानप्रसादस्योदये सति। एतस्यैव विवरणम्–प्रत्युदितख्यातिरिति। प्रत्युदितख्यातिर्निष्पन्नात्मज्ञानो योगीति। प्रापणीयं ज्ञानं प्राप्तं सिद्धं यतः[1] क्षीणा अविद्यादयः क्षेतव्याः क्लेशाः अतश्च श्लिष्टानि[2] निःसंधीनि पर्वाणि यस्य स श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो देहाद्देहान्तरसंचाराख्यः संसारश्छिन्नः पुनर्न भवितेति यावत्। यस्य संसारस्याविच्छेदाज्जन्ममरणप्रवाहोऽतिदुःखदो भवतीत्येवं मन्यत इत्यन्वयः।

भाष्यकार **'ज्ञानप्रसाद'** का लक्षण करते हैं–**'यस्योदय** इति। (यहाँ **'यस्य'** शब्द से ज्ञानप्रसाद को लिया गया है, अर्थ हुआ कि इस प्रकार ज्ञानप्रसाद के प्राप्त होने) पर। **'ज्ञानप्रसाद'** पद का ही विवरण है–**'प्रत्युदितख्यातिरिति।'** प्रत्युदितख्याति अर्थात् निष्पन्न (अनुभूत) आत्मज्ञान वाला योगी। अर्थात् जिस समय योगी में 'ज्ञानप्रसाद' का उदय होता है, उस समय आत्मज्ञानप्राप्त योगी ऐसा मानता है कि प्राप्य ज्ञान को प्राप्त (सिद्ध) कर लिया है, क्योंकि क्षीण करने योग्य अविद्यादि क्लेश क्षीण (नष्ट) हो गये हैं। अतः **'श्लिष्टपर्व'** अर्थात् **श्लिष्टानि निःसंधीनि पर्वाणि यस्य सः** इस विग्रह के अनुसार सन्धिरहित हो गये हैं पर्व जिसके ऐसा श्लिष्टपर्व वाला **'भवसंक्रम'** अर्थात् एक देह से अपर देह में सञ्चाररूप (आवागमनरूप) संसार छिन्न हो गया है। अतः पुनः संसारापत्ति नहीं होगी। क्योंकि ज्ञानप्रसादयुक्त योगी ऐसा मानता है कि संसार का उच्छेद न होने से जन्म-मरण का अत्यन्त दुःखदायी यह अनवरत प्रवाह चलता रहता है।

बालप्रिया–

'निःसन्धीनि पर्वाणि...श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः'–संसार की श्लिष्टपर्वता गुणपर्व के रूप से आगे बतलाई जायेगी। तदर्थ सूत्र है–**'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि'** २/१९।

शब्दान्तर से **'ज्ञानप्रसाद'** का विशदीकरण किया जा रहा है–

---

1. क घ च छ – **यतः**, ख – **अतः**, ग – **यत्।**
2. क ख ग घ च – **श्लिष्टानि**, छ – **क्लिष्टानि** (उभयत्र)।

योगवार्त्तिकम्

ज्ञानप्रसादमात्रमित्युक्तं शब्दान्तरेण विवृणोति–ज्ञानस्यैवेति। ज्ञानस्य पराकाष्ठा च विवेकख्यातावलंप्रत्ययो दुःखात्मिकेयमपि शाम्यत्वितिरूप इत्यर्थः। अस्य ज्ञानकाष्ठात्वे हेतुमाह–एतस्यैवेति। एतस्यैव यतो ज्ञानप्रसादस्य कैवल्यं नान्तरीयकं नियतम्, [1]एतस्मिन्नेव सति कैवल्यमावश्यकं नान्यस्मिन् ज्ञाने यमनियमादौ वैराग्ये वा तत्सत्त्वेऽप्यसंप्रज्ञातानुदयेनाशेषतः प्राचीनकर्मक्षयाऽनियमतः कषायसंभवतश्च मोक्षे विलम्बसम्भवादिति॥१६॥

भाष्यकार पूर्वोक्त **'ज्ञानप्रसादमात्र'** पद का दूसरे शब्दों में विवरण करते हैं– **'ज्ञानस्यैवेति'** विवेकख्याति के प्रति जागरित 'दुःखात्मिका विवेकख्यातिरूप वृत्ति भी निरुद्ध (शान्त) हो जाय'–इत्याकारक **'अलंप्रत्यय'** को ज्ञान की पराकाष्ठा कहते हैं। भाष्यकार अलंप्रत्ययरूप परवैराग्य में ज्ञान की अन्तिम सीमा निहित होने का कारण बतलाते हैं–**'एतस्यैवेति'**। क्योंकि कैवल्य को ज्ञानप्रसाद (परवैराग्य) का ही नान्तरीयक कहा जाता है। ज्ञानप्रसाद के उदित होने पर ही कैवल्य अवश्यंभावी होता है, किसी अन्य प्रकार के ज्ञान, यम, नियमादि अथवा वैराग्य में कैवल्य प्राप्त होना निश्चित नहीं रहता है और कथञ्चित् सम्भव होने पर भी असम्प्रज्ञात योग का उदय न होने से निःशेषरूप से प्राचीन कर्म का नाश अवश्यंभावी नहीं रहता है तथा (चित्त में) रागादि कषाय (मल) विद्यमान रहने से मोक्ष में विलम्ब होने की सम्भावना बनी रहती है॥१६॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरणिका के साथ उपस्थित कराते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते संप्रज्ञातः समाधिरिति?

इस तरह कहे गये अभ्यास और वैराग्यरूप दो उपायों से निरुद्ध चित्तवृत्ति वाले योगी की सम्प्रज्ञात समाधि (शास्त्रों में) किस प्रकार की कही गई है? (तदर्थ सूत्र है)–

योगसूत्रम्

वितर्कविचारानन्दास्मिता[2]रूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से सम्बद्ध विषय (रूप) का अनुगम (साक्षात्कार) होने से 'सम्प्रज्ञात' समाधि कही जाती है॥१७॥

---

1. क ग घ च छ – **एतस्मिन्, ख – तस्मिन्।**
2. **अनुगमात्, स्वरूपानुगमात्–इति पाठान्तरे।**

व्यासभाष्यम्

वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः[1] सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः॥१७॥

आलम्बन में समाहित चित्त का 'स्थूल' विषयक आभोग (साक्षात्कार) 'वितर्क' कहलाता है। 'सूक्ष्म' विषयक आभोग 'विचार' कहलाता है। 'ह्लाद' विषयक आभोग 'आनन्द' है तथा बुद्धि और पुरुष की एकाकार बुद्धि को 'अस्मिता' कहते हैं। 'सम्प्रज्ञात' समाधि के चार भेदों में पहली जो 'सवितर्क' सम्प्रज्ञात समाधि है वह वितर्क, विचार आनन्द और अस्मिता इन चारों से अनुगत (युक्त) है। दूसरी जो 'सविचार' सम्प्रज्ञात समाधि है, वह वितर्क से रहित (शेष तीनों से अनुगत) है। तीसरी जो 'सानन्द' सम्प्रज्ञात समाधि है, वह (वितर्क तथा) विचार से रहित (शेष दो से अनुगत) है और चौथी जो 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि है, वह तीनों से रहित (केवल अस्मिता से युक्त) है। ये सभी समाधियाँ सालम्बन (सबीज) होती हैं॥१७॥

तत्त्ववैशारदी

उपायमभिधाय सप्रकारोपेयकथनाय पृच्छति—अथोपायद्वयेनेति। वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। सम्प्रज्ञातपूर्वकत्वादसंप्रज्ञातस्य प्रथमं संप्रज्ञातोपवर्णनम्। संप्रज्ञातसामान्यं वितर्कविचारानन्दास्मितानां रूपैः स्वरूपैरनुगमात्प्रतिपत्तव्यम्। वितर्कं विवृणोति—चित्तस्येति। स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः। स च स्थूलविषयत्वात्स्थूलः। यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति, अथ सूक्ष्मम् एवं प्राथमिको योगी स्थूलमेव पाञ्चभौतिकं चतुर्भुजादि ध्येयं साक्षात्करोत्यथ सूक्ष्ममिति।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यरूप उपाय (साधन) का प्रतिपादन करके सम्प्रति, प्रकार (भेद) के साथ उपेय (साध्य) को बतलाने के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं—'**अथोपायद्वयेनेति।**' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरुद्ध राजस तथा तामस चित्तवृत्ति वाले योगी के चित्त को जो सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, वह शास्त्रों में किस प्रकार की (किन भेदों वाली) कही गई है? तदर्थ सूत्र है—'**वितर्केति।**' सम्प्रज्ञातपूर्वक असम्प्रज्ञात के प्राप्त होने से (सम्प्रज्ञात के पश्चात् असम्प्रज्ञात के निष्पन्न होने से) प्रथमतः सम्प्रज्ञातसमाधि का उपवर्णन (उप+वर्ण+ल्युट्) सूक्ष्म

---

1. क ख ग घ च छ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **विकलः**, ज – **विषयः**, झ – **विलयः**।

चित्रण किया जा रहा है। सूत्रगत **'रूप'** शब्द का अर्थ **'स्वरूप'** है इसके अनुसार सूत्र का अर्थ होता है–वितर्कस्वरूप, विचारस्वरूप, आनन्दस्वरूप तथा अस्मितास्वरूप से युक्त सम्प्रज्ञातसामान्य को जानना चाहिये (अर्थात् वितर्कादि चार रूपों के द्वारा सम्प्रज्ञात का स्वरूपाभिधान होता है, जो ध्येयातिरिक्त वृत्तिनिरोधपूर्वक ध्येयाकार चिन्तनरूप भावनाविशेष है)।

भाष्यकार (सम्प्रज्ञात के चार रूपों में से) वितर्क=वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात का व्याख्यान करते हैं–**'चित्तस्येति'।** स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा को **'आभोग'** कहते हैं। अर्थात् एकाग्रचित्त की वह वृत्ति जो **'ध्येय'** पदार्थ का साक्षात्कार कराने वाली होती है, **'आभोग'** पदवाच्य है। और यह **'आभोग'** स्थूलविषयक होने से **'स्थूलवितर्कानुगत'** आभोग कहलाता है। जिस प्रकार धनुषविद्या का प्रारम्भिक अभ्यासी (अभ्यास के प्रारम्भ में) 'लक्ष्यभूत' 'स्थूल' पदार्थ का ही अनुसन्धान करता है, तत्पश्चात् सूक्ष्म लक्ष्यानुसन्धान। अर्थात् धनुषाभ्यासी का लक्ष्यभेद स्थूल से सूक्ष्म विषय की ओर अग्रसरित होता है। उसी प्रकार (योगाभ्यास की बाल्यावस्था में) बाल योगी (प्राथमिक योगाभ्यासी) स्थूलगत चतुर्भुजादि पाञ्चभौतिक ध्येय पदार्थ का ही साक्षात्कार करता है, तत्पश्चात् 'सूक्ष्म' पदार्थ (योगी के) साक्षात्कार का विषय बनता है।

बालप्रिया–

'चित्तस्याऽऽलम्बने'–में **'चित्त'** पद का अन्वय दो प्रकार से करते हुए वाक्यार्थ-निष्पत्ति इस प्रकार की जाती है–(१) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येयालम्बन में चित्त को जो स्थूलविषयक साक्षात्कार (आभोग) होता है, वह साक्षात्कार स्थूलविषयक होने से **'स्थूल'** कहलाता है। और यही स्थूलविषयक आभोग (चित्त का पूर्णरूप से स्थूलाकाराकारित्व) 'वितर्करूपानुगत' सम्प्रज्ञात है। (२) अथवा चित्त के स्थूल आलम्बन में चित्त का जो 'स्थूल' 'आभोग' है, वह **'वितर्क** कहलाता है।

सम्प्रति, **'विचार'** संज्ञक सूक्ष्मविषयक आभोग की विषय-सम्बन्धी इयत्ता बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एवं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोगः स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपञ्चतन्मात्रलिङ्गालिङ्गविषयो विचारः।

'सूक्ष्म' विषय को आलम्बन बनाने पर चित्त को जो सूक्ष्मविषयक 'आभोग' (साक्षात्कार) प्राप्त होता है, वह आकाशादि स्थूल पञ्चमहाभूत के कारणभूत सूक्ष्म शब्दादि पञ्चतन्मात्र, लिङ्ग (बुद्धि) तथा अलिङ्ग (प्रकृति) विषयक होता है। यही आभोग **'विचार'** कहलाता है।

बालप्रिया–

तत्त्वसाक्षात्कारवती 'विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में साधक को पञ्चतन्मात्र, बुद्धि तथा प्रकृति–इन सात सूक्ष्म पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान होता है। चित्त का यही सूक्ष्मविषयक आभोग '**विचार**' पद द्वारा परिभाषित है। यह आगे स्पष्ट किया जायेगा कि '**समापत्ति**' की दृष्टि से '**वितर्क**' और '**विचार**' दोनों **ग्राह्य-समापत्ति** हैं। तदर्थ सूत्र है–**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः १/४१।**

सम्प्रति, '**आनन्द**' संज्ञक आभोग के विषय को बतलाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं ग्राह्यविषयं दर्शयित्वा ग्रहणविषयं दर्शयति–आनन्द इति। इन्द्रिये [1]स्थूल आलम्बने चित्तस्याभोगो [2]ह्लाद आनन्दः। प्रकाशशीलतया खलु सत्त्वप्रधानादहंकारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि। सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानीति तस्मिन्नाभोगो ह्लाद[3] इति।

इस प्रकार '**ग्राह्य**' विषयक '**वितर्क**' और '**विचार**' योग को बतलाकर '**ग्रहण**' विषयक 'आनन्द' योग को भाष्यकार दिखलाते हैं–'**आनन्द इति**।' स्थूलविषयक इन्द्रिय के विषय में चित्त का ह्लाद रूप आभोग '**आनन्द**' कहलाता है। (अर्थात् '**आनन्द**' रूप सम्प्रज्ञात योग में स्थूलविषयिणी इन्द्रियों का साक्षात्कार करने में चित्त का एकाग्रीकरण होता है)। प्रकाशशील होने से सत्त्वप्रधान अहंकार से इन्द्रियाँ अभिव्यक्त होती हैं। सत्त्वगुण सुखात्मक होता है। अतः इन्द्रियाँ भी सुखरूप हैं और सुखात्मक इन्द्रियों का आभोग (साक्षात्कार) '**ह्लाद**' पदवाच्य है।

बालप्रिया–

'**आह्लाद**':–योगसूत्र के कुछ टीकाकार इन्द्रियविषयक आभोग को आनन्दाख्य सम्प्रज्ञात नहीं मानते हैं, अपितु सूक्ष्मालम्बनविषयक आभोगविशेष को ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग मानते हैं, किन्तु यह अविवेकपूर्ण कथन है। क्योंकि '**क्षीणवृत्तेः**' इस अग्रिम सूत्र में वक्ष्यमाण गृहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य संज्ञक तीन समापत्तियों का ही यहां चार प्रकार में पृथकीकरण हुआ है। जैसे 'ग्राह्य' समापत्ति स्थूल और सूक्ष्म ग्राह्यभेद के कारण 'वितर्क' और 'विचार' नाम से जानी जाती है और 'ग्रहीतृ' समापत्ति अस्मितानुगत नाम से कही जाती है। अतः अवशिष्ट 'ग्रहण' समापत्ति को आनन्दानुगत रूप से ही समझना चाहिये। '**ग्रहण**' पद से इन्द्रियों को लिया जाता है–यह सर्वसम्मत पक्ष है।

---

1. क ख ग च थ द ध – **स्थूले**, घ छ ज झ त न – **स्थूल**०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **ह्लाद आनन्दः**, द – **आह्लाद आनन्दः**, थ ध – **आह्लादः**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **ह्लादः**, थ द ध – **आह्लादः**।

सम्प्रति, सम्प्रज्ञात के चतुर्थ भेद का प्रस्तुतीकरण हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ग्रहीतृविषयं संप्रज्ञातमाह–एकात्मिका संविदिति। अस्मिताप्रभवाणीन्द्रियाणि। तेनैषा-**मस्मिता सूक्ष्मं रूपम्। सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संविदिति। तस्यां च ग्रहीतुरन्तर्भावाद् भवति ग्रहीतृविषयः संप्रज्ञात इति। चतुर्णामपरम**[1]प्यवान्तरविशेषमाह–**तत्र प्रथम इति। कार्यं कारणानुप्रविष्टं न कारणं कार्येण।** तदयं स्थूल आभोगः स्थूलसूक्ष्मे-**न्द्रियास्मिताकारणचतुष्टयानुगतो भवति। उत्तरे तु** त्रिद्व्येककारणकास्त्रिद्व्येकरूपा भवन्ति। **असंप्रज्ञाताद् भिनत्ति–सर्व एत इति॥१७॥**

गृहीतृविषयक अस्मितानुगत योग को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एकात्मिका संविदिति**' इन्द्रियों की अभिव्यक्ति (प्रभव) अस्मिता से होती है। इससे इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप 'अस्मिता' है। और यह अस्मितारूप बुद्धि गृहीतृरूप आत्मतत्त्व के साथ एकात्मापन्न होकर साक्षात्कृत होती है। ग्रहीतृविषयक समापत्ति में गृहीतृ=पुरुष (आत्मा) का अन्तर्भाव होने से इसे गृहीतृविषयक सम्प्रज्ञात अर्थात् अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात कहते हैं। इन चार प्रकार के सम्प्रज्ञात योग में एक अन्य प्रकार के अन्तर को भी भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं–'**तत्र प्रथम इति**' (यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि)–कार्य, कारण में अनुप्रविष्ट रहता है न कि कार्य में कारण। इसलिये यह स्थूल आभोग स्थूल-सूक्ष्म-इन्द्रिय और अस्मितारूप कारणचतुष्टय से युक्त (अनुगत) होता है। उत्तरवर्ती विचारादि भेद क्रमशः तीन, दो तथा एक कारण वाले हैं। अतः ये विचारादि योग तीन, दो तथा एक रूपानुगत होते हैं। सम्प्रज्ञात को असम्प्रज्ञात से पृथक् करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**सर्व एत इति**' सम्प्रज्ञात के ये सभी भेद सालम्बन हैं। अर्थात् असम्प्रज्ञात निरालम्बन योग है॥१७॥

बालप्रिया–

सम्प्रज्ञात योग के चार भेदों में विषय-साक्षात्कार '**स्थूल**' कार्य से '**सूक्ष्म**' कारण की ओर अग्रसरित होता है तथा सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कारणान्तर्हित होता है। योग की शब्दावली में अभिव्यक्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में अनागतलक्षणपरिणाम से रहता है। अभिव्यक्ति के पश्चात् कार्य कारण में वर्तमान लक्षणपरिणाम से विद्यमान रहता है तथा टूट जाने पर वह कारण में अतीत लक्षणपरिणाम से रहता है। अतः कारण में कार्य की अनुप्रविष्टता सार्वकालिक हैं। जिस प्रकार माला की पूर्णता में इकाईभूत प्रत्येक मुक्तिका दूसरी, तीसरी और अन्तिम मुक्तिका से सम्बद्ध होकर साधनत्व को प्राप्त होती है, उसी प्रकार कारण

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – अपि उपलभ्यते, थ द ध – अपि नोपलभ्यते।

में कार्य की अनुप्रविष्टता का सिद्धान्त कार्य-कारण की अविच्छिन्न परम्परा को इंगित करता है और कार्य का कारणानुप्रवेश उसको कारणपरम्परा के पर्यवसानपर्यन्त ले जाता है। किन्तु कारण अपने पूर्व-पूर्व कार्य को पीछे छोड़ता हुआ उत्तरोत्तर कारण का कार्य बनता जाता है–सांख्ययोग के कार्यकारणवाद का यह पहलु अत्यन्त स्फुट है। इसी की भित्ति पर वितर्कादि का चतुष्टयानुगत, तृतीयानुगत, द्वितीयानुगत एवं एकानुगत वाला सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

सम्प्रज्ञात विषयसाक्षात्कार वाली अवस्था है। अतः सम्प्रज्ञात योग को '**सालम्बन**' कहना युक्तिसंगत है। क्योंकि ज्ञान सविषयक ही होता है। असम्प्रज्ञात योग में कुछ जानने के लिये शेष नहीं रह जाता है। अतः उस अवस्थाविशेष को 'निरालम्बन' कहा जाता है॥१७ ॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं सामान्यतो योगस्तत्साधनं चोक्तम्। इदानीं विशेषतो योगतत्साधने वक्तव्ये, तत्रादौ योगगतमवान्तरं विभागं दर्शयिष्यति सूत्रकारः, तत्सूत्रावताराय पृच्छति–अथोपायेति। उपायद्वयेनाभ्यासवैराग्याभ्यां निरुद्धराजसतामसवृत्तेः पुरुषस्य कथं कैः प्रकारभेदैः संप्रज्ञातयोगः शास्त्रेषु कथ्यत इत्यर्थः। अत्र प्रत्युत्तरं सूत्रम्–वितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमात् संप्रज्ञातः।

इस प्रकार योग और उसके साधन के विषय में सामान्यरूप से विचार किया गया है। सम्प्रति, योग और उसके साधन का विशेषरूप से प्रतिपादन करना चाहिये। इनमें से योग के अवान्तर भेदों को सूत्रकार प्रथमतः प्रदर्शित करेंगे। योग के भेदप्रतिपादक सूत्रजात को अवतरित करने के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं–'**अथोपायेति**। अभ्यास और वैराग्यरूप उपायों से निरुद्ध राजस तथा तामस वृत्ति वाले पुरुष का किस प्रकार किन-किन प्रकार भेदों के साथ सम्प्रज्ञात योग शास्त्रों में वर्णित है? इस पर प्रत्युत्तर सूत्र है–'**वितर्केति**।'

योगवार्त्तिकम्

अस्यार्थः–साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरनुगमाद् हेतोः सम्यक् प्रज्ञावत्त्वेन योगः संप्रज्ञातनामा भवति, वितर्कादिभूमिभेदैश्चतुर्धा विभक्त इत्यर्थादिति। अत्र रूपानुगमादिति पाठः[1] प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः, भाष्ये वितर्कविकलः सविचार इत्यादिप्रयोगेषु रूपपदाप्रयोगात्, आद्यसूत्रेऽपि भाष्यकृता वितर्कानुगतो विचारानुगत इत्यादेरेव प्रयोगाच्च। यच्च तत्र पाठे वितर्कादीनां [2]रूपैरनुगमादिति कस्यचिद्व्याख्यानं तदपि वैयर्थ्यादुपेक्षणीयम्।

---

1. क ख ग – **सूत्रपाठः**, घ च छ – **पाठः**।
2. क घ च छ – **रूपैः**, ख ग – **स्वरूपैः**।

सूत्र का अर्थ है—साक्षात्कार के विशेषरूप (साक्षात्कार की विशिष्ट अवस्था वाले) वितर्कादियों से अनुसृत अर्थात् सम्बद्ध होने के कारण सम्यग्ज्ञानयुक्त योग **'सम्प्रज्ञात'** नाम वाला होता है। अर्थात् वितर्कादि भूमिभेद से यह सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है। सूत्र में **'अनुगमात्'** के स्थान पर उपलब्ध **'रूपानुगमात्'** पाठभेद पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं– सूत्रस्थ **'रूपानुगमात्'** पाठ प्रमादवश होने के कारण उपेक्षणीय है। (इसमें दो युक्तियाँ हैं)—प्रस्तुत सूत्र के भाष्य **'वितर्कविकलः सविचारः'** इत्यादि प्रयोगों में **'रूप'** पद का प्रयोग दिखलाई नहीं पड़ता है तथा इस पाद के प्रथम सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** में भी भाष्यकार द्वारा **'वितर्कानुगतो विचारानुगतः'**—इस प्रकार का ही शब्द-प्रयोग किया गया है। इसलिये जो लोग सूत्र में **'रूप'** पद मानते हुए उसकी व्याख्या **'वितर्कादीनां रूपैरनुगमात्'** करते हैं, वह भी व्यर्थ होने से अवहेलनीय है।

बालप्रिया–

रूपानुगमादिति पाठः प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः—मिश्र-भिक्षु-मतभेद— प्रस्तुत सूत्र में **'रूपानुगमात्'** अथवा **'अनुगमात्'** ऐसे दोनों पाठ मिलते हैं। वाचस्पति मिश्र ने **'रूप'** पद को सूत्र का अंश मानते हुए सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है– **'वितर्कविचारानन्दास्मितानां रूपैः स्वरूपैरनुगमात् प्रतिपत्तव्यम्।'** इस व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि मिश्र सूत्र में **'रूप'** पद के प्रयोग के पक्षपाती हैं। भिक्षु ने योगवार्त्तिक में **'रूपानुगमात्'** पाठ को प्रामादिक मानते हुए **'अनुगमात्'** पाठ को भाष्यानुसारी बतलाया है। तथा **'कस्यचिद्व्याख्यानम्'** कहकर **'रूप'** पाठ के साथ सूत्र की व्याख्या करने वालों के प्रति असहमति व्यक्त की है। योगवार्त्तिक में इस पाठभेद का उल्लेख तथा उसका खण्डन सबसे पहले हुआ है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सम्प्रज्ञात के वितर्कादि भेदों पर विचार कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

वितर्कादिचतुष्टयं व्याचष्टे—वितर्कश्चित्तस्येत्यादिना। योनिजं[1] **वा विराजं वा चतुर्भुजादिकं वा स्थूलं षड्विंशतितत्त्वसंघातमाश्रित्य प्रथमं भावना प्रवर्त्तते, स आलम्बनम्, अदृष्टजातीयेषु चैतन्यपर्यन्तेषु विवेकेन पूर्वं चिन्तनासंभवात्। योगबलादेव हि तानि पश्चात्साक्षात् क्रियन्त इति न तान्यालम्बनानि। तथा चैकस्मिन्नेवालम्बने क्रमेण चतुष्प्रकारः संप्रज्ञातो भवति। तत्रालम्बने विराट्शरीरादौ प्रथमं यश्चित्तस्य स्थूलाकारत्वात्स्थूल आभोगः परिपूर्णता, स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोरदृष्टाश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारः स वितर्क इत्यर्थः। विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगतनामा योग इति भावः।**

सवितर्कनिर्वितर्कौ चा[1]स्यावान्तरभेदौ वक्ष्यति। तत्र च वितर्कशब्दो विपरीततर्कणार्थकः, शब्दार्थज्ञानविकल्पस्यैव तस्मिन्सूत्रे [2]विकल्पशब्दार्थावगमात्। सूक्ष्मो विचार इति। तत्रैवालम्बने कारणत्वादिनाऽनुगता ये प्रकृतिमहदहंकारपञ्चतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तदाकारत्वात्सूक्ष्मो यश्चित्तस्याभोगः सूक्ष्मगताशेषविशेषसाक्षात्कारः स विचार इत्यर्थः। विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तमिति विचारस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो विचारानुगतनामा योग इति भावः। सविचारनिर्विचारौ चास्य विचारस्यावान्तरभेदौ वक्ष्यति। तत्र च विचारशब्दो मन्दचरणार्थकस्तान्त्रिकपरिभाषा वा, तद्भाष्ये सूक्ष्मविषयकसमाधेः कार्याद्युपरागस्यैव विचारशब्दार्थत्वावगमात्। आनन्दो ह्लाद इति। [3]अत्रैवालम्बने यश्चित्तस्य विचारानुगतभूम्यारोहात्सत्त्वप्रकर्षेण जायमाने ह्लादाख्यसुखविशेष आभोगः साक्षात्कारो भवति स आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः। तेनानुगता युक्तो निरोध आनन्दानुगतनामा योग इति भावः। तदानीं चानन्दगोचर एवाहं सुखीति चित्तवृत्तिर्भवति न सूक्ष्मवस्तुष्वपीति विचारानुगताद् विशेषः। तथा च गीता–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥ इति।

भाष्यकार सम्प्रज्ञात की वितर्कादि चार विधाओं की व्याख्या करते हैं– '**वितर्कश्चित्तस्येत्यादिना**।' योनिज (जरायुज), विराज शरीर (ब्रह्मा की प्रथम सन्तान) अथवा चतुर्भुजादि मूर्त्तिरूप किसी भी छब्बीस तत्त्वों के समूहरूप स्थूलतत्त्व को लेकर पहली भावना प्रवृत्त होती है अर्थात् स्थूल पदार्थ को लेकर योगी चिन्तन की ओर आगे बढ़ता है। क्योंकि प्रारम्भ में (चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों से) प्रत्यक्ष न होने योग्य चैतन्यपर्यन्त पदार्थों का विवेकपूर्वक चिन्तन नहीं किया जा सकता है।

---

1. क च छ – **अस्य**, ख ग घ – **अस्य वितर्कस्य**।
2. क ख ग च छ – **विकल्प०**, घ – **वितर्क०**।
3. क ग घ च छ – **अत्रैवालम्बने यश्चित्तस्य विचारानुगतभूम्यारोहात्सत्त्वप्रकर्षेण जायमाने ह्लादाख्यसुखविशेष आभोगः साक्षात्कारो भवति स आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः। तेनानुगता युक्तो निरोध आनन्दानुगतनामा योग इति भावः। तदानीं चानन्दगोचर एवाहं सुखीति चित्तवृत्तिर्भवति न सूक्ष्मवस्तुष्वपीति विचारानुगमाद् विशेषः। तथा च गीता – सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् इति**, ख – **तत्रैवालंबने यश्चतुर्विंशतितत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति तदाकार आभोगः साक्षात्कार आनन्दविषयकत्वादानन्द इत्यर्थः। तेनानुगतो युक्तो निरोध आनन्दानुगतनामा योग इति भावः। यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन दुःखमोहावपि सर्वत्र स्तः, तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च। तदेव मुख्यतो योगेन द्रष्टव्यम्। यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योगे उपदृष्ट इति।**

योगबल अर्थात् योगशक्ति से ही सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष किया जाता है। इसलिये वितर्कानुगत योग में अदृष्टजातीय चैतन्यपर्यन्त पदार्थ, चित्त के आलम्बन नहीं बन पाते हैं। किञ्च एक ही आलम्बन में क्रमशः चतुष्प्रकारक सम्प्रज्ञात योग निष्पन्न होता है। इस प्रकार विराट् शरीरादिरूप आलम्बन में चित्त का स्थूलाकार परिणाम होने से चित्त का जो स्थूलविषयक प्रथम **'आभोग'** रूप परिपूर्णत्व है अर्थात् 'स्थूल' भूतेन्द्रियों का 'अदृष्ट' (न देखे हुए), 'अश्रुत' (न सुने हुए) तथा 'अमत' (न विचार किये हुए) अशेषविशेष (सम्पूर्ण वैशिष्टय) के साथ जो साक्षात्कार होता है, उसे **'वितर्क'** अर्थात् वितर्कानुगत योग कहते है। योगवार्त्तिककार **'वितर्क'** का विग्रह करते हैं–**'विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कः'** अर्थात् जिसमें विशेषरूप से निश्चय होता है उसे **'वितर्क'** कहते हैं, और वितर्क से युक्त वृत्तिनिरोध **'वितर्कानुगत योग'** कहलाता है। वितर्कानुगतयोग के सवितर्क तथा निर्वितर्क प्रभेद आगे बतलाये जायेंगे। सवितर्क और निर्वितर्क में **'वितर्क'** शब्द का अर्थ 'विपरीत तर्क' है, क्योंकि वितर्कादिप्रतिपादक सूत्र में शब्द, अर्थ और ज्ञान का **'विकल्प'** अर्थात् अभेदाध्यास ही **'विकल्प'** शब्द के अर्थ के रूप से जाना जाता है।

योगवार्त्तिककार **'विचार'** प्रतिपादक भाष्य को उठाते हैं–**'सूक्ष्मो विचार इति।'** वितर्क से सम्बन्धित स्थूल (कार्य) आलम्बन में कारणरूप से अनुगत अर्थात् भूत तथा इन्द्रियों के कारणरूप से मान्य जो प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्ररूप सूक्ष्म विषय हैं, उनके आकार से परिणत (आकारित) होने के कारण जो **'सूक्ष्म आभोग'** अर्थात् सूक्ष्मपदार्थगत अशेषविशेष का साक्षात्कार चित्त को होता है, उसे **'विचार'** कहते हैं। योगवार्त्तिककार **'विचार'** पद की व्युत्पत्ति करते हैं–**'विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तम्'** अर्थात् सूक्ष्म वस्तु (प्रकृति) पर्यन्त विशेषरूप से सञ्चरण करने के कारण पूर्वोल्लिखित साक्षात्कार को **'विचार'** कहते हैं और इस विशिष्ट **'विचार'** से अनुगत अर्थात् युक्त जो वृत्तिनिरोध है, उसे **'विचारानुगत योग'** कहते हैं। विचारानुगत योग के सविचार और निर्विचार भेद आगे बतलाये जायेंगे। **यहाँ 'विचार'** शब्द **'मन्द सञ्चरण'** अर्थ में आया है अथवा **'विचार'** शब्द को पारिभाषिक माना जा सकता है, क्योंकि तत्संबन्धित भाष्य में कार्य आदि से सम्बद्ध सूक्ष्मविषयक समाधि को ही **'विचार'** शब्द के अर्थ के रूप से जाना जाता है।

योगवार्त्तिककार **'आनन्द'** के प्रतिपादक भाष्य को उठाते हैं–**'आनन्दो ह्लाद इति।'** उसी (स्थूल) आलम्बन में; विचारानुगतभूमि में प्रतिष्ठित (आरोहित) होने से सत्त्वोत्कर्ष के कारण उत्पन्न हुए जिस ह्लादसंज्ञक सुखविशेष का **'आभोग'** अर्थात् **साक्षात्कार** चित्त को होता है, वह आनन्दविषयक होने से **'आनन्दानुगत योग'**

कहलाता है। आनन्दानुगत योग में 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार की ही आनन्दविषयिणी चित्तवृत्ति उदित होती है। इसमें सूक्ष्मवस्तुविषयिणी चित्तवृत्ति भी बनती है, ऐसी बात नहीं है। यही आनन्दानुगतयोग का विचारानुगतयोग से भेद है। जैसा कि गीता में कहा गया है–**'सुखमात्यन्तिकं...योगसंज्ञितम्'** (६/२१,२३)अर्थात् 'जिस अवस्था में योगनिष्ठ यति आत्माकारवृत्ति से ग्राह्य, अतीन्द्रिय, उत्पत्ति और विनाश से शून्य सुख का अनुभव करता है और जिस अवस्था में चिदेकरस ब्रह्म में स्थित होकर परमार्थरूप से विचलित नहीं होता, दुःख के सम्बन्धलेश से शून्य उस अवस्था को 'योग' समझना चाहिये।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार **'आनन्द'** के अवान्तरभेदों का खण्डन करते हुए अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आनन्दविषयक मान्यता में सयुक्तिक असहमति व्यक्त करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

आनन्दस्य च सानन्दनिरानन्दत्वेन भेदो नास्ति, सूत्रभाष्ययोरवक्ष्यमाणत्वादिति। अत्र कश्चित्–ह्लादो ह्लादवानिन्द्रियवर्गः। तथा चेन्द्रियाकारत्वादिन्द्रियरूपो यश्चित्तस्याभोगः साक्षात्कारः स आनन्द इत्यर्थं [1]वदति, तन्न[2] एतादृशलक्षणायां प्रमाणादर्शनात्, इन्द्रियस्यापि स्थूलतया तत्रा[3]भोगस्यापि वितर्कमध्य एव प्रवेशाच्च। कारणत्वमेव सूक्ष्मत्वमिति भाष्ये वक्ष्यमाणत्वेन केवलविकृतित्वरूपस्य [4]स्थूलत्वस्येन्द्रियसाधारण्यादिति। किं चेन्द्रियगोचरसंप्रज्ञातस्यानन्दानुगतत्वे सति परोक्तरीत्या तत्रापि वृत्त्युपरागानुपरागाभ्यां सानन्दनिरानन्दरूपावान्तरविभागसंभवात्तदवचनेनागामिसूत्रभाष्ययोर्न्यूनता स्यात्, अस्मद्व्याख्याने चावान्तरविभागो न संभवतीति न तदवचन[5]न्यूनता। यत्तु–ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिरितिसूत्रे ग्राह्यात् पृथगिन्द्रियेषु संप्रज्ञातो वक्ष्यते, तत्प्रकारान्तरेण संप्रज्ञातस्याखिलविषयसंकलनार्थमेव न तु वितर्कानुगतविचारानुगताभ्यामिन्द्रियसमापत्तेरानन्दानुगतरूपभेदमभिप्रेत्य, तथा तात्पर्यग्राहकलिङ्गाभावादिति दिक्।

आनन्दानुगतयोग के **'सानन्द'** और **'निरानन्द'** रूप से भेद नहीं होते हैं, क्योंकि सूत्र और भाष्य में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है।

पूर्वपक्ष–इस विषय में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि **'ह्लाद'** का अर्थ **'ह्लादवान् इन्द्रियवर्ग'** है। इस प्रकार इन्द्रियाकारता के कारण चित्त का इन्द्रियरूप अर्थात् इन्द्रियविषयक जो **'आभोग'** अर्थात् **'साक्षात्कार'** है, उसे 'आनन्दानुगत योग' कहते हैं।

---

1. क ख घ च छ – **वदति**, ग – **बदन्ति**।
2. क ख ग घ च – **तन्न**, छ – **तत्र**।
3. क ग घ च छ – **आभोगस्य**, ख – **भोगस्य**।
4. क घ च छ – **अस्थूलत्वस्य**, ख – **स्थूलस्य**, ग – **स्थूलत्वस्य**।
5. क ख ग घ च – **न्यूनता**, छ – **अन्यूनता**।

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ '**ह्लाद**' शब्द की '**ह्लादवान् इन्द्रियवर्ग**' में लक्षणा करने में कोई प्रमाण नहीं है तथा इन्द्रियों के भी स्थूल होने से तद्विषयक साक्षात्कार को भी वितर्क के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिये। भाष्य में कारण को ही सूक्ष्म बतलाया गया है, इसलिये केवलविकृतिरूप स्थूलत्व इन्द्रियों का साधारणधर्म है। यदि (तुष्यतुदुर्जनन्याय से) दूसरे वादियों के अनुसार इन्द्रियविषयक सम्प्रज्ञात को आनन्दानुगत मान भी लिया जाय तो इन्द्रिय-वृत्ति के साथ उपराग और अनुपराग होने से आनन्दसमापत्ति भी सानन्द और निरानन्द रूप से दो प्रकार की हो जायेगी, किन्तु सूत्र और भाष्य में '**आनन्द**' के ये भेद निर्दिष्ट न होने से इन ग्रन्थों की न्यूनता समझी जायेगी। किन्तु हमारे अनुसार आनन्दानुगत समापत्ति की व्याख्या करने से आनन्दानुगत समापत्ति के भेद ही नहीं बन सकेंगे। फलतः सूत्र और भाष्य में 'आनन्द' के भेद का निर्देश न हो पाने का न्यूनत्वदोष भी प्रसक्त हो पायेगा। और जो **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः** १/४१ सूत्र में '**ग्राह्य समापत्ति**' से पृथक् इन्द्रियों की '**ग्रहण समापत्ति**' कही जायेगी, वह तो प्रकारभेद से सम्प्रज्ञात के समस्त विषयों के एकत्रीकरण के उद्देश्य से ही है। वितर्कानुगत और विचारानुगत नाम के दोनों योगों से आनन्दानुगत-इन्द्रियसमापत्ति का भेद प्रदर्शित करने के उद्देश्य से नहीं है, क्योंकि इसमें तात्पर्यग्राहक लिङ्ग का अभाव है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु '**अस्मिता**' विषयक भाष्य को उठाते हुए विचार करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

एकात्मिका संविदस्मितेति। एकशब्दोऽत्र केवलवाची, एकात्मिका। एक एवात्माऽस्यां **विषयत्वेनास्तीत्येकात्मिका। तथा चोक्तम्**[1]**—एकालम्बने या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा** संवित् **साक्षात्कारोऽस्मीत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः। सा च** जीवात्मविषया परमात्मविषया **चेति द्विधा वक्ष्यते। तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिताऽनुगतनामा योग इति भावः।** अस्या **अस्मितायाः अपि सास्मितनिरस्मितरूपो विभागो नास्ति, सूत्रभाष्ययोरवक्ष्यमाणत्वात्; केवलपुरुषज्ञानस्य निर्विकल्पकमात्ररूपतया द्विविधत्वासंभवाच्च। देहेन्द्रियाद्युपरागे तु सवि-कल्पानां योगानां वितर्कानुगतादिभूमित्रय एवान्तर्भावादिति।** अत्र चास्मिताशब्दो विविक्त-**चेतनाकारतामात्रोपलक्षकः, तेनोदासीनभावेन य ईश्वरचेतनत्वसाक्षात्कारस्तस्यापि** संग्रहः। **सोपाधिकेश्वरसंप्रज्ञातस्य च विचारानुगते प्रवेशः।** एताश्च संप्रज्ञातभूमय आनन्दानुगतं **विचारानुगते प्रवेश्य मोक्षधर्मवाक्येनोक्ताः—**

---

1. क – उक्ते, ख ग – उक्तः, च छ – उक्तम्।

वितर्कश्च [1]विवेकश्च विचारश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः॥ इति;

प्रथमं योगं संप्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः आदितः, क्रमाज्जायत इत्यर्थः।

योगारम्भे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्॥

इति स्मृतिद्वयं चास्मिन्नौत्सर्गिकक्रमे प्रमाणमिति। इदानीं–

संवेद्ये केवले ध्यानं न कुर्याद्रघुनन्दन

इत्यादिस्मृत्यनुसारेण।

भाष्य में प्रयुक्त '**एक**' शब्द केवलवाची है। इस प्रकार एकात्मिका का विग्रह है– '**एक एवात्माऽस्यां विषयत्वेन अस्तीत्येकात्मिका**' अर्थात् जिसमें केवल आत्मा ही विषयरूप से (आलम्बन) होता है, उसे '**एकात्मिका**' कहते हैं। इस प्रकार एक ही आलम्बन में चित्त की होने वाली केवल पुरुषाकारा '**संवित्**' अर्थात् साक्षात्कार को '**अस्मिता**' कहते हैं, क्योंकि वह केवल 'मैं हूँ', इस आकार वाली होती है। और वह '**अस्मिता**' जीवात्मविषया और परमात्मविषया भेद से दो प्रकार की कही जायेगी। इस प्रकार की '**अस्मिता**' से युक्त वृत्तिनिरोध **अस्मितानुगत योग** कहलाता है। ('**आनन्दानुगत योग**' की भाँति) '**अस्मिता**' के भी '**सास्मित**' और '**निरस्मित**' रूप अवान्तरभेद नहीं हैं, क्योंकि सूत्र और भाष्य में '**अस्मिता**' के अवान्तरभेद निर्दिष्ट नहीं हुए हैं तथा विशुद्ध पुरुषज्ञान केवल निर्विकल्पक रूप होने से उसमें द्विविध अवान्तरभेद सम्भव भी नहीं है। दूसरा कारण यह है कि देहेन्द्रिय के साथ '**उपराग**' अर्थात् सम्बन्ध होने पर तो सविकल्प योगों का वितर्कानुगतादि भूमित्रय में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ '**अस्मिता**' शब्द विशुद्ध चेतनाकारता को ही बतलाता है, इससे उदासीनभाव से जो '**ईश्वरचैतन्य**' का साक्षात्कार होता है, उसका भी '**अस्मिता**' शब्द से संग्रह होता है और सौपाधिक '**ईश्वरज्ञान**' का विचारानुगत समापत्ति में अन्तर्भाव होता है। मोक्षधर्म के वाक्य से आनन्दानुगत का विचारानुगत में प्रवेश करते हुए सम्प्रज्ञात की भूमियाँ इस प्रकार बतलाई गई हैं–'**वितर्कश्च...योगमादितः**' अर्थात् 'प्रथमतः '**सम्प्रज्ञात**' योग को करते हुए योगी को क्रम से वितर्क, विवेक तथा विचार प्राप्त होते हैं।' तथा '**योगारम्भे...शनैर्नयेत्**' अर्थात् 'योग के आरम्भ में हरिमूर्त्ति=सगुण ईश्वर का ध्यान करे, फिर अमूर्त्तहरि=निर्गुण ईश्वर का ध्यान करे। इस प्रकार स्थूल में विजित चित्त को बाद में सूक्ष्म की ओर ले जाय।' ये दोनों स्मृतियाँ सम्प्रज्ञात के औत्सर्गिक क्रम में प्रमाण हैं। और '**संवेद्ये...रघुनन्दन**' अर्थात्

1. क घ च छ – **विवेकश्च विचारश्च**, ख ग – **विचारश्च विवेकश्च**।

'हे रघुनन्दन! केवल संवेद्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में ध्यान न करे'—इस स्मृति वाक्य के अनुसार भी केवल निर्गुण ध्यान का निषेध किया गया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सम्प्रज्ञात की पूर्व-पूर्व भूमियों से उत्तरोत्तर भूमियों की विलक्षणता बतलाते हैं—

योगवार्त्तिकम्

पूर्वपूर्वभूमिकासूत्तरोत्तरभूमिविषयस्य चिन्तनमुत्तरोत्तरभूमिषु च पूर्वपूर्वविषयस्य परित्यागं विदधाति—तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत इत्यादिना। तत्र प्रथमः [1]सवितर्कानुगतः समाधिश्चतुष्टयानुगतो वितर्कादि[2]चतुष्टयेनानुगतो भवति, तप्तायःपिण्डवदेकीभावेन स्थूल-साक्षात्कारे पुरुषपर्यन्तानां सर्वेषामेव भानात्। अत्र च विचारादित्रयविषयग्राहकतामात्रेण विचारादित्रयानुगतत्वं विवक्षितमन्यथा सांकर्यापत्तेः, वितर्कानुगते समाधौ केवलात्मपर्यन्त-साक्षात्काराभावाच्च। एवमुत्तरेष्वपि बोध्यम्। द्वितीय इति। द्वितीयो विचारानुगतो वितर्कविकलः वितर्कभूमिजयात्तत्परित्यागेन तद्विषयविकलः। तृतीय इति। तृतीय आनन्दानुगतो विचारविषयेणापि विकलः। चतुर्थ इति। चतुर्थोऽस्मिताऽनुगतस्तद्विकलः= आनन्देनापि विकल इत्यतोऽस्मितामात्र इत्यर्थः। असंप्रज्ञातात्संप्रज्ञातस्य भेदमाह—सर्व एत इति। सालम्बनाः साधारणा एकाग्रवृत्तियुक्ता इति यावत्। समाधयो योगाः, कार्य[3]कारण-योरभेदादिति प्रागेव व्याख्यातम्॥१७॥

सम्प्रज्ञात की वितर्कादि पूर्व-पूर्व भूमियों में विचारादि उत्तरोत्तर भूमियों के आलम्बन (विषय) का चिन्तन और उत्तरोत्तर भूमियों में सम्प्रज्ञात की पूर्व-पूर्व भूमि के विषय का अग्रहण (परित्याग) रहता है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'**तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत इत्यादिना**।' इन चार प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों में से प्रथम सवितर्कानुगत समाधि चतुष्टयानुगत होती है अर्थात् वितर्कादि चतुष्टय से युक्त होती है, क्योंकि '**स्थूल**' आलम्बन का साक्षात्कार होते समय, तप्तायःपिण्ड के समान, एकात्मतापन्न होने से पुरुषपर्यन्त समस्त तत्त्वों का अवबोध होता है। किञ्च इसमें विचारादि तीन भेदों के विषय की ग्राहकतामात्र होने से '**वितर्क**' का विचारादित्रय भेद से युक्त होना बतलाया गया है, अन्यथा सम्प्रज्ञात के वितर्कादि भेदों में अनभिप्रेत मिश्रणता (सांकर्यापत्ति) आयेगी। वितर्कानुगत समाधि में केवल आत्मपर्यन्त विषय के साक्षात्कार का अभाव रहता है। इसी प्रकार विचारादि उत्तरोत्तर भूमियों में भी ऐसा समझना चाहिये। योगवार्त्तिककार भाष्य को आगे उठाते हैं— '**द्वितीय इति**।' दूसरी विचारानुगत समाधि '**वितर्क विकल**' होती है अर्थात्

1. क ख च छ — **सवितर्कानुगतः**, ग घ — **सवितर्को वितर्कानुगतः**।
2. क ग च छ — **चतुष्टयेन**, ख घ — **चतुष्टय०**।
3. क घ च छ — **कारणयोः**, ख ग — **कारण०**।

वितर्कभूमि पर विजय प्राप्त कर लेने से उस विजित भूमि को छोड़ने से उससे आगे की जीतने योग्य विचारानुगत भूमि वितर्क के विषय से विरहित (शून्य) होती है। योगवार्त्तिककार भाष्य को आगे उठाते हैं–**'तृतीय इति।'** तीसरी आनन्दानुगत समाधि विचारानुगत समाधि के विषय से भी (पूर्व प्रक्रियानुसार) विरहित होती है। योगवार्त्तिककार भाष्य को आगे उठाते हैं–**'चतुर्थ इति।'** चतुर्थ अस्मितानुगत समाधि आनन्दानुगत समाधि के विषय से भी वञ्चित रहती है, अतः इसे अस्मितामात्र कहते हैं। असम्प्रज्ञात से सम्प्रज्ञात के भेद (अन्तर) को भाष्यकार बतलाते हैं–**'सर्व एत इति।'** सम्प्रज्ञात समाधि के वितर्कादि चारों भेद सालम्बन अर्थात् एकाग्रवृत्तियुक्ततारूप साधारण धर्म वाले हैं। कार्य-कारण का अभेद होने से वितर्कादि '**समाधि**' को '**योग**' कहा गया है, ऐसा पूर्व प्रतिपादित हो चुका है॥१७॥

बालप्रिया–

'सर्व एते सालम्बनाः समाधयः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–सम्प्रज्ञात के वितर्कादि भेदों में सालम्बनत्वविषयक मतैक्य रहने पर भी वितर्कादि भूमियों में साक्षात्कृत होने वाले विषय कौन-कौन से हैं, इसमें वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में एकवाक्यता नहीं है। मिश्र के अनुसार '**वितर्क**' स्थूल पञ्चमहाभूतविषयक है। '**विचार**' सूक्ष्म पञ्चतन्मात्र, लिङ्ग तथा अलिङ्गविषयक है। '**आनन्द**' ग्रहणरूप इन्द्रियविषयक है तथा '**अस्मिता**' बुद्ध्यात्मैकविषयक है। भिक्षु के अनुसार '**वितर्क**' स्थूल भूतेन्द्रियविषयक है। '**विचार**' भूतेन्द्रिय के सूक्ष्म कारण पञ्चतन्मात्र अहंकार, महत् तथा प्रकृतिविषयक है। '**आनन्द**' ह्लादाख्य सुखविशेषविषयक है तथा '**अस्मिता**' आत्मविषयक (जीवात्म तथा परमात्मविषयक) है। भिक्षु ने वितर्कादि के विषयों के स्वकृत उक्त वर्गीकरण के प्रामाण्य को युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है तथा '**कश्चिद् वदति**' द्वारा पूर्ववर्ती आचार्य के मतवाद का खण्डन भी किया है। तत्त्वसाक्षात्कार के विषय में योगी का अनुभव ही प्रमाण है। यहाँ तार्किक दृष्टि से किसी एक मत को परिपुष्ट करना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तार्किक आघातों से प्रतिहत नहीं होती है॥१७॥

भाष्यकार अगले सूत्र की अवतरणिका रचते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]**अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति?**

1. क ख ग – **अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति** १/१७ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र-**अथ.....वेति** १/१८ सूत्रस्य अवतरणिका।

अच्छा यह बतलाइये कि 'असम्प्रज्ञात' समाधि का साधन क्या है? तथा उसका स्वरूप किस प्रकार का है?–

योगसूत्रम्

विरामप्रत्ययाभ्यास[1]पूर्वः संस्कार[2]शेषोऽन्यः॥१८॥

परवैराग्य के अभ्यासपूर्वक निर्वृत्तिक चित्त की संस्कारशेषरूप से जो स्थिति है, वह सम्प्रज्ञात से भिन्न ('असम्प्रज्ञात' समाधि) है॥१८॥

व्यासभाष्यम्

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये [3]संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो [4]ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। [5]स चार्थशून्यः। तदभ्यास[6]पूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः॥१८॥

समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त की संस्कारशेषरूप निरोधावस्था को 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि का उपाय (गुणवैतृष्ण्यरूप) 'परवैराग्य' है। सालम्बन अभ्यास (ध्येयरूप आलम्बन सहित अपर वैराग्य का अभ्यास) असम्प्रज्ञात समाधि का साधन होने में (अथवा उसे सिद्ध करने में) समर्थ नहीं होता है–इसलिये सकल विषयहीन परवैराग्य ही इसका आलम्बन (आश्रय) बनाया जाता है। और वह असम्प्रज्ञात समाधि भी ध्येयरूप अर्थ से रहित अर्थात् निर्वस्तुक ही है। (अतः निर्वस्तुक परवैराग्य निर्वस्तुक असम्प्रज्ञात समाधि का हेतु हो सकता है)। इस प्रकार निर्वस्तुक परवैराग्य का अभ्यास करने से विषयाश्रयशून्य

---

1. **पूर्वकः**–इति पाठान्तरम्।
2. **विशेषः**–इति पाठान्तरम्।
3. छ थ – **आत्मात्मानं संस्कृत्यात्मनि तिष्ठति तत्र यदात्मानुभवः कार्यकारणात्मैकः स एव शेषः (संस्कारशेषः पश्चाद्)** उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **आत्मात्मानं...एव शेषः** नोपलभ्यते।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र – **हि** उपलभ्यते, भ – **हि** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र – **स चार्थशून्यः**, झ – **सर्वार्थशून्यः**, त – **सर्वार्थशून्यैः**।
6. क ग छ ज झ त थ द ध न – **पूर्वकम्**, ख घ प फ म यर – **पूर्वम्**, च ब भ – **पूर्वकं हि**।

होता हुआ चित्त (वृत्तिरूप कार्य न कर सकने के कारण) अस्तित्वशून्य सा (मृतकसदृश) हो जाता है—इस प्रकार की निर्बीज समाधि ही 'असम्प्रज्ञात' कही जाती है॥१८॥

तत्त्ववैशारदी

क्रमप्राप्तमसंप्रज्ञातमवतारयितुं पृच्छति—अथेति। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-शेषोऽन्यः। पूर्वपदेनोपायकथनमुत्तराभ्यां च स्वरूपकथनम्। मध्यमं पदं विवृणोति—सर्ववृत्तीति। प्रथमं पदं व्याचष्टे—तस्य परमिति। विरामः वृत्तीनामभावः, तस्य प्रत्ययः कारणम् तस्याभ्यासः, तद[1]नुष्ठानं पौनःपुन्यम्, तदेव पूर्वं यस्य स [2]तथोक्तः।

तत्त्ववैशारदीकार वैयासिकी अवतरणिका को स्पष्ट करते हैं—क्रमप्राप्त **'असंप्रज्ञात'** योग को अवतरित करने के लिये भाष्यकार पूछते हैं—**'अथेति।'** अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का उपाय क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्र अवतरित हो रहा है—**'विरामेति।'** सूत्रकार ने यहाँ प्रकृत सूत्र के **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'**—इस पूर्व पद के द्वारा असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति के उपाय (साधन) का कथन किया है तथा उत्तरवर्ती **'संस्कारशेषोऽन्यः'** इन दो पदों द्वारा असम्प्रज्ञात का स्वरूप बतलाया है। सूत्रगत **'संस्कारशेषः'** इस मध्यवर्ती पद का विवरण भाष्यकार करते हैं—**'सर्ववृत्तीति।'** अर्थात् समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर वृत्तिशून्य चित्त की संस्कारशेषरूप निरोधावस्था को **'असम्प्रज्ञात'** कहते हैं। भाष्यकार साधनबोधक **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'** इस प्रथम पद का व्याख्यान करते हैं—**'तस्य परमिति।'** **'विराम'** शब्द का अर्थ है—चित्त की वृत्तियों का अभाव (निरोध) और **'प्रत्यय'** शब्द का अर्थ है—वृत्तिनिरोध का कारणभूत परवैराग्य। इस प्रकार वृत्तिनिरोध के कारण का अभ्यास करते रहना चाहिये। **'अभ्यास'** शब्द का अर्थ है—(वृत्तिनिरोध के कारणभूत) परवैराग्य (गुणवैतृष्ण्यरूप चिन्तन) की भूयोभूयः आवृत्ति करना (अर्थात् गुणों के प्रति वैतृष्ण्य की अस्खलित मेधा उत्पन्न करना)। इस प्रकार का ही अभ्यास है पूर्व में जिसके, उसे **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व'** कहा गया है।

बालप्रिया—

'विराम'=वितर्कादि के चिन्तात्याग अथवा वृत्त्यभाव के **'प्रत्यय'**=कारणभूत परवैराग्य का **'अभ्यास'**=पौनःपुन्य अनुष्ठान ही जिसका **'पूर्व'**=कारण है, उसे **'विराम-प्रत्ययाभ्यासपूर्व'** अथवा 'परवैराग्यजन्य' कहते हैं। सर्वथा निर्वृत्तिक को **'संस्कारशेष'**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – अनुष्ठानम्, न – अनुष्ठान०।
2. क ग घ च छ ज झ त न – तथोक्तः, ख थ द ध – तथा।

कहते हैं। '**अन्यः**' पद का अर्थ है–सबीज सम्प्रज्ञात से विलक्षण निर्बीज असम्प्रज्ञात। कथन भी है–

'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते॥'

सम्प्रज्ञात के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, अतः सम्प्रज्ञात ही असम्प्रज्ञात के साधनरूप से उपस्थित होता है–इस प्रकार की भ्रमबुद्धि के अपसारण के लिये अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अथापरं वैराग्यं निरोधकारणं कस्मान्न भवतीत्यत आह–सालम्बनो हीति। कार्यसरूपं कारणं युज्यते, न विरूपम्। विरूपं चापरं वैराग्यं सालम्बनं निरालम्बनसमाधिना कार्येण। तस्मान्निरालम्बनादेव ज्ञानप्रसादमात्रात्तस्योत्पत्तिर्युक्ता। धर्ममेघसमाधिरेव हि नितान्तविगलितरजस्तमोमलाद् [1]बुद्धिसत्त्वादुपजातस्[2]तद्विषयातिक्रमेण [3]प्रवर्त्तमानोऽनन्तो विषयावद्यदर्शी समस्तविषयपरित्यागाच्च स्वरूपप्रतिष्ठः सन्निरालम्बनः संस्कारमात्रशेषस्य निरालम्बनस्य समाधेः कारणमुपपद्यते, सारूप्यादि[4]ति। आलम्बनीकरणमाश्रयणम्। अभावप्राप्तमिव तद्रूपकार्याकरणान्निर्बीजः निरालम्बनः। अथ वा बीजं क्लेशकर्माशयाः, ते निष्क्रान्ता यस्मात्स तथा॥१८॥

शङ्का–(सम्प्रज्ञात के कारणभूत) 'अपर वैराग्य' को ही निरोध समाधि (असम्प्रज्ञात) का कारण क्यों नहीं माना जाता? अर्थात् अपरवैराग्यपुरस्सृत संप्रज्ञात ही असम्प्रज्ञात का कारण बने? परवैराग्य नहीं?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**सालम्बनो हीति।**' कारण को कार्य के सरूप होना चाहिये, न कि विरूप। (इस नियम के अनुसार) कार्यरूप '**निरालम्बन**' समाधि (असम्प्रज्ञात) के साथ विरूप '**सालम्बन**' अपरवैराग्य कैसे कारणत्वेन सम्भव हो सकता है? अर्थात् सालम्बन और निरालम्बन में कार्यकारण-भाव उपपन्न नहीं हो सकता है। इसलिये निर्वस्तुक ज्ञानप्रसादमात्र परवैराग्य ही निरालम्बन असंप्रज्ञात समाधि की निष्पत्ति के लिये उपयुक्त साधन है। ज्ञानप्रसाद की निरालम्बनता को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–रजस्तमोरूप मल से सर्वथा प्रक्षालित सत्त्वगुणप्रधाना बुद्धि से उत्पन्न, तत्तद् विषयसाक्षात्कार से अथवा तत्तद् विषय की उपेक्षा के साथ आगे बढ़ती हुई, विषयों में अनन्त दोषों

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **बुद्धि०** उपलभ्यते, थ द ध – **बुद्धि०** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ छ झ त थ द ध न – **तत्**, च ज – **तत्तत्**।
3. क ख ग – **प्रवर्द्धमानः**, घ च छ ज झ त थ द ध न – **प्रवर्त्तमानः**,
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति**, थ द ध – **इत्यर्थ**।

की उद्‌भावना (दोषदर्शन) करती हुई और विषयमात्र के परित्याग से अपने (निर्विषयक) स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर निरालम्बन धर्ममेघसमाधि ही संस्कार-मात्रशेषरूप निरालम्बन समाधि (असम्प्रज्ञात योग) का कारण बनती है, क्योंकि उक्त कारण और कार्य दोनों में निरालम्बनता=निर्विषयकता तुल्य है। (परवैराग्य की निरालम्बनता को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार ने '**अर्थशून्यः**' हेतु दिया है) '**आलम्बनीकरण**' का अर्थ '**आरक्षण** करना' है। इस अवस्था में चित्त वृत्तिरूप कार्य को न करने के कारण '**अभावप्राप्त**' (मृतक) के समान हो जाता है, यही तदवस्थित चित्त की निर्बीजता अर्थात् निरालम्बनता है। अथवा '**निर्बीज**' का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि क्लेश तथा तज्जन्य कर्माशय बीजरूप हैं। ये बीजभूत क्लेशादि जिसमें से निकल गये हैं ऐसा तदवस्थित चित्त निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात योग वाला कहा जाता है॥१८॥

बालप्रिया–

निष्कर्षतः '**सालम्बन**' अभ्यास '**निरालम्बन**' असम्प्रज्ञात का साक्षात् साधन बनने में समर्थ नहीं है। अतः विरामप्रत्यय निर्वस्तुक धर्ममेघसमाधि को ही आलम्बन बनाता है अर्थात् अपने साधन के रूप से उसे आश्रय बनाता है। इस प्रकार धर्ममेघसमाधि ही निरालम्बन समाधि का कारण है, जिसे स्पष्ट शब्दों में 'परवैराग्य' कहते हैं।

'**संस्कारशेष**':–एकाग्रताजन्य संस्कारों से अपने पूर्वभावी व्युत्थान संस्कारों का नाश होता है और निरोधजन्य संस्कारों से एकाग्रताजन्य संस्कारों का क्षय होता है। किन्तु निरोधजन्य संस्कारों का किसी से भी क्षय नहीं होता है–इससे भी असम्प्रज्ञात के लिये 'संस्कारशेषत्व' कथन उपपन्न होता है॥१८॥

योगवार्त्तिकम्

क्रमप्राप्तमसंप्रज्ञातमवतारयितुं पृच्छति–अथेति। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-शेषोऽन्यः। वृत्त्याऽपि विरम्यतामिति प्रत्ययो विरामप्रत्ययः।

क्रमप्राप्त असम्प्रज्ञात को अवतरित करने के लिये भाष्यकार पूछते हैं–'**अथेति**।' सूत्र द्वारा प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है–'**विरामेति**।' योगवार्त्तिककार '**विरामप्रत्यय**' का विग्रह करते हैं–'**वृत्त्याऽपि विरम्यतामिति प्रत्ययो विरामप्रत्ययः**।' विवेकवृत्ति से भी विराम हो जाय अर्थात् विवेकख्यात्यात्मक वृत्ति भी निरुद्ध हो जाय–ऐसे '**विराम**' का '**प्रत्यय**' अर्थात् कारण जो है वह '**विरामप्रत्यय**' कहलाता है।

बालप्रिया–

'**विरामप्रत्ययः**'–सरलार्थ यह है–विवेकवृत्तिनिरोध के कारण को '**विरामप्रत्यय**' कहते हैं। प्रकृत में '**वृत्ति**' शब्द से सम्प्रज्ञातकालिक विषयसाक्षात्कारवती प्रज्ञा का

ग्रहण होता है। यह क्षिप्तादिभूमिक वृत्तिनिरोध का प्रकरण नहीं है। **'प्रत्यय'** शब्द ज्ञानार्थक भी होता है, किन्तु यहाँ **'प्रत्यय'** शब्द कारण (साधन) अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार 'सम्प्रज्ञातकालिक ज्ञानात्मक अर्थात् एकाग्रवृत्ति के निरोध का कारण', यह **'विरामप्रत्यय'** शब्द का अर्थ है।

ज्ञानात्मक वृत्ति के निरोध के कारण को बतलाते हुए योगवार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

परं वैराग्यं ज्ञानेऽप्यलंबुद्धिर्ज्ञानमपि शाम्यत्वित्येवंरूपा, तस्या अभ्यासात् पौनःपुन्याज्जायत इत्याद्यविशेषणार्थः। तथा चाद्यविशेषणेनोपायकथनं मध्येन लक्षणकथनम[1]न्त्येन लक्ष्यकथनम्। अन्योऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः। [2]अन्त्यं विशेषणद्वयं व्याचष्टे–सर्वेति। समाधिर्योगः। आद्यविशेषणस्य पर्यवसितार्थमाह–तस्य पर[3] वैराग्यमुपाय इति।

एकाग्रवृत्ति के निरोध का कारण (प्रत्यय) परवैराग्य है। (सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप) ज्ञान के प्रति जागरित **'अलंबुद्धि'** अर्थात् हेयभावना को **'परवैराग्य'** कहते हैं। **'ज्ञानमपि शाम्यतु'** ज्ञान भी शमित (लय को प्राप्त) होवे–एवंरूपा बुद्धि को **'अलंबुद्धि'** कहते हैं। **'अभ्यास'** शब्द का अर्थ है–पौनःपुन्य अर्थात् बार-बार। इस प्रकार ज्ञानात्मक वृत्तिनिरोध के कारणभूत परवैराग्य का बार-बार अभ्यास करने से असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है–यह सूत्र के प्रथम विशेषणभूत **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः'** पद का अर्थ है। इस आद्य विशेषण पद से असम्प्रज्ञात के उपाय को बतलाया गया है। सूत्र के मध्यवर्ती **'संस्कारशेषः'** पद के द्वारा असम्प्रज्ञात का लक्षण अभिहित है तथा सूत्र के अन्तिम **'अन्यः'** पद द्वारा लक्ष्य कथित है। अतः सूत्रगत **'अन्य'** शब्द का अर्थ असम्प्रज्ञात है। भाष्यकार सूत्र के अन्तिम दो विशेषण पदों की व्याख्या करते हैं–**'सर्वेति।'** चित्त की समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त की होने वाली संस्कारशेषात्मक निरोधावस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यहाँ **'समाधि'** शब्द का अर्थ **'योग'** है। सूत्रगत आद्य विशेषण पद के पर्यवसित अर्थ को भाष्यकार बतलाते हैं–**'तस्य परं वैराग्यमुपाय इति।'** संस्कारशेषात्मक निरोध का साधन **'परवैराग्य'** है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार असम्प्रज्ञात के प्रति परवैराग्य के साधनत्व (उपायत्व) को शंकोपस्थापनपूर्वक सिद्ध करते हैं–

---

1. क ख ग घ च छ – **अन्त्येन लक्ष्यकथनं**, ख – **अन्त्येन लक्ष्यकथनं** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ – **अन्त्य०**, च छ – **अन्त्यम्।**
3. क – **पर०**, ख ग घ च छ – **परम्।**

योगवार्त्तिकम्

नन्वेकाग्रतारूपोऽभ्यासोऽप्यत्र साक्षात्कारणं कथं न भवति संप्रज्ञात इवेत्याकाङ्क्षायामाह–सालम्बन इति। पुरुषपर्यन्तं कस्मिन्नप्यालम्बने चित्तस्यैकाग्रतारूपोऽभ्यासो नासंप्रज्ञातस्य साक्षात्साधको भवति; आलम्बनवृत्त्यविरोधित्वात्। अतः पुरुषख्यातिपर्यन्तास्वखिलवृत्तिष्वलं-बुद्धिरूपो विरामप्रत्ययः परवैराग्याख्य एवासंप्रज्ञातेन साधनतयाऽऽलम्बनीक्रियत आश्रीयते; स यतो निर्वस्तुकः नास्ति वस्तु चिन्तनीयं यत्रेत्यर्थः। ननु तस्य निर्वस्तुकत्वं कथं तदाश्रयणे हेतुः? तत्राह–[1]स चार्थशून्य इति। सोऽप्य[2]संप्रज्ञातो ध्येयार्थशून्यः, अतोऽखिलध्येयवैराग्यमेव तत्र हेतुर्युक्त इत्यर्थः। सूत्रस्य फलितार्थमाह–तदभ्यासेति। कृतवैराग्याभ्यासं चित्तं निरालम्बनं निर्विषयमभावप्राप्तमिव वृत्तिरूपकार्याकरणाद् मृतकवद् भवतीत्येषोऽवस्थाविशेष इत्यादेरयमर्थः। निर्बीज इति। संस्कारद्वारा जन्मबीजं ज्ञानकर्म तच्छून्यावस्थेत्यर्थः। संस्काराख्यसंसारबीजोन्मूलक इति वाऽर्थः॥१८॥

शङ्का–जिस प्रकार सम्प्रज्ञात के प्रति एकाग्रतारूप अभ्यास उपाय अर्थात् कारण है उसी प्रकार असम्प्रज्ञात के प्रति भी एकाग्रतारूप अभ्यास कारण क्यों नहीं होता है?
समाधान–ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**सालम्बन इति**।' स्थूल तत्त्व से लेकर पुरुषपर्यन्त किसी भी आलम्बन में चित्त का निष्पादित एकाग्रतारूप अभ्यास साक्षात् रूप से असम्प्रज्ञात को प्राप्त कराने वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्तैकाग्रतारूप अभ्यास ध्येयाकारा वृत्ति का विरोधी नहीं होता है। वह तो ध्येयाकारा वृत्ति का साधक ही होता है, क्योंकि चित्त की ध्येयाकारता को ही एकाग्रता कहते हैं। अतः एकाग्रता का पौनःपुन्येन अभ्यास वृत्तिशून्य भला कैसे हो सकता है? इसी कारण पुरुषख्यातिपर्यन्त समस्त वृत्तियों के निरोध का कारणभूत अलंबुद्धिरूप 'परवैराग्य' ही असम्प्रज्ञात के साधन रूप से गृहीत है, क्योंकि परवैराग्य निर्वस्तुक होता है अर्थात् परवैराग्य में चिन्तनीय **वस्तु** रहती ही नहीं है।
शङ्का–परवैराग्य की निर्वस्तुकता अर्थात् ध्येयशून्यता किस प्रकार असम्प्रज्ञात का आलम्बन अर्थात् आधार हो सकती है? अर्थात् निर्विषयक परवैराग्य में असम्प्रज्ञात का साधनत्व सम्भव नहीं है?
समाधान–इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**स चार्थशून्य इति**।' यह असम्प्रज्ञात भी ध्येयार्थशून्य होता है। अतः सम्पूर्ण ध्येयविषयक वैराग्य ही असम्प्रज्ञात का हेतु है–यह कथन युक्तियुक्त है। भाष्यकार सूत्र के निष्कर्ष (फलितार्थ) को बतलाते हैं–'**तदभ्यासेति**।' सम्पादित वैराग्याभ्यास वाला 'निरालम्बन' अर्थात् निर्विषयक चित्त अभाव को प्राप्त हुए के समान हो जाता है अर्थात् वृत्तिरूप कार्य को न करने से

---

1. क घ – **सर्वार्थशून्यः**, ख – **स च सर्वार्थशून्यः**, ग च छ – **स चार्थशून्यः**।
2. ख ग – **हि (अपि** पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ – **हि** नोपलभ्यते।

चित्त मृतक की भाँति प्रतीत होता है। चित्त की इसी अवस्थाविशेष को **'असम्प्रज्ञात'** कहते हैं। योगवार्त्तिककार असम्प्रज्ञात की **'निर्बीज'** संज्ञा के विषय में भाष्य को उठाते हैं—**'निर्बीज इति।'** संस्कार द्वारा प्राप्त जन्म के कारणभूत ज्ञान और कर्म की शून्यावस्था को **'निर्बीज'** कहते हैं अथवा जो, संस्काराख्य संसारबीज का उत्पाटक होता है, उसे **'निर्बीज'** कहते हैं॥१८॥

व्यासदेव अगले सूत्र की अवतरणिका रचते हैं—

व्यासभाष्यम्

स[1] खल्वयं द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति—

यह 'असम्प्रज्ञात' समाधि दो प्रकार की है—पहली 'उपायप्रत्यय' और दूसरी 'भवप्रत्यय'। इनमें 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि योगियों को प्राप्त होती है। (और) –

योगसूत्रम्

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥१९॥

'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि विदेहों तथा प्रकृतिलीनों को (प्राप्त) होती है॥१९॥

व्यासभाष्यम्

[2]विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रो[3]पयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। [4]तथा

---

1. क ख ग – **स खल्वयं द्विविधः– उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां** भवति १/१८ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – स **खल्वयं...भवति** १/१९ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. छ थ – **विदेहप्रकृतिलयाभेदे सर्वभवकारणात्मा भवप्रत्ययः समाधिरसंप्रज्ञातः** (विदेहानां पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **विदेह.....**रसंप्रज्ञातः नोपलभ्यते।
3. क ख घ च ज झ त द ध न फ भ म र – उपयोगेन, ग छ थ – उपगतेन, प य – उपगेन, ब – उपभोगेन।
4. छ थ – **तेषामभेदे विदेहकैवल्यमिति** (तथा पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – तेषां......इति नोपलभ्यते।

प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमि[1]ति॥१९॥

'**विदेह**' साधकों को '**भवप्रत्यय**' असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। वे अपने संस्कारमात्र से अवशिष्ट चित्त के द्वारा कैवल्य जैसी अवस्था का अनुभव करते हुए (एक निश्चित अवधि की समाप्ति के बाद) उक्त देवभाव को प्राप्त कराने वाले संस्कार के फलविरहित हो जाने पर उस प्रकार के ऐश्वर्यभोग का अतिक्रमण कर जाते हैं (अर्थात् फिर संसार में ही प्रवेश कर जाते हैं। इसी भाँति 'प्रकृतिलय' नामक साधक; कार्यारम्भरूप अधिकारसहित चित्त के अपने कारणप्रकृति में लीन हो जाने पर, कैवल्य जैसी अवस्था का अनुभव करते हैं। उनकी यह अवस्था तब तक रहती है, जब तक उनका चित्त कार्यारम्भरूप अधिकार के बल से प्रकृति से पृथक् होकर फिर संसार में लौट नहीं आता है॥१९॥

तत्त्ववैशारदी

निरोधसमाधेरवान्तरभेदं हानोपादानाङ्गमादर्शयति—स खल्वयमि[2]ति। सः निरोधसमाधिर्द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। उपायो वक्ष्यमाणः श्रद्धादिः प्रत्ययः कारणं यस्य निरोधसमाधेः स तथोक्तः। भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति[3] भवोऽविद्या, भूतेन्द्रियेषु वा विकारेषु प्रकृतिषु वाऽव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मस्वात्मख्यातिस्तौष्टिकानां वैराग्यसंपन्नानाम्। स खल्वयं भवः प्रत्ययः कारणं यस्य निरोधसमाधिः स भवप्रत्ययः। तत्र तयोर्मध्ये, उपायप्रत्ययो योगिनां मोक्षमाणानां भवति। विशेषविधानेन शेषस्य मुमुक्षुसंबन्धं निषेधति। केषां तर्हि भवप्रत्यय इत्यत्र सूत्रेणोत्तरमाह—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

भाष्यकार निरोधसमाधि के हेय और उपादेयरूप अवान्तर भेदों को दिखलाते हैं—'**स खल्वयमिति**।' निरोधसमाधि दो प्रकार की है—उपायप्रत्यय तथा भवप्रत्यय। वक्ष्यमाण श्रद्धादि (उपाय) जिस निरोधसमाधि के कारण (प्रत्यय) हैं, वह निरोधसमाधि '**उपायप्रत्यय**' वाली है। '**भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें प्राणी उत्पन्न होते हैं—ऐसा '**भव**' अविद्यामूलक है। यह भवरूप '**अविद्या**'; अनात्मभूत—विकृतिमात्ररूप (जो केवल कार्यरूप हैं) भूत और इन्द्रियों में अथवा सापेक्ष प्रकृतिरूप अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्ररूप—तत्त्वों में

1. छ थ – **तेषामभेदे प्रकृतिलयकैवल्यम् (इति पूर्वम्)** उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **तेषां....कैवल्यं** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **इति। सः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति। सः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग छ – **सः**, घ च ज झ त थ द ध न – **इति**।

आत्मबुद्धि करने वाले वैराग्यसम्पन्न 'तौष्टिको' में विद्यमान रहती है। इस प्रकार अनात्म में आत्मबुद्धिरूप 'भव'='अविद्या' के कारण (प्रत्यय) जिसे निरोधसमाधि प्राप्त होती है, वह (निरोधसमाधि) 'भवप्रत्यय' वाली कही जाती है। इन दो प्रकार की निरोध समाधियों में 'उपायप्रत्ययक' निरोध (असम्प्रज्ञात) मोक्षमार्गीय योगियों को प्राप्त होता है। इस विभेदीकरण से यह सिद्धान्तित (समर्थित) होता है कि उपायप्रत्ययातिरिक्त भवप्रत्ययक निरोध समाधि में आत्यन्तिक और ऐकान्तिक रूप से मोक्षप्राप्ति का निषेध किया गया है, क्योंकि ऐसे साधक के चित्त में निहित अविद्याबीज से संसाररूप अंकुर पुनः प्रादुर्भूत होता है। किस प्रकार के साधकों को भवप्रत्यय निरोधसमाधि प्राप्त होती है?–इसका उत्तर सूत्र के द्वारा दिया जा रहा है–'**भवेति**।'

तत्त्ववैशारदी

विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्च तेषामित्यर्थः। तद्व्याचष्टे–विदेहानां देवानां[1] भवप्रत्यय इति। भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपाता-नन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विदेहाः। अवृत्तिकत्वं च कैवल्येन सारूप्यम्, साधिकारसंस्कारशेषता च वैरूप्यम्। संस्कारमात्रोपभोगेनेति क्वचित्पाठः। तस्यार्थः–संस्कारमात्रमेवोपभोगो यस्य न तु चित्तवृत्तिरित्यर्थः।

"**विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्च तेषां विदेहप्रकृतिलयानाम्**" **इसके** अनुसार विदेहों तथा प्रकृतिलयों की भवप्रत्ययक (अविद्याकारणक) निरोधसमाधि होती है। भाष्यकार **सूत्र** की व्याख्या करते हैं–'**विदेहानां देवानां भवप्रत्यय इति**।' अनात्मभूत भूत और इन्द्रियों में से किसी को आत्मा समझकर उसकी उपासना में लगे रहने से उस वासना (संस्कार) से संकुलित (वासित) अन्तःकरण वाले साधक देहपात के पश्चात् अपने उपास्यभूत इन्द्रियों अथवा भूतों में लीन हो जाते हैं। ऐसे संस्कारमात्रावशेष अन्तःकरण वाले भवप्रत्यय साधक षाट्कौशिक शरीर से रहित होते हैं, इसीलिये '**विदेह**' कहलाते हैं। ये '**विदेह**' साधक अपने संस्कारमात्रशेष चित्त के द्वारा '**कैवल्य**' पद सदृश सुख का अनुभव करते हैं अर्थात् कैवल्यसम अवस्था को प्राप्त करते हैं। (सादृश्यवाचक '**इव**' अव्यय में सापेक्षिक वैरूप्य=वैसदृश्य का भी समावेश रहता है। अतः तत्त्ववैशारदीकार सादृश्य तथा वैसदृश्य की भेदक रेखा को अंकित करते हुए कहते हैं–) विदेहों (तथा प्रकृतिलीनों) की इस अवस्था का,

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – **देवानां** उपलभ्यते, थ – **देवानां** नोपलभ्यते।

कैवल्य से साम्य यह है कि इसमें भी साधक का चित्त सर्वथा निर्वृत्तिक रहता है और वैषम्य यह है कि इस अवस्था वाले चित्त में 'साधिकार' संस्कार विद्यमान रहते हैं जब कि कैवल्य में चित्त साधिकारसंस्कार से सर्वथा शून्य हो जाता है। अर्थात् सर्वथा संस्कारशून्य चित्त को ही वास्तविक कैवल्य प्राप्त होता है और साधिकार संस्कार युक्त चित्त तो कुछ काल के लिये कैवल्यसम अवस्था में प्रतिष्ठित रहता है। व्यासभाष्य में **'संस्कारमात्रोपयोगेन'** पाठ के स्थान पर **'संस्कारमात्रोपभोगेन '** ऐसा पाठभेद भी उपलब्ध होता है। इस पाठभेद के अनुसार अर्थ यह होता है–विदेह साधक को केवल संस्कारात्मक उपभोग प्राप्त होता है, न कि चित्तवृत्त्यात्मक उपभोग।

बालप्रिया–

'भव' (भवत्यस्मात्, भू+अपादाने अप्) **'प्रकृत्याद्यनात्मस्वात्माऽभिमानरूपमज्ञानमित्यर्थः'**–भव शब्द का **'अविद्या'** अर्थ वाचस्पति मिश्र के अनुसार है। विज्ञानभिक्षु आदि योग के अन्य व्याख्याकार मिश्र के इस मत से सहमत नहीं हैं।

'अन्यतम'–व्याकरण की दृष्टि से **'अन्यतम'** शब्द पर टिप्पणी करते हुए टिप्पणकार बालरामोदासीन का वक्तव्य है कि **'अन्यतम'** शब्द के अव्युत्पन्न होने के कारण उसमें डतमान्तत्व का अभाव है क्योंकि प्रकृत में **'अदड् डतरादिभ्यः'** इस सूत्र की प्राप्ति नहीं होती है। अतः **'अन्यतमत्'** के स्थान पर **'अन्यतमम्'** ऐसा कहना युक्तियुक्त है। तथ्य का विशदीकरण करते हुए टिप्पणकार आगे कहते हैं कि यद्यपि शाकटायनाचार्य ने डतमान्त' **'अन्यतम'** शब्द का व्युत्पादन (प्रतिपादन, निष्पादन) किया है तथापि उसमें सर्वाद्यन्तर्गण के कार्य (नियम) स्वीकार नहीं किये हैं। शाकटायनाचार्य ने तो **'अन्यतर'** शब्द का ही **'डतर'** प्रत्ययान्तत्व के रूप से **'डतर'** प्रत्यय का ग्रहण करना सिद्ध किया है और इस प्रकार सर्वादिगण में **'अन्यतर'** शब्दपाठ का नियमन करते हुए **'अन्यतम'** शब्द के विषय में सर्वादिगण के नियमों का निषेध किया है। तदर्थ टिप्पणकार बालरामोदासीन की निम्नाङ्कित टिप्पणी द्रष्टव्य है–

'अन्यतमशब्दस्याऽव्युत्पन्नत्वेन डतमान्तत्वाभावाद् 'अदड् डतरादिभ्य' इत्यस्याऽप्राप्तेः, अन्यतममिति साम्प्रतम्। यद्यपि शाकटायनेनाऽन्यतमशब्दो डतमान्तो व्युत्पादितस्तथापि न तस्य सर्वाद्यन्तर्गणकार्यम्। तन्मते अन्यतरशब्दस्याऽपि डतरप्रत्ययान्तत्वेन डतरग्रहणेनैव सिद्धत्वात् सर्वादिगणेऽन्यतरशब्दपाठस्य नियमार्थत्वेनाऽन्यतमशब्दस्य सर्वादिकार्यव्यावृत्यर्थत्वात्'।

'षाट्कौशिकशरीररहिताः'–रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र–ये छह **'षट्कोश'** हैं। षट्कोशविनिर्मित शरीर से रहित साधक **'विदेह'** कहे जाते हैं। स्मृतिशास्त्र में षाट्कौशिक शरीर का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है–

तदस्य पुनर्भव[1]प्राप्तिहेतुतया हेयत्वं सिद्धम्॥१९॥

अनात्मभूत अव्यक्त, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं में से किसी को आत्मतत्त्व समझकर उसकी उपासना में लगे रहने से उस वासना से वासित (अनुबिद्ध) अन्तःकरण वाले उपासक शरीरत्याग के पश्चात् (अपने उपास्यभूत) अव्यक्तादियों में से किसी एक तत्त्व में लीन हो जाते हैं। भाष्यस्थ **'साधिकारे'** पद का अर्थ है–**'अचरितार्थे।'** चित्त के साधिकारत्व=अचरितार्थत्व की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–यदि चित्त चरितार्थ (निरधिकार, भोग-मोक्ष रूप कर्त्तव्य-रहित) होता है तो वह विवेकख्याति को भी उत्पन्न करता है। चूँकि प्रकृतिलीन उपासकों में विवेकख्याति का उदय नहीं होता है। अर्थात् उनमें अविद्याबीज विद्यमान रहता है, अतः अचरितार्थ चित्त की साधिकारता कही जाती है (शब्दान्तर में विवेकख्यातिसम्पन्न साधक का ही चित्त 'निरधिकार' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। अविद्यायुक्त चित्त की निरधिकारता असम्भव है)। इस प्रकार अकृतकृत्य चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर प्रकृतिलीन उपासक भी तब तक कैवल्य पद सदृश अनुभव करते हैं, जब तक कि उनका साधिकार चित्त अचरितार्थता के कारण पुनः (लौकिक दशा अर्थात्) संसार में प्रत्यावर्तित नहीं होता है। इस प्रकार विवेकख्याति प्राप्त न किये प्रकृतिलीन' उपासक प्रकृति में समत्व (लयत्व) को प्राप्त होकर भी कैवल्यसम की निश्चित अवधि समाप्त होने पर पुनः प्रादुर्भूत होते हैं। वे प्रकृति से विविक्त होकर उसी प्रकार पुनः शरीरधारण करते हैं जिस प्रकार वर्षा ऋतु की समाप्ति पर मृन्मय हुआ मण्डूक आगामी पयोधर की जल-धारा से अवसिञ्चित होकर पुनः मण्डूकीय शरीर को धारण कर लेता है। जैसा कि (प्रकृतिलीन योगियों के अपने उप्रास्य में लय होने की कालावधि के विषय में) वायुपुराण में कहा गया है–**'सहस्रं....न विद्यते'** अर्थात् 'अहंकारात्माभिमानी एक हजार मन्वन्तरपर्यन्त; बुद्ध्यात्माभिमानी दस हजार मन्वन्तरपर्यन्त तथा अव्यक्तात्माभिमानी सौ हजार मन्वन्तरपर्यन्त कैवल्यसम अवस्था में रहते हैं, किन्तु जड़ से भिन्न निर्गुण पुरुष को प्राप्त करके अर्थात् जड़-चेतन के भेदज्ञान के पश्चात् योगी कालातीत हो जाता है अर्थात् कालावधि से अवच्छिन्न नहीं रहता है।' इस प्रकार विदेहलीन और प्रकृतिलीन साधकों का निर्वृत्तिक असम्प्रज्ञात योग पुनर्भव का कारण होता है, अतः इसका **'हेयत्व'** स्फुट है॥१९॥

योगवार्त्तिकम्

असंप्रज्ञातस्यापि निमित्तभेदाद् द्वैविध्यं सूत्राभ्यां सूत्रकारो वक्ष्यति। तदेव द्वैविध्यं युक्ति-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्राप्ति॰** उपलभ्यते, थ द ध – **प्राप्ति॰** नोपलभ्यते।

सिद्धेन पूर्वाचार्योक्तक्रमेण दर्शयति, तयोः सूत्रयोरवतारणाय–स खल्वयं द्विविध इति। सोऽयमसंप्रज्ञातः; आगामि[1]सूत्रेऽस्य प्रज्ञापूर्वकत्व[2]दर्शनात्। उपायप्रत्ययो वक्ष्यमाणश्रद्धाऽऽद्युपायकारणको योगिनामिह लोके भवति, इह लोके योगभ्रष्टानां च देवताविशेषताऽऽपन्नानां देवलोके भवप्रत्ययो जन्ममात्रकारणक इति क्रमः। तत्रोपायप्रत्ययं विस्तरेण वदिष्यन् सूत्रकारः सूचीकटाहन्यायेनादौ भवप्रत्ययं वदिष्यतीति सूत्रभाष्ययोः क्रमभेदो न दोषायेति मन्तव्यम्। उत्पत्तिक्रमानुसारेण सौत्रं क्रममुल्लंघ्य पूरयित्वा सूत्रमुत्थापयति–तत्रेति। तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां प्रकृष्टयोगानां भवति, स च पश्चाद् वक्ष्यत इति शेषः। भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

सूत्रकार निमित्तभेद से असम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेदों को दो सूत्रों के द्वारा बतलायेंगे। उन दो सूत्रों को अवतरित करने के लिये भाष्यकार, युक्तिसम्मत अर्थात् प्रमाणसिद्ध पूर्वाचार्योक्त क्रमानुसार, असम्प्रज्ञात के दो भेदों को प्रदर्शित करते हैं– **'स खल्वयं द्विविध इति।'** यह असम्प्रज्ञात दो प्रकार का है–**'उपायप्रत्यय'** तथा **'भवप्रत्यय'**। प्रस्तूयमान सूत्र द्वारा प्रतिपादित **'भवप्रत्यय'** से **'उपायप्रत्यय'** असम्प्रज्ञात भिन्न है, क्योंकि आगामी सूत्र में असम्प्रज्ञात को प्रज्ञापूर्वक दिखाया गया है। आगे बतलाये जाने वाले श्रद्धा, वीर्यादि उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाला **'उपायप्रत्ययक'** असम्प्रज्ञात इस लोक में योगियों को प्राप्त होता है तथा जन्ममात्रकारणक **'भवप्रत्यय'** असम्प्रज्ञात इस संसार में योगभ्रष्टों तथा देवलोक में देवत्व को प्राप्त हुए मनुष्यविशेषों को प्राप्त होता है। इनमें से **'उपायप्रत्यय'** असम्प्रज्ञात के विषय में विस्तार से बतलाने की इच्छा वाले सूत्रकार पतञ्जलि **'सूचीकटाहन्याय'** से सर्वप्रथम **'भवप्रत्यय'** असम्प्रज्ञात को बतलायेंगे। अतः सूत्र और भाष्य में **'भवप्रत्यय'** और **'उपायप्रत्यय'** असम्प्रज्ञात के भेदों को लेकर जो क्रमभेद परिलक्षित होता है, उसे दोषावह नहीं समझना चाहिये। अतः सूत्रक्रम का उल्लंघन करके 'असम्प्रज्ञात' के उत्पत्तिक्रम को दृष्टिपथ में रखकर भाष्यकार अपेक्षित अंश को पूरित करते हुए सूत्र को अवतरित करते हैं–**'तत्रेति।'** असम्प्रज्ञात के दो भेदों में से 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञात, उत्कृष्ट योगसाधनसम्पन्न योगियों को प्राप्त होता है, अतः उसे बाद में बतलाया जायेगा। सूत्र है–**'भवेति।'**

योगवार्त्तिकम्

भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्येति विग्रहः। विदेहप्रकृतिलयानामिति विभज्य व्याचष्टे–विदेहानामिति। शरीरनैरपेक्ष्येण बुद्धिवृत्तिमन्तो विदेहा इति विभूतिपादे

---

1. क ग घ च छ – **सूत्रेऽस्य,** ख – **सूत्रस्य।**
2. क ख ग घ – **वचनात्,** च छ – **दर्शनात्।**

स्पष्टीभविष्यति, ते च महदादयो देवास्तेषां साधनानुष्ठानं विनैवासंप्रज्ञातयोगो जन्ममात्र-निमित्तको भवति, योनिसाद्गुण्येनौ[1]त्पत्तिकज्ञानात्। ते हि दैनन्दिनप्रलये कदाचिच्च [2]सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन चित्तेन, कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तो व्युत्थानकाले च स्वसंस्कारस्य देवभावप्रापकसंस्कारस्य विपाकं फलमैश्वर्यभोगं [3]प्रारब्धकर्मयन्त्रिता अतिवाहयन्ति अतिक्रामन्ति, ततो मुच्यन्त इति शेषः। [4]तथा प्रकृतिलया इति। ईश्वरोपासनया प्रकृतिदेवतोपासनया वा ये ब्रह्माण्डं सावरणं त्यक्त्वा लिङ्गशरीरेण सह प्रकृत्यावरणे गताः तेऽत्र प्रकृतिलीनाः। तेऽपि चासमाप्तकार्ये चेतसि स्वेच्छयैव प्रकृतिलीने संस्कारशेषे सत्यसंप्रज्ञातयोगे कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्ति यावदधिकार-शेषवशात्[5] चित्तं पुनर्व्युत्थितं न भवति, [6]तस्यापि भवप्रत्यय इति शेषः। अधिकारसमाप्तौ च तेऽपि मुच्यन्त इत्याशयः॥

योगवार्त्तिककार '**भवप्रत्यय**' पद का विग्रह करते हैं–'**भवो जन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्येति**'–इस विग्रह के अनुसार '**भव**' अर्थात् 'जन्म' ही जिसका '**प्रत्यय**' अर्थात् 'कारण' है, उसे '**भवप्रत्यय**' कहते हैं। यह '**भवप्रत्यय**' असम्प्रज्ञात विदेह और प्रकृतिलय योगियों का होता है। इस प्रकार विदेह और प्रकृतिलयों का भी विभाग करके भाष्यकार इनकी व्याख्या करते हैं–'**विदेहानामिति।**' (स्थूल) शरीर की अपेक्षा किये विना बुद्धिवृत्ति वाले अर्थात् करणों के व्यापार से सम्पन्न '**विदेह**' योगी होते हैं, ऐसा विभूतिपाद में स्पष्ट किया जायेगा। महदादि की (आत्मत्वेन) उपासना करने वाले इन '**विदेह**' योगियों को योगसाधन का अनुष्ठान (अभ्यास) किये विना ही 'जन्म' ग्रहण करने मात्र से असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होता है, क्योंकि इन्हें योनिसाद्गुण्य के कारण जन्म के साथ ही ज्ञान होता है। अर्थात् विदेह योगी अनौपदेशिक ज्ञान वाले होते हैं। ये विदेह योगी दैनन्दिन प्रलय और कदाचित् सृष्टिकाल में भी संस्कारशेष निरोधावस्थ चित्त के द्वारा अर्थात् वृत्तिशून्य निरोधावस्थाक संस्कारयुक्त चित्त के माध्यम से कैवल्यसदृश पद को प्राप्त करते हैं तथा व्युत्थानकाल में अर्थात् चित्त की व्युत्थित दशा में प्रारब्ध कर्म से नियन्त्रित होकर देवभाव के उत्पादक संस्कार से ऐश्वर्यभोगरूप फल को भोगते हुए प्रारब्ध कर्म को समाप्त करते हैं और अन्त में मुक्त हो जाते हैं।

---

1. क ग घ च छ – **औत्पत्तिक०**, ख – **औत्पत्तिकम्।**
2. क ग घ च छ – **सर्गकाले**, ख – **स्वर्गकाले।**
3. क ग घ च छ – **प्रारब्धकर्मयन्त्रिता** उपलभ्यते, ख – **प्रारब्धकर्मयन्त्रिता** नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ – **तथा**, ग – **तथा च।**
5. ख – **कार्यारम्भणसामर्थ्यशेषवशात्** (**वशात्** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **कार्यारम्भणसामर्थ्यशेषवशात्** नोपलभ्यते।
6. क ग घ च छ – **तस्य**, ख – **तेषाम्।**

योगवार्त्तिककार प्रकृतिलय के प्रतिपादक वैयासिक वाक्य को उठाते हैं—'**तथा प्रकृतिलया इति**' ईश्वर की उपासना अथवा प्रकृति देवता की उपासना द्वारा जो योगिजन सावरण ब्रह्माण्ड को छोड़कर **लिङ्गशरीर** अर्थात् सूक्ष्मशरीर के साथ प्रकृत्यावरण में लय को प्राप्त होते हैं, वे यहाँ '**प्रकृतिलीन**' कहे जाते हैं। ये भी असमाप्ताधिकारविशिष्ट '**संस्कारशेष**' चित्त के साथ प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य सदृश पद को तब तक प्राप्त किये रहते हैं, जब तक उनका साधिकार चित्त पुनः व्युत्थित अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रकृतिलीन योगी का भी '**भवप्रत्यय**' असम्प्रज्ञात होता है और अधिकार की समाप्ति होने पर वे भी मुक्त हो जाते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रकृत सूत्र की व्याख्या पर '**केचित्तु**' कहकर अपनी असहमति व्यक्त करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

केचित्तु भवत्यस्यामिति भवोऽविद्या, तथा चेदं सूत्रमिन्द्रियादिप्रकृत्यन्तचिन्तकानाम-विद्याकारणकमसंप्रज्ञातं [1]वदंतीत्याहुः, तन्न—परवैराग्यस्यासंप्रज्ञातहेतुतया तस्याविदुष्याऽसंभ-वात्। यच्च वायुपुराणे—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं[2] शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

इति वाक्यं तद् इन्द्रियाद्युपासकानामनुत्पन्नज्ञानानां कर्मदेवानां तत्तत्पदावस्थिति[3]कालमेव परिच्छिनत्ति न तु तेषामसंप्रज्ञातसमाधिकालान् देहाद्यभावेन वृत्त्यभावकालान् वा; इन्द्रियादिचिन्तामात्रेणासंप्रज्ञातानुपपत्तेः, वृत्त्यभावस्य कादाचित्कस्य प्रलयमरणादितुल्यत्वेना-पुरुषार्थत्वाच्च, इन्द्रियाद्युपासकानामिन्द्रियाद्यभिमानिसूर्यादिपदप्राप्तेरेवान्यत्र [4]फलवत्त्वश्र-वणाच्चेति॥१९॥

पूर्वपक्ष—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि '**भवत्यस्यामिति**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भव' शब्द का अर्थ '**अविद्या**' है और यह सूत्र इन्द्रियादि से लेकर प्रकृतिपर्यन्त किसी भी

1. क ख ग छ – **वदति**, घ च – **वदन्ति**।
2. क – **पूर्ण०**, ख ग घ च छ – **पूर्णम्**।
3. क ख ग घ – **कालान्**, च छ – **कालम्**।
4. क ग घ – **फलत्व०**, ख – **फल०**, च छ – **फलवत्त्व०**।

अनात्मतत्त्व में आत्मत्वेन चिन्तन करने वाले साधकों के **'अविद्याकारणक'** (अविद्यानिमित्तक) असम्प्रज्ञात को बतलाता है।

उत्तरपक्ष—पूर्वाचार्यों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि **'परवैराग्य'** के असम्प्रज्ञात का हेतु होने से उसमें अविद्या सम्भव नहीं है। अर्थात् ज्ञान के उत्कृष्टतमरूप विवेकवृत्ति में भी वृत्तित्वेन हेयबुद्धि का निष्पादक परवैराग्य; अविद्यागन्ध से भी सर्वथा शून्य है। अतः परवैराग्य के साध्यभूत असम्प्रज्ञात में अविद्या सम्भव ही नहीं है। अतः **'भवप्रत्यय'** का 'अविद्याप्रत्यय' अर्थ करना उचित नही है। और वायुपुराण में **'दश मन्वन्तराणीह...न विद्यते'** यह जो वाक्य है, वह (आत्मत्वेन) इन्द्रियादि की उपासना करने वाले, अनुत्पन्न ज्ञान वाले कर्मदेवों के अपने-अपने पद में स्थित रहने के काल को सीमांकित करता है, न कि उन देवों के असम्प्रज्ञातसमाधि काल को अथवा स्थूल देहादि के अभाव के कारण उनके वृत्त्यभाव काल को बतलाता है। इसमें कारण यह है कि इन्द्रियादि में आत्मत्वेन चिन्तन करने मात्र से असम्प्रज्ञात उपपन्न (सिद्ध) नहीं होता है तथा आकस्मिक (कादाचित्क) वृत्त्यभावरूप प्रलय, मरणादि के समान होने से पुरुषार्थरूप नहीं है तथा इन्द्रियादि की (आत्मत्वेन) उपासना करने वाले इन्द्रियाद्यभिमानी साधकों की सूर्यादि पद की प्राप्ति ही 'फल' के रूप से शास्त्रान्तरों में सुनी जाती है॥१९॥

बालप्रिया—

'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—'भव' शब्द के अर्थ के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। **'भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार मिश्र **'भव'** शब्द का अर्थ **'अविद्या'** करते हैं। **'भवो जन्म तदेव प्रत्ययः यस्येति भवप्रत्ययः'**—इस व्युत्पत्ति के आधार पर भिक्षु ने **'भव'** शब्द का **'जन्म'** अर्थ किया है। **'भव'** शब्दार्थ के इस अन्तर का प्रभाव सूत्र की व्याख्या पर भी परिलक्षित होता है। परवर्ती भिक्षु ने तो पूर्ववर्ती मिश्र के मत को **'केचित्तु'** से उठाकर उनके प्रति अनादरभाव व्यक्त किया है तथा अपने मत के पुष्ट्यर्थ युक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं, जो ऊपर द्रष्टव्य हैं।

कालक्रम से उपरिवर्णित भिक्षु-मत भी खण्डन से अछूता न रह सका। बालरामोदासीन ने सशक्त युक्तियों द्वारा भिक्षु मत का खण्डन किया है। उनके द्वारा कृत खण्डन का सारांश इस प्रकार है—

१. **'विदेहाः...ततो मुच्यन्ते, प्रकृतिलीना...तेऽपि मुच्यन्ते'**—भिक्षु द्वारा विदेह और प्रकृतिलय का भी मोक्ष प्रतिपादित करना भाष्यानुसारी नहीं है। वस्तुस्थिति यह है— **'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति'** इस व्याख्यान द्वारा भाष्यकार ने **'भवप्रत्यय'** समाधि योगियों के लिये अनुपादेय बतलाई है। 'कैवल्यहेतुत्वाभाव' (अर्थात् कैवल्य का

साधन न होने) के कारण ही '**भवप्रत्यय**' का अनुपादेयत्व सिद्ध होता है। संस्कारमात्रशेषात्मक सर्ववृत्तिनिरोध के आधार पर असम्प्रज्ञात समाधि का उपादेयत्व तथा अनुपादेयत्व वर्गीकृत नहीं हो सकता है, क्योंकि संस्कारमात्रशेषता भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय दोनों में समानरूप से विद्यमान रहती है। अतः यह विभाग भिक्षुमत में बन नहीं पाता है, क्योंकि '**भवप्रत्यय**' और '**उपायप्रत्यय**' दोनों समाधियों में कैवल्यहेतुता प्रतिपादित करने से तद्गत उपादेयत्व और अनुपादेयत्व का निर्धारण कर पाना असम्भव है। जब कि मिश्रमत में '**विदेहलय**' और '**प्रकृतिलय**' साधकों का सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात 'तत्तल्लयप्रयुक्त'—भूतेन्द्रियचिन्तकों का भूतेन्द्रियरूप 'विकार' में लय और अव्यक्तादि चिन्तकों का अव्यक्तादिरूप 'प्रकृति' में लयरूप—ही है। विदेह और प्रकृतिलीनों में सर्ववृत्तिनिरोध की यह स्थिति सत्त्वपुरुषान्यताख्यातियुक्त अर्थात् ज्ञानप्रसादमात्रप्रयुक्त नहीं कही जा सकती है। इसे '**अज्ञानकारणक**' ही कहना होगा। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने '**विदेह**' और '**प्रकृतिलय**' योगियों के सर्ववृत्तिनिरोध को '**योगाभास**' की संज्ञा से अभिहित किया है। '**दश मन्वन्तराणीह**' वायुपुराणोक्त वचन भी विदेह और प्रकृतिलीन की 'पुनरावृत्ति' को ही उद्घोषित करता है। इस प्रकार '**भवप्रत्यय**' असम्प्रज्ञात में कैवल्य- हेतुत्वाभाव के कारण हेयता और धर्ममेघसमाधिजन्य '**उपायप्रत्यय**' असम्प्रज्ञात में कैवल्यहेतुता होने से उपादेयता है। इस पद्धति से ही भाष्योक्त विभाग के साथ एकवाक्यता की जा सकती है। स्वयं भाष्यकार ने '**यावदधिकारवशाच्चित्तं न पुनरावर्त्तते तावत्कैवल्यपद-मिवाऽनुभवन्ति**' इस आगामी भाष्य के द्वारा स्पष्ट शब्दों में प्रकृतिलयों का पुनरावर्तन बतलाया है। अतः भिक्षु का '**प्रकृतिलया अपि मुच्यन्ते**' यह कथन भाष्यानुसारी नहीं है। विज्ञानभिक्षु ने स्वयं सांख्यप्रवचनभाष्य में '**न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानम्**' ३/५४ सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रकृतिलीन पुरुषों का पुनरावर्तन '**एवमेव प्रकृतिलीनाः पुरुषा...पुनराविर्भवन्ति**' इस वाक्य द्वारा प्रदर्शित किया है। अतः भिक्षु के कथन में स्ववचोव्याघातदोष है।

२. '**असम्प्रज्ञातहेतोः परवैराग्यस्याऽविदुष्याऽसम्भवान्न भवशब्देनऽविद्याग्रहणम्**'—भिक्षु का यह कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकि यहाँ भाष्य के द्वारा परवैराग्यहेतुक असम्प्रज्ञात समाधि की द्विविधता नहीं बतलाई गई है, अपितु संस्कारमात्रशेषात्मक सर्ववृत्तिनिरोध का द्वैविध्य प्रतिपादित हुआ है। इस प्रकार तत्तल्लयप्रयुक्त जो सर्ववृत्तिनिरोध है, वह पुनरावर्त्तन का कारण होने से अज्ञानपूर्वक है। यही **अज्ञानपूर्वकत्व** '**भवप्रत्ययत्व**' कहलाता है। तथा श्रद्धादि उपाय से प्राप्त होने वाला सर्ववृत्तिनिरोध, निर्वाण (मोक्ष) का हेतु होने से ज्ञानपूर्वक है। यह '**ज्ञानपूर्वकत्व**' ही **परवैराग्यहेतुकत्व** है, जिसे '**उपायप्रत्ययत्व**' कहते हैं। यही उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात

योग मुमुक्ष के लिये उपादेय है और भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात तो योगाभास होने से मोक्षार्थी के लिये त्याज्य है। स्वयं विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्यप्रवचनभाष्य में '**न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानम्**' ३/५४ सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रकृत्युपासकों में विवेकज्ञानाभाव को '**विवेकज्ञानाभावे यदा महदादिषु वैराग्यं प्रकृत्युपासनया भवति, तदा प्रकृतौ लयो भवति...संस्कारादेरक्षयेण पुना रागाभिव्यक्तेर्विवेकख्यातिं विना दोषदाहानुपपत्तेरित्यर्थः**' पंक्ति द्वारा प्रतिपादित किया है और प्रकृत में विदेह और प्रकृतिलीन के भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात में '**भव**' शब्द का **अविद्या** अर्थ करने में असहमति व्यक्त की है। अतः भिक्षु के कथन में स्ववचोव्याघातदोष है। इतना ही नहीं **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** १/२४ सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वयं विज्ञानभिक्षु '**प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः**' इस शब्दावली द्वारा प्रकृतिलीन का उत्तरकालिक बन्ध स्वीकार करेंगे। अतः एक ही ग्रन्थ में परस्पर विरोधी व्याख्या का आधार क्या है? इसे भिक्षु ही समझें॥१९॥

योगसूत्रम्

श्रद्धावीर्य[1]स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥२०॥

दूसरे (विदेह और प्रकृतिलीनों से भिन्न) योगियों की 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञापूर्वक (श्रद्धादि उपायों से जन्य) होती है॥२०॥

व्यासभाष्यम्

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य [2]हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन [3]यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात्त[4]द्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति॥२०॥

'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों की होती है। 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ है—चित्त की अभिरुचि। यह 'श्रद्धा' कल्याण करने में समर्थ माता के समान (विमार्ग पर जाने तथा जन्मादिरूप अनर्थ से) योगी की रक्षा करती

---

1. **स्मृति०** — नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र — **हि** उपलभ्यते, घ फ — **हि** नोपलभ्यते।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म — **यथार्थं** ख घ प फ य र — **यथावत्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द प फ ब भ म य र — **तत्**, ध न — **तत्तत्**।

है। श्रद्धावान् विवेकाभिलाषी (विवेकार्थी) में (प्रयत्ननामक) 'वीर्य' (उत्साह) उत्पन्न होता है। वीर्यसम्पन्न (उत्साहप्राप्त) योगी को 'स्मृति' अर्थात् 'ध्यान' प्राप्त होता है। 'ध्यान' (स्मृति) के उदित होने पर चित्त विक्षेपशून्य होकर 'समाधि' को प्राप्त करता है अर्थात् समाहित हो जाता है। समाहित चित्त में विवेकात्मक 'प्रज्ञा' (विवेकबुद्धि) उत्पन्न होती है, जिससे योगी प्रत्येक वस्तु को यथार्थरूप से जान लेता है। इस विवेकज्ञान (प्रज्ञाविवेक) के अभ्यास से तथा एतद्विषयक परवैराग्य से (योगी को) असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है॥२०॥

तत्त्ववैशारदी

योगिनां तु समाधेरुपायक्रममाह—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। नन्विन्द्रियादिचिन्तका अपि श्रद्धावन्त एवेत्यत आह—श्रद्धा चेतसः संप्रसाद इति। स चागमानुमानाचार्योपदेशसमधिगततत्त्वविषयो भवति। स[1] हि चेतसः संप्रसादोऽ[2]भिरुचिरतीच्छा श्रद्धा, नेन्द्रियादिष्वात्माभिमानिनामभिरुचिरसंप्रसादो हि सः, व्यामोहमूलत्वादित्यर्थः। कुतोऽसावेव श्रद्धेत्यत आह—सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति विमार्गपातजन्मनोऽनर्थात्।

योगियों को प्राप्त होने वाली '**उपायप्रत्ययक**' निरोध समाधि (असम्प्रज्ञात) के उपायक्रम (साधन-क्रम) को सूत्रकार सूत्रित करते हैं—'**श्रद्धेति।**'

शङ्का—पूर्वोक्त इन्द्रियादिचिन्तक (विदेह और प्रकृतिलीन उपासक) भी तो श्रद्धायुक्त होते हैं, अतः उनका वृत्तिनिरोध श्रद्धादि उपायजन्य क्यों नहीं होता है?

समाधान—(पूर्वोक्त उपासकों में श्रद्धादि उपायाभाव को परिपुष्ट करते हुए) भाष्यकार कहते हैं—'**श्रद्धा चेतसः संप्रसाद इति।**' चैत्तिक (चित्तगत) सम्प्रसाद—आगम, अनुमान तथा आचार्योपदेश से ज्ञात यथार्थवस्तुविषयक—**इच्छाविशेष** है, जिसके अभिरुचि तथा उत्कटेच्छा पर्याय हैं। यह '**सम्प्रसाद**' अनात्मभूत इन्द्रियादि तत्त्वों में आत्माभिमान करने वाले विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों में सम्भव नहीं है। उनकी अभिरुचि व्यामोहमूलक (भ्रान्तिमूलक, उन्मादमूलक) होने से '**असंप्रसाद**' रूप ही है, न कि '**संप्रसाद**' रूप। इसीलिये इन्द्रियचिन्तकों की निरोध समाधि '**उपायप्रत्ययक**' नहीं कही जाती है।

शङ्का—योगियों की '**अभिरुचि**' को ही '**श्रद्धा**' क्यों कहते हैं?

समाधान—कल्याणकारिणी माता की भाँति यह श्रद्धा—जन्म, मरणादि कुमार्ग में गिरने से उत्पन्न होने वाले कष्टों (अनर्थों) से—योगिजन की रक्षा करती है।

---

1. थ द ध — **सः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न — **सः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न — **अभिरुचिरतीच्छा**, छ — **अभिरुचिमतीच्छा**।

बालप्रिया–

योगियों की '**अभिरुचि**' का नाम '**श्रद्धा**' इसलिये है, क्योंकि उसमें मोक्षप्रदातृता है। विदेह और प्रकृतिलीन उपासकों की श्रद्धा इसके समकक्ष नहीं है। क्योंकि उसमें आत्यन्तिक मोक्षहेतुता नहीं है। अधिकार-समाप्ति के पश्चात् पुनरावृत्ति होने से विदेहादियों की श्रद्धा कल्याणमयी नहीं है।

'**श्रद्धा**' से समुत्पन्न '**वीर्यादि**' की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

सोऽयमिच्छाविशेष इष्यमाणविषयं प्रयत्नं[1] प्रसूत इत्याह–तस्य हि श्रद्दधानस्येति। तस्य विवरणम्–विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। स्मृतिर्ध्यानम्। अनाकुलम् विक्षिप्तम्। समाधीयते योगाङ्गसमाधियुक्तं भवति। यमनियमादिनान्तरीयकसमाध्युपन्यासेन च यमनियमादयोऽपि सूचिताः। तदेवमखिलयोगाङ्गसंपन्नस्य संप्रज्ञातो जायत इत्याह– समाहितचित्तस्येति। प्रज्ञाया विवेकः प्रकर्ष उपजायते। संप्रज्ञातपूर्वमसंप्रज्ञातोत्पादमाह– तदभ्यासादिति। तत्रैव तत्तद्भूमिप्राप्तौ [2]तत्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति। स हि कैवल्यहेतुः। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वो हि निरोधश्चित्तमखिलकार्यकरणेन चरितार्थ-मधिकारादवसादयति॥२०॥

यह पूर्वोक्त इच्छाविशेष अभीप्सित विषय (साध्य) वाले '**प्रयत्न**' को उत्पन्न करता है (जिसे '**उत्साह**' अथवा '**वीर्य**' भी कहते हैं)–इसी तथ्य को भाष्यकार कहते हैं–'**तस्य हि श्रद्दधानस्येति**।' इस वाक्यांश का विवरण (स्वयं भाष्यकार) करते हैं– '**विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते**' अर्थात् श्रद्धावान्=विवेकाभिलाषी योगी में धारणारूप '**वीर्य**' (उत्साह) उत्पन्न होता है। तदनन्तर प्राप्तवीर्य (सोत्साही) योगी में '**स्मृति**' अर्थात् एकतानतारूप '**ध्यान**' उत्पन्न होता है। तदनन्तर प्राप्तध्यान योगी का अनाकुल अर्थात् विक्षेपरहित चित्त योगाङ्गभूत '**समाधि**' से युक्त होता है। नियमादि के विना समाध्यङ्ग का कथन सम्भव न होने से यम, नियमादि को भी **समाधि** पद से उपलक्षित समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि सूत्र द्वारा श्रद्धापुरस्सर प्रतिपादित धारणा, ध्यान और समाधि–ये '**अन्तरङ्ग**' यमनियमादि '**बहिरंग**' के विना सम्भव नहीं हो सकते हैं। अतः धारणादि अन्तरङ्ग में यम, नियमादि बहिरङ्ग भी अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार संपूर्ण योगाङ्गों से (आठ अङ्गों से) सम्पन्न योगी को सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**समाहितचित्तस्येति**।' उक्त समाधिनिष्ठ अर्थात् समाहित चित्त (एकाग्रचित्त) योगी को विवेकज्ञान (ज्ञान का

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – प्रयत्नम्, थ द ध – यत्नम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – तत्तत्, न – तत्।

विवेकात्मक प्रकृष्ट रूप) उत्पन्न होता है (जिससे योगी पदार्थ के यथार्थरूप को ही देखता है)। तदनन्तर सम्प्रज्ञातपूर्वक असम्प्रज्ञात की निष्पत्ति होती है—इसी तथ्य को उपस्थित करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**तदभ्यासादिति**।' उक्त विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञानविषयक ज्ञानप्रसादरूप '**परवैराग्य**' का उदय होने से योगी को असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। और यह असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य की हेतु है क्योंकि सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वक (विवेकज्ञानकारणक) सम्पादित निरोध—भोग-मोक्षरूप कर्त्तव्य की निष्पत्ति हो जाने के कारण कृतकृत्य (चरिताधिकार)—चित्त को उसके अधिकार से पृथक् कर देता है। (इस प्रकार परिपूर्ण उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात योगियों के लिये उपादेय है, क्योंकि इसमें पुनरावर्तन का अवकाश ही नहीं है)॥२०॥

योगवार्त्तिकम्

उपायप्रत्ययमसंप्रज्ञातं तदधिकारिणं चाह—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। इतरेषां विदेहप्रकृतिलयातिरिक्तानां देवानां वा मनुष्यादीनां वा न जन्ममात्रादसंप्रज्ञातो भवति, किंतु श्रद्धाऽऽदिभ्यः [1]पञ्चभ्यः प्रज्ञापर्यन्तेभ्य इत्यर्थः। संक्षेपतः सूत्रवाक्यार्थमाह—उपायेति। उपायः श्रद्धाऽऽदिः। श्रद्धाऽऽदीन् पञ्च क्रमेण व्याचष्टे—श्रद्धा चेतस इत्यादिना। संप्रसादः प्रीतिः योगो मे भूयादित्यभिलाषा, सा च समर्था मातेव योगिनं पाति प्रतिबन्धसहस्राणि तिरस्कृत्य रक्षति, यथा योगभङ्गो न भवतीत्यर्थः। श्रद्धातश्च वीर्यं भवतीत्याह—तस्य हीति। श्रद्दधानस्य विवेके जीवेश्वरान्यतरपुरुषतत्त्व[2]ज्ञाने योगसाधनेऽर्थितया वीर्यं प्रयत्नो धारणरूपो भवतीत्यर्थः। समुपजातेति। वीर्यतश्च स्मृतिर्ध्यानम्, ततश्च समाधिर्योगस्य चरमाङ्गं भवति। तदेवं श्रद्धामूलकाद्धारणाद्यन्तरङ्गत्रयात्संप्रज्ञातयोगे जायमाने प्रज्ञा जीवब्रह्मान्यतरा[3]त्मतत्त्वसाक्षात्काररूपो विवेक उपावर्त्तत उपजायते येन विवेकेन यथार्थं वस्तु जानाति विषयीकरोति विद्वानित्यर्थः। तदेवं श्रद्धाऽऽदीन् व्याख्याय तत्पूर्वकत्वमसंप्रज्ञातस्य व्याचष्टे—तदभ्यासादिति। प्रज्ञाया अभ्यासात्तत्सिद्ध्या तद्विषयकादपि विरामप्रत्ययरूपादलंबुद्ध्याख्याद्वैराग्यादसंप्रज्ञातो भवतीति सूत्रार्थः॥२०॥

सूत्रकार उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात और उसके अधिकारी के विषय में बतलाते हैं—'**श्रद्धेति**।' विदेह और प्रकृतिलय के अतिरिक्त देवताओं अथवा मनुष्यादियों को जन्ममात्र से अर्थात् जन्ममात्रनिमित्तक असम्प्रज्ञात नहीं होता है, अपितु श्रद्धादि से लेकर प्रज्ञापर्यन्त उपायों से असम्प्रज्ञात योग निष्पन्न होता है। भाष्यकार संक्षेप से सूत्र-वाक्य का अर्थ बतलाते हैं—'**उपायेति**।' (सूत्रनिर्दिष्ट) श्रद्धादि 'उपाय' हैं।

---

1. क ख ग घ – **पञ्चभ्यः** उपलभ्यते, च छ – **पञ्चभ्यः** नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ – **ज्ञाने**, ग – **ज्ञान०**।
3. क ग घ च छ – **आत्मतत्त्व०**, ख – **आत्मत्व०**।

भाष्यकार श्रद्धादि पांच उपायों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—'**श्रद्धा चेतस इत्यादिना।**' '**सम्प्रसाद**' का अर्थ '**प्रीति**' है। 'मुझे योग सिद्ध होवे'—ऐसी अभिलाषा को '**सम्प्रसाद**' कहते हैं। यह '**प्रीति**' समर्थ माता के समान असंख्य प्रतिबन्धों का तिरस्कार करके योगी की रक्षा करती है, फलतः योगभङ्ग (योग बाधाग्रस्त) नहीं होता है। '**श्रद्धा**' से '**वीर्य**' प्राप्त होता है, अब इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'**तस्य हीति।**' योगश्रद्धान्वित साधक के, योग के साधनभूत जीवेश्वरान्यतर पुरुषतत्त्वज्ञान (विवेक) के प्रति प्रार्थित (आकृष्ट) होने से उसमें '**वीर्य**' अर्थात् '**धारणरूप**' प्रयत्न उत्पन्न होता है। भाष्यकार उपायों का वर्णन आगे करते हैं—'**समुपजातेति।**' '**वीर्य**' से '**स्मृति**' अर्थात् '**ध्यान**' की उत्पत्ति होती है और '**ध्यान**' से '**समाधि**' अर्थात् योगप्राप्ति का अन्तिम अङ्ग अर्थात् साधन प्राप्त होता है। इस प्रकार योग के श्रद्धामूलक धारणादित्रय '**अन्तरङ्ग**' साधन द्वारा सम्प्रज्ञात योग के उत्पन्न होने पर '**प्रज्ञा**' अर्थात् जीवब्रह्मान्यतर आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप विवेक उत्पन्न होता है, जिस विवेकज्ञान से साधक यथार्थ वस्तु को जानता है। अर्थात् वस्तु के यथार्थरूप को वह ज्ञान का विषय बनाता है और '**विद्वान्**' हो जाता है। इस प्रकार श्रद्धादि की व्याख्या करके भाष्यकार श्रद्धादिपूर्वक असम्प्रज्ञात को बतलाते हैं—'**तदभ्यासादिति।**' (श्रद्धादिपूर्वक) प्रज्ञा के अभ्यास से प्रज्ञा (विवेकज्ञान) की निष्पत्ति द्वारा विवेकवृत्ति के प्रति भी अलंबुद्धिरूप वैराग्य होने से अर्थात् विवेकवृत्ति के विराम से असम्प्रज्ञातयोग निष्पन्न होता है, ऐसा सूत्रार्थ है॥२०॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं—

व्यासभाष्यम्

ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया [1]भवन्ति। [2]तद्यथा—मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायोऽ[3]पि त्रिविधः—मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाऽधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानां—

मृदु, मध्य तथा अधिमात्र उपायों के भेद से योगी नौ प्रकार के होते हैं। वे, जैसे—मृदूपाय, मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय। इनमें 'मृदूपाय' वाले योगियों के तीन भेद होते हैं, जैसे—मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग। इसी भाँति

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र — **भवन्ति** उपलभ्यते, ब — **भवन्ति** नोपलभ्यते।
2. छ थ — **त्रिविधं भवप्रत्ययापवादात्मकत्वात्** (**तद्यथा** पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र — **त्रिविध.....कत्वात्** नोपलभ्यते।
3. घ प फ म र — **अपि** उपलभ्यते, क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य — **अपि** नोपलभ्यते, ख — **तत्र मृदूपायोऽपि.....मात्रोपाय इति** वाक्यद्वयं नोपलभ्यते।

'मध्योपाय' तथा अभिमात्रोपाय योगी के भी उक्त तीन-तीन भेद (मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग) होते हैं। इनमें से (पहले आठ प्रकार के योगियों को छोड़कर अन्तिम नवम) अधिमात्रोपाय के अन्तर्गत–

योगसूत्रम्

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥२१॥

तीव्रसंवेगवान् (अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगयुक्त) योगियों को (पूर्ववर्णित उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात तथा उसका फल कैवल्य) अतिशीघ्र प्राप्त होता है॥२१॥

व्यासभाष्यम्

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति॥२१॥

अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगसम्पन्न योगियों को समाधिलाभ और समाधि का फल (कैवल्य) प्राप्त होता है॥२१॥

तत्त्ववैशारदी

ननु श्रद्धादयश्चेद्योगोपायास्तर्हि सर्वेषामविशेषेण समाधितत्फले स्याताम्। दृश्यते तु **कस्यचित्सिद्धिः कस्यचिदसिद्धिः कस्यचिच्चिरेण [1]सिद्धिः कस्यचिच्चिरतरेण कस्यचित्क्षिप्रमित्यत आह–ते खलु नव योगिन इति।** उपायाः श्रद्धादयो मृदुमध्याधिमात्राः प्राग्भवीय-**संस्कारादृष्टवशाद्येषां ते तथोक्ताः। संवेगो वैराग्यं** तस्यापि मृदुमध्यतीव्रता प्राग्भवीयवासना-**दृष्टवशादेवेति तेषु यादृशां[2] क्षेपीयसी सिद्धिस्तान्दर्शयति सूत्रेण–**तीव्रसंवेगानामासन्न इति **सूत्रम्, शेषं भाष्यम्। समाधेः संप्रज्ञातस्य फलमसंप्रज्ञातः, तस्यापि कैवल्यम्॥२१॥**

शङ्का–यदि पूर्ववर्णित श्रद्धादि 'योग' के उपाय हैं तो उन उपायों से सम्पन्न सभी योगियों को **'समाधि'** (असम्प्रज्ञात योग) तथा उसका फल **'कैवल्य'** समान रूप से प्राप्त होना चाहिये। किन्तु देखने में यह आता है कि किसी को सिद्धि (कैवल्य) प्राप्त होती है और किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती है– (यह पहला विकल्प है)। (दूसरा विकल्प यह है)– किसी को विलम्ब से सिद्धि प्राप्त होती है, किसी को अधिक विलम्ब (विलम्बतर) से सिद्धि प्राप्त होती है और किसी को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। अतः इस वैषम्य का आधार क्या है?

समाधान–(सिद्धि-प्राप्ति में दृश्यमान उक्त विषमता को स्पष्ट करते हुए) भाष्यकार कहते हैं–**'ते खलु नव योगिन इति'** पूर्वजन्मीय संस्काररूप अदृष्ट के कारण जिन

---

1. थ द ध – **सिद्धिः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **सिद्धिः** नोपलभ्यते।
2. क ग छ – **यादृशीम्**, ख घ च ज झ त थ द ध न – **यादृशाम्**।

योगियों के श्रद्धादि उपाय 'मृदु', 'मध्य' तथा '**अधिमात्र**' **परिमाण** वाले होते हैं, वे योगी मृदूपाय, मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय वाले कहे जाते हैं। (सूत्रगत) '**संवेग**' शब्द का अर्थ है–'**वैराग्य**'। यह '**वैराग्य**' (संवेग) भी पूर्वजन्मीय वासनारूप अदृष्ट के कारण 'मृदु', 'मध्य' तथा 'तीव्र' परिमाण वाला होता है। इस प्रकार श्रद्धादि उपाय तथा संवेग (वैराग्य) की तरतमता से युक्त नौ प्रकार के योगियों में से जिन्हें शीघ्रतम समाधिलाभ होता है, उन योगियों को सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है–'**तीव्रेति**' अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगवान् योगियों को सम्प्रज्ञात समाधि का फल असम्प्रज्ञात और उसका भी फल 'कैवल्य' आसन्नतम होता है॥२१॥

बालप्रिया–

'**अधि**'–'अधि–अव्यय का अर्थ है–अधिक परिमाण। अधिक परिमाण वाले श्रद्धादि उपाय जिनके हैं, वे योगी '**अधिमात्रोपाय**' कहलाते हैं॥२१॥

योगवार्त्तिकम्

आसन्नसमाधिसिद्धौ त्वतिशयेनोपायानुष्ठानं हेतुरिति सूत्रद्वयेन प्रतिपादनीयम्, **तयोरादिसूत्रमवतारयितुमुपक्रमते–ते खल्विति। उपायः श्रद्धाऽऽदिः**,तस्य मृदुत्वमल्पता, **मध्यत्वं प्रसिद्धमेव, अधिमात्रत्वमतिप्रमाणता अतिशयितत्वमिति यावत्।** संवेगश्चोपायानुष्ठाने **शैघ्र्यम्। कश्चित्तु संवेगो वैराग्यमिति व्याचष्टे, तन्न;** योगिनो नवधात्वानुपपत्तेः, उपायकार्यतया [1]**वैराग्योपायमृदुत्वादिकं विहाय स्वातन्त्र्येण मृदुत्वाद्यसंभवात्**, संवेगशब्दस्य **वैराग्यवाचकत्वाभावाच्चेति। तथा मध्येति। मृदुसंवेगत्वादिरूपैस्त्रिविध** इत्यर्थः। तथाऽधि-**मात्रोपाय इति। अधिकप्रमाणकोपायोऽपि मृदुसंवेगत्वादिरूपैस्त्रिविध** इत्यर्थः। तत्र तेषु नवसु **मध्ये, सूत्रेण सहान्वयः। अधिमात्रोपायानां तीव्रसंवेगानामासन्नः,।**

समाधिलाभ के निकटतम होने में शीघ्रतापूर्वक उपायानुष्ठान कारण (हेतु) है, यह तथ्य दो सूत्रों के द्वारा बोद्धव्य है। उन दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार विषय का उपक्रम (प्रारम्भ) करते हैं–'**ते खल्विति**।' 'उपाय' शब्द का अर्थ श्रद्धादि है। उपाय की अल्पता को '**मृदुत्व**' कहते हैं और उपाय की मध्यता को '**मध्यत्व**' कहते हैं, यह प्रसिद्ध ही है तथा अतिप्रमाणता को 'अधिमात्रत्व' कहते हैं। अतिप्रमागता का अर्थ है–अतिशयता। '**संवेग**' शब्द का अर्थ 'उपायानुष्ठान **में शीघ्रता**' करना है।

पूर्वपक्ष–कुछ लोग '**संवेग**' शब्द का अर्थ '**वैराग्य**' करते हैं।

उत्तरपक्ष–परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि '**संवेग**' को वैराग्यार्थक मानने पर योगी के नौ भेद नहीं बन पायेंगे अर्थात् योगी का नवप्रकारत्व अनुपपन्न रहेगा। दूसरा हेतु

---

1. क ख ग घ – **वैराग्यस्य**, च छ – **वैराग्य०**।

यह है कि श्रद्धादि (उपाय) का कार्य वैराग्य होने से वैराग्योपायभूत श्रद्धादि के मृदुत्वादि (मृदुत्व, मध्यत्व, अधिमात्रत्व) को छोड़कर अर्थात् श्रद्धादि के अनुष्ठान की मृदुता आदि को न लेकर स्वतन्त्ररूप से मृदुतादि की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती है। तीसरा हेतु यह है कि **'संवेग'** शब्द **'वैराग्य'** का वाचक नहीं हो सकता है।

योगवार्त्तिककार वैयासिक वाक्य द्वारा मध्यादि के भी त्रिविध अवान्तरभेदो को उठाते हैं–**'तथा मध्येति।'** मृदूपाय के मृदुसंवेगत्वादि (मृदुसंवेग, मध्यसंवेग तथा तीव्रसंवेग) रूप के त्रिविध भेदों के समान मध्योयाय के भी तीन भेद (मध्योपाय मृदुसंवेग, मध्योपाय मध्यसंवेग तथा मध्योपाय तीव्रसंवेग) होते हैं। आगे का भाष्य है–**'तथाऽधिमात्रोपाय इति।'** इसी प्रकार अधिमात्रोपाय (अधिक प्रमाणकोपाय) भी मृदुसंवेगत्वादि रूप से (अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग, अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग तथा अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग रूप से) तीन भेद वाला होता है। इन नौ प्रकार के योगियों के मध्य में **'अधिमात्रोपायानाम्'** पद का सूत्र के साथ अन्वय किया जाता है सूत्र है–**'अधिमात्रेति।'**

योगवार्त्तिकम्

नवयोगिमध्ये चरमाणामेवासन्नोऽसंप्रज्ञातो भवतीत्यर्थः। समाधिलाभः तन्निष्पत्तिः। न केवलं समाधिरासन्नोऽपि तु मोक्षोऽपीत्याह–समाधिफलं चेति–

विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि

इत्यादिविष्णुपुराणादिभ्य इति भावः। अत्र कश्चिद्–अधिमात्रोपायानामिति सूत्रमध्ये न प्रवेशयति, तन्न–तथा सति संवेगस्य त्रिधा विभागेनैव सूत्रोपपत्तौ भाष्ये नवधा विभाग[1]प्रदर्शनवैयर्थ्यापत्तेः॥२१॥

उपरिवर्णित नौ प्रकार के योगियों में से चरम अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगवान् योगियों को ही असम्प्रज्ञात योग आसन्न (आसन्नतम) होता है। भाष्य में प्रयुक्त **'समाधिलाभ'** शब्द का अर्थ है–समाधि का निष्पन्न होना। ऐसे योगियों को न केवल समाधि निकट होती है, अपितु मोक्ष भी आसन्न रहता है। इसीलिये भाष्यकार ने कहा है–**'समाधिफलं चेति।'** विष्णुपुराणादि शास्त्रों से भी यही तथ्य सिद्ध होता है– **'विनिष्पन्न...जन्मनि'** अर्थात् समाधिप्राप्त योगी इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है।

पूर्वपक्ष–योग के कुछ पूर्ववर्ती आचार्य **'अधिमात्रोपायानाम्' पद** को सूत्र के मध्य में नहीं पढ़ते (रखते) हैं। केवल **'तीव्रसंवेगानामासन्नः'** ऐसा सूत्र पढ़ते हैं।

उत्तरपक्ष–किन्तु यह ठीक नहीं है। अन्यथा **'संवेग'** के तीन प्रकार बतलाने मात्र से ही सूत्र की उपपत्ति हो जाने पर भाष्य में योगियों के नवप्रकारत्व का कथन व्यर्थ हो जायेगा॥२१॥

---

1. क ग घ च छ – प्रदर्शन०, ख – प्रदर्शनस्य।

बालप्रिया–

'तत्राऽधिमात्रोपायानाम्'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–'तत्राधिमात्रोपायानाम्' को सूत्र के साथ पढ़ने अथवा न पढ़ने के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने इस अंश को सूत्र का भाग होने अथवा न होने के विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु **'दर्शयति सूत्रेण'** ऐसी पंक्ति के साथ सूत्र को उपस्थित कराया है। इससे प्रतीत होता है कि मिश्र को **'तत्राधिमात्रोपायानाम्'** पद को सूत्र का भाग बतलाने की अपरिहार्यता प्रतीत नहीं हुई। विज्ञानभिक्षु ने **'केचित्तु'** द्वारा **'तत्राधिमात्रोपायानाम्'** अंश को सूत्र के अन्तर्गत न रखने वाले पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए यह युक्ति प्रस्तुत की है यदि सूत्र में **'तत्राधिमात्रोपायानाम्'** पद का सन्निवेश न किया जाय तो 'भाष्य में योगी के नवप्रकारत्व को बतलाना व्यर्थ हो जायेगा।' अतः भाष्यगत इस वैयर्थ्यापत्ति के निवारण के लिये **'तत्राधिमात्रोपायानाम्'** पद को सूत्र के साथ पढ़ना चाहिये।

'संवेगः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–'संवेग' शब्द के अर्थ के विषय में दोनों आचार्यों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने **'संवेग'** शब्द का **'वैराग्य'** अर्थ करते हुए योगी की प्राग्भवीय वासना को वैराग्य के मृदु मध्य तथा तीव्र गति वाला होने का कारण बतलाया है। पंक्ति है–**संवेगो वैराग्यं तस्यापि मृदुमध्यतीव्रता प्राग्भवीयवासनादृष्टवशात्**। विज्ञानभिक्षु ने **'संवेग'** शब्द का अर्थ श्रद्धादि उपायानुष्ठान में **'शीघ्रता'** किया है। पंक्ति है–**'संवेगश्चोपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्।'** विज्ञानभिक्षु ने **'कश्चित्तु'** पद द्वारा **'संवेग'** का **'वैराग्य'** अर्थ करने वालों के प्रति अश्रद्धा व्यक्त की है और युक्ति दी है कि **'संवेग'** का **'वैराग्य'** अर्थ करने पर योगी के नौ भेद नहीं बन पायेंगे। इतना ही नहीं **'वैराग्य** तो श्रद्धादि उपाय का कार्य है। अतः वैराग्योपाय श्रद्धादि के सम्पादन में ही मृदुत्वादि की तरतमता देखी जा सकती है, अन्यथा श्रद्धादि उपायविरहित मृदुत्वादि की स्थिति असम्भव है। किञ्च **'संवेग'** शब्द में **'वैराग्य'** अर्थ की वाचकता भी नहीं है'। वस्तुतस्तु **'अधिमात्रोपाय'** पद के कथन मात्र से ही उपायानुष्ठान के शैघ्र्य का ग्रहण हो जाता है और योगी का नवधात्व उक्त होने से उसके अनुपपन्न होने की क्लिष्ट कल्पना करना भी उचित प्रतीत नहीं होता है॥२१॥

योगसूत्रम्

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥२२॥

मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से भी (समाधिफल और समाधिफल की प्राप्ति में) वैशिष्ट्य है॥२२॥

व्यासभाष्यम्

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपि विशेषः। [1]तद्विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति॥२२॥

अधिमात्रोपायसंज्ञक योगियों का जो तीव्रसंवेग है, वह भी तीन प्रकार का है—मृदुतीव्रसंवेग, मध्यतीव्रसंवेग तथा अधिमात्रतीव्रसंवेग। इस भेद के कारण अधिमात्रोपाय मृदुतीव्रसंवेगवान् योगी को समाधि और उसका फल शीघ्र, अधिमात्रोपाय मध्यतीव्रसंवेगवान् योगी को शीघ्रतर तथा अधिमात्रोपाय अधिमात्रतीव्रसंवेगवान् योगी को शीघ्रतम प्राप्त होता है॥२२॥

तत्त्ववैशारदी

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातमिति।२२॥

विस्ताररूप से व्याख्यात भाष्य के द्वारा सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है॥२२॥

बालप्रिया—

मृदुतीव्रसंवेगवान् योगी को समाधि '**आसन्न**', मध्यतीव्रसंवेगवान् योगी को समाधि '**आसन्नतर**' तथा अधिमात्रतीव्रसंवेगवान् योगी को समाधि '**आसन्नतम**' होती है—यही उपाय और संवेग की तरतमता में अन्तर है।

'**अपि**'—सूत्रगत '**अपि**' अव्यय के द्वारा अग्रिम सूत्र '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**' द्वारा प्रतिपादित उपायान्तर से सापेक्षता बतलाई गई है। प्रस्तुत सूत्र द्वारा समाधिलाभ की कालसम्बन्धी तीन श्रेणियाँ बतलाई गई हैं, जब कि अग्रिम उपाय द्वारा समाधिलाभ की एक ही आसन्नतम श्रेणी बतलाई जायेगी॥२२॥

योगवार्त्तिकम्

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। पूर्वसूत्रोक्तविशिष्टेऽन्तर्गतस्य तीव्रत्वस्य **मृदुमध्याधिमात्रत्वेन त्रैविध्यात्ततोऽप्यासन्नादपि। विशेषस्तरतमरूपो भवति पूर्वसूत्रोक्तस्य नवमयोगिन इत्यर्थः। एतदेव व्याचष्टे—ततोऽपि विशेष इत्यन्तेन भाष्येण।** फलितार्थमाह—**तद्विशेषादपीति। तस्माद्विशेषादपि नवमस्य त्रिविधस्यान्तिमानामासन्नतम इत्यर्थः।** अपि शब्द

---

1. क ख ग – तद्विशेषादप्यासन्नमोऽधिमात्रतीव्राधिमात्रोपायस्य समाधिलाभः समाधिफलं चेति, घ प फ ब भ म य र – तद्विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति, च झ त न – तद्विशेषादप्यासन्नतरस्तीव्राधिमात्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्य। छ थ – तद्विशेषादप्यासन्नतरस्तीव्राधिमात्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्य समाधिलाभः समाधिफलं चेति। अयमयोगात्मकः सर्वापवादकृदात्मोपायप्रत्यया समाधिः, भवनाशोपायदर्शनात् ज द ध – तद्विशेषादपि मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्याप्यासन्नतमः

आगामिसूत्रस्थसाधनापेक्षया। अत्र तीव्राधिमात्रसंवेगस्येत्यपपाठः, अधिमात्रतीव्र इत्युक्त-भाष्यतोऽधिमात्रतीव्रसंवेगस्येत्येव पाठादिति॥२२॥

पिछले सूत्र में कथित वैशिष्ट्य के अन्तर्गत आने वाली **'तीव्रता'** मृदु, मध्य तथा अधिमात्र की दृष्टि से तीन प्रकार की है। उसमें भी समाधिप्राप्ति की आसन्नता (सन्निकटता) की दृष्टि से तरतमभावरूप अन्तर (विशेष) विद्यमान है। पूर्व सूत्र में यह बतलाया गया है कि नवम योगी को समाधि आसन्नतम होती है। भाष्यकार इसी तथ्य की व्याख्या करते हैं– **'ततोऽपि विशेष इति'** यहाँ तक के भाष्य द्वारा। सूत्र के तात्पर्यार्थ को भाष्यकार बतलाते हैं– **'तद्विशेषादपीति।'** इस विशेषता के कारण ही नवम योगी को समाधि आसन्नतम (अष्टम योगी को आसन्नतर तथा सप्तम योगी को आसन्न) होती है। (भाव यह है कि श्रद्धादि उपायानुष्ठान से समाधिलाभ तथा समाधि का फल कैवल्य तो प्राप्त होता ही है, किन्तु श्रद्धादि उपायानुष्ठान के मृदुत्वादि से फलप्राप्ति में आसन्न, आसन्नतर तथा आसन्नतमरूप कालघटित वैशिष्ट्य आ जाता है। सूत्रगत **'विशेष'** पद का यही तात्पर्य है)। सूत्र में प्रयुक्त 'अपि' शब्द के तात्पर्य को समझाते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि सूत्रस्थ 'अपि' शब्द आगामी सूत्र में निर्दिष्ट साधन को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हुआ है। भाव यह है कि जिस प्रकार ईश्वरप्रणिधान से समाधिलाभ आसन्नतम होता है, उसी प्रकार अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग से भी समाधि निकटतम रहती है। संग्रहार्थक' **अपि** शब्द के प्रयोग का यही तात्पर्य है। पाठभेद को लेकर योगवार्त्तिककार आगे विचार कर रहे हैं—जहाँ कहीं **'तीव्राधिमात्रसंवेगस्य'** ऐसा पाठ मिलता है, उसे अपपाठ अर्थात् अशुद्ध पाठ समझना चाहिये, क्योंकि **'अधिमात्रतीव्र'** इस भाष्य के अनुसार **'अधिमात्रतीव्र-संवेगस्य'** ऐसा पाठ ही शुद्ध सिद्ध होता है॥२२॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]**किमेतस्मादेवा[2]सन्नतमः समाधिर्भवति। अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति?–**

क्या पूर्ववर्णित उपाय (अधिमात्रोपाय अधिमात्रतीव्रसंवेग) से समाधि शीघ्रतम सम्पाद्य होती है? किञ्च समाधिलाभ में शीघ्रताकारक कोई अन्य भी उपाय है अथवा नहीं? (तदर्थ सूत्र है) –

1. क ख ग – **किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति। अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति** १/२२ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **किमेतस्माद्......वेति** १/२३ सूत्रस्य अवतरणिका।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द न ब भ म – **आसन्नतरः**, घ ध प फ य र – **आसन्नतमः**।

योगसूत्रम्

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥२३॥

ईश्वरप्रणिधान से भी (समाधि और उसका फल शीघ्रतम प्राप्त होता है)॥२३॥

व्यासभाष्यम्

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तद[1]भिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः[2] समाधिलाभः [3]समाधिफलं च भवतीति॥२३॥

प्रणिधानरूप भक्तिविशेष से अभिमुखीकृत (कृपापूर्वक अभिमुख हुआ) 'ईश्वर' योगी (भक्त) को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। ईश्वर के संकल्प (अभिध्यान) मात्र से योगी को समाधिलाभ और उसका फल (कैवल्य) शीघ्रतम प्राप्त होता है॥२३॥

तत्त्ववैशारदी

सूत्रान्तरं पातयितुं विमृशति–किमेतस्मादेवेति। नवा शब्दः संशयनिवर्तकः। ईश्वरप्रणिधानाद्वा। व्याचष्टे–[4]प्रणिधानादिति। प्रणिधानाद्भक्तिविशेषान्मानसाद्वाचिकात्कायिकाद्वाऽऽवर्जितोऽभिमुखीकृतस्तमनुगृह्णाति। अभिध्यानम[5]नागतार्थेच्छा–इदमस्याभिमतमस्त्विति। तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण। शेषं सुगमम्॥२३॥

अगले सूत्र को अवतरित करने के लिये भाष्यकार विचार कर रहे हैं– '**किमेतस्मादेवेति**' भाष्य में प्रयुक्त '**न वा**' शब्दद्वय सन्देहोन्मूलक है अर्थात् पूर्वकथित इस सन्देह को उन्मूलित करता है कि किसी अन्य उपाय से समाधिलाभ आसन्नतम नहीं होता है। तदर्थ सूत्र है-'**ईश्वरेति**' सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं– '**प्रणिधानादिति**' मानस, वाचिक और कायिक प्रणिधानरूप भक्तिविशेष से आवर्जित अर्थात् अनुकूल हुआ परमात्मा (मेरे भक्त का कल्याण हो–इस संकल्पमात्र से) भक्त का उपकार करता है। भाष्यस्थ '**अभिध्यान**' पद का अर्थ करते हुए

---

1. क ख ग घ फ र – **अभिध्यानात्**, च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – **अभिध्यानमात्रात्**।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म – **आसन्नतरः**, घ प फ य र – **आसन्नतमः**।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – **समाधिफलं**, घ फ र – **फलम्**।
4. क ग छ – **प्रणिधानादिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रणिधानादिति** नोपलभ्यते।
5. क घ च छ ज झ त न – **अनागत०**, ख ग थ द ध – **अनागते**।

तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'**अभिध्यान**' शब्द का अर्थ है–भविष्यत्कालिक पदार्थ-विषयक इच्छा। इच्छा का स्वरूप है–'भक्त को उसका अभीष्ट प्राप्त हो'। भाष्यस्थ '**अभिध्यानमात्रेण**' के '**मात्रेण**' पद का अर्थ है–अन्य व्यापार किये विना। अर्थात् भक्त के 'ईश्वरप्रणिधान' रूप व्यापार से प्रसन्न हुआ परमात्मा, उपायान्तर के विना, संकल्पमात्र से ही भक्त पर अनुग्रह करता है और उसे उसका अभीष्ट समाधिलाभ तथा समाधिफल प्राप्त कराता है। शेष भाष्य सुगम है॥२३॥

बालप्रिया–

'**तन्मात्रेण**'–इस पद का अर्थ है–'**संकल्पमात्र से**।' अर्थात् भक्त (योगी) को अत्यन्त शीघ्र समाधि की प्राप्ति होती है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥९/२२

इस श्लोक में भगवान् ने स्वयं अपने को योगक्षेम का निर्वाहक कहा है। अतः ईश्वरशरण को ग्रहण कर पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधानरूप भक्ति करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है॥२३॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति–किमेतस्मादेवेति। किमेतस्मादेव तीव्रसंवेगस्याधिमात्रत्वादेवासन्नतमः समाधिर्भवतीत्यादिरर्थः। न वेति [1]वैकल्पिकत्वार्थः। विकल्पमेव सिद्धान्तयति सूत्रेण–ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

सूत्रान्तर को अवतरित करने के लिये भाष्यकार पूछते हैं–'**किमेतस्मादेवेति।**'

शङ्का–क्या अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग से ही समाधिलाभ आसन्नतम होता है अथवा किसी अन्य उपाय से भी?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**न वेति।**' अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग ही समाधिलाभ का अन्यतम साधन नहीं है, अपितु समाधि के आसन्नतम होने का अन्य भी उपाय है। '**न वा**' के द्वारा भाष्यकार ने प्रश्न का विकल्परूप प्रस्तुत किया है। इसी विकल्प को सूत्र के द्वारा सिद्धान्तित किया जा रहा है–'**ईश्वरेति।**'

योगवार्त्तिकम्

विशेष इत्यनेनान्वयः। प्रणिधानमत्र न द्वितीयपादवक्ष्यमाणं सर्वकर्मार्पणं[2] किं त्वसंप्रज्ञातकारणीभूतसमाधिर्भावनाविशेष एव, तज्जपस्तदर्थभावनमित्यागामिसूत्रेणै-

---

1. क ख ग च छ – **वैकल्पिकत्वार्थः**, ग – ˋकल्पिक **इत्यर्थः**।
2. ख ग – **सर्वकर्मार्पणं** – उपलभ्यते, क घ च छ – **सर्वकर्मार्पणं** नोपलभ्यते।

वा[1]त्म[2]प्रणिधानस्यात्र लक्षणीयत्वात्। तथा च सूत्रद्वयस्यायम[3]र्थः–प्रज्ञाऽन्तो यो योगोपायो जीवात्मपरमात्मसाधारणविषयक उक्तः तत्र जीवात्मप्रज्ञा[4]ऽन्तस्योपायस्याधिमात्रतीव्रसंवेगत्वे सत्येवासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवति, [5]परमात्मप्रज्ञाऽन्तस्योपायस्य त्वधिमात्रतीव्रसंवेगत्वाभावेऽप्यासन्नतमोऽसंप्रज्ञातो भवतीति। एवं च सति मुख्यकल्पानुकल्पभेदेन परमात्मजीवात्मप्रज्ञयोर्योगमोक्षहेतुत्वं बोध्यम्, उभयप्रज्ञयोरेव देहाद्यभिमाननिवर्त्तकत्वेन परवैराग्यद्वारकत्वसाम्येऽप्यतितीव्राभ्यासं विनाऽपि परमात्मप्रज्ञाया आसन्नतमयोगहेतुतया श्रेष्ठ्यात्, ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेत्यागामिसूत्रेणाधिकद्वारकीर्त्तनात्। अत एव श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु प्रायशो ब्रह्मज्ञानमेव मोक्षहेतुतयोपदिश्यते, कदाचिदेव तु स्वातन्त्र्येण जीवतत्त्वज्ञानमिति। यदि चोभयोरेव तुल्यवद्विकल्पः स्यात्तर्हि तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः इत्यादिश्रुतयो व्याकुप्येरन्। तथा–

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो [6]व्यक्तस्वरूपोऽ[7]प्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वविशेषवेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वरात्मा॥
प्रज्ञायते[8] येन उदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम्।
संदृश्यते वाऽप्यवगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्॥

इत्यादिस्मृतयोऽपि व्याकुप्येरन्। मुख्यकल्पत्वे तु राजमार्ग एव मम[9] इति वाक्यवत् तादृशवाक्यानां मुख्यसाधनपरतयोपपत्तिरिति दिक्।

पूर्वसूत्रगत 'विशेष' पद का प्रकृत सूत्र के साथ अन्वय (अध्याहार) किया जाता है। (अन्वित रूप है–'ईश्वरप्रणिधानाद्वा विशेषः')। प्रकृत में 'प्रणिधान' शब्द से द्वितीय पादान्तर्वर्ती प्रणिधान (जो शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः २/३२ सूत्र में वर्णित है) का ग्रहण नहीं होता है, अपितु असम्प्रज्ञात की कारणीभूता समाधि जो भावनाविशेषरूपा ही है, वही यहाँ विवक्षित है। क्योंकि 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' १/२८ इस आगामी सूत्र के द्वारा आत्मप्रणिधान अर्थात् आत्मचिन्तन ही यहाँ

---

1. क ख च छ – आत्म० उपलभ्यते, ग घ – आत्म० नोपलभ्यते।
2. क ख च छ – प्रणिधानस्यात्र, ग घ – अत्र प्रणिधानस्य।
3. क घ च छ – अर्थः, ख ग – भावः।
4. क ग च छ – अन्तस्य, ख घ – तस्य।
5. क ग घ च छ – परमात्मप्रज्ञाऽन्तस्योपायस्य त्वधिमात्रतीव्रसंवेगत्वाभावेऽप्यासन्नतमोऽसम्प्रज्ञातो भवतीति उपलभ्यते, ख – परमात्म......भवतीति नोपलभ्यते।
6. क घ – अव्यक्त०, ख ग च छ – व्यक्त०।
7. क घ – प्रकट०, ख ग च छ अप्रकट०।
8. क घ च छ – प्रज्ञायते, ख ग – संज्ञायते।
9. क ख घ च छ – मम, ग – मार्गः।

वर्णनीय है। इस प्रकार दो सूत्रों को मिलाकर (विगत एवं वर्तमान सूत्र के आधार पर) यह अर्थ निष्पन्न होता है–जीवात्मा तथा परमात्मा के विषय वाला अर्थात् जीवात्मपरमात्मसाधारणविषयक प्रज्ञापर्यन्त जो योग का उपाय बतलाया गया है, उसमें से जीवात्मप्रज्ञापर्यन्त श्रद्धादि उपाय के अधिमात्रतीव्रसंवेग वाला होने पर ही असम्प्रज्ञात समाधि **'आसन्नतम'** होती **है,** जब कि परमात्मप्रज्ञापर्यन्त श्रद्धादि उपाय के अधिमात्रतीव्र संवेग वाला न होने पर भी असम्प्रज्ञात समाधि **'आसन्नतम'** (निकटतम) होती है। भाव यह है कि परमात्मविषयक ज्ञान और जीवात्मविषयक ज्ञान में अन्तर यह है कि परमात्मविषयक ज्ञान अधिमात्रतीव्र संवेग की अपेक्षा किये विना भी असम्प्रज्ञात समाधि की आसन्नतमता में हेतु है, जब कि जीवात्मविषयक ज्ञान से समाधि की आसन्नतमता के लिये अधिमात्रतीव्रसंवेग की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार मुख्यकल्प (मुख्य पद्धति) और अनुकल्प (गौण पद्धति) के भेद से परमात्मविषयक तथा जीवात्मविषयक दोनों प्रज्ञाओं को योग तथा मोक्ष का हेतु माना गया है। यद्यपि **'जीवात्मविषयक'** प्रज्ञा और **'परमात्मविषयक'** प्रज्ञा दोनों में देहादि के प्रति आत्माभिमान की निवर्त्तकता के द्वारा परवैराग्य का द्वारकत्व तुल्य होने पर भी अर्थात् देहादि में आत्मत्वबुद्धि की निवृत्ति कराते हुए तथाकथित जीवात्मपरमात्मविषयक दोनों प्रज्ञाओं में परवैराग्योपस्थापन की क्षमता होने पर भी **'परमात्मविषयक'** प्रज्ञा अत्यन्त प्रबल योगानुष्ठान के विना भी आसन्नतम योग का कारण होने से (जीवात्मविषयक प्रज्ञा की अपेक्षा) श्रेष्ठ है। और **'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'** १/२९ इस आगामी सूत्र **के** द्वारा भी परमात्मविषयक प्रज्ञा को अन्य व्यापारों (द्वारों) के द्वारा आसन्नतम समाधिलाभ का हेतु बतलाया जायेगा। इसी वैशिष्ट्य के कारण श्रुति, स्मृति इतिहासादि ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष के हेतुरूप से प्रतिपादित किया गया है। बहुत कम स्थलों पर ही स्वतन्त्ररूप से जीवविषयक ज्ञान को मोक्ष का कारण बतलाया गया है। यदि **'जीवात्मविषयक'** प्रज्ञा और **'परमात्मविषयक'** प्रज्ञा दोनों में मोक्षहेतुता तुल्य मानी जाय अर्थात् तुल्य उपायानुष्ठान द्वारा दोनों से आसन्नतम समाधिलाभ की बात कही जाय तो निम्नाङ्कित श्रुतियाँ क्रुद्ध हो जायेंगी– **'तमेव...अयनाय, तमेवैकं... विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः'** अर्थात् 'उसी परमात्मतत्त्व को जानकर व्यक्ति मृत्यु को पार करता है। तदतिरिक्त और कोई उपाय मृत्यु को पार करने का नहीं है' श्वे. ६/१५; 'उसी एक परमात्मतत्त्व को जानो और सब वाणियों को छोड़ दो' मुण्डकोप. २/२/५; 'अमृत को पाने का यही सेतु (मार्ग) है।' इसी प्रकार **'स ईश्वरो...ज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्'** वि. पु. ६/५/८६ इत्यादि स्मृतिवाक्य भी कुपित हो जायेंगे। स्मृतिवाक्य का अर्थ है–'यह ईश्वर व्यष्टिसमष्टिरूप, अभिव्यक्तस्वरूप तथा

अनभिव्यक्तस्वरूप है। वह सर्वेश्वर समस्त विशेष को जानने वाला, समस्त शक्तिसम्पन्न और परमेश्वर है। समस्त दोषों से रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ, निर्मल तथा एकरूप ब्रह्म जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा देखा जाता है, वही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त सब कुछ अज्ञानरूप कहा गया है।' इस प्रकार 'यह मेरा राजमार्ग है'—इस लौकिक वाक्य की भाँति परमात्मप्रज्ञाविषयक मुख्यकल्प (प्रधान विधा) में परमात्मप्रतिपादक वाक्य समाधि के प्रधान (मुख्य) साधन के रूप से उपपन्न हो जाते हैं।

सम्प्रति, जीवात्मविषयक प्रज्ञा की अपेक्षा परमात्मविषयक प्रज्ञा के वैशिष्ट्य को शंका-समाधान की शैली से सिद्ध किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

ननु जीवप्रज्ञाऽऽसन्नतमयोगोत्पादनार्थमभ्यासस्यातितीव्रत्वमपेक्षते; ईश्वरप्रज्ञा तु नापेक्षत इत्यत्र का युक्तिरित्याकाङ्क्षायामाह—प्रणिधानादित्यादि। ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपतया प्रेमलक्षणभक्तिरूपाद्वक्ष्यमाणात्प्रणिधानादावर्जितो[1]ऽभिमुखीकृत ईश्वरस्[2]तं ध्यायिनमभिध्यान-मात्रेण अस्य समाधिमोक्षावासन्नतमौ भवेतामितीच्छामात्रेण रोगाशक्त्यादिभिरुपा-यानुष्ठानमान्द्येऽप्यनुगृह्णात्यानुकूल्यं भजते; अतस्तस्मादभिध्यानादपि प्रणिधाननिष्पत्त्यादिद्वारा योगिनामासन्नतमौ समाधिमोक्षौ भवत इत्यर्थः॥२३॥

शङ्का—जीवात्मविषयक प्रज्ञा को आसन्नतम योग की प्राप्ति के लिये अभ्यास की अतितीव्रता अपेक्षित रहती है, किन्तु परमात्मविषयक प्रज्ञा को यह अपेक्षा नहीं रहती है, इसमें युक्ति क्या है?

समाधान—ऐसी शंका होने पर भाष्यकार बतलाते हैं—'**प्रणिधानादित्यादि**' ब्रह्म में आत्मचिन्तन ('**अहं ब्रह्मास्मि**'—इत्याकारक भावना) द्वारा आगे बतलाया जाने वाला प्रेमलक्षणभक्तिरूप प्रणिधान करने से (भक्त के) अभिमुख (अनुकूल, आवर्जित) हुआ ईश्वर—'भक्त को समाधि और मोक्ष आसन्नतम होवे'—इत्याकारक संकल्प (अभिध्यान) मात्र से, रोग और अशक्ति के कारण श्रद्धादि उपायानुष्ठान में असमर्थ (अकर्मण्य) होने पर भी—ध्यान करने वाले भक्त पर अनुग्रह करता है। अतः ईश्वर के चिन्तनमात्र से भी प्रणिधान की निष्पत्ति आदि द्वारा योगियों को समाधि और मोक्ष आसन्नतम होते हैं। (इस प्रकार परमात्मविषयक प्रज्ञा की अपेक्षा जीवात्मविषयक प्रज्ञा को आसन्नतम समाधि के लिये उपायानुष्ठान के प्रति अतितीव्राभ्यास की क्यों आवश्यकता रहती है, यह शंका दूर हो जाती है)॥२३॥

---

1. क – **अभिमुखः**, ख ग घ च छ – **अभिमुखी०**।
2. ख – **स्वध्यायिनं**, ख ग घ च छ – **तं ध्यायिनम्**।

भाष्यकार अग्रिम सूत्र की अवतरणिका लिखते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति?

अच्छा तो यह बतलाईये कि प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त 'ईश्वर' कौन है? (उत्तर है) –

योगसूत्रम्

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥२४॥

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अस्पृष्ट एक विशेष प्रकार का पुरुष 'ईश्वर' कहलाता है॥२४॥

व्यासभाष्यम्

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो [1]ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते[2], नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरी[3]श्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि [4]स्यात्तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – हि, ख – तु।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – प्रज्ञायते, छ थ – प्रजायते।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – ईश्वरसत्त्वे, त – ईश्वरत्वे।
4. घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – स्यात् उपलभ्यते, क ख ग – स्यात् नोपलभ्यते।

तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्या[1]तिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स [2]एवेश्वरः स च[3] पुरुषविशेष इति॥२४॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये 'क्लेश' हैं। धर्म और अधर्म 'कर्म' हैं। कर्म का फल 'विपाक' है। सुख-दुःख के भोग (विपाक) से बनने वाली वासना को 'आशय' कहते हैं। ये क्लेशादि (चारों) चित्त में विद्यमान रहते हैं, फिर भी (जीवात्मरूप) पुरुष में उनका आरोप करके व्यवहार किया जाता है। इसी से पुरुष बुद्धिगत सुख-दुःखरूप फल का 'भोक्ता' कहा जाता है। जैसे—जय अथवा पराजय समस्त योद्धा सैनिकों में वर्तमान रहकर भी सेनापति (राजा) में व्यपदिष्ट (आरोपित) होती है। जो 'पुरुषविशेष' इस औपाधिक भोग से भी अव्यवहृत अर्थात् अस्पृष्ट है, वह 'ईश्वर' कहलाता है। यद्यपि 'कैवल्य' को प्राप्त हुए बहुत से 'केवली' (मुक्त पुरुष) हैं, जिन्होंने तीनों प्रकार के बन्धनों को काटकर 'कैवल्य' प्राप्त किया है, (किन्तु ये 'ईश्वर' नहीं हैं क्योंकि) 'ईश्वर' का तो इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध था और न कभी भविष्य में सम्बन्ध होने वाला है। जैसे, मुक्तपुरुष की पूर्वकाल में अर्थात् मुक्ति से पूर्व बन्धन की स्थिति रहती है, ऐसा बन्धन 'ईश्वर' का कभी भी नहीं रहता है। अथवा जैसे प्रकृतिलीन योगी को अधिकार-समाप्ति के अनन्तर (पुनर्जन्मरूप) उत्तरबन्धदशा की सम्भावना रहती है, ऐसा उत्तरकालिक बन्ध ईश्वर का नहीं होता है। ईश्वर तो सदैव 'मुक्त' और सदैव 'ईश्वर' रहता है। जो यह विशुद्धसत्त्वात्मक चित्तरूप उपाधि को धारण करने से ईश्वर का नित्य सर्वज्ञत्वादिरूप उत्कर्ष है, वह क्या सप्रमाण है अथवा निष्प्रमाण है? (उत्तर है कि वह सप्रमाण है)। ईश्वर के उत्कर्ष में शास्त्र प्रमाण है। तो फिर उस शास्त्र (की प्रामाणिकता) में क्या प्रमाण है? (उत्तर है)—शुद्धसत्त्वरूप ईश्वरोपाधि शास्त्र की प्रामाणिकता में हेतु (प्रमाण) है। ईश्वरोपाधिरूप शुद्धसत्त्व में वर्तमान इन शास्त्र और ईश्वरोपाधि का 'अनादि' सम्बन्ध है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि वह 'पुरुषविशेष' सदैव 'ईश्वर' है (ऐश्वर्य से युक्त है) और सदैव मुक्त है। ईश्वर का यह ऐश्वर्य समानता एवं अतिशय से रहित है। ईश्वर का ऐश्वर्य किसी

---

1. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **अतिशयैः**, ख घ प फ र – **अतिशय**०।
2. ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **एव** उपलभ्यते, क ख घ प फ र – **एव** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – **च** उपलभ्यते, म – **च** नोपलभ्यते।

के ऐश्वर्य से कम नहीं किया जा सकता है। जो ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्यों की अपेक्षा अतिशय है, वही ऐश्वर्य 'निरतिशय' कहलाता है। अतः ऐश्वर्य की जहां अन्तिम सीमा है, वही 'ईश्वर' है। और ईश्वर के ऐश्वर्य के बराबर किसी का ऐश्वर्य नहीं है। (ऐसा क्यों?)–यदि किसी अन्य के ऐश्वर्य को ईश्वर के ऐश्वर्य के समान माना जाय तो सदृश ऐश्वर्य वाले दोनों में एक ही वस्तु के विषय में एक ही काल में यदि 'यह नवीन हो' तथा 'यह प्राचीन हो'–ऐसी विपरीत कामना हो तो एक की कामना के सिद्ध होने पर दूसरे की इच्छा का विघात होने से न्यूनता होगी। क्योंकि एक ही पदार्थ में नवीनत्व और पुरातनत्व का परस्पर विरोध है। इस प्रकार दोनों के तुल्य ऐश्वर्यवान् होने पर एक ही काल में दोनों को अभिलषित अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः (इन विरोधाभासों को देखते हुए शास्त्रपुरस्सर यह सिद्धान्तित होता है कि)–जिसका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से रहित है, वही 'ईश्वर' है और वही 'ईश्वर' (बद्ध, मुक्त, अणिमादि ऐश्वर्यसम्पन्न सर्वविध जीवरूप पुरुष की अपेक्षा विशिष्ट होने से) 'पुरुषविशेष' है॥२४॥

तत्त्ववैशारदी

ननु चेतनाचेतनाभ्यामेव व्यूढं नान्येन विश्वम्। ईश्वरश्चेदचेतनस्तर्हि प्रधानम्, प्रधानविकाराणामपि प्रधानमध्यपातात्। तथा च न तस्यावर्जनम्, अचेतनत्वात्। अथ चेतनस्तथापि चितिशक्तेरौदासीन्यादसंसारितया चास्मितादिविरहात्कुत आवर्जनं कुतश्चाभिध्यानमित्याशयवानाह–अथ प्रधानेति। अत्र सूत्रेणोत्तरमाह–क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। अविद्यादयः क्लेशाः। क्लिश्यन्ति खल्वमी पुरुषं सांसारिकं विविधदुःखप्रहारेणेति। कुशलाकुशलानीति धर्माधर्माः। तेषां च कर्मजत्वादुपचारात्कर्मत्वम्। विपाको जात्यायुर्भोगाः। [1]तदनुगुणा विपाकानुगुणा वासनास्ताश्चित्तभूमावाशेरत इत्याशयाः। न हि करभजातिनिर्वर्तकं कर्म प्राग्भवीयकरभभोगभावितां भावनां न यावदभिव्यनक्ति तावत्करभोचिताय भोगाय कल्पते। तस्माद् भवति करभजात्यनुभवजन्मा भावना करभविपाकानुगुणेति।

शङ्का– पूर्व सूत्र से प्राप्त 'ईश्वर' तत्त्व को लेकर उसके स्वरूप के विषय में विचार किया जा रहा है– यह निखिल संसार चेतन और अचेतन दो प्रकार के तत्त्वों से ही परिव्याप्त है। ईश्वर को अचेतन मानते हुए उद्भावना की जा रही है– यदि ईश्वर अचेतन(जड़) है तो अचेतनकोटिक 'प्रधान' के अन्तर्गत है, क्योंकि प्रधान का विकारभूत कार्यजात भी 'प्रधान' में अन्तर्हित होता है। ऐसी स्थिति में अचेतन होने के कारण ईश्वर द्वारा अभिमुखीकरण (जो चेतन का व्यापार है)

---

1. ख ग थ द ध – तदनुगुणाः उपलभ्यते, क घ च छ ज झ त न – तदनुगुणाः नोपलभ्यते।

क्रिया सम्भव नहीं है। ईश्वर को चेतन मानते हुए उद्‌भावना की जा रही है—यदि ईश्वर को चेतन माना जाय तो औदासीन्य तथा असंसारी होने से अस्मितादि से रहित होने के कारण चैतन्यशक्ति (ईश्वर) में अभिमुखता तथा संकल्पता कैसे सम्भव हो सकती है? अर्थात् कथमपि सम्भव नहीं हो सकती है—इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए निरीश्वर सांख्यवादी आशंका करते हैं—'**अथ प्रधानेति**।' अर्थात् प्रकृति और पुरुष से भिन्न कौन यह अभिमत 'ईश्वर' तत्त्व है? तदर्थ पतञ्जलि सूत्र द्वारा उत्तर देते हैं—'**क्लेशेति**।' तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—'**अविद्यादयः क्लेशा इति**।' अविद्यादि को '**क्लेश**' कहते हैं, क्योंकि ये अनन्त (नानाविध) दुःखों के द्वारा सांसारिक पुरुष को पीड़ित कर उसे क्लेश प्रदान करते हैं। '**कुशलाकुशलानीति**।' धर्म तथा अधर्म को (क्रमशः) '**कुशल**' तथा '**अकुशल**' कहते हैं। धर्माधर्म की उत्पत्ति कर्म से होती है, अतः औपचारिक रूप से धर्माधर्म को '**कर्म**' कहते हैं। शब्दान्तर में शुभाशुभ कर्म धर्माधर्मरूप हैं अथवा धर्माधर्म में कर्मत्व उपचरित है, क्योंकि कार्यकारण में अभेद विवक्षित है। कर्मजन्य जाति, आयु तथा भोगरूप फल को '**विपाक**' कहते हैं। कर्मजन्य फलानुरूप वासना, जो चित्तभूमि में शयन करती है, '**आशय**' संज्ञा से अभिहित है। कर्मजन्य फलोपभोग में वासना की भूमिका (सक्रियता) पर प्रकाश डालते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—करभरूप जाति (हाथी शरीर) को निष्पादित (कार्यान्वित) कराने वाला कर्म तब तक करभोचित भोग को सम्पादित नहीं कर सकता है, जब तक पूर्वजन्मीय करभभोगजन्य वासना की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती है। अतः यह सिद्ध होता है कि करभजाति के अनुभव से उत्पन्न वासना करभयोनि में प्राप्त होने वाले फल के अनुरूप होती है।

ऊपर '**क्लिश्यन्ति खल्वमी पुरुषं**'—वाक्य द्वारा यह संकेतित किया गया है कि क्लेशादि शृंखला से पुरुष प्रभावित होता है, उसी के आधार पर पूर्वपक्षी की ओर से शंका की जा रही हैं—

तत्त्ववैशारदी

नन्वमी क्लेशादयो बुद्धिधर्मा न कथंचिदपि पुरुषं परामृशन्ति। तस्मात्पुरुषग्रहणादेव तदपरामर्शसिद्धेः कृतं क्लेशकर्मेत्यादिनेत्यत आह—[1]त इति। ते च मनसि वर्तमानाः सांसारिके पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। कस्मात्? स हि तत्फलस्य भोक्ता चेतयितेति। तस्मात्पुरुषत्वादीश्वरस्यापि तत्संबन्धः प्राप्त इति तत्प्रतिषेध उपपद्यत इत्याह—[2]य इति। यो ह्यनेन बुद्धिस्थेनापि पुरुषमात्रसाधारणेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। विशिष्यत इति विशेषः। पुरुषान्तराद्व्यवच्छिद्यते।

---

1. थ द ध – **त इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **त इति** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **य इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **य इति** नोपलभ्यते।

शङ्का–(सांख्ययोगमत में) ये क्लेशादि, बुद्धि के धर्म हैं। ये कभी भी पुरुष के धर्म नहीं माने जाते हैं। (अर्थात् चित्तधर्मक क्लेशादि चेतन पुरुष में कथमपि सम्भव नहीं हैं। अतः पुरुष में क्लेशादि का निषेध प्रतिपादित करना व्यर्थ है, इसी को ध्यान में रखकर कहा जा रहा है–) इसीलिये (सूत्र में) '**पुरुष**' पद के ग्रहणमात्र से ही उसमें (पुरुष में) क्लेशादि की असंस्पृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है, तो फिर सूत्र में 'क्लेश, कर्म' आदि व्यर्थ में क्यों गृहीत हुए हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**त इति**।' यह सत्य है कि क्लेशादि बुद्धि के धर्म हैं अर्थात् बुद्धिनिष्ठ हैं, किन्तु सांसारिक (अविद्याग्रस्त) पुरुष में इनका उपचार (व्यवहार, औपाधिक अवस्थान) किया जाता है।

शङ्का–ये क्लेशादि पुरुष में किस प्रकार से उपचरित होते हैं?

समाधान–(ये क्लेशादि पुरुष के भोग्यरूप से व्यवहृत होते हैं इसलिये) पुरुष ही क्लेशादिजन्य फल का भोक्ता अर्थात् चेतयिता माना जाता है अर्थात् अविवेकग्रस्त पुरुष बुद्धिगत सुख-दुःख को स्वगत धर्म समझकर सुखी-दुःखी होता है। इस प्रकार पुरुष में उपाधिवश सुख-दुःख की विद्यमानता है। पुरुषत्व की दृष्टि से क्लेशादि का सम्बन्ध ईश्वर में भी प्राप्त होता है, इसी का प्रतिषेध करने के लिये सूत्र में '**क्लेशादि**' पद का ग्रहण किया गया है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**य इति**।' जो; बुद्धिनिष्ठ होते हुए भी पुरुषसामान्य में आपाततः प्रतीत होने वाले औपाधिक भोग से सर्वथा असम्पृक्त है, उस पुरुषविशेष को '**ईश्वर**' कहते हैं। '**विशिष्यत इति विशेषः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुषसामान्य से 'विशिष्ट' अर्थात् विलक्षण होने के कारण ईश्वर को '**पुरुषविशेष**' कहते हैं। यही औपाधिक भोगशून्यत्व पुरुषविशेष को पुरुषसामान्य से पृथक् करता है।

'**पुरुषविशेष**' में '**विशेष**' पद के प्रयोग द्वारा पुरुषसामान्य को व्यावर्त्य बतलाया गया। सम्प्रति, '**विशेष**' पद के द्वारा व्यावर्त्य उन सब विभिन्नकोटिक पुरुषों की मान्यता को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

विशेष[1]पदस्य व्यावर्त्यं दर्शयितुकामः परिचोदनापूर्वं परिहरति–कैवल्यं प्राप्तास्तर्हीति। प्रकृतिलयानां प्राकृतो बन्धः। वैकारिको बन्धो[2] विदेहानाम्। दक्षिणाबन्धो दिव्यादिव्यविषय[3]भोगभाजाम्। तान्यमूनि त्रीणि बन्धनानि। प्रकृतिभावनासंस्कृतमनसो हि देहपातान-

1. क ग घ च छ ज झ त न – **पदस्य**, क थ द ध – **पद**०।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **बन्धः** उपलभ्यते, थ द ध – **बन्धः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **भोग**० उपलभ्यते, थ द ध – **भोग**० नोपलभ्यते।

न्तरमेव प्रकृतिलयतामापन्ना इति तेषां[1] पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते[2], तेनोत्तरकोटिविधानमात्रम्। इह तु पूर्वापरकोटिनिषेध इति। संक्षिप्य विशेषं दर्शयति–स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। ज्ञानक्रियाशक्तिसंपद् ऐश्वर्यम्।

सूत्र में प्रयुक्त '**विशेष**' पद के द्वारा व्यावृत्त होने योग्य (तिरस्करणीय) को दिखलाने के इच्छुक भाष्यकार निर्देशपूर्वक उसका परिहार करते हैं–**कैवल्यं प्राप्तास्तर्हीति।** (सूत्र में '**विशेष**' पद का प्रयोग नहीं करेंगे तो मुक्तादि पुरुषों में ईश्वर का लक्षण अतिव्याप्त होगा। अतः '**विशेष**' पद के द्वारा समस्त व्यावर्त्य पुरुषों की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी का दिग्दर्शन कराया जा रहा है)–प्रकृतिलयों का (अनात्मभूत प्रकृति में आत्मत्वेन चिन्तन करने वालों का) '**प्राकृत**' बन्ध होता है। विदेहों का (भूतेन्द्रियात्मवादियों का) '**वैकारिक**' बन्ध होता है तथा दिव्य=अलौकिक एवं अदिव्य=लौकिक विषयों का सेवन करने वालों का '**दक्षिणा**' बन्ध होता है। ये तीन प्रकार के बन्ध हैं। प्रकृति में आत्मविषयक भावना से संस्कृत (भावित) चित्त वाले योगी (षाट्कौशिक) शरीरत्याग के पश्चात् ही प्रकृतिलयत्व को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इनका '**पूर्वकोटिक**' बन्ध तो सुस्पष्ट है। इसी से भाष्यकार ने प्रकृतिलीन आदि अनात्मचिन्तकों के '**उत्तरकोटिक**' बन्ध को भी प्रदर्शित किया है और ईश्वर में पूर्वकालिक तथा उत्तरकालिक दोनों प्रकार के बन्धनों का निषेध किया है। भाष्यकार पुरुषसाधारण का विषय-संक्षेप करके पुरुषविशेष को प्रदर्शित करते हैं–'**स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।**' अर्थात् सर्वदा मुक्त 'पुरुषविशेष' सर्वदा 'ज्ञानशक्ति' और 'क्रियाशक्ति' रूप ऐश्वर्य वाला होने से '**ईश्वर**' पदवाच्य है।

बालप्रिया–

शङ्का– '**कैवल्यं प्राप्ताः...ते हि त्रीणि बन्धनानि**'–निरीश्वर सांख्यों को भी कैवल्य प्राप्त होता है, यह एक वस्तुस्थिति है। यदि क्लेशादि से पूर्णतः शून्य को ही '**पुरुषविशेष ईश्वर**' कहा जाय तो कैवल्य को प्राप्त हुए मुक्तात्मा तथा प्रकृतिलीन आदियों को भी ईश्वर कहना पड़ेगा। क्योंकि ये भी क्लेशशून्य होते हैं। और इनसे अतिरिक्त कोई पुरुषविशेष प्रमाण की विषय नहीं बनता है। तदर्थ सांख्यसूत्र भी है–'**ईश्वरासिद्धेः**' '**मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा**' '**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा**'। यही उक्त शंका का उत्स है।

समाधान–इसी शंकाभिप्राय से भाष्यकार ने '**कैवल्यं प्राप्ताः**' विषय को उठाते हुए त्रिविध बन्धों की चर्चा की और बन्ध की पूर्वावस्था तथा परावस्था को भी स्पष्ट किया। विषय का यह सपष्टीकरण पुरुषविशेष '**ईश्वर**' को सिद्ध करने में समर्थ है।

---

1. क ख ग थ ध – **इतरेषां,** घ च छ ज झ त न – **तेषाम्।**
2. क छ – **प्रजायते,** ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **प्रज्ञायते।**

'उत्तरकोटिविधानमात्रम्'—यद्यपि मुक्तात्मा तथा प्रकृतिलीन दोनों का पूर्वकोटिक बन्ध समान है तथापि प्रकृतिलीनों का उत्तरकोटिक बन्ध भी होता है। इस आशय से भाष्यकार ने प्रकृतिलीनों के उत्तरकोटिक बन्ध का विधान (उपदेश, कथन, नियमन) किया है। यहाँ प्रकृतिलीनों के पूर्वकोटिक बन्ध का सद्भाव बतलाने में भाष्यकार का तात्पर्य नहीं है। अतः भाष्यकार ने **'मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः'** वाक्यांश द्वारा मुक्त पुरुष का ही पूर्वकोटिक बन्ध बतलाया है, प्रकृतिलीनों का नहीं—इसमें भाष्यकार की न्यूनता नहीं समझनी चाहिये।

'सदा' (सर्वस्मिन् काले, सर्व+दाच्, सादेशः)—यह अव्यय काल की निरवच्छिन्न धारा का द्योतक है। काल की यह निरवच्छिन्न धारा जब भूत, भविष्य, वर्तमान से सीमांकित होती है तब अवच्छिन्न (सीमित) कहलाती है। पुरुषविशेष **'ईश्वर'** कालगत इस अवच्छिन्नता से परे की वस्तु है। उसका ऐश्वर्य भी निरवच्छिन्न होकर पुरुषविशेष के **'ईश्वर'** नाम को अन्वर्थ करता है।

'ज्ञानक्रियाशक्तिसंपत्'—पद के द्वारा प्रतिपादित **'पुरुषविशेष'** के ऐश्वर्य के विषय में ऊहापोह के साथ पुनः विवेचन प्राप्त हो रहा है—

तत्त्ववैशारदी

अत्र पृच्छति—योऽसाविति। ज्ञानक्रिये हि न चिच्छक्तेरपरिणामिन्याः संभवत इति रजस्तमोरहितविशुद्धचित्तसत्त्वाश्रये वक्तव्ये। न चेश्वरस्य सदामुक्तस्याविद्याप्रभवचित्तसत्त्वसमुत्कर्षेण सह स्वस्वामिभावः संबन्धः संभवतीत्यत उक्तम्—प्रकृष्टसत्त्वोपादानादिति। नेश्वरस्य पृथग्जनस्येवाविद्यानिबन्धनश्चित्तसत्त्वेन स्वस्वामिभावः, किं तु तापत्रयपरीतान्प्रेत्यभावमहार्णवाज्जन्तूनुद्धरिष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन; न च ज्ञानक्रियासामर्थ्यातिशयसंपत्तिमन्तरेण तदुपदेशः; न चेयमपहतरजस्तमोमलविशुद्धसत्त्वोपादानं विनेत्यालोच्य सत्त्वप्रकर्षमुपादत्ते भगवानपरामृष्टोऽप्यविद्यया।

शङ्का—इस विषय में प्रश्न है—**'योऽसाविति।'** चिच्छक्त्यात्मक (चैतन्यस्वरूप) अपरिणामी ईश्वर में **'ज्ञान'** और **'क्रिया'** (रूप परिणाम) का होना सम्भव नहीं है क्योंकि ये दोनों (ज्ञान और क्रिया) रजोगुण एवं तमोगुण से रहित विशुद्ध चित्तसत्त्व के आश्रित कहे जाते हैं। अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति चित्तसत्त्व का 'धर्म' है और अविद्या के कारण प्रादुर्भूत चित्तसत्त्व के साथ नित्यमुक्त ईश्वर का **स्वस्वामिभावसम्बन्ध** नहीं हो सकता है अर्थात् नित्यमुक्त ईश्वर में अविद्या का सद्भाव नहीं है, जब कि चित्तसत्त्व के प्रादुर्भाव में अविद्या निमित्त है। अतः अविद्यारूप निमित्त के न रहने से विभिन्नजातीय दो तत्त्वों का स्वस्वामिभावसम्बन्ध कथमपि सम्भव नहीं हो सकता है। अतः ईश्वर में **'ज्ञानशक्ति'** और **'क्रियाशक्ति'** की मान्यता दोषावह है।

समाधान–उक्त शंका के समाधान के लिये (भाष्यकार द्वारा) कहा गया है– **'प्रकृष्टसत्त्वोपादानादिति'** सामान्यजन की भाँति ईश्वर का चित्तसत्त्व के साथ **स्वस्वामिभावसम्बन्ध** 'अविद्यानिमित्तक' नहीं है। अपितु 'मृत्युस्वरूप महार्णव (विस्तृत संसार) से ज्ञानधर्म के उपदेश द्वारा, त्रिविध तापानुभूत प्राणी का उद्धार करुंगा'–ऐसा विचार करके अविद्या से अपरामृष्ट होता हुआ भी भगवान् प्रकृष्ट चित्तसत्त्व का ग्रहण करता है और इस प्रकार से दोनों का सम्बन्ध निष्पन्न होता है। किञ्च ज्ञानक्रिया की सामर्थ्यातिशयरूप सम्पत्ति (शक्ति) से युक्त हुए विना ईश्वर ऐसा उपदेश नहीं कर सकता है और ज्ञानक्रिया की यह अतिशय सम्पत्ति रजोगुण एवं तमोगुण से रहित विशुद्ध सत्त्वगुणप्रधान चित्तसत्त्व को ग्रहण किये विना प्राप्त नहीं हो सकती है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त का ग्रहण किया जाना उपपन्न हो जाता है।

उक्त सम्बन्ध में आविद्यिक स्थिति मान लेने पर भी विषय का परिष्कार तत्त्ववैशारदीकार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

[1]अविद्याभिमानी [2]चा[3]विद्यायास्तत्त्वमविद्वान्भवति, न पुनरविद्यां[4]ह्य विद्यात्वेन सेवमानः। न खलु शैलूषो रामत्वमारोप्य तास्ताश्चेष्टां दर्शयन्भ्रान्तो भवति। तदिदमाहार्यमस्य रूपं न तात्त्विकमिति।

अविद्या की तात्त्विकता को न समझने वाला ही **'अविद्याभिमानी'** (भ्रान्त) कहलाता है। अविद्या को अविद्यात्वेन ग्रहण (सेवन) करने वाला व्यक्ति **'अविद्याभिमानी'** अर्थात भ्रान्त नहीं समझा जाता है। उदाहरणार्थ अपने में रामत्व का आरोप करके (राम न होते हुए भी अपने को राम समझकर) राम की तत्तत् क्रियाओं को नाटकीय ढंग से प्रदर्शित करता हुआ नट भ्रान्त नहीं समझा जाता है। क्योंकि रामादि का कृत्रिम रूप (कल्पित रूप) नट का वास्तविक रूप नहीं होता हैं।

बालप्रिया–

'अविद्याभिमानी'–वाक्यांश द्वारा इस ओर इंगित किया गया है कि अविद्या से अपरामृष्ट ईश्वर अविद्यात्वेन अविद्या का सेवन करता हुआ अविद्याभिमानी अर्थात् भ्रान्त नहीं समझा जाता है। इससे ईश्वर का नित्यज्ञानत्व भी बाधित नहीं होता है।

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **अविद्याभिमानी**, छ – **विद्याभिमानी**।
2. क ग थ द ध – **इव**, ख घ च छ ज झ त न – **च**।
3. क ख ग – **अविद्यया स विद्वान्**, घ च छ ज झ त थ द ध न – **अविद्यायास्तत्त्वमविद्वान्**।
4. थ ध – **हि** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त द न – **हि** नोपलभ्यते।

न खलु शैलूषः'–वाक्यांश द्वारा विशुद्ध चित्तसत्त्वनिष्ठ ज्ञानक्रियाशक्ति का अपने में आरोप करते हुए ईश्वर में प्राण्युद्धारेच्छा की मान्यता भी उपपन्न हो जाती है। शब्दान्तर में ईश्वर तथा विशुद्ध चित्तसत्त्व का सम्बन्ध आहार्यज्ञानपूर्वक है। अतः ईश्वर ज्ञानपूर्वक विशुद्ध चित्तसत्त्व द्वारा अनेक प्रकार की लीला करने पर भी भ्रान्त नहीं, अपितु तात्त्विक ज्ञान वाला ही रहता है।

सम्प्रति, ईश्वरेच्छा और चित्तसत्त्व के पारस्परिक संबन्ध को लेकर सम्भावित दोष की उद्भावना कर उसका खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–उद्दिधीर्षया भगवता सत्त्वमुपादेयं तदुपादानेन च तदुद्दिधीर्षा, अस्या अपि **प्राकृतत्वात्। तथा चान्योन्यसंश्रय इत्यत उक्तम्–शाश्वतिक इति। भवेदेतदेवं**[1]**यदीदं प्रथमता सर्गस्य भवेत्। अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे** [2]**सर्गान्तरसमुत्पन्नसंजिहीर्षावधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानं कृत्वा भगवाञ्जगत्संजहार। तदा चेश्वर**[3]**चित्तसत्त्वं** [4]**प्रणिधानवासितं प्रधानसाम्यमुपगतमपि परिपूर्णे महाप्रलयावधौ** प्रणिधानवासनावशात्त-**थैवेश्वर**[5]**चित्तं सत्त्वभावेन परिणमते। यथा चैत्रः श्वः** प्रातरेवोत्थातव्यं मयेति प्रणिधाय **सुप्तस्तदैवोत्तिष्ठते** प्रणिधानसंस्कारात्। **तस्मादनादित्वादीश्वरप्रणिधानसत्त्वोपादानयोः शाश्वतिकत्वेन ना**[6]**न्योन्यसंश्रयः।**

शङ्का–उद्धार करने की इच्छा से ईश्वर द्वारा विशुद्ध चित्तसत्त्व का उपादान और चित्तसत्त्व के ग्रहण से ईश्वर में उद्धारेच्छा, क्योंकि ईश्वरनिष्ठ इच्छा भी चित्तसत्त्व (प्रकृति) का धर्म है–इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष उपस्थित होता है। शब्दान्तर में जीवों का उद्धार करने की इच्छा हो तो ईश्वर विशुद्ध चित्तसत्त्वरूप उपाधि को धारण करे और दूसरी ओर ईश्वर चित्तरूप उपाधि को धारण करे तो जीवों का उद्धार करने की इच्छा हो'–इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष की सम्भावना है।

समाधान–उक्त 'अन्योन्याश्रयदोष के उन्मूलीकरण के लिये भाष्यकार द्वारा कहा गया है–'**शाश्वतिक इति।**' यह अन्योन्याश्रयदोष तभी आ सकता है यदि यह प्रथम सृष्टि होती, किन्तु ऐसा तो है नहीं। (बीजांकुरन्याय के समान) जन्म-मरण-व्यवस्था

---

1. क ख ग क घ च छ ज झ त थ न – **यदीदं,** द ध – **यदीयम्।**
2. क ख ग घ च ज थ द ध न – **सर्गान्तर०,** झ त – **सर्गान्तरात्।**
3. क ख ग घ च छ थ द ध न – **चित्त०** उपलभ्यते, ज झ त – **चित्त०** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **प्रणिधानवासितं प्रधानसाम्यमुपगतमपि परिपूर्णे महाप्रलयावधौ** उपलभ्यते, न – **प्रणिधान.....वधौ** नोपलभ्यते।
5. क छ – **चित्तम्,** ख ग घ च झ त थ द ध न – **चित्त०।**
6. क ग – **अन्योन्याश्रयं,** ख – **अन्योन्याश्रयः,** घ च छ ज झ त थ द ध न – **अन्योन्यसंश्रयः।**

अथवा सृष्टि-संहार-श्रृंखला के अनादि होने से ईश्वर–किसी सृष्टि के समाप्ति-काल में जब संहार करने की इच्छा होती है, तब अपने चित्तसत्त्व के विषय में 'जब प्रलय की अवधि समाप्त होगी, तब मैं सत्त्वप्रकर्ष चित्त को पुनः धारण करूँगा'– ऐसा चिन्तन करके जगत् का संहार करता है। उस समय ईश्वर के इस प्रणिधान (चिन्तन) की वासना से वासित प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त–प्रधान में लयता को प्राप्त (प्रधान में एकीभूत) होकर भी प्रलय की अवधि समाप्त होने पर ईश्वर द्वारा कृत चिन्तन की वासना के वशीभूत होकर–तादृश विशुद्ध चित्तसत्त्व के रूप में परिणत (आविर्भूत) होता है। विशुद्ध चित्तसत्त्व के लयपूर्वक होने वाले पुनरुद्भव को लौकिक दृष्टान्त द्वारा तत्त्ववैशारदीकार स्पष्ट करते हैं–जैसे लौकिक जगत् में 'कल मैं प्रातः ही उठूँगा'–ऐसा चिन्तन करके सोया हुआ चैत्र–पूर्व संस्कारवशात्–उसी समय प्रातः उठ जाता है। इस प्रकार संसारचक्र के अनादि (शाश्वतिक) होने से ईश्वर-प्रणिधान तथा सत्त्वोपादान (विशुद्धसत्त्व के ग्रहण) में चिरन्तनत्व होने के कारण (दोनों में शाश्वतिक अनादिसम्बन्ध होने के कारण) अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है।

बालप्रिया–

'नान्योन्यसंश्रयः'–जैसे पूर्व-पूर्व बीज उत्तरोत्तर अंकुर का और पूर्व-पूर्व अंकुर उत्तरोत्तर बीज का 'हेतु' होने पर भी; व्यक्तिरूप से परस्पर कार्यकारणभाव न होने से, इनमें अम्योन्याश्रयदोष नहीं है। वैसे ही पूर्व-पूर्व की ईश्वरेच्छा और उत्तरोत्तर के विशुद्ध चित्तसत्त्व का ग्रहण करने में व्यक्तिरूप से परस्पर कार्यकारणभाव न होने से इनके सम्बन्ध में अन्योन्याश्रयदोष नहीं है।

अन्योन्याश्रय दोष से बचने के लिये सिद्धान्ती ने जो द्रविड़ प्राणायाम किया है, उसकी अपेक्षा यह मानने में लाघव है कि 'ईश्वर के प्रकृष्ट चित्तसत्त्व का लय ही न माना जाय'? इस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तावित विशुद्ध 'चित्तसत्त्व' का लय न मानने में दोष की उद्‌भावना करते हुए तत्त्ववैशारदीकार समाधान पक्ष प्रस्तुत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

न चेश्वरस्य चित्तसत्त्वं महाप्रलयेऽपि [1]न प्रकृतिसाम्यमुपैतीति वाच्यम्। यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्यं न तत्प्राधानिकं नापि चितिशक्तिरज्ञत्वादित्यर्थान्तरमप्रामाणिकमापद्येत। तच्चायुक्तम्, प्रकृतिपुरुषव्यतिरेकेणार्थान्तराभावात्।

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **न प्रकृतिसाम्यं**, थ द ध – **प्रकृतिसाम्यं न।**

शङ्का–(**'प्रधानसाम्यमुपगतमपि'** के आधार पर)–महाप्रलय की अवस्था में भी ईश्वर का चित्तसत्त्व प्रकृति में तिरोभाव को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् जिस प्रकार समस्त भूतादि तत्त्व महाप्रलय में अपने-अपने कारण में लय को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर का चित्तसत्त्व भी महाप्रलय में मूलकारणभूता प्रकृति में लीन हो जाता है–ऐसा नहीं समझना चाहिये। अन्य तत्त्वों से ईश्वर के उपाधिभूत चित्तसत्त्व का यही वैशिष्ट्य है।

समाधान–पूर्वपक्षी का उक्त कथन अनुचित है। क्योंकि जिसका कभी भी प्रधान में लय नहीं होता है, वह कथमपि प्राधानिक (प्रकृति का विकार) नहीं हो सकता है। और न ही विशुद्ध चित्तसत्त्व चितिशक्ति रूप है, अर्थात् इसे चेतन भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि यह अज्ञ (जड़) है जब कि चितिशक्ति चैतन्यत्मिका अर्थात् ज्ञानस्वरूपा है। इस प्रकार **'विशुद्धसत्त्व'** को अप्रामाणिक अर्थान्तर' मानना पड़ेगा। किन्तु यह समाधान युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त (सांख्ययोगसम्मत) 'अर्थान्तर' है ही नहीं। अतः यह सिद्धान्त परिपुष्ट होता है कि प्रकृष्ट सत्त्वप्रधान चित्तसत्त्व प्राधानिक (प्रकृति का कार्य) है, जिसका महाप्रलय में अपने मूलकारणभूता प्रकृति में लय होता है।

विशुद्ध प्रकृष्टसत्त्व की प्रकृति में अन्तर्हितता सिद्धान्तित हो जाने पर पूर्वपक्षी कों विशुद्ध प्रकृष्टसत्त्व से युक्त ईश्वर के सामर्थ्य के विषय में सन्देह होता है। सम्प्रति, उसी सन्देह का उपस्थापन एवं समाधान किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

सोऽयमीदृश ईश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स[1] किं सनिमित्तः सप्रमाणकः, आहोस्विन्निर्निमित्तो निष्प्रमाणक इति? उत्तरम्–तस्य शास्त्रं निमित्तम् इति। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि शास्त्रम्। चोदयति–शास्त्रं पुनः किंनिमित्तमिति। प्रत्यक्षानुमानपूर्वं हि शास्त्रम्, न चेश्वरस्य सत्त्वप्रकर्षे कस्यचित्प्रत्यक्षमनुमानं वास्ति। न चेश्वरप्रत्यक्षप्रभवं शास्त्रमिति युक्तम्। कल्पयित्वापि ह्ययं [2]स्वयं ब्रूयादात्मैश्वर्यप्रकाशनायेति भावः। परिहरति–प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तमिति। अयमभिसंधिः–मन्त्रायुर्वेदेषु तावदीश्वरप्रणीतेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थाव्यभिचारविनिश्चयात्प्रामाण्यं सिद्धम्। न चौषधिभेदानां तत्संयोगविशेषाणां च मन्त्राणां च तत्तद्वर्णावापोद्धारेण सहस्रेणापि पुरुषायुषैर्लौकिकप्रमाणव्यवहारी शक्तः कर्तुमन्वयव्यतिरेकौ।

शङ्का–इस प्रकार (प्रकृष्ट विशुद्धसत्त्व को ग्रहण करने वाले) ईश्वर का यह जो

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **सः** उपलब्यते, थ द ध – **सः** नोपलभ्यते।
2. थ द ध – **स्वयं॰** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **स्वयं** नोपलभ्यते।

सार्वकालिक (शाश्वतिक) सर्वज्ञत्वादि ऐश्वर्य (उत्कर्ष) है, वह सप्रमाण (सनिमित्त) है अथवा प्रमाणरहित (निर्निमित्त) है? (पूर्वपक्षी की दृष्टि में प्राधानिक उपाधियुक्त ईश्वर में उत्कर्ष हो ही नहीं सकता है)।

समाधान–इसका उत्तर (देते हुए भाष्यकार ने कहा) है–**'तस्य शास्त्रं निमित्तमिति।'** ईश्वर के सार्वकालिक उत्कर्ष में श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराणादि शास्त्र प्रमाणस्वरूप हैं।

शङ्का–(भाष्यकार द्वारा पूर्वपक्षी की ओर से) पुनः प्रश्न है–**'शास्त्रं पुनः किं निमित्तमिति।'** तो फिर (ईश्वरोत्कर्ष के प्रतिपादक) श्रुति, स्मृति आदि शास्त्र में ही क्या प्रमाण है। अर्थात् शास्त्र की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? शास्त्र का लक्षण प्रस्तुत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–क्योंकि शास्त्र प्रत्यक्षानुमानपूर्वक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अनुभव किये हुए पदार्थ का प्रतिपादक जो वाक्यविशेष होता है, उसे ही शास्त्र कहते हैं और ईश्वर का सत्त्वप्रकर्ष अर्थात् उत्कर्ष किसी के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नहीं होता है अर्थात् ईश्वर का सार्वकालिक उत्कर्ष किसी को प्रत्यक्ष अथवा अनुमित नहीं होता है। शास्त्र की प्रामाणिकता के लिये यदि कहा जाय कि ईश्वर के प्रत्यक्ष (ईश्वरीय अनुभव) का विषयभूत यह शास्त्र है, तो यह भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर यह प्रश्नार्ह होगा कि ईश्वर ने क्या आत्मैश्वर्य (स्वोत्कर्ष) के प्रकाशन के लिये शास्त्र बनाया?

समाधान–भाष्यकार शंका का निराकरण करते हैं–**'प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तमिति।'** शुद्धसत्त्वरूप ईश्वरोपाधि शास्त्र में प्रमाण है। अभिप्राय यह है–ईश्वरनिर्मित (तत्तत्कार्य साधक) मन्त्र तथा (तत्तद्रोगनिवर्त्त्यर्थ औषधिप्रतिपादक) आयुर्वेद की प्रामाणिकता=(विश्वसनीयता) निर्णीत है, क्योंकि प्रवृत्ति कराने में सफल होने से इनके अर्थ की अनतिक्रमणीयता=अनुल्लंघनीयता सुस्थिर है। अर्थात् जिस-जिस कार्य की सिद्धि के लिये जिस-जिस मन्त्र और जिस-जिस रोगनिवृत्ति के लिये जिस-जिस औषधि का प्रतिपादन किया गया है, वे अपनी-अपनी फलोत्पत्ति अर्थात् प्रयोजनसिद्धि में सर्वथा एवं सर्वदा समर्थ हैं, न कि असमर्थ। अतः सत्यार्थप्रतिपादक वेदभाग के प्रामाण्य में सन्देहावकाश नहीं है।

वेदशास्त्र को अप्रमाणिक मानकर तत्प्रतिपाद्य **'ईश्वर'** तत्त्व का अप्रामाण्य और अप्रमाणिक ईश्वर द्वारा निर्मित वेदशास्त्र का अप्रामाण्य–**इत्थंविधया** अप्रामाण्योभय की शंका निर्मूल है। इसी तथ्य को वाचस्पति मिश्र उक्त दृष्टान्त द्वारा वेदादि शास्त्र को पुरुष-निर्मिति मानने की असम्भाव्यता के रूप से परिपुष्ट करते हैं–सहस्र वर्षों में भी लौकिक प्रमाण का व्यवहार करने वाला व्यक्ति तत्तद् द्रव्यविशेषों के संयोग

से निर्मित भिन्न-भिन्न औषधियों का और तत्तद् वर्णों के आवाप (ग्रहण) तथा उद्वाप (त्याग) से अनुबन्धित मन्त्रों का (प्रयोग काल में) अन्वयव्यतिरेक नहीं कर सकता है अर्थात स्वेच्छानुसार शास्त्रविहित मन्त्र अथवा औषधि के स्वरूप को भिन्न वर्ण और भिन्न द्रव्य द्वारा परिवर्तित नहीं कर सकता है फिर जिसमें निर्मित वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन करने की ही क्षमता नहीं है, तो वह सीमित सामर्थ्यवाला पुरुष प्रामाणिक वेद का निर्माता कैसे हो सकता है अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है। यह शास्त्रीय अद्भुतता **प्रकृष्टशुद्धसत्त्वोपाधिविशिष्ट** ईश्वर में ही निहित है।

बालप्रिया–

'कल्पयित्वाऽपि'–शास्त्र को ईश्वरप्रत्यक्षमूलक मानना ठीक नहीं है। क्योंकि आप्तवचन कहकर शास्त्र का निर्वाह नहीं किया जा सकता है। किञ्च शास्त्र का आप्तत्व आज तक सिद्ध नहीं हो सका है। तन्त्रवार्तिक में कहा भी गया है–

न चाऽनुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः।
अनादेरागमस्याऽर्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्॥
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते।
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते॥
प्रकल्पयेत् कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः।

अर्थात् 'किसी के द्वारा पहले ज्ञात न होने के कारण वेद का अनुवाद करना सम्भव नहीं है और अनादि आगम का सर्वज्ञ विषय सादि नहीं हो सकता है। स्वकल्पित कर्त्ता के असत्यरूप होने से वह प्रामाणिक शास्त्र का प्रतिपादन कैसे कर सकता है। यदि आगमवचन से वेदकर्त्ता का सर्वज्ञत्व मनुष्यों द्वारा जाना जाता है–ऐसा कहें तो अन्योन्याश्रित आगम और ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् सिद्धि नहीं हो सकती है।'

'मन्त्रायुर्वेदेषु'–भगवान् अक्षपाद ने **तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः** २/१/५४ द्वारा वेद के अप्रामाण्य पर शंका की है और **'न कर्तृकर्मसाधनत्रैगुण्यात्'** द्वारा शंका का समाधान किया है। अन्त में **'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रमाणत्वात्'** सूत्र द्वारा वेद का प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वाचस्पति मिश्र ने भी विषय को उपस्थित किया है।

तत्त्ववैशारदी

न चागमादन्वयव्यतिरेकौ ताभ्यां चागमस्तत्संतानयोरनादित्वादिति प्रतिपादयितुं युक्तम्, महाप्रलये तत्[1] संतानयोर्विच्छेदात्। न च तद्भावे प्रमाणाभावः। अभिन्नं प्रधानविकारो

1. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **सन्तानयोः**, थ ध – **सत्त्वादनयोः**।

[1]**जगदिति हि प्रतिपादयिष्यते। सदृशपरिणामस्य च**[2] **विसदृशपरिणामता दृष्टा। यथा क्षीरेक्षुरसादेर्दधिगुडादि**[3]**रूपा। विसदृशपरिणामस्य पूर्वं सदृशपरिणामता च दृष्टा। तदिह प्रधानेनापि महदहङ्कारादिरूपविसदृशपरिणामेन सता भाव्यं कदाचित्सदृशपरिणामेनापि। सदृशपरिणामश्चास्य साम्यावस्था। स च महाप्रलयः। तस्मान्मन्त्रायुर्वेदप्रणयनात्तावद्भगवतो विगलितरजस्तमोमलावरणतया परितः प्रद्योतमानं** [4]**बुद्धिसत्त्वमास्थेयम्। तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्** [5]**बुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव भवितुमर्हति। न च सत्त्वोत्कर्षे रजस्तमःप्रभवौ विभ्रमविप्रलम्भौ संभवतः। तत्सिद्धं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तं शास्त्रमिति।**

शङ्का—आगम से अन्वय-व्यतिरेक और अन्वय-व्यतिरेक से आगम का प्रामाण्य होता है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के सन्तान (प्रवाह) को अनादि माना गया है?

समाधान—ऐसा प्रतिपादित करना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि महाप्रलय की अवस्था में आगम की सत्ता होने से अन्वय-व्यतिरेक रूप सन्तान का उच्छेद हो जाता है और आगम की सत्ता मानने में कोई प्रमाणाभाव नहीं है। प्रधान का विकारभूत जगत् प्रधान से अभिन्न है—ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। '**सदृशपरिणाम**' का '**विसदृशपरिणाम**' देखा जाता है। जैसे दुग्ध, इक्षुरस (गन्ना) आदि का दधि, तथा गुड़ आदि रूप से विसदृश परिणाम होता है। (सांख्ययोग के अनुसार) विसदृशपरिणाम रूप जगत् से पूर्व प्रधान की सदृशपरिणामरूपा प्रलयावस्था रहती है। इसी प्रकार महत् आदि रूप से विसदृशपरिणामभूता प्रकृति का कभी सदृशपरिणाम होता है। प्रधान के सदृशपरिणाम को '**साम्यावस्था**' कहते हैं। और यह साम्यावस्था '**महाप्रलय**' है। इस प्रकार मन्त्र और आयुर्वेद का प्रणयन करने से 'ईश्वर' का रजोगुण एवं तमोगुणरूप मलावरण से रहित सर्वतः (परितः) प्रद्योतमान् 'बुद्धिसत्त्व' (प्रकृष्ट चित्तसत्त्व) वाला होना सिद्ध होता है। क्योंकि ईश्वरनिर्मित अभ्युदय और निःश्रेयस उपदेशपरक वेदराशि भी ईश्वर के 'प्रकृष्ट बुद्धिसत्त्व' (विशुद्ध चित्तसत्त्व) से ही सम्भव हो सकती है। और ईश्वर के उपाधिभूत चित्तसत्त्व में सत्त्वाधिक्य होने के कारण उसमें रजोगुण एवं तमोगुण के कारण समुद्भूत होने वाली भ्रान्ति और छल की सम्भावना ही नहीं हैं। अतः भ्रमशून्य और आरोपरहित वेद का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। इससे यह निर्णीत होता है कि शास्त्र के प्रामाण्य में '**प्रकृष्टसत्त्व**' प्रमाण है।

---

1. क ख ग घ च छ झ त न – **जगदिति हि**, थ द ध – **हि जगदिति**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **च** उपलभ्यते, थ द ध – **च** नोपलभ्यते।
3. क ग थ द ध – **रूपं**, ख घ च छ ज झ त न – **रूपा**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त ध द ध – **बुद्धिसत्त्वमास्थेयम्। तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तत्** उपलभ्यते, न – **बुद्धिसत्त्व....तत्** नोपलभ्यते।
5. क छ – **बुद्धिचित्तसत्त्व०**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **बुद्धिसत्त्व०**।

सम्प्रति, पूर्वपक्षी शास्त्र के 'आगमत्व' पर सन्देह करता है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–प्रकर्षकार्यतया प्रकर्षं बोधयच्छास्त्रं शेषवदनुमानं भवेन्न त्वागम इत्यत आह–एतयोरिति। न कार्यत्वेन बोधयत्यपि त्वनादिवाच्यवाचकभावसंबन्धेन बोधयतीत्यर्थः। ईश्वरस्य हि बुद्धिसत्त्वे प्रकर्षो वर्तते, शास्त्रमपि तद्वाचकत्वेन तत्र वर्तत इति। उपसंहरति–[1]**एतस्मादिति। एतस्माद् ईश्वरबुद्धिसत्त्वप्रकर्षवाचकाच्छास्त्राद् एतद् भवति ज्ञायते, विषयेण विषयिणो लक्षणात् सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तदेवं पुरुषान्तराद्व्यवच्छिद्येश्वरान्तरादपि व्यवच्छिनत्ति–तच्च तस्येति। अतिशयविनिर्मुक्तिमाह–न तावदिति। कुतः–यदेवेति। कस्मात्सर्वातिशयविनिर्मुक्तं तदैश्वर्यमित्यत आह–तस्माद्यत्रेति। अतिशयनिष्ठामप्राप्तानामौपचारिकमैश्वर्यमित्यर्थः।**

शङ्का–ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्टसत्त्व का कार्य होने से ईश्वर के (सार्वकालिक) उत्कर्ष का ख्यापन करने वाला शास्त्र (वेद) 'शेषवत्' अनुमानगम्य माना जाय, न कि आगमगम्य।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एतयोरिति**।' प्रकृष्टसत्त्व के कार्य रूप से '**शास्त्र**' (वेद) का बोध नहीं होता है, अपितु (ईश्वर और शास्त्र में निहित) अनादि वाच्यवाचकभावसम्बन्ध के रूप से '**शास्त्र**' का बोध होता है। ईश्वर के उपाधिभूत बुद्धिसत्त्व में प्रकर्ष (सर्वोपरिता अथवा शक्ति) अन्तर्हित हैं और शास्त्र भी प्रकर्ष का वाचक होने से बुद्धिसत्त्व में रहता है। इस प्रकार ईश्वरोपाधिरूप शुद्धसत्त्व में विद्यमान शास्त्र और ईश्वरोत्कर्ष का अनादिसम्बन्ध है। इसमें शास्त्र '**वाचक**' है तथा प्रकृष्टसत्त्वप्रधान ईश्वर '**वाच्य**' है। शब्दान्तर में समवायसम्बन्ध से ईश्वर- चित्त में वर्तमान शास्त्र और उत्कर्ष (ईश्वरोत्कर्ष) में निमित्तनैमित्तिकभावरूप '**अनादिसम्बन्ध**' है। ईश्वरोत्कर्ष और शास्त्र के तथाकथित सम्बन्ध को बतलाकर भाष्यकार उपसंहार करते हैं–'**एतस्मादिति**।' ईश्वरनिष्ठ बुद्धिसत्त्व के प्रकर्ष का वाचक (बोधक) '**शास्त्र**' है, इससे यह जाना जाता है कि 'ईश्वर सदा ही ऐश्वर्यशाली है और सदा ही मुक्त है', क्योंकि विषय के द्वारा विषयी का लक्षण किया जाता है। इस प्रकार मुक्तपुरुषादि से ईश्वर को विलक्षण सिद्ध कर भाष्यकार ऐश्वर्यशाली योगियों की अपेक्षा भी ईश्वर को भिन्न सिद्ध करते हैं–'**तच्च तस्येति**।' ईश्वर का यह ऐश्वर्य समता (बराबरी) और अतिशय (न्यूनाधिक) से रहित है। तात्पर्य यह है कि अणिमादि ऐश्वर्यसम्पन्न योगियों के ऐश्वर्य में समानता तथा

1. **थ द ध – एतस्मादिति** उपलभ्यते, **क ख ग घ च छ ज झ त न – एतस्मादिति** नोपलभ्यते।

न्यूनाधिकता देखी जाती है। किन्तु ईश्वर के ऐश्वर्य की न तो किसी से समानता की जा सकती है और न किसी अन्य में ईश्वर से अधिक ऐश्वर्य की कल्पना की जा सकती है। अतः ईश्वरोत्कर्ष साम्यातिशयविनिर्मुक्त है। ईश्वर के ऐश्वर्य में अतिशय की विनिर्मुक्ति अर्थात् निरतिशयता के होने को (स्पष्ट करते हुए) भाष्यकार बतलाते हैं–'**न तावदिति**।' किसी भी अन्य ऐश्वर्य से ईश्वरैश्वर्य न्यून नहीं है।

शङ्का–कैसे?

समाधान–उत्तर है–'**यदेवेति**।' क्योंकि जो ऐश्वर्य सर्वातिशायी हो सकता है, वही निरतिशय ऐश्वर्य कहा जाता है।

शङ्का–किस कारण से ईश्वर का ही ऐश्वर्य सर्वातिशयविनिर्मुक्त है?

समाधान–भाष्यकार बतलाते हैं–'**तस्माद्यत्रेति**।' अर्थात् जहाँ ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, वहीं '**ईश्वरत्व**' (पुरुषविशेषत्व) है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिनमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा (चरमावधि) नहीं है, उनमें '**ऐश्वर्य**' व्यवहार औपचारिक (गौण) है। अर्थात् वे न्यूनाधिक ऐश्वर्यवान् योगी वास्तविक रूप से '**ईश्वर**' पदवाच्य नहीं हैं।

इस प्रकार किसी योगी में ऐश्वर्यातिशय न होने का तथ्य तो बुद्धिगम्य हो जाता **है। अब** ईश्वर के तुल्य ऐश्वर्य योगी में न माने जाने का हेतु उपस्थित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

साम्यविनिर्मुक्तिमाह–न च तत्समानमिति। प्राकाम्यमविहतेच्छता। तद्विघातादूनत्वम्। [1]अनूनत्वे वा द्वयोरपि प्राकाम्यविघातः, कार्या[2]नुत्पत्तेः। उत्पत्तौ वा विरुद्धधर्मसमालिङ्गितमे[3]कदा कार्यमुपलभ्येतेत्या[4]शयवानाह–द्वयोश्चेति। अविरुद्धाभिप्रायत्वे च[5] प्रत्येकमीश्वरत्वे कृतमन्यैरेकेनैवेशनायाः कृतत्वात्। संभूयकारित्वे वा न कश्चिदीश्वरः परिषद्वत्। नित्येशनायोगिनां च पर्यायायोगात्कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्चेति द्रष्टव्यम्। तस्मात्सर्वमवदातम्॥२४॥

ईश्वर के ऐश्वर्य के समान ऐश्वर्य भी किसी अन्य का नहीं हो सकता है। अर्थात् ईश्वर का ऐश्वर्य साम्यविनिर्मुक्त है, ऐसा भाष्यकार बतलाते है–'**न च तत्समानमिति**।' भाष्यस्थ '**प्राकाम्य**' शब्द का अर्थ है–इच्छा का हनन न होना अर्थात् इच्छा-स्वातन्त्र्य। अप्रतिहत इच्छा का विघात होना अपर्याप्तता (न्यूनता) है। (अर्थात् दो तुल्य ऐश्वर्यवान् में से एक की इच्छा के अनुसार जगत् का आविर्भाव

---

1. क छ – **अनूनत्वं**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **अनूनत्वे**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न – **अनुत्पत्तेः**, ज – **अनुत्पत्तिः**।
3. क छ – **एकं**, ख ग घ च ज झ थ द ध न – **एकदा**, त – **एवैकदा**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **आशयवान्**, थ द ध – **आशयेन**,
5. क ख ग घ च छ ज झ त – **वा**, थ द ध न – **च**।

अथवा तिरोभावरूप क्रिया हो तो दूसरे में सामर्थ्य की न्यूनता प्रसक्त होगी। अतः ईश्वर के तुल्य सामर्थ्य किसी का नहीं है)—यह प्रथम विकल्प है। अथवा दो तुल्य ऐश्वर्यवानों में से किसी की भी इच्छा का विघात न होने से उपरिनिर्दिष्ट न्यूनता न मानी जाय तो कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी। (अर्थात् दोनों के अप्रतिहत ऐश्वर्यवान् बने रहते जगदादि-व्यवस्था लुप्त हो जायगी)—यह द्वितीय विकल्प है। अथवा दोनों अप्रतिहतेच्छावान् के अनुसार कार्य-संचालन (कार्योत्पत्ति) हो तो एक ही समय में विरुद्ध धर्मों से युक्त कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा (यह तृतीय विकल्प है)—इसी आशय को भाष्यकार बतलाते हैं—'**द्वयोश्चेति**।' अर्थात् एक पदार्थ के विषय में एक ही समय दोनों का अभीष्ट संकल्प 'यह नया हो, अथवा पुराना हो'—एक साथ सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि 'नवीनता' तथा 'पुराणता' दोनों एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध होने के कारण एक ही पदार्थं में, एक ही क्षण में नहीं रह सकते हैं। (चतुर्थ विकल्प के अनुसार समन्वयात्मक दृष्टि से यह कहा जाय कि)—दोनों अप्रतिहतेच्छावान् का अभिप्राय तुल्य होने से (जगदुत्पत्त्यादि व्यवस्था भी बाधारहित हो जायेगी तथा) दोनों में से प्रत्येक का 'ईश्वरत्व' सिद्ध हो जायेगा यह वक्तव्य भी अनुचित है, क्योंकि जब एक ही ईश्वर के सत्यसंकल्प से जगदादि व्यवस्था (सब क्रियाएँ) हो सकती है, तो एकाधिक '**ईश्वर**' स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। यदि दो अप्रतिहतैश्वर्यवान् के परस्पर सहयोग से जगदादि कार्य के करने की बात कही जाय?—तो यह विकल्प भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि तुल्य ऐश्वर्यवानों के मिलकर कार्य करने पर कोई भी 'ईश्वर' नहीं कहला सकेगा अर्थात् किसी का भी ईश्वरत्व सिद्ध न हो सकेगा। जैसे सभा में सभी की शक्ति समान माने जाने पर किसी की भी प्रधानता नहीं रहती है। (दूसरी बात यह है कि)—'**नित्येशत्वाभाववान्**' भी 'ईश्वर' पद के वाच्य होने लगेंगे—जो असम्भव है। किञ्च इससे कल्पनागौरवदोष भी उपस्थित होगा। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से पुरुषविशेष '**ईश्वर**' तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट एवं परिष्कृत हो जाता है॥२४॥

बालप्रिया–

एक शब्द में सर्वथा बद्ध, पूर्वकालिक बद्ध, उत्तरकालिक बद्ध तथा ईश्वरकल्प योगी आदि सभी पुरुषों से भिन्न सर्वथा एवं सर्वदा मुक्त अप्रतिह ऐश्वर्ययुक्त औपाधिकभोगशून्य एक ही तत्त्व '**पुरुषविशेष ईश्वर**' नाम से जाना जाता है, जो योग-साधकों के चित्तस्थैर्य का अन्यतम साधन है। अतः सर्वदा प्रणिधेय है॥२४॥

योगवार्त्तिकम्

ननु प्रधानपुरुषातिरिक्तं तत्त्वं नास्तीति त्वयाऽप्यभ्युपगम्यते, तत्र चेश्वरो न प्रधानं चेतनत्वाद्यभ्युपगमात्, नापि पुरुषः, सर्वेषां पुरुषाणां चिन्मात्रस्वरूपत्वेनेश्वरत्वानीश्वरत्वयोः स्वतोऽसम्भवात्, न हि वैशेषिकादिवत् नित्येच्छाऽऽदिमान् स्वत एवेश्वरस्त्वयाऽप्यभ्युपगम्यते। औपाधिकत्वे तूपाधि[1]मुक्त्या पुरुषाख्यजीवानामेवैश्वर्यमस्तु तत्परत्वेनैव श्रुतिस्मृत्युपपत्तेः, अतः प्रधानजीवातिरिक्त ईश्वरो नास्तीति सांख्या[2]क्षेपनिरासकतयोत्तरसूत्रमवतारयति–अथ प्रधानेति। क इत्याक्षेपे। अथ वा प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्येश्वरस्य किं लक्षणमिति प्रश्नेन लक्षणसूत्रमुत्थापयति–[3]अथ प्रधानेति। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

शङ्का–प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त कोई भिन्न तत्त्व नहीं है–ऐसा आप योगाचार्यों को भी मान्य है। इस स्थिति में (**'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'**– द्वारा प्रतिपादित) ईश्वर को न तो **'प्रधान'** तत्त्व कहा जा सकता है, क्योंकि ईश्वर चेतनत्वादिरूप से अभिमत है (जब कि प्रकृति अचेतन है) और न ही ईश्वर को पुरुष कहा जा सकता है, क्योंकि समस्त पुरुष चिन्मात्रस्वरूप (चैतन्यात्मक) होने से उनमें ईश्वरत्व और अनीश्वरत्व का अन्तर अत्यन्त अस्वाभाविक है अर्थात् यह अन्तर सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योगशास्त्र के अनुसार प्रधानपुरुषातिरिक्त **'ईश्वर'** तत्त्व सिद्ध नहीं होता है। और जैसे वैशेषिक लोग **'नित्येच्छादिमान्'** को **'ईश्वर'** कहते हैं तो ऐसा भी योगाचार्यों को अभिमत न होगा। ईश्वर में इच्छादि के औपाधिक मानने पर उस उपाधि को लेकर पुरुषाख्य जीवों में भी ऐश्वर्य उपपन्न होने लगेगा तथा तत्परक श्रुति, स्मृति वाक्यों की भी संगति बैठ जायेगी। अतः प्रधान और जीव इन दो तत्त्वों से अतिरिक्त **'ईश्वर'** तत्त्व नहीं है–सांख्य के इस अपवाद का निराकरण करने के लिये भाष्यकार उपस्थानिका द्वारा अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–**'अथ प्रधानेति।'**

समाधान–पूर्वपक्षी के आक्षेप का विषयभूत तत्त्व **'कः'** पद द्वारा उठाया गया है अर्थात् प्रधानपुरुषातिरिक्त तत्त्व क्या है?–ऐसा आक्षेप होने पर सूत्र प्रस्तुत हो रहा है अथवा प्रधानपुरुषातिरिक्त ईश्वर का लक्षण क्या है–इस प्रश्न के साथ भाष्यकार ईश्वर के लक्षणप्रतिपादक सूत्र को उपस्थित करते हैं–**'अथ प्रधानेति।'** सूत्र है–**'क्लेशेति।'**

---

1. क घ च छ – **मुक्त्या**, ख ग – **शुद्ध्या**।
2. क च छ – **आक्षेप०**, ख ग घ – **आक्षेपस्य**।
3. क – **अथ चेश्वरस्य प्रणिधानेति**, ख ग घ च छ – **अथ प्रधानेति**।

योगवार्त्तिकम्

पुरुषविशेष [1]एवेश्वरः। तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधान इति भावः। यच्चोक्तं सिद्धजीवमादायेश्वरप्रतिपादक[2]श्रुतिस्मृत्योरुपपत्तिरिति तन्निराकरणार्थमपरामृष्ट इत्यन्तं विशेषणम्। क्लेशाद्यपरामृष्टतया श्रुति[3]स्मृतिगीत ईश्वरो न सिद्धजीवो भवितुमर्हति, कादाचित्कक्लेशादिसंबन्धादित्यर्थः।

(प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व नहीं है, अपितु) पुरुषविशेष ही ईश्वर है। तात्पर्य यह है कि पुरुष में ईश्वर का अन्तर्भाव तथा प्रकृति में उसके उपाधिभूत प्रकृष्टसत्त्व चित्त का अन्तर्भाव होता है। किञ्च यह जो कहा जाता है कि **'सिद्धजीव'** अर्थात् मुक्तपुरुष को लेकर ही ईश्वरप्रतिपादक श्रुति, स्मृतियाँ उपपन्न हो जाती हैं, अतः **'पुरुषविशेष'** ईश्वर को मानना अनावश्यक है? इस शंका के निराकरणार्थ सूत्र में **'क्लेशादि'** से लेकर **'अपरामृष्टः'** तक **'ईश्वर'** का विशेषणभूत पद दिया गया है। पुरुषविशेष ईश्वर के क्लेश, कर्मादि से अपरामृष्ट होने के कारण ही श्रुति, स्मृतियों द्वारा घोषित (प्रतिपादित) ईश्वर सिद्धजीव नहीं हो सकता है अर्थात् मुक्तजीव को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मुक्तजीव की कादाचित्क क्लेशादिसम्बद्धता रहती है अर्थात् मुक्तजीव बद्धावस्था में क्लेशादि से सम्पृक्त रहता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्रगत पदों की व्याख्या के लिये विषय को आगे बढाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अपरामृष्टान्तं विशेषणं व्याचष्टे–अविद्याऽऽदय इति। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशा इति वक्ष्यति। कुशलाकुशलसाधनत्वात् कुशलाकुशलानि धर्माधर्माः, तयोः क्लेशकर्मणोः फलं विपाकः, स च जात्यायुर्भोगाः। भोगश्चात्र विषयसत्त्वादिभिश्चित्तपोषणं शब्दाद्याकारवृत्तिर्वा, न तु [4]सुखाद्यनुभवः, ते च मनसि वर्त्तमाना इति वक्ष्यमाणात्स हि तत्फलस्य भोक्तेत्यनेन विपाकफलयोः [5]सुखदुःखयोर्भोगस्य पुरुषे

---

1. ख च छ – **एव** उपलभ्यते, क ग घ – **एव** नोपलभ्यते।
2. अ. ख ग घ च छ – **श्रुतिस्मृत्योरुपपत्तिरिति तन्निराकरणार्थमपरामृष्ट इत्यन्तं विशेषणम्। क्लेशाद्यपरामृष्टतया** – उपलभ्यते, क – **श्रुति......मृष्टतया** नोपलभ्यते।
   आ. ख ग घ – **निराकरणाय**, च छ – **निराकरणार्थम्**, क – **निराकरणाय/ निराकरणार्थं** नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ – **स्मृति०** उपलभ्यते, ग – **स्मृति०** नोपलभ्यते।
4. क ख च छ – **सुख०**, ग घ – **सुखदुःख**।
5. क ग घ च छ – **सुखदुःखयोः** उपलभ्यते, ख – **सुखदुःखयोः** नोपलभ्यते।

वक्ष्यमाणत्वाच्चेति। चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनास्ताश्च विपाकानुगुणाः तत्कारणानि, यतस्तत्तच्छरीरसाध्यभोगवासनामुद्बोध्यैव कर्मणा विपाको दीयत इति।

भाष्यकार (क्लेश से लेकर) अपरामृष्टपर्यन्त विशेषणभूत पदों की व्याख्या करते हैं–'**अविद्याऽऽदय इति।**' अविद्यादि पञ्च '**क्लेश**' '**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः**' २/३ आगामी सूत्र द्वारा आग बतलाये जायेंगे। सुख-दुःख के साधन होने से कुशल एवं अकुशल '**कर्म**' धर्माधर्मरूप हैं। क्लेश और कर्म से प्राप्त होने वाला जो फल है, वह '**विपाक**' कहलाता है और यह विपाक (फल) जाति, आयु तथा भोगरूप है। विषयसत्त्वादि (त्रिगुणात्मक अन्नपानादि) से होने वाला चित्त-पोषण अथवा बुद्धि की शब्दाद्याकारवृत्ति अर्थात् विषयाकार परिणाम 'भोग' कहलाता है, न कि सुखादि के अनुभव को भोग कहा गया है, क्योंकि भाष्यकार ने आगे बतलाया है कि '**ते च मनसि वर्तमानाः**' अर्थात् सुखाद्यनुभव मन में वर्तमान रहते हैं अर्थात् मन के धर्म हैं और '**स हि तत्फलस्य भोक्ता**' इसके द्वारा आगे यह भी बतलायेंगे कि विपाकफलक सुख-दुःखरूप भोग का भोक्तृत्व पुरुष में निहित है। सरलार्थ यह है कि चित्तनिष्ठ क्लेशादि पुरुष में व्यपदिष्ट अर्थात् उपचरित होते हैं। अतः पुरुष क्लेशादि का भोक्ता है। '**चित्तभूमौ शेरत इति आशयाः**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो चित्तरूपी भूमि में अवस्थित रहते (शयन करते) हैं, उन्हें '**आशय**' कहते हैं। '**आशय**' पद का अर्थ है–वासना। फलानुरूप ये वासनाएँ तत्तत् सुख-दुःखादि के भोग के कारण उत्पन्न होती हैं। क्योंकि तत्तत् शरीरों के द्वारा निष्पन्न होने योग्य भोगवासना को उद्‌बुद्ध कराकर ही '**कर्म**' अपना फल प्रदान करता है।

उपरिवर्णित क्लेशादि की अपरामृष्टता पुरुष को '**ईश्वर**' संज्ञा से अभिहित करती है, इस विषय में उत्थित सन्देह का निरसन करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु क्लेशाद्यपरामृष्टत्वं सर्वपुरुषसाधारणमित्याशङ्क्याह–ते च मनसीति। एकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदाच्चातुर्विध्यमित्याशयेन पूर्वं[1] चेतस्युक्ताऽविद्याऽत्र मनस्युक्तेति बोध्यम्।

शङ्का–क्लेशादि से असंस्पृष्टता तो समस्त पुरुषों में समानरूप से है? अतः सर्वपुरुषसाधारण 'क्लेशादि-अपरामृष्टत्व' धर्म के आधार पर '**पुरुषविशेष ईश्वर**' का निर्धारण कैसे किया जा सकता है?

समाधान–ऐसी शंका होने पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**ते च मनसीति।**' भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है। एक ही अन्तःकरण वृत्तिभेद से चार प्रकार का है। इसी आशय से पहले

1. क ख घ च छ – पूर्वं, ग – सर्वम्।

'चित्त' में अविद्या (की अवस्थिति) कही गई है और यहाँ **'मन'** में अविद्या को (अवस्थित) बतलाया जा रहा है।

बालप्रिया–

एकस्यैवान्तःकरणस्य...चातुर्विध्यम्–सरलार्थ यह है–वेदान्ती अन्तःकरणचतुष्टयवाद का पक्षधर है। वे चतुर्विध अन्तःकरण हैं–मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त। तदर्थ श्लोक है–

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो मोहः स्मरणं विषया इमे॥

योग वृत्तिभेद से अन्तःकरणत्रयवाद का पोषक शास्त्र है। वे त्रिविध अन्तःकरण हैं–बुद्धि, अहंकार तथा मन। महत् अर्थात् बुद्धि में चित्त का अन्तर्भाव होता है। यह तथ्य सांख्यप्रवचनभाष्य में स्वयं विज्ञानभिक्षु ने उद्घोषित किया है। **'एकस्यैवान्तःकरणस्य चातुर्विध्यम्'** इस वाक्यांश द्वारा भिक्षु ने अन्तःकरण के विषय में योगमत का उपस्थापन नहीं किया है, अपितु दर्शनान्तर में कहे गये मत को उपन्यस्त कर योगमतानुसार अन्तःकरण के त्रित्व को **'पूर्वं चेतस्युक्ताऽविद्याऽत्र मनस्युक्तेति बोध्यम्'**–इस वाक्यांश द्वारा परोक्षविधया संकेतित किया है। अतः किसी प्रकार का अन्तर्विरोध यहाँ परिलक्षित नहीं होता है।

योगवार्त्तिककार ईश्वर के अपरामृष्टरूप को ही पुनः स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तथा चायमर्थः–ते चाविद्याऽऽदयो यद्यपि मनस्येव सन्ति न कुत्रापि पुरुषे, तथाऽपि पुरुषे सांसारिके व्यपदिश्यन्त इति। व्यपदेशबीजं च स्वामित्वापरनामकं भोक्तृत्वमित्याह–स हीति। हि यस्मात् स पुरुषस्तस्य क्लेशादेः फलस्य सुखदुःखयोः स्वस्मिन्प्रतिबिम्बितयोर्भोक्ता भवतीत्यर्थः। स्वामित्वसम्बन्धेनाधारत्वे दृष्टान्तमाह–यथेति। तथा च राजा जयी पुरुषो धनीत्यादिवदेव पुरुषः क्लेशादिमान् सुखी दुःखी मूढ इत्यादि[1]विद्वद्व्यवहार इति भावः। समवायसम्बन्धेन पुरुषे सुखादिमत्त्वबुद्धिरेवाविद्येति। एवं च [2]सत्त्वाख्येन क्लेशसंपर्केण शून्यता। नान्यपुरुषेऽस्ति किंत्वीश्वर एवेत्याह–यो ह्यनेनेति। अनेन भोगेन क्लेशादिफलभोगेनेत्यर्थः।

भाव यह है–यद्यपि अविद्यादि मन के ही धर्म हैं, किसी भी पुरुष के नहीं तथापि सांसारिक पुरुष में क्लेशादि का **'व्यपदेश'** अर्थात् आरोप किया जाता है अर्थात् क्लेशादि पुरुष के धर्म समझे जाते हैं। स्वामित्व है अपर पर्याय जिसका ऐसे

---

1. क ग घ च छ – **विद्वत्**, ख – **वत्**।
2. क घ च छ – **सत्त्व०**, ख ग – **स्वत्व०**।

'**भोक्तृत्वभाव**' के कारण पुरुष में क्लेशादि आरोपित होते हैं, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**स हीति**।' पुरुष अपने में प्रतिबिम्बित क्लेशादि के फलभूत सुख-दुःख का भोक्ता है। इसलिये पुरुष में सुख-दुःख का आरोपित भोक्तृत्व धर्म है, ऐसा कहा जाता है। सम्प्रति, भाष्यकार स्वामित्वसम्बन्ध से पुरुष का क्लेशादि का आधार बनने में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'**यथेति**।' जिस प्रकार (लोक में) 'अमुक राजा विजेता है,' 'अमुक व्यक्ति धनी है–इत्यादि व्यवहार देखा जाता है, उसी प्रकार 'क्लेशादियुक्त पुरुष सुखी, दुःखी अथवा मूढ है–इस प्रकार विद्वान् लोग व्यवहार करते हैं। सरलार्थ यह है कि जिस प्रकार राजा में योद्धागत जय अथवा पराजय का औपचारिक व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार पुरुष में चित्तगत सुख, दुःखादि का गौण प्रयोग किया जाता है। अतः पुरुष में समवायसम्बन्ध से सुखादियुक्त बुद्धि (ज्ञान) का होना ही अविद्या है। सरलार्थ यह है कि सुख, दुःखादि समवायसम्बन्ध से बुद्धिनिष्ठ हैं, किन्तु अज्ञानतावशात् पुरुष में सुख-दुःखादि की समवायत्वेन प्रतीति होना ही पुरुषनिष्ठ अविद्या है। इस पद्धति से '**सत्त्वाख्य**' अर्थात् बुद्ध्यात्मक क्लेशसम्पर्क की शून्यता अर्थात् क्लेशराहित्य पुरुषसामान्य में नहीं है, अपितु ईश्वर में ही है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**यो ह्यनेनेति**।' जो इस प्रकार के क्लेशादिजन्य सुखादिरूप औपाधिक (व्यपदिष्ट) भोग से अपरामृष्ट है, वही '**ईश्वर**' कहलाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार योग-वेदान्त की समन्वयात्मक विधा से ईश्वर में 'सुखसाक्षित्वरूप भोग का उपपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्रानेनेति विशेषणादीश्वरस्य भोगोऽस्तीत्यवधार्यते, [1]सर्वविवेकग्रहणे सत्येव स्वोपाधिसुखसाक्षितामात्रं चिदवसानो भोग इति सांख्यसूत्रात्। तथा च–

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इति [2]गीताद्युक्तपरमेश्वरे भोग उपपद्यत इति अत एवेश्वरस्यापि भोगप्रतिपादिका ऋतं पिबन्ताविति श्रुतिः यथा[3]श्रुतैवोपपद्यते। अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति श्रुतिस्तु

1. क घ च छ – सर्व०, ख ग – स च।
2. क घ च छ – गीताद्युक्त०, ख ग – गीतासूक्त०
3. क ग घ च छ – श्रुतैव, ख – श्रुते च।

मुख्यमेव भोगं [1]प्रतिषेधति। मुख्यभोगश्चाभिमानपूर्वकः सुखाद्यनुभवः, [2]लौकैस्तत्रैव भोगव्यवहारात्, सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोग इत्यागामिसूत्रेण तस्यैव लक्षयितव्यत्वात्। अथ वा जीवभोग्यदुःखादिभोक्तृत्वमेवानश्नन्निति वाक्येन प्रतिषिध्यते, एकशरीरस्थत्वेन तद्भोगस्यैव प्रसक्तत्वादिति जीवन्मुक्तस्यापीश्वरसदृश एव भोगो दुःखभोगमात्रमीश्वराद्विलक्षणमिति।

भाष्य में '**अनेन**' इस विशेषण पद के प्रयोग से ईश्वर का (भी) भोग होता है, ऐसा निर्धारित होता है। ईश्वर में पूर्णरूप से विवेकज्ञान मानने पर ही स्वोपाधिभूत चित्तसत्त्व का सुखसाक्षित्वरूप भोग सिद्ध होता है, क्योंकि '**चिदवसानो भोगः** १/१०४ ऐसा सांख्यसूत्र है। सूत्र का अर्थ है—'चेतन तक भोग है।' अर्थात् सुख-दुःखात्मक भोग '**चित्**' अर्थात् आत्मस्वरूप में ही पर्यवसित होता है और इस प्रकार गीतादि '**उपद्रष्टा...पुरुषः परः**' १३/२२ में वर्णित परमेश्वर में भोग की संगति बैठ जाती है। श्लोक का अर्थ है—'वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी '**पर**' अर्थात् त्रिगुणमयी माया से सर्वथा अतीत ही है। केवल साक्षी होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबको धारण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से **भोक्ता,** ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा ऐसा कहा गया है।' अतएव ईश्वर की भोग-प्रतिपादिका '**ऋतं पिबन्तौ**' कठ. १/३/१ अर्थात् 'अमृत को पीते हुए... **यह** श्रुति भी यथाश्रुत ही उपपन्न हो जाती है और जो '**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**' मुण्डकोप. ३/१/१ यह श्रुति है, वह तो ईश्वर में मुख्यभोग का ही निषेध करती है। किञ्च अभिमानपूर्वक सुखादि के अनुभव (अहं सुखी) को '**मुख्यभोग**' कहते हैं, क्योंकि लौकिकजन द्वारा हुए ऐसे अनुभव के लिये ही '**भोग**' शब्द का व्यवहार किया जाता है और '**सत्त्वपुरुषयोः....पुरुषज्ञानम्** ३/३५ इस आगामी योगसूत्र के द्वारा भी इसी प्रकार के भोग का लक्षण किया जायेगा। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि '**अनश्नन्**'...इस श्रुतिवाक्य से जीव द्वारा दुःखादि की भोक्तृता का ही ईश्वर में प्रतिषेध किया गया है, न कि साक्षित्वरूप भोग का, क्योंकि एक शरीरावच्छेदेन ही सुखादि भोग निष्पन्न होता है। जीवन्मुक्त का भी ईश्वरसदृश ही '**भोग**' अर्थात् दुःखभोगमात्र होता है, इसलिये जीवन्मुक्त भी ईश्वर से विलक्षण (भिन्न) है।

---

1. ख – **न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्तीति श्रुतिवल्लौकिकं भोजनं वा प्रतिषेधति** (**प्रतिषेधति** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **न....प्रतिषेधति** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **लोकैः**, ख – **लोकानाम्**।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार क्लेशादि से अपरामृष्ट तत्त्व को शङ्कोपस्थापनपूर्वक प्रतिपादित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अपरामृष्टत्वं परामर्शशून्यता, तत्र परामर्शशब्दफलं प्रतिपादयितुं शङ्कते–कैवल्यमिति। **यदि क्लेशादिशून्यः ईश्वरः श्रुतिस्मृतिभ्य एष्टव्यस्तर्हि कैवल्यं ज्ञानं प्राप्ता बहवो हिरण्यगर्भादयः केवलिनः केवलानां जीवन्मुक्तानामध्यक्षाः क्लेशादिशून्याः सन्ति, त एवेश्वरतया श्रुत्यर्थाः सन्त्विति पूर्वपक्षिणो भावः, तथा च सांख्यसूत्रम्–मुक्तात्मनः प्रशंसा [1]उपासा सिद्धस्य वा इति।**

आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

इति पञ्चशिखाचार्यकृतवाक्ये च ज्ञानस्यापि कैवल्यमोक्षादिशब्दार्थत्वात् हिरण्यगर्भादयोऽपि कैवल्यमुक्त्यादिमन्त उच्यन्ते। कैवलिन इतिपाठे केवलस्यायमिति केवलोऽ[2]त्र द्वितीयमोक्षो रागादिक्लेशशून्यतेति। परिहरति–ते हीति। ते हि हिरण्यगर्भादयः [3]प्राकृतिकानि बन्धनानि पूर्वस्थितानि छित्वैव मुक्ताः, न तु क्लेशादिपरामर्शशून्याः, ईश्वरस्तु सर्वदैव क्लेशात्मकबन्धनत्रयशून्यतया श्रुत्यादिसिद्ध इत्यर्थः। ईश्वरस्य सदा क्लेशादिशून्यत्वे मानम्–

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥

इत्यादिवाक्यशतानि। निर्गुणः=गुणाभिमानशून्यः, गीतायां गुणाभिमानशून्यतयैव गुणातीतत्ववचनात्,

परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहंकारयुतोऽपरः।[4]

इति। नारदीयादिष्वपि ईश्वरजीवयोरिच्छादिसाम्येऽपि तदनभिमानाभिमानाभ्यां निर्गुणसगुणत्व[5]विभागसिद्धेश्च।

'**अपरामृष्ट**' शब्द का अर्थ है–परामर्शशून्यता। प्रकृत में 'परामर्श' शब्द के फल अर्थात् उद्देश्य को प्रतिपादित करने के लिये शंका की जा रही है–**कैवल्यमिति।**'

शङ्का–यदि श्रुति, स्मृतियों द्वारा क्लेशादि से रहित ईश्वर स्वीकार किया गया है तो **कैवल्य**' अर्थात् ज्ञान को प्राप्त हुए (लब्धविवेकज्ञान वाले) बहुत से हिरण्यगर्भादि

---

1. ख – **उपासा**, ग – **उपासना**, क घ च छ – उपासा/उपासना नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **अत्र द्वितीय०**, ख – **अद्वितीय०**।
3. क घ च छ – **प्राकृतिकानि**, ख ग – **प्राकृतिकादीनि**।
4. ख – **केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणे सगुण उच्यते** (अपरः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **केवलं....उच्यते** नोपलभ्यते।
5. ख ग – **विभाग०** उपलभ्यते, क घ च छ – **विभाग०** नोपलभ्यते।

'केवली' हैं अर्थात् केवलरूप जीवन्मुक्तों के क्लेशादिशून्य हिरण्यगर्भादि अध्यक्ष हैं, उन्हें ही ईश्वररूप से श्रुति प्रतिपादित तत्त्व माना जाय–यही पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय है। जैसा कि सांख्यसूत्र है–**'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा'** १/९५ अर्थात् 'मुक्तात्मा अर्थात् ईश्वर की प्रशंसा है अथवा सिद्ध की उपासना के लिये वैसा वर्णन है।' और पञ्चशिखाचार्य द्वारा निर्मित **'आद्यस्तु...मोक्षलक्षणम्'** इस वाक्य में कैवल्य, मोक्षादि शब्द का अर्थ **'ज्ञान'** भी है। इसलिये हिरण्यगर्भादि भी कैवल्यमान् (केवली), मुक्त्यादिमान् कहे जाते हैं। पञ्चशिख के वचन का अर्थ है–'प्रथम मोक्ष ज्ञान से होता है। द्वितीय मोक्ष राग, द्वेषादि के नाश से होता है। तृतीय मोक्ष कृच्छ्र अर्थात् कष्टक्षय से होता है। इस प्रकार मोक्ष का लक्षण कहा गया है।' 'भाष्य में जहाँ-कहीं **'केवलिनः'** के स्थान पर "**केवलिनः** ऐसा पाठ मिलता है, वहाँ **'केवलस्यायमिति कैवलः'**–इस व्युत्पत्ति के अनुसार रागादिक्लेशशून्यतारूप द्वितीय मोक्ष अभिहित हुआ है।

समाधान–भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट शंका का निरसन करते हैं–**'ते हीति।'** वे हिरण्यगर्भादि पूर्व प्राप्त (पूर्ववर्ती) **'प्राकृतिक'** आदि बन्धनों को छोड़कर ही मुक्त होते हैं। वे क्लेशादि के परामर्श अर्थात् संसर्गात्मक भोग से रहित नहीं होते हैं। किन्तु ईश्वर तो सर्वदा अविद्यादि क्लेशात्मक त्रिविध बन्धनों के राहित्यरूप से श्रुत्यादि में स्वीकृत है अर्थात् श्रुत्यादि शास्त्रों में ईश्वर त्रिविध (प्राकृतिक, वैकारिक तथा दाक्षणिक) बन्धनों से शून्यरूप से प्रतिपादित है। ईश्वर सर्वदा क्लेशादि से शून्य रहता है, इसमें सैकड़ों वाक्य प्रमाण हैं, जैसे–**'तत्रायः...स युज्यते'** (मोक्षधर्म ३५१/१४-१५) अर्थात् 'यह जो परमात्मा है, वह **'नित्य'** और **'निर्गुण'** कहा गया है। वह जो कर्म करने वाला पुरुष है, वही मोक्ष और बन्ध से युक्त होता है।' यहाँ **'निर्गुण'** शब्द का अर्थ, गुणाभिमान से शून्य होना है, क्योंकि गीता में भी गुणाभिमानशून्यता के कारण ही परमात्मा को गुणातीत कहा गया है और **'परस्तु...युतोऽपरः'** (बृहन्नारदीय पु. ३३/५७) अर्थात् **'पर'** अर्थात् परमात्मा निर्गुण कहा गया है और **'अपर'** अर्थात् जीव अहंकार युक्त है'–इस प्रकार के नारदीयादि वाक्यों में भी ईश्वर और जीव में इच्छादि की समानता होने पर भी तद्विषयक **'निरभिमान'** और **'अभिमान'** के कारण ईश्वर और जीव को क्रमशः **'निर्गुण'** और **'सगुण'** रूप से सिद्ध किया गया है।

सम्प्रति, ईश्वर में त्रिविध बन्धराहित्य के स्पष्टीकरणार्थ योगवार्त्तिककार **'बन्धत्रय'** का प्रतिपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

[1]**बन्धनत्रयं चोक्तं सांख्ये—प्रकृतिलयानां प्राकृतिको बन्धः, विदेहानां वैकारिको बन्धः, दिव्यादिव्यविषयभाजां दक्षिणाबन्ध इति। तत्राद्योऽष्टप्रकृतिष्वमिमानरूपः, द्वितीयः शब्दादिविषयरागः, तृतीयो गृहस्थानां कर्मदक्षिणादानाध्ययनादिष्व[2]नुरागः। तथा चोक्तम्—**

प्रकृतेर्बत बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्त्तते॥ इति॥

सांख्य में तीन प्रकार के **'बन्ध'** बतलाये गये हैं—प्रकृतिलयों का **'प्राकृतिक'** बन्ध, विदेहों का **'वैकारिक'** बन्ध तथा लौकिकालौकिक विषयसेवियों का **'दक्षिणाबन्ध'** होता है। इन तीन प्रकार के बन्धों में (प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रसंज्ञक) अष्ट प्रकृतियों में आत्माभिमान होना प्रथम **'प्राकृतिक'** बन्ध है, शब्दादि विषयों में आत्मानुराग होना द्वितीय **'वैकारिक'** बन्ध है तथा कर्म, दक्षिणा, दान, अध्ययन आदियों में गृहस्थों का अनुरक्त होना तृतीय **'दक्षिणा'** बन्ध है। जैसा कि त्रिबन्ध के विषय में कहा गया है—**'प्रकृतेर्बत...जन्तुर्विवर्त्तते'** (ब्रह्माण्डपुराण ३/३/३७-३८) अर्थात् **'प्राकृतिक, वैकारिक'** और **'दाक्षणिक'** इन तीन प्रकार के बन्धनो से बंधा हुआ जीव घूम रहा है।'

सम्प्रति, ईश्वर में बन्धराहित्य का प्रतिपादन किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

ईश्वरस्य क्षुद्रेश्वरेभ्यो वैलक्षण्यं बन्धापरामर्षरूपं विवृणोति—यथा मुक्तस्येति। निरस्ताविद्यस्येत्यर्थः। प्रज्ञायते निश्चीयते संभाव्यत इति। प्रकृतिलीनस्याभिमान[3]संबन्धेन पश्चाद्बन्धसंभावनेति भावः। सदैव मुक्त इति। [4]दुःखशून्य इत्यर्थः। सदैवेश्वर इति। सदैवाप्रतिहतेच्छया युक्तः। अत्र केचित्—सदैवेश्वर ऐश्वरशक्तिमानित्यर्थः, न हि वेदान्तिभिरिव प्रलये योगैरपीश्वरस्य नित्यमिच्छाऽऽदिकमभ्युपगन्तुं शक्यते, प्रकृतेर्गुणसाम्यरूपत्वाभ्युपगमविरोधाद् इत्येकदेशिनः, तन्न, यतो—

नैवाहस्तस्य न निशा नित्यस्य परमात्मनः॥

इत्यादिवाक्यशतैरीश्वरसत्त्वस्य नित्यमेव ज्ञानेच्छाऽऽदिकं यथाश्रुतभाष्यानुरोधाच्च विसदृशपरिणामाभावरूपाच्च साम्यावस्थाऽनित्येच्छादिमन्नित्यसत्त्वव्यक्तिसत्त्वेऽप्युपपद्यत इति

---

1. क – **वचन०**, ख ग घ च छ – **बन्धन०**।
2. क घ च छ – **अनुरागः**, ख ग – **अभिषङ्गः**।
3. क ख ग घ – **संभवेन**, च छ – **संबन्धेन**।
4. क ग घ च छ – **दुःख०**, ख – **सुखदुःख०**।

स्वकार्या[1]करणमेव च तस्य द्विपरार्द्धान्तलय इति। किं बहुना आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् इति [2]श्रुत्या [3]प्राग्लये परमात्मनोऽर्थद्रष्टत्वं सिद्धमत ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणा वृत्तिः प्रलयेऽप्यस्ति। न चोपाधिवृत्तिं विनैवेशस्य ज्ञातृत्वमेष्टव्यम्, बाधकं विना [4]दृष्टानुसारत्यागानौचित्यात् [5]ज्ञानशक्तिरहं परा इति प्रकृत्यभिमानिदेवतावाक्यविरोधाच्च। किं च [6]एतत्तमो वा इदमेकमास तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति इत्यादिश्रुतिष्वेव परमेश्वरप्रयत्नेनैव गुणवैषम्यं श्रूयते। तथा–

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥

इत्यादिना प्रकृतेर्वैषम्यहेतुः क्षोभोऽपीश्वरेच्छात एव। स्मर्यते च–अतः साम्यावस्थायामप्यगत्येश्वरोपाधेर्ज्ञानादि स्वीकार्यम् इति। अपि च-एवं सति प्रलये स्वसंकल्पेन स्वोपाधिं स्वस्माद्वियोज्येश्वरः शेते, पूर्वसर्गीयसंकल्पसंस्काराभ्यां च सर्गादावुपाधिरीश्वरेण सह स्वयं संयुज्यत इत्यभ्युपेयम्, तच्चायुक्तम्, तस्य हेतुरविद्या इत्यागामिसूत्रेणाविद्याया बुद्धिपुरुषसंयोगहेतुत्ववचनेनेश्वरस्याप्यविद्वत्त्वापत्तेः। न चाहार्यज्ञान[7]रूपोऽविद्यया संयोगः स्यात्, सा चाविद्या मायेति न तस्याः क्लेशत्वमिति वाच्यम्, संयोगहेत्वविद्याया विवेकख्यातिनाश्यत्वबोधकसूत्रविरोधात्। किं च सूत्रकारेण

क्लेशकर्मविपाकाद्यैर्वासनाभिस्तथैव च।
अपरामृष्टमेवाह पुरुषं हीश्वरं श्रुतिः॥

इति योगियाज्ञवल्क्यादिभिश्चेश्वरोपाधौ संस्कारस्य प्रतिषिद्धत्वात् तदभ्युपगमोऽपि तेषामपसिद्धान्त एव। तथाऽऽगामि[8]सूत्रप्रतिषिद्धं कालावच्छिन्नत्वं चेशे स्याद् उपाधिवृत्त्यभावेनैव चेतनस्य काला[9]नवच्छिन्नत्वाद् इत्यादीन्यत्र दूषणानि सन्ति। तस्मात् प्रलये

1. क ख ग घ च – कार्य०, छ – अकार्य०।
2. ख – भूतसंमोहने काले भिन्ने तमसि चेश्वरे सन्तः। पश्यन्ति सत्त्वस्थं निर्गुणं गुणगह्वर इत्यादि श्रुत्या च (श्रुत्या पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – भूत...च नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ – प्रलये, च छ – प्राग्लये।
4. क ख घ च छ – दृष्ट०, ग – इष्ट०।
5. ख – इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः (ज्ञानशक्तिः प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः नोपलभ्यते।
6. च छ – एतत् उपलभ्यते, क ख ग घ-एतत् नोपलभ्यते।
7. क ग घ च छ – रूपः, ख – रूप०।
8. क – सूत्रत्वादित्यादिप्रतिषिद्धं, ख ग घ च छ – सूत्रप्रतिषिद्धम्।
9. क ग घ च छ – अनवच्छिन्नत्वात्, ख – अवच्छिन्नत्वात्।

निरुद्धोऽप्युपाधिः पूर्वसर्गीयसंकल्पवासनाभ्यां स्वयं व्युत्थितो भवतीति यच्छास्त्रं[1] **तदैनंदिन-प्रलये योगनिद्रया शयानस्य स्वयंभुव उपाधिपरमेव,**[2] **न परमेश्वरोपाधिपरमिति दिक्।**

'**क्षुद्र**' अर्थात् अप्रधान मुक्तादि ईश्वरों (अल्प ऐश्वर्यशक्तिसम्पन्न पुरुषों) से '**ईश्वर**' अर्थात् पुरुषविशेष की त्रिविधबन्धनिबन्धिनी असंपृक्ततारूप विलक्षणता को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं–'**यथा मुक्तस्येति।**' मुक्त पुरुष की पूर्ववर्तिनी बन्धदशा की भाँति ईश्वर का बन्ध नहीं होता है, इससे पुरुषविशेष की अविद्यामय स्थिति का निरस्तीकरण हुआ है। भाष्य में प्रयुक्त '**प्रज्ञायते**' क्रियापद का अर्थ हैं–'**निश्चीयते**' अथवा '**सम्भाव्यते**'। इसी प्रकार प्रकृतिलीन का (अष्टप्रकृति के साथ) आत्माभिमानरूप सम्बन्ध बना रहने से अर्थात् आविद्यिक वृत्ति के विद्यमान रहने से भविष्य में '**बन्ध**' की पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। किन्तु ईश्वर '**सदैव मुक्त इति**'– सर्वदा दुःखशून्य ही रहता है। अतएव '**सदैवेश्वर इति**'–सर्वदा अप्रतिहत इच्छा से युक्त ही रहता है।

शङ्काः एकदेशी–एकदेशियों का कहना कि जो लोग '**सदैवेश्वर**' का अर्थ सर्वदा ऐश्वर्यशक्तिमान् करते हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि वेदान्तियों की भाँति योगिजनों (योगाचार्यों) द्वारा भी प्रलयावस्था में '**ईश्वर**' में नित्य इच्छादि को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, अन्यथा प्रलय में प्रकृति के साम्यावस्थ (गुणसाम्यरूप) रहने के सिद्धान्त के साथ विरोध होगा अर्थात् प्रकृति के गुणसाम्य की मान्यता को व्याघात पहुँचेगा।

समाधान–एकदेशी का यह व्याख्यान अनुचित है, क्योंकि '**नैव...परमात्मनः**' अर्थात् 'नित्य परमात्मा का न दिवस ही होता है और न ही रात्रि होती है'–इत्यादि सैकड़ों वाक्यों द्वारा ईश्वरसत्त्व (ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्टचित्तसत्त्व) के ज्ञान, इच्छादि नित्य ही हैं। इसी यथाश्रुत भाष्य के अनुसार तथा (ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्टचित्तसत्त्व में) विसदृश (विरूप) परिणाम का अभाव होने से साम्यावस्थाक अनित्य इच्छादिमत्त्व नित्यसत्त्व व्यक्ति (प्रकृष्ट चित्तसत्त्व) में भी उपपन्न हो जाते हैं। इस प्रकार स्वकार्य अकरणत्वप्रयुक्त (अपने कार्य को न करते हुए ही) ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्ट चित्तसत्त्व का द्विपरार्द्धान्त लय होता है। अधिक क्या कहा जाय, '**आत्मा...मिषत्**' अर्थात् 'सृष्टि से पहले अकेला आत्मतत्त्व ही था और कुछ

1. ख – **यथा, देवो हि जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलतीत्यादि** (**शास्त्रं** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **यथा...इत्यादि** नोपलभ्यते।

2. ख – **स्वयंभूप्रकरणस्थत्वात्** (**एव** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **स्वयंभूप्रकरणस्थत्वात्** नोपलभ्यते।

भी नहीं था' इत्याकारक श्रुति के द्वारा प्रलय से पूर्व परमात्मा का अर्थद्रष्ट्रत्व सिद्ध होता है। अतः ईश्वर की उपाधिरूपा ज्ञानलक्षणावृत्ति प्रलयावस्था में भी होती है।

शङ्का–ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्ट चित्तसत्त्व की वृत्ति के विना ही ईश्वर का ज्ञातृत्व स्वीकार कर लिया जाय?

समाधान–यह सम्भव नहीं है, क्योंकि बाधक के विना प्रत्यक्ष प्रमाण से होने वाला व्यवहार त्याज्य नहीं होता है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का अपलाप करना उचित नहीं है। दूसरा हेतु यह है कि **'ज्ञानशक्तिरहं परा'** अर्थात् "मैं परा ज्ञानशक्ति हूँ अर्थात् ज्ञानात्मक हूँ'–इत्याकारक प्रकृति के अभिमानी देवता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य से विरोध होगा। किञ्च **'एतत्तमो...प्रयाति'** (मैत्रायणी उप. ४/६) अर्थात् 'सृष्टि के प्रारम्भ में केवल तम ही था, इसके पश्चात् पराशक्ति के द्वारा प्रेरित होकर वह विषमत्व (सृष्टृत्व) को प्राप्त हुआ'–इत्यादि श्रुतियों में परमेश्वर के प्रयत्न से ही गुणवैषम्य सुना जाता है तथा **'प्रकृतिं...व्ययाव्ययौ'**' अर्थात् 'सृष्टिकाल के प्राप्त होने पर हरि अर्थात् ईश्वर ने स्वेच्छापूर्वक प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करके **'व्यय'** अर्थात् नाशशील और **'अव्यय'** अर्थात् नित्य पदार्थों को संक्षुभित किया'–इत्याकारक श्रुति के द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रकृति के वैषम्य (विरूपावस्था) का हेतुभूत क्षोभ भी ईश्वर की इच्छा से ही होता है अर्थात् साम्यावस्थाक प्रकृति का वैषम्यपरिणाम ईश्वरेच्छाधीन है। तदर्थ स्मृतिवाक्य भी है–**'अतः साम्यावस्थायां...स्वीकार्यम्'** अर्थात् 'इसीलिये (प्रकृति की) साम्यावस्था (प्रलयावस्था) में भी ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्ट चित्तसत्त्व की ज्ञानादिवृत्ति को अगत्या स्वीकार करना चाहिये।' किञ्च जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि प्रलयावस्था में ईश्वर अपने संकल्प से अपनी उपाधि को अपने से पृथक् करके शयन करते हैं और सृष्टिकाल में पूर्वसर्गीय संकल्प और संस्कारों के कारण प्रकृष्ट चित्तसत्त्वरूप उपाधि ईश्वर के साथ पुनः संयुक्त हो जाती है, वह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि **'तस्य हेतुरविद्या'** २/२४ इस आगामी योगसूत्र के द्वारा जिस अविद्या को बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का हेतु बतलाया गया है, उसी को ईश्वर और उसके उपाधिभूत प्रकृष्ट चित्तसत्त्व के संयोग का हेतु मानना **अविवेकपूर्ण** है।

शङ्का–इस पर यदि कोई कहे कि **'आहार्यज्ञानरूप'** अविद्या के कारण उक्त संयोग होता है और वह अविद्या **'माया'** रूप है। इस प्रकार आहार्यज्ञानरूप अविद्या में क्लेशत्व (क्लेशकारित्व) नहीं है।

समाधान–इस पर योगवार्त्तिककार कहते हैं कि यह मत उपेक्षणीय है, क्योंकि पूर्वपक्षी की उपरिनिर्दिष्ट व्याख्या के अनुसार प्रकृति-पुरुष-संयोग की हेतुभूता अविद्या विवेकख्याति के द्वारा नष्ट हो जाती है, इस तथ्य के प्रतिपादक सूत्र से

विरोध होगा। अर्थात् विवेकख्याति द्वारा अविद्या का नहीं बन पायेगा। इतना ही नहीं, सूत्रकार ने तथा **'क्लेशकर्म...हीश्वरं श्रुतिः'** इत्यादि श्रुति के द्वारा योगियाज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने ईश्वरोपाधिरूप प्रकृष्ट चित्तसत्त्व में संस्कार का निषेध किया है। ऐसी स्थिति में चित्तसत्त्व में संस्कार का स्वीकार किया जाना अपसिद्धान्त ही रहेगा। श्रुति का अर्थ है–'श्रुति अर्थात् वेद ने क्लेश, कर्म, विपाक आदियों से तथा उसी प्रकार वासनाओं से पुरुषविशेष 'ईश्वर' को अपरामृष्ट कहा है।' और (ईश्वरोपाधि में 'संस्कार' मानने पर) आगामी सूत्र **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** १/२६ के द्वारा खण्डित (प्रत्युक्त) कालगत सीमितता (परिच्छिन्नता) ईश्वर में आ जायेगी। क्योंकि उपाधिगत वृत्त्यभाव के कारण ही चेतन में कालिक अपरिच्छन्नता आती है। इस प्रकार ईश्वरोपाधि में संस्कार मानने पर अनेक न्यूनताएँ (त्रुटियाँ) आती हैं। इससे यह मानना चाहिये कि 'प्रलयकाल में निरुद्ध हुई भी उपाधि पूर्वसर्गीय संकल्प और वासना से स्वयं व्युत्थित (विशेषरूप से उत्थित) होती है–' इत्याकारक जो शास्त्र है, वह दैनन्दिन प्रलय में योगनिद्रा से शयन करने वाले स्वयंभु की उपाधि को लेकर है, न कि परमेश्वर की उपाधि के विषय में है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार शंकोपस्थापनपूर्वक ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

शास्त्रप्रामाण्यसिद्धौ शास्त्राद् यथोक्तेश्वरसिद्धिरीश्वरसिद्धौ च[1] तत्प्रत्यक्षपूर्वकतया शास्त्रप्रामाण्यसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयं मन्वानो नास्तिक ईश्वरे प्रमाणमस्ति न वेति पृच्छति– योऽसाविति। सर्वपुरुषाणां स्वत एक[2]रूपतयैश्वर्यमुपाधि[3]धर्म एवेति प्रतिपादयितुं प्रकृष्टसत्त्वोपादानादित्युक्तम्, प्रकृष्टसत्त्वसंबन्धात्तदौपाधिकः शाश्वतिको नित्य उत्कर्ष ऐश्वर्यमित्यर्थः। ईश्वरस्य चोपाधौ प्रमाणम्–

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः॥

इति श्रुत्यादयः। तदैक्षत, सोऽकामयत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, स एको ब्रह्मण आनन्द इति श्रुत्याद्युक्तस्यानन्दान्तस्य ब्रह्मणि स्वतोऽनुपपत्तिश्च, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्य [4]निर्गुणत्वचिन्मात्रत्वसिद्धेरिति। सनिमित्तकः

---

1. क च छ – **एतत्**, ख ग घ – **तत्**।
2. क घ – **रूप०**, ख ग च छ – **रूपतया**।
3. क ग घ च छ – **धर्म**, ख – **कर्म**।
4. क – **निर्गुणत्वचिन्मात्र०**, ख ग – **निर्गुणचिन्मात्रत्व**, घ – **निर्गुणचिन्मात्र०**, च छ – **निर्गुणत्वचिन्मात्रत्व०**।

सप्रमाणकः। उत्तरम्—तस्य शास्त्रं निमित्तमिति। शास्त्रं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि। पुनः पृच्छति—शास्त्रं पुनरिति। शास्त्रस्यैव प्रामाण्यं कुत इत्यर्थः। उत्तरम्—प्रकृष्टसत्त्व—निमित्तमिति। ईश्वरस्योपाधिर्यत्प्रकृष्टसत्त्वं तत्प्रत्यक्षरूपवाक्यार्थज्ञानजन्यत्वाच्छास्त्रस्य प्रामाण्यमित्यर्थः। नन्वेवमन्योन्याश्रयः, शास्त्रप्रामाण्ये सिद्धे प्रकृष्टसत्त्वसिद्धिः तत्सिद्धौ च तन्मूलकतया शास्त्रप्रामाण्यसिद्धिरिति चेन्न, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यतः ईश्वरसिद्धेः प्रागेव शास्त्रस्य प्रामाण्यसिद्धेः। प्रकृष्टसत्त्वस्य च शास्त्रप्रामाण्यनिर्वाहकतामात्रमत्रोक्तमिति। तथा च न्यायसूत्रम्—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम् इति।

शङ्का—शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध होने पर शास्त्र द्वारा कथित ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर के सिद्ध होने पर ईश्वर के प्रत्यक्षपूर्वक शास्त्रप्रामाण्य की सिद्धि—इत्याकारक अन्योन्याश्रयदोष को मानने वाला नास्तिक् ईश्वर की सत्ता में प्रमाण है अथवा नहीं, ऐसा पूछता है—'**योऽसाविति।**' समस्त पुरुषों के स्वाभाविक रूप से एक समान होने से ऐश्वर्य पृथक्-पृथक् (तत्तत् पुरुषों से सम्बद्ध तत्तत् बुद्धिरूप) उपाधियों का ही धर्म होता है, यह प्रतिपादित करने के लिये (अर्थात् ईश्वर का ऐश्वर्य भी '**उपाधि**' का ही '**धर्म**' है और वह ईश्वरोपाधि कौन है, इसे स्पष्ट करने के लिये) '**प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्**' पद का प्रयोग भाष्यकार ने किया है अर्थात् ईश्वरोपाधि '**प्रकृष्टचित्तसत्त्व**' है। इस प्रकार प्रकृष्टसत्त्व के सम्बन्ध (संयोग) से ईश्वर का औपाधिक 'शाश्वतिक' अर्थात् नित्य 'उत्कर्ष' अर्थात् ऐश्वर्य है। अर्थात् पुरुषविशेष ईश्वर नित्यैश्वर्यरूप उपाधि वाला है। और ईश्वरोपाधि में '**कार्योपाधिरयं....रीश्वरः**' अर्थात् 'जीव कार्योपाधि है और ईश्वर कारणोपाधि है'—यह श्रुति प्रमाणस्वरूप है। क्योंकि ईश्वरोपाधि स्वीकार किये विना '**तदैक्षत...आनन्द**' अर्थात् 'उसने देखा' (तै. उ.,६/२३)'उसने कामना की', (तै. उप. २/६), 'उसने अपने आप स्वयं को विभक्त किया' (तै. उप. २/६), 'ब्रह्म का वह अकेला आनन्द है' (तै. उप २/८)—इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित आनन्दादि ब्रह्म में सहज उपपन्न नहीं हो सकते हैं। अतः ईश्वरोपाधि को मानना अपरिहार्य है और वह ईश्वरोपाधि प्रकृष्टचित्तसत्त्व है, क्योंकि '**साक्षी....निर्गुणश्च**' अर्थात् 'ईश्वर साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है'—इत्यादि श्रुतियो द्वारा ईश्वर को निर्गुण एवं चिन्मात्रस्वरूप बतलाया गया है। (सरलार्थ यह है कि ईश्वर के समर्थक ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष को ईश्वरोपाधि के विना सिद्ध नहीं कर सकते हैं और शाश्वतिक उत्कर्ष के सिद्ध हुए विना ईश्वर का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता है? अतः ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष सप्रमाण है अथवा प्रमाणरहित है—यही पूर्वपक्षी की शंका का अभिप्राय है)। भाष्य में प्रयुक्त '**सनिमित्तक**' पद का अर्थ है—सप्रमाणक अर्थात् सप्रमाण वाला।

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**तस्य शास्त्रं निमित्तमिति**।' अर्थात् ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष (नित्यैश्वर्य) में '**शास्त्र**' प्रमाण है। यहाँ '**शास्त्र**' शब्द से श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि का ग्रहण होता है।

शङ्का–पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है–'**शास्त्रं पुनरिति**।' तो फिर शास्त्र में ही क्या प्रमाण? अर्थात् शास्त्र द्वारा ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का भी प्रामाण्य तभी माना जा सकता है, जब शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध हो सके। अन्यथा अन्योन्याश्रित दोनों अप्रामाणिक हो जायेंगे।

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–**प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तमिति**।' ईश्वर की उपाधि जो '**प्रकृष्टसत्त्व**' है, वह प्रत्यक्षरूप वाक्यार्थज्ञानजन्य होने से शास्त्र-प्रामाण्य में हेतु है अर्थात् 'शास्त्र' के प्रामाण्य में '**प्रकृष्टसत्त्व**' ही प्रमाणस्वरूप है।

शङ्का–इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट समाधान से तो अन्योन्याश्रयदोष ही प्रसक्त होगा। अन्योन्याश्रयदोष का स्वरूप यह है–'शास्त्र' की प्रामाणिकता स्थापित होने पर '**प्रकृष्टसत्त्व**' की स्थापना और '**प्रकृष्टसत्त्व**' की प्रामाणिकता स्थापित होने पर तन्मूलक 'शास्त्र' की स्थापना? (अतः मुझ पूर्वपक्षी का प्रश्न पूर्ववत् है)।

समाधान–पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्यपूर्वक ईश्वर की सत्ता सिद्ध होने से शास्त्र का प्रामाण्य तो पूर्वतः सिद्ध ही है। और प्रकृत में 'प्रकृष्टसत्त्व' के द्वारा शास्त्रप्रामाण्य की वार्ता तो निर्वाहमात्र के लिये (यथेष्ट व्यवस्था अथवा दाढर्य के लिये) कही गई है। इसमें न्यायसूत्र प्रमाण है–'**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्**' २/१/६९ अर्थात् 'मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान ईश्वर का भी प्रामाण्य है।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पूर्ववर्णित '**ईश्वरोत्कर्ष**' और '**शास्त्र**' के '**सम्बन्ध**' पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

एतयोरिति। विषयत्वेन समवायसम्बन्धेन च परमेश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरेतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरनादिर्निमित्तनैमित्तिकभावः संबन्धः, शास्त्रं नैमित्तिकं सत्त्वोत्कर्षश्च निमित्तं कारणत्वादित्यर्थः। ततः किमित्याकाङ्क्षायामाह–[1]एतस्मादिति। सदैवेश्वरः प्रलयेऽपि ज्ञानेच्छाकृतिमान्, सदैव मुक्तोऽनादिकाले क्लेशादिमुक्तश्चेत्यर्थः।

योगवार्त्तिककार भाष्य की पंक्ति को उठाते हैं–'**एतयोरिति**।' परमेश्वर के उपाधिभूत चित्तसत्त्व में विषयसम्बन्ध से वर्तमान 'शास्त्र' और समवायसम्बन्ध से वर्तमान 'ऐश्वर्योत्कर्ष' में '**निमित्तनैमित्तिकभावरूप**' अनादिसम्बन्ध है। इनमें भी

1. क ग घ च छ – **तस्मादिति**, ख – **एतस्मादिति**।

सत्त्वोत्कर्ष का कार्य होने से शास्त्र **'नैमित्तिक'** और कारण होने से सत्त्वोत्कर्ष **'निमित्त'** है।

शङ्का–ईश्वरोत्कर्ष और शास्त्र का अनादिसम्बन्ध बतलाने का प्रयोजन क्या है?

समाधान–ऐसी शंका होने पर भाष्यकार बतलाते हैं–**'एतस्मादिति।'** इससे यह सिद्धान्तित होता है कि पुरुषविशेष ईश्वर **'सर्वदैवेश्वरः'** अर्थात् (सृष्टि की भाँति) प्रलयावस्था में भी ज्ञान, इच्छा और कृति (प्रयत्न) वाला है तथा **'सदैव मुक्तः'** अर्थात् अनादिकाल से क्लेशादि से विनिर्मुक्त है।

बालप्रिया–

'विषयत्वेन समवायसम्बन्धेन च परमेश्वरसत्त्वे...'–सरलार्थ यह है–परमेश्वर के उपाधिभूत चित्तसत्त्व में शास्त्रविषयक वृत्तिविशेष की ज्ञानविषयता के द्वारा शास्त्र की सत्ता है और समवायसम्बन्ध से ईश्वरोपाधि में 'उत्कर्ष' की सत्ता है। यहाँ **'समवाय'** शब्द से **'तादात्म्य'** का ही ग्रहण होता है, क्योंकि योगशास्त्र में समवायसम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार ईश्वरोत्कर्ष की **'निरतिशयता'** का उपपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ईश्वरस्याद्वितीयत्वमपि प्रतिपादयति–तच्चेति। नास्ति साम्यमतिशयश्च यस्मात् तादृशमित्यर्थः। अतिशयनिर्मुक्तौ हेतुमाह–न तावदिति। उक्ते हेतुमाह–यदेवेति। यस्माद्धेतोर्यदेवा[1]तिशयि निरतिशयं तदेव तत् ऐश्वर्यं स्यादिति योजना। सातिशयत्वे सत्यैश्वर्यमेव न भवति, अप्रतिहतेच्छत्वस्यैवाभावात्। अतो यदेव निरतिशयि[2] तदेव मुख्यमै[3]श्वर्यमित्यर्थः। उपसंहरति–तस्मादिति। ऐश्वर्येण यत्र काष्ठा प्राप्यते स ईश्वर इत्यर्थः। साम्यनिर्मुक्तौ हेतुमाह–न चेति। द्वयोरिति। नवमल्पकालस्थायि, पुराणं दीर्घकालस्थायि एवमस्त्वित्येवंरूपेणैकस्मिन्नर्थे क्वचिद् द्वाभ्यां तुल्याभिमताभ्यां कामिते सत्येकस्य सिद्धौ संकल्पसिद्धावितरस्येच्छा[4]विघातादूनत्वं न्यूनत्वं स्यादतो न समानानेकेश्वरसम्भव इत्यर्थः। ननूभयोः संकल्पान्नवत्वं पुराणत्वं चोभयमेव भवतु? तत्राह–द्वयोश्चेति। तस्य पुरुषविशेषत्वमुपसंहरति–स चेति।

भाष्यकार ईश्वर के अद्वितीयत्व का भी प्रतिपादन करते हैं–**'तच्चेति।'** न तो ईश्वर के तुल्य ही कोई है और न ईश्वर से अधिक ही कोई है और यही 'ईश्वर' का **'अद्वितीयत्व'** है। ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यवान् कोई नहीं है, इसमें अर्थात् ईश्वर

---

1. क ग घ च छ – **अतिशयि**, ख – **अतिशयम्।**
2. क ग घ च छ – **निरतिशयि**, ख – **निरतिशयम्।**
3. क ग घ च छ – **ऐश्वर्यं** उपलभ्यते, ख – **ऐश्वर्यं** नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ – **विघातादूनत्वं न्यूनत्वं**, ख – **विघातत्वम्।**

की अतिशयविनिर्मुक्तता में भाष्यकार कारण बतला रहे हैं–'**न तावदिति**।' क्योंकि ईश्वर का ऐश्वर्य ऐश्वर्यान्तर से अभिभूत नहीं होता है। ईश्वर के निरतिशय ऐश्वर्य में हेतु है–'**यदेवेति**।' कारण यह है कि जो ऐश्वर्य सब ऐश्वर्यों को अभिभूत कर देता है, उसे ही '**निरतिशय**' ऐश्वर्य कहते हैं। जो पदार्थ सातिशय होता है, उसमें निरतिशय ऐश्वर्य नहीं होता है, क्योंकि सातिशय पदार्थों में अप्रतिहत इच्छा (अप्रतिरोध्य कामना) का ही अभाव रहता है। अतएव जो पदार्थ '**निरतिशय**' होता है, वही मुख्य ऐश्वर्य वाला होता है। भाष्यकार ईश्वर के निरतिशय ऐश्वर्य के विषय का उपसंहार करते हैं–'**तस्मादिति**।' ऐश्वर्य की जहाँ '**काष्ठाप्राप्ति**' अर्थात् चरमावस्था उपलब्ध होती है, उसे '**ईश्वर**' कहते हैं। ईश्वर के तुल्य किसी अन्य का ऐश्वर्य न होने में अर्थात् साम्यैश्वर्यराहित्य में भाष्यकार हेतु देते हैं–'**न चेति**।' '**द्वयोरिति**।' यह वस्तु '**नूतन**' अर्थात् अल्पकालस्थायि हो, यह वस्तु '**पुरातन**' अर्थात् दीर्घकालस्थायि हो–इस प्रकार एक ही पदार्थ के विषय में (एक ही समय में) कभी दो तुल्य ऐश्वर्ययुक्त ईश्वरों की कामना होने पर किसी एक ऐश्वर्यवान् की संकल्प-सिद्धि होने पर तदितर ऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर की इच्छा का विघात होने से न्यूनता की प्रसक्ति होगी अर्थात् दूसरे को अप्रतिहत ऐश्वर्यवान् नहीं कहा जा सकेगा। अतः तुल्य ऐश्वर्य वाले अनेक ईश्वरों की कल्पना असम्भव है।

शङ्का–तो फिर ईश्वरद्वय की अप्रतिहतेच्छा से सम्बन्धित पूर्ववर्णित न्यूनता के निवारणार्थ) दोनों के संकल्प के अनुसार वस्तु में नूतनत्व और पुराणत्वरूप दोनों ही स्थितियों को मान लिया जाय?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**द्वयोश्चेति**।' नूतनत्व और पुराणत्वरूप धर्म के परस्पर विरोधी होने के कारण ये दोनों एक ही पदार्थ में एक ही समय कथमपि सम्भव नहीं हो सकते हैं। इसलिये जिसका ऐश्वर्य तुल्यता और अतिशयता से रहित है, वही '**ईश्वर**' है। इस प्रकार ईश्वर में पुरुषविशेषत्व को उपसंहृत (पर्यवसित) करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**स चेति**।' और वही '**पुरुषविशेष ईश्वर**' है।

'पुरुषविशेष ईश्वर' का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, 'योगवार्त्तिककार शंकोपस्थापनपूर्वक आत्मैक्यपक्ष के खण्डनपुरस्पर पुरुषबहुत्व की स्थापना करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्यादेतत्–यदि प्रकृष्टसत्त्वोपादानादेव शाश्वतिको जीवेभ्य उत्कर्षश्चेतनविशेषस्य त्वयाऽप्यभ्युपगतस्तथा जीवानामप्यपकर्षो मलिनकार्यसत्त्वनिमित्तक इत्यर्थादा[1]गतः। तथा च श्रुतिरपि–

1. क ग ग च छ – आगतः, ख – आगतम्।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरी[1]श्वरः इति।

तर्हि किमर्थं पुरुषविशेष ईश्वर एवेत्युच्यते? एकस्यैवात्मन आकाशस्येवोपाधिभेदैर्जीवेश्वरादिविभागसंभवेन लाघवादैकात्म्यकल्पनस्यैवौचित्यात्, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि,

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान्॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैरात्मैक्यस्यैव प्रतिपादितत्वाच्च।

पूर्वपक्ष : वैदान्तियों की ओर से शंका–यदि योगाचार्य भी ऐसा मानते हैं कि प्रकृष्ट चित्तसत्त्वरूप उपाधि का ग्रहण करने के कारण ही चैतन्यस्वरूप पुरुषविशेष का, जीवों की अपेक्षा, शाश्वतिक उत्कर्ष (नित्यैश्वर्य) है, तो इससे यह भी निकल आता है कि जीवों का मलिन कार्यसत्त्वरूप उपाधि के कारण अपकर्ष है। ऐसी ही श्रुति भी है–'**कार्योपाधि...ईश्वरः**' अर्थात् 'जीव कार्योपाधि वाला है और ईश्वर कारणोपाधि वाला है।' ऐसी स्थिति में किस कारण से चेतनविशेष को '**पुरुषविशेष ईश्वर**' ही कहा जा रहा है? (अर्थात् जीवसामान्य से चेतनविशेष भिन्न नहीं है)। जिस प्रकार एक ही आकाश का उपाधिभेद से विभागत्व (घटाकाश, मठाकाशरूप अनेकत्व) सम्भव है, उसी प्रकार एक ही आत्मा का तत्तद् उपाधिभेद से जीव, ईश्वरादिरूप विभाग (अनेकत्व) सम्भव है। अतः इस सम्भावित लघुता (लाघवगुण) के कारण आत्मैक्य कल्पना ही उचित है। क्योंकि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों '**तत्त्वमसि...वांशुमान्**' के द्वारा आत्मैक्य का ही उपपादन हुआ है। इन श्रुति, स्मृतिवाक्यों का अर्थ है–'तुम वह ही हो' (छा. उप. ६/८/७), मैं ब्रह्म हूँ, (बृ. आ. १/४/१०) तथा 'जिस प्रकार एक ही आकाश घट, मठ आदि उपाधियों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है और जिस प्रकार जल की धाराओं में सूर्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधिभेद से पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है' (याज्ञ. स्मृ. ३/१४४)।

बालप्रिया–

'**उपाधिभेदैर्जीवेश्वरादिविभागसंभवेन**'–पूर्वपक्षी के आत्मैक्यपक्ष को प्रतिपादित करने वाली कारिका सूतसंहिता में भी उपलब्ध है–

'आत्मभेदस्तथैवात्मब्रह्मभेदश्च सुव्रताः।
उपाधिनैव क्रियते न स्वतो मुनिपुङ्गवाः॥
घटाद्युपाधिसम्पर्कादाकाशस्य भिदा यथा॥'

1. ख ग घ च छ – ईश्वरः इति। तर्हि किमर्थं पुरुषविशेष ईश्वर एवेत्युच्यते? एकस्यैवात्मन आकाशस्येवोपाधि० उपलभ्यते, क – ईश्वर.....वोपाधि० नोपलभ्यते।

पूर्वपक्षी आगे कहता है कि–

योगवार्त्तिकम्

भेदाभेदोभयश्रुतिस्मृतिमध्ये भेदनिन्दयाऽभेदज्ञानस्य मोक्ष[1]फलकत्वकथनेन चाभेदवाक्यानि एव स्वार्थपराणि, भेदवाक्यानि त्वनुवादमात्राणीति?

(इतना ही नहीं, अपितु) जीव और ईश्वर के भेदप्रतिपादक तथा अभेदप्रतिपादक दोनों प्रकार के श्रुति, स्मृतिशास्त्रों के वाक्यों के मध्य में जीवेश्वर के भेदप्रतिपादक वाक्यों की निन्दा द्वारा जीवेश्वरसम्बन्धी अभेदज्ञान से मोक्षरूप फल कहा गया है। इससे मोक्षफलपरक होने से जीवेश्वर के अभेदप्रतिपादक वाक्य ही स्वार्थपरक हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य तो अनुवादमात्र हैं (यह सिद्ध होता है)।

योगवार्त्तिकम्

अत्रोच्यते– जीवेश्वरयोरंशांशिनोस्तावद्व्याप्यव्यापकभावस्वीकारेण जीवोपाधिनाऽवच्छेद्यस्यात्मप्रदेशस्येश्वरोपाध्यवच्छिन्नत्वं वक्तव्यम्। तथा च यथा ब्रह्माण्डाकाशस्य गर्दभमुखावच्छेदेन दुस्वरत्वं यथा वा [2]पाय्ववच्छेदेनौपाधिकं दुर्गन्धत्वमेवं कारणसत्त्वावच्छिन्न[3]चिदाभाशस्यापीश्वरस्य [4]जीवोपाध्यवच्छेदेन संसारित्वं स्यात्।

उत्तरपक्ष : योगाचार्यों की ओर से समाधान–इस पर कहा जा रहा है कि अंशाशिरूप जीवेश्वर में व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध स्वीकृत होने से जीवोपाधि से अवच्छेद्य आत्मप्रदेश में ईश्वरोपाधि का अवच्छिन्नत्व समझना चाहिये। इस स्थिति में (व्याप्य में व्यापक की सत्ता पक्ष में) जिस प्रकार गर्दभ-मुखान्तर्वर्ती आकाश के अवच्छेद से ब्रह्मण्डाकाश की अवच्छिन्नता को रोक पाना असम्भव है अथवा मलमार्ग के अवच्छेद से औपाधिक दुर्गन्धित्व को रोक पाना असम्भव है, उसी प्रकार कारणसत्त्वावच्छिन्न चिदाभासरूप ईश्वर का भी जीवोपाधि के अवच्छेद से संसारित्व को रोक पाना असम्भव रहेगा अर्थात् आत्मप्रदेशावच्छिन्न ईश्वर का संसार (बन्ध) मानना पड़ेगा। अतः जीवेश्वरात्मैक्यवाद न्यायसंगत नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार इस विषय में अगली अनुपपत्ति बताते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यदि च जीवेश्वरौ चैतन्यस्यैवांशौ न तु जीव ईश्वरस्य साक्षादंशोऽतो घटकुण्डाकाशवदेवान्योन्यव्यावृत्तौ जीवेश्वरौ स्वीक्रियेतां तदाऽपीश्वरस्य जीवान्तर्यामित्वानुपपत्तिः,

---

1. क ग घ च छ – **फलकत्व॰**, ख – **पद॰**।
2. क घ च छ – **पाय्ववच्छेदेन**, ख ग – **कूपाद्यवच्छेदेन'**
3. क ख ग घ च – **चिदाकाशस्य**, छ – **चिदाभाशस्य**।
4. क ख घ च छ – **जीवोपाध्यवच्छेदेन संसारित्वं स्यात्। यदि च जीवेश्वरौ चैतन्यस्यैवांशौ न तु जीव ईश्वरस्य साक्षादंशः** उपलभ्यते, ग – **जीव......दंशः** नोपलभ्यते।

जीव[1]प्रदेशेऽपीश्वरासत्त्वादिति।

यदि जीव और ईश्वर दोनों को चैतन्य का ही अंश माना जाय, न कि जीव को ईश्वर का साक्षात् अंश माना जाय अर्थात् जीव को ईश्वर का अंश न कहा जाय तो इस स्थिति में घट और कुण्ड (अग्निकुण्ड) के आकाश की तरह ही जीव और ईश्वर को एक दूसरे का व्यावर्तक (अन्योन्यव्यावृत्ति वाला) मानना पड़ेगा। इससे ईश्वर जीवान्तर्यामी है, ऐसा कहना उपपन्न नहीं होगा अर्थात् ईश्वर का जीवान्तर्यामित्व अनुपपन्न रहेगा, क्योंकि (अंशरूप) जीवप्रदेश में ईश्वर की सत्ता नहीं रहेगी। अतः जीवेश्वरात्मैक्यवाद न्यायसंगत नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार जीवात्मैक्यवाद का खण्डन कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

एवमेव सर्वजीवानामप्यैक्यं न [2]सम्भवति, एकस्यैव चिदाभासस्यैकान्तःकरणाद्विमुक्तेऽपि प्रदेशे संसार्यन्तःकरणान्तरसम्बन्धाद् बन्धप्रसङ्गेन श्रुत्युक्तबन्धमोक्षादिव्यवस्थाऽनुपपत्तेः। न ह्याकाशस्य भग्नघटप्रदेशेष्वन्यघटसंबन्धो न भवतीति नियमः संभवति, प्रत्यक्षविरोधात्, पर्यायैश्चैकस्मिन्नेव देशेऽनेकलिङ्गदेहसंबन्धस्य समानदेशीयभोगेनानुमानाच्च। तदेतदुक्तं कपिलाचार्यैः—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्, उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोगः आकाशस्येव घटादिभिः इत्यादि [3]सूत्रैरिति।

इसी प्रकार समस्त (असंख्य) जीवात्माओं का भी ऐक्य कथमपि सम्भव नहीं है। क्योंकि (जीवात्मैक्य मानने पर) एकरूप ही चिदाभास (आत्मा) की एक अन्तःकरण से विमुक्ति हो जाने पर भी संसरणशील संसार में दूसरे अन्तःकरण से उसका संयोगसम्बन्ध होने पर जीव के बन्ध का ही प्रसंग आयेगा और इस प्रकार जीव के शास्त्रसम्मत बन्ध तथा मोक्षादि की व्यवस्था अनुपपन्न हो जायेगी। इस अनुपपत्ति को प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण से सुस्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि ध्वस्त घटप्रदेशों के साथ एकरूप आकाश का सम्बन्ध न रहने पर अन्य घटान्तर्वर्ती आकाशों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा न मानने में प्रत्यक्षविरोध है। (अर्थात् उपाधिभेद से एकरूप आकाश का अन्य घटों के साथ सम्बन्ध बना ही रहता है। इसी प्रकार एक अन्तःकरणरूप उपाधि से वियुक्त एकरूप आत्मा अन्य अन्तःकरणरूप उपाधियों से संयुक्त हो जायेगा। फलतः जीवात्मा को बन्ध से मुक्ति नहीं मिल पायेगी)। इसी

1. क घ च छ – **प्रदेशेऽपि**, ख ग – **प्रदेशेषु।**
2. क ग घ च छ – **संभवति**, ख – **भवति।**
3. क ख घ च छ – **सूत्रैः**, ग – **न्यूनैः।**

प्रकार एक ही देश में अनेक लिङ्गदेहों के साथ सम्बद्ध आत्मा का समानदेशीय भोग होने से (संसारित्व और असंसारित्वरूप धर्मद्वय का सम्बन्ध न होने से) बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पायेगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसीलिये सांख्याचार्य कपिल ने कहा है–**'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्'** १/१४९, **'उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोगः आकाशस्येव घटादिभिः** १/१५०, सूत्रार्थ इस प्रकार है–' जन्मादि की व्यवस्था के दृष्टिगोचर होने से आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है', 'उपाधि के नष्ट हो जाने पर भी एक आत्मा का अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है, घटादि के साथ आकाश के सम्बन्ध के समान।'

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार उपाधिविशेष के आधार पर जीवेश्वर की मान्यता का शङ्कोपस्थापनपूर्वक खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननूपाधिविशिष्टयोरेव जीवेश्वरत्वे वक्तव्ये इति चेत्? न–विकल्पासहत्वात्। [1]विशिष्टानतिरेके जीवेश्वरत्वबन्धमोक्षादिसांकर्यतादवस्थ्यात्। अतिरेके तु तदनित्यं नित्यं वा? आद्ये विनाशितया तस्य बन्धमोक्षाद्यनुपपत्तिः, अन्त्ये वृश्चिकभया पलायमानस्याशीविषमुखनिपातः। यदि हि विशिष्टा अनेक आत्मानः कल्पनीयास्तर्ह्यस्मासू[2]पन्यस्तगौरवं भवतामप्यापतितम्। अधिकं तु सामान्यैका[3]त्मकल्पनमिति। न चात्माद्वैतश्रुत्यनुरोधेन तदप्युचितमिति वाच्यम्, विशिष्टात्मभ्यः सामान्यात्मनोऽत्यन्तभेदे तत्त्वमस्याद्यभेदवाक्यानुपपत्तितादवस्थ्यात्, अत्यन्तमभेदे च विशिष्टातिरिक्तताविरोधात्, भेदाऽभेदे चास्मन्मतप्रवेशादिति। अस्माभिरपि हि सामान्यरूपेणाभेदौ वैधर्म्यलक्षणभेदनिरासायेष्यते, विशेषतस्तु भेद इति। तथा चोक्तं कपिलाचार्यैः–नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् इति। एवं तावदवच्छेदवादो निरस्तः।

शङ्का–उपाधिविशेष के कारण ही चेतन के जीवत्व और ईश्वरत्व को कहना चाहिये? अर्थात् उपाधिविशिष्टों में ही जीवत्व और ईश्वरत्व को माना जाय?

समाधान– पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि यह पक्ष निम्नाङ्कित किसी भी विकल्प को सह नहीं पायेगा अर्थात् तदर्थ कोई भी विकल्प ठहर नहीं पायेगा। विशिष्ट को अनतिरिक्त अर्थात् एक मानने पर जीवत्व, ईश्वरत्व, बन्ध, मोक्षादि का सांकर्य तद्वत् (पूर्ववत्) रहेगा। (अतः विशिष्ट को अनतिरिक्त मानने वाला विकल्प असंगत है)। अब यदि विशिष्ट को अतिरिक्त अर्थात् भिन्न माना जाय तो प्रश्न है कि यह विशिष्ट अनित्य है अथवा नित्य है? प्रथम विकल्प के अनुसार विशिष्ट के विनाशी होने से जीव का बन्ध-मोक्षादि अनुपपन्न रहेगा। और

---

1. क ख ग घ – **विशिष्टस्य**, च छ – **विशिष्ट०।**
2. क घ च छ – **उपन्यस्त०**, ख ग – **उपन्यस्तम्।**
3. ख ग – **अपि (आत्मकल्पनं पश्चात्)** उपलभ्यते, क घ च छ – **अपि** नोपलभ्यते।

द्वितीय विकल्प के अनुसार विशिष्ट को नित्य कहा जाय तो (तथ्य की दुर्घटता के लिये यही कहा जा सकता है कि) वृश्चिक के भय से भागने वाले व्यक्ति का (पूर्वपक्षी का) सर्पमुख के सामने स्खलित हो जाना। अर्थात् विशिष्ट का नित्यत्व पक्ष तो और भी अधिक अनुपपन्न है। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि अनेक विशिष्ट आत्माओं को मान लिया जाय तब तो हमारे (आत्मा के अनेकत्व पक्ष) पर आरोपित गौरवदोष आपके (पूर्वपक्ष के) ऊपर भी चरितार्थ होने लगेगा। इस पर पूर्वपक्षी 'सामान्यैकात्मकल्पना की बात कर सकता है। अतः आत्माद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के आधार पर सामान्यैकात्मकल्पना उचित भी है। किन्तु योगवार्त्तिककार के अनुसार यह न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि विशिष्टात्मक सामान्यात्माओं में '**अत्यन्त भेद**' मानने पर '**तत्त्वमसि**'–इत्यादि अभेदप्रतिपादक वाक्यों की अनुपपन्नता (पूर्ववत्) रहेगी और विशिष्टात्मक सामान्यात्माओं में '**अत्यन्ताभेद**' मानने पर विशिष्ट के अतिरिक्त न हो पाने का विरोध आयेगा, क्योंकि भेदाभेद मानने पर हमारे मत में विशिष्ट का प्रवेश हो जाता है। हमारे (सिद्धान्ती के) अनुसार भी वैधर्म्यलक्षणक भेद का खण्डन करने के लिये जीवेश्वर में सामान्यत्वेन '**अभेद**' स्वीकार किया गया है और जीवेश्वर में विशेषत्वेन '**भेद**' माना गया है। ऐसा ही सांख्याचार्य कपिल ने कहा है–'**नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्**' १/१५४ अर्थात् 'जातिपरक होने से अद्वैतप्रतिपादक श्रुति-स्मृति-वचनों के साथ कोई विरोध नहीं है।' इस प्रकार अवच्छेदवाद का खण्डन हो जाता है।

बालप्रिया–

'**सामान्यरूपेणाभेदौ...भेद इति।**' 'सामान्य' का अर्थ है–जाति अर्थात् एकरूपत्व। अतः उसी में अद्वैत श्रुतियों का तात्पर्य निहित है। आत्मा का अखण्डत्व स्वीकार करने में इन वचनों का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रयोजन नहीं है। निष्कर्षतः आत्मैक्यप्रतिपादक श्रुति-स्मृति-वचनों में '**एक**' आदि शब्द, चिदेकरूपता के अर्थ में प्रयुक्त हैं और '**भेद**' आदि शब्द वैधर्म्यलक्षण भेद के अर्थ में प्रयुक्त हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार प्रतिबिम्बविधया '**आत्मा के अनेकत्व**' पक्ष का खण्डन कर रहे हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रतिबिम्बवादस्त्वत्यन्तं विकल्पासहः, प्रतिबिम्बस्य **तुच्छत्वे प्रतिबिम्बरूपजीवस्य** [1]**ब्रह्मणा सहाभेदानुपपत्तिः, सदसतोरभेदानुपपत्तेः**, अतुच्छत्वे **चात्मनानात्वस्य शब्दभेदेन**

1. क घ च छ – **ब्रह्मणा**, ख ग – **बिम्बरूपब्रह्मणा**।

स्वीकारापत्तिरद्वैताद्यनुपपत्तिश्चेति। अत्र च मूढानामुपर्युपरि कक्षाः ब्रह्ममीमांसाभाष्ये ऽस्माभिर्निराकृताः। तत्त्वमस्यादिवाक्यानि तत्र विस्तरेण व्याख्यातानि, संक्षेपतस्त्वत्रा[1]पि व्याख्यास्यामः।

प्रकृत में प्रतिबिम्बवाद तो प्रश्नों की बौछार (विकल्प) को किसी भी प्रकार सह नहीं सकता है। अर्थात् किसी भी विकल्प में प्रतिबिम्बवाद का टिका रहना सम्भव नहीं है। प्रतिबिम्ब को तुच्छ मानने पर प्रतिबिम्बरूप जीव का ब्रह्म (ईश्वर) के साथ अभेद उपपन्न नहीं हो पायेगा, क्योंकि '**सदसत्**' में अभेद सम्भव नहीं है। किञ्च प्रतिबिम्ब को तात्त्विक (अतुच्छ) मानने पर आत्मा के नानात्व (अनेकत्व) को शब्दभेद से स्वीकार करना पड़ेगा और तब अद्वैतादि (आत्मैक्यप्रतिपादक श्रुतियों) की अनुपपत्ति होगी। इस विषय में ब्रह्ममीमांसाभाष्य में हमारे द्वारा पूर्वपक्षियों (मूढ़ों) के बढ़े-चढ़े प्रश्नों (मूर्खतापूर्ण विकल्पों) का खण्डन किया जा चुका है। वहाँ '**तत्त्वमसि**' आदि वाक्यों की व्याख्या भी विस्तार से की जा चुकी है, संक्षेप से यहाँ भी उसकी व्याख्या करेंगे।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार जीवेश्वर के भेदाभेदपक्ष की सिद्धान्तरूप से व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

न्यायानुग्रहेण बलवद्भिरग्निविस्फुलिङ्गादिभिः सांशदृष्टान्तैर्विरोधादाकाशसूर्यादिदृष्टान्ता अखण्डतापरा न भवन्ति, किं तु ब्रह्मणि सर्वजीवानामविभागलक्षणाभेदस्य सर्वकाल-स्थायितया पारमार्थिकत्वेऽपि यत्किञ्चिदवच्छेदेन फेनबुद्बुदादिवद् अतिभङ्गुरस्य विभाग-लक्षणभेदस्यापारमार्थिकस्यौपाधिकत्वमात्रं प्रतिपादयन्तीति। एतेन भेदनिन्दावाक्यानि प्रकरणभेदैर्विभागवैधर्म्यादिभेदपराण्येव। यच्चोक्तमभेदज्ञानान्मोक्षः श्रूयत इति, तत् परम्परयैव न तु साक्षात्, अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परम[2]स्ति,

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि [3]तत् ।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

इत्याद्यैः श्रुतिस्मृतिवाक्यैर्विवेकाख्यभेदज्ञानस्यैव मुख्यत्वात्;

परमात्मनोर्योगः परमोऽर्थ इतीष्यते ।
मिथ्यैतदन्यद् द्रव्यं हि नैति न द्रव्यतां यतः ।

---

1. ख – **पश्चात्** (अपि पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **अपि** नोपलभ्यते।
2. ख – **परस्य ब्रह्मणो रूपं प्रकृतेः परः व्यक्ताव्यक्ते। तथैवाऽन्ये रूपे कालस्तथा पराम्** (अस्ति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **परस्य....परां** नोपलभ्यते।
3. क ख च छ – **तत्**, ग घ–**यत्**।

इति विष्णुपुराणादिष्वत्यन्ताभेदस्यापि निन्दितत्वाच्चेति। किं बहुना–

अन्यश्च राजन् ! प्रवरस्तथाऽन्यः पञ्चविंशकः।
तत्स्थत्वाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः॥

इति मोक्षधर्मादिष्वन्योन्याभावाविभागरूपतयैव भेदाभेदयोर्व्याख्यातत्वेन भेदवाक्याऽभेदवाक्ययोरर्थनिर्णये नाधुनिककुतर्कापेक्षेति दिक्॥२४॥

न्यायप्रधान युक्तियों से अनुगृहीत होने के कारण अग्नि के विस्फुलिङ्गादिरूप प्रबल सांश दृष्टान्तों के साथ विरोध होने से आकाश, सूर्यादि के दृष्टान्त अखण्डतापरक नहीं हैं, अपितु ब्रह्म में समस्त जीवों का अविभागलक्षणरूप अभेद सभी कालों में अवस्थित रहने से पारमार्थिकत्व होने पर भी श्रुतिवाक्य यत्किञ्चित् अवच्छेद (खण्ड) के द्वारा फेनबुद्बुद् आदि की तरह क्षणशील (अतिभङ्गुर) विभागलक्षणरूप अपारमार्थिक भेद के उपाधित्वमात्र का प्रतिपादन करते हैं। इससे जीवेश्वर के भेदनिन्दापरक वाक्य प्रकरणभेद के द्वारा उनके विभागवैधर्म्यादि भेद को ही बतलाने वाले हैं। और जो 'अभेदज्ञान से मोक्ष होता है', ऐसा सुना जाता है, उसे परम्परया ही मानना चाहिये, न कि साक्षात्। क्योंकि '**अथात आदेशो नेति नेति**' (बृ. आ. २/३/६), **न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति, 'प्रधान...परमं पदम्**' (वि. पु. १/२/१६) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्यों के द्वारा '**विवेक**' संज्ञक भेदज्ञान की ही मुख्यता बतलाई गई है। वाक्यों का अर्थ इस प्रकार हैं–' इससे परे कुछ नहीं हैं', 'इससे अतिरिक्त और कोई 'परतत्त्व' नहीं हैं', 'बुद्धिमान् लोग प्रधान, पुरुष, महदादि व्यक्त काल से परे जिस परमतत्त्व को देखते हैं, वही भगवान् विष्णु का शुद्ध परम पद है।' इसी कारण '**परमात्मा...द्रव्यतां यतः**' (वि. पु. २/१४/३७) इत्यादि विष्णुपुराणादि में (जीवेश्वर के) अत्यन्ताभेद की निन्दा भी की गई है। इससे अधिक क्या कहा जा सकता है–'**अन्यश्च राजन्!...एवेति साधवः**' इस प्रकार मोक्षधर्मादि वाक्यों में तो अन्योन्याभावाविभागरूप से ही भेदाभेद की व्याख्या की गई है। इससे भेदवाक्य और अभेदवाक्य–इन दोनों प्रकार के वाक्यों का अर्थनिर्णय करने में आधुनिक कुतर्कों की आवश्यकता ही नहीं है। श्लोक का अर्थ है–'हे राजन्! विद्वान् तथा दूसरे लोग पच्चीस तत्त्वों को मानते हैं, किन्तु जो इन पच्चीस तत्त्वों को एक ही ब्रह्म तत्त्व में अवस्थित मानते हैं, वे साधु (तत्त्वज्ञ) लोग पदार्थ को एकरूप ही देखते हैं॥२४॥

व्यासभाष्यम्

[1]**किं च–**

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ मं य र – **किं च** १/२५ सूत्रस्य अवतरणिका, ब – **किं च** १/२४ सूत्रस्य टीका।

ईश्वर की उत्कृष्टता में आगे बतलाते हैं—

योगसूत्रम्

तत्र[1] निरतिशयं [2]सर्वज्ञबीजम्॥२५॥

ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा (निरतिशयता) को प्राप्त होता है॥२५॥

व्यासभाष्यम्

यदिदमतीतानागत[3]प्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमे[4]तद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात् [5]परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थम्, इति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्नि[6]र्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति॥२५॥

जो यह किसी का अतीतविषयक, किसी का भविष्यविषयक, किसी का वर्तमानविषयक, किसी का एकविषयक, किसी का अनेकविषयक, किसी का स्थूलविषयक, किसी का सूक्ष्मविषयक, किसी का स्वल्प और किसी का अधिक ज्ञान है—यही सर्वज्ञता का बीज है। यह ज्ञान क्रमशः बढ़ता हुआ जिसमें निरतिशयरूप अन्तिम सीमा को प्राप्त होता है, वह 'सर्वज्ञ' (ईश्वर) कहलाता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा—सर्वज्ञता के कारणभूत ज्ञान की निरतिशयरूप काष्ठाप्राप्ति होती है।

हेतु—सातिशय होने से।

उदाहरण—'परिमाण' के समान।

उपनय—जहाँ ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति (अन्तिम विश्रान्ति) है, वह सर्वज्ञ है।

---

1. **तच्च**—इति पाठान्तरम्।
2. **सर्वज्ञत्वम्**—इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च झ थ द ध न प फ ब भ म य र — **प्रत्युत्पन्न०**, छ त — **प्रत्युत्पन्नम्**।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य — **एतद्विवर्धमानम्**, घ प फ म र — **एतद्धि वर्धमानम्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र — **परिमाणवत्**, थ — **परिणामिवत्**।
6. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र — **निर्माण०**, छ — **निर्वाण०**।

निगमन—और वही पुरुषविशेष 'ईश्वर' है।

अनुमानप्रमाण (किसी पदार्थ के) सामान्यरूप का बोध कराने में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाता है, (उस पदार्थ के) विशेषों का बोध कराने में वह समर्थ नहीं होता है। इसलिये ईश्वर के नाम इत्यादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से करना चाहिये। उस ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर—'ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से कल्पप्रलयों और महाप्रलयों में (फँसे हुए) सांसारिक पुरुषों का उद्धार करूँगा—'इस प्रकार की कृपा ही प्रयोजन है। वैसा ही कहा भी गया है—परमर्षि भगवान् कपिल ने योगबल से निर्मित विशुद्धचित्त का आश्रय लेकर दयापरवश हो आसुरि नाम के जिज्ञासु शिष्य को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था॥२५॥

तत्त्ववैशारदी

एवमस्य ज्ञानक्रियाशक्तौ शास्त्रं प्रमाणमभिधाय ज्ञानशक्तावनुमानं प्रमाणयति—किञ्चेति। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। व्याचष्टे—यदिदमिति। बुद्धिसत्त्वावरकतमोऽपगमतारतम्येन यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नानां प्रत्येकं च समुच्चयेन च वर्तमानानामतीन्द्रियाणां ग्रहणम्, तस्य विशेषणमल्पं बह्विति, सर्वज्ञबीजं कारणम्। कश्चित्किञ्चिदेवातीतादि गृह्णाति, कश्चिद्बहु, कश्चिद्बहुतरम्, [1]कश्चिद्बहुतममिति ग्राह्यापेक्षया ग्रहणस्याल्पत्वं बहुत्वं कृतम्। एतद्धि वर्धमानं यत्र निष्क्रान्तमतिशयात्स सर्वज्ञ इति। तदनेन प्रमेयमात्रं कथितम्।

इस प्रकार (पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा) ईश्वर की निरतिशायिनी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के सिद्ध्यर्थ शास्त्रीयप्रमाण प्रस्तुत करके अर्थात् आगमप्रमाण द्वारा ईश्वर के सामर्थ्य की निरतिशयता को सिद्ध करके (सम्प्रति) ईश्वर की ज्ञानशक्ति को (ज्ञानक्रियाशक्ति के उत्कर्ष को) अनुमानविधया सिद्ध करने के लिये भाष्यकार सूत्र को **'किञ्चेति'** से उठाते **हैं।** सूत्र है—**'तत्रेति।'** भाष्यकार (सूत्र की) व्याख्या करते हैं—**'यदिदमिति।'** बुद्धिसत्त्व को आच्छादित करने वाले तमोगुण की क्षीणता के तारतम्य (तुलनात्मक अनुपात) से अतीत अनागत तथा वर्तमानरूप से विद्यमान् इन्द्रियातीत (अतीन्द्रिय) पदार्थों के विषय में किसी को एक काल से संबन्धित इन्द्रियातीत पदार्थ का ज्ञान तथा किसी को समुच्चितरूप से त्रैकालिक इन्द्रियागोचर पदार्थ का ज्ञान, किसी को वर्तमानकालिक अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होता है और ज्ञान भी किसी को **'अल्प'** तथा किसी को **'अधिक'** होता है—ज्ञान की यही तरतमता सर्वज्ञ का **'बीज'** अर्थात् कारण अर्थात् नियामक है। किसी (योगी) को

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **कश्चिद्बहुतमम्** उपलभ्यते, थ द क – **कश्तिद्बहुतमम्** नोपलभ्यते।

अतीतादि विषय का अल्प ज्ञान होता है, किसी को उससे अधिक, किसी को अधिकतर तथा किसी को अधिकतम ज्ञान होता है–इस प्रकार '**ग्राह्य**' अर्थात् विषय की दृष्टि से (ज्ञान के सविषयक होने से) ज्ञान का अल्पत्व (अनधिकत्व) और बहुत्व (प्रचुरत्व, पुष्कलत्व) निर्धारित किया जाता है। यही ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसमें अतिशयता (अधिकता) को अतिक्रान्त कर जाता है अर्थात् निरतिशयरूपकाष्ठा को प्राप्त होता है, वह '**सर्वज्ञ**' कहलाता है। इससे प्रमेयमात्र को बतलाया गया है अर्थात् प्रमेयमात्र जिसके ज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) का विषय होता है, उसे '**सर्वज्ञ**' कहते हैं। शब्दान्तर में '**सर्वज्ञ**' के ज्ञान का कोई अविषय नहीं रहता है।

बुद्धिसत्त्व के आवरक तमोगुण के अभिभव के तारतम्य से ही ज्ञान '**स्वल्प**' अथवा '**अधिक**' होता है–इस युक्ति से पूर्वपक्षी को ज्ञान के निरतिशयरूप तक पहुँचने में सन्देह हो सकता है। अतः ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति को भाष्यकार अनुमानप्रयोग से सिद्ध करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अत्र प्रमाणयति–अस्तीति[1]। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्येति साध्यनिर्देशः। निरतिशयत्वं काष्ठा, यतः परमतिशयवत्ता नास्तीति। तेन नावधिमात्रेण सिद्धसाधनम्। सातिशयत्वादिति हेतुः। यद्यत्सातिशयं तत्तत्सर्वं निरतिशयम्, यथा कुवलयामलकबिल्वेषु सातिशयं महत्त्वमात्मनि निरतिशयमिति व्याप्तिं दर्शयति–[2]परिमाणवदिति। न च गरिमादिभिर्गुणैर्व्यभिचार इति सांप्रतम्। न खल्ववयवगरिमातिशयी गरिमावयविनः, किं त्वापरमाणुभ्य आऽन्त्यावयविभ्यो यावन्तः केचन तेषां सर्वेषां[3] प्रत्येकवर्तिनो गरिम्णः समाहृत्य गरिमवर्धमानाभिमानः। ज्ञानं तु न प्रतिज्ञेयं समाप्यत इत्येकद्विबहुविषयतया युक्तं सातिशयमिति न व्यभिचारः। उपसंहरति–यत्र काष्ठेति।

ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति को भाष्यकार प्रमाणित करते हैं–'**अस्तीति**।' '**अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य**' अर्थात् सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा को प्राप्त करता है–इतने अंश से (भाष्यकार ने) साध्य का निर्देश किया है अर्थात् '**काष्ठाप्राप्ति**' यह साध्य है। '**काष्ठा**' का अर्थ है–निरतिशयत्व। जिससे अधिक अतिशयवत्ता (प्रचुरता) न हो अर्थात् जिससे अधिक अतिशयवान् पदार्थ न हो वही '**निरतिशय**' है। अतः '**अवधिमात्र**' ही '**काष्ठा**' शब्द का अभिप्रेत अर्थ नहीं है, अन्यथा अवधि सभी पदार्थों

---

1. थ द ध – **अस्तीति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **अस्तीति** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न – **परिमाणवत्**, त – **परिणामवत्**।
3. ख घ ज झ त न – **सर्वेषां** उपलभ्यते, क ग च छ थ द ध – **सर्वेषां** नोपलभ्यते।

में सिद्ध होने से उसे पुनः सिद्ध करने पर सिद्धसाधनदोष उपस्थित होगा। (यहाँ तो अवधि की चरमसीमा को सिद्ध करना है, जो असिद्ध होने से साध्य बन सकता है। अतः '**सिद्धसाधन**' दोष की सम्भावना यहाँ नहीं है)। '**सातिशयत्वात्**'—इस पद के द्वारा भाष्यकार ने ('**काष्ठाप्राप्तिः**'—साध्य के) हेतु का बोध कराया है। **यद्यत् सातिशयं तत्तत्सर्वं निरतिशयम्**'—(**अन्वयव्याप्ति**)-अर्थात् जो-जो सातिशय होता है वह-वह निरतिशयरूप काष्ठा अर्थात् पराकाष्ठा को अवश्य प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ— बेर, निम्बु तथा बेलफल में विद्यमान परिमाणरूप 'सातिशयता' परममहत् परिमाण वाले आत्मा में '**निरतिशयता**' को प्राप्त करती है। इस व्याप्ति को भाष्यकार '**परिमाणवदिति**' (उदाहरण) द्वारा प्रदर्शित करते हैं अर्थात् महत् इत्यादि परिमाण के समान।

शङ्का—उपरिनिर्दिष्ट '**सातिशयत्वात्**' हेतु में 'व्यभिचार' (साध्य के न होने पर भी हेतु की विद्यमानतारूप हेत्वाभास की शङ्का करते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि) गरिमादि गुणों के कारण गुरुत्वादियों में '**सातिशयत्व**' (हेतु) के विद्यमान होने पर भी काष्ठाप्राप्तिरूप (निरतिशयत्व) साध्य का अभाव रहता है। अतः '**सातिशयत्व**' हेतु व्यभिचरित है।

समाधान—यह (हेतु में व्यभिचार दोष की कल्पना) न्यायसंगत नहीं है। गरिमारूप अवयवी का अवयवरूपगरिमातिशय नहीं होता है, किन्तु परमाणु से लेकर अन्तिम अवयविपर्यन्त जितने भी गरिमावयवी हैं, उन सबमें से प्रत्येक गरिमावयवी में विद्यमान गरिमा को समाहृत करके गरिमा के वर्धमान अर्थात् उसकी वृद्धि का अभिमानमात्र होता है। किन्तु ज्ञान किसी एक विषय में समाप्त नहीं होता है। वह तो एकविषयक, द्विविषयक तथा बहुविषयक होने से सातिशययुक्त है। अतः '**सातिशयत्व**' को व्यभिचरित हेतु नहीं समझना चाहिये। भाष्यकार विषय का उपसंहार करते हैं—'**यत्र काष्ठेति**।' जहाँ जाकर ज्ञान की '**काष्ठाप्राप्ति**' (विश्रान्ति) होती है, वह '**सर्वज्ञ**' है। और यह '**सर्वज्ञ**' पुरुषविशेष '**ईश्वर**' है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार बौद्धाचार्यों की ओर से '**सर्वज्ञत्व**' की मान्यता को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

ननु सन्ति बहवस्तीर्थंकरा बुद्धार्हतकपिलर्षिप्रभृतयः। तत्कस्मात्त एव सर्वज्ञा न भवन्त्यस्मादनुमानादित्यत आह—सामान्येति। कुतस्तर्हि तद्विशेषप्रतिपत्तिरित्यत आह— तस्येति। बुद्धादिप्रणीतश्[1]चागमाभासो न त्वागमः, सर्वप्रमाणबाधितक्षणिकनैरात्म्यादि-मार्गोपदेशकत्वेन विप्रलम्भकत्वादिति भावः। तेन श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणलक्षणादागमत

1. क ग घ च छ ज झ त न — **च** उपलभ्यते, ख थ द ध — **च** नोपलभ्यते।

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति अस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपाया इत्यागमः। तस्मात्संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिः, संज्ञाविशेषः शिवेश्वरादिः श्रुत्यादिषु प्रसिद्धः। आदि[1]पदेन षडङ्गतादशाव्ययते संगृहीते। यथोक्तं वायुपुराणे–

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरंगानि महेश्वरस्य॥

तथा–

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे॥

शङ्का–बुद्ध, अर्हत, कपिलर्षि आदि जो अनेक तीर्थंकर हैं, उन्हें ही '**सर्वज्ञ**' मान लिया जाय?

समाधान–अनुमानप्रयोग से किस कारण बौद्धादि को ही 'सर्वज्ञ' नहीं कहा जा सकता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**सामान्येति।**' अनुमानप्रमाण किसी पदार्थ के सामान्यमात्र का ही बोध कराते हुए उपक्षीण हो जाता है। वह पदार्थगत विशेष का बोध कराने में समर्थ नहीं होता है। अतः 'बुद्ध, अर्हत आदि कोई व्यक्तिविशेष ईश्वर है'–ऐसा अनुमान से नहीं समझा जा सकता है।

शङ्का–यदि अनुमान में '**विशेष**' अर्थ का बोध कराने की शक्ति ही नहीं है, तो फिर कैसे पदार्थगत विशेषरूप अर्थ (ईश्वरत्वसामान्य के बुद्ध, अर्हत आदि विशेष) का बोध होगा?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तस्येति।**' ईश्वर के नाम इत्यादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से करना चाहिये। किन्तु बुद्धादिप्रणीत शास्त्र '**आगम**' नहीं, अपितु '**आगमाभास**' हैं, क्योंकि उनके वक्ता प्रमाणमात्र (सकल प्रमाणों) से बाधित क्षणिक और नैरात्मवाद के उपदेशक होने से भ्रम, प्रमादादि दोषयुक्त हैं। अतः बुद्धि को श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणरूप जिस शास्त्र से अभ्युदय और निःश्रेयस के उपाय ज्ञात होते हैं, वे ही '**आगम**' पदवाच्य होते हैं। ऐसे आगमशास्त्र से 'ईश्वर' के संज्ञादिविशेष का ज्ञान होता है। श्रुत्यादि शास्त्रों में '**पुरुषविशेष**' के '**शिव**', '**ईश्वर**' आदि संज्ञाविशेष प्रसिद्ध हैं। भाष्यस्थ '**संज्ञादि**' पद में प्रयुक्त '**आदि**' शब्द से ईश्वर के छह '**अङ्गों**' तथा दश '**अव्ययों**' का संग्रह होता है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है–'**सर्वज्ञता...महेश्वरस्य**' अर्थात् "शास्त्रवेत्ता" लोग व्यापक (विभु) महेश्वर (परमेश्वर) के छह '**अङ्ग**' बताते हैं। वे छह '**अङ्ग**' हैं–सर्वज्ञता (कालत्रय में निखिल पदार्थों को

1. क ग थ द ध – **शब्देन**, ख घ च छ ज झ त न – **पदेन**।

यथावत् जानना), तृप्ति (अप्राप्तवस्तुविषयक प्राप्ति की इच्छा का अभाव अर्थात् यच्च-यावत् वस्तु की प्राप्ति), अनादिबोध (स्वभावसिद्ध नित्यज्ञान), स्वतन्त्रता (कार्य करने में अपराधीनता), नित्य अलुप्तशक्ति (किसी काल में सामर्थ्य से रहित न होना) तथा अनन्तशक्ति।' महेश्वर के दश 'अव्ययों' का प्रतिपादक वचन है– **'ज्ञानं...शङ्करे'** अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व (सृष्टि-कर्तृत्व), आत्मसम्बोध (निजरूप का यथार्थज्ञान) तथा अधिष्ठातृत्व (प्रेरणा द्वारा माया की अध्यक्षता)–ये दश 'अव्यय' शंकर भगवान् में सर्वदा निहित हैं।'

बालप्रिया–

'स्वतन्त्रता'–जीव के कर्मानुसार 'कर्मफलभोग को प्रदान करते हुए भी ईश्वर का स्वातन्त्र्य व्याहत नहीं होता है। जिस प्रकार अमात्य की सहायता से कार्य करने वाले राजा का स्वातन्त्र्य बाधित नहीं होता है।

'नित्यमलुप्तशक्तिः, अनंतशक्तिश्च'–महेश्वर के ये दो पृथक् अङ्ग इसलिये बतलाये गये हैं, क्योंकि महेश्वर की किसी एक शक्ति का भी लोप न होने से **'अलुप्तशक्तित्व'** और शक्ति का आनन्त्य होने से 'अनन्तशक्ति' ये दो पृथक्-पृथक् **'अङ्ग'** (स्थितियाँ) हैं। अतः इन दो अंगों का पृथक् निर्देश किया गया है।

'नित्यम्'–इस पद का अन्वय, ईश्वर के अंगबोधक छहों पदों के साथ भी किया जा सकता है।

'अव्ययानि'–यहाँ **'अव्यय'** शब्द **'स्वरूप'** का बोधक है। अर्थात् ज्ञानादि द्वारा शंकर का स्वरूप प्रतिपादित है, न कि आकस्मिक धर्म।

ईश्वर सृष्टि-रचना के लिये क्यों प्रवृत्त होता है? यह विचार पूर्वपक्षी के एतत्सम्बन्धी तीन विकल्पों के साथ प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–नित्यतृप्तस्य भगवतो वैराग्यातिशयसंपन्नस्य स्वार्थे तृष्णासंभवात्कारुणिकस्य च सुखैकतान[1]जनसर्जनपरस्य दुःखबहुलजीवलोकजननानुपपत्तेरप्रयोजनस्य च प्रेक्षावतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः क्रियाशक्तिशालिनोऽपि न जगत्क्रियेत्यत आह–तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपीति। भूतानाम् प्राणिनामनुग्रहः प्रयोजनम्। शब्दाद्युपभोगविवेकख्यातिरूपकार्यकरणात्किल [2]चरितार्थं चित्तं निवर्तते। ततः पुरुषः केवली भवति। अतस्तत्प्रयोजनाय कारुणिको विवेकख्यात्युपायं कथयति। तेनाचरितार्थत्वाच्चित्तस्य जन्तूनीश्वरः पुण्यापुण्यसहायः सुखदुःखे भावयन्नपि नाकारुणिकः।

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **जन०** उपलभ्यते, द – **जन०** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ ज झ त द न – **चरितार्थं** उपलभ्यते, ख थ ध – **चरितार्थं** नोपलभ्यते।

शङ्का–(महेश्वर के '**अङ्ग**' एवं '**अव्यय**'बोधक वचन के अनुसार) निरतिशय वैराग्यसम्पन्न नित्यतृप्त=सर्वथा संतृप्त भगवान् में तृष्णाभाव होने के कारण आत्मप्रयोजनार्थ (स्वार्थ)–सृष्टि-रचना में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है–यह प्रथम स्थिति है। यदि ईश्वर द्वारा आनुकम्पिक (करुणावशात्) जगत् की सृष्टि मानें तो ईश्वर द्वारा दुःखबहुल जीवलोक की उत्पत्ति करना असंगत होगा, क्योंकि कृपालु पुरुष की प्रवृत्ति सुखपरक होती है (दुःखपरक नहीं)–यह द्वितीय स्थिति है। यदि ईश्वर निष्प्रयोजन जगत् की सृष्टि करता है, ऐसा माना जाय तो यह भी असंगत है क्योंकि प्रेक्षावान् (बुद्धिमान्) की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन हो ही नहीं सकती है और क्रियाशक्तिसम्पन्न व्यक्ति भी निरभिप्राय जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता है–यह तृतीय स्थिति है। (इस प्रकार इन तीन स्थितियों में से कोई भी स्थिति ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना में नियामक न होने से पूर्वपक्षी का प्रश्न अनुत्तरित है)

समाधान–इस पर भाष्यकार दुःखबहुल सृष्टि का कारण बतलाते हुए पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत द्वितीय स्थिति (विकल्प) का समर्थन करते हुए कहते हैं–'**तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपीति**।' उस नित्यतृप्त ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ (आत्मानुग्रह) न रहते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा ही सृष्टि-रचना में प्रयोजन है। ईश्वर किस प्रकार तात्त्विक सृष्टि द्वारा भूतानुग्रह करता है, इसे तत्त्ववैशारदीकार संकेतित करते हैं–पुरुषं के प्रति शब्दादि विषय का '**भोग**' रूप कार्य तथा प्रकृति-पुरुष का '**भेदज्ञान**' रूप मोक्ष कार्य (प्रयोजन) को सिद्ध करके कृताधिकार (समाप्ताधिकार) चित्त निवृत्त हो जाता है। अर्थात् अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है। और जिससे औपाधिक **भोगशून्य पुरुष** '**केवली**' हो जाता है। अतः पुरुष (भक्त) को केवलत्व (मोक्ष) प्राप्त हो, इस उद्देश्य से करुणालय प्रभु मोक्ष के हेतुभूत विवेकख्यातिरूप साधन का उपदेश करता है। इससे चित्त के अचरितार्थ रहने पर प्राणियों को उनके (पूर्वजन्मीय) पुण्यात्मक और अपुण्यात्मक कर्माशय के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव कराता हुआ भी ईश्वर अकारुणिक (कठोर) नहीं (कहा जा सकता है) है।

बालप्रिया–

'**स्यादेतत् नित्यतृप्तस्य**'...–पूर्वपक्षी द्वारा उत्थित शंका का स्पष्टीकृत रूप इस प्रकार है–यह शंका ईश्वरकर्तृक जगत् पर आक्षेप (दोषारोपण) करने वाले निरीश्वरवादी की ओर से उठाई गई है। शंका के तीन चरण (विकल्प) हैं और शंका का विषय है–**ईश्वरप्रवृत्ति**।' ईश्वर-प्रवृत्ति (१) क्या आत्मप्रयोजनोपयोगिनी है? (२) अथवा करुणावशात् परप्रयोजनोपयोगिनी है? अथवा (३) उन्मत्तवत्

प्रयोजनशून्या है? इन तीनों विकल्पों की असम्भावना को परिपुष्ट करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है–

(१) ईश्वरप्रवृत्ति को आत्मप्रयोजनोपयोगिनी नहीं माना जा सकता है। अन्यथा **'सर्वज्ञता तृप्तिः...'** वचन द्वारा उक्त ईश्वर का परितृप्तत्व बाधित होगा। इस प्रथम विकल्प की असम्भवता तत्त्ववैशारदी में **'नित्यतृप्तस्य'** द्वारा प्रतिपादित हुई है।

(२) ईश्वरप्रवृत्ति को करुणावशात् परप्रयोजनोपयोगिनी भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सृष्टि दुःखबहुला है। इस द्वितीय विकल्प की असम्भवता तत्त्ववैशारदी में **'कारुणिकस्य च'** इत्यंश द्वारा संकेतित हुई है।

(३) ईश्वरप्रवृत्ति को मद्य सेवन करने वाले विक्षिप्त व्यक्ति के समान भ्रमवशात् भी नहीं माना जा सकता है। अन्यथा भ्रान्त ईश्वर में सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः विचारशील व्यक्ति द्वारा ही जगदुत्पत्ति होने से तथा प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति स्व-पर के प्रति हितप्राप्ति और अहितपरिहारोद्देश्यक होने से निष्प्रयोजन नहीं हो सकती है। इस तृतीय विकल्प की असम्भवता तत्त्ववैशारदी में **'अप्रयोजनस्य'** इत्यंश द्वारा कथित है।

'ईश्वरः...नाकारुणिकः'–तत्त्ववैशारदीकार ने दुःखबहुल सृष्टि का कारण बतलाते हुए द्वितीय विकल्प के अनुसार **'परकल्याण'** को ईश्वरप्रवृत्ति के रूप में उद्घोषित किया है।

दुःखबहुल सृष्टि से मुक्त होने के लिये **'विवेकख्याति'** उपाय का विशदीकृत रूप प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

विवेकख्यात्युपायकथने द्वारमाह–ज्ञानधर्मोपदेशेनेति। ज्ञानं च धर्मश्च ज्ञानधर्मौ, तयोरुपदेशेन ज्ञानधर्मसमुच्चयाल्लब्धविवेकख्यातिपरिपाकात्कल्पप्रलये ब्रह्मणो दिनावसाने यत्र सत्यलोकवर्जं जगदस्तमेति। महाप्रलये ससत्यलोकस्य ब्रह्मणोऽपि निधने संसारिणः [1]स्वकारणगामिनोऽतस्तदा मरणदुःखभाजः। कल्पेत्युपलक्षणमन्यदाऽपि। स्वार्जितकर्म[2]पाकवशेन जन्ममरणादिभाजः पुरुषानुद्धरिष्यामीति कैवल्यं प्राप्य पुरुषा उद्धृता भवन्तीत्यर्थः। एतच्च करुणाप्रयुक्तस्य ज्ञानधर्मोपदेशनं कापिलानामपि सिद्धमित्याह–तथा चोक्तमिति। पञ्चशिखाचार्येण [3]इति शेषः। आदिविद्वान् कपिल इति। आदिविद्वानिति पञ्च-

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **स्व**0, उपलभ्यते, थ द ध – **स्व**0, नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **पाक**0 उपलभ्यते, थ द ध – **पाक**0 नोपलभ्यते।
3. न – **इति शेषः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज छ ज झ त थ द ध – **इति शेषः** नोपलभ्यते।

शिखाचार्यवचनमादिमुक्तस्वसंतानादिगुरुविषयं न त्वनादिमुक्तपरमगुरुविषयम्। आदिमुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादिविद्वान्मुक्तः स एव च गुरुरिति। कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयत इति। कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयंभूः हिरण्यगर्भः। तस्यापि सांख्योगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान्कपिलो [1]विष्णुः स्वयंभूरिति भावः। स्वायंभुवानां त्वीश्वर इति भावः॥२५॥

(मोक्ष-प्राप्ति के) उपायरूप से कथित विवेकख्याति के मध्यवर्ती व्यापार (द्वार) को भाष्यकार बतलाते हैं–'**ज्ञानधर्मोपदेशेनेति**।' '**ज्ञानधर्मोपदेशेन**'–पद का विग्रह इस प्रकार है–'**ज्ञानं च धर्मश्च ज्ञानधर्मौ, तयोरुपदेशेन**' अर्थात् ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से अविप्लुतविवेकख्याति प्राप्त होती है। फलतः (अविप्लुतविवेकख्याति से) ब्रह्मा के दिनावसानरूप '**कल्पप्रलय**' में सत्यलोक को छोड़कर समस्त जगत् लय को प्राप्त होता है। सत्यलोकसहित ब्रह्म (की ईश्वरोपाधि) के लय (विलीन) रूप महाप्रलय में अर्थात् कल्पप्रलय और महाप्रलय में फँसे हुए संसारी लोग अपने कर्मानुसार आवागमन करते हुए जन्ममरणादिरूप दुःख का अनुभव करते हैं। भाष्य में '**कल्प**' शब्द का प्रयोग उपलक्षणमात्र (गौण) है। इससे प्रलय के अवान्तरभेदों का भी संग्रह होता है। इस प्रकार अपने द्वारा किये गये सञ्चित कर्मफल के अनुसार जन्ममरणादिजन्य दुःख का भोग करने वाले पुरुषों का उद्धार करूँगा–इस प्रकार '**ईश्वरप्रवृत्ति**' में भूतानुग्रह प्रयोजन है। कैवल्य को प्राप्त करके पुरुष (संसाररूप पंक से उन्मज्जित) कृतकृत्य हो जाता है, यही संसारी पुरुष के उद्धार का स्वरूप है। करुणायुक्त ईश्वर का कपिल आदि ऋषियों के प्रति भी ज्ञानधर्मोपदेश सिद्ध है। अर्थात् करुणावशात् ईश्वर ने कपिल आदि महर्षियों को ज्ञानधर्म का उपदेश किया, इसे बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**तथा चोक्तमिति**।' जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने '**आदिविद्वान्...तन्त्रं प्रोवाचेति**'–यह वचन कहा है। पञ्चशिखाचार्य के वचन में उक्त '**आदिविद्वान्**' पद का अर्थ है–कपिल। इस प्रकार पञ्चशिखाचार्य ने कपिल को 'आदिविद्वान्' कहा है। पञ्चशिखाचार्य का '**आदिविद्वान् ...**' यह वचन आदिमुक्त स्वसन्तानादि के गुरु के विषय में है, न कि अनादि मुक्त परमगुरु ईश्वर के विषय में। आदिमुक्त अर्थात् कदाचित् मुक्त विद्वानों में कपिल (सांख्यसूत्र के प्रणेता) 'आदिविद्वान्' अर्थात् मुक्त हैं, अतः वे ही हमारे 'गुरु' भी हैं। ईश्वर के अनुग्रह से ही उत्पन्न हुए आदिकपिल को ज्ञान-प्राप्ति हुई थी, ऐसा सुना जाता है। विष्णु के अवतारविशेष के रूप में कपिल विख्यात हैं। अर्थात् कपिल को विष्णु का अवतार माना जाता है। '**हिरण्यगर्भ**' स्वयंभू हैं। वेद में सुना जाता है कि इन्हें

---

1. क घ च ज झ त – **न (विष्णुः पश्चात्)** उपलभ्यते, छ थ द ध न – **न (विष्णुः** पश्चात् नोपलभ्यते।

सांख्ययोगशास्त्र का ज्ञान प्राप्त था। यही हिरण्यगर्भ **'ईश्वर'** हैं, आदिविद्वान् कपिल हैं, विष्णु हैं तथा स्वयंभू है। यही ईश्वर स्वायंभुवों के भी ईश्वर हैं–ऐसा सूत्रार्थ पर्यवसित होता है॥२५॥

बालप्रिया–

'आदिविद्वान्...' पञ्चशिखाचार्य के वचन का अर्थ है–**'आदिविद्वान्'** अर्थात् सृष्टि के आदि में समुद्भूत स्वयम्भू हिरण्यगर्भ ने निर्माणचित्त को अर्थात् योगबल से स्वनिर्मित चित्त को अपने अंशरूप से प्रवेश कराके (अर्थात् निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर) कपिलसंज्ञक ऋषि बनकर करुणावशात् जिज्ञासु आसुरि के प्रति मोक्षशास्त्र का उपदेश किया।' **तन्त्यते=व्युत्पाद्यते मोक्षसाधनमनेन इति तन्त्रम्'**–इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'तन्त्र'** शब्द का अर्थ है–मोक्षशास्त्र। पञ्चशिखाचार्य के उक्त वचन में **'तन्त्रम्'** के स्थान पर **'तत्त्वम्'** ऐसा पाठभेद भी उपलब्ध होता है।

'कपिलस्याऽपि जायमानस्य'–इत्यंश द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने आदिमुक्त कपिल के अनादिमुक्तत्वाभाव को सहेतुक सूचित किया है। क्योंकि **'ऋषिम्प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत्'**–इस श्रुति द्वारा जायमान कपिल में ज्ञान-प्राप्ति सुनी जाती है। अतः कपिल **'आदिविद्वान्'** अर्थात् आदिमुक्त ही हैं। वे अनादि नहीं हो सकते हैं।

'अवतारविशेषः प्रसिद्धः'–स्मृति में कपिल को विष्णु का पञ्चम अवतार बतलाया गया है। तदर्थ स्मृति है–**'पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्ण्णयम्'**। कल्पभेद से महाभारत में सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल को **'अग्नि'** कहा गया है। तदर्थ वचन है–**'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः'**। कल्पभेद से कहीं-कहीं कपिल को **'ब्रह्मपुत्र'** नाम से स्मरण किया गया है।

'स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भः'....–वाक्य द्वारा एक विचार प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है–

शङ्का–'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै', 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं', 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्–' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में हिरण्यगर्भ को ही **'आदिविद्वान्'** कहा गया है। अतः कपिल को कैसे **'आदिविद्वान्'** कहा जा सकता है? अर्थात् कपिल **'आदिविद्वान्'** नहीं हैं।

समाधान–उक्त शंका का समाधान यह है कि जो आदिविद्वान् स्वयम्भू हिरण्यगर्भ हैं, उन्होंने ही कपिल होकर 'आसुरि' के प्रति सांख्यशास्त्र का उपदेश किया है–यह बतलाने में ही श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य है। और जहाँ **'न स्वयम्भूः'** ऐसा पाठभेद मिलता है, वहाँ भी हिरण्यगर्भ के 'आदिविद्वान्' होते हुए भी **'विद्वत्'** पद से कपिल का ही ग्रहण होता है, न कि **स्वयम्भु** का–ऐसा अर्थ समझना चाहिये। भास्कराचार्य

प्रभृति व्याख्याकारों ने तो '**ऋषिं प्रसूतं कपिलम्**'–श्रुत्युक्त '**कपिल**' पद से भी '**हिरण्यगर्भ**' का ही ग्रहण किया है, क्योंकि उनके अनुसार '**यो ब्रह्माणं–**' इत्यादि अनेक पूर्वोत्तर मन्त्रों में ऐसा संवाद मिलता है॥२५॥

योगवार्त्तिकम्

पुरुषान्तरेभ्य ईश्वरस्य निरतिशयसार्वज्ञ्यरूपविशेषान्तरं प्रतिपादयन् सूत्रमवतारयति–किं चेति। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। बीजं लिङ्गं सर्वज्ञानुमापकं वक्ष्यमाणं [1]यत्सातिशयजातीयं ज्ञानं तत् तत्रेश्वरे निरतिशयमित्यर्थः। सार्वज्ञ्यबीजमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। यत्तु बीजं कारणम्, तथा च [2]सर्वज्ञत्वकारणं सत्त्वमिति तस्यार्थ इति कश्चित्, तन्न; ज्ञानस्य बह्वल्पतयोरेव बीजतयाऽत्र भाष्यकारैर्व्याख्यास्यमानत्वादिति।

अन्य पुरुषों से ईश्वर के निरतिशय सार्वज्ञ्यरूप वैलक्षण्य को बतलाते हुए भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–'**किं चेति**।' अर्थात् ईश्वर में और क्या विशेषता है?–सूत्र **है**–'**तत्रेति**।' सूत्र में प्रयुक्त '**बीज**' शब्द का अर्थ '**लिङ्ग**' है। आगे प्रतिपादित होने वाला यह '**लिङ्ग**' (ईश्वर में) सर्वज्ञता का अनुमापक (अनुमान कराने वाला) है। अर्थात् जो सातिशयजातीय ज्ञान है, वह ईश्वर में 'निरतिशय' है, यह सूत्र का अर्थ है। सूत्र में जहाँ-कहीं अर्थात् योगसूत्र के जिन संस्करणों में '**सर्वज्ञबीजम्**' के स्थान पर '**सार्वज्ञ्यबीजम्**' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ भी सूत्र का अर्थ एक ही रहता है, अर्थात् सूत्रार्थ में अन्तर नहीं आता है।

मतान्तर का उपस्थापन–योगवार्त्तिककार '**कश्चित्**' पद के द्वारा व्यासभाष्य के पूर्ववर्ती टीकाकार के मत को उठाते हैं–कोई सूत्रस्थ '**बीज**' शब्द का अर्थ '**कारण**' करते हैं और इस प्रकार 'प्रकृष्टसत्त्व' को सर्वज्ञत्व का कारण बतलाते हैं।

मतान्तर का खण्डन–यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृत में भाष्यकार ज्ञान की बहुलता और अल्पता को ही सर्वज्ञ के हेतु (बीज) रूप से व्याख्यात करेंगे।

बालप्रिया–

'**कश्चित्**'–पद के द्वारा विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र की ओर से संकेत किया है।

'**सर्वज्ञबीजम्**'–**मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–वाचस्पति मिश्र ने बुद्धिसत्त्व के आवरकभूत तमोगुण के अपगततारतम्य की चरमावधि को अर्थात् सर्वथा तमोगुणशून्य बुद्धिसत्त्व को ही '**पुरुषविशेष**' की सर्वज्ञता का 'बीज' (कारण) बतलाया है। तदर्थ तत्त्ववैशारदी का वाक्य स्मर्तव्य है–'**बुद्धिसत्त्वावरकतमोऽपगमतारतम्येन...सर्वज्ञबीजं**

1. क ग घ च छ – **यत्सातिशयजातीयं ज्ञानं**, ख – **यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वम्**।
2. क च छ – **सर्वज्ञत्व०**, ख ग घ – **सर्वज्ञता०**।

कारणम्।' विज्ञानभिक्षु ने **'बीज'** शब्द का **'लिङ्ग'** अर्थ करते हुए ज्ञानपक्ष में निरतिशयत्व साध्य को सातिशयत्व हेतु के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है।

वस्तुतस्तु **'बीज'** शब्द के व्याख्यान का उक्त कोण भिन्न-भिन्न होने भी यह सिद्ध नहीं होता है कि दोनों आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न मतवाद की स्थापना की गई है। वाचस्पति मिश्र को भी ज्ञान की निरतिशयता की दृष्टि से पुरुषविशेष में सर्वज्ञता मान्य ही है, किन्तु मिश्र ने सर्वज्ञता का कारण **तमोऽपगमतारतम्य** को माना है। दूसरी ओर भिक्षु को भी ईश्वरोपाधि का प्रकृष्ट शुद्धसत्त्वरूप ही मान्य है, किन्तु उन्होंने ईश्वर को सर्वज्ञ क्यों कहते हैं, उस ज्ञान के निरतिशयरूप को साधन (लिङ्ग) के रूप में उपन्यस्त किया है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

व्याचष्टे—यदिदमिति। यद् अतीतानागतवर्त्तमानानां प्रत्येकसमुच्चितानामतीन्द्रियार्थानामल्पं बहु [1]ग्रहणं ज्ञानमिदं सर्वज्ञबीजमित्यर्थः। कथं बीजम्? तदाह—[2]तदिति। एतत्सर्वज्ञबीजं सातिशयज्ञानं विवर्धमानं यत्र निरतिशयं भवति स सर्वज्ञोऽन्यथाऽनवस्थानादिति युक्तिरुक्ता। प्रयोगमप्याह—अस्तीति। सर्वज्ञबीजं सातिशयज्ञानं क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात् परिमाणवदित्यर्थः। अत्र बाधकाभावे सतीति हेतुर्विशेषणीयस्तेन गुरुत्व-[3]संस्काररूपादिषु न व्यभिचारः। तेषां चैकत्र काष्ठाप्राप्तौ [4]कार्यमात्रेऽतिशयित्वमेव बाधकम्, सामग्र्यास्तारतम्याव्यवस्थित्या कार्यतारतम्ये व्यवस्थाऽनुपपत्तेः। ज्ञानेच्छापरिमाणानां तु नित्यानामपि सिद्धतया क्वचित् काष्ठाप्राप्तौ नास्ति बाधकम्।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'यदिदमिति।'** अतीत, अनागत और वर्तमानकालिक अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) पदार्थों के विषय में क्रमशः अथवा युगमत् होने वाला जो अल्पविषयक अथवा बहुविषयक ज्ञान है, वही सर्वज्ञता का बीज (कारण) है।

शङ्का—ज्ञान किस प्रकार सर्वज्ञता का बीज है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'तदिति।'** सर्वज्ञता का हेतुभूत सातिशयज्ञान बढ़ता हुआ जिसमें निरतिशय होता है वही **'सर्वज्ञ'** है, क्योंकि ज्ञान की निरतिशयता

---

1. क ग घ च छ — **ग्रहणं ज्ञानं**, ख — **ज्ञानग्रहणम्।**
2. क घ च छ — **तदिति**, ख ग — **एतदिति।**
3. क ग घ च छ — **संस्काररूपादिषु**, ख — **संस्कारादिषु।**
4. क ग घ च छ — **कार्यमात्रेऽतिशयित्वमेव बाधकं**, ख — **कार्यमात्रत्वमेव बाधके।**

को माने विना अनवस्थादोष प्रसक्त होगा। तदर्थ अनुमानप्रयोग को भी भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**अस्तीति**।'

प्रतिज्ञा– सर्वज्ञबीजं सातिशयज्ञानं क्वचित्प्राप्तकाष्ठम्– अर्थात् सर्वज्ञता का हेतुभूत सातिशयज्ञान किसी में प्राप्तकाष्ठा वाला (निरवधिक) अर्थात् निरतिशय होता है।

हेतु–सातिशयत्वात्–अर्थात् सातिशय (न्यूनाधिक) होने से।

उदाहरण–परिमाणवत्–अर्थात् परिमाण की भाँति। (जिस प्रकार पदार्थगत परिमाण की चरमावधि किसी तत्त्वविशेष में पर्यवसित होती है, उसी प्रकार ज्ञान की चरमावधि भी किसी तत्त्वविशेष में पर्यवसित होती है और वह तत्त्व पुरुषविशेष 'ईश्वर' है)। उपरिनिर्दिष्ट '**हेतु**' के विषय में योगवार्त्तिककार परामर्श दे रहे हैं कि '**बाधकाभावे सति**' इत्यंश को हेतु के विशेषणरूप में सन्निविष्ट करना चाहिये। इससे गुरुत्व, संस्कार तथा रूपादियों में निरतिशयता का व्यभिचार नहीं होता है। इन गुरुत्वादियों की कार्यमात्र में काष्ठाप्राप्ति होने में अतिशयित्व ही बाधक है। क्योंकि सामग्री के तारतम्य की अनिश्चितता से कार्य की तरतमता में तथाकथित '**निरतिशयत्व**' का सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है। किन्तु ज्ञान, इच्छा और परिमाण की तो नित्य पदार्थों में भी अवस्थिति सिद्ध होने से तत्संबन्धित पदार्थ में काष्ठाप्राप्ति सुनिश्चित होने में बाधा (अनुपपत्ति) नहीं आती है।

बालप्रिया–

'**बाधकाभावे सति**'–सरलार्थ यह है कि गुरुत्वादि गुण नितान्त अनित्य ही हैं, अतः किसी पदार्थ में गुरुत्वादि की निरतिशयता (काष्ठाप्राप्ति) सम्भव नहीं है। सर्वत्र वर्तमान गुरुत्वादि में सातिशयता ही है, किसी में भी निरतिशयता नहीं है। इस स्थिति में यदि '**यत्र यत्र सातिशयत्वं तत्र तत्र काष्ठाप्राप्तिमत्त्वम्**' ऐसी व्याप्ति बनाई जाय तो गुरुत्वादि में काष्ठाप्राप्ति व्यभिचरित होगी। क्योंकि किसी भी पदार्थ में गुरुत्वादि गुणों की काष्ठाप्राप्ति का अभाव रहता है। गुरुत्वादि की सातिशयता में सर्वत्र कार्यत्व ही नियामक है। इस प्रकार कार्यत्वसमव्याप्त सातिशयत्व ही गुरुत्वादि की काष्ठाप्राप्ति में बाधक है। अतः योगवार्त्तिककार का परामर्श है कि '**बाधकाभावे सति**' इत्यंश को '**सातिशयत्वात्**' हेतु के विशेषणरूप से सन्निविष्ट कर उपरिनिर्दिष्ट व्यभिचारदोष को दूर किया जा सकता है और तभी हेतु को निर्दुष्ट कहा जा सकता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार अन्य प्रकार से भाष्य की व्याख्या करते हुए उपरिनिर्दिष्ट हेतुगर्भविशेषण की अनपेक्षता को भी उद्घाटित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

वस्तुतस्तु यथाश्रुतभाष्यादनवस्थाऽऽपत्तेश्च गुरुत्वादिष्वप्यतिशयानां क्वचित्[1]काष्ठाऽनुमीयते, सामग्रीतारतम्यकाष्ठाया अप्यनवस्थाऽऽपत्त्यैवानुमानसाम्यात्। अतो न हेतौ विशेषणापेक्षेति। अस्मिंश्चानुमाने श्रुत्यादिस्तर्क इति। सूत्रतात्पर्यमाह–यत्रेति। ननूक्तानुमानेन सामान्यतः सर्वज्ञ[2]पुरुषसिद्धावपि तस्य संज्ञाविशेषः कथमवधार्यत इत्याकाङ्क्षायामाह–सामान्येति। सामान्यमात्रेणोपसंहारे निश्चये [3]कृतपर्यवसानमनुमानं न संज्ञाऽऽदिविशेषप्रतिपादनक्षममित्यत इत्यादिरर्थः।

वस्तुतः यथाश्रुतभाष्य तथा अनवस्थापत्ति (अनवस्थादोष) के कारण गुरुत्वादियों में भी अतिशयता की कहीं पराकाष्ठा (काष्ठाप्राप्ति) अनुमित की जाती है, क्योंकि सामग्री के तारतम्य (साधन के न्यूनाधिक परिमाण)-सम्बन्धी काष्ठा (पराकाष्ठा) में भी अनवस्थापत्ति होने से अनुमान प्रयोग तुल्य है। अतः **'सातिशयत्वात्'** हेतु में **'बाधकाभावे सति'**–इस विशेषण को लगाने की आवश्यकता नहीं है। इस अनुमानप्रयोग में श्रुत्यादि तर्क (हेतु) हैं। भाष्यकार सूत्र के तात्पर्य को बतलाते हैं–**'यत्रेति।'** अर्थात् जिसमें ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति है, वह सर्वज्ञ है और यह पुरुषविशेष तत्त्व ईश्वर है।

शङ्का–उपरिनिर्दिष्ट अनुमान के द्वारा सामान्यतः सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि हो जाने पर भी उस सर्वज्ञ पुरुष का संज्ञाविशेष अर्थात् नाम कैसे निर्धारित किया जाता है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–**'सामान्येति।'** यह सत्य है कि सामान्यरूप से ही पदार्थ का निश्चय कराने में पर्यवसित अनुमान पदार्थगत संज्ञादि विशेष का प्रतिपादन करने में अक्षम है तथापि पदार्थ के संज्ञादि विशेष का ज्ञान आगम से होता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पुरुषविशेष ईश्वर के आगमबोध्य संज्ञादिविशेष का प्रतिपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

संज्ञा ब्रह्मान्तर्यामिपरमात्मादिरूपा। आदिशब्देन पूर्णानन्दत्वपरमकारुणिकत्वपारमार्थिकात्मत्वजगदाधारकारणत्वादयो ग्राह्याः। हरिहरादिसंज्ञामूर्त्तयस्तु शक्तिशक्तिमदाद्यभेदेनोपासनार्थमेव परमेश्वरस्योच्यन्ते न तु साक्षादेव–

---

1. क ख घ च छ – **काष्ठाऽनुमीयते, सामग्रीतारतम्यकाष्ठाया अप्यनवस्थाऽऽपत्त्यैवानुमानसाम्यात्** उपलभ्यते, ग – **काष्ठा.......साम्यात्** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ – **पुरुष०**, ख ग – **पुरुषविशेष०**।
3. क ग घ – **कृते**, ख च छ – **कृत०**।

ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् ! प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।
ततो न्यूनाश्च मैत्रेय ! देवा दक्षादयस्ततः[1]॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः॥

इत्यादिवाक्येभ्यः। आगमतः वेदान्ततः।

'संज्ञा' शब्द से **'पुरुषविशेष'** के ब्रह्म, अन्तर्यामी, परमात्मा आदि रूपों का ग्रहण होता है और **'आदि'** शब्द से उसके पूर्णानन्दत्व, परमकारुणिकत्व, पारमार्थिकात्मत्व, जगदाधारकारणत्व आदि गृहीत होते हैं। हरिहरादि नाम (संज्ञा) वाली मूर्त्तियाँ तो, शक्ति-शक्तिमत् में अभेद-विवक्षा के कारण उपासना के उद्देश्य से परमेश्वर की ही कही जाती हैं, न कि तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा मूर्त्तिमत् (शरीरधारी) है। जैसा कि **'ब्रह्मविष्णु...स महेश्वरः'** (वि. पु. १/२२/५८)–इत्यादि वाक्यों से निर्दिष्ट तथ्य सिद्ध होता है। वाक्य का अर्थ है–'हे ब्रह्मन्! (हे तपोनिष्ठ) ब्रह्म, विष्णु और शिव ये ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं। और हे मैत्रेयि! दक्षादि देव उनसे न्यून शक्ति वाले हैं। इन ब्रह्म, विष्णु और शिवादि से परे जो है, वह 'महेश्वर' है।' यहाँ (भाष्यकार ने संज्ञादि विशेष की प्रतिपत्ति जो **'आगम'** से बतलाई है उसमें) आगम शब्द से वेदान्त को लिया जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार ईश्वर के साक्षात् लीलाविग्रह का खण्डन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यत्त्वाधुनिकाः केचन [2]परस्य साक्षादपि लीलाविग्रहं कल्पयन्ति, तदप्रामाणिकम्, विष्ण्वादीनामेव लीलाऽवतारश्रवणात्। विष्ण्वादीनां च परमात्मन्येवाहंभावात्तेषामवतारा एव परमेश्वरावतारतया श्रुतिस्मृतिषूच्यन्ते, तेन तु ते भ्रान्ताः, न तस्य कार्यं करणं च विद्यते इत्यादि[3]श्रुतिभ्यः परमेश्वरस्य कार्यकारणाख्यशरीरद्वयप्रतिषेधात्,

अनादिमत्परं ब्रह्म सर्वदेहविवर्जितम्॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति दिक्।

---

1. ख – **मायाया गुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्। दृष्ट्वाऽनुप्राविशच्चैषामन्तर्यामितया पुनः॥**
तेषां रुद्रः पराभेदात् परतत्त्ववदेव तु। करोति सर्गस्थित्यन्तं रुद्ररूपेण सत्तमाः॥
विष्णुरप्यास्तिकः साक्षात् पराभेदेन केवलम्। करोति सर्गस्थित्यन्तं विष्णुरूपेण हे द्विजाः॥
ब्रह्मापि मुनिशार्दूलाः पराभेदेन केवलम्। करोति सर्गस्थित्यन्तं ब्रह्मरूपेण सत्तमाः॥
तथा च तत्त्वतः स्रष्टृब्रह्मैवाद्वयमास्तिकाः। उपचारतयात्वेन स्रष्टाद्यास्तेऽपि शब्दिताः॥
(ततः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–माया......शब्दिताः नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ – **परस्य**, ग – **परमेश्वरस्य।**
3. क ख घ च छ – **श्रुतिभ्यः**, ग – **श्रुतिभिः।**

जो आधुनिक लोग **'पर'** शक्ति अर्थात् ईश्वर के भी साक्षात् लीलाविग्रह की कल्पना करते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि विष्ण्वादियों के ही लीलावतार सुने जाते हैं और विष्ण्वादियों का परमात्मरूप से अहंभाव करने से अर्थात् विष्ण्वादियों को परमात्मा ही मान लेने से विष्ण्वादियों के अवतार ही परमेश्वर के अवताररूप से श्रुति, स्मृति शास्त्रों में कहे गये हैं। इसी से आधुनिक वेदान्तियों को भ्रान्ति हुई है। वस्तुतस्तु **'न...विद्यते'** (श्वे. उप. ६/८)–इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा परमेश्वर के कार्य-कारण नाम के शरीरद्वय का निषेध किया गया है। किञ्च **'अनादि...विवर्जितम्'**–इत्यादि स्मृतिवाक्य के द्वारा भी 'अनादिस्वरूप परब्रह्म सभी प्रकार के मूर्तरूपों से रहित है'–यही तथ्य समर्थित हुआ है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार शंकोपस्थापनपूर्वक नित्यमुक्त ईश्वर की प्रवृत्ति का उपपादन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु नित्यमुक्तश्चेदीश्वरस्तर्हि पुरुषार्थाभावात् तस्य प्रवृत्तिर्न घटते, तथा च सांख्य-सूत्रम्–स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् इति [1]पूर्वपक्षः, तन्न; प्रवृत्त्यादिनित्यत्वात् तत्र निमित्तापेक्षा नास्तीति मुख्यसमाधाने सत्यपि प्रौढ्या प्रकारान्तरेणापि समाधानमाह–तस्यात्मेति। आत्मानुग्रहः स्वोपकारः, तस्येश्वरस्य स्वोपकाराभावेऽपि भक्तान् पुरुषा-नुद्धरिष्यामीत्याशयः। ज्ञानधर्मयोरुपदेशतो भक्तभूतानुग्रहः प्रयोजनम्। पुरुषाणां विशेषणं कल्पेत्यादि। कल्पप्रलयेषु=दैनंदिनप्रलयेषु, [2]महाप्रलयेषु=प्राकृतप्रलयेषु च संसारिणः स्वकारणगामिनोऽतस्तदा मरणदुःखभाज इत्यर्थः।[3] ननु स्वेष्टसाधनताज्ञानाभावे कथं व्यापारः स्यादिति चेत्? न, तृणारणिमणिन्यायेन स्वेष्टसाधनताज्ञानपरदुःखज्ञानयोर्विजातीयेच्छाद्वयं प्रत्येव फलबलेन हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्, तथा च ब्रह्मसूत्रम्–लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् इति। ननु तथाऽपि भक्तानेवानुगृह्णाति नान्यान् प्रत्युत तान्निगृह्णात्यपि स्वभक्तैश्वर्य-दानेनेत्यतो वैषम्यादिना नेश्वरस्य नित्यमुक्तत्वं भवतीति चेत्? मैवम्–अग्नेरौष्ण्यस्वाभाव्यवत् विशुद्धसत्त्वे भक्तवशतास्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। वैषम्यं च रागद्वेषाभ्यामेव भवति न तु प्रवृत्तिमात्रेणेति। अत एव गीता–

---

1. क ग च छ – **पूर्वपक्षः तन्न**, ख – **पूर्वपक्षे तत्र**, घ – **पूर्वपक्षः तत्र**।
2. क ग घ च छ – **महाप्रलयेषु** उपलभ्यते, ख – **महाप्रलयेषु** नोपलभ्यते।
3. ख – **तदेतदुक्तं विष्णौ, जगतामुपकाराय न सा कर्म निमित्तजा। चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यापिन्य व्याहतात्मिकेति** (**इत्यर्थः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तदेतदुक्तं... व्याहतात्मिकेति** नोपलभ्यते।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ इति।

यच्च हिरण्यगर्भाद्यैश्वर्यदानाद् अन्येषां दुःखं भवति तत्रापि हिरण्यगर्भादीनामेव वैषम्यं बीजम्, ईश्वरस्य तु परदुःखप्रहाणेच्छा विद्यमानाऽपि भक्तवशतया कुण्ठिता स्वकार्याय विलम्बत इति सर्वं समञ्जसम्। यच्च [1]सर्वेश्वरस्य कर्मसापेक्षतया वैषम्यं नैर्घृण्यं च ब्रह्ममीमांसासूत्रेणा[2]पाकृतं तत्राप्ययमेवाशयः–लोकानां विहितनिषिद्धरूपाणि कर्माणि देवानां सुखदुःखसाधनानि, अत ईश्वरेण स्वभक्तदेवेष्वपराद्धाय यद्दुःखं दीयते अनपराद्धाय सुखं तद्भक्तपारवश्यनिमित्तकमिति। स्वप्रयोजनाभावेऽपि विदुषां प्रवृत्तौ पञ्चशिखाचार्यवाक्यं सांख्यस्थं प्रमाणयति–तथा चोक्तमिति। आदिविद्वान् स्वयंभूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासव आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः॥२५॥

शङ्का–यदि ईश्वर नित्यमुक्त है, तो उसके पुरुषार्थशून्य होने से उसमें प्रवृत्ति **उपपन्न** नहीं हो सकती है। अर्थात् ईश्वर में प्रवृत्ति की उपपत्ति के लिये उसे नित्य**मुक्त नहीं** कहा जा सकता है। जैसा कि सांख्यसूत्र भी है–'**स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्**' **५/३** अर्थात् 'स्वोपकार की भावना से ईश्वर का अधिष्ठाता होना उसे लौकिक व्यक्ति के समान बना देगा।' (पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय यह है कि नित्यमुक्तता और पुरुषार्थप्रयुक्त प्रवृत्तिमत्ता में परस्पर विरोध होने से दोनों की अवस्थिति एक ही तत्त्व में नहीं हो सकती है)।

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ईश्वर के प्रवृत्त्यादि नित्य होने से वहाँ निमित्त की अपेक्षा (आकांक्षा) ही नहीं रहती है। इस प्रकार ईश्वर में प्रवृत्ति का मुख्य समाधान हो जाने पर भी भाष्यकार प्रसिद्धि के आधार पर अन्य प्रकार से उक्त शंका का समाधान करते हैं–'**तस्यात्मेति**।' यहाँ '**आत्मानुग्रह**' शब्द का अर्थ है–'**स्वोपकार**' और '**तस्य**' (इस सर्वनाम) पद से '**ईश्वर**' को संकेतित किया गया है। इस प्रकार ईश्वर में अपने प्रति उपकाराभाव रहने पर भी 'भक्तों का उद्धार करूँगा' इस अभिप्राय से ज्ञान तथा धर्म के उपदेश द्वारा भूतों पर अनुग्रह करना ही ईश्वर की प्रवृत्ति का उद्देश्य (प्रयोजन) है। सांसारिक पुरुषों का विशेषण है–'**कल्पेत्यादि**।' '**कल्पप्रलय**' अर्थात् दैनंदिन प्रलयों तथा महाप्रलय अर्थात् प्राकृत प्रलयों में अपने-अपने कर्म के अनुसार संसरण करने वाले तथा मरणदुःख का भोग करने वाले संसारी पुरुषों का ईश्वर उद्धार करता है।

---

1. च छ – **सर्व०** उपलभ्यते, क ख ग घ – **सर्व०** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **अपाकृतं**, ख – **अप्रकृतम्**।

शङ्का–(प्रवृत्ति के प्रति स्वेष्टसाधनताज्ञान कारण होता है) ईश्वर में स्वेष्टसाधनता ज्ञान का अभाव रहने से उसमें (जीवोद्धार के प्रति) किस प्रकार प्रवृत्ति हो सकती है?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि तृणारणिमणिन्याय से **'स्वेष्टसाधनताज्ञान'** और **'परदुःखज्ञान'** दोनों में विजातीय इच्छाद्वय के प्रति फलबल के आधार पर हेतुता स्वीकार की गई है। सरलार्थ यह है कि प्रकृत में परदुःखज्ञान ही ईश्वर की प्रवृत्ति का प्रयोजक है। तदर्थ ब्रह्मसूत्र भी है–**'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** (२/१/३३)।

शङ्का–यदि (तुष्यतुदुर्जनन्याय से) किसी प्रकार ईश्वर में प्रवृत्ति स्वीकार कर भी ली जाय तो भी **'ईश्वर'** अपने भक्त पर ही कृपा (अनुग्रह) करता है, अन्य प्राणियों पर नहीं, स्वभक्तों को ऐश्वर्य प्रदान करता हुआ उन्हें निगृहीत (दण्डित) भी करता है' इस प्रकार के वैषम्य (पक्षपात) के कारण ईश्वर को नित्य मुक्त नहीं कहा जा सकता है?

समाधान– –ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अग्नि के औष्ण्य की भाँति ईश्वर (उसके उपाधिभूत विशुद्धसत्त्व) में भक्त के प्रति द्रवीभूत होने की सहजता (स्वाभाविकता) दोषावह नहीं है और वैषम्य तो राग-द्वेष के कारण ही होता है, न कि प्रवृत्ति के कारण। अर्थात् जीवों में परिदृष्ट परस्पर वैषम्य का आधार राग-द्वेष है। इसमें ईश्वर की प्रवृत्ति कारण नहीं है। इसलिये गीता में कहा गया है– **'समोऽहं...चाप्यहम्'** (९/२९) अर्थात् 'मैं समस्त भूतों के लिये समान हूँ। मेरा न कोई द्वेष्य है और न कोई प्रिय है। जो लोग मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझ में और मैं उनमें निवास करता हूँ।' और जो (ईश्वर द्वारा) हिरण्यगर्भादियों को ऐश्वर्य-दान किया जाने से अन्य प्राणियों को कष्ट होता है, इसमें भी हिरण्यगर्भादियों का ही अन्तर कारण है, न कि ईश्वर का पक्षपात। (भाव यह है–स्वकृत ईश्वराराधन के फलस्वरूप ही हिरण्यगर्भादि तत्तद् ऐश्वर्यों को ईश्वरानुग्रह के रूप से प्राप्त करते हैं। ईश्वर स्वयं किसी कुपात्रविशेष के प्रति पक्षपात नहीं करता है)। ईश्वर में तो परदुःख–निवारणेच्छा सर्वदा विद्यमान रहती है फिर भी भक्त की वशंगतता के कारण वह (सर्वसाधारण के लिये) कुण्ठित हो जाती है, अर्थात् प्रभु अपना कार्य विलम्ब से करता है। इस प्रकार सामञ्जस्य कर लेना चाहिये। और जो कर्म-सापेक्ष होने के कारण ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य (निर्ममत्व) का खण्डन ब्रह्मसूत्र के द्वारा किया गया है, उसमें भी निहित तात्पर्य यही है–लोकों के विहित और निषिद्धरूप कर्म देवों के सुख-दुःख के साधन हैं। अतः ईश्वर द्वारा, अपराध करने के कारण भक्त देवों को जो दुःख दिया जाना है अथवा अनपराध के कारण जो सुख दिया जाना है, वह सब भक्त-पारवश्य के कारण है। जैसे अपना कोई उद्देश्य

न रहने पर भी विद्वानों में प्रवृत्ति देखी जाती है। तदर्थ भाष्यकार सांख्यशास्त्र में उक्त पञ्चशिखाचार्य के वाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं–**'तथा चोक्तमिति।'** **'आदि विद्वान्'** स्वयंभू ने अर्थात् सर्ग के आदि में आविर्भूत 'विष्णु' ने 'निर्माणचित्त' को अर्थात् योगबल से स्वनिर्मित चित्त को आश्रय कर अर्थात् अपने अंश से प्रवेश करके **'कपिलाख्य'** परमर्षि होकर दयावशात् जिज्ञासु **'आसुरि'** के लिये **'तन्त्र'** अर्थात् सांख्यशास्त्र को कहा॥२५॥

भाष्यकार अगले सूत्र को उठाते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]**स एषः**–

वह यह ईश्वर–

योगसूत्रम्

[2]पूर्वेषामपि गुरुः कालेना[3]नवच्छेदात्॥२६॥

ईश्वर, काल से अवच्छिन्न न होने के कारण पूर्वजों (ऋषियों) का भी 'गुरु' है ॥२६॥

व्यासभाष्यम्

पूर्वे हि गुरवः कालेना[4]वच्छिद्यन्ते। यत्रा[5]वच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥२६॥

निश्चय ही पूर्ववर्ती गुरु लोग काल से अवच्छिन्न रहे। जिसके विषय में काल अवच्छेदक के रूप में समर्थ नहीं होता है, वह यह 'ईश्वर' पूर्वजों (पूर्वकालिक गुरुओं) का भी गुरु है अर्थात् 'परमगुरु' है। जिस प्रकार इस सृष्टि के आरम्भ में 'ईश्वर' ही निरतिशय ज्ञान आदि का आधार सिद्ध हुआ। उसी प्रकार अतीत सर्गों में भी 'ईश्वर' ही निरतिशय ज्ञान का आधार रहा–ऐसा समझना चाहिये। (अर्थात् अन्य कोई नहीं)॥२६॥

---

1. **स एषः** – सूत्रस्य प्रागुपलभ्यते।
2. **सर्वेषाम्** – इति पाठान्तरम्।
3. **अनवेदनात्** – इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब व म य र – **अवच्छिद्यन्ते,** द – **अवच्छेद्यन्ते।**
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – **अवच्छेदार्थेन,** व – **अवच्छेदार्थः।**

तत्त्ववैशारदी

संप्रति भगवतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह—स एष इति। पातनिका—स एष इति। सूत्रम्— पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। व्याचष्टे—पूर्वे हीति। कालस्तु शतवर्षादिः अवच्छेदार्थेनावच्छेदेन प्रयोजनेन, नोपावर्तते न वर्तते प्रकर्षस्य गतिः प्राप्तिः। प्रत्येतव्य आगमादि[1]ति भावः॥२६॥

अधुना, ब्रह्मादि से '**ईश्वर**' (पदवाच्य पुरुषविशेष) के अन्तर=वैशिष्ट्य को भाष्यकार संकेतित करते हैं—'**स एष इति**।' यहाँ '**स एषः**' (वह यह ईश्वर) यह सूत्र की अवतरणिका है अर्थात् इसे सूत्र का अंश समझने का भ्रम नहीं होना चाहिये। सूत्र है—'**पूर्वेषामिति**।' सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं—'**पूर्वे हीति**।' शतवर्षादि काल (भी) जहाँ ईश्वर को सीमांकित (कालावच्छिन्न) करने के उद्देश्य से समर्थ नहीं होता है, वह यह कालातीत 'ईश्वर' कालावच्छिन्न गुरुओं का भी गुरु है। भाष्यस्थ '**प्रकर्षगत्या**' में '**गति**' शब्द का अर्थ है—प्राप्ति। अर्थात् '**प्रकर्ष**' =ज्ञानोत्कर्ष की जिसे '**गति**' अर्थात् प्राप्ति है। इस प्रकार ज्ञानोत्कर्ष की प्राप्ति से 'ईश्वर' स्वतःसिद्ध है। ईश्वर का यह स्वरूप आगम=श्रुतिशास्त्र से जानने योग्य है॥२६॥

बालप्रिया—

सृष्टि के आदिकाल के ब्रह्म, अङ्गिरादि गुरुजन उत्पत्ति और विनाशशील होने से अर्थात् सृष्टि के पूर्व और महाप्रलय के पश्चात् न रहने से '**कालावच्छिन्न**' हैं और ईश्वर '**कालानवच्छिन्न**' है। इस प्रकार कालाबाधित 'ईश्वर' कालमर्यादित पूर्ववर्ती गुरुओं का भी परमगुरु है। त्रिकालाबाधित ईश्वर का निरतिशय ज्ञानादिरूप प्रकृष्ट ऐश्वर्य भी काल से सीमित नहीं है। स्वतःसिद्ध ईश्वर का यह कालाबाधित निरतिशय ऐश्वर्य श्रुतिशास्त्र के द्वारा जानने योग्य है॥२६॥

योगवार्त्तिकम्

परमेश्वरस्यापरं विशेषं प्रतिपादयति सूत्रकारः—स एष पूर्वेषापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। [2]पूर्वेषां पूर्वपूर्वसर्गाद्युत्पन्नानां ब्रह्मविष्णु[3]महेश्वरादीनामपि गुरुः पिताऽन्तर्यामी विद्यया ज्ञानचक्षुःप्रदश्च, [4]कुतः? कालेनानवच्छेदात् ब्रह्मादयो हि द्विपरार्द्धादिकालेना[5]वच्छिन्नाः कालानवच्छिन्नं गुरुं विना न [6]सम्भवन्तीत्यर्थः, यो ब्रह्माणं

---

1. थ द ध – **इति भावः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति भावः** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **पूर्वेषां**, ख – **सर्वेषाम्**।
3. क च छ – **महेश्वर०**, ख ग घ–**हर०**।
4. क घ च छ – **कुतः**, ख ग–**यतः**।
5. क ख ग घ च – **अवच्छिन्नाः कालान्** उपलभ्यते, छ–**अवच्छिन्नाः कालान्** नोपलभ्यते।
6. क ग च छ – **संभवन्ति**, ख घ–**संभवति**।

विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै इत्यादिश्रुतिभ्य इति भावः। न च प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः, निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम् इत्यागामिसूत्रात् निमित्तकारणस्येश्वरादेस्तत्स्वातन्त्र्याविघातकत्वात्। एतदेव व्याचष्टे–[1]**पूर्वे हीति। अवच्छेदशब्दार्थेनावच्छेदप्रयोजनेन कालो नोपावर्तते न संबध्यते। तात्पर्यार्थमाह–यथाऽस्येति। अस्य वर्त्तमानस्य सर्गस्यादौ **[2]**पूर्वं प्रकर्षगत्या ज्ञानोत्कर्षप्राप्त्या स्वतःसिद्ध इत्यर्थः। अत्रेश्वरस्य सर्वजीवपितृत्ववचनात् श्रुत्युक्ताग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तानुसारेण च जीवब्रह्मणोरंशांशिभावस्तयोरभेदश्च पितापुत्रवदेवेति भावः। तथा च स्मृतिः–**

यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रसूयते ।
तथा जीवसहस्राणि स एवैकः प्रसूयते ॥
सलिले करकाऽश्मेव दीपोऽग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यात् पृथग् बुद्धो युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥

इत्यादिः। अयं चाभेदो नाखण्डता, अपि त्वविभाग एव, अविभागो वचनात् इति वेदान्तसूत्रेण जीवानां ब्रह्मण्यविभागलक्षणाभेदस्यैव वचनात्। अविभागश्च दुग्धं जलमभूदित्यादिप्रत्ययनियामकः स्वरूपसम्बन्धः आधारताऽऽदिवत् किं वा लक्षणानन्यत्वमिति। अनेन पितृत्वान्तर्यामित्वरूपेण गुरुत्वेन जीवानामप्यात्मेश्वर इति वेदान्तमहावाक्यार्थोऽपि सूचितः। यो हि यस्यांशी अधिष्ठाता वा भवति स तस्यात्मेति दृष्टम्। यथा सूर्यश्चक्षुषः, यथा वा जीवो देहस्येति दिक्॥२६॥

सूत्रकार परमेश्वर की अन्य विशेषता का प्रतिपादन करते हैं–'**स इति**' 'ईश्वर **पूर्वेषाम्**' अर्थात् पूर्व-पूर्व सर्गादियों में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरादियों का भी '**गुरु**' अर्थात् अन्तर्यामी पिता है और विद्या से ज्ञानचक्षु को प्रदान करता है।

शङ्का–कैसे? (ईश्वर पूर्ववर्त्ती ब्रह्मादियों का 'गुरु' किस प्रकार हो सकता है)?

समाधान–क्योंकि ईश्वर काल से सीमित नहीं है अर्थात् सीमातीत (अनवच्छिन्न) है। द्विपरार्द्धादि काल से सीमित ब्रह्मादि, अपरिच्छिन्न '**गुरु**' के विना सम्भावित स्थिति वाले नहीं हो सकते हैं। जैसा कि '**यो ब्रह्माणं...तस्मै**' अर्थात् 'जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदों को प्रवृत्त करता है'–इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। इससे 'प्रकृति' के स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त व्याहत नहीं होता है, क्योंकि '**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्**' ४/३ इस आगामी योगसूत्र के द्वारा निमित्तकारणीभूत ईश्वरादि को प्रकृति के स्वातन्त्र्य (उपादानकारणत्व) का नाशक नहीं बतलाया गया है अर्थात् निमित्तकारणत्वेन ईश्वर सृष्टि के प्रति

---

1. क – **पूर्वं**, ख ग घ च छ – **पूर्वे**।
2. क – **पूर्वे**, ख घ च छ – **पूर्वं**, ग – **पूर्व०**।

उपादानकारणीभूता प्रकृति के सिद्धान्त को क्षतविक्षत नहीं करता है। सूत्र के इसी अभिप्राय को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं–**'पूर्वे हीति।'** अवच्छिन्नता की दृष्टि से जो काल से सम्बन्धित नहीं होता है, ऐसा निरवच्छिन्न ईश्वर पूर्वकालिक ब्रह्मादियों का **'गुरु'** है। इसी तात्पर्य को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'यथाऽस्येति।'** ज्ञानोत्कर्षयुक्त होने के कारण ईश्वर वर्तमान सर्ग के पूर्व भी **'स्वतः सिद्ध'** रहा है अर्थात् कालातीत ईश्वर का **'निरतिशय ज्ञान'** स्वतः प्रमाणित है। प्रकृत में **'ईश्वर'** को समस्त जीवों का **'पिता'** कहने से और श्रुतियों में आये अग्नि-विस्फुलिङ्ग के दृष्टान्त से जीव-ब्रह्म का **'अंशांशिभावसम्बन्ध'** पिता-पुत्र-सम्बन्ध की भाँति उनके **'अभेद'** को ही सिद्ध करता है। इसी तथ्य की प्रतिपादिका स्मृति भी है–**'यथा दीपसहस्राणि...ब्रह्मणि लीयते'** अर्थात् 'जिस प्रकार एक दीप सहस्र प्रदीपों को प्रज्वलित करता है उसी प्रकार एक ईश्वर सहस्र जीवों को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार जल में बर्फ और अग्नि में दीप (दीपशिखा) तन्मय होकर रहता है उसी प्रकार अज्ञानतावशात् ईश्वर से अपने को पृथक् समझता हुआ जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके (अन्त में) ब्रह्म में लीन हो जाता है।' जीवेश्वर का यह अभेद 'अखण्डरूप' नहीं है, अपितु **'अविभागरूप'** ही है। जैसा कि **'अविभागो वचनात्'** ४/२/१६ वेदान्त सूत्र के द्वारा जीवों का ब्रह्म में **अविभागलक्षणक अभेद'** ही प्रतिपादित हुआ है। अविभागसम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–यह **'अविभाग'** 'जल दूध हो गया'–इत्याकारक ज्ञान का नियामक है। अर्थात् जीवेश्वर के इस **'अविभाग'** के कारण 'जीव ईश्वररूप हो गया' ऐसा व्यवहार किया जाता है। अथवा जीवेश्वर का **'अविभागलक्षणक स्वरूपसम्बन्ध'** आधारता आदि के समान भी कहा जा सकता है। अथवा जीवेश्वर में **'लक्षणानन्यत्वरूप अभेदसम्बन्ध'** है। ज्ञानरूपगुरुता के साथ-साथ पितृत्व और अन्तर्यामित्वरूप गुरुता के कारण वह जीवों का भी आत्मेश्वर (ईश्वर) है–इस कथन से वेदान्त के **'तत्त्वमसि'** वाक्य का अर्थ भी उपपन्न हो जाता है। जो जिसका **'अंशी'** अथवा अधिष्ठाता होता है, वह उस **'अंश'** अथवा अधिष्ठेय का **'आत्मा'** अर्थात् **'तद्रूप'** होता है–ऐसा देखा जाता है। जैसे सूर्य चक्षु का अथवा जीव देह का अधिष्ठाता होने से तद्रूप है॥२६॥

बालप्रिया–

'स एषः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने 'स एषः' को प्रस्तुत सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका माना है जब कि विज्ञानभिक्षु ने **'स एषः'**–इत्यंश को सूत्रांश बतलाया है॥२६॥

'ईश्वर' का बोधक सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

[1]तस्य वाचकः प्रणवः॥२७॥

(तथाकथित) 'ईश्वर' का अभिधायक शब्द 'प्रणव' (ओङ्कार) है॥२७॥

व्यासभाष्यम्

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितम् इति? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पित्रापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। [2]संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते॥२७॥

'प्रणव' (वाचक) का अभिधेय अर्थ (वाच्य) 'ईश्वर' है। क्या ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेतजन्य है अथवा दीप से प्रकाशित पदार्थ के समान पहले से ही स्थित अर्थात् संकेतद्योत्य है? (उत्तर है कि)– इस ईश्वररूप वाच्य का प्रणवरूप वाचक के साथ वाच्यवाचकभावसम्बन्ध पहले से ही विद्यमान है। (अर्थात् वह नित्य और संकेतद्योत्य है)। ईश्वर का संकेत तो पहले से ही वर्तमान पद-पदार्थ के वाच्यवाचकभावसम्बन्ध को प्रकाशित करता है (अर्थात् वह सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता है)। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार लोक में पहले से विद्यमान पिता-पुत्र-सम्बन्ध–'यह इसका पिता है और यह उसका पुत्र है'–इस प्रकार संकेत करके प्रकाशित किया जाता है। महाप्रलय के अनन्तर आगामी दूसरे सर्गों में भी (पूर्ववत्) वाच्यवाचकभावसम्बन्ध की अपेक्षा रखते हुए ही उसी प्रकार का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध ईश्वर के द्वारा संकेतित किया जाता है। सदृश व्यवहार परम्परा के नित्य होने से शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य होता है–ऐसा आगमशास्त्रकार अङ्गीकार करते हैं॥२७॥

---

1. तत् – इति पाठान्तरम्।
2. अ, क ख ग घ च छ त थ द ध न प ब भ म य र – **संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते** १/२७ सूत्रस्य टीका, फ – **संप्रतिपत्ति......प्रतिजानते** १/२८ सूत्रस्य अवतरणिका।
आ, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **संप्रतिपत्ति०**, छ थ – **संप्रति।**

तत्त्ववैशारदी

[1]**तदनेन प्रबन्धेन भगवानीश्वरो दर्शितः। संप्रति तत्प्रणिधानं दर्शयितुं तस्य वाचकमाह— तस्य वाचकः प्रणवः। व्याचष्टे—वाच्य** इति।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से ईश्वर का स्वरूप प्रदर्शित हुआ। अधुना, '**ईश्वर-प्रणिधान**' (ईश्वर-चिन्तन) को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से सूत्रकार ईश्वर के '**वाचक**' (अभिधायक) का निर्देश करते हैं—'**तस्येति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**वाच्य इति**।' अर्थात् '**प्रणव**' का 'वाच्य ईश्वर' है। इस प्रकार ईश्वर और प्रणव में वाच्यवाचकसम्बन्ध ज्ञात होता है।

बालप्रिया—

'**प्रणव**':—(१) कुछ विद्वान् '**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्**'—इस श्रुति के अनुसार '**प्रणव**' को ईश्वर के 'प्रतीक' रूप से मानते हैं। क्योंकि प्रतिमा में विष्णुबुद्धि के समान ब्रह्मबुद्धि से उपास्यमान '**प्रणव**' ब्रह्मज्ञान का उपाय है। (२) कुछ विद्वानों का कथन है कि योगियाज्ञवल्क्य के '**अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः। तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति**—इस वचन के अनुसार देवदत्तादि संज्ञा के समान '**प्रणव**' ईश्वर का '**नाम**' है।

तत्त्ववैशारदी

तत्र परेषां मतं विमर्शद्वारेणोपन्यस्यति—किमस्येति। वाचकत्वं प्रतिपादकत्वमित्यर्थः। **परे हि पश्यन्ति—यदि स्वाभाविकः शब्दार्थयोः संबन्धः संकेतेनास्माच्छब्दादयमर्थः प्रत्येतव्य इत्येवमात्मकेनाभिव्यज्येत, ततो यत्र नास्ति स संबन्धस्तत्र संकेतशतेनापि न व्यज्येत। न हि प्रदीपव्यङ्ग्यो घटो यत्र नास्ति तत्र प्रदीपसहस्रेणापि शक्यो व्यङ्क्तुम्। कृतसंकेतस्तु करभशब्दो वारणे वारणप्रतिपादको दृष्टः। ततः संकेतकृतमेव वाचकत्वमिति विमृश्याभिमतमवधारयति— स्थितोऽस्येति। अयमभिप्रायः—सर्व एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था इति स्थित एवैषां सर्वाकारैरर्थैः स्वाभाविकः संबन्धः। ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकश्च नियामकश्च तस्य ईश्वर-संकेतासंकेतकृतश्चास्य वाचकापभ्रंशविभागः। तदिदमाह—संकेतस्त्वीश्वरस्येति। निदर्शनमाह— यथेति।**

सम्प्रति, ईश्वर और प्रणव के वाच्यवाचकसम्बन्ध को मत-मतान्तरों के साथ उपस्थित करते हुए भाष्यकार इस विषय को उठाते हैं—'**किमस्येति**।' यहाँ '**वाचकत्व**' का अर्थ है—प्रतिपादकत्व।

---

1. थ द ध — **तदनेन प्रबन्धेन भगवानीश्वरो दर्शितः** १/२७ सूत्रस्य अवतरणिका, क ख ग घ च छ ज झ त न — **तदनेन प्रबन्धेन भगवानीश्वरो दर्शितः** १/२६ सूत्रस्य टीका।

'वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेतकृतः पूर्वपक्ष–नैयायिकों का कहना है कि शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध 'इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय'–इत्याकारक संकेत के द्वारा अभिन्नरूप से अभिव्यक्त होता है, ऐसा माना जाय तो जहाँ पर शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, वहाँ पर सैकड़ों बार संकेत करने से भी सम्बन्धविरहित पद-पदार्थ के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति नहीं हो पायेगी। उदाहरणार्थ जहाँ पर प्रदीप से अभिव्यक्त होने वाला घट विद्यमान नहीं है अर्थात् घटाभाव है वहाँ पर सहस्र प्रदीप-माला भी घट को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकती है। किन्तु शब्दार्थसम्बन्ध को **'संकेतकृत'** मानने पर वारण (हाथी) अर्थ में कृतसंकेत **'करभ'** शब्द **'वारण'** अर्थ (अभिधेय) का वाचक (बोधक) होता है। अतः शब्द और अर्थ में **'वाच्यवाचकभावसम्बन्ध' 'संकेतजन्य'** ही है।

इस प्रकार पूर्वपक्षी की शब्दार्थसम्बन्धविषयक मान्यता को उपस्थित करके भाष्यकार योगाभिमत को दृढता के साथ प्रस्तुत करते हैं–**'स्थितोऽस्येति।'**

वाच्यवाचकभावसम्बन्ध संकेतद्योत्यः सिद्धान्तपक्ष–इस विषय में भाष्य का तात्पर्य यह है–सभी प्रकार के शब्द सभी प्रकार के अर्थों का अभिधान (कथन) करने में समर्थ होते हैं–इस नियम के अनुसार शब्दों (वाचकों) का सभी प्रकार के अर्थों (वाच्यों) के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थित ही है। और ईश्वरसंकेत तो शब्दार्थसम्बन्ध का प्रकाशक तथा नियामक होता है। ईश्वर द्वारा संकेतित शब्द में वाचकत्व और उससे भिन्न (ईश्वरासंकेतित) शब्द में अवाचकत्व (अपभ्रंशत्व) है–यही दोनों में अन्तर है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–**'संकेतस्त्वीश्वरस्येति।'** अर्थात् ईश्वरकृत संकेत पूर्वस्थित (वाच्यवाचकसम्बन्धरूप से स्थित) अर्थ को ही प्रकाशित करता है। शब्दार्थसम्बन्ध की पूर्व स्थिति को सिद्ध करने के लिये भाष्यकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–**'यथेति।'** जिस प्रकार 'पिता-पुत्र-सम्बन्ध' पहले से स्थित रहता है, केवल 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है'–इत्याकारक संकेत के द्वारा पूर्वस्थित सम्बन्ध का प्रकाशनमात्र होता है।

बालप्रिया–

'विमृश्य'–वाच्यवाचकसम्बन्ध आगन्तुक है अथवा नित्य है–इस पर विचार करके भाष्यकार ने 'सदृशव्यवहारपरम्परा के कारण शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है'–इस सिद्धान्त को अङ्गीकृत किया है।

'सर्वाकारार्थाभिधानसमर्थाः'–यह सिद्धान्त महाभाष्यकार ने भी कहा है–'**सर्वे सर्वार्थवाचकाः**'।

'स्वाभाविकः सम्बन्धः'–पदप्रयोग द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने व्यासभाष्य के अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध को, नित्य होने से 'सकेतद्योत्य' माना है। स्वयं सूत्रकार

पतञ्जलि ने महाभाष्य में **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'**–इस वार्तिक का व्याख्यान करते हुए शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य माना है। अतः नित्य पदार्थ में संकेतजन्यत्व असम्भव है। महाभाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–**'अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्त्तते। तद्यथा सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथ्वी, सिद्धमाकाशमिति।'**

शब्दार्थसम्बन्ध को **'संकेतद्योत्य'** मानने पर पूर्वपक्षी की ओर से आपत्ति की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

ननु शब्दस्य प्राधानिकस्य महाप्रलयसमये प्रधानभावमुपगतस्य शक्तिरपि प्रलीना। ततो महदादिक्रमेणोत्पन्नस्यावाचकस्यैव माहेश्वरेण संकेतेन न शक्या वाचकशक्तिरभिज्वलयितुम् विनष्टशक्तित्वादित्यत आह–सर्गान्तरेष्वपीति। यद्यपि सह शक्त्या प्रधानसाम्यमुपगतः शब्दस्तथापि पुनराविर्भवंस्तच्छक्तियुक्त एवाविर्भवति वर्षातिपातसमधिगतमृद्भाव इवोद्भिजो मेघविसृष्टवारिधारावसेकात्। तेन पूर्वसंबन्धानुसारेण संकेतः क्रियते भगवतेति। तस्मात्संप्रतिपत्तेः सदृशव्यवहारपरम्परायाः नित्यतया नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धो न कूटस्थनित्य इत्यागमिकाः प्रतिजानते, न पुनरागमनिरपेक्षाः सर्गान्तरेष्वपि तादृश एव संकेत इति प्रतिपत्तुमीशत इति भावः॥२७॥

शङ्का–प्राधानिक अर्थात् प्रकृतिजन्य शब्द महाप्रलय में प्रकृतिभाव (कारणभाव) को प्राप्त होता है। अर्थात् अपने मूलकारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रधानभाव को प्राप्त शब्द की शक्ति (वाचकता) भी लय को प्राप्त होती है। अन्यथा निराश्रित शब्दनिष्ठ शक्ति कहाँ अवस्थित रहेगी। वाच्यवाचक का नाश होने से उनका पारस्परिक सम्बन्ध (शक्ति) भी नष्ट हो जाता है। तदनन्तर सृष्टि के समय महदादि क्रम से उत्पन्न अवाचक शब्द की वाचकशक्ति महेश्वर के संकेत से अभिव्यक्त होने में समर्थ नहीं होती है, क्योंकि महाप्रलय के समय शब्द की वाचकशक्ति भी नष्ट हो जाती है। (अतः यह मानना चाहिये कि महाप्रलय में लय को प्राप्त हुए वाच्य, वाचक और उनका सम्बन्ध सृष्टिकाल में पुनः उत्पन्न होता है। फलतः वाच्यवाचकसम्बन्ध **'संकेतजन्य'** ही है, न कि **'संकेतद्योत्य'**)।

समाधान–शंका-समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'सर्गान्तरेष्वपीति।'** यद्यपि प्रलयकाल में **'शक्ति'** के साथ **'शब्द'** प्रधानतत्त्व में साम्य (लय) को प्राप्त होता है तथापि सृष्टिकाल में शक्तिसहित शब्द का पुनः आविर्भाव होना भी उसी प्रकार है जिस प्रकार वर्षा की समाप्ति पर मृद्भाव को प्राप्त हुए उद्भिज (मेढक) का वर्षाकाल में मेघ की जलधारा से अवसिञ्चित हो पुनः आविर्भूत होना। अतः (पूर्व सृष्टि में वाच्यवाचक के निर्द्धारित) पूर्व सम्बन्ध के अनुसार ही ईश्वर (अग्रिम सृष्टियों में

भी) '**वाच्यवाचकभावसम्बन्ध**' का '**द्योतन**' मात्र करता है। अर्थात् ईश्वर संकेत द्वारा नूतन शब्दार्थसम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता है। इससे सदृशव्यवहारपरम्परा (सम्प्रतिपत्ति) के नित्य होने से शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध भी '**नित्य**' है, किन्तु वह '**कूटस्थनित्य**' नहीं है—ऐसा आगमशास्त्रकार मानते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्गान्तरों में भी ईश्वर द्वारा आगमनिरपेक्ष नहीं, अपितु आगमसापेक्ष ही (शब्दार्थसम्बन्ध का) संकेत किया जाता है। फलतः शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता सिद्ध होती है।

बालप्रिया—

'**न कूटस्थनित्यः**'— नित्यता दो प्रकार की है—कूटस्थनित्यता तथा प्रवाहरूपनित्यता (परिणामिनित्यता)। चेतनतत्त्व पुरुष (अथवा पुरुषविशेष) को छोड़कर जड़ीय पदार्थों में प्रवाहरूपनित्यता स्वीकृत है। प्रस्तुतसन्दर्भीय शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता भी '**प्रवाह**' रूप है न कि '**कूटस्थ**' रूप॥२७॥

योगवार्त्तिकम्

ईश्वरशब्दार्थो विस्तरेण व्याख्यातः। इदानीं तत्प्रणिधानं व्याख्यातुमादौ प्रणिधानाङ्गं मन्त्रं दर्शयति[1]—तस्य वाचकः प्रणवः। तस्येश्वरस्य प्रणवो नामेत्यर्थः—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति॥

इति योगि[2]याज्ञवल्क्यादिवचनेभ्यः। अदृष्टविग्रहोऽद्भुतशरीरो देवः परमात्मा भावग्राह्यो भक्तिमात्रग्राह्यो मनोमयो मनस्तुल्यकारणोपाधिशबलोऽयःशबलाग्निवदित्यादिरर्थः। कर्त्तव्यविचारोपयोगिनमर्थं पूरयति—वाच्य ईश्वर इति। नित्य एव प्रणवेन सहेश्वरस्य वाच्यवाचकभाव इति। श्रद्धाऽतिशयोत्पादनाय संशयपूर्वकमवधारयति—किमस्येति। ईश्वर-प्रणवयोर्वाच्यवाचकता शक्तिः किमस्येश्वरस्य संकेतेनाहार्यान्योन्याध्यासरूपेण कृताऽऽगन्तुकी, यथा पिण्डविशेषे देवदत्तादिनामवाच्यता पितृसंकेतकृता तद्वत्, अथ वा [3]प्रदीपस्य प्रकाशवत्स्वाभाविकी यावद्द्रव्यभाविनीत्यर्थः। विमृष्य सिद्धान्तमाह—स्थित इति। अर्थसम्बन्ध-मेवाभिनयति प्रकाशयतीत्यर्थः। स च शक्त्याख्यसम्बन्ध आधाराधेय[4]वत्स्वरूपसम्बन्धोऽति-रिक्तपदार्थ एव [5]वाऽस्तु। घटादिनाम्नाम[6]प्येवं बोध्यम्। देवदत्तादिनाम्नां तु नैवं यतः

---

1. क ख घ च छ – **दर्शयति**, ग – **प्रदर्शयति**।
2. क ख ग घ – **याज्ञवल्क्यादिभ्यः**, च छ – **याज्ञवल्क्यादिवचनेभ्यः**।
3. क–**प्रदीप०**, ख ग घ च छ – **प्रदीपस्य**।
4. क ख ग – **भावादिवत्**, घ च छ – **वत्**।
5. क ख ग घ च छ – **वा** उपलभ्यते, ख – **वा** नोपलभ्यते।
6. ख ग घ च छ – **अप्येवं** उपलभ्यते क – **अप्येवं** नोपलभ्यते।

पुरुष[1]संकेतभेदेनार्थभेदा भवन्तीति। संकेतेनेति। अयमस्य पितेत्याद्येवंरूपेणेत्यन्वयः। ननु शक्तिनित्यत्वेऽपि कदाचित्संकेतभेदाद्देवदत्तादिशब्दवदर्थभेदोऽपि प्रणवस्य स्यादित्याशङ्कायामाह–सर्गान्तरेष्वपीति। [2]अयं संकेतो लौकिको न भवति; अपि तु [3]सर्वज्ञाश्चेतनाशक्तिं पूर्व[4]सिद्धामनुसृत्यैव संकेतं कुर्वन्तीत्याशयः। सम्बन्धनित्यत्वे संप्रतिपत्त्याख्यकार्यनित्यत्वं प्रमाणयति–सम्प्रतिपत्तीति। देवदत्तादिशब्दवद्वाच्यवाचकभावस्यानित्यत्वे कदाचित्संकेतवैपरीत्येन व्यवहारवैपरीत्यमपि स्यादित्याशयः। तथा च सति सर्वत्र शब्दार्थेऽनाश्वासः स्यादित्यागमिनः प्रतिजानते=अवधारयन्तीतिसमग्रवाक्यार्थेनान्वयः॥२७॥

'**ईश्वर**' शब्द का अर्थ (वाच्य) विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया। सम्प्रति, 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् ईश्वर-चिन्तन की व्याख्या करने के लिये सर्वप्रथम ईश्वरप्रणिधान के अङ्गभूत मन्त्र को सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं–'**तस्येति।**' सूत्र का अर्थ है कि '**ईश्वर**' का अभिधायक (नाम) '**प्रणव**' है। यह तथ्य योगियाज्ञवल्क्य के वचन से भी सिद्ध होता है–'**अदृष्टविग्रहो...प्रसीदति**' २/६१ अर्थात् '**देव**' अर्थात् परमात्मा '**अदृष्टविग्रह**' अर्थात् अद्भुत शरीर वाला है, '**भावग्राह्य**' अर्थात् भक्तिमात्र से ग्राह्य तथा '**मनोमय**' अर्थात् मन के समान कारणोपाधि प्रकृष्टसत्त्व चित्त से उसी प्रकार शबलीयुक्त है जिस प्रकार लोहे का शबलित (नारंगी) अग्नि से युक्त होना। (श्लोक की दूसरी पंक्ति का अर्थ है)–'वह ईश्वर '**ओंकार**' नाम से स्मृत (याद किया जाता) है। '**ओंकार**' नाम से पुकारे जाने पर वह प्रसन्न होता है।'

सम्प्रति, भाष्यकार '**प्रणव**' के प्रणिधानोपयोगी अर्थ को बतलाते हैं–'**वाच्य ईश्वर इति।**' वाच्य 'ईश्वर' के साथ वाचक 'प्रणव' का '**वाच्यवाचकभाव**' सम्बन्ध '**नित्य**' ही है। '**ईश्वर**' और '**प्रणव**' के **नित्यसम्बन्ध**' के विषय में (भक्तों में) निष्ठातिशय को उत्पन्न करने लिये भाष्यकार शंकोपस्थापनपूर्वक सिद्धान्त की स्थापना करते हैं–'**किमस्येति।**' **शङ्का**–ईश्वर और प्रणव में निहित वाच्य-वाचकता-शक्ति क्या ईश्वर के 'संकेत' अर्थात् अन्योन्याध्यासरूप आहार्य से कृत अर्थात् आगन्तुक (आकस्मिक) है? जिस प्रकार पिण्डविशेष में देवदत्तादि नाम (वाचक) की वाच्यता पितृसंकेत से कृत अर्थात् निष्पादित होती है; अतः अनित्यरूप है उसी प्रकार क्या ईश्वर में प्रणव की वाच्यता '**संकेतकृत**'. है? अथवा प्रदीप के प्रकाश की भाँति स्वाभाविक अर्थात् यावद्द्रव्यभावी है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश प्रदीप की स्थिति तक अवस्थित

---

1. क ग घ च छ – **संकेतभेदेन**, ख–**संकेतेन**।
2. क ख ग घ च – **अयं**, छ – **अर्थ०**।
3. क घ – **सर्वज्ञेन शक्तिं**, ख – **सर्वज्ञानानन्तशक्तिं**, ग – **सर्वज्ञानां चैतनाशक्तिं**, च छ – **सर्वज्ञाश्चेतनाशक्तिम्**।
4. क ग घ च छ – **सिद्धां**, ख – **सिद्धानाम्**।

रहता है उसी प्रकार क्या प्रणव भी ईश्वर की स्थिति तक अवस्थित रहता है? अतः यावद्द्रव्यभावी होने से ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचकभाव **सम्बन्ध** नित्य कैसे है?

समाधान–उक्त शंका के दोनों विकल्पों का परीक्षण कर भाष्यकार सिद्धान्त बतलाते हैं–'**स्थित इति**।' 'शक्ति' अर्थसम्बन्ध (शब्द के साथ अर्थ के सुनिश्चित सम्बन्ध) को ही प्रकाशित करती है। भाव यह है कि वाच्य का वाचक के साथ सम्बन्ध पूर्व स्थित है। प्रकृत में '**संकेत**' '**प्रणव**' के पूर्वस्थित ईश्वर' अर्थ को ही प्रकट करता है। और यह '**शक्त्याख्य सम्बन्ध**' आधाराधेयभावसम्बन्ध की भाँति '**स्वरूपसम्बन्ध**' है। अथवा इसे अतिरिक्त '**पदार्थ**' ही माना जा सकता है। घटादि नामों में भी इसी प्रकार का सम्बन्ध समझना चाहिये। किन्तु देवदत्तादि नामों में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषसंकेत के भेद से अर्थभेद होता है। योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं–'**संकेतेनेति**।' जैसे यह इस (पुत्र)का पिता है अथवा यह इस (पिता) का पुत्र है–इस प्रकार पुरुषसंकेत के भेद से अर्थभेद का अन्वय करना चाहिये।

शङ्का–शक्ति के नित्य होने पर भी कदाचित् संकेतभेद से देवदत्तादि शब्द के समान प्रणव का अर्थभेद भी माना जाय? अर्थात् '**प्रणव**' कभी ईश्वरातिरिक्त अर्थ का भी वाचक बने?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**सर्गान्तरेष्वपीति**।' ईश्वर और प्रणव का यह संकेत लौकिक नहीं है, अपितु विद्वान् लोग पूर्वसिद्ध चेतनाशक्ति का अनुसरण करके ही संकेत करते हैं। सम्बन्ध के नित्य होने पर '**सम्प्रतिपत्ति**' अर्थात् ज्ञानसंज्ञक कार्य की नित्यता को भाष्यकार प्रमाणित करते हैं–'**सम्प्रतिपत्तीति**।' देवदत्तादि शब्द के समान वाच्य-वाचक-भाव के अनित्य होने पर कदाचित् संकेत के विपरीत होने से व्यवहार-वैपरीत्य भी हो सकता है। और ऐसा होने पर सर्वत्र शब्दार्थ में अनाश्वास जागरित होगा, ऐसा आगमिक लोग मानते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का अन्वय करना चाहिये। वैयासिक वाक्य का अर्थ है–सदृश व्यवहार के नित्य होने से शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य है। भाव यह है कि ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचकभावसम्बन्ध भी नित्य है, वह संकेतकृत नहीं, अपितु संकेतद्योत्य है॥२७॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः–

ईश्वर और प्रणव के वाच्यवाचकसम्बन्ध को जानने वाले योगी को–

योगसूत्रम्

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥२८॥

उस (पूर्ववर्णित) प्रणव का जप और प्रणव के अर्थरूप ईश्वर की भावना (चित्त में भूयोभूयः निवेशरूप धारणा) करनी चाहिये॥२८॥

व्यासभाष्यम्

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य [1]भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमा[2]सते।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ इति॥२८॥

ओङ्कार का 'जप' और ओङ्कार के अर्थ 'ईश्वर' की बारम्बार भावना करना (योगी का) कर्त्तव्य है। इस प्रकार ओङ्कार का जप और उसके अर्थ की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। ऐसा कहा भी गया है—'ओङ्कार के जप के अनन्तर (स्वाध्याय से) ईश्वरभावनरूप योग का अनुष्ठान (योगसाधन) करे और ईश्वरभावन (योगसाधन) के अनन्तर जप (स्वाध्याय) करे। इस प्रकार प्रणवजप (स्वाध्याय) तथा ईश्वरभावन (योगसाधन) से परमात्मा का साक्षात्कार होता है'॥२८॥

तत्त्ववैशारदी

वाचकमाख्याय प्रणिधानमाह—तज्जपस्तदर्थभावनम्। व्याचष्टे—प्रणवस्येति। भावनं पुनः पुनश्चित्ते निवेशनम्। ततः किं सिध्यतीत्यत आह—प्रणवमिति। एकाग्रं संपद्यते एकस्मिन्भगवत्यारमति चित्तम्। अत्रैव वैयासिकीं गाथामुदाहरति—तथा चेति। तत ईश्वरः समाधितत्फललाभेन तमनुगृह्णाति॥२८॥

वाच्य ईश्वर के वाचक प्रणव को बतलाकर सूत्रकार ईश्वरचिन्तन (प्राणिधान) का निरूपण करते हैं—'**तदिति**।' भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—'**प्रणवस्येति**।' सूत्रगत '**भावन**' शब्द का अर्थ है—चित्त में ध्येय तत्त्व का बार-बार सन्निवेश करना अर्थात् अनवरत भावचिन्तन करना।

शङ्का—'**प्रणव**' का भूयोभूयः चिन्तन करने से योगी को क्या सिद्ध होता है?

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **भावनम्**, घ प फ र – भावना।
2. क ग च छ थ न भ म – **आसते**, ख घ ज झ त द ध प फ ब य र – आमनेत्।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**प्रणवमिति।**' '**प्रणव**' का 'जप' और उसके अर्थ '**ईश्वर**' का चिन्तन करने वाले योगी को एकाग्रता निष्पादित होती है। अर्थात् योगी का चित्त एकमात्र '**ईश्वर**' में रमण करता है अर्थात् वह आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त करता है। तदर्थ वैयासिकी गाथा को भाष्यकार उद्धृत करते हैं—'**तथा चेति।**' इस प्रकार (ओङ्कार और योगसाधन का अनवरत अभ्यास करने वाले साधक को) समाधि और उसके (चरम) फल की प्राप्ति कराके ईश्वर भक्त को अनुगृहीत (प्रसन्न) करता है।

बालप्रिया—

'**परमात्मा प्रकाशते**'— विष्णुपुराण के इस वचन के अनुसार '**ततः परमात्मसाक्षात्कारो भवति**'—अर्थात् तत्पश्चात् परमात्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा वाक्यशेष समझना चाहिये।

'**स्वाध्यायात्**'—'**प्रणव-जप** के पश्चात् '**योग**' का अभ्यास करे और '**योग**' के पश्चात् पुनः '**प्रणव-जप**' का अभ्यास करे'—यहाँ '**योग**' और '**प्रणव-जप**' के अभ्यास में आनन्तर्य विवक्षित है, क्योंकि '**योग**' और 'जप' का एक साथ अभ्यास सम्भव नहीं है। अतः यहाँ '**योग**' के आदि और अन्त में जप विहित है। यद्यपि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने—

'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।' (८/१३)

श्लोक के द्वारा प्रणवजपपूर्वक ईश्वरानुचिन्तनरूप ईश्वरप्रणिधान को ही मोक्ष का साक्षात् हेतु बतलाया है तथापि गीता के पूर्ववर्ती श्लोक (८/१२) से 'आस्थितो **योगधारणाम्**'—इत्यंश को निकालकर उसे प्रस्तुत श्लोक के साथ अन्वित कर श्लोक का इस प्रकार अर्थ करना चाहिये—'ओं इत्याकारक जप और उसके अभिधेयभूत मुझ ईश्वर का अनुसरण करके योगप्रक्रिया में अवस्थित होकर भक्त परमगति (कैवल्य) को प्राप्त करता है। अन्यथा '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**' सूत्र द्वारा कथित पतञ्जलि का यह तथ्य बाधित हो जायेगा कि 'ईश्वरप्रणिधान समाधिलाभ द्वारा कैवल्य का हेतु है।' निष्कर्षतः ईश्वरप्रणिधान से अन्तरायाभाव, स्वरूपस्फूर्ति, (जड़ से भिन्न अपने चेतनस्वरूप का अधिगम), सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधिलाभ और सबसे अन्त में कैवल्य प्राप्त होता है—ऐसा क्रम समझना चाहिये॥२८॥

योगवार्त्तिकम्

प्रणिधानाङ्गमन्त्रं प्रदर्श्य साङ्गप्रणिधानस्य स्वरूपं सूत्रकारो वक्ष्यति, तत्सूत्रं पूरयित्वोत्थापयति—विज्ञातेति। सूत्रेण सहान्वयः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। सूत्रार्थं व्याचष्टे—

प्रणवस्येति। [1]प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्, तच्च वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा कर्त्तव्यमिति समुदायार्थः।

प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यातीत नियतो यतिः॥[2]

इति स्मरणादिति। प्रणवार्थश्चावान्तरभेदैः श्रुत्यादिषु बहुधोक्तः, संक्षेपात्तु गारुडोक्तोऽर्थोऽत्र कथ्यते। यथा गारुडे—

व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्त्तिताः।
अर्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥ इति।

प्रणवार्थचिन्तनं च मुख्यतो द्विविधम्—तत्रैकमंशांशिकार्यकारणशक्तिशक्तिमदाद्यभेदेन तप्तायःपिण्डवदविभागलक्षणैकीभावादहं ब्रह्म सर्वं खलु ब्रह्मेत्यादिरूपं भवति तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मनोमित्येकीकृत्य इत्यादि श्रुतेः, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत इत्यादि श्रुतेश्च,[3]

एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥

इत्यादिस्मृतेश्च। अपरं प्रकृतितत्कार्यपुरुषेभ्यो विवेकेन केवले ब्रह्मचिन्मात्र आत्मत्वचिन्तनम्, ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय[4] तमसः परस्मात्, अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति तमेवैकं जानथ आत्मानम् आत्मेत्येवोपासीत इति श्रुतेः,

प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत्।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रसंख्याय विमुच्यते॥
यः सर्वभूतचित्तज्ञो यश्च सर्वहृदि स्थितः।
यश्च [5]सर्वान्तरे ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत्॥

इति गारुडादिभ्यश्च। तथा—आत्मेति तूपयन्ति ग्राहयन्ति च इति ब्रह्ममीमांसासूत्राच्च। अत्र गारुडवाक्ये पुरुषस्य ब्रह्मणि न्यासो लय एव न त्वभेदः,

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे [6]प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे॥

---

1. ख ग घ च छ – प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्, तच्च वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा कर्तव्यमिति समुदायार्थः उपलभ्यते, क – प्रणव...समुदायार्थः नोपलभ्यते।
2. ख – जपश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्। कोटिसूर्यसमं तजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम्(यतिः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–जपश्च.......निर्मलं नोपलभ्यते।
3. ख – यथा (श्रुतेश्च पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–यथा नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ – पाराय, ख–पराय।
5. क घ च छ – सर्वान्तरे, ख ग – सर्वारणिः।
6. क ग घ च छ – प्रविलाप्य तं, ख – प्रविलाप्यते।

इत्यादिवाक्येषु जीवविलापनेन ब्रह्मात्मचिन्तनस्य स्मरणात्, प्रकृतिस्थापनसाहचर्याच्च। अम्बरदृष्टान्तश्च नाखण्डत्वे–

यथाऽग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत्।
तथाऽऽत्मा साम्यम[1]भ्येति योगिनः परमात्मना॥

इत्यादि[2]वाक्योक्तस्याग्निवायुजलादिबहुलदृष्टान्तस्य साम्यस्य च विरोधाद्, न्यायानुग्रहेणा[3]ग्न्यालयादिदृष्टान्तानामेव बलवत्त्वाच्च; किंत्वेकरूपस्यौपाधिकमिथ्याविभागनिवृत्तिमात्र इति। विलापनेन च प्रकृत्यादिवज्जीवानामनात्मत्वमेव लभ्यते। तदुक्तं मात्स्ये–

तत्त्वैः संपादितं भुङ्क्ते पुरुषः पञ्चविंशकः।
[4]ईश्वरेच्छावशात्सोऽपि जडात्मा कथ्यते बुधैः॥ इति।

मोक्षधर्मे च–

ते चैनं नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमप्युत।
षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः॥ इति।

एतेन प्रकृतिपुरुषौ विलाप्य यच्छिष्टं ब्रह्म तस्मिन्नेवाहं[5]भावे वचनाच्च न जीवे मुख्योऽहंशब्द इति। [6]अनयोश्चिन्तनयोर्मध्ये प्रथमचिन्तनमुपासना, द्वितीयं तत्त्वज्ञानमिति। [7]ब्रह्मात्मताज्ञानं चातिदुर्लभम्। मोक्षधर्मे चोक्तम्[8]–

भवन्ति[9] ज्ञानिनो नित्यं सर्वतश्च निरामयाः।[10]
ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचित्प्रतिपद्यते॥ इति दिक्।

प्रणिधान के अङ्गभूत मन्त्र (ओङ्कार) को प्रदर्शित करके सूत्रकार अङ्गसहित प्रणिधान के स्वरूप को बतायेंगे। इससे सम्बन्धित सूत्र को पूरा करने के लिये भाष्यकार लिखते हैं–'**विज्ञातेति**।' इस वैयासिक अंश का सूत्र के साथ अन्वय करना चाहिये। सूत्र है–'**तदिति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**प्रणवस्येति**।' ओङ्कार के जप के साथ ब्रह्म का ध्यान करना '**प्रणिधान**' कहलाता है। यह प्रणिधान '**ईश्वर**' और '**प्रणव**' के वाच्यवाचकभावसम्बन्ध को जानकर करना चाहिये। यह पूरित भाष्यांश

---

1. क ग घ च छ – **अभ्येति**, ख – **अप्येति**।
2. क ग घ च छ – **वाक्योक्तस्य**, ख – **वाक्येऽस्य**।
3. क च छ – **अग्न्यालयादि०**, क ग – **अग्न्यादि०**, घ – **लयादि०**।
4. क ग घ च छ – **ईश्वरेच्छा०**, ख -- **ईश्वरेण**।
5. क च छ – **भावे**, ख ग घ–**भाव०**।
6. ख ग – **च** (**अनयोः** पश्चात्) **उपलभ्यते**,'क घ च छ – **च** नोपलभ्यते।
7. क ग घ च छ – **ब्रह्मात्मता०**, ख – **ब्रह्म०**।
8. क घ च छ – **चोक्तम्**, ख ग – **प्रोक्तम्**।
9. क ख ग घ च – **भवन्तः**, छ – **भवन्ति**।
10. क घ च छ – **निरामयाः**, ख ग – **निरागसः**।

का अर्थ है। सरलार्थ यह है कि '**विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः तज्जपस्तदर्थभावनम्**'– का समुदित अर्थ इस प्रकार करना चाहिये–ईश्वर और प्रणव के वाच्यवाचकभावसम्बन्ध को जानकर योगी को प्रणवजप और उसके वाच्य (ईश्वर) का चिन्तन करना चाहिये। इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है–'**प्रणवेन...यतिः**' अर्थात् 'संन्यासी को नियमतः (अहर्निश) ओङ्कारजप के द्वारा परब्रह्म का ध्यान करना चाहिये।' श्रुत्यादि शास्त्रों में अवान्तरभेदों सहित प्रणवार्थ को अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। यहाँ गरुडपुराणोक्त प्रणवार्थ को संक्षेपतः बतलाया जा रहा है। जैसा कि गरुडपुराण में कहा गया है–'**व्यक्ताव्यक्ते....चिन्तकैः**' अर्थात् '(प्रणव की) व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष–ये तीन मात्राएँ कही गई हैं। इसकी परब्रह्मरूप अर्धमात्रा तत्त्वज्ञों (अध्यात्मवेत्ताओं) द्वारा जानने योग्य है।'

प्रणवार्थचिन्तन मुख्यरूप से दो प्रकार का है। इनमें से पहला वाला प्रणवार्थचिन्तन अंशांशिरूप, कार्यकारणरूप, शक्तिशक्तिमद्रूप–इत्याद्याकारक अभेद के कारण तप्तलोहपिण्डवत् अविभागलक्षणक एकीभावरूप होने से '**अहं ब्रह्म**' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, '**सर्वं खलु ब्रह्म**' अर्थात् सब कुछ ब्रह्मरूप है– इस प्रकार का है। इसमें निम्नाङ्कित श्रुति और स्मृतिवाक्य प्रमाण हैं–'**तमेतमा....मित्येकीकृत्य**' (श्रुति), '**सर्वं... उपासीत**' (श्रुति) तथा '**एकः समस्तं....भेदमोहम्**' (विष्णु पु. २/१६/२३) स्मृतिवाक्य। स्मृतिवाक्य का अर्थ यह है–'इस संसार में जो कुछ भी व्यस्त और समस्त रूप से है, वह सब 'अच्युत' अर्थात् ब्रह्ममय ही है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह मैं हूँ, वह तू है और वह सब कुछ है–इत्याकारक (अभेदात्मक) आत्मस्वरूप है। अतः मोहघटित भेद का परित्याग करना चाहिये।'

दूसरा प्रणवार्थचिन्तन इस प्रकार है–प्रकृति, प्रकृति के महदादि कार्य तथा पुरुष से पृथक्तया केवल चिन्मात्ररूप ब्रह्म में आत्मत्वचिन्तन करना–द्वितीय प्रकार का प्रणवार्थ-चिन्तन है। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण हैं–'**ओमित्येवं...परस्मात्**', '**अथात...नेति**' तथा '**न...वोपासीत**।' इसी प्रकार गरुडपुराण में कहा है–'**प्रकृतिं...चिन्तयेत्**' १/२२९/१० अर्थात्' प्रकृति को पुरुष में स्थापित करके पुरुष को ब्रह्म में स्थापित करे। 'मैं परज्योतिस्वरूप ब्रह्म हूँ'–ऐसा अविप्लुत विवेकज्ञान करके साधक मुक्त हो जाता है। जो सभी प्राणियों के अन्तःकरण का वेत्ता है और जो समस्त हृदयों में स्थित है और जो सभी पदार्थों के भीतर अनुभव करने योग्य है, वह मैं ही हूँ–इस प्रकार साधक को चिन्तन करना चाहिये।' ब्रह्ममीमांसासूत्र से भी यही बात सिद्ध होती है–'**आत्मेति तूपयन्ति ग्राहयन्ति च**' ४/१/३। उक्त गरुडवाक्य में ब्रह्म में पुरुष का जो न्यास बतलाया गया है, वह 'लयरूप' ही है, न कि '**अभेदरूप**'। इसी प्रकार '**विज्ञानात्मनि...मिवाम्बरे**' (श्रीमद्भागवत १/१३/५४)–इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मात्म-

चिन्तन के स्मरण से और पुरुष में प्रकृतिस्थापन के साहचर्य से जीव का ब्रह्म में लय होना प्रतिपादित हुआ है। और जो अम्बर (महाकाश) में घटाम्बर (घटाकाश) का लय होना बतलाया गया है, वह जीव-ब्रह्म के अखण्डत्व का प्रतिपादक नहीं है। श्लोक का अर्थ है–'आत्मज्ञान द्वारा मन और बुद्धि को एकत्रकर अपनी बुद्धि को उन्होंने ब्रह्म में उसी प्रकार मिला दिया है जिस प्रकार कोई योगी महाकाश में घटाकाश को मिला देता है।' अम्बर के उक्त दृष्टान्त को जीव-ब्रह्म के अखण्डत्व का प्रतिपादक मानने पर–'**यथाऽग्नि....परमात्मना**' अर्थात् 'जिस प्रकार अग्नि में स्फुलिङ्ग (वह्नि-कण) विलीन होकर तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार योगी (तत्त्वज्ञ) की आत्मा परमात्मा के साथ समत्व (तद्रूपत्व) को प्राप्त करती है'–इत्यादि वाक्यों द्वारा वर्णित अग्नि, वायु, जलादि के बहुत से साम्य-प्रतिपादक दृष्टान्तों के साथ विरोध होगा। किञ्च न्यायबल से अग्न्यादि के लयादिपरक दृष्टान्तों को ही यहाँ प्रधानतया उपन्यस्त किया गया है और जीव-ब्रह्म की एकरूपता का तात्पर्य औपाधिक मिथ्याविभाग (शरीरादि उपाधिवशात् प्रातीतिक भेदज्ञान) की निवृत्तिमात्र करना है। और इस प्रकार के कथन से प्रकृत्यादि के समान जीवों की अनात्मता ही ज्ञात होती है। जैसा कि मत्स्यपुराण में कहा गया है–'**तत्त्वै...बुधैः**' (३/२७-२८) अर्थात् 'पच्चीसवाँ पुरुषतत्त्व प्रकृत्यादि चौबीस तत्त्वों के द्वारा निष्पादित पुरुषार्थ (भोग तथा मोक्ष) को ईश्वरेच्छाधीन होकर भोगता है। बुद्धिमान् लोग इसी पुरुष को '**जडात्मा**' कहते हैं।' मोक्षधर्म में भी कहा है–'**ते चैनं...परायणाः**' (३१८/७९) अर्थात् 'ये चौबीस पदार्थ इस पच्चीसवें पुरुषतत्त्व को प्रसन्न नहीं करते हैं, इसीलिये शुचिशील व्यक्ति छब्बीसवें ईश्वरतत्त्व को देखते हुए उसी में अनुरक्त रहते हैं।'

इस प्रकार प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके जो ब्रह्म बचता है, उसी में '**अहंभावना**' (**अहं ब्रह्मास्मि**–इत्याकारक धारणा) करनी चाहिये। 'जीव' में '**अहम्**' शब्द मुख्य नहीं है। इन दो प्रकार के चिन्तनों (प्रणवार्थभावन) में से प्रथम चिन्तन '**उपासनापरक**' है और द्वितीय चिन्तन '**तत्त्वज्ञानपरक**' है। इनमें यह '**ब्रह्मात्मज्ञान**' (**अहं ब्रह्मास्मि**–इत्याकारक ज्ञान अथवा ब्रह्म में आत्मभावना) दुर्लभ है। मोक्षधर्म में ब्रह्मात्मज्ञान की दुरुहता कही गई है–'**भवन्ति...प्रतिपद्यते**' (२६९/११) अर्थात् 'तत्त्वज्ञानी लोग आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिकरूप से दुःखरहित होते हैं। किन्तु ब्रह्मात्मता (ब्रह्मैक्य) को कोई तत्त्वज्ञानी कदाचित् ही प्राप्त होता है।'

सम्प्रति, ईश्वरप्रणिधान से प्राप्त होने वाले फल के विषय में विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ईश्वरप्रणिधानादिति पञ्चम्युक्तमसंप्रज्ञातपर्यन्तयोगहेतुत्वं [1]तत्त्वप्रणिधानस्य येन द्वारेण तदाह—[2]तदस्येति। [3]प्रणिधानादिभिश्चैकाग्रो भवति, ततश्च परमात्मसाक्षात्कारः, ततः परवैराग्यादसंप्रज्ञातयोग इति शेषः[4],

स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

इति वक्ष्यमाणवाक्यस्वरसात्। उक्तार्थे स्वपितुर्वाक्यं विष्णुपुराणस्थं प्रमाणयति—तथा चोक्तमिति। योगजपयोरेकदा न संभव इति योगस्याद्यन्तयोर्व्युत्थानकाले जप उक्तः।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा १/२३ सूत्र में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से यह बतलाया गया है कि '**ईश्वरप्रणिधान**' असम्प्रज्ञातपर्यन्त '**योग**' का हेतु है। ईश्वरप्रणिधान जिस द्वार से चरमयोग का कारण होता है, उसे भाष्यकार बतलाते हैं—'**तदस्येति**।' ईश्वरप्रणिधानादि साधनों से चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर चित्तैकाग्रता से परमात्मा का साक्षात्कार होता है और इसके पश्चात् 'परवैराग्य' से असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होता है। यह क्रम भाष्य में आगे बतलाये गये '**स्वाध्याय...प्रकाशते**'—इस वाक्य के अनुसार है। भाष्यकार उक्त अर्थ में विष्णुपुराण में उद्धृत अपने पिता के वाक्य को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं—'**तथा चोक्तमिति**।' अभिप्राय यह है कि योग और जप एक साथ नहीं हो सकते हैं, इसलिये योग के आदि और अन्त के व्युत्थानात्मक काल में जप विहित है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार शंकोपस्थापनपूर्वक उपरिनिर्दिष्ट योगक्रम की युक्तियुक्तता को परिपुष्ट करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

ननु परमात्मसाक्षात्कारात् परवैराग्यं भवतीति यदुक्तं तन्नोपपद्यते, आत्मसाक्षात्कारेणैवाभिमाननिवृत्त्या [5]परवैराग्यसंभवादिति? अत्रोच्यते—ब्रह्मज्ञानं ताटस्थ्येनात्र न विवक्षितं किं त्वात्मत्वेनैव। तथा च जीवात्मतत्त्वज्ञानाद् बुद्धि[6]पर्यन्तमभिमाननिवृत्तिवत् परमात्मज्ञानाद् जीवपर्यन्तेष्वभिमानो निवर्त्तते, पञ्चविंशतितत्त्वानि विलाप्यैव सोऽहमित्यात्मतयाऽधिष्ठानब्रह्मसाक्षात्कारादिति।

---

1. क घ च छ – **तत्त्व०**, ख ग – **तत्०**।
2. क घ – **तदिति**, ख ग च छ – **तदस्येति**।
3. क घ च छ – **प्रणिधानादिभिश्चैकाग्रः**, ख ग – **प्रणिधानादीश्वरैकाग्र्यम्**।
4. ख – **स्वाध्याययोग इति शेषः** (**शेषः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **स्वाध्याययोग इति शेषः** नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ – **परवैराग्यसंभवात्**, ख – **परवैराग्यं संभवति**।
6. क ग घ च छ – **पर्यन्तं**, ख – **पर्यन्तेषु**।

शङ्का–'परमात्मसाक्षात्कार' से 'परवैराग्य' होता है, यह जो आपने कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि (**'परमात्मसाक्षात्कार'** के विना) **'आत्मसाक्षात्कार'** से ही अभिमान की निवृत्ति द्वारा **'परवैराग्य'** हो सकता है?

समाधान–इस शङ्का के समाधानार्थ योगवार्त्तिककार कहते हैं–यहाँ ब्रह्मज्ञान तटस्थरूप से विवक्षित नहीं है, किन्तु आत्मत्वेन ही विवक्षित है। (भाव यह है कि यहाँ ब्रह्म का ज्ञान आत्मत्वेन='ब्रह्म आत्मा है' इस रूप से कहा गया है, न कि तटस्थरूप से)। अतः जैसे जीवात्मा के साक्षात्कार से बुद्धिपर्यन्त होने वाला आत्मत्वाभिमान निवृत्त हो जाता है, वैसे ही परमात्मसाक्षात्कार से जीवपर्यन्त होने वाला आत्माभिमान निवृत्त हो जाता है, क्योंकि पञ्चविंशति तत्त्वों का ज्ञान करके ही **'मैं वह हूँ'** इत्याकारक आत्मभावना से अधिष्ठानभूत **'ब्रह्म'** की **'अपरोक्षानुभूति'** साधक को होती है।

बालप्रिया–

'ब्रह्मज्ञानं ताटस्थ्येनात्र न विवक्षितम्'–वेदान्त में दो प्रकार से **'ब्रह्म'** का लक्षण किया गया है–**'स्वरूपलक्षण'** तथा **'तटस्थलक्षण'**। द्विविध लक्षणों में से स्वरूपभूत लक्षण को **'स्वरूपलक्षण'** कहते हैं, जैसे–**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै. २/१-१), **'आनन्ददो ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै. ३-६) ये श्रुतियाँ ब्रह्म के **'स्वरूपलक्षण'** की प्रतिपादिका हैं। जो लक्षण लक्ष्य के यावत्कालपर्यन्त स्थिर न रहकर लक्ष्य का व्यावर्तक मात्र (अन्य पदार्थ से भेदक मात्र) होता है, उसे **'तटस्थलक्षण'** कहते हैं। जैसे प्रकृत में **'जगज्जन्मादिकारणत्व'** ब्रह्म का **'तटस्थलक्षण'** है। इस परिप्रेक्ष्य में योगवार्त्तिककार के कथन का अभिप्राय यह है कि 'परमात्मसाक्षात्कार से परवैराग्योदय होता है'–यह जो कहा गया है, वह परमात्मा (ब्रह्म) के आत्मत्वरूप **'स्वरूपलक्षण'** की दृष्टि से ही विहित है, न कि **'तटस्थलक्षण'** की दृष्टि से। इस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तावित शंका का समाधान हो जाता है।

शंकोपस्थापनपूर्वक प्रकृत तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हुए योगवार्तिककार कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

नन्वेवं जीवस्याप्यनात्मत्वं प्रसक्तमिति चेत्? न, व्यावहारिकपारमार्थिकभेदेनात्मद्वयाभ्युपगमात्। आत्मत्वं हि संघाता[1]ध्यक्षत्वं क्षेत्रज्ञत्वं च, तच्चेश्वरस्यैवास्ति, ईश्वरत्ववज्[2]जीवात्मनां परतन्त्रत्वाद्, धर्माधर्माद्यज्ञातृत्वाच्च। जीवानां च चितिशक्तिमत्तामात्रे-

1. क – ज्ञातृत्वं, ख ग च छ – अध्यक्षत्वं, घ – साक्षित्वम्।
2. क ख ग – जीवानां, घ च छ – जीवात्मनाम्।

णैवात्मत्वं गौणं बुद्ध्याद्यापेक्षिकं च, यथा हिरण्यगर्भादीनामीश्वरत्वं [1]तद्वज्जीवानामात्मत्वं बन्धमोक्षभोगादिभागितया सिद्धं लोकव्यवहारगोचरतया च व्यावहारिकमेव। एवमेवा[2]हंत्वं-शब्दोऽपि परमात्मन्येव मुख्यो न तु जीवे, प्रयोगादिषु स्वातन्त्र्याभावेन प्रयोक्त्रात्मत्वादिरूप-स्याहमादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य जीवेष्वभावादिति। तथा चोक्तम्—

त्वामात्मानं परं मत्वा परम् आत्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहो [3]ज्ञजनताऽज्ञता॥ इति।

परम्=अनात्मानम्। यद्यपि जीवो मुख्यात्मा न भवति तथाऽपि तज्ज्ञानादपि धर्माधर्म-रागादिनिवृत्त्या मोक्षस्तु भवत्येवेति। एतेन व्यवहारपरमार्थभेदादैकात्म्यनानाऽऽत्मतावादौ श्रुतिस्मृतिदर्शनेष्वविरुद्धावित्यपि सिद्धम्। अधिकं तु ब्रह्ममीमांसाभाष्ये विज्ञानामृते द्रष्टव्यमिति दिक्।

[4]तदिदमीश्वरप्रणिधानाद्वेत्यादिसूत्रगणोक्तमर्थजातं लिङ्गपुराणे स्पष्टं [5]प्रदर्शितम्। यथा—

अविद्ययेशस्य योगो नातीतो नाप्यनागतः।
नाप्यस्त्यस्मितया चैवं रागेणापि त्रिकालता॥
कालेषु त्रिषु संबन्धस्तस्य द्वेषेण नो भवेत्।
तथैवाभिनिवेशेन संबन्धो न कदाचन॥
कुशलाकुशलैश्चैव संबन्धो नैव कर्म्मभिः।
भवेत् कालत्रये शंभोरविद्यामतिवर्जनात्॥
विपाकैः कर्मणां तस्य न भवेदेव संगमः[6]
कालेषु त्रिषु शर्वस्य शिवस्य शिवदायिनः॥
सुखदुःखैर्न संस्पृश्यः कालत्रितयवर्तिभिः।
तथैव भोगसंस्कारैर्भगवानन्तकान्तकः॥
पुंविशेषः परो देवो भगवान् परमेश्वरः।
चेतनाचेतनोन्मुक्तः प्रपञ्चादखिलात्परः॥
लोके सातिशयत्वेन ज्ञानैश्वर्ये विलोकिते।
शिवे नातिशयित्वेन स्थिते आहुर्मनीषिणः॥

---

1. क ग घ च छ — तद्वज्जीवानामात्मत्वं बन्धमोक्षभोगादिभागितया सिद्धं लोकव्यवहारगोचरतया च उपलभ्यते, ख — तद्वत्.....गोचरतया च नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ — अहं त्वं, घ — हंस०।
3. क ग — अज्ञजनता, ख — ज्ञानजनता, घ च छ — ज्ञजनता।
4. क ग घ च छ — तत्, ख — यत्।
5. क ख घ च छ — प्रदर्शितं, ग — दर्शितम्।
6. क ख ग — संगमः, घ च छ — संयमः।

प्रतिसर्गं [1]वस्तुभानं ब्रह्मणः शास्त्रविस्तरम्।
[2]उपदेशात्स एष्टव्यः कालावच्छेदवर्त्तिनाम्॥
कालावच्छेदयुक्तानां गुरुणामप्यसौ गुरुः।
सर्वेषामपि सर्वेशः कालावच्छेदवर्जितः॥
अनादिरेव संबन्धो विज्ञानोत्कर्षयोः परे।
स्थितयोरीदृशः शर्वः परिशुद्धः स्वभावतः॥
आत्मप्रयोजनाभावे परानुग्रह एव हि।
प्रयोजनं समस्तानां क्रियाणां परमेष्ठिनः॥
प्रणवो वाचकस्तस्य शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादिशब्दानां प्रणवो हि परः स्मृतः॥
शंभोः प्रणववाच्यस्य भावना तज्जपादपि।
आशु सिद्धिः परा प्राप्या भवत्येव न संशयः॥
[3]एकं ब्रह्ममयं ध्यायेत्सर्वं विप्र! चराचरम्।
चराचरविभागं च त्यजेदहमिति स्मरन्॥
सप्ताण्डावरणान्याहुरण्डस्यात्माऽम्बुजासनः।
कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु॥
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः।
सृष्टाः प्रधानेन तथा प्राप्य शंभोस्तु सन्निधिम्॥[4]
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्चाप्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्राद्यैरपि देवैरगोचरम्।
आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम्॥
शिवतत्त्वमिति ख्यातं शिवादपि परं पदम्॥ इति॥२८॥

शङ्का–उपरिनिर्दिष्ट प्रक्रिया से तो जीव की भी अनात्मता (जडता) सिद्ध होगी?
समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से आत्मा के दो प्रकार स्वीकृत होने से संघाताध्यक्षत्व और क्षेत्रज्ञत्व को ही '**आत्मत्व**' कहते हैं और ऐसा '**आत्मत्व**' ईश्वर में ही है, जीवात्मा तो ईश्वरत्ववत् हैं क्योंकि जीवात्माओं में परतन्त्रत्व तथा धर्माधर्मादि का अज्ञातृत्व है। जीवों में जो '**आत्मत्व**' व्यवहार किया

---

1. क घ च छ – **वस्तुभानं ब्रह्मणः**, ख ग – **प्रसूतानां ब्रह्मणाम्।**
2. क ग घ च छ – **उपदेशात्स एष्टव्यः**, ख – **उपदेष्टा स एवासौ।**
3. क ख घ च छ – **एकं**, ग – **एवम्।**
4. क ख घ च छ – **सन्निधिः**, ग – **सा निधिम्।**

जाता है, वह तो जीवों के **'चितिशक्तिमत्'** (चैतन्यस्वरूप) होने के कारण गौण है अथवा अनात्मभूत बुद्ध्यादि की अपेक्षा से जीव में **'आत्मत्व'** व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार हिरण्यगर्भादि गौणरूप से **'ईश्वर'** कहे जाते हैं, उसी प्रकार बन्ध-मोक्ष-भोगादि का कारण होने से तथा लोकव्यवहार का विषय होने के कारण **'जीव'** में **'आत्मत्व'** प्रयोग व्यवहारिक ही सिद्ध होता है। इसी भाँति **'अहम्'** और **'त्वम्'** (मैं और तू) शब्द भी **'परमात्मा'** में ही मुख्य (प्रधान) हैं, न कि जीव के लिये इनका मुख्य-प्रयोग किया जाता है। **'अहं गच्छामि'** इत्यादि प्रयोगादियों में **'जीव'** के लिये **'अहं'** शब्द के प्रयोग का स्वातन्त्र्याभाव होने से प्रयोक्तृत्व, आत्मत्वादिरूप **'अहम्'** आदि शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का जीव में अभाव है। जैसा कि कहा गया है– **'त्वामात्मानं...ऽज्ञता'** (श्रीमद्भाग. १०/१४/२७) अर्थात् 'अहो! अज्ञानियों की कैसी अज्ञानता है कि आप आत्मा को अन्य मानकर और अन्य देहादियों को आत्मा मानकर फिर आत्मा को कहीं बाहर ढूँढते हैं।' यहाँ **'पर'** शब्द का अर्थ **'अनात्म'** है। यद्यपि जीव मुख्यात्मा नहीं है, तथापि जीव के साक्षात्कार से भी धर्म, अधर्म, रागादि की निवृत्ति होने से मोक्ष तो होता ही है। इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक रूप से आत्मा की द्विविधता प्रतिपादित होने से श्रुति-स्मृति-ग्रन्थों तथा दर्शन में वर्णित **'एकात्मवाद'** और **'नानात्मवाद'** भी परस्पर अविरुद्ध ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् आत्मविषयक प्रवर्त्तित उभयवाद की सङ्गति लग जाती है। विषय का विशदीकरण ब्रह्ममीमांसा के **'विज्ञानामृतभाष्य'** (स्वनिर्मित ग्रन्थ) में द्रष्टव्य है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा'–इत्यादि सूत्रसमूह में वर्णित तथ्य (विषय) लिङ्ग पुराण में स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है। जैसे–**'अविद्या...परं पदम्'**–अर्थात् 'ईश का अविद्या के साथ संयोग न अतीतकाल में था, और न अनागतकाल में होगा और न वर्तमान-काल में है। इस प्रकार ईश तीनों कालों में अविद्या, अस्मिता और रागादि से असंस्पृष्ट है। उसका तीनों कालों में न तो द्वेष के साथ सम्बन्ध रहा और न कभी अभिनिवेश के साथ। भ्रमज्ञान से रहित होने के कारण ईश का तीनों कालों में कभी भी पुण्यकर्म तथा पापकर्म से सम्बन्ध नहीं रहा है। कल्याणकारी, विष्णुस्वरूप शिव भगवान् का तीनों कालों में कभी भी कर्मजन्य विपाकों (फलों) से सम्बन्ध नहीं रहा है॥ अन्तकान्तक अर्थात् यम का भी अन्त करने वाला भगवान् जिस प्रकार तीनों कालों में विद्यमान रहने वाले सुख-दुःख से संस्पृष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार वह भोग-संस्कारों से भी युक्त नहीं होता है॥ पुरुषविशेष जो परदेवता है, वही भगवान् ईश्वर है। वह जड-चेतनात्मक पदार्थों से उन्मुक्त और अखिल प्रपञ्च से परे है॥ संसार में सातिशय (न्यूनाधिक) रूप से ज्ञान और ऐश्वर्य दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु ईश्वर में ज्ञान और ऐश्वर्य सातिशयरूप से नहीं रहते हैं अर्थात्

ईश्वर में ज्ञानादि निरतिशय हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं॥ प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न कालावच्छिन्न जीवों को ब्रह्म के उपदेश से शास्त्रों का ज्ञान अभीष्ट होता है। और यही सभी जीवों का उपदेष्टा है॥ कालावच्छिन्न अर्थात् काल की सीमा से युक्त हिरण्यगर्भादि सभी गुरुओं का भी 'परमगुरु' 'ईश्वर' कालातीत सीमातीत (कालानवच्छिन्न) कहलाता है॥ पूर्वस्थित विज्ञान और उसके उत्कर्ष का अनादिसम्बन्ध ही है और इस प्रकार के अनादिसम्बन्ध वाला ईश्वर स्वभावतः परिशुद्ध है॥ आत्मप्रयोजन का अभाव रहने पर भी परमेश्वर की समस्त क्रियाओं का प्रयोजन परानुकम्पा (दूसरों को अनुगृहीत करना) ही है॥ उस शिवेश्वर का वाचक '**प्रणव**' है, क्योंकि शिव, रुद्रादि शब्दों से '**प्रणव**' को श्रेष्ठ कहा गया है॥ प्रणव के वाच्यभूत शम्भु (ईश्वर) का चिन्तन और प्रणव का जप करने से भी त्वरित उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें सन्देह नहीं है॥ हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! समस्त चराचरात्मक उस ब्रह्म का ध्यान कर और 'मैं वही हूँ' इस प्रकार स्मरण करते हुए चराचर के विभाग को त्याग दे॥ सप्ताण्डावरण कहे गये हैं और अम्बुजासन (ब्रह्म) अण्ड की आत्मा है। सैकड़ों असंख्य बतलाये गये अण्डावरणों को ब्रह्म अपने अधीन रखता है॥ उन-उन अण्डावयवों में चतुर्मुख ब्रह्म, हरि निवास करते हैं। इसी प्रकार शिव के सान्निध्य को प्राप्त करके प्रधान के द्वारा ये उत्पन्न हुए॥ (इस प्रकार ब्रह्माण्ड में) असंख्य 'रुद्र', असंख्य पितामह और असंख्य हरि हैं। और इन सबका एक ही महेश्वर है॥ सांसारिक रोगियों के आदि, मध्य और अन्तरहित भैषज्य (औषधि) को ब्रह्म, इन्द्र, विष्णु, रुद्रादि देवता भी नहीं जानते हैं॥ यह 'शिवतत्त्व' ही प्रसिद्ध (जानने योग्य) है और शिव से भी परे '**परमपद**' 'ईश्वर' है॥२८॥

व्यासभाष्यम्

किञ्चास्य भवति?–

तथाकथित ईश्वरप्रणिधान का और क्या फल है? (उत्तर है)–

योगसूत्रम्

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽ[1]प्यन्तरायाभावश्च॥२९॥

ईश्वरप्रणिधान से जीवात्मा के स्वरूप का दर्शन और (वक्ष्यमाण) विघ्नों का अभाव होता है॥२९॥

---

1. **अपि** – नोपलभ्यते।

व्यासभाष्यम्

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयः ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी [1]यः पुरुषः इत्येवमधिगच्छति॥२९॥

व्याधि इत्यादि जो योग के विघ्न हैं, वे सब ईश्वरप्रणिधान से नहीं होते हैं और योगी को अपने स्वरूप का दर्शन भी होता है। जैसे पुरुषविशेष ईश्वर शुद्ध, दुःखादिरहित, केवल और कर्मफल से अस्पृष्ट है, वैसे ही बुद्धि का साक्षी यह पुरुष भी है—इस प्रकार योगी जान लेता है॥२९॥

तत्त्ववैशारदी

किं च [2]परमस्मात्—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। प्रतीपं विपरीतमञ्चति विजानातीति प्रत्यक्, स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनोऽविद्यावान् पुरुषः। तदनेनेश्वराच्छाश्वतिकसत्त्वोत्कर्षसंपन्नाद्विद्यावतो निवर्तयति। अविद्यावतः[3] प्रतीचश्चेतनस्याधिगमो ज्ञानं स्परूपतोऽस्य भवति। अन्तराया वक्ष्यमाणास्तदभावश्च। अस्य विवरणम्—ये तावदिति। स्वमात्मा तस्य रूपम्। रूपग्रहणेनाविद्यासमारोपितान्धर्मान्निषेधति।

इससे आगे योगी को क्या प्राप्त होता है? अर्थात् ईश्वरप्रणिधान का केवल समाधिलाभ ही प्रयोजन है अथवा अन्य भी कोई प्रयोजन है? इस पर सूत्रकार कहते हैं—'**तत इति।**' '**प्रतीपं=विपरीतमञ्चति=विजानातीति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनः**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**प्रत्यक्चेतन**' शब्द का अर्थ (जो विपरीतरूप से जानता है ऐसा) अविद्यावान् पुरुष है। इस व्युत्पत्ति से नैसर्गिक (शाश्वतिक) सत्त्वोत्कर्षसम्पन्न विद्यावान् '**पुरुषविशेष**' ईश्वर से '**सामान्यपुरुष**' की व्यावृत्ति हो जाती है। (ईश्वरप्रणिधान से) अज्ञानी पुरुष को अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार (ज्ञान) होता है और वक्ष्यमाण व्याधि, स्त्यान आदि अन्तरायों (विघ्नों) का विध्वंस (आत्यन्तिक अतीतावस्थाक परिणाम) होता है। भाष्यकार ने इसी तथ्य को विवृत (उद्घाटित) किया है—'**ये तावदिति।**' '**स्व**' शब्द का अर्थ है—आत्मा और उसका जो रूप है, उसे '**स्वरुप**' कहते हैं। इस प्रकार '**स्वरूप**' शब्द का अर्थ हुआ—'आत्मा।' '**स्वदर्शन**' के स्थान पर भाष्यकार ने '**स्वरूपदर्शन**' में '**रूप**' पद का प्रयोग क्यों किया है, इसे स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि—'**रूप**' पद

---

1. क ग घ ध न प फ ब भ म य र — **यः** उपलभ्यते, ख च छ ज झ त थ द — **यः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च झ त न — **परम्**, च ज थ द ध — **अपरम्**।
3. थ द ध न — **अविद्यावतः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त — **अविद्यावतः** नोपलभ्यते।

के ग्रहण से अविद्या के कारण पुरुष में आरोपित (आरूढ) होने वाले धर्मों का निषेध किया गया है। अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से भक्तिपरायण जीव को आरोपित धर्म से रहित अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप का अवबोध होता है। अतः आरोपित-धर्मराहित्य की स्थिति प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार व्यासदेव ने **'स्वरूपदर्शन'** में **'रूप'** शब्द का ग्रहण किया है।

बालप्रिया–

'अपि'–सूत्र में **'अपि'** अव्यय का प्रयोग दृढ़तापूर्वक यह बतलाने के लिये किया गया है कि ईश्वरप्रणिधान से न केवल समाधिलाभ आसन्नतम होता है अपितु अविद्यावशात् आरोपित धर्म से रहित आत्मस्वरूप का साक्षात्कार भी होता है।

'तदनेन...निवर्तयति'–तत्त्ववैशारदीकार ने **'प्रत्यक्चेतन'** पद की पूर्वनिर्दिष्ट व्युत्पत्ति इसलिये की है, जिससे जीव को ईश्वर से पृथक् किया जा सके। सामान्यतया **'प्रति वस्तु अञ्चति इति प्रत्यक्'** इस व्युत्पत्ति से तथा **'प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति'**–इत्यादि शास्त्रवचन से **'प्रत्यक्'** शब्द **'ईश्वर'** अर्थ का ही बोधक है, क्योंकि 'ईश्वर' ही प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है न कि 'जीव'।

'प्रत्यक्चेतनाधिगमः'–पद द्वारा प्रदिपादित उक्त फल को लेकर साध्यसाधन-विषयक विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वीश्वरप्रणिधानमीश्वरविषयं कथमिव प्रत्यक्चेतनं साक्षात्करोति, अतिप्रसङ्गादित्यत आह–[1]यथैवेश्वर इति। शुद्धः कूटस्थनित्यतयोदयव्ययरहितः प्रसन्नः क्लेशवर्जितः केवलः धर्माधर्मापेतः। अत एवानुपसर्गः। उपसर्गाः जात्यायुर्भोगाः। **सादृश्यस्य किञ्चिद्भेदाधिष्ठान-त्वादीश्वराद् भिनत्ति–बुद्धेः प्रतिसंवेदीति। तदनेन प्रत्यग्ग्रहणं व्याख्यातम्।**

शङ्का–ईश्वरविषयक ईश्वरप्रणिधान कैसे **'प्रत्यक्चेतन'** अर्थात् जीवसाक्षात्कारविषयक हो सकता है। क्योंकि ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग (अतिप्रसक्ति, अतिव्याप्तिदोष) होता है। उक्त शंका का स्पष्टीकृत रूप यह है–प्रणिधान सकर्मक क्रिया है। इस क्रिया का कर्त्ता जिस फल को प्राप्त करता है, वह फल भी उस क्रिया-कर्म-विषयक ही होता है–इस नियम से प्रकृत में प्रणिधान ईश्वरविषयक होने से तत्फल (साध्य) भी ईश्वरविषयक होना चाहिये। ईश्वरविषयक प्रणिधान का जीव-साक्षात्कारविषयक तद्भिन्न फल मानने में साध्यसाधनभाव उपपन्न नहीं होता है। अतः यह अतिप्रसक्ति शोचनीय है।

1. क ख ग घ च छ ज झ त ध द ध – **यथा**, न – **तथा**।

समाधान–इस (प्रातीतिक अतिप्रसक्ति के निवारण) के लिये भाष्यकार कहते हैं– '**यथैवेश्वर इति**।' जिस प्रकार 'ईश्वर' **शुद्ध** अर्थात् कूटस्थनित्य होने से उत्पत्तिनाश-रहित, '**प्रसन्न**', '**केवल**' अर्थात् धर्माधर्म से वियुक्त अतएव '**अनुपसर्ग**' अर्थात् जाति, आयु तथा भोगरूप उपसर्ग से पृथक् है, उसी प्रकार जीवात्मा भी है। किन्तु सादृश्य में किञ्चिद् भेद विवक्षित रहता है। अतः अधिष्ठानभूत 'ईश्वर' से जीवात्मा में अल्प भेद है। भाष्यकार इसे स्पष्ट करते हैं–'**बुद्धेः प्रतिसंवेदीति**।' जीव (पुरुष) बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, ईश्वर नहीं। इससे सूत्र में विपरीतार्थक '**प्रत्यक्**' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया, यह भी व्याख्यात हो जाता है।

'**अत्यन्तसदृश**' के उपरिवर्णित सिद्धान्त को–'**अत्यन्तविसदृश**' की विपरीत स्थिति द्वारा तत्त्ववैशारदीकार सुदृढ करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अत्यन्तविधर्मिणोरन्यतरार्थानुचिन्तनं न तदितरस्य साक्षात्काराय कल्पते। [1]सदृशार्थानुचिन्तनं तु सदृशान्तरसाक्षात्कारोपयोगितामनुभवति एकशास्त्राभ्यास इव तत्सदृशार्थ-शास्त्रान्तरज्ञानोपयोगिताम्। प्रत्यासत्तिस्तु स्वात्मनि साक्षात्कारहेतुर्न परात्मनीति सर्वम-वदातम्॥२९॥

अत्यन्त विसदृश धर्म वाले दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का चिन्तन अपने से भिन्न पदार्थ का साक्षात्कार कराने में समर्थ नहीं होता है। किन्तु दो सदृश पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का चिन्तन अपने समानजातीय पदार्थान्तर का साक्षात्कार कराने की योग्यता रखता है। जैसे एक शास्त्रविषयक अभ्यास में अपने सदृश अर्थ वाले शास्त्रान्तरों का ज्ञान कराने की योग्यता निहित रहती है। किञ्च ईश्वरविषयक चिन्तन अत्यन्त सदृश स्वात्मा के साक्षात्कार का हेतु है, न कि दूसरे के आत्मा के साक्षात्कार का हेतु। अतः ईश्वरविषयक चिन्तन का '**स्वरूपदर्शन**' फल असङ्गत नहीं है। इस प्रकार सब कुछ स्पष्ट हो जाता है॥२९॥

बालप्रिया–

'**अत्यन्तविधर्मिणः**' वाक्य द्वारा तत्त्ववैशारदीकार ने पूर्वपक्षी की निम्नाङ्कित शंका को निरस्त किया है। शंका इस प्रकार है–ईश्वरचिन्तन से '**स्वरूपाधिगम**' ही क्यों होता है? कामिनी (स्त्री) का चिन्तन करने से कदाचित् सनकादि ऋषि का ज्ञान सम्भव क्यों नहीं होता है?॥२९॥

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **सदृशार्थानुचिन्तनं तु सदृश०**, छ – **सादृश्यानुचिन्तनं तु सादृश्य०**।

योगवार्त्तिकम्

तदेवं जीवप्रज्ञाया इवेश्वरप्रणिधानादपि प्रज्ञाद्वारा योगस्तत्फलं मोक्षश्च भवतीत्युक्तम्, इदानीं तयोर्मध्य ईश्वरप्रणिधानस्य मुख्यकल्पत्वं प्रतिपादयितुं तत्र द्वाराधिक्यं सूत्रेण प्रतिपादयति—किं चास्येति। अन्यच्चास्य प्रणिधानिनो भवतीत्यर्थः। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। तत ईश्वरप्रणिधानात्तत्साक्षात्कारद्वारा तद्दृष्टान्तेन जीवतत्त्वमप्यनायासेन पूर्णतया साक्षात् क्रियत इति प्रथमदलार्थः। अपिशब्द आसन्नतमसमाध्यपेक्षया। यद्यपि प्रति=प्रतिवस्तु, अञ्चति=[1]अनुगच्छतीति व्युत्पत्त्याऽसंकुचितसर्वानुगतः परमात्मैव मुख्यः प्रत्यक्शब्दार्थः—

प्रत्यक्प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥

इत्यादिष्वपीश्वरे प्रत्यक्प्रयोगदर्शनाच्च, तथाऽपीश्वरादिशब्दवदेव प्रत्यक्शब्दोऽपि गौणो विभुत्वात्। अत एव प्रकृतिव्यावर्त्तनाय चेतनेत्युक्तम्। यदि च प्रत्यक्शब्दः पश्चिमवाची तथाऽपि सर्गप्रलयाद्यवधिभूते ब्रह्मण्येव मुख्योऽन्यत्र गौण इति।

इस प्रकार जीवविषयक प्रज्ञा के समान ईश्वरप्रणिधान से भी लब्ध प्रज्ञा द्वारा योग और उसका फल मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है। अधुना उपरिवर्णित उभयविध प्रज्ञाओं के मध्य में से ईश्वरप्रणिधान का मुख्यकल्प के रूप से प्रतिपादन करने के लिये उसके निगूढ वैशिष्ट्य को सूत्र के द्वारा उपपादित किया जा रहा है—'**किं चास्येति**।' क्या ईश्वरप्रणिधान से अन्य भी लाभ होता है? उत्तर है—'**ततः इति**।' '**ततः**' अर्थात् ईश्वरचिन्तन से ईश्वर के साक्षात्कार द्वारा आत्मत्वतुल्यता से साधक जीवतत्त्व का भी अनायास पूर्णतः साक्षात्कार कर लेता है, यह सूत्र के '**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः**' आदि अंश का अर्थ है। सूत्र में '**अपि**' शब्द आसन्नतम समाधि की दृष्टि से प्रयुक्त है। अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से असंप्रज्ञातसमाधि आसन्नतम होती है। योगवार्त्तिककार' '**प्रत्यक्चेतन**' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहते हैं—यद्यपि '**प्रति**' अर्थात् प्रत्येक वस्तु को '**अञ्चति**' अर्थात् जानता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यापक तथा समस्त वस्तुओं में अनुगत (व्याप्त) रहने वाला '**परमात्मा**' ही यहाँ '**प्रत्यक्चेतन**' शब्द का मुख्य अर्थ है, क्योंकि '**प्रत्यक्...वदन्ति**'—अर्थात् 'विद्वान् लोग भगवच्छब्दसंज्ञक वासुदेव को '**प्रत्यक्प्रशान्त**' कहते हैं'—इत्यादि वाक्यों में भी ईश्वर के लिये '**प्रत्यक्**' शब्द का प्रयोग दिखलाई पड़ता है तथापि ईश्वरादि शब्द के समान '**प्रत्यक्**' शब्द जीव अर्थ में गौण है, क्योंकि जीव भी व्यापक है। अतः जडात्मक प्रकृति से व्यावृत्त कराने के लिये (चेतनार्थक) '**प्रत्यक्**' शब्द प्रयुक्त है। '**प्रत्यक्**' शब्द की द्वितीय प्रकार से व्याख्या करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि '**प्रत्यक्**' शब्द

---

1. क ग घ च छ – **अनु०**, ख – **आशु०**।

को यदि '**पश्चिमवाची**' ही मान लिया जाय तो भी सर्ग, प्रलयादि कालवर्ती '**ब्रह्म**' ही '**प्रत्यक्**' शब्द का '**मुख्य**' अर्थ है, और अन्य में वह '**गौण**' है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्र के द्वितीय चरण की व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अन्तरायाभाव एकाग्रतासामान्यस्यैव [1]**फलमिति वक्ष्यते तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास इति सूत्रेणेत्यतो** [2]विशेष्येश्वरप्रणिधानस्यान्तरायाभावफलकत्ववचनमनुवादकतया[3] **व्याचष्टे– ये तावदिति।** अनुवादस्य च फलमाधिक्येन विघ्ननिवर्त्तकत्वलाभः, **तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति** इति [4]**श्रुत्या ब्रह्मात्मतादर्शिन इच्छाविघाते देवादीनामप्यसामर्थ्यप्रतिपादनादिति।** अत एवोक्तं **नारदीयादिष्वपि–**

तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयानेन वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा॥
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि॥

इत्यादि। स्वरूपदर्शनमिति। अस्य प्रतीचो जीवस्य यत्तात्त्विकं रूपं तस्य साक्षात्कारोऽपि भवतीत्यर्थः। अन्यप्रणिधानेनान्य[5]साक्षात्कारेऽदृष्टद्वारमप्यस्तीति प्रतिपादयन्नेव स्वरूपदर्शनं **विवृणोति–यथैवेति।** बुद्धेः प्रतिसंवेदी बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बोद्ग्राही तत्साक्षीति यावत्। इदं च जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदनिराकरणाय वैधर्म्यमुक्तम्। यथैवेश्वरः शुद्ध्यादिगुणकस्[6]तथाऽयमपि यो बुद्धेः साक्षी पुरुष इत्येवमधिगच्छति=अवधारयति पुरुषत्वाविशेषादित्यर्थः। पुरुषश्चेतनः शुद्धः पापपुण्यविवर्जितः प्रसन्नो निर्दुःखः केवलश्चिन्मात्रोऽनुपसर्गो जात्यायुर्भोगरहित इति। तदेतदुक्तं **नारदीये–**

मायाप्रवर्त्तके विष्णौ दृढा भक्तिः कृता नृणाम्।
सुखेन प्रकृतेर्भिन्नं स्वं दर्शयति दीपवत्॥ इति।

यद्यप्यंशिस्वरूपावधारणेनांशस्वरूपावधारणवदंशस्वरूपावधारणेनाप्यंशिस्वरूपावधारणं भवति, अंशांशिनोरेक[7]**स्वरूपत्वस्यौत्सर्गिकत्वात्, प्रत्युतेश्वरस्यावाङ्मनसगोचरतया स्वतत्त्व-**

---

1. क ग घ च छ – फलम्, ख – मूलम्।
2. क ख ग घ च छ – विशिष्य०, ग – विशेष्य०।
3. क ख घ च छ – अनुवादकतया, ग – अनुवादतया।
4. क ग घ च छ – श्रुत्या ब्रह्मात्मतादर्शिन इच्छाविघाते देवादीनामप्यसामर्थ्यप्रतिपादनादिति उपलभ्यते, ख – श्रुत्या...दिति नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ – साक्षात्कारेऽदृष्ट०, ख – साक्षात्कारः दृष्ट०।
6. ख – पुरुषः–(गुणकः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – पुरुषः नोपलभ्यते।
7. क ख च छ – स्वरूपत्वस्य, ग घ – रूपत्वस्य।

साक्षात्कारादेव तदनुसारेणेश्वरे विवेकः संभवति [1]नान्यथा, तथा च श्रुतिरपि–यदात्मत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् इत्यादिः, तथाऽपि जीवस्य पूर्णत्वनित्यत्वाद्यंश ईश्वरानुसारेणैव सुखेन ज्ञातुं शक्यत इत्याशयः।[2] अत एव तत्त्वमेव त्वमेव तत् इत्यादिश्रुतयः परस्परमेवावैधर्म्यलक्षणाभेदं प्रतिपादयन्ति॥२९॥

अन्तरायाभाव (अग्रिम सूत्र में निर्दिष्ट व्याध्यादि अन्तरायों की निवृत्ति) चित्त के एकाग्रतासामान्य का ही फल है, ऐसा '**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः**' १/३२ सूत्र के द्वारा आगे बतलाया जायेगा, ऐसा अन्तर करके भाष्यकार ईश्वरप्रणिधान में अन्तरायाभावरूप फल के कथन को अनुवादरूप से बतलाते हुए व्याख्या करते हैं– '**ये तावदिति**।' एकाग्रतासामान्य के व्याधिनिवृत्तिरूप फल को ईश्वरप्रणिधान के प्रसंग में अनुवाद (पुनःकथन) करने का उद्देश्य 'ईश्वरप्रणिधान से पूर्णरूप से होने वाली विघ्ननिवृत्ति को प्रतिपादित करना है, क्योंकि '**तस्य ह...भवति**'–इत्याकारक श्रुति द्वारा ब्रह्मात्मदर्शी की इच्छा का विघात होने पर देवादियों की भी असमर्थता बतलाई गई है। अत एव नारदीयादि ग्रन्थों में भी कहा गया है–'**तस्मान्मुमुक्षोः... विघ्नमूर्ध्नि**' अर्थात् 'चित्त के द्वारा (ईश्वर का) चिन्तन करने से मुमुक्षु के लिये श्रीविष्णु का आश्रयभूत मार्ग अत्यन्त सुखकारक होता है, अन्यथा (इस मार्ग के आश्रय के विना) साधक निश्चित रूप से सुख से वञ्चित रहता है। यदि विघ्नहर्ता प्रभु तुम्हारा रक्षक है तो तुम परम पद को प्राप्त करोगे।'

योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**स्वरूपदर्शनमिति**।' ईश्वरप्रणिधान से साधक को जीव के यथार्थ (तात्त्विक) रूप भी साक्षात्कार होता है। अन्य (ईश्वर) विषयक प्रणिधान से अन्य (जीव) विषयक साक्षात्कार होने में कोई अदृष्टद्वार भी होता है, इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए ही भाष्यकार स्वरूपदर्शन (के स्वरूप) को उद्घाटित करते हैं–'**यथैवेति**।' यहाँ **बुद्धेः** '**प्रतिसंवेदी**' शब्द का अर्थ है–बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाला '**साक्षी**' पुरुष। जीव और ब्रह्म के अत्यन्ताभेद का निराकरण करने के लिये पुरुषविशेष से पुरुषसामान्य के '**प्रतिसंवेदी**' वाले विपरीत धर्म (वैधर्म्य) को प्रतिपादित किया गया है। (अर्थात् '**बुद्धि के प्रतिसंवेदी**' की दृष्टि से यह जीव ब्रह्म से भिन्न है। इससे तत्प्रयुक्त अत्यन्ताभेद का भी निराकरण हो जाता है)। और जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध्यादि गुण वाला है उसी प्रकार बुद्धि का प्रतिसंवेदी साक्षी पुरुष भी है, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान होता है,

---

1. क ग घ च छ – **नान्यथा** उपलभ्यते, ख – **नान्यथा** नोपलभ्यते।
2. ख – **तदेतदुक्तं गारुडे – यथैकं हेममणिना सर्वहेममयं भवेत्। ज्ञातं तथैवमीशेन ज्ञानेनाप्यखिलं जगत् इति (इत्याशयः पश्चात्)** उपलभ्यते, क ग घ च छ – **तदेतत्...जगदिति** नोपलभ्यते।

क्योंकि यही पुरुषत्व की दृष्टि से जीव और ईश्वर का अभेद है। सम्पूर्ण वैयासिक वाक्य का अर्थ करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–'**पुरुष**' चेतन है, '**शुद्ध**' अर्थात् पाप-पुण्य से रहित है, '**प्रसन्न**' अर्थात् दुःखशून्य है, '**केवल**' अर्थात् चिन्मात्र है तथा **अनुपसर्ग**' अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से रहित है। जैसा कि नारदीय पुराण में कहा गया है–'**मायाप्रवर्त्तके...दीपवत्**' अर्थात् 'माया के प्रवर्तक विष्णु में मनुष्यों (भक्तों) की सम्पादित दृढ भक्ति, दीप की भाँति, अतिसुगमता से प्रकृति से भिन्न आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कराती है।' यद्यपि जिस प्रकार अंशी के स्वरूपावधारण से अंश का स्वरूपावधारण होता है उसी प्रकार अंश के स्वरूपावधारण से अंशी का भी स्वरूपावधारण होता है, क्योंकि 'अंशांशी तुल्य स्वरूप वाला होता है–ऐसा सामान्यनियम है तथापि ईश्वर के वाणी और मन का विषय न होने से जीवतत्त्व के साक्षात्कार से ही तदनुसार ईश्वरविषयक ज्ञान (अपरोक्षानुभूति) सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस तथ्य की प्रतिपादिका श्रुति भी है–'**यदात्मत्वेन..प्रपश्येत्**' अर्थात् 'युक्त अर्थात् स्थिर चित्त वाला होकर साधक दीपोपमा की भाँति आत्मतत्त्व (जीवतत्त्व) के साक्षात्कार द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करे।' ऐसा होने पर भी जीव के पूर्णत्व, नित्यत्व आदि अंश ईश्वर के माध्यम से ही सुखपूर्वक ज्ञात होने योग्य हो सकते हैं, ऐसा भाष्यकार के कथन का अभिप्राय है। इसीलिये '**तत्त्वमेव त्वमेव तत्**' अर्थात् 'वह तू ही है, तू ही वह है'– इत्यादि श्रुतियाँ परस्पर ही 'अवैधर्म्यलक्षणक 'अभेद' अर्थात् साधर्म्य का प्रतिपादन करती हैं॥२९॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

अथ केऽन्तरायाः? ये चित्तस्य [1]विक्षेपाः। के पुनस्ते कियन्तो वेति?

वे अन्तराय कौन से हैं? जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं। उनके नाम क्या हैं और वे कितने हैं? (उत्तर है)–

योगसूत्रम्

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध[2]भूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥३०॥

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – **विक्षेपाः**, ध फ र – **विक्षेपकाः**।
2. **भूमिक०** – इति पाठान्तरम्।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ चित्त के 'विक्षेप' हैं। और ये ही 'अन्तराय' (विघ्न) कहे जाते हैं॥३०॥

व्यासभाष्यम्

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, [1]सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। [2]तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं—स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषय[3]संप्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं [4]लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। समाधिप्रतिलम्भे हि [5]सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते॥३०॥

चित्त को चञ्चल बनाने वाले उक्त ये नौ अन्तराय (योग के विरोधी) हैं। ये अन्तराय (प्रमाणादि) वृत्तियों के साथ ही होते हैं। इनके न होने पर पहले कही गई प्रमाणादि वृत्तियाँ भी नहीं होती हैं। धातु, रस और करण की विषमता को 'व्याधि' कहते हैं। चित्त की अकर्मण्यता को 'स्त्यान' कहते हैं। 'यह ऐसा होगा अथवा ऐसा नहीं होगा'— इस प्रकार एक धर्मी में उभयकोटि विकल्पों का अवगाहन करने वाला ज्ञान 'संशय' कहलाता है। समाधि के साधनों के अनुष्ठान के लिये प्रयत्न न करना 'प्रमाद' है। शरीर और चित्त के भारी हो जाने के कारण कार्य में प्रवृत्ति का न होना 'आलस्य' है। चित्त की विषयसम्पर्करूपिणी लालसा को 'अविरति' कहते हैं। विपरीतज्ञान का होना 'भ्रान्तिदर्शन' है। (मधुमती आदि) समाधिभूमि का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' नामक अन्तराय है। भूमि के प्राप्त होने पर उसमें चित्त का

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – **सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति**, त – **एते हि चित्तवृत्तिमभिभवन्ति**
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य र – **तत्र** उपलभ्यते, घ प फ ब र – **तत्र** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र – **संप्रयोगात्मा**, फ – **संयोगात्मा**।
4. ख ग र – **यत्** (**लब्धायां** पूर्वम्) उपलभ्यते, क घ च छ ज भ त थ न प फ ब भ म य – **यत्** नोपलभ्यते।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **सति** उपलभ्यते, घ प फ र – **सति** नोपलभ्यते।

प्रतिष्ठित (स्थिर) न होना 'अनवस्थितत्व' है। वस्तुतस्तु समाधि की सिद्धि होने पर चित्त को उसमें स्थित (एकाग्र) होना चाहिये। चित्त को विक्षिप्त करने वाले पूर्वकथित ये व्याधि आदि नौ 'योगमल', 'योगप्रतिपक्ष' तथा 'योगान्तराय' आदि नामों से पुकारे (कहे) जाते हैं॥३०॥

तत्त्ववैशारदी

पृच्छति--[1]अथ क इति। सामान्येनोत्तरम्—य इति। विशेषसंख्ये पृच्छति—के पुनरिति। [2]उत्तरमाह-व्याधीत्यादि[3]सूत्रेण।अन्तराया नव। एताश्चित्तवृत्तयो योगान्तराया योगविरोधिनः, चित्तस्य [4]विक्षेपाः। चित्तं खल्वमी व्याध्यादयो योगाद्विक्षिपन्त्यपनयन्तीति विक्षेपाः। योग-प्रतिपक्षत्वे हेतुमाह—सहैत इति। संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोधप्रतिपक्षौ। येऽपि न वृत्तयो व्याधिप्रभृतयस्तेऽपि वृत्तिसाहचर्यात्तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः।

प्रश्न किया जा रहा है—'**अथ क इति।**' कौन (से) अन्तराय हैं? सामान्यरूप से उत्तर दिया जा रहा है—'**य इति।**' जो चित्त के प्रति विक्षेपकारी हैं अर्थात् जो चित्त को उद्विग्न (अशान्त) कर उसकी एकाग्रता को भंग करते हैं, वे '**अन्तराय**' हैं। अन्तरायों के नाम तथा उनकी संख्या के विषय में भाष्यकार प्रश्न करते हैं—'**के पुनरिति।**' सूत्रकार '**व्याधीत्यादि**' द्वारा उत्तर देते हैं—अन्तराय नौ हैं। चित्तवृत्तिरूप ये 'अन्तराय' योगान्तराय अर्थात् योगविरोधी हैं, अतः चित्त के 'विक्षेप' हैं। ये '**व्याधि**' आदि अन्तराय चित्त को योग से (योगाभ्यास से) दूर हटाते हैं, अतः 'विक्षेप' कहलाते हैं। इन अन्तरायों की योगप्रतिपक्षिता (योगभ्रंशिता) में भाष्यकार कारण (हेतु) बतलाते हैं—'**सहैत इति।**' चित्तवृत्तियों के साथ व्याधि आदि का सहभाव है और व्याध्यादि अन्तराय के असद्भाव में चित्तवृत्ति का भी न होना उपलब्ध होता है। तत्त्ववैशारदीकार व्याध्यादि के योगप्रतिपक्षत्व को स्पष्ट करते हैं—'**संशय**' और '**भ्रान्तिदर्शन**' संज्ञक अन्तराय तो (स्पष्टतया विपर्यय) वृत्तिरूप होने से (अपने सद्भाव काल में) वृत्तिनिरोध के प्रतिपक्षी हैं अर्थात् संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तिसंकुल चित्त योग अथवा एकाग्रता के लिये उपयुक्त नहीं है और जो (सूत्र के अवशिष्ट) '**व्याधि**' आदि अन्तराय वृत्तिरूप नहीं हैं, वे भी वृत्ति के सहवर्ती (सहभागी) होने से '**योग**' विरोधी हैं।

बालप्रिया—

'**सहैते**'— इस वाक्य द्वारा व्याध्यादि अन्तरायों की योगप्रतिपक्षिता में अन्वय-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न — **अथ** उपलभ्यते, थ द ध — **अथ** नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ ज झ त न — **उत्तरं**, ग थ द ध — **उत्तरमाह**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न — **सूत्रं**, थ द ध — **सूत्रेण**।
4. क घ च छ ज झ त थ द ध न — **विक्षेपाः**, ख ग — **विक्षेपकाः**।

व्यतिरेकरूप हेतुता बतलाई गई है। 'सहैते' वाक्यांश द्वारा 'अन्वय' हेतु और 'एतेषामभावे' वाक्यांश द्वारा 'व्यतिरेक' हेतु को इंगित किया गया है।

तत्त्ववैशारदी

पदार्थान्व्याचष्टे--व्याधिरिति। धातवो वातपित्तश्लेष्माणः, शरीरधारणात्। अशितपीताहारपरिणामविशेषो रसः। करणानीन्द्रियाणि। तेषां वैषम्यं न्यूनाधिकभाव इति। अकर्मण्यता कर्मानर्हता। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानम्। सत्यप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन संशयविपर्यासयोरभेदे उभयकोटिस्पर्शास्पर्शरूपावान्तरविशेषविवक्षयात्र भेदेनोपन्यासः। अभावनम् अकरणम् तत्राप्रयत्न इति यावत्। कायस्य गुरुत्वं [1]कफादिना चित्तस्य गुरुत्वं तमसा। गर्धस्तृष्णा। मधुमत्यादयः समाधिभूमयः। लब्धभूमेर्यदि तावतैव [2]सुस्थितमन्यस्य समाधि[3]भ्रेषः स्यात्ततस्तस्या अपि भूमेरपायः स्यात्। यस्मात्समाधिप्रतिलम्भे तदवस्थितं स्यात्तस्मात्तत्र प्रयतितव्यमिति॥३०॥

भाष्यकार '**व्याधि**' आदि प्रत्येक पद की व्याख्या करते हैं–'**व्याधिरिति।**' शरीर को धारण करने से वात, पित्त एवं कफ '**धातु**' कहलाते हैं। भुक्त तथा पीत अन्नादि आहार के परिणामविशेष अर्थात् परिपाकविशेष को '**रस**' कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों को '**करण**' कहते हैं। इस प्रकार **धातु**, **रस** तथा **करण** के वैषम्य अर्थात् न्यूनाधिकभाव अर्थात् असन्तुलित परिमाण (जो शारीरिक शक्ति के क्षय का कारण है) को '**व्याधि**' (संज्ञक अन्तराय) कहते हैं। चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् कर्मानुपयुक्तता (जडता) को '**स्त्यान**' (संज्ञक अन्तराय) कहते हैं। ज्ञान की द्विविषयस्पर्शिता को **संशय**' (संज्ञक अन्तराय) कहते हैं। यद्यपि अतद्रूपप्रतिष्ठत्व की दृष्टि से '**संशय**' और '**विपर्यास**' (**भ्रान्तिदर्शन**) में अभेद अर्थात् एकरूपता है तथापि ज्ञान में विषय की उभयकोटिस्पर्शता तथा अनुभयकोटिस्पर्शता का अवान्तरभेद विवक्षित होने से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'संशय' और 'भ्रान्तिदर्शन' (संज्ञक अन्तरायों) का पृथक् उल्लेख किया है। संशय की उभयकोटिस्पर्शता का स्वरूप है–यह वस्तु ऐसी है, अथवा नहीं। तदर्थ प्रसिद्ध उदाहरण है–'**स्थाणुर्वा पुरुषो वा।**' **अभावन**' शब्द का अर्थ है–'**अकरण**' अर्थात् प्रयत्नाभाव। इस प्रकार समाधि के साधनों के विषय में प्रयास न करना '**प्रमाद** (संज्ञक अन्तराय) है। कफादि से शरीर में भारीपन आता है और तमोगुण से चित्त में जाड्यरूप गुरुता आती है। इस प्रकार शरीर और मन की

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **कफादिना चित्तस्य गुरुत्वम्** उपलभ्यते, न – **कफादिना चित्तस्य गुरुत्वं** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – सुस्थितम् न – दुस्थितम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – भ्रेषः, द – शेषः।

गुरुता जिस अप्रवृत्ति का कारण है, उसे **'आलस्य'** संज्ञक अन्तराय कहते हैं। भाष्य में आये **'गर्धः'** पद का अर्थ है–**'तृष्णा'**। इस प्रकार विषयोपभोगरूप तृष्णा को 'अविरति' संज्ञक अन्तराय कहते हैं। **संशय'** संज्ञक अन्तराय की चर्चा के प्रसंग में **'भ्रान्तिदर्शन'** का स्वरूप बतलाया जा चुका है। इस प्रकार **'विपर्ययज्ञान'** को **'भ्रान्तिदर्शन'** संज्ञक अन्तराय कहते हैं। **'मधुमती'** आदि समाधि की भूमियों के नाम हैं। इस प्रकार समाधि की **'मधुमती'** आदि भूमियों का प्राप्त न होना **'अलब्धभूमिकत्व'** संज्ञक अन्तराय है। यदि मधुमती आदि भूमियाँ कथञ्चित् प्राप्त हो भी जाएँ तो उतने मात्र से अपने को कृतकृत्य मानने वाले की समाधि से च्युति हो जाती है अर्थात् उसे समाधि प्राप्त नहीं होती है। फलतः प्राप्त भूमि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार लब्धभूमि में चित्त की अप्रतिष्ठता को **'अनवस्थितत्व'** संज्ञक अन्तराय कहते हैं। समाधि के प्राप्त होने पर ही चित्त स्थिर (एकाग्र) होता है। अतः चित्त का प्रयास समाधिप्राप्ति के लिये ही होना चाहिये॥३०॥

योगवार्त्तिकम्

अन्योन्यदृष्टान्तेनान्योन्यधर्माणामन्योन्यस्मिन्नवधारणायान्तरायस्वरूपप्रतिपादकं सूत्रमवतारयति–अथेति। व्याध्यादेरन्तरायत्वोपपादनाय सूत्रे चित्तविक्षेपा इति वदिष्यति। तस्य व्याख्यानार्थं भाष्ये वक्रोक्तिः। विक्षेपाः=विक्षेपकाः। सामान्येन दत्तोत्तरं विशेषसंख्याभ्यां पुनः पृच्छति–के पुनरिति। व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

परस्पर एक-दूसरे के दृष्टान्त से अन्योन्य धर्मों का एक-दूसरे में निश्चय कराने के लिये भाष्यकार **'अन्तराय'** के स्वरूपप्रदिपादक सूत्र को अवतरित करते हैं–**'अथेति।'** व्याध्यादि में **'अन्तराय'** (विघ्नकारकत्व) का उपपादन करने के लिये सूत्र में **'चित्तविक्षेपाः'** ऐसा कहा जायेगा। उसी तथ्य की व्याख्या करने के लिये भाष्य में जरा टेढ़े ढंग से पूछा गया है–**केऽन्तरायाः?** वे अन्तराय कौन से हैं जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं। यहाँ **'विक्षेप'** शब्द का अर्थ विक्षेपकारक है। **'अन्तराय'** कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं'–इस प्रकार सामान्यरूप से देकर उनके स्वरूप तथा संख्या को निर्धारित करने के लिये भाष्यकार पुनः प्रश्न करते हैं–**'के पुनरिति।'** सूत्र के द्वारा उत्तर दिया जा रहा है–**'व्याधीति।'**

योगवार्त्तिकम्

चित्तविक्षेपकतयैतानि ते पूर्वसूत्रोक्ता अन्तराया इत्यर्थः। व्याचष्टे–नवेति। अन्वय व्यतिरेकाभ्यां चित्ते विक्षेपकत्वमे[1]षां साधयति–सहैत इति। सूक्ष्मकालानाकलनेन सहेत्युक्तम्।

---

1. क ख ग – **एतेषां,** घ च छ – **एषां।**

एतेषामव्यवधानेनैव व्याध्यादिगोचरा वा तन्निवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो भवन्ति योगभ्रंशिका इत्यर्थः। व्याध्यादीन्नव क्रमेण व्याचष्टे—व्याधिरिति। शरीरधारकत्वाद् धातूनां वात[1]कफपित्तानां, रसानामाहारपरिणामानां, करणानां चक्षुरादिमनआदीनां च वैषम्यं विसदृशभावो व्याधिः, अकर्मण्यता=योगानुष्ठानाक्षमता, आमवातादिना देहस्याकर्मण्यत्वेऽपि चित्तस्य योगाविरोधाच्चित्तस्येत्युक्तम्। संशयाकारमाह—स्यादिति। इदं गुरुशास्त्रोक्तं ज्ञानतत्साधनादि। अभावनमननुसंधानम्, कायगुरुत्वं कफादिना, चित्तगुरुत्वं तमसा, ताभ्यां हेतुभ्यामप्रवृत्तिः समाधिसाधनाननुष्ठानम्, संप्रयोगात्मा सन्निकर्षजन्यो गर्धोऽभिलाषः, विपरीतं[2] ज्ञानं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः। समाधिभूमेरिति। वक्ष्यमाणानां मधुमत्यादिभूमीनामेकतमस्या अपि साधनानुष्ठानेऽप्यलाभ इत्यर्थः। अप्रतिष्ठालाभेऽपि भ्रंशः। ननु लाभोत्तरं भ्रंशे का क्षतिरित्या[3]शङ्कायामाह—समाधिप्रतिलम्भे हीति। प्रतिलम्भो निष्पत्तिर्ध्येयसाक्षात्कार इति यावत्। अयं भावः—साक्षात्कारपर्यन्तमेव चित्तस्य तत्तद्भूम्यव-स्थानमपेक्षितमतोऽकृतसाक्षात्कारस्य योगारूढस्यापि [4]भ्रंशोऽनवस्थितत्वमेव भवतीति।

आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

इत्यादिस्मृतिश्चात्र प्रमाणमिति। एतेषां तान्त्रिकान् संज्ञाभेदानाह—एत इति॥३०॥

चित्त के विक्षेपक होने से ये '**व्याधि**' आदि वे ही '**अन्तराय**' हैं, जो पूर्व सूत्र में '**अन्तरायाभावश्च**' पद के द्वारा उक्त हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**नवेति**।' व्याध्यादि नौ अन्तराय चित्त को विक्षिप्त करते हैं, अतः इनके विक्षेपकत्व को भाष्यकार अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध करते हैं—'**सहेत इति**।' व्याध्यादि के सूक्ष्मकाल का आकलन (प्रत्यक्ष) सम्भव न होने से '**सह**' पद के द्वारा व्याध्यादि अन्तरायों का वृत्तियों के साथ होना बतलाया गया है। चित्तवृत्तियों के होने पर उनके अव्यवधानरूप से (अर्थात् उनके साथ अपरिहार्य रूप से होने वाले) '**व्याध्यादि**' अन्तराय दिखलाई पड़ते हैं अथवा व्याध्यादि की निवृत्ति होने पर योगनाशक वृत्तियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं। यही चित्तवृत्ति और व्याध्यादि अन्तराय की अन्वय-व्यतिरेक की स्थिति

सम्प्रति, भाष्यकार व्याध्यादि नौ अन्तरायों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—'**व्याधिरिति**।' शरीर-पोषक होने से वात, कफ तथा पित्तसंज्ञक 'धातुओं', आहार के परिणामभूत '**रसों**' एवं चक्षुरादि, मन आदि करणों का जो '**विसदृशभावरूप**' असन्तुलन है, उसे '**व्याधि**' कहते हैं। योगानुष्ठान के असामर्थ्य को '**अकर्मण्यता**' कहते

1. क ख ग घ – **पित्तकफानां**, च छ – **कफपित्तानाम्**।
2. क च छ – **विपरीतं**, ख – **विपर्यय०** , ग घ – **विपरीत०** ।
3. क ग घ च छ – **आशङ्कायां**, ख – **आकांक्षायाम्**
4. क ख च छ – **भ्रंशः**, ग घ – **भ्रंशे**।

हैं। अपक्व वातादि दोष से देह के अकर्मण्य होने पर भी चित्त का योगानुष्ठान अविरुद्ध है अर्थात् चित्त 'योगानुष्ठान के लिये समर्थ रहता है। यह 'इंगित' करने के लिये '**चित्तस्य**' पद का प्रयोग भाष्य में हुआ है। इस प्रकार एक शब्द में चैत्तिक अकर्मण्यता को '**स्त्यान**' कहते हैं। भाष्यकार '**संशय**' की आकृति (संशयात्मक ज्ञान के स्वरूप) को बतलाते हैं–'**स्यादिति**।' भाष्यस्थ '**इदम्**' शब्द का अर्थ है–गुरुशास्त्रोक्त ज्ञान और उसका साधन। इस प्रकार गुरुशास्त्रोक्त ज्ञान और उसके साधन के विषय में 'यह ऐसा है अथवा नहीं'–इत्याकारक उभयकोटिक ज्ञान को '**संशय**' कहते हैं। '**अभावन**' शब्द का अर्थ है–अननुसंधान अर्थात् समाधि के साधनों का अनुसंधान न करना '**प्रमाद**' है। कफादि के कारण शारीरिक गुरुता और तमोगुण के कारण चित्तगत गुरुता आती है। इन दोनों कारणों से समाधि-साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति न हो पाना '**आलस्य**' है। '**संप्रयोगात्मा**' शब्द का अर्थ है–विषयसंयोग से उत्पन्न होना। '**गर्ध**' शब्द का अर्थ है–अभिलाषा (राग)। इस प्रकार विषयसन्निकर्ष से समुद्भूत आसक्ति को '**अविरति**' कहते हैं। आचार्यों द्वारा प्रमाणित पदार्थ के विषय में विपरीतज्ञान का होना '**भ्रान्तिदर्शन**' है। अग्रिम '**अलब्धभूमिकत्व**' संज्ञक अन्तराय को योगवार्त्तिककार उठाते हैं–'**समाधिभूमेरिति**।' योग-प्राप्ति के साधन का अनुष्ठान करने पर भी आगे बतलाई जाने वाली '**मधुमती**' आदि भूमियों में से किसी एक भी भूमि का प्राप्त न होना '**अलब्धभूमिकत्व**' है। मधुमत्यादि भूमियों में से किसी भूमि के प्राप्त हो जाने पर भी चित्त की अस्थिरता के कारण होने वाला एकाग्रता-भ्रंश '**अनवस्थितत्व**' कहलाता है।

शङ्का–'**मधुमती**' आदि किसी भूमि के प्राप्त होने के पश्चात् चित्त के अस्थिर होने में क्या हानि है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**समाधिप्रतिलम्भे हीति**।' '**प्रतिलम्भ**' शब्द का अर्थ है–"निष्पत्ति' अर्थात् ध्येय तत्त्व का साक्षात्कार। भाव यह है कि चित्त का पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्त तत्तत् भूमियों में स्थिर रहना अपेक्षित है। अतः जिसने पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है, ऐसे योगारूढ की भी मधुमत्यादिविषयिणी भूमि-भ्रंशता (अस्थिरता) को '**अनवस्थितत्व**' ही कहा जाता है। इसमें निम्नाङ्कित स्मृतिवाक्य प्रमाण है–'**आरूढयोगो...अल्पसिद्धिः**' (वि. पु. ४/२/१२४) अर्थात् 'योगारूढ योगी भी कुसंगति से नीचे गिर जाता है, फिर अल्प सिद्धि वालों का तो कहना ही क्या?' भाष्यकार व्याध्यादियों की तान्त्रिक संज्ञाओं को बतलाते हैं–'**एत इति**।' चित्त के ये नौ विक्षेप '**योगमल**' '**योगप्रतिपक्ष**' तथा '**योगान्तराय**' कहे जाते हैं॥३०॥

योगसूत्रम्

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥३१॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व श्वास तथा प्रश्वास (पूर्वोक्त व्याधि आदि) विक्षेपों के साथ होने वाले हैं॥३१॥

व्यासभाष्यम्

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदु[1]पघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचमति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं[2] निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यै[3]ते न भवन्ति॥३१॥

'दुःख' आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक होता है। 'दुःख' वह है, जिससे पीड़ित होकर प्राणिमात्र उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इच्छा की पूर्ति न होने के कारण चित्त में होने वाला क्षोभ ही 'दौर्मनस्य' कहलाता है। जो अंगों को कँपावे, उसे 'अङ्गमेजयत्व' कहते हैं। प्राण जो बाह्य वायु को खींचता है, वह 'श्वास' कहलाता है। जो भीतर की वायु को बाहर निकालता है, उसे 'प्रश्वास' कहते हैं। ये दुःखादि विक्षेपों के साथ होने वाले हैं। ये दुःख विक्षिप्त चित्त वाले साधक को ही होते हैं। समाहित चित्त में ये दुःखादि नहीं होते हैं ॥३१॥

तत्त्ववैशारदी

न केवलं नवान्तरायाः, दुःखादयोऽप्यस्य तत्सहभुवो भवन्तीत्याह—दुःखेति। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, आध्यात्मिकं शारीरं व्याधिवशान्मानसं च[4] कामादिवशात्। आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम्। आधिदैविकं ग्रहपीडादिजनितम्। तच्चेदं दुःखं प्राणिमात्रस्य प्रतिकूलवेदनीयतया हेयमित्याह—येनाभिहता इति। अनिच्छतः प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचमति पिबति,

---

1. क ग ब – अपघाताय, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – उपघाताय।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – वायुं उपलभ्यते, म – वायुं नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र – एते उपलभ्यते, फ – एते नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – च उपलभ्यते, थ द ध – च नोपलभ्यते।

प्रवेशयतीति यावत्, स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। अनिच्छतोऽपि प्राणो यत्कौष्ठ्यं वायुम्, [1]निःसारयति निश्चारयति, स प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी॥३१॥

चित्त को विक्षिप्त करने वाले केवल नौ '**अन्तराय**' नहीं हैं, अपितु दुःखादि भी व्याध्यादि अन्तरायों के सहभावी हैं, इस तथ्य को पतञ्जलि सूत्रित करते हैं– '**दुःखेति**।' दुःख प्रतिकूलभावनीय (तिरस्करणीय) होता है। त्रिविध दुःखों में से '**आध्यात्मिक**' दुःख व्याधिजन्य होने से 'शारीर' और कामादिजन्य होने से '**मानस**' कहलाता है। व्याघ्रादि प्राणिजनित दुःख को 'आधिभौतिक' कहते हैं। ग्रहदशादिजनित (दैववशात् होने वाले) दुःख को 'आधिदैविक' कहते हैं। प्रत्येक जीवधारी को यह दुःख स्वभावविरोधी प्रतीत होता है, अतः सर्वथा त्याज्य है। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**येनाभिहता इति**।' तत्त्ववैशारदीकार '**विक्षेपसहभू**' श्वास-प्रश्वास को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–प्राण अनिच्छापूर्वक जिस बाह्य वायु का आचमन अर्थात् पान करता है उसे '**श्वास**' कहते हैं। यह समाधि के अङ्गभूत रेचकप्राणायाम का विरोधी है। प्राण अनिच्छापूर्वक जिस अन्तःस्थ वायु को बाहर निकालता है, उसे '**प्रश्वास**' कहते हैं। यह समाधि के सहायकीभूत (अङ्गभूत) पूरक प्राणायाम का विरोधी है॥३१॥

बालप्रिया–

'**कौष्ठ्यम्**'–यद्यपि सर्वत्र वृद्धिपरक '**कौष्ठ्यम्**' पाठ उपलब्ध होता है तथापि शरीरावयव होने से '**कोष्ठ**' शब्द से '**कोष्ठ्यम्**' पद ही बनता है। क्योंकि पाणिनि सूत्र '**शरीरावयवाद्यत्**' (पा. सू. ५/१/६)–से '**यत्**' प्रत्यय होने से यहाँ वृद्धि प्राप्त ही नहीं है॥३१॥

योगवार्त्तिकम्

न केवलमेते व्याध्यादयो योगान्तराया अपि तु दुःखादिरूपेष्वन्तरायान्तरेष्वपि हेतवो भवन्तीत्याह–दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ [2]दुःखादीन्यत्र क्रमेण व्याचष्टे–दुःखमिति। आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्त्तत इत्याध्यात्मिकम्। तच्च द्विविधं शारीरं मानसं च। शारीरं व्याध्यादिजनितं मानसं कामादिजम्। भूतानि प्राणिनो व्याघ्रादीन् लक्षीकृत्य जायत इत्याधिभौतिकं व्याघ्राद्युत्थम्। देवानधिकृत्य जायत इत्याधिदैविकं शीतोष्णाद्युत्थमित्यर्थः। [3]यद्यपि सर्वमेव विक्षेपोद्भवं दुःखं मानसं तथाऽपि प्राधान्येन

---

1. क ग घ च छ ज झ त – निश्चारयति निःसारयति, ख थ ध न – निःसारयति निश्चारयति, द – निःसारयति।
2. क घ च छ – दुःखादीन्यत्र, ख ग – दुःखादीनां च।
3. अ. घ च छ – यद्यपि सर्वमेव विक्षेपोद्भवं दुःखं मानसं तथापि प्राधान्येन मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविभागः। विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वात् दुःख-

मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविभागः। विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वात् दुःखसामान्यस्य त्रिधा विभागो न घटते, घटपटादिदुःखानामसंग्रहात्। एवमन्यत्रापि। [1]दुःखसामान्यलक्षणमाह–येनेति। क्षोभः=चाञ्चल्यम्। यदङ्गानीति। अङ्गकम्पोऽङ्गमेजयत्वमिति। प्राणेति। पुरुषप्रयत्नं विना स्वयमेव प्राणो यद्बाह्यं वायुमतिशयेनाचामति पिबति शरीरान्तःप्रवेशयति स श्वासनामा विकार इत्यर्थः। कौष्ठ्यमुदरस्थं वायुं निःसारयति बहिःकरोति। शेषं पूर्ववत्। सूत्रवाक्यार्थं व्याचष्टे–एत[2] इति। विक्षेपसहभुवो व्याध्यादिविक्षेपोद्भवाः। तत्र हेतुमाह–विक्षिप्तेति। विक्षेपान्तरमेव जायन्ते, विक्षेपनिवृत्तौ निवर्तन्त इत्यर्थः॥३१॥

ये **'व्याध्यादि'** केवल **'योग'** के **'अन्तराय'** नहीं हैं, अपितु दुःखादिरूप अन्य अन्तरायों के भी हेतु हैं, इसी तथ्य को सूत्रकार बताते हैं–**'दुःखेति'।** भाष्यकार दुःखादि की क्रमशः व्याख्या करते हैं–**'दुःखमिति'।** अपने शरीरसंघात को लेकर होने वाला दुःख **'आध्यात्मिक'** कहलाता है। यह 'आध्यात्मिक' दुःख **'शारीर'** और **'मानस'** भेद से दो प्रकार का है। व्याध्यादि से उत्पन्न दुःख **'शारीर'** और कामादि से जन्य दुःख **'मानस'** कहलाता है। व्याघ्रादि भूतों अर्थात् प्राणियों के कारण जो दुःख उत्पन्न होता है, वह व्याघ्राद्युत्थ (व्याघ्रादिजनित) दुःख **'आधिभौतिक'** कहलाता है। देवताओं के कारण जो दुःख उत्पन्न होता है, वह शीतोष्णाद्युत्थ दुःख **'आधिदैविक'** कहलाता है। यद्यपि व्याध्यादि विक्षेप के कारण उत्पन्न समस्त दुःख **'मानस'** है तथापि प्रधानरूप से मनोविकारजन्य और मनोविकाराजन्य होने के कारण दुःखों का **'मानस'** और **'अमानस'** रूप से दो प्रकार का विभाजन किया गया है। विषयसम्बन्धी दुःखों में (ईप्सित विषय के प्राप्त न होने से उत्पन्न होने वाले दुःखों में) चित्त को विक्षिप्त करने का कारणत्व घटित न होने से दुःखसामान्य का तीन प्रकार से वर्गीकरण

सामान्यस्य त्रिधा विभागो न घटते, घटपटादिदुःखानामसंग्रहात्, ख – यद्यपि सर्वमेव विक्षेपोद्भवं दुःखं मानसं, विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वात्। दुखसामान्यस्य च त्रिधा विभागो न घटते, घटपटादिदुःखानामसंग्रहात्। तथापि प्राधान्येन मनोविकारजन्यत्वाभ्यां मानसत्वविभागः। ग – यद्यपि सर्वमेव विक्षेपोद्भवं दुःखं मानसं, तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास इति सूत्रोक्तप्रतिषेधदुःखस्यैव त्रेधाऽयं विभागो न त्रिगुणात्मकवस्तुगतदुःखानामिति, तथापि प्राधान्येन मनोविकारजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविभागः विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वाद् दुःखसामान्यस्य च त्रिधा विभागो न घटते, घटपटादिगतदुःखानामसंग्रहात्। स्थलान्तरेऽप्येवं दुःखस्य त्रिधा विभागो व्याख्येयः। अथवा धर्माधर्मादिष्वपि मानसत्वामानसत्वविभाग इत्यर्थः, क – विषयगतदुःखेषु चित्तविक्षेपाणामहेतुत्वात् दुःखसामान्यस्य त्रिधा विभागो न घटते,घटपटादिदुःखानामसंग्रहात्।

आ. ख ग–विक्षेप०, घ च छ – विपक्ष०, क – विक्षेप० /विपक्ष० नोपलभ्यते॥

1. क ख ग – दुःखस्य, घ च छ – दुःख०।
2. क ग घ च छ – एते, ख – एषः।

वर्गीकरण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे घटपटादिविषयक दुःख मानस न होने से संगृहीत न हो सकेंगे। यही स्थिति अन्यविषयक दुःखों की भी है। अतः मनोविकार- जन्य तथा मनोविकाराजन्य के आधार पर ही दुःख की त्रिविधता सिद्ध होती है। भाष्यकार दुःखसामान्य का लक्षण करते हैं–**'येनेति।'** **'क्षोभ'** शब्द का अर्थ है–चाञ्चल्य। इस प्रकार इच्छापूर्त्ति न होने से चित्त का क्षुभित होना **'दौर्मनस्य'** कहलाता है। योगवार्त्तिककार सूत्रगत 'अङ्गमेजयत्व' को बताने के लिये भाष्य को उठाते हैं–**'यदङ्गानीति।'** शरीरावयव का प्रकम्पित होना **'अङ्गमेजयत्व'** कहलाता है। सूत्रगत **'श्वास'** तथा **'प्रश्वास'** पदों की व्याख्या करने के लिये योगवार्त्तिककार वैयासिक वाक्य को उठाते हैं–**'प्राणेति।'** जीव के प्रयत्न के विना ही **'प्राण'** जिस बाह्य वायु को यथेष्ट ग्रहण करता (पीता) है अर्थात् वायु को शरीर के अन्दर प्रविष्ट कराता है, वह वायु का **'श्वाससंज्ञक'** रूपान्तर है। 'प्राण' जिस उदरस्थ वायु को शरीर से बाहर निकालता है, वह वायु का **'प्रश्वाससंज्ञक'** रूपान्तर (विकार) है। शेष पूर्ववत् है। भाष्यकार सूत्रवाक्य का अर्थ करते हैं–**'एत इति।'** **'विक्षेपसहभुवः'** पद का अर्थ है–व्याध्यादि विक्षेपों से उद्भूत होने वाले अर्थात् दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व तथा श्वासप्रश्वास–ये विक्षेपसहभू हैं। भाष्यकार दुःखादि की विक्षेपजन्यता का कारण बताते हैं–**'विक्षिप्तेति।'** व्याध्यादि विक्षेप के अनन्तर ही ये दुःखादि उत्पन्न होते हैं और विक्षेप के निवृत्त (समाप्त) होने पर ये दुःखादि भी निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार १/३० सूत्र द्वारा निर्दिष्ट **'चित्तविक्षेप'** से उत्पन्न होने वाले ये **'दुःखादि'** (१/३१) हैं, ऐसा सिद्ध होता है॥३१॥

भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः, तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह–

ये विक्षेप समाधि के विरोधी हैं। अतः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इनका निरोध करना चाहिये। अभ्यास और वैराग्य में ईश्वरप्रणिधानरूप अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

योगसूत्रम्

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥३२॥

---

1. क ख ग – **अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः** १/३१ **सूत्रस्य टीका,** घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **अथ......निरोद्धव्याः** १/३२ सूत्रस्य अवतरणिका।

पूर्वोक्त विक्षेपों को दूर करने के लिये ईश्वररूप एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये॥३२॥

व्यासभाष्यम्

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यै[1]काग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति। यदि च चित्तेनैकेना[2]नन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्, अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय[3] उपभोक्ता भवेत्? कथंचित्समाधीयमानमप्येतद्गोमय[4]पायसीयन्यायमाक्षिपति। किं च [5]स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति। कथम्? यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि, यच्चास्प्राक्षं तत्[6]पश्याम्यहमिति प्रत्ययः [7]सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एक[8]प्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं[9] सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्॥३२॥

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – एकाग्रता यदि, घ प फ र – यदि एकाग्रता।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द न प फ ब भ म य र – अनन्विताः, त ध – अन्विताः।
3. क ख ग न – प्रत्युपभोक्ता, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – प्रत्यय उपभोक्ता।
4. ३. क ख च छ ज झ त थ द ध न ब भ म – पायसीय0, ग घ प फ य र – पायसीयम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र – स्वात्म0, प – स्व0।
6. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म – पश्यामि, ख घ प फ ब य र – पश्यामीति।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माहमिति प्रत्ययः उपलभ्यते, द – सर्वस्य........प्रत्ययः नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज ध प फ ब भ म य र – प्रत्यय0, झ त थ न – प्रत्ययि0, द – प्रत्यय0, प्रत्ययि0 नोपलभ्यते।
9. क ग च छ ज त थ द ध न भ म र – वर्तमानम्, ख घ प फ ब य र – वर्तमानः।

विक्षेपों के उपशमन के लिये साधक चित्त को एक आलम्बन में पुनः-पुनः लगाने का अभ्यास करे। जिसके मत में चित्त प्रत्येक विषय में ही 'नियत', 'ज्ञानमात्र' तथा 'क्षणिक' है, उसके मत में चित्त सर्वथा 'एकाग्र' ही है, 'विक्षिप्त' तो है ही नहीं। (योगमत)—और यदि यह चित्त सम्पूर्ण विषयों की ओर से हटाकर योगाभ्यास के द्वारा किसी एक वस्तु में समाहित किया जाता है, तब एकाग्र होता है—ऐसी स्थिति में चित्त एक-एक विषय के प्रति नियत (क्षणिक) नहीं है, अपितु स्थायी है, यह सिद्ध हुआ। (पूर्वपक्ष का उपस्थापन और उसका खण्डन)—और जो वैनाशिक लोग 'सदृशज्ञानप्रवाह' (सदृशचित्त-प्रवाह) के रूप में चित्त को एकाग्र मानते हैं, तो उनसे प्रश्न है कि जिस सदृशज्ञानप्रवाह को आप चित्त की एकाग्रता स्वीकार करते हैं, वह यदि चित्त का धर्म है तो चित्तप्रवाह (ज्ञानप्रवाह) क्षणिक होने से कभी एक (पदार्थ-पदार्थ के रूप में स्थित ही) नहीं होता। और यदि 'सदृशज्ञानप्रवाह' रूप एकाग्रता प्रवाहांश अर्थात् प्रवाह के अंशभूत प्रत्येक चित्त का धर्म है, तो सभी चित्त; चाहे सदृशप्रत्ययप्रवाह वाले हों अथवा विसदृशप्रत्ययप्रवाह वाले हों, प्रत्येक पदार्थ के लिये नियत होने से अर्थात् प्रत्येक विषयरूप व्यक्ति में उत्पन्न और नष्ट होने से; एकाग्र ही हुए। अतः विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति तो जहाँ की तहाँ बनी ही रह गई। अतः यह सिद्ध हुआ कि अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला एक स्थायी चित्त है, क्षणिक चित्त नहीं। (क्षणिक चित्त मानने में अन्यान्य अनुपपत्तियाँ)—और यदि एक चित्त से असम्बद्ध तथा स्वभावभिन्न=सर्वथा अलग-अलग प्रत्यय (ज्ञान) रूप चित्त उत्पन्न होंगे तो पहले चित्त के द्वारा ज्ञात पदार्थ का बाद वाला दूसरा चित्त स्मरणकर्त्ता कैसे हो सकेगा? (क्योंकि वे दोनों सर्वथा असम्बद्ध तथा भिन्न हैं।) (इसी भाँति)—प्रथम क्षण में उत्पन्न चित्त के द्वारा किये गये कर्म के संस्कारजन्य फल का भोक्ता अगले क्षण का चित्त कैसे हो सकता है? (क्योंकि नियम है कि जो कर्म का कर्त्ता होता है, वही उस कर्म के फल का भोक्ता भी होता है)। (बौद्धों के द्वारा) किसी प्रकार से उक्त अनुपपत्ति का समाधान किया भी जाय तो उनका वह समाधान 'गोमयपायसीन्याय' को भी लांघ जाता है। (क्षणिक चित्त मानने में अन्य अनुपपत्तियाँ)—प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले चित्तों को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानने पर अपने 'अनुभव का अपलाप' रूप दोष भी प्राप्त होता है। यह कैसे? तो सुनिये—'जिसे मैंने देखा था, वही मैं' स्पर्श कर रहा हूँ और जिस 'मैंने' स्पर्श किया था वही मैं' देख रहा हूँ—इन प्रयोगों में 'मैं'—रूप का अनुभव; सभी अनुभवों में भिन्न-भिन्न रहने पर

भी, ज्ञाता (चित्त) में एकरूप अर्थात् अभिन्नरूप से उपस्थित रहता है। एक ही रूप से अनुभूयमान 'मैं'—रूप का अनुभव अनेक (पृथक्-पृथक्) चित्तों में स्थित रहता हुआ एक सामान्य ज्ञाता का बोध कैसे करा सकता है? जब कि यह अभिन्नस्वरूप 'मैं'—रूप का ज्ञान (सबके) निजी अनुभव का विषय है। और प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व अन्य प्रमाणों के द्वारा अपलपित (तिरस्कृत) नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुमानादि अन्य प्रमाण प्रत्यक्ष के बल पर ही प्रमाण-व्यवहार को प्राप्त होते हैं। इसलिये अनेक ज्ञानों का आश्रयभूत, स्थिर एक चित्त है—यह बात प्रमाणित होती है॥३२॥

तत्त्ववैशारदी

उक्तार्थोपसंहारसूत्रमवतारयति—अथैत इति अथोक्तार्थानन्तरम् उपसंहरन्निदं सूत्रमाहेति संबन्धः। [1]निरोद्धव्यत्वे हेतुरुक्तः—समाधिप्रतिपक्षा इति। यद्यपीश्वरप्रणिधानादित्यभ्यासमात्रमुक्तं तथापि वैराग्यमिह तत्सहकारितया ग्राह्यमित्याह—ताभ्यामिति।[2] ताभ्यामुक्तलक्षणाभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्र तयोरभ्यासवैराग्ययोर्मध्ये अभ्यासस्यानन्तरोक्तस्येति तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। एकं तत्त्वमीश्वरः, प्रकृतत्वादिति।

ईश्वरप्रणिधानाभ्यासरूप उपरिवर्णित विषय के उपसंहृत सूत्र को प्रस्तुत करने के लिये भाष्यकार अवतरणिका रचते हैं—'**अथैत इति**।' यहाँ '**अथ**' शब्द का अर्थ है—उक्त विषय के प्रतिपादन के पश्चात्। इस प्रकार पतञ्जलि उक्त विषय के उपसंहृत सूत्र को प्रस्तुत करते हैं, ऐसा भाष्य की पंक्ति का अन्वय किया जाता है। व्याध्यादि विक्षेपों को निरुद्ध करने के विषय में अर्थात् विक्षेपों का निरोध क्यों किया जाय तदर्थ भाष्यकार कारण बताते हैं—'**समाधिप्रतिपक्षा इति**'। ये व्याधि आदि विक्षेप समाधि के विरोधी हैं, इसलिये त्याज्य हैं। यद्यपि पूर्ववर्ती '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**' १/२३ सूत्र के द्वारा ईश्वरप्रणिधानविषयक अभ्यासरूप उपाय को बताया गया है तथापि ('**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' १/१२ सूत्र के द्वारा) '**अभ्यास**' के सहयोगी रूप से '**वैराग्य**' (संज्ञक उपाय) का भी यहाँ संग्रह (ग्रहण) होता है—इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने कहा है '**ताभ्यामिति**।' पूर्ववर्णित लक्षण वाले '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' के द्वारा ही (समाधि के अन्तरायभूत) व्याध्यादि विक्षेप निरोध (क्षीण-सामर्थ्य) करने योग्य होते हैं। इन दोनों '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' में से अव्यवहित पूर्वोक्त अभ्यास के विषय को सूत्रकार उपसंहृत करते हैं—'**तदिति**।' चूँकि ईश्वर-विषयक भावना का प्रकरण चल रहा है, इसलिये सूत्रस्थ '**एकतत्त्व**' शब्द का अर्थ है—'**ईश्वर**।'

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **निरोद्धव्यत्वे**, थ द ध – **निरोद्धव्ये**।
2. थ द ध – **ताभ्यामिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **ताभ्यामिति** नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'एकतत्त्वम्–'एक' शब्द प्रधानवाची होता है, इसलिये तत्त्ववैशारदीकार ने **'ईश्वरः'** पद के द्वारा उस प्रधान ('ईश्वर' विषय) को **'एक'** पद का वाच्य माना है। इसमें निर्णायक हेतु है–**'प्रकृतत्वात्'**। ईश्वर प्रस्तुत विषय वाला होने से अर्थात् प्रासंगिक विषयरूप लिङ्ग से **'एक'** शब्द **'ईश्वर** अर्थ का बोधक है। तथा भाष्य की **'उपसंहरन्निदमाह'**–यह पंक्ति उपलक्षणरूप है अर्थात् वैयासिक वाक्य से भी **'ईश्वरतत्त्व'** का ही बोध होता है। भाव यह है कि **'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'** सूत्र की अवतरणिका में व्यासदेव ने प्रस्तुत सूत्र को पूर्व विषय का उपसंहार (समाप्ति) परक माना है और जिसका प्रारम्भ होता है, उसी का उपसंहार होता है–इस नियम से प्रकृत में **'ईश्वरप्रणिधान'** विषय का अव्यवहित उपक्रम (आरम्भ) हुआ है, अतः उपसंहृति (उपसंहार, विषयसमाप्ति) भी उसी तत्त्व की होनी चाहिये। इसलिये सूत्रस्थ **'एकतत्त्वाभ्यासः'** से ईश्वरप्रणिधान विषय का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार के विषय की एकरूपता वाचस्पति मिश्र की व्याख्या को भाष्यानुसारी सिद्ध करती है। **'एक'** तत्त्व **'प्रधान'** वाचक होता है, इसमें कोष भी प्रमाण है–

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥'

विक्षिप्त चित्त के किसी एक ध्येय विषय में स्थिर होने का फलसहित उपाय प्रतिपादित हुआ। किन्तु वैनाशिकों (बौद्धों) के अनुसार चित्त की **विक्षिप्तता'** तथा ध्येय विषय की **'स्थिरता'** संभव ही नहीं है। अतः क्षणिकत्वेन स्थिर चित्त को स्थिरता प्रदान करने की चर्चा इनकी दृष्टि में उन्मत्तप्रलापवत् है। प्रस्तुत सन्दर्भ में बौद्धों का यही मत पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

वैनाशिकानां तु[1] सर्वमेकाग्रमेव चित्तं नास्ति किञ्चिद्विक्षिप्तमिति तदुपदेशानां तदर्थानां च प्रवृत्तीनां वैयर्थ्यमित्याह–यस्य त्विति। यस्य मते प्रत्यर्थेऽर्प्यमाण एकस्मिन्ननेकस्मिन्वा, नियतं यावद[2]र्थावभासमुत्पन्नं तत्रैव समाप्तमनन्यगामि। अर्थान्तरं तावत्प्रथमं गृहीत्वार्थान्तरमपि पश्चात्कस्मान्न गृह्णातीत्यत आह–क्षणिकं चेति। क्षणस्याभेद्यत्वेन पूर्वपश्चाद्भावस्याप्यभाव [3]इति भावः। अस्मन्मते त्वक्षणिकं चित्तं स्वविषय एकस्मिन्नने-

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – तत्, न – तु।
2. क ग थ द ध – **अर्थाभास०**, ख घ च छ ज झ त न – **अर्थावभास०**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति भावः** उपलभ्यते, थ द ध – **इति भावः** नोपलभ्यते।

कस्मिन्वानवस्थितं प्रतिक्षणं तत्तद्विषयोपादानपरित्यागाभ्यां विषयानियतं विक्षिप्तमतो विक्षेपपरिणाममपनीय शक्यैकाग्रताऽऽधातुमिति तदुपदेशप्रवृत्त्योर्ना[1]नर्थकत्वमित्याह–यदि पुनरिदमिति। उपसंहरति–अतो नेति।

पूर्वपक्षः वैनाशिकों के अनुसार–बौद्धों के मत में सभी चित्त एकाग्र ही हैं। कोई भी चित्त विक्षिप्त नहीं है अर्थात् किसी भी तरह से चित्त की विक्षिप्तता नहीं बनती है। अतः तत्सम्बन्धी उपदेश तथा तत्प्रयोजनात्मक प्रवृत्तियाँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं। भाष्यकार ने (बौद्धों की ओर से) इसी पक्ष को उठाया है–'**यस्य त्विति**।' वैनाशिक के मत में चित्त प्रत्यर्थ अर्थात् एक अथवा अनेक विषय में '**नियत**' है अर्थात् अर्थाविभास (विषयज्ञान) उत्पन्न होते ही उसी में समाप्त (नष्ट) हो जाता है। चित्त अर्थात् विज्ञानरूप स्थिर चित्त तदतिरिक्त विषय को ग्रहण करने वाला नहीं होता है अर्थात् वह '**अनन्यगामी**' है। अभिप्राय यह है कि विज्ञानरूप चित्त उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है।

शङ्का–एक विषय को ग्रहण करके चित्त बाद में दूसरे विषय (**अर्थान्तर**) को ग्रहण क्यों नहीं करता है? अर्थात् चित्त को '**प्रत्यर्थनियत**' क्यों कहा जा रहा है?

समाधान–इस पर (बौद्धों की ओर से) भाष्यकार कहते हैं–'**क्षणिकञ्चेति**'। चित्त क्षणिक अर्थात् क्षणस्थायी है। क्षण के अविभाज्य होने से उसमें पूर्वपश्चिमभाव का भी अभाव रहता है अर्थात् सर्वसूक्ष्म कालोपाधि की दृष्टि से क्षण का पूर्व कालांश और पश्चिम कालांश के रूप से विभक्तीकरण नहीं किया जा सकता है।

उत्तरपक्ष–हमारे (योगाचार्यों के) मत में चित्त क्षणिक नहीं है। (हमारा) अक्षणिक (स्थिर) चित्त अपने किसी एक अथवा अनेक विषय में नियतरूप से अवस्थित नहीं रहता है। प्रत्येक क्षण तत्तद् विषयों के ग्रहण और परित्याग (रूप क्रिया) के द्वारा वह किसी एक विषय में 'नियत' (एकाग्र) नहीं रहता है, अपितु वह विक्षिप्त रहता है। अतः अक्षणिक चित्त के विक्षेपपरिणाम को दूर कर उसमें सम्भाव्य एकाग्रता को निष्पादित (निक्षेप, न्यास) करने के लिये उपदेश करना तथा तदर्थ प्रवृत्त होना व्यर्थ नहीं है। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**यदि पुनरिदमिति**।' भाष्यकार चित्त के अक्षणिकत्वपक्ष को उपसंहृत करते हैं–'**अतो नेति**।' अर्थात् चित्त 'प्रत्यर्थ नियत' अर्थात् क्षणिक नहीं, अपितु स्थिर है।

बालप्रिया–

'**तत्त्वाभ्यासः**'–चित्त की विक्षिप्तता तथा एकाग्रतारूप उभयविध अवस्थाओं की उपपत्ति तथा स्वाभिमत (योगाभिमत) चित्तस्थैर्य की सिद्धि के लिये भाष्यकार ने

1. क ख ग थ द ध–आनर्थक्यम्, घ च छ ज झ त न – **अनर्थकत्वम्**।

वैनाशिकों के क्षणिकत्ववाद को भी प्रसंगत आड़े हाथ ले लिया है। क्योंकि चित्त के 'स्थिर' और 'क्षणिक' की द्विआयामी पूर्व-पश्चिमता में से क्षणिकवाद का प्रत्याख्यान हुए विना '**तत्त्वाभ्यास**' की परिचर्चा पूर्ण नहीं हो सकती है। अतः भाष्यकार द्वारा '**यस्य तु**' से वैनाशिक मत का उपस्थापन और '**अतो न प्रत्यर्थनियतम्**' से बौद्धमत की खण्डनात्मक उपसंहृति का संकेत करना युक्तियुक्त है।

'**तदुपदेशानां तदर्थानां च प्रवृत्तीनां वैयर्थ्यम्**'—वैनाशिकों के अनुसार प्रस्तुत वाक्यांश का स्पष्टीकृत अर्थ इस प्रकार है—बन्धन के हेतुभूत नील, पीतादि विषयाकार विज्ञानसन्तान का परित्याग कर अभ्यास के द्वारा विषयाकार के उपप्लव (बाधा) से रहित विशुद्ध विज्ञानमहोदय का अभ्यास करना चाहिये—इस प्रकार का 'उपदेश' तथा (**तदर्थानां प्रवृत्तीनां**) उपदिष्ट अर्थ के साधनीभूत '**सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्, सर्वं स्वलक्षणं** तथा **सर्वं शून्यम्**'—इत्याकारक चार प्रकार की भावना की परिपाकरूप 'प्रवृत्तियाँ' व्यर्थ हैं। क्योंकि इस (वैनाशिक) मत में सभी पदार्थ द्वितीयक्षण-वृत्तिध्वंसप्रतियोगी होने से '**क्षणिक**' हैं। अतः पदार्थों में जब अक्षणिकता ही नहीं है, तब चित्त की स्थिरता की वार्त्ता असम्भव है। अतः वैनाशिक मत में 'तत्त्वाभ्यास' व्यर्थ है। वैनाशिक मत में प्रत्येक पदार्थ द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी होने से क्षणिक (एकक्षणवृत्तिक) है। अतः एक स्थिर अधिकरण का अभाव होने से अर्थात् पदार्थ के स्थिरशील न होने से उसमें स्थिरैकतानतारूप प्रवाह कथमपि सम्भव नहीं है। और विशुद्ध विज्ञानसन्तानोदय के हेतुभूत **भावनाचतुष्टय** का प्रकर्ष भी असम्भव है। किञ्च '**सोपप्लव**' ज्ञानसन्तान की बद्धता तथा '**निरुपप्लव** ज्ञानसन्तान की मुक्तता भी सम्भव नहीं है। यह कथमपि सम्भव नहीं है कि अनुभव करने वाला देवदत्त हो, तज्जन्य (अनुभवजन्य) संस्कारयुक्त यज्ञदत्त हो तथा संस्कारजन्य स्मरण करने वाला चैत्र हो। ऐसा लोकव्यवहार के विरुद्ध है। किन्तु क्षणिकवादी ग्रौद्धाचार्यों के मत में किसी भी पदार्थ के स्थिर न होने के कारण अनुभवजन्य संस्कार, संस्कारोत्कर्ष, तज्जन्य फल और मुक्ति की व्यवस्था किसी एक अधिकरण में सर्वथा असम्भव है, अतः पूर्वपक्षी को मौन हो जाना चाहिये। किरणावलीकार ने बौद्धमत में शरीरादि की निवृत्ति होने पर चित्त का 'अनुपप्लव' और चित्त के 'अनुपप्लुत' होने पर शरीरादि की निवृत्तिरूप से 'इतरेतराश्रयदोष' की भी उद्भावना की है। अतः बौद्धमत सर्वथा त्याज्य है।

तत्त्ववैशारदी

वैनाशिकमुत्थापयति—योऽपीति। मा भूदेकस्मिन्क्षणिके चित्त एकाग्रताधानप्रयत्नः। चित्तसंताने त्वनादावक्षणिके विक्षेपमपनीयैकाग्रताधास्यत इत्यर्थः। तदेतद्विकल्प्य दूषयति—तस्येति। तस्य दर्शन एकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य चित्तसंतानस्य वा धर्मः तत्रैकं

क्रमवदुत्पादेषु प्रत्ययेष्वनुगतं नास्ति प्रवाहचित्तम्। कुतः? यद्यावदस्ति तस्य सर्वस्य क्षणिकत्वादक्षणिकस्य चासत्त्वाद्भवतां दर्शन इति भावः। द्वितीयं कल्पं गृह्णाति–अथेति। सांवृतस्य प्रवाहस्यांशः प्रत्ययः परमार्थः सन्, तस्य प्रत्ययस्यैकाग्रता प्रयत्नसाध्यो धर्मः। दूषयति–स सर्व इति। सांवृतप्रवाहापेक्षया सदृश[1]प्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा। अतः परमार्थसता[2] रूपेण प्रत्यर्थनियतत्वाद्य[3]दर्था[4]वभास उत्पन्नस्तत्र समाप्तत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः, यदपनयेनैकाग्रताऽऽधीयत इति। उपसंहति–तस्मादिति।

पूर्वपक्ष–भाष्यकार वैनाशिक मत को उठाते हैं–'**योऽपीति**।' चित्त में एकाग्रता लाने का प्रयत्न भले ही निष्फल हो, किन्तु अनादि अक्षणिक चित्तसन्तान (विज्ञानधारा) में विक्षेप को दूर करके एकाग्रता लाई जा सकती है।

उत्तरपक्ष–भाष्यकार वैनासिकों के उक्त मत को विकल्पों में बांटकर उसे दोषयुक्त सिद्ध करते हैं–'**तस्येति**।' वैनाशिक मत में एकाग्रता यदि **प्रवाहचित्त** अर्थात् चित्तसन्तान (आलयविज्ञानधारा) का धर्म है? तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि यथाक्रम (क्रमशः) उत्पन्न होने वाले '**प्रत्ययों**' में एक '**प्रवाहचित्त**' अन्वित नहीं रह सकता है। (यदि पूर्वपक्षी पूछे कि)–यह '**प्रवाहचित्त**' कैसे सम्भव नहीं है? (इस पर हम योगाचार्यों का उत्तर है कि)–आपके वैनाशिक दर्शन में जो कुछ है, वह सब '**क्षणिक**' है। स्थिर पदार्थ का अस्तित्व आपको मान्य नहीं है। अतः '**चित्तप्रवाह**' के क्षणिक होने से वह एक स्थिर पदार्थ के रूप में कभी स्थित ही नहीं हो सकता है, तो फिर उसमें (स्थिराश्रयाभाव में) एकाग्रताधान का प्रयास कैसा? अर्थात् व्यर्थ है। अर्थात् क्षणिक चित्त में एकाग्रता उपपन्न ही नहीं हो सकती है।

भाष्यकार द्वितीय विकल्प को प्रस्तुत करते हैं–'**अथेति**'। यदि वैनाशिक कहें कि '**सांवृत्तिक**' अर्थात् आविद्यिक-प्रवाह का अंशभूत प्रत्यय (प्रवाहांश, प्रवाहावयव, प्रवाहव्यक्ति) वास्तविक है, अतः एकाग्रता उस परमार्थभूत प्रवाहांश का धर्म है, और वह एकाग्रता प्रयत्नसाध्य (प्रयत्न द्वारा सम्भव) है। अब भाष्यकार पूर्वपक्षी के इस विकल्प का खण्डन करते हैं अर्थात् उनके मत को दोषपूर्ण सिद्ध करते हैं–'**स सर्व इति**।' आविद्यिक-प्रवाह के कारण होने वाली चित्त-व्यक्तियाँ चाहे '**सदृश प्रत्ययप्रवाह**' वाली हों अथवा '**विसदृशप्रत्ययप्रवाह**' वाली हों, जिस पदार्थ का ज्ञान कराने के लिये उत्पन्न होती हैं, उस पदार्थ का ज्ञान कराके समाप्त (नष्ट) हो

---

1. क ग घ च छ ज झ त न – **प्रत्यय॰**, उपलभ्यते (उभयत्र), ख थ द ध – **प्रत्यय॰**, नोपलभ्यते (उभयत्र)
2. क च छ – **सत्ता॰**, ख ग घ ज झ त थ द ध न – **सता**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **यत्** उपलभ्यते, न – **यत्** नोपलभ्यते।
4. क ख ग थ द ध – **आभासः**, घ च छ ज झ त न – **अवभासः**।

जाती हैं। अतः प्रवाहव्यक्ति (सदृशप्रवाहांश अथवा विसदृशप्रवाहांश) **'एकाग्र'** ही है। इस कारण से विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति रह ही जाती है अर्थात् वैनाशिक मतानुसार चित्त का **'विक्षिप्त'** होना सिद्ध ही नहीं होता है। जिससे चित्त की विक्षिप्तता को हटाकर उसमें एकाग्रता का आधान किया जा सके। अर्थात् वैनाशिक मत में स्थिर चित्त में एकाग्रता का प्रयास कैसा? अर्थात् व्यर्थ **है।** अर्थात् इस मत में एकाग्रताधान का प्रयास उपपन्न नहीं होता है। भाष्यकार योगमत को उपसंहृत करते हुए कहते हैं–**'तस्मादिति।'** इसलिये चित्त **'एक'**, अनेक पदार्थों का **'ज्ञाता'** एवं **'स्थायी'** सिद्ध होता है। वह (वैनाशिक मतानुसार) 'क्षणिक' नहीं है।

बालप्रिया–

'सांवृतप्रवाह'–**'संव्रियतेऽनया'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'संवृति'** अविद्या को कहते हैं। यह **'संवृति'** असत् प्रकाशनशक्तिरूप है। संवृति के कार्य को **'सांवृत'** कहते हैं। इस प्रकार आविद्यिक प्रवाह को **'सांवृतप्रवाह'** कहते हैं। यह सांवृतप्रवाह स्वभाविक है।

भाष्यकार वैनाशिकसम्मत क्षणिकवाद का खण्डन करने के लिये स्थाणुनिखननन्याय से चित्त की स्थिरता को अन्यान्य युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

इतोऽपि चित्तमेकम[1]नेकार्थमवस्थितं चेत्याह–यदि चेति। यथा हि मैत्रेणाधीतस्य शास्त्रस्य न चैत्रः स्मरति;[2] यथा च[3] मैत्रेणोपचितस्य पुण्यस्य पापस्य वा कर्माशयस्य फलं तदसंबन्धी चैत्रो न भुङ्क्ते,[4] एवं प्रत्ययान्तरदृष्टस्य प्रत्ययान्तरं न स्मरेत्, प्रत्ययान्तरोपचितस्य वा कर्माशयस्य फलं च[5] न प्रत्ययान्तरमुपभुञ्जीतेत्यर्थः।

निम्नाङ्कित युक्तियों से भी चित्त **'एक'**, **'अनेकार्थ'** तथा अवस्थित=**'स्थिर'** सिद्ध होता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–**'यदि चेति।'** चित्त को क्षणिक मानने पर स्मरण तथा कर्मफलभोग की व्यवस्था कथमपि सम्भव नहीं है। इसी तथ्य का विशदीकरण किया जा रहा है–जिस प्रकार मैत्र (नाम के व्यक्ति) द्वारा पठित (अधीत, अनुभूत) शास्त्र का स्मरण चैत्र (नामक व्यक्ति) को नहीं होता है (यह अनुभव तथा स्मरणात्मक ज्ञान की वस्तुस्थिति है) और जिस प्रकार मैत्रेय द्वारा उपार्जित (पाप या पुण्यरूप) कर्माशयजनित फल का भोग उसका सम्बन्धी (मित्र, परिवार का सदस्य) चैत्र नहीं करता है (यह कर्म तथा कर्मजनितफल की वस्तुस्थिति है)।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त ध न – **अनेकार्थ०, थ द – अनेकार्थम्।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **स्मरति, थ द ध – स्मर्ता।**
3. थ द ध – **च** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **च** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **भुङ्क्ते, थ द ध – भोक्ता।**
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – **च** उपलभ्यते, थ द ध – **च** नोपलभ्यते।

इसी प्रकार प्रत्ययान्तर के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण प्रत्ययान्तर को नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रथम (अन्य) चित्त के द्वारा ज्ञात विषय का अन्य अर्थात् द्वितीयादि क्षण में उत्पन्न चित्त के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार एक प्रत्यय' द्वारा उपार्जित कर्माशय के फल का भोक्ता दूसरा प्रत्यय (प्रत्ययान्तर) नहीं हो सकता है।

उपरिवर्णित अनुभव तथा स्मरण एवं कर्म तथा कर्माशय के यर्थाथ प्रत्यक्षानुभव को ध्यान में रखते हुए उत्तरपक्षी द्वारा पूर्वपक्षी पर असमानाधिकरण का जो आरोप लगाया गया है, उसी का दूरीकरण वैनाशिक करता है–

तत्त्ववैशारदी

ननु नातिप्रसज्यते, कार्यकारणभावे सतीति विशेषणाच्छ्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादावकर्तृ [1]मातृपितृपुत्रादिगामिफलदर्शनान्मधुररसभावितानां [2]वाम्रबीजादीनां परम्परया फलमाधुर्य-नियमादित्यत आह–कथञ्चित्[3] समाधीयमानमप्येतदिति। अयमभिसंधिः–कः खल्वेक-संतानवर्तिनां प्रत्ययानां [4]संतानान्तरवर्तिभ्यः प्रत्ययेभ्यो विशेषो येनैकसंतानवर्तिना प्रत्ययेनानुभूतस्योपचितस्य च[5] कर्माशयस्य तत्संतानवर्त्येव प्रत्ययः स्मर्ता भोक्ता च स्यान्नान्य-संतानवर्ती? न हि संतानो नाम कश्चिदस्ति वस्तुसन् य एनं संतानिनं[6] संतानान्तरवर्तिभ्यो भिन्द्यात्। न च काल्पनिको भेदः क्रियायामु[7]पपद्यते। न खलु कल्पिताग्नि- भावो माणवकः पचति। न च कार्यकारण[8]भावसंबन्धोऽपि वास्तवः। सहभुवोः सव्येतरविषाणयोरिवाभावा-दसहभुवोरपि प्रत्युत्पन्नाश्रयत्वायोगात्। न ह्यतीतानागतौ व्यासज्ज्य प्रत्युत्पन्नं वर्तितुमर्हतः। तस्मात्संतानेन वा कार्यकारणभावेन वा स्वाभाविकेना[9]नुपहिताः परमार्थसन्तः प्रत्ययाः परस्परासंस्पर्शित्वेन स्वसंतानवर्तिभ्यः परसंतानवर्तिभ्यो वा प्रत्ययान्तरेभ्यो न भिद्यन्ते। सोऽयं गोमयं च[10] पायसं चाधिकृत्य प्रवृत्तो न्यायः–गोमयं पायसं गव्यत्वादुभयसिद्धपायसवदिति। तमाक्षिपति न्यायाभासत्वेन ततोऽप्यधिकत्वादिति।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न – मातृपितृ०, थ – मातापिता०।
2. क ग थ ध – वा उपलभ्यते, ख घ च छ ज झ त द न – वा नोपलभ्यते।
3. थ द ध न – कथञ्चित्, उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – कथञ्चित् नोपलभ्यते।
4. क ख ग – भिन्नसन्तान०, घ च छ ज झ त थ द ध न – सन्तानान्तर०।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – च कर्माशयस्य, थ द ध – कर्माशयस्य वा।
6. क ख ग च छ ज – सन्तानम्, घ झ त थ द ध न – सन्तानिनम्।
7. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न – उपपद्यते, ख – उपयुज्यते।
8. क ख ग घ च छ ज झ त न – भाव० उपलभ्यते, थ द ध – भाव० नोपलभ्यते।
9. क छ – अनुपहताः, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – अनुपहिताः
10. क ख ग घ च छ ज झ त न – च उपलभ्यते, थ द ध – च नोपलभ्यते।

पूर्वपक्ष–सिद्धान्ती द्वारा प्रतिपादित उक्त स्थिति में भी अतिप्रसङ्ग दोष नहीं आता है। क्योंकि '**एकसन्तानान्तःपाती**' होने से भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में कार्यकारणभाव (उपादानोपादेयभाव) बन सकता है। जिस प्रकार '**श्राद्ध**' और '**वैश्वानर**' इष्टि आदि में अकर्तृभूत माता-पिता तथा पुत्र के प्रति फलप्राप्ति (फलश्रुति) सुनी जाती है– (यह शास्त्रीय दृष्टान्त है)। अथवा जिस प्रकार मधुर रस से आप्लावित आम्रबीजों का माधुर्य अंकुर आदि की परम्परा से फल तक अवश्य पहुँच जाता है–(यह लौकिक दृष्टान्त है)। उसी प्रकार सदृशप्रवाहान्तःपाती प्रथम चित्त कर्म का कर्त्ता और द्वितीय चित्त फल का भोक्ता होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आनी चाहिये।

उत्तरपक्ष–इस पर भाष्यकार का कथन है–'**कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतदिति**।' वैनाशिकों की ओर से दिया गया उक्त समाधान दोषपूर्ण होने से '**गोमयपायसीयन्याय**' को भी तिरस्कृत कर देता है। अभिप्राय यह है–'**एकसन्तानान्तःपाती**' प्रत्ययों का '**सन्तानान्तरवर्ती**' प्रत्ययों से क्या भेद (अन्तर) है, जिससे एक सन्तानान्तःपाती प्रत्यय से अनुभूत तथा उपार्जित कर्माशय का स्मर्ता तथा भोक्ता तत्सन्तानवर्ती अपर (दूसरा) प्रत्यय ही होगा, अन्यसन्तानवर्ती प्रत्यय (अनुभूत विषय का) स्मर्ता तथा (कर्माशय का) भोक्ता नहीं बन सकता है?–(अतः वैनाशिकों की ओर से प्रस्तुत उक्त समाधान असंगत तथा दोषपूर्ण है)। (दूसरी बात यह है कि)– (योगमतानुसार)'**सन्तान**' नाम की कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, जो सन्तानी प्रत्यय को सन्तानान्तरवर्ती अन्य सन्तानियों से पृथक् कर सके। और न ही क्रिया में काल्पनिक भेद उपपन्न हो सकता है। जिस प्रकार कल्पित अग्नियुक्त (अवास्तविक अग्निधारी) बालक पाकानुकूल क्रिया नहीं कर सकता। अथवा जिस प्रकार बुभुक्षु आशामोदक से क्षुधापूर्ति करने में समर्थ नहीं होता है। वास्तविक मोदक से ही भूख शान्त होती है)। किञ्च एक साथ उत्पन्न हुए अर्थात् पूर्वोत्तरकालविहीन प्रत्ययों में कार्यकारणभावसम्बन्ध भी उपपन्न नहीं हो सकता है। जिस प्रकार पूर्वापश्चाद्भावी (पूर्वापरभाव से रहित) सव्य (बायें) और अपसव्य (दायें) सीगों में कार्यकारणभावसम्बन्ध नहीं है। अर्थात् सहजात सीगों में कार्यकारणसम्बन्ध कैसे उपपन्न हो सकता है? यदि सींगों की उत्पत्ति '**असहभू**' (क्रमिक) मानी जाय तो भी पूर्वभावी सींग पश्चाद्भावी सींग का आश्रय नहीं बन सकती है। और न ही पूर्वपश्चाद्भावी अतीत और अनागतज्ञान '**प्रत्युत्पन्न**'= वर्तमानज्ञान का कारण हो सकता है और न ही अतीत और अनागत व्यासज्य=युगपद्भाव से वर्तमान में रह सकते हैं। अर्थात् क्षणिक होने से अतीत और अनागत क्षणों में समानकालिकत्व का अभाव है। इससे 'अतीत, अनागत

और वर्तमानकालिक सदृशप्रत्यय व्यक्तियों में त्रित्वादि के समान व्यासज्यवृत्तिक एकाग्रता हो'-ऐसा बौद्धो का मत निरस्त हो जाता है। क्योंकि अन्योन्य असमान कालिक पदार्थों में व्यासज्यवृत्तित्व असम्भव है। और दूसरी बात यह है कि क्षणिक बौद्धमत में सभी पदार्थों में स्वलक्षण-स्वलक्षण (अपना-अपना पृथक् धर्म) है। उनमें सामान्य धर्म है ही नहीं। अतः उनमें सादृश्य की सिद्धि करना टेड़ी खीर है। इस कारण सन्तान अथवा कार्यकारणभाव के स्वभाव से असम्बद्ध, परमार्थसत् हुए प्रत्यय परस्पर असंस्पर्शी होने से (प्रत्ययों में भेद न होने से) स्वसन्तानवर्ती अथवा परसन्तानवर्ती प्रत्ययान्तरों से भिन्न नहीं हैं। अतः क्षणिक चित्त की एकाग्रता के लिये बौद्धों का उक्त जो कथन है वह **'गोमयपायसीन्याय'** से भी अधिक उपेक्षणीय (तिरस्करणीय) है। गोमय (गोबर) और पायस के विषय में प्रवृत्त होने वाला न्याय **'गोमयपायस न्याय'** कहलाता है। न्याय का स्वरूप है-**गोमयं पायसं**-प्रतिज्ञा, **गव्यत्वात्**-हेतु, **उभयसिद्धगव्यसवत्**-उदाहरण। जैसे कोई कहे कि गोमय अर्थात् गोबर पायस (दूध) है क्योंकि दूध के समान वह भी गौ से ही उत्पन्न होता है। अर्थात् गोविकार होने से दोनों में पायसत्व है-तो यह तर्क तर्काभास तथा हास्यास्पद है।

बालप्रिया-

'श्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादौ'-शास्त्र में मृतक पितरों की सन्तुष्टि के लिये पुत्रादि द्वारा श्राद्ध करने का विधान है। श्राद्ध-क्रिया पुत्र द्वारा सम्पादित होती है और श्राद्धक्रिया का फल मृत पितरों को प्राप्त होता है। इस प्रकार श्राद्ध क्रिया में कर्म और फल की व्यधिकरणता स्पष्ट है। इसी प्रकार द्वादशलक्षणी मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में यह विधान किया गया है-**'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'** अर्थात् 'पुत्र के उत्पन्न होने पर बारहवें दिन **वैश्वानरेष्टि** याग करे।' यह याग माता-पिता द्वारा किया जाता है और **वैश्वानरेष्टि** याग का फल पुत्र को प्राप्त होता है। वचन है-**'यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद् इन्द्रियावी पशुमान् भवति'**-इस प्रकार कर्म और फल की व्यधिकरणता विदित है। ऐसा पूर्वपक्षी के कथन का अभिप्राय है। वस्तुतस्तु पूर्वपक्षी की ओर से श्राद्ध और वैश्वानरेष्टि का दृष्टान्त कर्म और कर्मफल की व्यधिकरणता की सिद्धि के लिये प्रस्तुत करना उचित एवं न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि मृत पितृ-प्रीति द्वारा श्राद्धक्रिया का फल श्राद्धकर्त्ता को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार वैश्वानरेष्टि याग में तथाकथित अर्थवाद वाक्य (वाक्यशेष) द्वारा ही फल का पुत्रगामी होना सुना जाता है।

'ततोऽप्यधिकत्वात्'-ऐसा इसलिये कहा गया है कि गोमयपायसीय न्यायरूप तर्क में जो दोष प्राप्त होता है, उससे भी अधिक दोषाधायक तर्क वैनाशिकों का है,

क्योंकि लौकिकन्याय में कम से कम 'गव्यत्व' (गोमयत्व) हेतु तो है किन्तु वैनाशिकों के तर्क में तो कोई हेतु भी नहीं है। अतः वैनाशिक मत सर्वथा त्याज्य है।

तत्त्ववैशारदीकार ने वैनाशिक मत में '**यथा हि मैत्रेणाधीतस्य...उपभुञ्जीतेत्यर्थः**' इस वाक्यसमूह द्वारा '**अकृताभ्यागम**' (विना किये कर्म का फल प्राप्त होना) तथा '**कृतविप्रणाश**' (किये कर्म का फल दिये विना ही नष्ट होना) रूप दोषों की उद्भावना की है। ये दोनों दोष योगमत में नहीं आते हैं, इसे ही सम्प्रति, तत्त्ववैशारदी में सिद्ध किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

न चात्र कृतनाशाकृता[1]भ्यागमं चोद्यम्। यतश्चित्तमेव कर्मणां कर्तृ, तदेव तज्जनिताभ्यां सुखदुःखाभ्यां युज्यते। सुखदुःखे च चितिच्छायापन्नं चित्तं भुङ्क्त इति पुरुषे भोगाभिमानश्चितिचित्तयोरभेदग्रहादिति। स्वप्रत्ययं प्रतीत्य समुत्पन्नानां स्वभाव एवैषां तादृशो यत्त एव स्मरन्ति फलं चोपभुञ्जते, न त्वन्ये। न च स्वभावो नियोगपर्यनुयोगावर्हति– एवं भवतु; मैवं भूदिति वा; कस्मान्नैवमिति वेति।

शङ्का–सिद्धान्ती ने बौद्धमत में जिस प्रकार वैयधिकरण्यन्याय से '**कृतनाशाकृताभ्यागम**' दोष की प्रसक्ति बतलाई है, उसी प्रकार आपके (योग) मत में भी यह दोष प्रसक्त होता है। योगमत में बुद्धि कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है। अतः क्रिया और फल की स्पष्टतः व्यधिकरणता है।

समाधान–योगमत में '**कृतनाश**' और '**अकृताभ्यागम**' दोष का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। क्योंकि चित्त ही कर्मों को करने वाला है और वही चित्त कर्मजनित सुख-दुःख से युक्त होता है। चितिच्छायापन्न चित्त ही सुख-दुखः का भोग करता है। और जो पुरुष को ('**अहं सुखी**' इत्यादि) भोगाभिमान होता है, वह चिति-चित्त (जड़-चेतन) के भेदाग्रह (भेद गृहीत न हो पाने) के कारण है। अपने कारणभूत प्रधान में संस्काररूप से लीन होकर (द्विपरार्द्धावधि समाप्त होने पर सृष्टिकाल में पुनः) उत्पन्न होने वाले चित्तों का यह स्वभाव ही है कि वे ही स्मरण करते हैं और कर्मफल का उपभोग करते हैं, न कि दूसरा चित्त। किञ्च जो जिसका स्वभाव होता है, उसके विषय में कोई आज्ञा या प्रश्न ही नहीं होता है। जैसे 'ऐसा हो' (अर्थात् जल जलावे), 'ऐसा न हो' 'ऐसा क्यों नहीं होता'? (अर्थात् अग्नि पदार्थ को क्यों नहीं आर्द्र करती? इत्यादि।

उक्त तथ्य का पुनः विशदीकरण किया जा रहा है–

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **अभ्यागम०**, थ द ध – **अभ्यागमम्।**

तत्त्ववैशारदी

यः पूर्वोक्ते न परितुष्यति तं प्रत्याह—किं च स्वात्मेति। उदयव्ययधर्माणामनुभवानामनुभवस्मृतीनां च नानात्वेऽपि तदाश्रयमभिन्नं चित्तमहमिति प्रत्ययः प्रतिसंदधानः कथमत्यन्तभिन्नान्प्रत्ययानालम्बेत्। ननु ग्रहणस्मरणरूपकारणभेदात् [1]पारोक्ष्यापारोक्ष्यरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाद्वा न प्रत्यभिज्ञानं नामैकः प्रत्ययो यतः प्रत्ययिनश्चित्तस्यैकता स्यादित्यत आह—स्वानुभवेति। ननु कारणभेदविरुद्धधर्मसंसर्गावत्र बाधकावुक्तावित्यत आह—न च प्रत्यक्षस्येति। प्रत्यक्षानुसारत एव सामग्र्यभेदः पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मविरोधश्चोपपादितो न्यायकणिकायाम्। अक्षणिकस्य चार्थक्रिया न्यायकणिकाब्रह्मतत्त्वसमीक्षाभ्यामुपपादितेति सर्वमवदातम् ॥३२॥

जो पूर्वोक्त युक्ति से सन्तुष्ट नहीं होते, ऐसे वैनाशिकों के प्रति भाष्यकार कहते हैं—'**किं च स्वात्मेति**।' उत्पत्ति और नाश धर्म वाले अनुभव और अनुभवजन्य स्मृतियों के एकाधिक होने पर भी उन अनुभव और स्मृतियों के आश्रयभूत एक चित्त को '**अहम्**' इत्याकारक रूप से प्रतिसन्धान=जानने वाला '**प्रत्यय**' (स्वयं क्षणिक होने से) कैसे अत्यन्त भिन्न प्रत्ययों को ग्रहण कर सकता है? अर्थात् क्षणिकवाद के अनुसार भिन्न-भिन्न चित्त मानने पर अपने आप का भी अनुभव नहीं बन पायेगा अर्थात् आत्मीयबोध का भी अपलाप होने लगेगा।

शङ्का—ग्रहण और स्मरणरूप कारण का भेद होने से अथवा परोक्ष्य और अपरोक्ष्यरूप विरुद्ध धर्मों का **संसर्ग**=सम्बन्ध होने से '**प्रत्यभिज्ञा**' नाम का कोई ज्ञान नहीं है, जिससे प्रत्ययी चित्त का एकत्व स्थापित किया जा सके?

समाधान—भाष्यकार का कहना है—'**स्वानुभवेति**।' जिसको मैंने देखा था, उसी को स्पर्श कर रहा हूँ और जिसको मैंने स्पर्श किया था, उसी को देख रहा हूँ—इत्याकारक स्वानुभवगम्य अभेदरूप '**अहम्**' प्रत्यक्षज्ञान का विषय है। इस प्रकार स्वानुभवरूप '**प्रत्यभिज्ञा**' का अपलाप नहीं किया जा सकता है। जब कि क्षणिकवादी वैनाशिकों के मतानुसार '**प्रत्यभिज्ञा**' उपपन्न ही नहीं हो पायेगी।

शङ्का—स्वमतस्थापन के लिये यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि '**प्रत्यभिज्ञा**' में कारणभेद और विरुद्ध धर्मों का संसर्ग बाधक होता है। अतः '**प्रत्यभिज्ञा**' में कोई प्रमाण ही नहीं है?

समाधान—इस पर भाष्यकार की ओर से उत्तर है—'**न च प्रत्यक्षस्येति**।' अनुमानादि किसी तर्क के द्वारा इस प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञारूप स्वानुभव के माहात्म्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्यक्षेतर अनुमानादि प्रत्यक्ष के बल से

---

1. क ख ग घ च ज झ थ द ध – **पारोक्ष्यापारोक्ष्य०**, छ त – **परोक्षापरोक्ष०**, न – **पारोक्ष्य०**।

ही प्रमाणत्व को प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष के अनुसार ही सामग्री का अभेद स्थापित किया जाता है। प्रत्यभिज्ञा के स्थल में परोक्ष और अपरोक्षरूप विरुद्ध धर्म अविरोधी हैं, इसका प्रतिपादन न्यायकर्णिका में किया गया है और अक्षणिक अर्थात् स्थिर पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व न्यायकणिका तथा ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नामक दोनों ग्रन्थों से स्थापित (सिद्ध) किया गया है। इस प्रकार यह दोषशून्य (अवदात) सिद्धान्त है कि चित्त '**एक**', '**अनेकार्थ**' (अनेक पदार्थों को विषय बनाने वाला) तथा '**अवस्थित**' (स्थिर, मोक्षपर्यन्त रहने वाला) है॥३२॥

योगवार्त्तिकम्

नन्वेतेऽन्तरायाः सकार्याः[1] किमीश्वरप्रणिधानमात्रनिरस्या अथ वाऽन्योपायेनापि निरसितुं शक्या इत्याकाङ्क्षायामुत्तरं प्रयच्छति सूत्रान्तरावतारणाय–अथैत इति। अथ **विक्षेपोत्पत्त्यनन्तरमेते विक्षेपा अभ्यासवैराग्याभ्यामित्यादिसूत्रोक्ताभ्यां सामान्याभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरस्या न त्वीश्वरप्रणिधानादेवेति नियम इत्यर्थः।** एतत्प्रतिपादकतयोत्तर**सूत्रमवतारयति–तत्रेति। तत्र[2] तयोरभ्यासवैराग्ययोर्मध्येऽभ्यासविषयं [3]जीवेश्वरादिसाधारणं पिण्डीकृत्योपसंहरन् इदं मयोक्तं वक्ष्यमाणसूत्रेणाहेत्यर्थः। यदि हीश्वरप्रणिधानमेव** केवल**मन्तराया[4]भावहेतुरिति वक्ष्यमाणसूत्रार्थः स्यात्तदैकतत्त्वाभ्यास इति सामान्योपसंहारो न युज्येत, निस्संदेहार्थमीश्वराभ्यास इत्येव वक्तुं युक्तत्वादिति भावः। तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।**

शङ्का–उपरिवर्णित ये दुःखादिकार्यसहित व्याध्यादि अन्तराय क्या ईश्वरप्रणिधान (रूप साधन) के द्वारा ही उन्मूलित किये जा सकते हैं अथवा किसी अन्य साधन से भी इनका निरास किया जा सकता है?

समाधान–ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रान्तर को अवतरित करने के लिये भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**अथैत इति**।' चित्त को विक्षिप्त करने वाले व्याध्यादि 'विक्षेप' के उत्पन्न होने पर ये विक्षेप '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' (१/१२) सूत्र में सामान्यरूप से निर्दिष्ट अभ्यास तथा वैराग्यरूप साधन के द्वारा ही निरुद्ध करने योग्य होते हैं, न कि ईश्वरप्रणिधान से ही इनका निरोध होता है, ऐसा नियम है। भाष्यकार इसी तथ्य के प्रतिपादक उत्तरसूत्र को अवतरित करते हैं–'**तत्रेति**।' इन दोनों '**अभ्यास**' और '**वैराग्य**' में से अभ्यास के विषयभूत जीवेश्वरादि तत्त्वसामान्य को समुच्चित करके

---

1. क ख घ च छ – **सकार्याः** उपलभ्यते, ग – **सकार्याः** नोपलभ्यते।
2. क ख घ – **तत्र** उपलभ्यते, ग घ च – **तत्र** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – **जीवेश्वरादिसाधारणं**, ख – **जीवेश्वरासाधारणम्**।
4. क ख ग – **अभावे**, घ च छ – **अभाव०**।

उपसंहार रूप में मेरे द्वारा जो कहा जा रहा है वही तथ्य वक्ष्यमाण सूत्र के द्वारा कहा गया है। यदि 'ईश्वरप्रणिधान ही केवल व्याध्यादि अन्तरायनिवृत्ति का कारण है–'ऐसा वक्ष्यमाण सूत्र का अर्थ किया जाय तो प्रकृत सूत्र में '**एकतत्त्वाभ्यासः**' द्वारा निर्दिष्ट किसी 'एक' तत्त्वसामान्यविषयक अभ्यास की चर्चा का समापन उपपन्न न हो सकेगा। अन्यथा (तत्त्वसामान्यविषयक अभ्यास को न मानने पर) सूत्रकार द्वारा सन्देहनिवृत्त्यर्थ '**एकतत्त्वाभ्यासः**' पद के स्थान पर '**ईश्वराभ्यासः**' पद को उद्घोषित करना युक्तिसंगत रहता, ऐसा मेरा विचार है। सूत्र है–'**तदिति**।'

योगवार्त्तिकम्

एकं स्थूलादि किंचित्। यत्तु–एकतत्त्वशब्देनात्र परमेश्वर एवोक्त इति, तन्न–बाधकं विना सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वानौचित्यात्, पूर्वसूत्रप्राप्तत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च, सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तमित्यागामिभाष्या[1]नुपपत्तेश्चेति।

सूत्र में प्रयुक्त 'एक' शब्द स्थूलादि किसी तत्त्वसामान्य का बोधक है।

पूर्वपक्ष–प्रकृत में '**एकतत्त्व**' शब्द से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।

उत्तरपक्ष–ऐसा जो कहा गया है, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बाधक (सैद्धान्तिक अवरुद्धता) के विना सामान्यपरक (सामान्यार्थक) शब्द (**एकतत्त्व**) को विशेषार्थ-परक (**ईश्वरार्थक**) मानना उचित नहीं है। किञ्च विगत सूत्र से प्राप्त तत्त्वविशेष '**ईश्वर**' को प्रकृत सूत्र में (अन्तराय-निरोधार्थ) अन्वित करने से पुनरुक्तिदोष प्रसक्त होगा तथा 'प्रत्येक चित्त एकाग्र है, कोई विक्षिप्त नहीं है'–इस प्रकार का बौद्ध-मतानुप्राणित आगामी भाष्य भी अनुपपन्न रहेगा। इन तीन कारणों से यह सिद्ध होता है कि सूत्रस्थ '**एकतत्त्व**' पद से '**ईश्वर**' गृहीत नहीं है।

बालप्रिया–

'एकतत्त्वाभ्यासः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–सूत्र में प्रयुक्त '**एकतत्त्व**' शब्द सामान्य अथवा विशेष में से किस अर्थ का वाचक है, इस विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने उपक्रमोपसंहारन्याय से '**अभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह**' इस वैयासिक वाक्य को आधार बनाकर '**एकतत्त्वमीश्वरः प्रकृतत्वात्**' पंक्ति द्वारा '**एकतत्त्व**' शब्द का '**ईश्वर**' अर्थ स्पष्टतः किया है। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने नामोल्लेख के विना '**एकतत्त्व**' पद के ईश्वरवाचक पक्ष को '**यत्तु**' से उठाकर '**तन्न**' द्वारा उसका खण्डन किया है तथा स्वमत को '**एकं स्थूलादि किंचित्**' शब्दावली द्वारा उपन्यस्त किया है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार '**एकतत्त्व**' शब्द का अर्थ है–चित्त के एकाग्रीकरण के उपायभूत '**अभ्यास**' का 'कोई एक ध्येय विषय।'

---

1. क ग घ च छ – **अनुपपत्तेः**, ख – **स्वरसात्**।

वस्तुतस्तु व्याकरणशास्त्र के अनुसार किसी शब्द के सामान्य अथवा विशेष अर्थ के विषय में मतभेद होने पर प्रकरणबल से अर्थविशेष का ही निश्चय किया जाता है। प्रकृत में **'एकतत्त्व'** शब्द से चित्तैकाग्रता के आलम्बनीभूत किसी एक सामान्य ध्येय विषय का ग्रहण तो हो ही सकता है, किन्तु प्रकरण के बल पर इसे पदार्थविशेष का ही बोधक मानना चाहिये। अमरकोश के **'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाश्च प्रयुज्यते'**–वचन के अनुसार **'एक'** शब्द **'प्रधान'** अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः प्रकृत में प्रधानवाचक **'एक'** शब्द से **'ईश्वर'** तत्त्व का ग्रहण प्रकरणानुसारी है। **'ईश्वरप्रणिधान'** के गौणफल के रूप से **'अन्तरायाभाव'** को बताकर अग्रिम दो सूत्रों (१/३०,३१) द्वारा अन्तराय का स्वरूप प्रतिपादित कर प्रकृत सूत्र (१/३२) के द्वारा विषय का उपसंहार किया गया है, ऐसा मानना चाहिये। किञ्च अभ्यास के आलम्बनीभूत सामान्यविषय को प्रतिपादित करने के लिये अग्रिम **'यथाऽभिमतध्यानाद्वा'** (१/३३) सूत्र तो है ही। अन्यथा अग्रिम सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। 1-39.

योगवार्त्तिकम्

उक्तयोर्विक्षेपैकाग्रतयोर्वक्ष्यमाणपरिकर्मणश्चोपपत्तये चित्तस्य स्थिरतां साधयिष्यन् **चित्तस्य क्षणिकत्वादिकं दूषयति–यस्य त्विति।** यस्य तु वैनाशिकस्य मते चित्तं प्रत्यर्थ-**नियतमर्थादर्थान्तरं** न गच्छति तथा प्रत्ययमात्रं निराधारवृत्तिमात्रं तथा क्षणिकं च भवति; **तस्य मते सर्वमेव चित्तमेकाग्रमतो** विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिरित्यर्थः। तदनुपपत्तौ च तेषां **स्वशिष्येभ्यः स्वशास्त्रेषु समाध्युपदेशो** विफल एवेति भावः।[1] चित्तस्य[2] क्रमेण नानाऽर्थ-**विषयकत्वस्वीकारे तु नायं दोष इत्याह–यदि पुनरिति।** ततः किमित्यत आह-अतो नेति। **योऽपि वैनाशिकविशेषः उक्तदोषपरिहाराय मन्यते** सदृशप्रत्ययप्रवाहरूपतैव चित्तस्यैकाग्रता **प्रवाहमध्ये विसदृशत्वं च विक्षेप इति, तस्य मतं योऽपीत्यादिनाऽनूद्य विकल्प्य दूषयति–तस्येति। मत इति शेषः। क्षणिकत्वादिति।** अत आश्रयाभावेनैकाग्रताऽनुपपत्तिरिति शेषः। **नन्वतीतानागतवर्त्तमानासु सदृशप्रत्ययव्यक्तिषु** त्रित्वादिवद्व्यासज्यवृत्तिरेकाग्रता भवत्विति **चेत्? न अन्योन्यासमानकालीनेषु** व्यासज्यवृत्तित्वासंभवात्, क्षणिकवादिनां सामान्यधर्मा-**भावेन सादृश्यस्य दुर्वचत्वाच्चेति।**

चित्त की पूर्ववर्णित विक्षिप्तता तथा एकाग्रता की तथा आगे प्रतिपादित किये जाने वाले **'परिकर्म'** की युक्तियुक्तता को सिद्ध करने के लिये चित्त की **'स्थिरता'** **(अक्षणिकता)** को सिद्ध करने के इच्छुक भाष्यकार व्यासदेव चित्त के (बौद्धसम्मत)

---

1. क ख ग घ च – **भावः** उपलभ्यते, छ – **भावः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च – **चित्तस्य** उपलभ्यते, छ – **चित्तस्य** नोपलभ्यते।

क्षणिकत्वादिपक्ष में दोष की उद्भावना करते हैं–'**यस्य त्विति**।' जिस वैनाशिक (बौद्ध) के मत में चित्त '**प्रत्यर्थनियत**' अर्थात् एक पदार्थ (विषय) से दूसरे पदार्थ तक सञ्चरण करने में असमर्थ, '**प्रत्ययमात्र**' अर्थात् आलम्बन के विना विज्ञानरूप तथा '**क्षणिक**' अर्थात् क्षणस्थायी है, उसके मत में प्रत्येक चित्त एकाग्र ही रहता है। अतः बौद्ध पक्ष में चित्त की विक्षिप्तता सिद्ध ही नहीं होती है। और फिर चित्त की विक्षिप्त अवस्था न होने पर बौद्धाचार्यों का अपने शिष्यों के प्रति स्वकीय ग्रन्थों में समाधिलाभोपाय का उपपादन (उपदेश) करना व्यर्थ (निष्फल) ही हो जायेगा। किन्तु एक ही चित्त को (क्रमशः)अनेक पदार्थ का ग्राहक (ग्रहण करने वाला) मानने पर उपर्युक्त दोष प्रसक्त नहीं होगा। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**यदि पुनरिति**।' जब यह चित्त सर्व विषय की तरफ से प्रत्यावर्त्तित करके एक ध्येयालम्बन में समाहित किया जाता है, तब विक्षेपरहित चित्त की एकाग्रता सम्पादित होती है।

शङ्का–विक्षेपपूर्वक चित्त को एकाग्र मानने से क्या सिद्धान्तित होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**अतो नेति**।' विक्षेपावस्था के पश्चात् चित्त की एकाग्रता मानने से यह ध्वनित होता है कि चित्त '**प्रत्यर्थनियत**' नहीं है। अर्थात् एक अर्थ में ही अवस्थित रहकर वह स्वतः एकाग्र नहीं है।

वैनाशिकसम्मत चित्त की एकाग्रता तथा विक्षिप्तता का उपस्थापन–जो वैनाशिक लोग सिद्धान्ती द्वारा उद्भावित उपरिनिर्दिष्ट न्यूनताओं के अपसारणार्थ ऐसा मानते हैं कि तुल्यविज्ञानसन्तति (सदृशप्रत्यय की एकतानता) ही चित्त की एकाग्रावस्था है और इस प्रकार के तुल्यविज्ञानरूप प्रवाह के मध्य में चित्त की होने वाली विसदृशता ही उसकी विक्षिप्तावस्था है।

वैनाशिक मत का खण्डन–इन विज्ञानवादी बौद्धों के मत को '**योऽपीत्यादिना**' से उठाकर भाष्यकार उसे विकल्पपूर्वक दोषावह सिद्ध करते हैं–'**तस्येति**।' वैनाशिकों की 'सदृशप्रत्ययप्रवाहरूपिणी एकाग्रता' के विषय में यह पृष्टव्य है कि यदि एकाग्रता प्रवाहचित्त का धर्म है, इस विकल्प को स्वीकार किया जाय तो प्रवाहचित्त एक अर्थात् स्थायिरूप नहीं है। इसमें हेतु है–'**क्षणिकत्वादिति**।' क्योंकि प्रवाहचित्त (सदृशप्रत्यय प्रवाह) **क्षणिक** अर्थात् क्षणस्थायी है। अतः तुल्यप्रत्ययप्रवाह के क्षणिक होने से स्थायी आश्रय के अभाव के कारण निराश्रित एकाग्रता कहाँ ठहरेगी। अतः वैनाशिक मत में चित्तैकाग्रता उपपन्न ही नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्ष–अतीत, अनागत और वर्तमानकालिक सदृशप्रत्यय व्यक्तियों में, त्रित्वादि की भाँति, व्यासज्यवृत्तिरूप एकाग्रता मानी जाय और इस प्रकार वैनाशिक मत में चित्तैकाग्रता अनुपपन्न नहीं है।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी का यह वक्तव्य भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि परस्पर असमानकालिक '**सदृशप्रत्यय**' व्यक्तियों में 'व्यासज्यवृत्ति' सम्भव ही नहीं है और (दूसरा कारण यह है कि) क्षणिकवादियों के मत में '**सामान्य**' धर्म का अभाव होने से प्रत्ययव्यक्तियों में '**सादृश्य**' की बात ही नहीं उठ सकती है। इस प्रकार 'एकाग्रता सदृशप्रत्ययप्रवाह का धर्म है'–यह विकल्प निरस्त हो जाता है।

बालप्रिया–

'**अन्योन्यासमानकालीनेषु व्यासज्यवृत्तित्वासंभवात्**'–शास्त्रों में '**व्यासज्यवृत्ति**' का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है–'**स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं यथा उभयत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वम्। अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वम्, अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वं वा, यथा द्वित्वत्रित्वादीनां व्यासज्यवृत्तित्वम्**।' भाव यह है कि जिस प्रकार द्वित्व, त्रित्वादि अपेक्षाबुद्धिजन्य होने से '**व्यासज्यवृत्ति**' वाले हैं उसी प्रकार अतीतत्व, अनागतत्व तथा वर्तमानत्वरूप सदृशप्रत्ययव्यक्ति अपेक्षाबुद्धिजन्य होने से व्यासज्यवृत्ति वाले हैं। इस प्रकार स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वरूप एकाग्रता क्षणिक चित्त में उपपन्न होती है। पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि परस्पर भिन्न-भिन्न क्षणविशिष्ट प्रत्ययव्यक्तियों में समानाधिकरणभेद-प्रतियोगितावच्छेदकत्वरूप व्यासज्यवृत्ति कथमपि सम्भव ही नहीं है। अतः पूर्वपक्ष अस्वीकार्य ही रह जाता है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'एकाग्रता प्रवाहांश का धर्म है'–इस विकल्प पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

प्रवाहांशस्य प्रत्येकव्यक्तेरित्यर्थः। दूषयति–स सर्व इति। स सर्वः प्रवाहां[1]शः **सदृशप्रत्ययप्रवाहान्तःपाती वा विसदृशप्रत्ययप्रवाहान्तःपाती वा भवतु; उभयथैवैकाग्रः, चित्तस्य प्रत्यर्थनियतत्वादित्यादिरर्थः। अतः स्वसिद्धान्तमुपसंहरति–तस्मादिति। अवस्थितं स्थिरम्। परमते दूषणान्तरमाह–यदि चेति। स्वभावभिन्नत्वेन नित्यभिन्नत्वेन त्वया[2]ऽभ्यु-पगताः प्रत्यया यद्येकचित्तानाश्रिताः स्युरित्यर्थः। अथशब्दः प्रश्ने। अन्यप्रत्ययदृष्टस्येति। तन्मते चित्तातिरिक्तात्माभावादु[3]क्तम्, उपचितस्य=अर्जितस्य कर्माशयस्यादृष्टस्येत्यर्थः। नन्वेकसंतानोत्पन्नत्वेनानुभवसंस्कारस्मृत्यादीनां कार्यकारणभावाभ्युपगमेनायं दोषः परिहर्त्तव्य इत्याशङ्कायामाह–समाधीयमानमिति। गोमयं पायसं गव्यत्वादित्यादि न्यायम[4]तिदूषणं**

---

1. क ग घ च छ – **अंशः**, ख–**अन्तः**।
2. ग – **अपि (त्वया–पश्चात्)** उपलभ्यते, क ख ग च छ – **अपि** नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ – **उक्तं**, ग – **उक्तः**।
4. क ख ग – **एतत्**, घ च छ – **अति०**।

समाधीयमानमप्याक्षिपति=तिरस्करोति, तन्न्यायापेक्षयाऽप्येतद्दूषणोद्धरणन्याय आभासीभूत इत्यर्थः। तत्र हि गव्यत्वं हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति, अत्र त्वेकसंतानीयत्वरूपो हेतुरप्यप्रसिद्धः, संतानस्यैकतानिर्वाहकजात्याद्यनभ्युपगमादिति भावः। दूषणान्तरमाह–किं चेति। स्वस्य **बौद्धस्य य आत्मविषयकानुभवस्तस्याप्यपलापश्चित्तस्य प्रतिक्षणमन्यत्वे सति प्रसज्यत इत्यर्थः। पृच्छति–कथमिति। उत्तरम्–यदिति।**[1] **अव्ययमहमो विशेषणम्। तथा च योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यादिप्रत्ययेऽहमिति यः प्रत्ययांशः स सर्वस्य प्रत्ययस्य दर्शनस्पर्शनादिरूपस्यान्योन्यभेदे सति तदाश्रये प्रत्ययिनि धर्मिण्यभेदाकारतयाऽनुभवसिद्धोऽस्तीत्यर्थः।** आत्मा**नुभवं व्याख्याय तदपह्नवं व्याचष्टे–एकप्रत्ययेति। अयं चैकप्रत्ययविषयः प्रत्ययव्यक्तिमात्रगोचरको भवन्मतेऽतो भेदाकारोऽहमिति प्रत्ययः कथं**[2] **भवन्मतेऽत्यन्तभिन्नेषु क्षणिकचित्तेषु विषयत्वेन वर्तमानः सामान्यमेकं विषयीकुर्यादित्यर्थः, सर्वप्रत्ययानुगतधर्मिणः स्थिरचित्तस्यानभ्युपगमादिति भावः। नन्वभेदाकारोऽहंप्रत्यय एवाप्रामाणिक इति? तत्राह–स्वानुभवेति। अभेदात्मा=अभेदाकारः। ननु यत्सत्तत् क्षणिकमिति सत्त्वेन क्षणिकत्वानुमानादुक्तप्रत्ययो** [3]**बाधनीयस्तत्राह–न च प्रत्यक्षेति। माहात्म्यम्=स्वार्थसाधकत्वम्, न तर्कादिशून्यप्रमाणान्तरेणाभिभूयते=प्रतिबध्यते,** [4]**उपजीव्यजातीयत्वेन बलवत्त्वादित्यर्थः। शङ्खः पीत इत्यादिप्रत्यक्षं तु तर्कयोगेन बलवताऽनुमानेनैव बाध्यते। एवं देहाद्यात्मताप्रत्यक्षमपि निर्णीतप्रामाण्येन शास्त्रेण संदिग्धप्रामाण्यतया दुर्बलं बाध्यत इति। ननु चित्तातिरिक्तात्मानभ्युपगमिनामयं दोषो न** [5]**चास्तिकानाम्, अहंप्रत्ययस्य स्थिरात्मविषयकत्वाभ्युपगमादतः स्वमते कथं चित्तस्थैर्यसिद्धिरिति चेत्? पूर्वोक्तात् स्मृति**[6]**संस्कारयोरे**[7]**काश्रयतानियमादित्यवेहि। तदिदं चित्तस्थैर्यमुपसंहरति–तस्मादिति। परिकर्मोपदेशान्यथाऽनुपपत्त्याऽपि चित्तस्थैर्यमनुमीयत इत्याह–यस्येति। हेतुगर्भविशेषणेन यस्य स्थिरचित्तस्येदमागामिसूत्र**[8]**वक्ष्यमाणपरिकर्मचित्तप्रसादनं स्थितिदार्ढ्यहेतुः परिष्कारः शास्त्रेषु निर्दिश्यत इत्यर्थः॥३२॥**

पूर्वपक्ष–यदि वैनाशिक ऐसा कहे कि चित्त की एकाग्रता **'प्रत्ययप्रवाहांश'** अर्थात् प्रत्येक प्रत्ययव्यक्ति के धर्म के रूप से उपपन्न हो सकती है। (अतः वैनाशिक मत में चित्तैकाग्रता अनुपपन्न नहीं है)।

---

1. ख ग – **यत्तदिति** (यदिति–पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ – **यत्तदिति** नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ – **कथं** उपलभ्यते, ग – **कथं** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ -- **बाधनीयः**, ख – **बोधनीयः**।
4. क – **उपजीव्यत्वेन**, ख ग घ च छ – **उपजीव्यजातीयत्वेन**।
5. क ख ग – **तु**, घ च छ–**च**।
6. क ख घ च छ – **संस्कारयोः**, ग – **संस्काराणाम्**।
7. क ख – **एकाश्रयत्व०**, ग – **एकाश्रयत्वं**, घ च छ – **एकाश्रयता०**

उत्तरपक्ष–तो इस विकल्प को (विकल्पान्तरों की असहनीयता से) भाष्यकार दोषपूर्ण ठहराते हैं–'**स सर्व इति**।' वे सभी '**प्रवाहांश**' अर्थात् चित्तव्यक्तियाँ चाहे सदृशप्रत्ययप्रवाह वाली हों अथवा विसदृशप्रत्ययप्रवाह वाली हों, दोनों स्थितियों में एकाग्ररूप ही कही जायेंगी, क्योंकि वे '**प्रत्यर्थनियत**' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति विषय में ही उत्पन्न-विनष्ट स्वभाव वाली हैं। 'इस प्रकार एकाग्रता सदृशप्रत्ययप्रवाहांश का **धर्म है**'–यह विकल्प भी निरस्त हो जाता है। भाष्यकार कहते हैं–'**तस्मादिति**।' अतः एक तथा अनेक ज्ञानों का आश्रयभूत चित्त '**अवस्थित**' अर्थात् स्थिर है, उसे क्षणिक नहीं कहा जा सकता है। भाष्यकार बौद्ध मत में अन्य दोषों को बतलाते हैं–'**यदि चेति**।' आपके (बौद्ध के) द्वारा अभिमत सभी प्रत्यय अर्थात् विज्ञान 'स्वभावतः भिन्न' होने से यदि एक चित्त के आश्रित न माने जायें तो इस पर प्रश्नवाचक 'अथ' शब्द के द्वारा भाष्यकार वैनाशिकों से पूछते हैं–'**अन्यप्रत्ययदृष्टस्येति**।' तो फिर प्रथम क्षण में उत्पन्न हुए चित्त के द्वारा ज्ञात विषय का द्वितीयादि क्षण में उत्पन्न अन्य चित्त के द्वारा किस प्रकार स्मरण किया जा सकेगा? क्योंकि बौद्धमत में चित्तातिरिक्त आत्मा का अभाव है। अर्थात् आप (वैनाशिक) लोग 'चित्त' अर्थात् 'विज्ञान' से अतिरिक्त आत्मतत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते हैं। अतः क्षणस्थायी 'विज्ञानरूप आत्मा' को स्मरणज्ञान होना सम्भव नहीं है। यह पहली न्यूनता है। इस मत में दूसरी न्यूनता यह है कि–'**अन्य**' अर्थात् प्रथम क्षण में उत्पन्न प्रत्ययरूप चित्त के द्वारा '**उपचित**' अर्थात् अर्जित (सञ्चित) अदृष्टरूप कर्माशय का अर्थात् कर्मसंस्कारजन्य फल का उपभोक्ता द्वितीयादि क्षण में उत्पन्न प्रत्ययरूप भिन्न चित्त कैसे हो सकता है? अर्थात् अनुभवकर्त्ता तथा स्मरणकर्त्ता के सामानाधिकरण्य की भाँति कर्मकर्त्ता तथा फलभोक्ता की समानाधिकरणता व्यवहारसिद्ध होने से वैनाशिक मत निरस्त हो जाता है।

पूर्वपक्ष–वैनाशिक कहता है कि–एक प्रत्ययसन्तान में उत्पन्न हुए अनुभव, संस्कार तथा स्मृति आदियों का कार्यकारणभाव स्वीकार करने से उक्त दोष परिहृत हो जाता है।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी द्वारा उक्त विकल्प (युक्ति) प्रस्तुत किये जाने पर भाष्यकार कहते हैं–'**समाधीयमानमिति**।' वैनाशिक का उपरिनिर्दिष्ट समाधानपक्ष 'गोमय पायस है, गव्य होने से' इस प्रकार के अतिदोषपूर्ण न्याय को भी तिरस्कृत करता है अर्थात् पूर्वपक्षी द्वारा प्रदत्त तर्क (न्याय) तो सर्वथा आभासपूर्ण होने से '**गोमयपायसन्याय**' से भी अधिक शोचनीय है। पूर्वपक्षी के समाधानपक्ष में सर्वाधिक तिरस्करणीयता बतलाते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–गोमयपायसीयन्याय में कम से कम 'गव्यत्व' (गोविकारत्व) हेतु तो प्रसिद्ध है, किन्तु पूर्वपक्षी के कथन में तो

'एकसन्तानीयत्वरूप' हेतु भी प्रसिद्ध अर्थात् प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि सन्तान अर्थात् प्रत्ययप्रवाह की एकता के निर्वाहक **'सामान्य'** (जाति) धर्म को वैनाशिक स्वीकार ही नहीं करता है। अतः एकसन्तानाधारित अनुभव, संस्कार तथा स्मृत्यादि में कार्यकारणभाव की स्थिति भी सर्वथा अप्रामाणिक ही रह जाती है। भाष्यकार आगे कहते हैं–**'किं चेति।'** क्षण-प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न प्रत्ययरूप चित्त मानने पर आत्मानुभव (स्वानुभव) का अपलाप हो जायेगा अर्थात् प्रत्ययरूप क्षणिक चित्त को अपने ज्ञान का भी ज्ञान न हो पायेगा।

पूर्वपक्ष–पूर्वपक्षी पूछता है–'कथमिति।' आत्मीयबोध का अपलाप? किस प्रकार हो सकता है?

उत्तरपक्ष–भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'यदिति।'** योगवार्त्तिककार भाष्य में प्रयुक्त **'यदहम्'** पद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ **'यत्'** पद **'अहम्'** का विशेषण है। इस प्रकार 'जिस मैंने देखा था, वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ'–इस ज्ञान में **'अहम्'** अर्थात् अहमाकाररूप जो प्रत्ययांश (ज्ञानावयव) है, वह दर्शन, स्पर्शन आदि रूप सभी ज्ञानों से परस्पर भिन्न होने पर भी अपने आश्रयभूत प्रत्ययरूपधर्मी (ज्ञाता, चित्त) में अभेदाकाररूप से अर्थात् अभिन्नरूप से विद्यमान रहता है, यह अनुभवसिद्ध है। आत्मानुभव की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार बौद्धमत में अनुभवसिद्ध आत्मानुभव की अपह्नवता (अपलाप) को प्रदर्शित करते हैं–**'एकप्रत्ययेति।'** बौद्धमत में 'एकप्रत्ययविषय' अर्थात् प्रत्ययव्यक्तिमात्र को विषय (गोचर) करने वाला अर्थात् एक ही ज्ञान को विषय बनाने वाला यह भेदाकाररूप **'अहम्'** प्रत्यय है। अतः बौद्धमत में इस प्रकार भेदाकाररूप **'अहम्'** प्रत्यय **'अत्यन्तभिन्न'** (अर्थात् क्षणिक चित्तों में विषयरूप से विद्यमान) एक सामान्य (प्रत्ययी चित्त) को कैसे विषय बना सकता है? अर्थात् पृथक्-पृथक् चित्तों में स्थित रहता हुआ एक सामान्य का बोध कैसे करा सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्रत्ययव्यक्ति में अनुगत रहने वाले स्थिर चित्तरूप धर्मी को आप (वैनाशिक) लोग स्वीकार नहीं करते हैं।

पूर्वपक्ष–अभेदाकार **'अहम्'** प्रत्यय तो अप्रामाणिक है?

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'स्वानुभवेति।'** 'अभेदात्मा' अर्थात् अभेदाकार **'अहम्'** प्रत्यय तो अपनी प्रत्यक्षानुभूति से ही जाना जाता है। अतः अप्रामाणिक कहकर अभेदाकार **'अहम्'** प्रत्यय का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

पूर्वपक्ष–वैनाशिकों का कहना है कि **'यत् सत् तत् क्षणिकम्'**–अर्थात् 'जो सत् (अस्तित्ववान्) है वही क्षणिक है'–इत्याकारक अनुमान से ही उक्त अभेदाकार **'अहम्'** प्रत्यय का बाध हो जाता है।

उत्तरपक्ष–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न च प्रत्यक्षेति**।' प्रत्यक्षप्रमाण का '**माहात्म्य**' अर्थात् स्वार्थसाधकत्व (प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्व, ज्येष्ठत्व) तर्कादिशून्य अन्य प्रमाणों से 'अभिभूत' अर्थात् प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभव उपजीव्यकोटिक (संरक्षकजातीय) होने से (पराश्रितवर्गीय अनुमानादि उपजीवकों की तुलना में सर्वसम्मति से) बलवान् है। अर्थात् अन्य प्रमाण तो प्रत्यक्षप्रमाण के बल से अपने अस्तित्व का लाभ करते हैं, अतः तदपेक्षया दुर्बल हैं।

(यथार्थ प्रत्यक्ष का अनुमानादि के प्रति उपजीव्यत्व सिद्ध करने के पश्चात् योगवार्तिककार अप्रमारूप प्रत्यक्ष का सद्धेतु से अभिभूत होना भी स्पष्ट करते हैं, जिससे तथ्य का असन्दिग्धरूप उपस्थित हो सके)–'**शङ्खः पीतः**' अर्थात् 'शंख पीला है'–इत्याकारक (**भ्रमात्मक**) प्रत्यक्ष तो बलवान् सद्धेतुरूप अनुमान के द्वारा ही बाधित हो जाता है। इसी भाँति देहात्मविषयक प्रत्यक्ष (देहात्माभिमानरूप प्रत्यक्ष) भी शास्त्र द्वारा निर्णीत प्रामाण्य से बाधित हो जाता है, क्योंकि सन्दिग्ध प्रमाण से निर्णीत प्रमाण बलवत्तर होता है।

शङ्का–चित्त से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार न करने वालों के मत में यह दोष आता है, न कि आस्तिकों के मत में। क्योंकि आस्तिक लोग अहंप्रत्यय के विषयभूत स्थिर आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु इससे योगमत में चित्त की स्थिरता कैसे सिद्ध हो सकती है।?

समाधान–पूर्वोक्त स्मृति-संस्कार का आश्रयभूत एक स्थिर चित्त सिद्ध होता है, ऐसा नियम समझना चाहिये अर्थात् अनुभव, अनुभवजन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति का आश्रयभूत एक ही चित्त होता है, अन्यथा स्मरणानुपपत्ति होगी। भाष्यकार चित्तस्थैर्य (के प्रकरण) को उपसंहृत करते हैं–'**तस्मादिति**।' उक्त व्याख्यान से यह सिद्धान्तित होता है कि चित्त एक, अनेक ज्ञानों का आश्रय तथा स्थिर है। "**चित्त-परिकर्म**' का उपदेश व्यर्थ न हो, तदर्थ भी चित्त का अक्षणिक होना अनुमित होता है। अर्थात् चित्त की स्थिरता के विना चित्तपरिकर्मोपदेश निष्फल हो जायेगा। अतः चित्त की स्थिरता (न कि क्षणिकता) स्वतःसिद्ध है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते **हैं–'यस्येति।'** यहाँ '**अवस्थितस्य**' पद में हेतुगर्भविशेषण छिपा हुआ है। अर्थात् अक्षणिक (स्थिर) होने के कारण ही चित्त की एकाग्रता को दृढ़ता प्रदान करने का हेतुभूत चित्तप्रसादनरूप परिकर्म; जिसकी चर्चा आगामी सूत्र में की जायेगी, शास्त्रों में उपदिष्ट है॥३२॥

बालप्रिया–

'**यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते**'–**मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–इस वैयासिक पंक्ति के पाठ-स्थान के विषय में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति

मिश्र ने इस वैयासिक वाक्य को अग्रिम **'तत्कथम्'** के साथ मिलाकर **'मैत्रीकरुणा... प्रसादनम्'** १/३३ वें सूत्र की अवतरणिका के रूप में व्याख्यात किया है। जब कि विज्ञानभिक्षु **'तत्कथम्'** इत्यंश को ही अग्रिम सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका मानते हैं और उन्होंने **'यस्येदं.....निर्दिश्यते'** अंश को **'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'** १/३२ सूत्र का उपसंहृत भाष्य मानकर वहीं पर उसकी व्याख्या की है। दूसरा अन्तर यह है कि विज्ञानभिक्षु **'यस्येदं'** के स्थान पर **'यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं'** इस पाठभेद के पक्षपाती हैं। तभी उन्होंने प्रस्तुत पंक्ति पर वार्त्तिक लिखते हुए **'हेतुगर्भविशेषणेन'** पद का निर्देश किया है। यहाँ **'अवस्थित'** पद में हेतुगर्भविशेषण है॥३२॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते [2]तत्कथम्–

शास्त्र के द्वारा चित्त (की स्थिरता) के लिये जिस 'परिकर्म' का निर्देश किया गया है, वह 'परिकर्म' किस प्रकार का है? (उत्तर है)–

योगसूत्रम्

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥३३॥

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा पुरुषों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न (स्थिर) होता है॥३३॥

व्यासभाष्यम्

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, [3]अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते॥३३॥

---

1. अ. क ख ग ब – **यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते** १/३२ सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – **यस्य....निर्दिश्यते** १/३३ सूत्रस्य अवतरणिका।
आ. क ख ग घ प म र – **यस्य,** च छ ज झ त थ द – **यत्,** ध न फ ब भ य – **यस्य चित्तस्यावस्थितस्य।**
2. क – **कथं,** ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **तत्कथम्।**
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **अपुण्यशीलेषु,** घ प फ र – **अपुण्यात्मकेषु।**

मैत्री आदि चार प्रकार की भावनाओं में से सुख का आनन्दपूर्वक भोग करने वाले प्राणियों के प्रति 'मैत्री' की भावना करे। दुःखी प्राणियों के प्रति 'करुणा' की भावना करे। पुण्यात्मा पुरुषों के प्रति 'मुदिता' की भावना करे। पाप कर्म करने वालों के प्रति 'उपेक्षा' की भावना करे। इस प्रकार की भावना करने वाले साधक में 'शुक्ल धर्म' का उदय होता है। 'शुक्ल धर्म' (सात्त्विक धर्म के उदय) से चित्त प्रसन्न होता है और प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्र होता हुआ स्थिरता को प्राप्त करता है॥३३॥

तत्त्ववैशारदी

अपरिकर्मितमनसोऽसूयादिमतः समाधितदुपायसंपत्त्यनुत्पादाच्चित्तप्रसादनोपायान-**सूयादिविरोधिनः** प्रतिपादयितुमुपक्रमते—[1]**यस्येदमिति**। [2]यस्य चित्तस्य व्युत्थितस्येदं **परिकर्मेत्यर्थः**। **मैत्रीकरुणेत्यादि**[3]प्रसादनान्तं सूत्रम्। सुखितेषु मैत्रीं सौहार्दं भावयत **ईर्ष्याकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य**। दुःखितेषु च करुणामात्मनीव परस्मिन्दुःखप्रहाणेच्छां भावयतः **परापकारचिकीर्षाकालुष्यं चेतसो निवर्तते**। पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां **हर्षं** भावयतोऽसूयाका-**लुष्यं चेतसो**[4] **निवर्तते**। अपुण्यशीलेषु चोपेक्षां माध्यस्थ्यं भावयतोऽमर्षकालुष्यं चेतसो[5] **निवर्तते**। ततश्चास्य **राजसतामसधर्मनिवृत्तौ** [6]**सात्त्विकः** शुक्लो **धर्म** उपजायते। सत्त्वोत्कर्ष-**संपन्नः सम्भवति, वृत्तिनिरोधपक्षे** तस्य **प्रसादस्वाभाव्याच्चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते**। असत्यां पुनर्मैत्र्यादिभावनायां न त उपायाः **स्थित्यै कल्पन्त इति**॥३३॥

असूयादि स्वभाव वाले (असूया आदि कालुण्य से) अपरिष्कृत चित्त को समाधि तथा उसका साधनभूत यौगिक सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता है। अतः असूयादि **के प्रतिपक्षी** 'चित्तप्रसादन' के उपायों को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार **भूमिका बाँधते हैं** अर्थात् विषय का प्रारम्भ करते हैं—'**यस्येदमिति**।' व्युत्थित चित्त के लिये यह परिकर्म शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट किया जा रहा है—'**मैत्रीति**।' '**सुखी**' व्यक्तियों के प्रति '**मैत्री**' अर्थात् सौहार्द (स्नेह) की भावना करने से चित्त का ईर्ष्यारूप मालिन्य दूर हो जाता है अर्थात् सुखी व्यक्ति को देखकर उसके प्रति ईर्ष्यालुभाव

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त – **यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं**, थ द ध न – **यस्येदमिति**।
2. थ न – **यस्य चित्तस्य व्युत्थितस्येदं परिकर्मेत्यर्थः**, द ध – **यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं परिकर्मेत्यर्थः**। क ख ग घ च छ ज झ त – **यस्य.....कर्मेत्यर्थः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रसादनान्तं**, थ द ध – **प्रसादनमित्यन्तम्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त ध न – **चेतसो निवर्तते**, थ द – **निवर्तते चेतसः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न – **चेतसः** उपलभ्यते , थ द ध – **चेतसः** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **सात्त्विकः** उपलभ्यते, न – **सात्त्विकः** नोपलभ्यते।

अर्थात् असहिष्णुता मन में उत्पन्न नहीं होती है। **'दुःखी'** व्यक्तियों के प्रति **'करुणा'** अर्थात् अपने समान दुःखनाश की भावना करने से (अर्थात् अपने समान दूसरे के दुःख से द्रवीभूत होकर परदुःख के दूरीकरण की चेष्टा करने से) दूसरों को क्षति पहुँचाने का इच्छारूप कालुष्य चित्त से निवृत्त हो जाता है। **'पुण्यशील'** अर्थात् धर्मपरायण प्राणियों के प्रति **'मुदिता'** अर्थात् प्रसन्नता की भावना करने से चित्त से परनिन्दारूप कालुष्य दूर हो जाता है। **'पापशील'** अर्थात् दुष्ट प्रकृति के पुरुषों के प्रति **'उपेक्षा'** अर्थात् माध्यस्थ्य (औदासीन्य) की भावना करने से चित्त का अमर्ष (क्रोध) रूप कालुष्य दूर हो जाता है। इस प्रकार (चतुष्कोणीय) भावना करने से योगी के चित्त के राजस और तामस धर्म निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् चित्त में कालुष्यपूर्ण वृत्तियों का उदय नहीं होता है और सात्त्विक **'शुक्ल धर्म'** (सात्त्विक विचार) उदित होता है। योगी सत्त्वगुण के आधिक्य से सम्पन्न हो जाता है। प्रसादस्वभाव के कारण योगी का चित्त वृत्तिनिरोध करने में प्रसन्न होता है और प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त वक्ष्यमाण उपायों से एकाग्र होता हुआ **'स्थितिपद'** को प्राप्त करता है। किन्तु चित्तप्रसादनोपायरूप मैत्र्यादि की भावना के निष्पादित न होने पर वक्ष्यमाण उपाय चित्त को स्थितिपद प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होते हैं॥३३॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरमुत्थापयितुं पृच्छति—कथमिति। किमुपायकं किंस्वरूपं किंफलं वा परिकर्म भवतीत्यर्थः। अत्र सूत्रेणोत्तरम्—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। प्रसादनं स्थितिनिबन्धनमित्यागामितृतीयसूत्रस्थेनान्वयः, अन्यथा तत्र सूत्रे वाशब्दवैयर्थ्यात्। निबन्धनत्वं च स्थित्यभ्रंशहेतुत्वम्, तच्च स्थितिहेतुश्रद्धाऽऽद्य-प्रतिबन्धद्वारा, [1]तथैवागामिसूत्रे भाष्यव्याख्यानात्, श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधीनामेव स्थितिहेतूना-मुक्तत्वाच्च। अत्र सुखादिशब्दस्तद्बाहुल्यलाभाय धर्मधर्म्यभेदात् [2]सुखित्ववाची, भावना चोत्पादनं प्रसादनं समाधिप्रतिबन्धकरागद्वेषाधर्मादिमलापसारणं तोयादिप्रसादवदित्यर्थः। तत्र सर्वेति। मैत्रीं सौहार्दं करुणां निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छां मुदितां प्रीतिमुपेक्षामौदासीन्यं सर्वत्र भावयेदित्यन्वयः। भावनानां चित्तप्रसादे द्वारमाह—एवम[3]स्येति। शुक्लः पापासंभिन्नः [4]ततो धर्मः, इतस्तमःक्षये चित्तं निर्मलं भवतीत्यर्थः। अदृष्टद्वारकत्वं चैतन्मुख्यत उक्तम्, रागद्वेषनिवृत्तिरूपदृष्टद्वारकत्वमपि बोध्यम्। तदुक्तं गीतायाम्—

---

1. क ख ग घ – तत्रैव, च छ – तथैव।
2. क च छ – सुखित्व०, ख ग – सुखितादि० घ – सुखिता०।
3. क ग घ च छ – अस्येति, ख – अभ्यस्येति।
4. क घ च छ – ततो धर्मः, इतस्तमः क्षये, ख ग – ततो धर्माद्रजस्तमः क्षये।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ इति।

ननु चित्तस्य प्रसादाख्यपरिकर्मणैव किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाह–प्रसन्नमिति। प्रसन्नं चित्तमेकाग्रं भूत्वा स्थिरपदमभ्रंशयोग्यतां लभत इत्यर्थः। स्थितिपदमिति पाठे स्थितिः स्थैर्यमित्यर्थः। एवं सर्वत्र ॥३३॥

अग्रिम सूत्र को उपस्थित कराने के लिये भाष्यकार प्रश्न करते हैं–'**कथमिति**'।
शङ्का–किस उपाय वाला, किस स्वरूप वाला अथवा किस फल वाला यह '**परिकर्म**' होता है?
समाधान–सूत्र के द्वारा इसका उत्तर दिया जा रहा है–'**मैत्रीति**।' प्रस्तुत सूत्र के '**प्रसादनम्**' पद को आगामी तृतीय सूत्र (१/३५) के '**स्थितिनिबन्धनम्**' पद के साथ अन्वित किया जाता है, अन्यथा (ऐसा अन्वय न करने पर) उक्त वक्ष्यमाण सूत्र में प्रयुक्त विकल्पार्थक '**वा**' शब्द व्यर्थ हो जायेगा। चित्त की स्थिरता के ह्रास का जो कारण नहीं है, उस स्थित्यभ्रंशहेतुत्व को '**निबन्धनत्व**' कहते हैं। चित्त का यह '**स्थितिनिबन्धन**' चित्तस्थैर्य के हेतुभूत '**श्रद्धादि**' के अप्रतिबद्ध (विघ्नयुक्त न) होने से निष्पन्न होता है, क्योंकि स्वयं भाष्यकार आगामी सूत्र में इसी प्रकार की व्याख्या करेंगे और पीछे १/२० सूत्र के द्वारा 'श्रद्धा' 'वीर्य' 'स्मृति' तथा 'समाधि' में चित्तस्थैर्य का कारणत्व बताया जा चुका है। सूत्र में '**सुखादि**' शब्द का प्रयोग धर्म-धर्मी में अभेद विवक्षित होने से सुख-दुःखादि धर्म के आधिक्य के द्योतनार्थ किया गया है। इस प्रकार धर्मभूत '**सुखादि**' शब्द धर्मीभूत '**सुखित्वङ**' (सुखी व्यक्ति) आदि का वाचक है। अर्थात् '**सुखादि**' शब्दों के '**सुखी**' आदि अर्थ हैं। सूत्र में प्रयुक्त '**भावना**' शब्द का अर्थ है–उत्पत्ति (जैसे, सुखशील प्राणियों में मैत्रीभाव को प्रादुर्भूत करे, इत्यादि) और जलादि से होने वाली (शरीर तथा वस्त्रादिगत) शुद्धि की भाँति समाधि को अवरुद्ध करने वाले राग, द्वेष, अधर्मादि मल की निवृत्ति को '**प्रसादन**' कहते हैं। सूत्र की व्याख्या करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं–'**तत्र सर्वेति**।' '**मैत्री**' अर्थात् सौहार्द की भावना, '**करुणा**' अर्थात् निर्व्याज दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा, '**मुदिता**' अर्थात् प्रीति की भावना तथा '**उपेक्षा**' अर्थात् औदासीन्य को सर्वदा सुखादि विषयों में प्रयुक्त करना चाहिये। चित्तनैर्मल्य के हेतुभूत मैत्र्यादि भावनाओं के मध्यवर्ती व्यापार को भाष्यकार बताते हैं–'**एवमस्येति**।' इस प्रकार भावना करने से योगी का पापरहित '**शुक्ल**' धर्म उदित होता है, जिससे तमोगुणरूप मल के प्रक्षालित होने पर चित्त धवल (स्वच्छ) हो जाता है। इस प्रकार मैत्र्यादि भावना से होने वाले चित्तप्रसादन में शुक्ल धर्म को

'अदृष्टद्वार' बतलाया गया है तथा शुक्ल धर्म से राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर उसमें दृष्टद्वारकत्व भी है, ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि गीता में कहा गया है– **'रागद्वेष---पर्यवतिष्ठते'** (२/६४,६५) अर्थात् 'स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग और द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है। (तदनन्तर) उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।'

शङ्का–चित्त के प्रसादाख्य (प्रसादनरूप) परिकर्म से ही कौन सा प्रयोजन (फल) सिद्ध होता है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'प्रसन्नमिति।' चित्तपरिकर्म से चित्त प्रसन्न होता है। तदनन्तर प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिरता को अर्थात् स्थिर पद से च्युत न होने की क्षमता को हस्तगत करता है। व्यासभाष्य के जिन संस्करणो में **'स्थिरपदं'** के स्थान पर **'स्थितिपदम्'** ऐसा पाठभेद उपलब्ध होता है, वहाँ **'स्थिति'** पद का अर्थ **'स्थैर्य'** है अर्थात् चित्त स्थैर्य को प्राप्त करता है, ऐसा समझना चाहिये। यही अर्थ आगे के भाष्य में भी किया गया है॥३३॥

योगसूत्रम्

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

'प्राण' का 'प्रच्छर्दन' और 'विधारण' करने से भी चित्त स्थिर (प्रसन्न) होता है ॥३४॥

व्यासभाष्यम्

कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः ताभ्यां वा मनसः स्थितिं [1]संपादयेत् ॥३४॥

भीतरी (उदरस्थ) वायु को नासिका-पुटों (किसी एक नासिका छिद्र) से विशिष्ट प्रयत्न के साथ बाहर निकालना 'प्रच्छर्दन' है। बाहर निकाले गये प्राण को बाहर ही रोके रखना 'विधारण' कहा जाता है। इस प्रकार 'प्रच्छर्दन' और 'विधारण' के भी द्वारा साधक मन की स्थिरता का सम्पादन करे ॥३४॥

तत्त्ववैशारदी

तानिदानीं स्थित्युपायानाह–प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। वाशब्दो वक्ष्यमाणोपायान्तरापेक्षो विकल्पार्थः, न मैत्र्यादिभावनापेक्षया, तया सह समुच्चयात्। प्रच्छर्दनं

---

1. **क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – संपादयेत्, ग – प्रसादयेत्।**

विवृणोति—कौष्ठ्यस्येति। प्रयत्नविशेषाद्योगशास्त्र[1]विहिताद्येन कौष्ठ्यो वायुर्नासिकापुटाभ्यां शनै रेच्यते। विधारणं विवृणोति—विधारणं प्राणायाम इति। रेचितस्य प्राणस्य कौष्ठ्यस्य वायोर्यदायामो बहिरेव स्थापनं न तु सहसा प्रवेशनम्। तदेताभ्यां प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वायोर्लघूकृतशरीरस्य मनः स्थितिपदं लभते। अत्र चोत्तरसूत्रगतात्स्थितिनिबन्धनीति पदात्स्थितिग्रहणमाकृष्य संपादयेदित्यर्थप्राप्तेन संबन्धनीयम्॥३४॥

सम्प्रति, चित्तस्थैर्य के उपायों को सूत्रकार बताते हैं—**प्रच्छर्दनेति।**' सूत्रस्थ '**वा**' पद का अन्वय पूर्व अथवा आगामी सूत्रों में से किस सूत्र के साथ किया जाय, इसे स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—'**वा**' शब्द आगे बताये जाने वाले उपयान्तरों के आपेक्षिक भेद का बोधक है अर्थात् वर्तमान सूत्र द्वारा कथित उपाय में चित्तस्थिति के हेतुभूत अग्रिम उपायों से विकल्प द्योतित किया गया है, न कि पूर्व सूत्र द्वारा कथित मैत्र्यादि की भावना से विकल्प द्योतित करने के लिये यहाँ विकल्पपरक '**वा**' शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि '**प्रच्छर्दन**' आदि उपायों का मैत्र्यादि-भावना के साथ समुच्चय है। अर्थात् मैत्र्यादि भावना से समुच्चित '**प्रच्छर्दन**' आदि उपायों में से कोई एक उपाय चित्तस्थैर्य में सहायक होता है, ऐसा बतलाना सूत्रकार को अभिप्रेत है। भाष्यकार सूत्रस्थ '**प्रच्छर्दन**' पद की व्याख्या करते हैं—'**कौष्ठ्यस्येति।**' योगशास्त्र में बतलाये गये विशिष्ट प्रकार के प्रयत्न के द्वारा '**कोष्ठ्य**' अर्थात् उदरस्थ' वायु को नासिका-पुटों से धीरे-धीरे बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार वायु के उद्गिरण (वमन, रेचन) को '**प्रच्छर्दन**' कहते हैं। भाष्यकार सूत्रस्थ '**विधारण**' पद की व्याख्या करते हैं—'**विधारणं प्राणायाम इति।**' कौष्ठ्य से बाहर निकले रेचित प्राण (वायु) का सहसा (एकदम से) उदर में प्रवेश न कराते हुए बाहर ही स्थापित करने का जो आयाम अर्थात् प्रयास किया जाता है, उसे '**विधारण**' कहते हैं। '**प्रच्छर्दन**' और '**विधारण**' रूप प्राणायाम की क्रिया द्वारा हलके हुए शरीर वाले व्यक्ति का मन स्थितिपद (स्थैर्य) को प्राप्त करता है। अर्थात् '**प्राणायाम**' की क्रिया द्वारा शरीर का भारीपन दूर हो जाता है और रूई की भाँति शरीर के हलका होने पर चित्त की एकाग्रता वृद्ध्यंगत होती है।

('**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य**' सूत्र में अनुक्त प्राणवायु-सम्बन्धी उपाय का फल भाष्यकार ने '**मनसः स्थितिं संपादयेत्**' वाक्यांश द्वारा प्रदर्शित किया है। सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार अग्रिम सूत्र की सहायता से भाष्यकार के इस अभिप्राय का समर्थन करते हुए सूत्रकार और भाष्यकार के मत में एकवाक्यता स्थापित करते हैं)—यहाँ पर उत्तरसूत्र के '**स्थितिनिबन्धनी**' (समस्त) पद से '**स्थिति**' का ग्रहण करके

1. क ख ग घ च छ ज झ त न — **विहितात्, थ द ध — उक्तात्।**

उसे अर्थतः प्राप्त '**सम्पादयेत्**' के साथ अन्वित करना चाहिये। अर्थात् साधक प्राणायाम द्वारा मन की स्थिरता का सम्पादन करे–यह अर्थ ध्वनित होता है॥३४॥

योगवार्त्तिकम्

प्रसादस्य साधनान्तरमाह–प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। वाशब्दोऽप्यर्थे। आभ्यामपि चित्तस्य प्रसादनं कुर्यादित्यर्थः। नासिकापुटाभ्यामिति। एकतरपुटेनेत्यर्थः। प्रयत्नविशेषादिति। सूक्ष्मरूपेण योगशास्त्रोक्तरीत्या। वमनं रेचनमित्यर्थः। [1]विधारणं कुम्भकं तच्चार्थात्पूरणानन्तरमिति बोध्यम्, रेचनोत्तरं पूरणं विना विधारणासंभवात्। प्राणायाम इत्युक्तेः[2]

प्राणायामश्च विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकाः।

इत्यादिस्मृतिभिस्त्रयाणामेव मिलितानां प्राणायामत्वकथनादिति। प्राणायाम इति। एतच्च द्वयं पूरणगर्भं प्राणायाम इत्यर्थः। प्रच्छर्दनविधारणे व्याख्याय समग्रसूत्रार्थमाह– ताभ्यामिति। स्थितिं भावयेत्; प्रसादद्वारेति शेषः। [3]अत्र प्राणायामो यमादिनिरपेक्ष एवोत्तमाधिकारिणो योगसाधनतयोक्तः, द्वितीयपादे च मन्दाधिकारिणो व्युत्थितचित्तस्य यमाद्यष्टाङ्गमध्ये प्राणायामो वक्तव्य इत्यपौनरुक्त्यम्। तथा च स्मृतिः–

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। इति॥३४॥

चित्त के रागादि मलों के प्रसादन (दूरीकरण) के अपर उपाय को सूत्रकार बताते हैं–'**प्रच्छर्दनेति।**' सूत्र में '**वा**' शब्द 'अपि' अर्थात् 'भी' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। '**प्राण**' के '**प्रच्छर्दन**' और '**विधारण**' (क्रियाओं) से भी चित्त को रागादि मलों से प्रक्षालित करना चाहिये, ऐसा सूत्रार्थ है। योगवार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं– '**नासिकापुटाभ्यामिति।**' यहाँ दोनों नासिका-पुटों से (युगपत्) '**प्राणायाम**' क्रिया को नहीं बताया गया है, अपितु दो में से किसी एक (एकतर) नासिका-पुट से प्राणवायु का प्रच्छर्दन और विधारण करना चाहिये। इसीलिये विज्ञानभिक्षु ने '**नासिकापुटाभ्याम्**' पद का अर्थ किया है-'**एकतरपुटेन।**' आगे का भाष्य है–'**प्रयत्नविशेषादिति।**' '**प्रयत्नविशेष**' शब्द का अर्थ है–योगशास्त्र में वर्णित पद्धति से प्रवीणतापूर्वक (पूर्ण सतर्कता के

---

1. क ग घ च छ – **विधारणं कुम्भकं तच्चार्थात् पूरणानन्तरमिति बोध्यम्, रेचनोत्तरं पूरणं विना विधारणासंभवात्** उपलभ्यते, ख – **विधारणं...विधारणासंभवात्** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **उक्तेः–प्राणायामश्च विज्ञेयो रेचकपूरककम्भका इत्यादिस्मृतिभिस्त्रयाणामेव मिलितानां प्राणायामत्वकथनादिति। प्राणायाम इति। एतच्च द्वयं पूरणगर्भं प्राणायाम इत्यर्थः**, ख – **प्राणस्याकर्षणमत्र प्राणायामः। तच्च पूरकं वशिष्ठसंहितायामपि च नाडीशुद्ध्यर्थं रेचकपूरक-मात्ररूपोऽपि प्राणायामः प्रदर्शित इति।**
3. क ग घ च छ – **अत्र प्राणायामो...किल्विषमिति** उपलभ्यते, ख – **अत्र...किल्बिषमिति** नोपलभ्यते।

साथ) प्राणायाम का किया जाना। '**वमन**' शब्द का अर्थ है–**रेचन**। अर्थात् वायु के परित्याग को '**वमन**' कहते हैं। सम्मिलितार्थ यह हुआ कि उदरस्थ वायु को एक नासिका-पुट के द्वारा, योगशास्त्र में उल्लिखित प्रणाली से पूर्ण सतर्कता के साथ, बाहर निकालना '**प्रच्छर्दन**' कहलाता है। '**विधारण**' शब्द का अर्थ '**कुम्भक**' है। **पूरण** क्रिया के पश्चात् यह '**कुम्भक**' क्रिया होती है, ऐसा अर्थाल्लभ्य है, क्योंकि '**रेचन**' के बाद (उदरस्थ वायु को बाहर निकालने के पश्चात्) '**पूरण**' किये विना (बाह्यस्थ वायु को अन्तःस्थ किये विना) प्राण वायु की '**विधारण**' क्रिया (अन्दर धारित करने की क्रिया) सम्भव नहीं होती है। इस प्रकार सूत्र में दो प्रकार का प्राणायाम कहा जाने से और '**प्राणायामश्च**....कुम्भकाः' (योगियाज्ञ. ६/२) अर्थात् 'रेचक, पूरक, कुम्भक वाला प्राणायाम जानना चाहिये'–इस स्मृतिवाक्य से रेचकादि तीनों के सम्मिलित रूप को ही '**प्राणायाम**' कहा जाने से यह ध्वनित होता है कि भाष्य में '**प्राणायाम इति**' के द्वारा पूरणगर्भित **प्रच्छर्दन** और **विधारणरूप** द्विविध प्राणायाम विवक्षित है। भाव यह है कि 'प्रच्छर्दन' और 'विधारण' के गर्भ में 'पूरण' प्राणायाम भी छिपा हुआ है। इस प्रकार प्राणायाम का त्रित्व सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार सूत्रगत '**प्रच्छर्दन**' और '**विधारण**' (इन दो पारिभाषिक) शब्दों की व्याख्या करके भाष्यकार समग्र सूत्र का अर्थ करते हैं–'**ताभ्यामिति। स्थितिं भावयेत्**।' इस प्रकार वायु के '**प्रच्छर्दन**' और '**विधारण**' व्यापार के द्वारा रागादि मलों के प्रक्षालनपूर्वक चित्त को स्थिर बनाना चाहिये। यहाँ पर उत्तम अधिकारी के योगसाधन के रूप से यमादिनिरपेक्ष '**प्राणायाम**' ही उपदिष्ट हुआ है तथा द्वितीय पाद में व्युत्थित चित्त वाले मन्द अधिकारी के लिये यमाद्यष्टाङ्गवर्ती (योग के यमादि आठ अङ्गों में पठित) '**प्राणायाम**' उल्लिखित है। अतः '**प्राणायाम**' का दो बार वर्णन करने से पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। इसमें स्मृति प्रमाण है– '**प्राणायामैः**.....किल्बिषम्' (मार्क. पु. ३९/१०) अर्थात् 'प्राणायाम से दोषों का नाश करे और धारणाओं के द्वारा पाप को दूर करे'॥३४॥

बालप्रिया–

'**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–यहां '**प्रच्छर्दन**' शब्द से '**रेचन**' तथा **विधारण**' शब्द से '**कुम्भक**' गृहीत है। '**विधारण**' शब्द से '**कुम्भक**' के ग्रहण की प्रक्रिया विज्ञानभिक्षु तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार भिन्न-भिन्न है। विज्ञानभिक्षु का वक्तव्य है कि प्राणवायु की 'रेचन' क्रिया के पश्चात् 'पूरण' क्रिया हुए विना प्राणवायु का 'विधारण' सम्भव नहीं है। अतः प्राणवायु के प्रच्छर्दन और विधारण क्रिया के मध्य पूरण क्रिया भी आक्षेपलभ्य है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु 'प्राणवायु के रेचन, पूरण तथा स्तम्भन क्रिया द्वारा मन में स्थैर्य का सम्पादन करे' ऐसा सूत्रार्थ

करते हैं। दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र बाह्य, आभ्यन्तर तथा केवल भेद से **'कुम्भक'** के तीन प्रकार का होने से **'विधारण'** शब्द से रेचनोत्तरकालिक कुम्भक क्रिया का ही ग्रहण करते हैं, पूरक क्रिया को आक्षेपलभ्य नहीं मानते हैं। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र बाहर ही प्राणवायु के **'स्थापन'** को **'विधारण'** कहते हैं।

'वा'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने सूत्रगत **'वा'** शब्द को **विकल्पार्थक** मानते हुए प्रकृत 'प्रच्छर्दन-विधारण' को आगे के सूत्रों में प्रतिपादित उपायों के विकल्प (अथवा) के रूप से संयोजित किया है, न कि उसे विगत सूत्र के मैत्र्यादिभावना के साथ अन्वित किया है। तदर्थ मिश्र की पंक्ति है–**'वाशब्दो वक्ष्यमाणोपायाऽन्तराऽपेक्षो विकल्पार्थो न मैत्र्यादिभावनाऽपेक्षया।'** विज्ञानभिक्षु ने 'वा' शब्द को अप्यर्थक मानते हुए मैत्र्यादि की भाँति 'प्रच्छर्दन-विधारण' को चित्त-प्रसादन के उपाय रूप से उपन्यस्त किया है। तदर्थ भिक्षु की पंक्ति है–'वाशब्दोऽप्यर्थे। **आभ्यामपि चित्तस्य प्रसादनं कुर्यात्।'**

वस्तुतस्तु प्रच्छर्दन-विधारण में चित्त के प्रसादनहेतुत्व का अभाव है अर्थात् प्रच्छर्दन-विधारण को चित्त-प्रसादन का उपाय नहीं कहा जा सकता है। इसीलिये भाष्यकार ने प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में **'ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्'** पंक्ति द्वारा प्रच्छर्दन-विधारण को चित्त का स्थिति-सम्पादक माना है, न कि प्रसादनोपायक। तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–**'प्रसन्नचेतसो ह्याशु पर्यवतिष्ठते'** इस भगवदुक्ति तथा **'प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते'** इस व्यासदेवोक्ति से स्पष्टतया यह अवबोधित होता है कि चित्तप्रसादन के विना चित्तस्थैर्य दुःसम्पाद्य रहता है। इसलिये मैत्र्यादिभावना से चित्तप्रसादन हो जाने पर ही चित्तस्थैर्य के प्रच्छर्दनादि अनेक उपाय सूत्रकार द्वारा विकल्प रूप से उपन्यस्त हुए हैं। इनसे चित्तप्रसादन के उपायों का विकल्प नहीं बताया गया है, क्योंकि साध्य-साधन में विकल्प सम्भव ही नहीं रहता है। चित्तप्रसादन के साधनीभूत मैत्र्यादि भावनाओं का तो आगे के सूत्रों (३४-३९) में प्रतिपादित चित्तस्थैर्य के उपायों के साथ 'समुच्चय' ही है, न कि 'विकल्प' ॥३४॥

योगसूत्रम्

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना [1]मनसः स्थिति[2]निबन्धिनी॥३५॥

गन्धादि विषयों का साक्षात्कार करने वाली, योगी के चित्त की वृत्ति उत्पन्न होती हुई मन की स्थिरता का कारण है॥३५॥

---

1. **मनसि**–इति पाठान्तरम्, **मनसः/मनसि**–नोपलभ्यते।
2. **निबन्धनी**–इति पाठान्तरम्।

व्यासभाष्यम्

नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः, जिह्वाग्रे रससंवित्, तालुनि रूपसंवित्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय[1] उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीप[2]रत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद[3]र्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टा[4]र्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं [5]सुसूक्ष्मविषयमप्यापवर्गा[6]च्छ्रद्धीयते। एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते। अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां चित्तं[7] समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति। तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति॥३५॥

नासिका के अग्रभाग पर 'धारणा' करने वाले योगी को जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, उसे 'गन्धप्रवृत्ति' कहते हैं। इसी भाँति जिह्वा के अग्रभाग में 'धारणा' करने से 'दिव्यरस' का साक्षात्कार होता है। तालु में (धारणा करने से) 'दिव्यरूप' का साक्षात्कार होता है। जिह्वा के मध्यभाग में (धारणा करने से) 'दिव्यस्पर्श' का साक्षात्कार होता है तथा जिह्वामूल में (धारणा करने से) 'दिव्यशब्द' का साक्षात्कार होता है–इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं, (प्रभारूप होने के कारण) संशय को दूर करती हैं और विवेकख्याति की उत्पत्ति में सहायक बनती हैं। इससे (रूपप्रवृत्ति को विषयवती बतलाने से) ही चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप तथा

---

1. क घ च छ झ थ द ध न प फ ब भ म य र – **वृत्तयः**, ख ग ख ग ज त – **प्रवृत्तयः**।
2. क ग च छ झ त थ ध न फ ब भ म य – **रश्म्यादिषु**, ख घ ज द प र – **रत्नादिषु**।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य – **अर्थ०**, उपलभ्यते, घ प फ म र – **अर्थ०** नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य – **अर्थैकदेश०**, ख – **एकार्थदेश०**, र – **अर्थैकदेशस्य**।
5. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य – **सूक्ष्म०**, ख घ प फ म र – **सुसूक्ष्म०**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **श्रद्धीयते**, घ प फ र – **सुश्रद्धीयते**।
7. म र – **चित्तम्** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ – **चित्तं** नोपलभ्यते।

रत्नादि में 'धारणा' (संयम) करने से योगी के चित्त की जो वृत्ति (प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है, उसे भी विषयवती ही समझना चाहिये। यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमानादि प्रमाणों तथा आचार्यों के उपदेशों से परिज्ञात पदार्थ यथार्थ ही हुआ करता है, क्योंकि इनमें यथार्थ बातें बतलाने की क्षमता है। फिर भी जब तक इनमें से कोई एक अंश अपनी ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक आँखों से ओझल ही रहने वाले अपवर्गपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों के प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् शास्त्रादिवचन सन्दिग्ध ही बना रहता है। इसलिये शास्त्र, अनुमानादि प्रमाण तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ में प्रामाणिकता (दृढता) के लिये अवश्य ही किसी एक अर्थविशेष (विशिष्ट अंश) का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। उन उपदिष्ट वस्तुओं में से एक अंश का प्रत्यक्ष होने पर अपवर्गपर्यन्त समस्त सूक्ष्म पदार्थों में श्रद्धा (विश्वास) जाग्रत् हो जाती है। इसीलिये (शास्त्रीय पदार्थों में श्रद्धोत्पादन के लिये) तथाकथित गन्धादिविषयक प्रवृत्तिरूप चित्तपरिकर्म का निर्देश यहाँ किया गया है। चित्तवृत्तियों के अव्यवस्थित होने से जिन विषयों में राग है, उन विषयों के प्रति 'वशीकार' नामक वैराग्य उत्पन्न होने पर उत्तरोत्तरभूमिक पदार्थों के प्रत्यक्ष के लिये चित्त समर्थ होता है तथा चित्त के समर्थ होने पर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति एवं समाधि इस योगी को निर्विघ्नतापूर्वक प्राप्त होंगे॥३५॥

तत्त्ववैशारदी

स्थित्युपायान्तरमाह—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। व्याचष्टे—नासिकाग्रे धारयत इति। धारणाध्यानसमाधीन्कुर्वतस्तज्जयाद्या दिव्यगन्धसंवित्तत्साक्षात्कारः। एवमन्यास्वपि प्रवृत्तिषु योज्यम्। एतच्चागमात्प्रत्येतव्यं नोपपत्तितः।

सूत्रकार चित्तस्थैर्य के अपर साधन (उपायान्तर) को बताते हैं—'**विषयवतीति।**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**नासिकाग्रे धारयत इति।**' धारणा, ध्यान तथा समाधि (वक्ष्यमाण अन्तरंग साधन) का अभ्यास करने से तज्जयपूर्वक योगी को जो '**दिव्यगन्धसंवित्**' अर्थात् अलौकिक गन्ध का साक्षात्कार होता है, वही विषयवती '**प्रवृत्ति**' स्थितिनिबन्धनी होती है। (भाव यह है कि लौकिक गन्ध तो सर्वजनग्राह्य है, किन्तु अन्तरंगसाधनसाध्य दिव्यगन्धानुभूति योगी को ही होती है। फलतः उसका चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है)। इसी प्रकार अन्य विषयवती प्रवृत्तियों में दिव्य विषयों के साक्षात्कार की योजना कर लेनी चाहिये। अर्थात् तत्तदिन्द्रियों के अनुसार तत्तद् विषयक प्रवृत्तियाँ (प्रकृष्टवृत्ति अर्थात् धारणाध्यानसमाधिविशिष्टवृत्ति)

दिव्य विषयों का साक्षात्कार कराने में सक्षम होती हैं। इन दिव्यादिविषयक प्रवृत्तियों को आगम प्रमाण से जानना चाहिये, केवल युक्तिपूर्वक नहीं।

वृत्तित्वेन ये विशिष्ट वृत्तियाँ (प्रवृत्तियाँ) भी त्याज्यकोटि में परिगणित होती हैं। अतः इन प्रवृत्तियों को चित्तस्थैर्य का साधन कैसे कहा जा सकता है? इसी तथ्य को तत्त्ववैशारदीकार उठाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्, किमेतादृग्भि[1]वृत्तिभिः कैवल्यं प्रत्यनुपयोगिनीभिरित्यत आह–[2]एता इति। एता वृत्तयोऽल्पेनैव कालेनोत्पन्नाः चित्तमीश्वरविषयायां वा विवेकख्यातिविषयायां वा स्थितौ निबध्नन्ति। नन्वन्यविषया वृत्तिः कथमन्यत्र स्थितिं निबध्नातीत्यत आह–संशयं विधमन्तीति।[3] विधमन्ति=अपसारयन्ति, अत एव समाधिप्रज्ञायामिति वृत्त्यन्तराणामप्यागमसिद्धानां [4]विषयवत्त्वमतिदिशति–एतेनेति।

शङ्का–कैवल्य के प्रति अनुपयोगिनी इन प्रवृत्तियों से (मोक्षार्थी को) क्या लाभ होता है अर्थात् मोक्षानुत्पादिनी इन प्रवृत्तियों का प्रयोजन क्या है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एता इति**।' अल्प समय में ही उत्पन्न हुई वे विशिष्ट वृत्तियाँ ईश्वररूप विषय अथवा विवेकख्यातिरूप विषय में चित्त को स्थिति पद के लिये बांधती हैं।

शङ्का–अन्य (गन्धादि) विषयक प्रवृत्ति कैसे चित्त को अन्य (ईश्वर अथवा विवेकख्यातिरूप) विषय में स्थितिपद का लाभ कराती है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**संशयं विधमन्तीति**।' संशय को दूर करती हैं अर्थात् प्रमारूप होने से ये 'ईश्वर' अथवा विवेकख्यातिविषयक संशय को नष्ट करती हैं। भाष्यकार आगे कहते हैं–'**समाधिप्रज्ञायामिति**।' अतएव ये समाधिप्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति की उत्पत्ति में द्वार=साधन बनती हैं। अतः मुमुक्षु के लिये ये प्रवृत्तियाँ अनुपयोगी नहीं, अपितु उपयोगी हैं। भाष्यकार शास्त्र द्वारा सिद्ध अन्य वृत्तियों में भी विषयवती होने का अतिदेश करते हैं–'**एतेनेति**।' इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रत्नादि में धारणा-ध्यान-समाधि करने से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियाँ भी विषयवती ही मानी जानी चाहियें।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **वृत्तिभिः**, न – **वृत्तिषु**।
2. थ द ध – **एता इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – **एता इति** नोपलभ्यते।
3. थ द ध – **विधमन्तीति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इति विधमन्तीति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग – **विषयत्वं**, घ च छ ज झ त थ द ध न – **विषयवत्त्वम्**।

संशय के दूरीकरण में उक्त प्रवृत्तियों की उपयोगिता को सुनकर इसके विषय में पूर्वपक्षी को जो सन्देह होता है, उसे तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

नन्वागमादिभिरवगतेष्वर्थेषु कुतः संशय इत्यत आह–यद्यपि हीति। श्रद्धामूलो हि योगः, उपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षीकरणे च श्रद्धातिशयो जायते, तन्मूलाश्च ध्यानादयोऽस्याप्रत्यूहं भवन्तीत्यर्थः॥३५॥

शङ्का–आगम आदि प्रमाणों से ज्ञात पदार्थों के विषय में संशय का अवकाश ही कहाँ है, जिसके दूरीकरण के लिये विषयवती प्रवृत्ति को माना जाय?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**यद्यपि हीति।**' योग श्रद्धामूलक होता है। अतः शास्त्र, अनुमान तथा आचार्य के द्वारा उपदिष्ट पदार्थ के एकदेश का योगसाधन द्वारा प्रत्यक्ष होने पर योगविषयिणी श्रद्धा घनीभूत होती जाती है। फलतः श्रद्धामूलक ध्यानादि भी योगी को निर्विघ्न प्राप्त होते हैं॥३५॥

योगवार्त्तिकम्

प्रसादापेक्षया स्थितिनिबन्धनं परिकर्मान्तरमाह–विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। प्रकृष्टा वृत्तिः– प्रवृत्तिः साक्षात्काररूपा विषया गन्धादयः पञ्च विषयत्वेनास्याः सन्तीति विषयवती, सा च[1] स्वसाधनादुत्पन्ना स्वाविषयेष्वपि विवेकपर्यन्तेषु श्रद्धाऽऽद्यप्रतिबन्धहेतुतया स्थितिप्रयोजिका भवतीत्यर्थः। वाशब्दः समुच्चये; आवश्यकतया भाष्ये वाच्यत्वात्। अत्र च मनस इति वचनाद् मनश्चित्तयोरेकतेति बोध्यम्।

चित्तप्रसादनोपाय की दृष्टि से स्थितिकारक अपर परिकर्म को सूत्रकार बतलाते हैं–'**विषयवतीति।**' प्रकृष्टा वृत्ति (चित्त के उत्कृष्ट विषयाकार परिणाम) को '**प्रवृत्ति**' कहते हैं, जो साक्षात्काररूपिणी है। '**विषयवती**' पद का विग्रह है–'**विषया गन्धादयः पञ्च विषयत्वेनास्याः सन्तीति विषयवती**'–अर्थात् दिव्य गन्धादि पांच इसके विषयत्व-रूप से होते हैं इसलिये इसे '**विषयवती**' कहते हैं। नासिकाग्रादि में तत्तत् गन्धादि-विषयिणी धारणा करने से उत्पन्न हुई यह विषयवती प्रवृत्ति, अपने अविषयीभूत विवेकपर्यन्त पदार्थों में भी श्रद्धादि को उत्पन्न करने में बाधास्वरूप न होने के कारण, स्थितिसंपादिका होती है, ऐसा सूत्रार्थ है। प्रकृत में '**वा**' शब्द समुच्चयार्थ है, क्योंकि आवश्यक होने से ऐसा ही भाष्यार्थ है। सूत्र में '**मनसः**' उचित पद के अभिधान से मन और चित्त का ऐक्य समझना चाहिये।

---

1. क ग घ च छ – च, ख – वा।

बालप्रिया–

'मनश्चित्तयोरेकता'–भाव यह है कि परिकर्मप्रकरण के प्रथम सूत्र **'मैत्रीकरुणा... चित्तप्रसादनम्'** १/३३ में **'चित्त'** शब्द का प्रयोग हुआ है और उसी प्रकरण के **'विषयवती....निबन्धनी'** १/३५ सूत्र में **'मनसः'** पद का प्रयोग हुआ है। अतः **स्थिरत्व** रूप धर्म के आधारभूत धर्मी की भिन्नता यहाँ चित्त और मन के रूप में प्रतीत होती है। वस्तुतस्तु स्थिति इससे भिन्न है। चित्त और मन दोनों ही अन्तःकरण के अवस्थाविशेष होने से एकात्मक ही हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

विषयवतीं प्रवृत्तिं पञ्चप्रकारां दर्शयति–नासिकाऽग्र इति। नासिकाऽग्रे गन्धोपलब्धिस्थाने धारणां कुर्वतो योगिनो यो दिव्यगन्धसाक्षात्कारोऽल्पेनैव कालेन भवति सा गन्धप्रवृत्तिरिति तान्त्रिकपरिभाषा। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। ताल्वादयो रूपाद्युपलब्धिस्थानमिति शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम्। स्थितिनिबन्धनीति व्याचष्टे–चित्तं स्थितौ निबध्नन्तीति। अर्थान्तरेष्वतिसूक्ष्मेषु दृढस्थितियोग्यं कुर्वन्ति [1]संस्कारद्वारेत्यर्थः। अन्यच्च कुर्वन्तीत्याह–संशयमिति। शास्त्रीयेऽर्थान्तरे संशयं निराकुर्वन्तीत्यर्थः। संशयविधमनप्रकारं च वक्ष्यति–समाधिप्रज्ञायामिति। समाधौ जायते या प्रज्ञा सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारस्तत्र वक्ष्यमाण[2]वैराग्यद्वारोपकुर्वन्ति चेत्यर्थः। एतेनेति। यतो रूपप्रवृत्तिर्विषयवती, एतेन हेतुना रूप[3]प्रधानत्वाच्चन्द्रादिप्रवृत्तयोऽपि स्थितिहेतुतया शास्त्रान्तरेषूच्यमाना अस्यामेव विषयवत्यां प्रवेशनीया इत्यर्थः। अतो न न्यूनतेति भावः।

भाष्यकार पांच प्रकार की विषयवती प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं–'नासिकाग्र इति।' गन्धगुण की प्राप्ति के स्थान 'नासिकाग्र' में धारणा करने वाले योगी को अत्यल्पावधि में जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार त्वरित होता है, उसे **'गन्धप्रवृत्ति'** कहते है।' **'गन्धप्रवृत्ति'** यह योगशास्त्रोक्त संज्ञाविशेष है। इसी भाँति **रसप्रवृत्ति, रूपप्रवृत्ति, स्पर्शप्रवृत्ति** तथा **शब्दप्रवृत्ति** ये तान्त्रिक परिभाषाएँ है। ये भी तत्तत् स्थानों में उक्त पद्धति से उपलब्ध होने योग्य हैं–ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ताल्वादिस्थान रूपादिदिव्य विषयों की उपलब्धि के स्थान हैं–ऐसा अवधारित होने में शास्त्र ही प्रमाण है अर्थात् दिव्यरूपादि विषयों की उपलब्धि के स्थान के विषय

---

1. क ग घ च छ – **संस्कारद्वारा,** ख – **स्थितिसंस्कारद्वारा।**
2. क ख – **वैराग्यरूपादिद्वारा,** ग – **वैराग्यादिरूपद्वारा,** घ च छ – **वैराग्यद्वारा**
3. क च छ – **प्रधानत्वात्,** ख ग – **प्राधान्यात्,** घ – **प्रधानात्।**

में शास्त्र को प्रमाण समझना चाहिये। भाष्यकार सूत्रगत **'स्थितिनिबन्धनी'** पद की व्याख्या करते हैं–**'चित्तं स्थितौ निबध्नन्तीति।'** ये प्रवृत्तियाँ स्वसंस्कार द्वारा अतिसूक्ष्म दूसरे पदार्थों के विषय में भी चित्त को दृढ स्थिति के योग्य बनाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ अन्य प्रयोजनों को भी सिद्ध करती हैं, ऐसा भाष्यकार बताते हैं–**'संशयमिति।'** अन्य शास्त्रीय पदार्थों के विषय (परोक्ष पदार्थों के विषय) में होने वाले सन्देह को दूर करती हैं। अर्थात् अदृष्ट पदार्थगत संशयोन्मूलन में ये उपयोगिनी हैं। संशयनाश के प्रकार को भाष्यकार बतलाते हैं–**'समाधिप्रज्ञायामिति।'** ये **'प्रवृत्तियाँ** समाधि की अवस्था में उत्पन्न होने वाले सत्त्वपुरुषान्यताविषयक साक्षात्कार अर्थात् प्रकृतिपुरुष-विवेकज्ञान के विषय में **'इयमपि हेयम्'** वैराग्य को उत्पन्न करके उपकार करती हैं अर्थात् पुरुष के स्वस्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य के प्रति अन्तिम बाधारूप **'विवेकख्याति'** में वृत्तित्वेन हेयता का सम्पादन कर उसका निरोध करने के उपायभूत 'परवैराग्य' की उत्पत्ति में ये **प्रवृत्तियाँ** सहायकीभूत होती हैं। योगवार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'एतेनेति।'** इन पाँच प्रकार की दिव्यविषय वाली प्रवृत्तियों में एक 'रूपविषयवती प्रवृत्ति' बताई गई है। इससे रूपप्रधान होने के कारण जो चन्द्रादिविषयवती प्रवृत्तियाँ अन्य शास्त्रों में चित्त की स्थिति के हेतुरूप से कही गई हैं, उनका भी इसी रूपविषयवती प्रवृत्ति में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। अतः प्रकृत सूत्र में चन्द्रादि विषयवती प्रवृत्तियों का ग्रहण करने के विषय में वैयासिक भाष्य में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आती है।

सम्प्रति, विषयवती प्रवृत्ति द्वारा होने वाली संशयनिवृत्ति का विशदीकरण किया जा रहा है–

योगवार्तिकम्

संशयं विधमन्तीति यदुक्तं तत्र शङ्कां निराकुर्वन्नेव तद्विवृणोति–यद्यपि हीति। तैस्तैः शास्त्रैः स्वानुमानैराचार्योपदेशैश्च निर्णीतमर्थतत्त्वं परमार्थभूतमेव भवतीति निश्चयान्न तत्र संशयः संभवतीति शेषः। संशयमुपपादयति–तथाऽपीति। यावच्छास्त्रार्थैकदेशः स्वकरणैश्चक्षुर्मनआदिभिर्न साक्षात्क्रियते तावत्सर्वं शास्त्रादिपरोक्षमिव व्याजोक्तिवत् संदिग्धतात्पर्यकं भवतीत्यतो नापवर्गादिषु निश्चयं जनयतीत्यर्थः। तात्पर्यसंशयाहितो हि संशयो निर्णीतेऽप्यर्थे भवति, अत एव शास्त्रमूलकेऽनुमानेऽपि संशयो भवतीत्याशयः। संशयमुपपाद्य तद्विधमन-प्रकारमाह–तस्मादिति। उपोद्बलनमत्र [1]पूर्वावधृततात्पर्ये संशयापसारणम्। तत्र [2]शास्त्रेषु, श्रद्धीयते=इदमित्थमेवेति विश्वस्यत इत्यर्थः। एतदर्थम्=निश्चयाख्यश्रद्धोत्पादनार्थम्। समाधि-

1. क – **पूर्वे, ख ग घ च छ – पूर्व०।**
2. क ख ग घ – **शास्त्रार्थेषु, च छ – शास्त्रेषु।**

प्रज्ञायाः[1] श्रद्धा द्वारीभवतीति यदुक्तं तद्विवृणोति–अनियतास्विति। अनियतासु=अव्यवस्थितासु चित्तवृत्तिषु मध्ये तत्तद्गन्धादिप्रवृत्त्या गन्धादीनां दोषदर्शनात् तद्विषयके वशीकारसंज्ञावैराग्ये जाते सति विक्षेपह्रासात् तस्य तस्योत्तरभूमिरूपस्यार्थस्य साक्षात्काराय चित्तं समर्थं स्यादित्यर्थः। वैराग्यस्य द्वारं विक्षेपाख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिं स्वयं विवृणोति–तथा च सतीति। वशीकारसंज्ञावैराग्ये च सतीत्यर्थः॥३५॥

गन्धादिविषयवती प्रवृत्तियाँ 'संशय को दूर करती हैं' ऐसा जो भाष्यकार द्वारा कहा गया है, इस विषय में (यह कैसे संभव है? इत्याकारक) शंका का निराकरण करते हुए भाष्यकार स्वयं तथ्य को उद्घाटित करते हैं–'**यद्यपि हीति**।' यद्यपि, तत्-तत् शास्त्र, स्वार्थानुमान तथा आप्तपुरुषों के उपदेशों द्वारा निर्णीत (सुनिश्चित) पदार्थ प्रामाणिक (सद्रूप) ही होता है–ऐसा दृढ विश्वास रहने से उस पदार्थ के सदसद्रूप के विषय में सन्देह की सम्भावना ही नहीं रहती है, तथापि इस विषय को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**तथापीति**।' संशय की स्थिति न रहने पर भी शास्त्रोक्त (शास्त्रादि प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित) पदार्थों में से किसी एक पदार्थ (अर्थैकदेश) का स्वकीय चक्षु, मन आदि करणों से अर्थात् इन्द्रियों से जब तक प्रत्यक्ष (अपरोक्षज्ञान) नहीं हो जाता है, तब तक सभी शास्त्रादि (शास्त्र-प्रतिपादित पदार्थ) परोक्ष की भाँति अर्थात् व्याजोक्ति के समान सन्देहपरक तात्पर्य वाले होते हैं। अतः अपवर्गपर्यन्त पदार्थों में विश्वास जागरित नहीं करा पाते हैं। शास्त्र के तात्पर्यविषयक सन्देह से निष्पादित (उत्पन्न हुआ) संशय तो शास्त्रीय निर्णीत अर्थ (पदार्थ के विषय) में भी सन्देह को ही उत्पन्न करता है। अतः शास्त्रमूलक अनुमान के विषय में भी संशयोत्पत्ति होती है, यह कथन का अभिप्राय है। इस प्रकार संशय का उपपादन करके भाष्यकार संशय की निवृत्ति के प्रकार को बताते हैं–'**तस्मादिति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**उपोद्बलन**' शब्द का अर्थ है– पहले से सुनिश्चित तात्पर्य के विषय में उत्पन्न संशय को दूर करना।' इसलिये प्रमाण तथा आचार्य के उपदेश से परिज्ञात अर्थ के विषय में आस्था जागरित करने के लिये किसी एक शास्त्रीय अर्थविशेष का संशयादिरहित अपरोक्षज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक रहता है, जिससे शास्त्रीय पदार्थों के विषय में 'यह ऐसा ही है'–ऐसा विश्वास जागरित हो सके। अतः निश्चयाख्य श्रद्धा के उत्पादनार्थ ही '**चित्तपरिकर्म**' का उपदेश किया गया है। गन्धादि दिव्यविषय के साक्षात्कार से उत्पन्न हुई यह श्रद्धा समाधिकालिक विवेकवृत्ति (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) के लिये द्वारि (प्रधान) होती है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसी का विवरण भाष्यकार करते हैं–'**अनियतास्विति**।' '**अनियत**' अर्थात्

---

1. क ग घ च छ – **प्रज्ञायाः श्रद्धा**, ख – **प्रज्ञायां च**।

अव्यवस्थित (अनियन्त्रित) चित्तवृत्तियों के मध्य उदित तत्तद् गन्धादिविषयिणी प्रवृत्तियों के माहात्म्य से गन्धादि विषयों के प्रति दोषदर्शन (हेयदृष्टि) होने से उनमें वशीकारसंज्ञक वैराग्य का उदय होता है। जिससे चित्त की विक्षिप्तता के क्षयपूर्वक तत्तद् उत्तरोत्तरभूमिरूप अर्थ का साक्षात्कार करने के लिये चित्त उपयुक्त (समर्थ) होता है। व्याध्यादि विक्षेपरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति वैराग्य का उपाय (द्वार) है, इसे भाष्यकार स्वयं बताते हैं–'**तथा च सतीति**।' व्याध्यादि विक्षेप के निवृत्तिपूर्वक वशीकारसंज्ञक वैराग्य के होने पर साधक को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि निर्विघ्नपूर्वक प्राप्त होती है–ऐसा भाष्याभिप्राय है॥३५॥

योगसूत्रम्

विशोका वा ज्योतिष्मती॥३६॥

अथवा दुःखरहित प्रकाशरूप ज्योतिष्मतीनामक प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्त की स्थिरता का कारण बनती है॥३६॥

व्यासभाष्यम्

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि [1]भास्वरमाकाशकल्पम्, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथा [2]चाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्–तमणुमात्र-मात्मानमनुविद्यास्मीत्ये[3]वं तावत्[4]संप्रजानीते इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥३६॥

'यह प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर करती है'–इतने अंश की सूत्र में अनुवृत्ति होती है। कमल के आकार की तरह आकार वाले हृदय में चित्त

---

1. अ क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म र – **भास्वरमाकाशकल्पम्, तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः** उपलभ्यते, य – **भास्वर....प्रवृत्तिः** नोपलभ्यते।
आ क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प भ म र – **भास्वरं**, ब – **प्रभास्वरं**, य – **भास्वरं/प्रभास्वरं** नोपलभ्यते।
2. ख ज – **च** उपलभ्यते, क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म प र – **च** नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **एवं तावत्**, ग – **एतावत्**।
4. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र – **संप्रजानीते**, ग – **संप्रतिजानीते**, ब – **संजानीते**।

को एकाग्र करने से जिस बुद्धि (चित्त) का साक्षात्कार उत्पन्न होता है, वह बुद्धि (चित्त) सत्त्वगुण का परिणाम होने से प्रकाशस्वरूप तथा आकाश की तरह व्यापक है। तथाकथित बुद्धि में स्थिर एकाग्रता की प्राप्ति होने से चित्त सूर्याकार, चन्द्राकार, नक्षत्राकार तथा मणिप्रभाकाररूप से परिणत होता है अर्थात् सूर्यादि के आकार को धारण करता है। इसी प्रकार अस्मितानामक अहंकार में धारणा के द्वारा स्थिर हुआ चित्त तरंगों से शून्य सागर के सदृश शान्त, अनन्त तथा सत्त्वप्रधान अहंकारमात्रस्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह कहा गया है–'अणुमात्र अहंकारास्पद उस आत्मा का चिन्तन करके मैं हूँ इत्याकारक सम्यग्ज्ञान योगी को होता है।' इस प्रकार यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है–एक 'विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' और दूसरी 'विशोका अस्मितामात्राज्योतिष्मती प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति से योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है॥३६॥

तत्त्ववैशारदी

विशोका वा ज्योतिष्मती। विगतशोका दुःखरहिता। ज्योतिष्मती ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती प्रकाशरूपा। हृदयपुण्डरीक इति। उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्ममधोमुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचकप्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्, तन्मध्ये सूर्यमण्डलमकारो जागरित-स्थानम्, तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानम्, तस्योपरि वह्निमण्डलं मकारः सुषुप्ति-स्थानम्, यस्योपरि [1]परं व्योमात्मकं ब्रह्मनादं तुरीयस्थानमर्धमात्रमुदाहरन्ति ब्रह्मवादिनः। तत्र कर्णिकायामूर्ध्वमुखी सूर्यादिमण्डलमध्यगा ब्रह्मनाडी। ततोप्यूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी, तया खलु बाह्यान्यपि सूर्यादीनि मण्डलानि[2] प्रोतानि। सा हि चित्तस्थानम्, तस्यां धारयतो योगिनश्चित्तसंविदुपजायते। उपपत्तिपूर्वकं बुद्धिसंविद आकारमादर्शयति–बुद्धिसत्त्वं हीति। आकाशकल्पमिति व्यापितामाह। सूर्यादीनां प्रभास्तासां रूपं तदाकारेण विकल्पते नानारूपा भवति। मनश्चात्र बुद्धिरभिमतं न तु महत्तत्त्वम्। तस्य च सुषुम्नास्थस्य वैकारिका-हङ्कारजन्मनः सत्त्वबहुलतया ज्योतीरूपता विवक्षिता, तत्तद्विषयगोचरतया च व्यापित्वमपि सिद्धम्। अस्मिताकार्ये मनसि समापत्तिं दर्शयित्वाऽस्मितासमापत्तेः स्वरूपमाह–तथेति। शान्तमपगतरजस्तरङ्गम्। अनन्तं व्यापि अस्मितामात्रं न पुनर्नानाप्रभारूपम्। आगमान्तरेण स्वमतं समीकरोति–यत्रेति।[3] यत्रेदमुक्तं पञ्चशिखेन तमणुं दुरधिगमत्वादात्मानमहंकारा-

---

1. क ग न – **परव्योमात्मकं,** ख घ च छ त थ द ध – **परं व्योमात्मकं,** ज झ – **परं व्योमाध्यात्मिकम्।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त ध द ध – **मण्डलानि** उपलभ्यते, न – **मण्डलानि** नोपलभ्यते।
3. थ द ध न – **यत्रेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – **यत्रेति** नोपलभ्यते।

स्पदमनुविद्यानुचिन्त्यास्मीत्येवं तावज्जानीत इति। स्यादेतद्—नानाप्रभारूपा भवतु ज्योतिष्मती, कथमस्मितामात्ररूपा ज्योतिष्मतीत्यत आह—एषा द्वयीति। विधूतरजस्तमोमलास्मितैव सत्त्वमयी ज्योतिरिति भावः। द्विविधाया अपि ज्योतिष्मत्याः फलमाह—ययेति॥३६॥

सूत्रस्थ '**विशोका**' पद का अर्थ है—जिसमें से शोक निकल गया है, उस दुःखरहिता प्रवृत्ति को '**विशोका**' कहते हैं। सूत्रगत '**ज्योतिष्मती**' पद का अर्थ है—'**ज्योतिरस्या अस्ति**' अर्थात् जिस प्रवृत्ति में ज्योति है, उस प्रकाशरूपा प्रवृत्ति को '**ज्योतिष्मती**' कहते हैं। तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—'**हृदयपुण्डरीक इति**।' उदर और वक्षस्थल के मध्य में नीचे मुख किये हुए जो अष्टदलात्मक पद्म (हृदय-कमल) है, उसको रेचक प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वमुख करके उसमें चित्त को स्थापित करे। उस हृदयकमल के मध्य में सूर्यमण्डल, अकारवर्ण तथा जागरित स्थान है। उसके ऊपर चन्द्रमण्डल, उकारवर्ण तथा **स्वप्नस्थान** है। उसके ऊपर वह्निमण्डल, मकार तथा सुषुप्तिस्थान है और उसके भी ऊपर परव्योमात्मक अर्थात् आकाशस्वरूप ब्रह्मनाद, अर्थमात्रा तथा तुरीय स्थान है—ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। उस हृदयकमल की कर्णिका में सूर्यादि मण्डल के बीचों-बीच होकर जाने वाली ऊर्ध्वमुखी ब्रह्मनाडी है। उस ब्रह्मनाडी के भी ऊपर सुषुम्ना नाम की नाडी है। उस सुषुम्नानामक नाडी से बाहर के सूर्यादि मण्डल ओतप्रोत अर्थात् सम्बद्ध हैं। यही सुषुम्नानाडी चित्त का निवासस्थान है। चित्त की अधिष्ठानभूता सुषुम्नानामक नाडी में धारणा करने से योगी को '**चित्तसंवित्**' अर्थात् चित्ततत्त्व का साक्षात्कार होता है। भाष्यकार युक्तिपूर्वक '**चित्तसंवित्**' (**बुद्धिसंवित्**) के आकार को प्रदर्शित करते हैं—'**बुद्धिसत्त्वं हीति**।' बुद्धिसत्त्व प्रकाशरूप है। भाष्यकार ने '**आकाशकल्पमिति**' द्वारा बुद्धिसत्त्व की व्यापकता बतलाई है। सूर्यादि प्रभा के आकार में परिणत होने से '**बुद्धिसंवित्**' अर्थात् बुद्धिसाक्षात्काररूपिणी '**प्रवृत्ति**' नानारूप वाली होती है। यहाँ '**बुद्धि**' पद से मन गृहीत है, न कि महत्तत्त्व। सुषुम्ना नाड़ी में रहने वाले और वैकारिक अहंकार से उत्पन्न होने वाले मन के सत्त्वगुणप्रधान होने से उसकी प्रकाशरूपता कही गई है और तत्तत् घट, पट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला होने से उसे व्यापक कहा गया है। इस प्रकार '**अस्मिता**' (अहंकार) के कार्यभूत मन में समापत्ति प्रदर्शित कर भाष्यकार अस्मिता-समापत्ति' का स्वरूप बताते हैं—'**तथेति**।' इसी प्रकार अस्मितानामक अहंकार में समापन्न हुआ अर्थात् धारणापूर्वक स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त तरङ्गरहित समुद्र के समान '**शान्त**' अर्थात् रजस् और तमस् रूप मल से रहित, '**अनन्त**' अर्थात् व्यापक तथा '**अस्मितामात्र**' अर्थात् नाना प्रकार की प्रभा के आकार से रहित केवल सत्त्वप्रधान अहंकारस्वरूप वाला होता है। भाष्यकार अन्य शास्त्रों की सहायता से अपने (उपरिवर्णित) मत को परिपुष्ट करते हैं—

'यत्रेति।' इसके सम्बन्ध में पञ्चशिखाचार्य ने कहा है–'**तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते**' अर्थात् अणु (दुरधिगम) होने से '**अणुमात्र**', '**आत्मानम्**' अर्थात् अहंकारास्पद आत्मतत्त्व का '**अनुविद्य**' अर्थात् चिन्तन करके 'मैं ऐसा ही हूँ'–इस प्रकार अपने निजरूप को योगी जानता है।

शङ्का–'ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति चाहे नाना प्रभारूपा हो, किन्तु यह प्रवृत्ति 'अस्मितामात्ररूपा' कैसे हो सकती है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एषा द्वयीति।**' यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है–पहली 'विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' तथा दूसरी 'विशोका अस्मितामात्रा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'। रजस् तथा तमस्रूप मल से रहित होने से '**अस्मिता**' को ही सत्त्वमयी ज्योति कहते हैं। भाष्यकार दोनों प्रकार की ज्योतिष्मती प्रवृत्तियों का फल बताते हैं–'**ययेति।**' इस साक्षात्कृत प्रवृत्ति के द्वारा योगी का चित्त (परमेश्वरविषयक) स्थिरता को प्राप्त करता है॥३६॥

योगवार्त्तिकम्

चित्तस्थैर्यनिबन्धनं परिकर्मान्तरमाह–विशोका वा ज्योतिष्मती। विगतः **शोको यस्या इति विशोकेति हेतुगर्भविशेषणम्। तथा च यतो विशोका, अतो वक्ष्यमाणज्योतिष्मती श्रेष्ठा स्थितिहेतुरित्यर्थः। द्विविधां विशोकां विवृणोति–हृदयेत्यादिना एषा द्वयी विशोकेत्यन्तेन। हृदयपुण्डरीकालम्बने चित्तं [1]धारयतो या बुद्धिसंवित्तत्साक्षात्कारो भवति यच्च वक्ष्यमाणरीत्याऽस्मितामात्रमस्मीत्येतावन्मात्राकारं चित्तं भवति, एषा द्वयी विशोका ज्योतिष्मतीत्युच्यत इत्यन्वयो भविष्यति। तत्र=बुद्धिसंविदि। ज्योतिष्मतीसंज्ञाया अन्वर्थतामाह–बुद्धिसत्त्वं हीति। बुद्धिरूपं सत्त्वं भास्वरं स्वपरप्रकाशकं तेजोवद्** आकाशवद्विभु **च भवति, तत्र बुद्धौ स्थितिवैशारद्याद् निर्मलैकाग्र्याद् बुद्धिप्रवृत्तिः सूर्यादिप्रभासदृशाकारेण विकल्पते विशेषेणोत्पद्यत इत्यर्थः। अतो विषयस्य ज्योतिष्मत्त्वे विषयिणी प्रवृत्तिरपि ज्योतिष्मतीति भावः।**

चित्तस्थैर्य के हेतुभूत अपर '**परिकर्म**' को बताया जा रहा है–'**विशोकेति।**' '**विगतः शोको यस्या इति विशोका**' व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे शोक निर्गत (दूर) हो गया है, उसे '**विशोका**' कहते हैं। यह हेतुगर्भविशेषणभूत पद है अर्थात् '**ज्योतिष्मती**' इस विशेष्यभूत पद के विशेषणरूप से प्रयुक्त '**विशोका**' पद इस प्रवृत्तिविशेष के ज्योतिष्मती होने के कारण को इंगित करता है। अतः '**विशोका**' हेतुगर्भविशेषणपरक पद है। इस प्रकार '**शोकरहित**' होने के कारण ज्योतिष्मती यह प्रवृत्ति '**श्रेष्ठ**' अर्थात् चित्तस्थैर्य का कारण है। भाष्यकार दो प्रकार की '**विशोका**' प्रवृत्ति का वर्णन करते

---

1. क ग घ च छ – **धारयतो या बुद्धिसंवित्तत्साक्षात्कारो भवति यच्च वक्ष्यमाणरीत्याऽस्मितामात्रमस्मीत्येतावन्मात्राकारं चित्तम्** उपलभ्यते, ख – **धारयतो....चित्तम्** – नोपलभ्यते।

हैं–**'हृदयेत्यादिना...'विशोकेत्यन्तेन।'** हृदयस्थ श्वेत कमलरूप आलम्बन में चित्त को धारण करने वाले साधक को जो **'बुद्धिसंवित्'** अर्थात् बुद्धि का साक्षात्कार होता है और आगे बतलाई जाने वाली रीति से **'अस्मितामात्र'** अर्थात् **'अस्मि=मैं हूँ'** इस आकार वाला चित्त हो जाता है, यही दो प्रकार की **'विशोका ज्योतिष्मती'** प्रवृत्ति कही गई है–इस प्रकार वाक्यान्वय करना चाहिये। **'तत्र'** पद का अर्थ है–बुद्धिसंवित् में। भाष्यकार **'ज्योतिष्मती'** संज्ञा की सार्थकता को बतलाते हैं–**'बुद्धिसत्त्वं हीति।'** बुद्धिरूप सत्त्व **'भास्वर'** अर्थात् तेजोगुण की भाँति स्वपरप्रकाशक (स्वयं अपने तथा दूसरे को प्रकाशित करने वाला तथा आकाश की भाँति विभु (व्यापक परिमाण वाला) है, ऐसी बुद्धि में **'स्थितिवैशारद्य'** अर्थात् प्रौढ़ एकाग्रता स्थापित होने से **'बुद्धिप्रवृत्ति'** अर्थात् बुद्धिविषयिणी प्रकृष्टा वृत्ति सूर्यादि की आभा के समान विशिष्ट आकार के साथ उत्पन्न होती है। इस प्रकार बुद्धिरूप विषय के ज्योतिर्मय होने से तद्विषयिणी प्रवृत्ति को भी **'ज्योतिष्मती'** कहा गया है।

सम्प्रति, अन्तःकरण के परिमाण तथा चित्त-साक्षात्कार की प्रक्रिया को विशदीकृत किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

अत्र चान्तःकरणस्य विभुत्वमाचार्येण सिद्धान्तितम्। [1]अन्तःकरणस्य चेयं योगशास्त्रोक्ता प्रक्रिया–उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्मं तिष्ठत्यधोमुखमष्टदलं तद्रेचकप्राणायामेनोर्ध्वमुखं कृत्वा तस्मिन्नालम्बने चित्तं धारयेत्, तत्र हि चित्तं तिष्ठति। तद्यथा पद्ममध्ये सूर्यमण्डलमकारो जागरितस्थानं, तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानं, तस्योपरि वह्निमण्डलं मकारः सुषुप्तिस्थानं, तदुपरि परं ब्रह्म व्योमात्मकं नादस्तुरीयस्थानमस्ति यमर्द्धमात्रमुदाहरन्ति योगिनः, तत्कर्णिकायां विष्वग्व्यापिशाखासहस्रवत्या मनोवहनाड्या मूलं तिष्ठति, तस्या अलाबुलतिकाया इव ऊर्ध्वमुख्येका शाखा सुषुम्नेति गीयते, तया च शाखारूपया ब्रह्मनाड्या बाह्यान्यपि [2]सूर्यमण्डलानि प्रोतानि। सैव मनोवहा नाडी चित्तस्थानं भवति। तस्यां चित्तं धारयतो योगिनश्चित्तसाक्षात्कारो जायत इति। तथाऽस्मितायामिति। अस्मिताऽत्र नाहंकारः किं त्वात्मतत्त्वं तमणुमात्रमात्मानमनुविद्येत्युत्तरवाक्यात्, अस्मिताऽऽत्मताऽहन्तानां पर्यायत्वाच्च। भावप्रत्ययश्च निर्विशेषसामान्यमात्रताबोधनाय प्रयुक्तः। तथा चास्मितायां विविक्तचिन्मात्रे पुरुषे समापन्नं [3]तद्रूपताऽऽपन्नमत एव निस्तरङ्गमहोदधिकल्पपुरुषाकारत्वात्

---

1. क घ च छ – **अन्तःकरणस्य**, ख ग – **अन्तःकरणयोगस्य।**
2. क ख ग – **सूर्यादि०**, घ च छ – **सूर्य०।**
3. क ग घ च छ – **तद्रूपतापन्नं**, उपलभ्यते, ख – **तद्रूपतापन्नं** नोपलभ्यते।

स्वयमपि तत्कल्पं तथा शान्तं [1]शोकादिनिमित्तक्षोभरहितमनन्तं सर्वतोऽनावृतमस्मितामात्रमस्मीत्येतावन्मात्राकारमन्याकारताशून्यं भवतीत्यर्थः। आत्मनश्चिज्ज्योतिर्मयत्वात् तदाकारस्य ज्योतिष्मत्त्वं स्पष्टमेवेति पुनर्नोक्तम्। नन्व[2]नेनैवा[3]त्मसाक्षात्कारेण कृतार्थत्वात् कथमस्य स्थितिशेषतयोपन्यास इति चेत्? न; कृतात्म[4]साक्षात्काराणामपि ज्ञाननिष्ठया परवैराग्यार्थमभ्यासापेक्षणादिति।

योगाचार्यों ने अन्तःकरण के विभुत्व को स्वीकार किया है। अन्तःकरण अर्थात् चित्त के साक्षात्कार की योगशास्त्रवर्णित प्रक्रिया इस प्रकार है–उदर और उरस् (वक्षस्थल) के मध्य स्थित नीचे मुख किया हुआ जो आठ पंखुड़ी वाला (अष्टदलात्मक) कमल है, उसको रेचक प्राणायाम के द्वारा उर्ध्वमुख (ऊपर मुख वाला) करके योगी उसी आलम्बन में चित्त को धारण करे अर्थात् अष्टदलात्मक कमल को धारणा का विषय बनाये। क्योंकि इसी हृदयकमल में चित्त निवास करता है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है–हृदयकमल के मध्य में सूर्यमण्डल, अकार तथा जागरित स्थान है; उसके ऊपर चन्द्रमण्डल, उकार तथा स्वप्नस्थान है; उसके ऊपर वह्निमण्डल, मकार तथा सुषुप्तिस्थान है; उसके ऊपर परब्रह्म, व्योमात्मक (गगनव्यापी) नाद तथा तुरीयस्थान है, जिसको योगिजन अर्द्धमात्रा कहते हैं; उस हृदयकमल की कर्णिका (पँखुड़ी) में विश्वव्यापी सहस्र शाखा वाली 'मनोवहा' नाडी का मूलस्थान है; काशीफल की बेल की भाँति उस महोवहा नाडी में ऊपर की ओर मुख की हुई एक शाखा है, जो 'सुषुम्ना' नाम से विख्यात है और उस शाखारूप ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना नाडी) से बहिर्वर्ती सूर्यमण्डलादि ओतप्रोत हैं। यही 'मनोवहा' नाडी चित्त की निवासभूमि (स्थान) है। इस 'मनोवहा' नाडी में चित्त को स्थापित (एकाग्र) करने से योगी को चित्त का साक्षात्कार होता है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**तथाऽस्मितायामिति**।' यहाँ '**अस्मिता**' शब्द का अर्थ 'अहंकार' नहीं है, अपितु '**तमणुमात्रमात्मानमनुविद्य**' ऐसा आगामी वाक्य होने से (भाष्य में उद्धृत पञ्चशिखाचार्य के वचन में '**आत्म**' पद का प्रयोग होने से) तथा अस्मिता, आत्मता तथा अहन्ता शब्द उस के पर्याय होने से '**अस्मिता**' पद का अर्थ है–'आत्मा'। 'अस्मि' में भावप्रधान 'तल्' प्रत्यय से 'टाप्' प्रत्यय करके निष्पन्न '**अस्मिता**' शब्द के भावप्रधाननिर्देश के विषय में योगवार्त्तिककार कहते हैं कि निर्विशेष सामान्यमात्रता को (आत्मा के निर्विशेषरूप को) प्रदर्शित करने के लिये '**अस्मिता**' में भावप्रत्यय का

---

1. क ख घ च छ – **शोकादिनिमित्त०**, ग – **शोकादिक०**।
2. क – **एतेन**, ख ग घ च छ – **अनेन**।
3. क ख ग – **आत्मसाक्षात्कारेणैव**, घ – **एवात्मसाक्षात्कारेणैव**, च छ – **एवात्मसाक्षात्कारेण**।
4. क ख ग घ च छ – **साक्षात्कारेण**, छ – **साक्षात्काराणाम्**।

प्रयोग हुआ है। इस प्रकार '**अस्मिता**' अर्थात् शुद्ध चैतन्यमात्र पुरुष में '**समापन्न**' अर्थात् तद्रूपता को प्राप्त, अतएव तरंगरहित समुद्र के समान पुरुषाकारता को प्राप्त होने से चित्त स्वयं भी पुरुष के समान '**शान्त**' अर्थात् शोकादि के कारण होने वाली क्षुब्धता से रहित '**अनन्त**' अर्थात् सब ओर से अनावृत तथा '**अस्मितामात्र**' अर्थात् 'अस्मि=मै हूँ' मात्र इत्याकारक होकर अन्य विषयाकारता से रहित (शून्य) हो जाता है। आत्मा के चिज्ज्योतिःस्वरूप होने से तदाकारित चित्तवृत्ति की भी ज्योतिष्मत्ता स्फुट ही है, अतः पुनरुक्तिदोष नहीं आता है।

शङ्का—जब आत्मसाक्षात्कार से ही चित्त की कृतार्थता निष्पादित हो जाती है, तब आत्मसाक्षात्कार से चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है, ऐसा क्यों कहा गया है? अर्थात् आत्मसाक्षात्कार को चित्त के स्थितिविशेष रूप से उपन्यस्त करना युक्तिसंगत नहीं है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले साधकों को भी विवेकज्ञान (ज्ञाननिष्ठा) के प्रति परवैराग्य (ज्ञानमात्र के प्रति हेयत्वबुद्धि) को जागरित करने के लिये अभ्यास की अपेक्षा रहती है। अतः आत्मसाक्षात्काररूप विवेकवृत्ति को भी चित्तस्थैर्य का हेतु कहा जाना प्रासंगिक है।

'**अस्मितामात्रा**' प्रवृत्ति को विषयवती प्रवृत्ति से पृथक् करते हुए आगे कहा जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

गन्धादिप्रवृत्तिभ्यश्चायमस्मिताप्रवृत्तेर्विशेषो यद्गन्धादिप्रवृत्तयोऽर्थान्तरेषु चित्तस्थैर्यहेतवोऽस्मिताप्रवृत्तिस्तु स्वविषय एवेति। अपि च जीवात्मसाक्षात्कारस्य परमात्मनि चित्तस्थिति[1]हेतुत्वमस्तीति। अस्मिताशब्दार्थं पूर्वाचार्यमुखेन विवृणोति—यत्रेदमिति। अणुमात्रं सूक्ष्मतममनुविद्य श्रवणमननाभ्यामवधार्यास्मीत्येतावन्मात्राकारेण साक्षात्करोतीत्यर्थः। एषा द्वयीति। विषयवती; अस्मितामात्रा चेति द्विविधा विशोका ज्योतिष्मतीत्युच्यते शास्त्रकृद्भिः। अनया योगिनश्चित्तं स्थितियोग्यतां प्राप्नोतीत्यर्थः। ननु गन्धादिप्रवृत्तिवद् बुद्धिसंविदोऽपि विषयवतीत्वे पूर्वसूत्रेणैव तद्ग्रहणं युक्तमिति चेत्? न; गन्धादिपञ्चक एव विषयशब्दस्य मुख्यत्वात्तत्प्रवृत्तेरेव मुख्यविषयवत्याः पूर्वसूत्रेणोक्तत्वात्। बुद्धौ च पुरुषसाक्षितया विषयशब्दो गौण एव, असङ्गस्य पुरुषस्य बुद्धिवद्बन्धाभावेन[2] सिधात्वर्थायोगात्। अतो

1. क ग घ च छ – **हेतुत्वं**, ख – **हेतुम्**।
2. क – **सिद्धाभावेन**, ख – अपि (**बन्धाभावेन पश्चात्**) उपलभ्यते, ग घ च छ – **सिद्धाभावेन**/ **अपि** नोपलभ्यते।

बुद्धिसंविदो गौणं विषय[1]वत्त्वमत्र सूत्रे प्रोक्तमिति। विशोकत्वं चास्मितासंविदः साक्षादेवास्ति तरति शोकमात्मविदिति श्रुतेः, बुद्धिसंविदस्तु विशोकत्वं संकल्पसिद्ध्या किं वा विवेकख्यातिद्वारेति बोध्यम्॥३६॥

गन्धादि (पञ्च) प्रवृत्तियों से अस्मिताप्रवृत्ति का अन्तर यह है कि दिव्य गन्धादिविषयिणी साक्षात्कारभूता प्रवृत्तियाँ अन्य पदार्थों के प्रति चित्त को स्थिर करने का कारण बनती हैं, जब कि अस्मिताप्रवृत्ति (आत्मसाक्षात्काररूपा प्रवृत्ति) आत्मविषय में ही चित्त को एकाग्र रखती है। किञ्च (**'अस्मिता'** शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का ग्रहण होने से) जीवात्मसाक्षात्कार परमात्मा में चित्तस्थैर्य का हेतु होता है। पूर्वाचार्य के उद्धरण द्वारा **'अस्मिता'** शब्द के अर्थ को भाष्यकार उद्घाटित करते हैं—**'यत्रेदमिति।'** उस **'अणुमात्र'**=सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व को **'अनुविद्य'** श्रवण और मनन के अभ्यास द्वारा जानकर योगी **'अस्मि'** 'मैं हूँ' इस प्रकार के अपने पारमार्थिक रूप का साक्षात्कार करता है। योगवार्तिककार प्रकृष्टा **'प्रवृत्ति'** की उपसंहारात्मिका वैयासिकी पंक्ति को उठाते हैं—**'एषा द्वयीति।'** योग के शास्त्रकारों द्वारा स्वीकृत है कि **'विषयवती'** तथा **'अस्मितामात्रा'** नाम वाली दो प्रकार की प्रवृत्तियों को **'विशोका ज्योतिष्मती'** प्रवृत्ति कहते हैं। इस **'विशोका ज्योतिष्मती'** प्रवृत्ति के द्वारा योगी का चित्त स्थैर्य की क्षमता को हस्तगत करता है।

शङ्का—गन्धादि विषयवती प्रवृत्ति के समान **'बुद्धिसंवित्'** भी विषयवती प्रवृति ही है, अतः विगत १/३५ सूत्र से ही 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' का ग्रहण करना युक्तियुक्त है। इससे प्रकृत सूत्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है?

समाधान—उक्त शंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि **'विषय'** पद, गन्धादि पाँच विषयों में ही **'मुख्य'** है। अर्थात् दर्शन में गन्ध, स्पर्श, रूप, रस एवं शब्द के लिये ही 'विषय' पद का मुख्यतः प्रयोग किया जाता है। दिव्य गन्धादि विषय वाली प्रवृत्तियों को ही मुख्यतया **'विषयवती प्रवृत्ति'** कहा जाता है। अतः पूर्व सूत्र के द्वारा उनका अभिधान किया गया है। बुद्धि में साक्षिभास्यता होने से उसमें **'विषय'** शब्द का प्रयोग 'गौणतः' ही किया जाता है। (भाव यह है कि जिस प्रकार बुद्धि विषयाकार परिणाम द्वारा गन्धादि विषयों को अपने ज्ञान का विषय बनाती है। उसी प्रकार पुरुष बुद्धि को अपने ज्ञान का विषय नहीं बनाता है। अतः बुद्धि के लिये 'विषय' पद का प्रयोग गौणतः किया जाता है। अब रही बात पुरुष के 'विषय' होने की तो) असङ्ग पुरुष में बुद्धि के समान बँधने का अभाव होने से **'षिञ् बन्धने'** अर्थात् बन्धनार्थक **'सि'** धातु का योग ही सम्भव नहीं है। निष्कर्षतः प्रकृत सूत्र में

---

1. क ख ग घ – **वतीत्वं**, च छ – **वत्त्वम्।**

'बुद्धिसंवित्' से गौण विषयत्व प्रतिपादित हुआ है। अर्थात् **'गन्धादि प्रवृत्ति'** के समान **'बुद्धिसंवित्'** के भी विषयवती प्रवृत्ति होने पर भी विषय के मुख्य और गौण के भेद से दो पृथक् सूत्रों की संरचना युक्तिसंगत है। इस प्रकार पूर्वपक्षी का मत निरस्त हो जाता है। **'अस्मितासंवित्'** से **'बुद्धिसंवित्'** में **'विशोकत्व'** के अन्तर (पार्थक्य) को स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–**'अस्मितासंवित्'** में **'विशोकत्व'** साक्षात् (प्रधानरूप से) ही है, क्योंकि **'तरति शोकमात्मवित्'** (छां. उप. ७/१/३) ऐसी श्रुति है कि 'आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है' और **'बुद्धिसंवित्'** में जो **'विशोकत्व'** है, वह संकल्पसिद्धि के कारण अथवा विवेकख्याति के द्वारा है अर्थात् अत्रिगुण पुरुष की सी दुःखशून्यता त्रिगुणात्मिका बुद्धि में सम्भव नहीं है। अतः बुद्धि में साक्षात् विशोकत्व नहीं है॥३६॥

बालप्रिया–

'बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–भाष्यकार ने **'बुद्धिसत्त्व'** को भास्वर तथा आकाशकल्प कहा है।

शङ्का–जिज्ञासा है कि जैसे आकाश व्यापक तथा विभु है, क्या वैसे ही यहाँ बुद्धि को व्यापक तथा विभु बतलाया जा रहा है?

समाधान–उक्त शंका का समाधान भाष्य के टीकाग्रन्थों की सहायता से किया जा सकता है। वाचस्पति मिश्र ने **'आकाशकल्पम्'** पद को उठाकर **'व्यापितामाह'** कहा है और तथ्य के पूरक रूप में **'तत्तद्विषयगोचरतया च व्यापित्वमपि सिद्धम्'** शब्दावली का प्रयोग किया है। इस शब्दावली से तत्त्ववैशारदीकार ने मन का विभुत्वप्रयुक्त व्यापकत्व नहीं बतलाया है। अपितु मन का तत्तद् अनेक विषयगोचरत्वप्रयुक्त व्यापकत्व बतलाया है। मन को व्यापक कहा भी नहीं जा सकता है, क्योंकि कार्य सर्वदा व्याप्य ही होता है। सांख्यसूत्रकार ने भी मन के विभुत्व अर्थात् व्यापकत्व का खण्डन किया है। तदर्थ सूत्र है–**'न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत्'** ५/६९ अर्थात् 'मनोरूप अन्तःकरण की व्यापकता (विभुत्व परिमाण) को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। मन के करण अथवा इन्द्रिय होने से उसे वास्यादि अथवा चक्षुरादि के समान व्याप्य ही माना जाता है।' इसी प्रकार सांख्यकारिकाकार ने भी **'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्'** (१०) कारिका द्वारा महत्तत्त्वादि निखिल कार्यजात का 'अव्यापित्व' ही प्रतिपादित किया है। अतः सांख्य की भाँति योगमत में भी मन का 'अव्यापित्व' ही सिद्ध होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने मन के अव्यापित्व को प्रतिपादित किया है, जो निर्विवाद है। व्यासभाष्य के द्वितीय टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने **'आकाशवद् विभु च भवति'** शब्दावली द्वारा योगमत में बुद्धि का विभुत्व स्पष्टतया प्रतिपादित किया है और अपने

योगमत की पुष्टि में **'अत्र चान्तःकरणस्य विभुत्वमाचार्येण सिद्धान्तितम्'** यहाँ तक कह दिया है। योगवार्त्तिक में यहाँ प्रयुक्त **'आचार्य'** शब्द से किसका ग्रहण होता है? यह विचारणीय है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अन्तःकरण के विभुत्व-अविभुत्व के विषय में साख्य-योग-दर्शन में अन्तर है, क्योंकि उन्होंने पूर्वोल्लिखित सांख्यसूत्र (५/६९) पर सांख्यप्रवचनभाष्य लिखते हुए मन के विभुत्व का खण्डन इस शब्दावली द्वारा किया है—**'मनसोऽन्तःकरणसामान्यस्य न विभुत्वम्'** अर्थात् अन्तःकरणसामान्य जो 'मन' है, वह 'विभुपरिमाण' वाला नहीं हो सकता है।'

वस्तुतस्तु अन्तःकरण (बुद्धि अथवा मन) के विभुत्व की चर्चा अपेशल प्रतीत होती है। केवल सांख्यनय में ही मन के विभुत्व का खण्डन नहीं किया है, अपितु मन का 'विभुत्वाभाव' प्रायः सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इसमें वेदान्त, वैशेषिक तथा न्याय दर्शन के सूत्र द्रष्टव्य हैं—

'नित्योपलब्ध्यनुपलाब्धिमसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा'—व्या २/ ३/ ३२, **'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्'**—वै. ३/१/१, **'युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्**—न्या १/१६

यद्यपि ये सूत्र मन के अस्तित्व के साधक हैं, तथापि इनसे मन का विभुत्वाभाव भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि मन को विभु परिमाण वाला मानने पर सर्वदा सभी पदार्थों के साथ उस का संयोग होने से नित्योपलब्धि और अक्रमिक ज्ञानोत्पत्तिरूप असंगति को अपसारित करना हो जायेगा। इससे मीमांसकसम्मत अन्तःकरण का विभुत्व भी युक्तिविरुद्ध ही निर्धारित होता है।

बुद्धिसत्त्वम्—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—'बुद्धि' पद से कौन से तत्त्व का ग्रहण होता है? इस विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। मिश्र ने **'बुद्धि'** पद से **'मन'** तत्त्व का ग्रहण करते हुए उसके महद्वाचित्व पर असहमति व्यक्त की है। तदर्थ तत्त्ववैशारदीय पंक्ति द्रष्टव्य है—**'मनश्चाऽत्र बुद्धिरभिमतं, न तु महत्तत्त्वम्।'** विज्ञानभिक्षु ने **'बुद्धि'** शब्द से बुद्धि को ही लिया है। यह तथ्य योगवार्त्तिक की इस पंक्ति से अभिव्यक्त हो जाता है—**'तत्र बुद्धौ स्थितिवैशारद्याद् निर्मलैकाग्र्याद् बुद्धिप्रवृत्तिः...उत्पद्यते।'**

तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तम्'....'मिश्र-भिक्षु मतभेद—भाष्य में प्रयुक्त **'अस्मिता'** शब्द से कौन सा तत्त्व गृहीत होता है? इस विषय में भी वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। इस प्रकरण में पञ्चशिखाचार्य के उद्धृत वचन **'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते'** से **'आत्मानम्'** पद का अर्थ करते हुए वाचस्पति मिश्र ने **'अहङ्कारास्पदम्'** कहा है। वाचस्पति मिश्र ने **'अस्मिता'** शब्द से **'अहंकार'** को लिया है। और इस प्रकार **'बुद्धिसंवित्'** से 'मन' का साक्षात्कार तथा

'अस्मितासंवित्' से अहंकार तत्त्व का साक्षात्कार होना बतलाया है। विज्ञानभिक्षु ने **'अस्मिता'** शब्द के **'अहंकार'** अर्थ का खण्डन करते हुए उसे **'आत्मतत्त्व'** का बोधक माना है और ऐसा अर्थ करने में उन्होंने पञ्चशिखाचार्य के उपरिनिर्दिष्ट वचन में प्रयुक्त **'आत्मानम्'** पद को आधार माना है। भिक्षु के मत में अस्मिता, आत्मता और अहन्ता पर्याय हैं। इसके लिये वार्त्तिक की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–**'अस्मिताऽत्र नाहंकारः किं त्वात्मतत्त्वं तमणुमात्रमात्मानमनुविद्येत्युत्तरवाक्यात्, अस्मिताऽऽत्मताऽहन्तानां पर्यायत्वाच्च।'**

वस्तुतस्तु **'अस्मिता'** शब्द का **'अहंकार'** अर्थ करने वाले टीकाकार अपने मत के समर्थन में ऐसा कह सकते हैं कि 'आत्मसाक्षात्कार के साध्य होने से उसको साधनभूत अनात्मप्रवृत्ति के मध्य में उपन्यस्त करना युक्तिसंगत नहीं है।' किन्तु विज्ञानभिक्षु ने इस तथ्य का खण्डन करते हुए आत्मसाक्षात्कार को चरम साध्य नहीं बतलाया है। उनका कथन है–**'कृतात्मसाक्षात्काराणामपि ज्ञाननिष्ठया परवैराग्यार्थमभ्यासापेक्षणात्।'** **'अस्मिता'** शब्द से 'आत्मतत्त्व' का स्पष्टतया ग्रहण करने में भिक्षु ने 'बुद्धिसंवित्' में 'गौण विशोकत्व' तथा 'अस्मितासंवित्' में मुख्यविशोकत्व की बात भी उठाई है॥३६॥

योगसूत्रम्

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥३७॥

रागशून्य योगी के चित्त का ध्यान करने से भी साधक का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है॥३७॥

व्यासभाष्यम्

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥३७॥

वीतराग योगी के चित्त को आलम्बन बनाकर उसी के रंग में रंगा रहने वाला योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है॥३७॥

तत्त्ववैशारदी

वीतरागविषयं वा चित्तम्। वीतरागाः कृष्णद्वैपायनप्रभृतयस्तेषां चित्तं तदेवालम्बनं तेनोपरक्तमिति॥३७॥

'वीतेति' इच्छारहित कृष्णद्वैपायन 'व्यास' प्रभृतियों के चित्तरूप आलम्बन से उपरक्त एवं तद्विषयक धारणा करने से योगी का चित्त स्थितिपद (स्थैर्य) को प्राप्त करता है॥३७॥

योगवार्त्तिकम्

चित्तस्थैर्यकारणं परिकर्मान्तरमाह–वीतरागविषयं वा चित्तम्। व्याचष्टे–वीतेति। [1]**वीतरागं यत्सनकादीनां चित्तं तदेवालम्बनं तेनोपरक्तं तद्धारणया तदाकारताऽऽपन्नं योगिचित्तं विरक्तं सदालम्बनान्तरेऽपि स्थितियोग्यतां लभत इत्यर्थः॥३७॥**

सूत्रकार चित्तस्थैर्य के उपायभूत अन्य '**परिकर्म**' को बतलाते हैं–'**वीतेति।**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**वीतेति।**' सनकादियों का जो रागशून्य (आसक्तिरहित) चित्त है, उसी को आलम्बन बनाकर उसी से 'उपरक्त' अर्थात् तद्विषयक धारणा करने से तदाकारता को प्राप्त योगी का चित्त (भी) विरक्त होता हुआ अन्य आलम्बनों में स्थिर होने की क्षमता प्राप्त करता है॥३७॥

योगसूत्रम्

स्वप्न[2]निद्राज्ञानालम्बनं वा॥३८॥

स्वप्न और सुषुप्ति के ज्ञान को आलम्बन बनाने वाला चित्त भी एकाग्र हो जाता है॥३८॥

व्यासभाष्यम्

स्वप्नज्ञानालम्बनं वा[3] निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥३८॥

स्वप्न की अवस्था में ज्ञात (भगवद्विग्रहरूप) पदार्थ अथवा प्रगाढ-निद्रा की अवस्था में ज्ञात (सुखमय अपने स्वरूपभूत) पदार्थ को आलम्बन बनाने वाला अतएव तदाकारापन्न योगी का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है॥३८॥

तत्त्ववैशारदी

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। यदा खल्वयं स्वप्ने विविक्तवनसंनिवेशवर्तिनीमुत्कीर्णामिव चन्द्रमण्डलात्कोमलमृणालशकलानुकारिभिरङ्गप्रत्यङ्गैरुपेतामभिजातचन्द्रकान्तमणिमयीमति-सुरभिमालतीमल्लिकामालाहारिणीं मनोहरां भगवतो महेश्वरस्य प्रतिमामाराधयन्नेव प्रबुद्धः प्रसन्नमनास्तदा तामेव स्वप्न[4]ज्ञानालम्बनीभूतामनुचिन्तयतस्तस्य तदेकाकारमनसस्तत्रैव चित्तं स्थितिपदं लभते। निद्रा चेह सात्त्विकी ग्रहीतव्या, यस्याः प्रबुद्धस्य सुखमहमस्वाप्समिति

---

1. क च छ – वीत०, ख ग घ – विगत०।
2. निशा–इति पाठान्तरम्।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य र – वा उपलभ्यते, ख घ प फ – वा नोपलभ्यते।
4. क छ–प्रज्ञावलम्बिनीं, ख घ च ज झ त थ द ध न–ज्ञानालम्बनीभूतां, ग–ज्ञानालम्बनी०।

प्रत्यवमर्शो भवति। एकाग्रं हि तस्यां मनो भवति। तावन्मात्रेण चोक्तम्–[1]एतदेव ब्रह्मविदो ब्रह्मणो रूपमुदाहरन्ति सुषुप्तावस्थेति।

'**स्वप्नेति**' जब यह योगी स्वप्न में निर्जन वन के निकट स्थित, मानों चन्द्र-मण्डल से निसृत, मृणालकण के समान अतिकोमल अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्पन्न, निर्मल चन्द्रकान्तमणि के सदृश, सुरभियुक्त मालती पुष्प की माला से सुशोभित, अत्यन्त मञ्जुल भगवान् महेश्वर की प्रतिमा की आराधना करते हुए ही प्रसन्न मन होकर जागता है, तब सात्त्विक स्वप्नज्ञान के विषयभूत उक्त भगवत्प्रतिमा में ही अपने चित्त को एकतान करके जोड़ देने से योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है। सूत्रस्थ '**निद्रा**' पद से सात्त्विकी निद्रा का ग्रहण करना चाहिये। सात्त्विकी निद्रा से उठे हुए व्यक्ति को 'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसी स्मृति होती है। उस सात्त्विकी निद्रा में (अर्थात् सात्त्विकी निद्राज्ञान के विषयभूत अपने स्वरूप में) धारणा करने से मन एकाग्र होता है। इसलिये कहा है–'**एतदेव....सुषुप्तावस्थेति।**' अर्थात् 'तत्त्ववेत्ता लोग सुषुप्तावस्था को ब्रह्म का रूप समझते हैं।'

ज्ञान के ज्ञेयराहित्य का खण्डन करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने जो अगला वाक्य प्रस्तुत किया है, उसके मूल में विज्ञानवादी बौद्धों के मत के प्रति अनादरभाव प्रदर्शित करना है–

तत्त्ववैशारदी

ज्ञानं च ज्ञेयरहितं न शक्यं गोचरयितुमिति ज्ञेयमपि गोचरीक्रियते॥३८॥

शङ्का–प्रत्ययरूप होने से सभी ज्ञान निरालम्बन हैं। स्वप्ननिद्राज्ञान भी निरालम्बन है। अतः सूत्र में '**आलम्बन**' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है।

समाधान–सूत्र में '**आलम्बन**' शब्द का प्रयोग सार्थक है, क्योंकि ज्ञेयरहित ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः ज्ञेय बनने वाला ज्ञान भी सविषयक होता है॥ ३८॥

योगवार्त्तिकम्

तथैव परिकर्मान्तरमाह–स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। स्वप्नज्ञानं स्वप्नरूपं ज्ञानं तदालम्बनकं चित्तं प्रपञ्चज्ञाने स्वप्नदृष्टिमच्चित्तमिति यावत्। तथा चोक्तम्–

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रममिति।

इयं च दृष्टिः कामदुघत्वादिगुणैर्वाचि धेनुदृष्टिवत् क्षणभङ्गुरविषयकत्वादिगुणैर्जाग्रद्ज्ञाने स्वप्नदृष्टिरूपेति। एतदपि वैराग्यद्वारा चित्तस्थैर्यहेतुरित्याशयः। निद्राज्ञाना[2]लम्बनं वेति।

---

1. क ग घ च छ ज झ त–तदेव, ख थ द ध न–एतदेव।
2. क ग घ – आलम्बने, ख च छ – आलम्बनम्।

निद्रारूपं ज्ञानमेवालम्बनं यस्य तत्तथा सर्वजीवेषु विस्मृतात्मकेषु सुषुप्तदृष्टिमच्चित्तमिति यावत्। तदुक्तम्—

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया।
तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते ॥
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम्।
किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः[1] ॥ इति।

भाष्यं च सुगमम्॥३८॥

सूत्रकार पूर्ववत् चित्तस्थैर्य के लिये अन्य 'परिकर्म' को बताते हैं—**'स्वप्नेति।' 'स्वप्न-ज्ञान'** अर्थात् स्वप्नात्मक ज्ञान को आलम्बन बनाने वाला चित्त प्रपञ्चज्ञान में स्वप्न-दृष्टि वाला होता है अर्थात् प्रपञ्चज्ञान को स्वप्नज्ञानवत् (हेयबुद्धिवत्) समझता है। ऐसा ही कहा गया है—**'दीर्घस्वप्नं....चित्तविभ्रमम्'** अर्थात् 'इस सांसारिक प्रपञ्च को दीर्घस्वप्न के समान समझना चाहिये अथवा इसे चित्त का सघन भ्रम मानना चाहिये।' उद्धरण के आशय को स्पष्ट करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि जाग्रत्कालिक ज्ञान में (जागरित अवस्था में) क्षणभंगुरविषयकत्व आदि धर्मों से युक्त जो दृष्टि (चित्त की वृत्ति) होती है, वह उसी प्रकार है जिस प्रकार वाणी में कामदुघत्वादि गुणों से युक्त धेनुदृष्टि की जाती है। इस प्रकार जाग्रद्ज्ञान में स्वप्न-ज्ञान के समान (जागरित अवस्था में अनुभव में आने वाले पदार्थों को स्वप्नज्ञान के विषय के समान मिथ्या मानकर) जो वैराग्यबुद्धि की जाती है, उससे भी चित्त स्थिर होता है, अर्थात् तद्विषयक वैराग्य चित्तस्थैर्य का हेतु है। योगवार्त्तिककार भाष्य के अगले चरण को उठाते हैं—**'निद्राज्ञानालम्बनं वेति।'** निद्रारूप ज्ञान ही है आलम्बन जिसका, ऐसा चित्त विस्मृत (भूले हुए) आत्मस्वरूप वाले सब जीवों में सुषुप्तदृष्टि से युक्त हो जाता है। इस प्रकार निद्राज्ञानालम्बनक चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा है—**'ब्रह्माद्यं...भवेन्मनः'** (ग. पु. १/१२४/६-७) अर्थात् 'ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त संसार जिसकी मायाशक्ति के द्वारा सुषुप्त (नामरूपादि-रहित) होता है, उस विष्णु भगवान् की अनुकम्पा से ही कोई संसारी जीव मुक्त होता है। यहाँ पर चराचर की प्रसुप्तता को लय के समान ही समझना चाहिये। फिर भी न मालुम किस प्रयोजन से यह मन व्यवहारों में विरक्त नहीं होता है।' सूत्र का भाष्यार्थ तो सरल ही है॥३८॥

---

1. ख — **तेन वसिष्ठादिषु प्रपञ्चस्य स्वप्नादिरूपकं दृष्ट्यर्थमेवोच्यमानमाधुनिका, मोहादेव विज्ञानादि-मतानुसारेण नयन्तीति मन्तव्यम्** (मनः पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ — **तेन...मन्तव्यं** नोपलभ्यते।

योगसूत्रम्

[1]यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

जो भी अभीष्ट हो, उसके ध्यान से भी चित्त स्थिर होता है॥३९॥

व्यासभाष्यम्

[2]यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति॥३९॥

साधक को जो भी प्रिय (अभीष्ट) हो, उसी का ध्यान करना चाहिये। उस अभीष्ट में स्थिर हुआ चित्त अन्यत्र भी स्थिरता को प्राप्त करता है॥३९॥

तत्त्ववैशारदी

यथाभिमतध्यानाद्वा। किं बहुना, यदेवाभिमतं तत्तद्देवतारूपमिति॥३९॥

'**यथेति**।' अधिक क्या कहा जाय, योगी को ईश्वर का जो भी रूप अभीष्ट हो, उसी का ध्यान करे॥३९॥

योगवार्त्तिकम्

यथाऽभिमतध्यानाद्वा। किं बहुना, यदेवाभिमतं हरिहरमूर्त्त्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत्, तस्मादपि ध्यानात्तत्र लब्धस्थितिकस्य चित्तस्यान्यत्रापि विवेकपर्यन्तसूक्ष्मेषु विनैव साधनान्तरं स्थितियोग्यता भवतीत्यर्थः। इत्थमेव व्याचष्टे—यदेवेति॥३९॥

'**यथेति**।' चित्तस्थैर्य के साधनभूत 'परिकर्म' के विषय में अधिक क्या कहा जाय, साधक को जो भी '**अभिमत**' अर्थात् ध्यान की विषयभूत हरिहर आदि मूर्त्ति अभीष्ट हो, उसी का ध्यान करना चाहिये। क्योंकि अपनी रुचि के अनुसार किसी भी ध्येय तत्त्व का ध्यान करने से एकाग्रता को प्राप्त हुआ चित्त विवेकपर्यन्त अन्य सूक्ष्म पदार्थों में भी उपायान्तर की अपेक्षा किये विना ही स्थैर्य को प्राप्त करता है। भाष्यकार इसी तथ्य को कहते हैं—'**यदेवेति**।' ॥३९॥

योगसूत्रम्

परमाणु[3]परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥४०॥

इस परिकर्मित चित्त का 'वशीकार' परमाणु से लेकर परम-महत्पर्यन्त होता है॥४०॥

---

1. **तथा**—इति पाठान्तरम्।
2. **क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र — यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि, छ — यथामहावाक्याभिमतस्य ध्यानान्मायायां मिथ्यायां चित्तम्।**
3. **परम०**—नोपलभ्यते।

व्यासभाष्यम्

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः। तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति॥४०॥

सूक्ष्म पदार्थ में प्रवेश करते हुए (अवस्थान चाहने वाले) इस योगी का चित्त परमाणुपर्यन्त स्थिर हो जाता है। और स्थूल पदार्थ में प्रवेश करते हुए इस योगी का चित्त परममहत् (आकाश) तक स्थिर हो जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मतम और महत्तम सीमाओं का अवगाहन करने वाले योगी के चित्त की जो अप्रतिहत गति होती है, उसे 'परवशीकार' कहते हैं। इस 'परवशीकार' से परिपूर्ण योगी का चित्त पुनः किसी अभ्याससाध्य परिकर्म की अपेक्षा नहीं करता है।

तत्त्ववैशारदी

कथं पुनः स्थितिपदमात्मीभावोऽवगन्तव्य इत्यत आह—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। व्याचष्टे—सूक्ष्म इति। उक्तमर्थं पिण्डीकृत्य वशीकारपदार्थमाह—एवं तामुभयीमिति। वशीकारस्यावान्तरफलमाह—तद्वशीकारादिति॥४०॥

शङ्का—यह कैसे विदित होता है कि चित्त '**स्थितिपद**'=आत्मीभाव अर्थात् ध्येय विषय की एकतानता को प्राप्त हो गया है?

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'**परमाण्विति।**' भाष्यकार (लब्धस्थितिक चित्त के आलम्बन के उत्कर्ष=पर्यवसान का) विवरण करते हैं—'**सूक्ष्म इति।**' सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के विषयों को एकत्रित करते हुए भाष्यकार वशीकार का स्वरूप बतलाते हैं—'**एवं तामुभयीमिति।**' भाष्यकार वशीकार के अवान्तरफल को प्रदर्शित करते हैं—'**तद्वशीकारादिति।**' इस प्रकार तत्त्ववैशारदीकार ने प्रकृत सूत्र के भाष्य के तीन वाक्यों द्वारा क्या-क्या प्रतिपादित हो रहा है, इस ओर इंगित मात्र किया है॥४०॥

योगवार्त्तिकम्

परिकर्मनिष्पत्ते[1]र्लक्षणमाह—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। अस्य=परिकर्मितचेतसः;[2] परमं महत्त्वं येषां पुरुषादीनां ते परममहत्त्वाः। व्याचष्टे—सूक्ष्म इति।[3]

1. ख – **फलरूप०** (**निष्पत्तेः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **फलरूप०** नोपलभ्यते।
2. क – **परिकर्मनिष्पत्तेः** (**चेतसः** पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग घ च छ – **परिकर्मनिष्पत्तेः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ – **सूक्ष्म इति** उपलभ्यते, च छ – **सूक्ष्म इति** नोपलभ्यते।

सूक्ष्मेऽल्पपरिमाणे चित्तस्य निवेशनमवस्थानमभीप्सोरित्यर्थः। लभते योगीति शेषः। स्थूल इति। स्थूले [1]महत्परिमाणे। अन्यत् पूर्ववत्। एवं तामिति। एतत् [2]स्थूलसूक्ष्मरूपं कोटिद्वयं पक्षद्वयं [3]चरतोऽस्य चित्तस्य योऽप्रतिघातः केनाप्यप्रतिबद्धता स वशीकारश्चित्तस्य विधेयत्वं भवतीत्यर्थः। परशब्दादपरोऽपि वशीकारोऽस्ति दोषदर्शनजन्यो वशीकारसंज्ञारूप इति भावः। तदपेक्षयाऽस्य परत्वे हेतुमाह–तद्वशीकारादिति। तस्माद्वशीकारात्परिपूर्णं समाप्तस्थैर्यसाधना-काङ्क्षं चित्तमभ्यासान्तरसाध्यं परिष्कारं नापेक्षत इत्यर्थः। वशीकारसंज्ञावैराग्यानन्तरमपि तु चित्तमभ्यासकृतं वशीकारमपेक्षत एवेति तदपरं निकृष्टमिति भावः॥४०॥

सूत्रकार '**परिकर्म**' की परिपक्वता का लक्षण करते हैं–**परमाण्विति**। '**अस्य**' अर्थात् '**परिकर्म**' द्वारा लब्धस्थितिक चित्त को परमाणु से लेकर परममहत्त्वपर्यन्त पदार्थ वशीकृत होते हैं। '**परममहत्त्व**' का विग्रह है–'**परमं महत्त्वं येषां पुरुषादीनां ते परममहत्त्वाः**' अर्थात् जिन पुरुषादिकों का परममहत् परिमाण है, उन्हें '**परममहत्त्व**' कहते हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**सूक्ष्म इति**।' '**सूक्ष्म**' अर्थात् अल्पतम परिमाण वाले पदार्थ में '**निवेशन**' अर्थात् अवस्थान की इच्छा रखने वाले योगी को उस पदार्थ में स्थिरता प्राप्त होती है। '**स्थूल इति**।' इसी प्रकार '**स्थूल**' अर्थात् परममहत् परिमाण वाले पदार्थ में भी चित्त की स्थिरता समझनी चाहिये। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**एवं तामिति**।' इस प्रकार स्थूलकोटिक और सूक्ष्मकोटिक द्विपक्षीय पदार्थों की ओर सञ्चरण (अनुशीलन) करने वाले योगी के चित्त का जो '**अप्रतिघात**' अर्थात् किसी भी कारण से गतिरुद्ध न होना है, वही चित्त का '**वशीकार**' कहलाता है। भाष्यकार ने इसे '**परवशीकार**' शब्द से इंगित किया है। अतः योगवार्त्तिककार तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'पर' शब्द से यह ध्वनित होता है कि एक '**अपरवशीकार**' भी है, जो दोषदर्शन से जायमान (अपर) '**वशीकार**' संज्ञक है। भाष्यकार दोषदर्शनजन्य अपरवशीकार की तुलना में प्रकृत वशीकार के '**परत्व**' (पररूप होने) में कारण बताते हैं– '**तद्वशीकारादिति**।' परवशीकार की प्राप्ति से 'परिपूर्ण' अर्थात् चित्त की स्थिरता के उपायान्तर से निराकांक्ष योगी का चित्त पुनः किसी अन्य अभ्याससाध्य '**परिकर्म**' की अपेक्षा नहीं करता है। किन्तु '**अपरवशीकार**' संज्ञक वैराग्य के अनन्तर अभ्यासकृत चित्त '**परवशीकार**' की अपेक्षा करता ही है। इसलिये '**परवशीकार**' की तुलना में यह '**अपरवशीकार**' गौण है अर्थात् तदपेक्षया पूर्वकोटिक है॥४०॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

---

1. क ग घ – **महत्**, ख च छ – **महा०**।
2. क ख ग – **सूक्ष्मस्थूल०**, घ च छ – **स्थूलसूक्ष्म०**।
3. क ख ग घ – **सञ्चरतः**, च छ – **चरतः**।

व्यासभाष्यम्

अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किं [1]स्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति? तदुच्यते—

(पूर्णवर्णित परिकर्मों द्वारा) स्थिरता को प्राप्त हुए चित्त को जो 'समापत्ति' प्राप्त होती है, उसका क्या स्वरूप है और वह किस विषय वाली होती है? (उत्तर है)—

योगसूत्रम्

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥४१॥

जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक आश्रय के अनुसार विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार क्षीणवृत्तिक चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में जो तत्स्थितता और तदञ्जनता होती है, उसे 'समापत्ति' कहते हैं॥४१॥

व्यासभाष्यम्

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रय[2]रूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्य[3]स्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा[4] भूतसूक्ष्मोपरक्तं [5]भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति। तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति। तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति। तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्व[6]पि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषा-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र – स्वरूपा, प – रूपा।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द द न प फ ब भ म य र – रूपाकारेण, झ – जपाकारेण।
3. क ग – रूपा०, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – स्वरूपा०।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म प – तथा उपलभ्यते, घ प फ ब र – तथा नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र – भूतसूक्ष्मसमापन्नं उपलभ्यते, म – भूतसूक्ष्मसमापन्नं नोपलभ्यते।
6. घ प फ ब य र – अपि उपलभ्यते, क ख ग च छ। च झ त थ द ध न भ म – अपि नोपलभ्यते।

लम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासत इति। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते॥४१॥

'क्षीणवृत्तेः' पद का अर्थ है–वृत्त्यन्तररहित चित्तवृत्ति का। 'अभिजातस्येव मणेः' सूत्रांश से दृष्टान्त उपस्थित किया गया है। जिस प्रकार (स्वच्छ) स्फटिकमणि जपाकुसुमरूप उपाधि के (लाल, नीले, पीले आदि वर्ण के) भेद से तदाकाराकारित (कान्तिसम्पन्न) होकर तद्रूप में भासित (प्रकाशित) होती है। उसी प्रकार चित्त भी ग्राह्य (विषय) रूप आलम्बन से उपरञ्जित होकर ग्राह्यभाव को प्राप्त होता हुआ तदाकार में भासित होता है। वैसे ही भूतसूक्ष्मों से उपरक्त चित्त भूतसूक्ष्माकार होकर भूतसूक्ष्मरूप का प्रतीत होता है। इसी प्रकार स्थूलभूतरूप उपाधि से उपरञ्जित चित्त स्थूलभूत के आकार को प्राप्त होकर स्थूलभूत के आकार के आभास वाला होता है। वैसे ही विश्वभेद से उपरञ्जित चित्त तदाकाराकारित होकर तद्रूप में प्रतीत होता है। ग्रहणरूप (विषयों को ग्रहण करने वाली) इन्द्रियों में भी (तदाकारापत्ति का) उक्त सिद्धान्त चरितार्थ होता है। अर्थात् ग्रहण (इन्द्रिय) रूप आलम्बन से उपरक्त (रंजित) हुआ चित्त ग्रहणभावता को प्राप्त होकर तद्रूप से भासित होता है। इसी भाँति ग्रहीता पुरुषरूप आलम्बन से उपरक्त होता हुआ, ग्रहीतृपुरुषाकार को प्राप्त होकर ग्रहीता पुरुष के आकार से चित्त भासित होता है। इसी प्रकार मुक्त पुरुषरूप आलम्बन से उपरक्त होता हुआ मुक्त पुरुषाकार को प्राप्त होकर मुक्त पुरुष के आकार का प्रतीत होता है। निष्कर्षतः स्वच्छ स्फटिकमणि के समान चित्त की 'ग्रहीतृ', 'ग्रहण' तथा 'ग्राह्य' नामक पुरुष, इन्द्रिय तथा भूत पदार्थों में जो तत्स्थ तदञ्जनता अर्थात् तदाकारापत्ति होती है, उसे 'समापत्ति' कहते हैं॥४१॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं चित्तस्थितेरुपाया दर्शिताः। लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य[1] वशीकारोऽपि दर्शितः। संप्रति लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंविषयः किंरूपश्च संप्रज्ञातो भवतीति पृच्छति–अथेति। अत्रोत्तरसूत्रमवतारयति–तदुच्यत इति। सूत्रं पठति–क्षीणवृत्तेरित्यादि समापत्त्यन्तम्। तद्व्याचष्टे–क्षीणेति। अभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणराजसतामसप्रमाणादिवृत्तेश्चित्तस्य। तस्य व्याख्यानम्–प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येति। तदनेन चित्तसत्त्वस्य स्वभावस्वच्छस्य रजस्तमोभ्याम[2]नभिभव उक्तः। दृष्टान्तं स्पष्टयति–यथेति। उपाश्रयः उपाधिर्जपाकुसुमादिः। उपरक्तस्तच्छायापन्नः।

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – चित्तस्य उपलभ्यते, थ द ध – चित्तस्य नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द – अनभिभवः, थ ध न – अभिभवः।

उपाश्रयस्य यदात्मीयं रूपं लोहितनीलादि तदेवाकारस्तेन लक्षितो निर्भासते। दार्ष्टान्तिके योजयति—तथा ग्राह्येति। ग्राह्यं च तदालम्बनं च तेनोपरक्तं तदनुबिद्धम्। तदनेन ग्रहीतृ-ग्रहणाभ्यां व्यवच्छिनत्ति। आत्मीयमन्तःकरणरूपमपिधाय ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यतामिव प्राप्तमिति यावत्। अतो ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। ग्राह्योपरागमेव [1]सूक्ष्मस्थूलताभ्यां विभजते—भूतसूक्ष्मेति। विश्वभेदश्चेतनाचेतनस्वभावो गवादिर्घटादिश्च द्रष्टव्यः। तदनेन वितर्कविचारा-नुगतौ समाधी दर्शितौ।

इस प्रकार चित्तस्थैर्य के उपाय बताये गये तथा स्थितिप्राप्त चित्त का (स्थूल-सूक्ष्मविषयक) '**वशीकार**' भी प्रदर्शित किया गया। अधुना, स्थितिप्राप्त (स्थैर्य) चित्त को किस ध्येय विषय वाली और किस स्वरूप वाली सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है? ऐसा भाष्यकार पूछते हैं—'**अथेति**।' भाष्यकार उक्त शंका के उत्तर में अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं—'**तदुच्यत इति**।' तदर्थ '**क्षीणवृत्तेः**' से लेकर '**समापत्तिः**' पर्यन्त सूत्र को पढ़ा जाता है। भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—'**क्षीणेति**।' अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिस चित्त की राजस और तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, उस चित्त को '**क्षीणवृत्ति**' कहते हैं। ऐसे क्षीणवृत्तिक चित्त का स्वरूप है—'**प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येति**।' इससे स्वभावतः निर्मल चित्तसत्त्व की रजोगुण एवं तमोगुणरूप मलिनता की अभि-भूतता अर्थात् धूमिलता बताई गई है। अर्थात् राजस तथा तामसवृत्तिशून्य चित्त को स्वच्छ स्फटिकमणि से उपमित करते हुए उसके लब्धस्थितिक स्वरूप को आलम्बन सहित स्पष्ट किया गया है। भाष्यकार अभिजात मणिरूप उदाहरण को स्पष्ट करते हैं—'**यथेति**।' उदाहृत स्फटिक में जपाकुसुमादि उपाधिरूप हैं। इस प्रकार '**उपाश्रय**' शब्द का अर्थ है—उपाधिभूत जपाकुसुमादि। '**उपरक्त**' पद का अर्थ है—तत्प्रतिबिम्बा-कारता। जपाकुसुमादिरूप उपाधि (उपाश्रय) का रक्त, नीलादिरूप जो अपना आकारविशेष होता है, उसी रूपविशेष से प्रतिबिम्बाधारभूत स्फटिक निर्भासित होता है अर्थात् जपाकुसुमरूप उपाधि के सन्निधान से उपधेयभूत स्फटिक जपा-कुसुमीय रक्तिमता से तदाकारापन्न हो जाता है। भाष्यकार दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में अन्वित करते हैं—'**तथा ग्राह्येति**।' यहाँ '**ग्राह्य**' शब्द का अर्थ '**आलम्बन**' है। इस प्रकार चित्त ग्राह्यरूप '**आलम्बन**' से '**उपरक्त**' अर्थात् अनुबिद्ध (तदाकारापन्न) होता है। '**ग्राह्य**' शब्द के प्रयोग से चित्त की ग्राह्यानुबिद्धता को '**ग्रहीतृ**' और '**ग्रहण**' रूप विषय की उपरक्तता से पृथक् किया गया है। तात्पर्य यह है कि अपने अन्तःकरणीय रूप (अन्तःकरणत्वधर्म) को छिपाकर चित्त ग्राह्यसमापन्न अर्थात् ग्राह्यता को प्राप्त हुआ सा हो जाता है। अतः चित्त ग्राह्य विषय के आकार से भासित होता है। भाष्यकार

---

1. क छ त – **सूक्ष्मं स्थूलं च ताभ्यां**, ख ग घ च ज झ थ द ध न – **सूक्ष्मस्थूलताभ्याम्।**

भासित होता है। भाष्यकार ग्राह्योपरक्त चित्त की ग्राह्यविषयता का सूक्ष्म और स्थूल की दृष्टि से विभाजन करते हैं–'**भूतसूक्ष्मेति**।' विश्वप्रपञ्च चेतन तथा अचेतन स्वभाव वाला है। 'गवादि' चेतन हैं तथा 'घटादि' अचेतन हैं। सूत्रकार ने '**ग्राह्यसमापत्ति**' से वितर्कानुगत तथा विचारानुगत योग (सम्प्रज्ञात के दो भेदों) को गृहीत किया है। अर्थात् स्थूल- विषयक '**वितर्क**' तथा सूक्ष्मविषयक '**विचार**'–सम्प्रज्ञात के ये दोनों भेद '**ग्राह्यसमापत्ति**' के अन्तर्गत आते हैं।

बालप्रिया–

'**तथा ग्राह्योपरक्तम्**'–यद्यपि सूत्रकार ने '**ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु**' द्वारा ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य के क्रम से चित्तालम्बन को इंगित किया है तथापि योगसाधना की दृष्टि से भाष्यकार ने ग्राह्यविषयक समापत्ति को सर्वप्रथम प्रतिपादित किया है। तदनन्तर ग्रहणविषयक तथा अन्त में ग्रहीतृविषयक समापत्ति को वर्णित किया है। सूत्रकार द्वारा पठित क्रम में चित्त की '**ग्रहीतृ**' विषय की तदञ्जनता को मुख्य रूप से स्पष्ट करने का लक्ष्य है। तत्पश्चात् चित्त की '**ग्रहण**' और '**ग्राह्य**' विषयक तदञ्जनता के स्पष्टीकरण कर प्रश्न उठता है। वस्तुतस्तु '**ग्रहीतृ**' आदि विषय के स्पष्टीकरण तथा साधना-क्रम से '**ग्राह्य**' आदि विषय के ग्रहण की दृष्टि से सूत्रकार तथा भाष्यकार में परिलक्षित उक्त अन्तर से सिद्धान्त की एकरूपता को व्याघात नहीं पहुँचता है।

'**ग्राह्योपरागमेव सूक्ष्मस्थूलताभ्यां विभजते**'–सूक्ष्म विषय '**तन्मात्र**' है और स्थूल विषय '**महाभूत**' है। इन दोनों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। स्थूलभूत का कारण सूक्ष्मतन्मात्र तथा सूक्ष्मतन्मात्र का कार्य स्थूलभूत है। स्थूलग्राह्य की संख्या पाँच तक ही सीमित नहीं है। यह तो गोघटादि विश्वभेद का भी अपने में समावेश करता है। अन्तर केवल इतना है कि जैसे तन्मात्र, महाभूत का 'तत्त्वान्तरोपादान' कारण है, वैसे महाभूत, गोघटादि का 'तत्त्वान्तरोपादान' कारण नहीं है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार द्वितीय '**ग्रहणसमापत्ति**' का प्रतिपादन करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्विति। गृह्यन्त एभिरर्था इति ग्रहणानीन्द्रियाणि। एतदेव स्पष्टयति– ग्रहणालम्बनेति। ग्रहणं चालम्बनं च तदिति ग्रहणालम्बनम्। तेनोपरक्तमनुबिद्धमात्मीयमन्तःकरणरूपमपिधाय ग्रहणमिव बहिष्करणमिवापन्नमिति। तदनेनानन्दा[1]नुगतमुक्त्वाऽस्मितानुगतमाह–तथा ग्रहीतृपुरुषेति। अस्मितास्पदं हि ग्रहीता पुरुष इति भावः। पुरुषत्वाविशेषादनेनैव मुक्तोऽपि पुरुषः शुकप्रह्लादादिः समाधिविषयतया संग्रहीतव्य इत्याह–तथा मुक्तेति।

1. क छ त – अनुगतिं, ख ग घ च ज झ थ द ध न – अनुगतम्।

भाष्य की पंक्ति है–'**तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्विति।**' '**गृह्यन्त एभिरर्थाः** व्युत्पत्ति के अनुसार इनके द्वारा पदार्थ गृहीत होते हैं, इसलिये इन्द्रियों को '**ग्रहण**' कहते हैं। इसी को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं–'**ग्रहणालम्बनेति।**' '**ग्रहणं चालम्बनं च तदिति 'ग्रहणालम्बनम्**' अर्थात् ग्रहणरूप इन्द्रियाँ ही जहाँ आलम्बन (विषय) बनती हैं, उसे '**ग्रहणालम्बन**' कहते हैं। इस प्रकार ग्रहणात्मक इन्द्रियरूप विषय से युक्त चित्त अपने अन्तःकरणरूप को तिरोहित करके बाह्यकरणभाव को प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है। चित्त की इस ग्रहणरूप विषयता से आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग को बतलाकर भाष्यकार (क्रमप्राप्त) अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात को बतलाते हैं–'**तथा ग्रहीतृपुरुषेति।**' यहाँ '**ग्रहीतृ**' पद से अस्मितास्पद अर्थात् अहंकारविशिष्ट पुरुष का ग्रहण होता है। 'पुरुषत्व' की दृष्टि से समानता होने से '**ग्रहीतृ**' शब्द से शुक, प्रह्लादादि मुक्त पुरुष भी समाधि के विषय रूप से गृहीत होते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**तथा मुक्तेति।**'

बालप्रिया–

'**अस्मितास्पदं ग्रहीता पुरुषः**'–भाष्यकार ने ग्रहीतृसमापत्ति को '**ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं**' पद द्वारा बतलाया है। किन्तु अहंकारविशिष्ट हुए विना पुरुष का 'ग्रहीतृ'रूप सम्भव नहीं है, क्योंकि पुरुष अविषय है। इसीलिये तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है कि '**ग्रहीतृ**' पद से '**अहंकारविशिष्ट पुरुष**' विवक्षित है। शुक, प्रह्लाद आदि मुक्त पुरुष-विषयक समापत्ति को भी उनके शरीर से विशिष्ट ही समझना चाहिये।

ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीतृसमापत्ति को बतलाने के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार '**समापत्ति**' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

उपसंहरंस्तत्स्थतदञ्जनतापदं व्याचष्टे–तदेवमिति। तेषु गृहीतृग्रहणग्राह्येषु, स्थितस्य धारितस्य ध्यानपरिपाकवशादपहतरजस्तमोमलस्य चित्तसत्त्वस्य या तदञ्जनता=तदाकारता, सा समापत्तिः संप्रज्ञातलक्षणो योग उच्यते। तत्र च ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्विति सौत्रः पाठक्रमोऽर्थक्रम[1]विरोधान्नादर्तव्यः। एवं भाष्येऽपि प्रथमं भूतसूक्ष्मोपन्यासो[2]ऽपि नादरणीय इति सर्वं रमणीयम्॥४१॥

विषय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार सूत्रस्थ '**तत्स्थतदञ्जनता**' पद की व्याख्या करते हैं–'**तदेवमिति।**' ध्यान के परिपाक से राजस तथा तामस मलरहित एकाग्र चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण तथा ग्राह्य विषयों में जो तदञ्जनता अर्थात् तदाकारता होती है,

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **विरोधात्**, न – **अविरोधात्।**
2. क ग च छ थ द ध – **अपि** उपलभ्यते, ख घ ज झ त न – **अपि** नोपलभ्यते।

उसे समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात योग' कहते हैं। '**ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु**'–यह सौत्र पाठक्रम अर्थक्रम के विरुद्ध होने से अनादरणीय अर्थात् उपेक्षणीय है। इसी प्रकार भाष्य में भी ग्राह्यविषयक समापत्ति बताते समय स्थूलभूतालम्बन से पूर्व भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) विषयक समापत्ति का प्रस्तुतीकरण अपेशल अर्थात् अयुक्त है॥४१॥

बालप्रिया–

'**तदञ्जनता तदाकारता**'–चित्त के विषयाकारित होने पर ही उसे घटज्ञान होता है। इसी प्रकार चित्त की ग्राह्यविषयाकारता को '**ग्राह्यसमापत्ति**' कहते हैं। जिज्ञासा है कि जब दोनों में चित्त की विषयरूपता (पदार्थरूपापत्ति) समान रूप से देखी जाती है, तब दोनों में अन्तर क्या है? उत्तर यह है कि राजस तथा तामसवृत्ति के प्रभाव से लौकिक ज्ञान की दशा में आंशिक तद्रूपापत्ति होती है और समापत्तिकाल की तद्रूपापत्ति में सम्यग्रूपता (पूर्णता) होती है, क्योंकि राजस और तामस वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार निरापद '**तदञ्जनता**' का नाम ही '**समापत्ति**' है॥४१॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तं योगसाधनमभिहितं सामान्यतो योगद्वितयं च प्रोक्तमतः परं योगयोः फलं वक्तव्यं, तत्रादौ संप्रज्ञातस्य फलं ध्यानादिव्यावृत्तं प्रतिपादयन्सूत्रमवतारयति–अथेति। अथशब्दः प्रश्ने। **समापत्तिः सम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिः प्रत्यक्षवृत्तिरित्यर्थः। चित्तस्य चेयं प्रज्ञाऽऽख्यावस्था संप्रज्ञातेष्वेव भवति न तु धारणाध्यानसमाधिषु, तेषु सामग्र्येणालम्बनाग्रहणात् साक्षात्कारस्यैव विशेषाकारत्वादिति। क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। क्षीणवृत्तेरपगतवृत्त्यन्तरस्य चित्तस्येत्यर्थः। अभिजातस्य निर्मलस्य मणेरिव ग्रहीत्रादिषु तत्स्थिततया तदञ्जनता सम्यक्तदाकारता जायते, सा च समापत्तीति शब्दवाच्या भवतीत्यर्थः। अत्र संप्रज्ञातफलभूतायाः प्रज्ञायाः समापत्तिरिति तान्त्रिकी परिभाषाऽपि प्रसङ्गादुक्ता, सा चासंप्रज्ञात[1]व्यावृत्तस्य संप्रज्ञातस्वरूपस्य [2]परिचायकं तस्यैव संप्रज्ञातयोग इति पश्चाद्वक्ष्यते ता एव सबीजः समाधिरिति सूत्र इति। क्षीणवृत्तेरिति हेतुगर्भविशेषणस्यायमाशयः चित्तस्य स्वत** एव **सर्वार्थसाक्षात्कारसामर्थ्यमस्ति; विषयान्तरव्यासङ्गदोषादेव तु तत्प्रतिबद्धमतो वृत्त्यन्तरप्रतिबन्धस्य निःशेषतोऽपगमे स्वत एव ध्येयवस्तुसाक्षात्कारस्तद्रूपापत्त्याख्यो भवतीति।**

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यादि से लेकर परिकर्मपर्यन्त योग के साधनों को बतलाया गया तथा सामान्यरूप से दो प्रकार के योग का प्रतिपादन किया गया,

1. क ख घ च छ – व्यावृत्तस्य, ग – स्वरूपस्य।
2. क ख ग घ – परिचायकतयैव, च छ – परिचायकं तस्यैव।

अब यहाँ से दोनों प्रकार के योगों का फल बतलाना चाहिये। इनमें से सम्प्रज्ञात योग के ध्यानादिभिन्न फल को प्रतिपादित करते हुए भाष्यकार सूत्र को सर्वप्रथम अवतरित करते हैं–'**अथेति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**अथ**' शब्द प्रश्नपरक है। '**समापत्ति**' शब्द का अर्थ है–सुष्ठुरूपेण विषयाकारी प्रत्यक्षवृत्ति। सम्प्रज्ञात के भेदों में ही चित्त की यह विशिष्ट प्रज्ञात्मक अवस्था होती है, न कि अष्टाङ्गवर्ती धारणा, ध्यान तथा समाधि की अवस्थाओं में, क्योंकि धारणादि में समग्ररूप से विषय (आलम्बन) का ग्रहण नहीं होता है। इसीलिये विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक अवस्था में ही विशेषाकारापत्तित्व को स्वीकार किया गया है। इसे ही प्रकृत में '**समापत्ति**' शब्द से अभिहित किया गया है। सूत्र है–'**क्षीणवृत्तेरिति**।' '**क्षीणवृत्ति**' अर्थात् विषयान्तर सञ्चरणाभावविशिष्ट चित्त की '**अभिजात**' अर्थात् स्वच्छ (मालिन्यरहित) स्फटिक-मणि की भाँति ग्रहीत्रादियों ('ग्रहीतृ' आदि आलम्बनों) में '**तत्स्थता**' अर्थात् अवस्थिति होने से जो '**तदञ्जनता**' अर्थात् सम्यक्रूपेण ध्येयाकारता होती है, वही '**समापत्ति**' शब्द का वाच्य है। इस प्रकार यहाँ सम्प्रज्ञात की फलभूता प्रज्ञा की तान्त्रिकी परिभाषा '**समापत्ति**' को भी प्रसङ्गतः बतला दिया गया है। और यह संज्ञा (परिभाषा) असम्प्रज्ञात से भिन्न सम्प्रज्ञात के स्वरूप की परिचायिका है। आगामी '**ता एव सबीजः समाधिः**' १/४६ सूत्र में इसी समापत्ति को 'सम्प्रज्ञात योग' कहा जायेगा। '**क्षीणवृत्तेरिति**' इस हेतुगर्भविशेषणपद का आशय यह है–चित्त में स्वतः ही (नैसर्गिकरूप से) समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करने की क्षमता (शक्ति) निगूढ़ है, किन्तु ध्येयातिरिक्त पदार्थों में होने वाली आसक्ति के कारण अथवा विषयान्तरगामी होने के कारण चित्त की यह शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। अतः विषयान्तरसञ्चरणरूप प्रतिबन्ध का पूर्णरूप से नाश होने पर चित्त स्वतः ही ध्येय पदार्थ का साक्षात्कार करता है अर्थात् वह तद्रूपापत्त्याख्य प्रज्ञात्मक प्रत्यक्षवृत्ति वाला होता है।

सूत्रगत '**क्षीणवृत्तेः**' पद की स्वोद्भावित व्याख्या करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार भाष्य के अनुसार इस पद की व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

भाष्ये–प्रत्यस्तमितेति। प्रत्ययस्य प्रत्ययान्तरस्येत्यर्थः, समापत्तेरपि प्रत्ययत्वात्। उत्पत्तिक्रमानुरोधेन सौत्रं पाठक्रममुल्लङ्घ्य ग्राह्यादिसमापत्तीः सदृष्टान्ता व्याख्यानायादौ स्वयं विवृणोति– यथेति। उपाश्रयभेदाज्जपाकुसुमाद्युपाधिविशेषात्तद्रूपोपरक्तस्तत्प्रतिबिम्बोद्ग्राही सन् स्फटिक उपाधितुल्याकारतयैव निर्भासते प्रतीयते तथा [1]ग्राह्येणालम्बनेनोपरक्तं

समर्पितप्रतिबिम्बं वृत्तेः प्रत्यक्षरूपतालाभाय ग्राह्यसमापन्नमिति ग्राह्यगतविशेषाकारमित्यर्थकमेवं भूतं चित्तं ग्राह्यान्यूनाकारेणैव साक्षिणि निर्भासत इत्यर्थः। [1]तत्र समापत्तिरूपस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्याय ग्राह्यरूपाकारेणै[2]व साक्षिणि निर्भासत इत्यनेन तत्फलमुक्तं पौरुषेयबोधस्यैव प्रमाणफलत्वादिति। एवं सर्वत्र। ग्राह्यसमापत्ताववान्तरं त्रैविध्यमाह–भूतेति। अत्र भूतसूक्ष्मशब्देन तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तं गृहीतम्। सूक्ष्मशब्दस्य [3]कारणार्थतया [4]नात्रेन्द्रियग्रहणम्। स्थूलशब्देन च महाभूतानि गृहीतानि। विश्वभेदशब्देन च स्थावरजङ्गमादयोऽवान्तरभेदा ग्राह्याः। [5]अन्यत् पूर्ववत्।

भाष्य में कहा गया है–'**प्रत्यस्तमितेति**।' यहाँ '**प्रत्यय**' शब्द का अर्थ है–प्रत्ययान्तर। प्रत्ययान्तरशून्य (ध्येयान्तरशून्य) अर्थात् क्षीणवृत्तिक चित्त की होने वाली समापत्ति भी 'प्रत्यय' रूप है। (क्योंकि क्रिया-क्रियावान् में अभेद विवक्षित है)। उत्पत्ति-क्रमानुसार (समापत्ति में होने वाले तत्तद् विषयों के साक्षात्कार के क्रम से) सूत्र में निर्दिष्ट विषयसाक्षात्कार के (ग्रहीत्रादि) क्रम का व्यतिक्रम (विपरीत क्रम) करके उदाहरणसहित ग्राह्यादि-समापत्ति की व्याख्या करने के लिये भाष्यकार प्रथमतः तथ्य को उद्घाटित करते हैं–'**यथेति**।' 'जिस प्रकार **भेद**' अर्थात् जपाकुसुमादि उपाधिविशेष के भेद से '**तद्रूपोपरक्त**' अर्थात् तत्तद् उपाधिभूत जपाकुसुमादि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ स्फटिक उपाधि के (रक्तादि) आकार से ही निर्भासित अर्थात् प्रतीत होता है उसी प्रकार ग्राह्यरूप आलम्बन से '**उपरक्त**' अर्थात् वृत्तिरूप से समर्पित प्रतिबिम्ब वाला होकर, विषयगत प्रत्यक्षता की प्राप्ति के लिये '**ग्राह्यरूपसमापत्तिता**' अर्थात् ग्राह्यगत विशेषाकार विषय वाला होकर चित्त साक्षी पुरुष में ग्राह्य के सम्पूर्ण (अन्यून) आकार से ही अवभासित होता है। यहाँ समापत्तिरूप प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के लिये चित्त ग्राह्यरूपाकार से भासित होता है, इसके द्वारा समापत्ति का फल बताया गया है, क्योंकि पौरुषेयबोध ही प्रमाण का फल कहा गया है। इसी प्रकार '**ग्रहणसमापत्ति**' और '**ग्रहीतृसमापत्ति**' को समझना चाहिये। भाष्यकार ग्राह्यसमापत्ति की (विषयगत) त्रिविधता को बताते **हैं**–'**भूतेति**।' यहाँ भाष्य में '**भूतसूक्ष्म**' शब्द के द्वारा तन्मात्र से लेकर प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों का ग्रहण होता है। '**सूक्ष्म**' शब्द के कारणार्थक (कारणवाचक) होने से यहाँ इन्द्रियों का संग्रह (अधिग्रहण) नहीं होता है। '**स्थूल**' शब्द से पृथिव्यादि महाभूत का ग्रहण होता

---

1. क ख ग घ – **अत्र**, च – **यत्र**, छ – **तत्र**।
2. क – **एव साक्षिणि** उपलभ्यते, ख ग घ च छ – **एव साक्षिणि** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – **कारणार्थतया**, ख – **कारणतया**।
4. क – **भूतेन्द्रियग्रहणं**, ख ग घ – **अत्र नेन्द्रियग्रहणं**, च छ – **नात्रेन्द्रियग्रहणम्**।
5. क – **अन्यं**, ख ग घ च छ – **अन्यत्**।

है और '**विश्वभेद**' शब्द से स्थूलकोटिक स्थावर, जङ्गमादिरूप अवान्तरभेदों को लिया जाता है। शेष पूर्ववत् है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार '**ग्रहणसमापत्ति**' के स्वरूप को विशदीकृत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणमिन्द्रियम्, तत्र समापत्तौ सूक्ष्मस्थूलविश्वभेदरूपं त्रैविध्यमतिदिशति–तथा ग्रहणेष्वपीति। इन्द्रियाणां सूक्ष्मं बुद्ध्यहंकाराविति भाष्यकारो वक्ष्यति। स्थूलं च चक्षुरादिकं विश्वभेदश्च स्थावरजङ्गमानां चक्षुरादि[1]विशेषा इति। अवान्तरविभागमतिदिश्य ग्रहणसमापत्तिं सामान्यतो दर्शयति–ग्रहणालम्बनेति। पूर्ववद्व्याख्येयम्। ग्रहीतृसमापत्तिं पूर्ववद्व्याचष्टे–तथा ग्रहीत्रिति। ग्रहीतृत्वं बुद्धेरपि व्यपदिश्यत इति तद्व्यावर्त्तनाय पुरुषपदम्। अत्र च[2] ग्रहणफलोपहितत्वं ग्रहीतृत्वं[3] स्वरूपयोग्यतापरत्वे मुक्तपुरुषेषु पृथग्वचनानौचित्यात्। ईश्वरस्य चात्रैव प्रवेशः। ग्रहणस्वरूप[4]योग्यमात्रेष्वपि समापत्तिं व्याचष्टे–मुक्तेति। [5]मुक्ता आत्यन्तिकलयं गताः शुकादयः। समग्रसूत्रार्थमाह–तदेवमिति॥४१॥

योगवार्त्तिककार '**ग्रहण**' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं–'**गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्**' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु गृहीत होती है, उसे '**ग्रहण**' कहते हैं। '**ग्रहण**' शब्द का अर्थ है–इन्द्रिय। भाष्यकार इस ग्रहणविषयक समापत्ति में सूक्ष्म, स्थूल और विश्वभेदरूप त्रिविध विषय का अतिदेश करते हैं–'**तथा ग्रहणेष्वपीति**।' बुद्धि और अहंकार '**ग्रहण**' रूप इन्द्रियों के सूक्ष्मरूप हैं, ऐसा भाष्यकार आगे प्रतिपादित करेंगे। चक्षुरादि, इन्द्रियों का स्थूलरूप है तथा स्थावर, जङ्गमादियों के चक्षुरादिविशेष उसका विश्वभेदरूप है। इस प्रकार ग्रहणसमापत्ति के (विषयगत) अवान्तरविभाग का अतिदेश करके भाष्यकार ग्रहणसमापत्ति को सामान्यरूप से प्रदर्शित करते हैं–'**ग्रहणालम्बनेति**।' ग्राह्यसमापत्ति की भाँति ग्रहणसमापत्ति का स्वरूप भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिये। भाष्यकार पूर्वप्रतिपादित समापत्तियों की भाँति **ग्रहीतृसमापत्ति** की भी व्याख्या करते हैं–'**तथा ग्रहीत्रिति**।' क्योंकि '**ग्रहीतृ**' पद से बुद्धि का भी व्यपदेश (व्यवहार) होता है, अतः '**ग्रहीतृ**' पद के इस अर्थ की व्यावृत्ति के लिये भाष्यकार ने यहाँ '**पुरुष**' पद का प्रयोग किया है। यहाँ '**ग्रहण**' का फलोपहितत्वरूप ग्रहीतृत्व मुक्त पुरुषों में भी स्वरूपयोग्यतापरक होने के कारण उसका पृथक्तया निर्देश करना

---

1. क ग घ च छ – **विशेषाः**, ख – **भेदाः**।
2. क ख ग – **च** उपलभ्यते, घ च छ – **च** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – **ग्रहीतृत्वं** उपलभ्यते, ख – **ग्रहीतृत्वं** नोपलभ्यते।
4. क घ च छ – **योग्यमात्रेषु**, ख – **योग्येषु**, ग – **मात्रेषु**।
5. क ग घ च छ – **मुक्ता आत्यन्तिकलयं गताः शुकादयः**, ख – **मुक्ता उपाधिवियुक्ताः तेन सुषुप्तिप्रलयकालीनपुरुषाणां नात्र संग्रहः**।

उचित नहीं है। (क्योंकि मुक्त पुरुष में भी ग्रहणयोग्यता सम्भव है। अतः **'गृहीतृ'** पद से मुक्त पुरुष का भी स्वतः ग्रहण हो जाने से अलग से मुक्तपुरुषविषयक ग्रहीतृ-समापत्ति का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है)। किञ्च ईश्वर का भी इसी ग्रहीतृसमापत्ति में अन्तर्भाव होता है। भाष्यकार ग्रहणस्वरूपयोग्यतामात्र विषयों में भी इस समापत्ति का अतिदेश करते हैं–**'मुक्तेति'**। आत्यन्तिक (शाश्वत) लय को प्राप्त शुकादि ऋषि यहाँ **'मुक्त'** 'पदवाच्य हैं। अब भाष्यकार पूरे सूत्र का अर्थ करते हैं–**'तदेवमिति'**। अत्यन्त धवल स्फटिकमणि की भाँति क्षीणवृत्तिक चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण तथा ग्राह्यविषयक पुरुष, इन्द्रिय तथा भूत पदार्थों में जो **'तदाकारापत्ति'** होती है, उसे **'सम्प्रज्ञात समाधि'** कहते हैं॥४१॥

बालप्रिया–

'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–यहाँ इतना ही संकेत करना पर्याप्त रहेगा कि सम्प्रज्ञात के वितर्कादि चार भेदों के प्रसङ्ग में विषयगत अन्तर की जो स्थिति इन आचार्यों के अनुसार पीछे देखी जा चुकी है, वह प्रकृत प्रकरण में भी परिलक्षित होती है॥४१॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

[1]तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का [2]समापत्तिः॥४२॥

उन (ग्रहीतृ, ग्रहण तथा ग्राह्यविषयक तीन प्रकार की समापत्तियों) में से जो शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप तीन विकल्पों से मिश्रित(अविभक्त) होती है, उसे 'सवितर्का समापत्ति' कहते हैं ॥४२॥

व्यासभाष्यम्

[3]तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चाऽन्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये [4]ज्ञानधर्मा

---

1. **तत्र**–नोपलभ्यते।
2. **समापत्तिः**–नोपलभ्यते।
   तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा–इति नवीनसूत्रमुपलभ्यते।
3. छ थ – **समापत्तिरित्यनुवर्तते (तद्यथा** पूर्वम्) उपलभ्यते, ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **समापत्तिरित्यनुवर्तते** नोपलभ्यते।
4. क ग प फ ब र – **विज्ञान०**, ख घ च़ छ ज झ त थ द ध न भ म य – **ज्ञान०**।

इत्ये[1]तेषां विभक्तः पन्थाः। तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते॥४२॥

परस्पर भिन्न 'गो' शब्द, 'गो' अर्थ तथा 'गो' ज्ञान का अभिन्न रूप से (समूहालम्बनात्मक रूप से) ग्रहण (ज्ञान) देखा जाता है। वस्तुतस्तु शब्द अर्थ और ज्ञान परस्पर भिन्न हैं। (क्योंकि) 'गो' शब्द के धर्म भिन्न हैं, 'गो' अर्थ के धर्म पृथक् हैं तथा 'गो' ज्ञान के धर्म अलग हैं–इस प्रकार इन तीनों का मार्ग (स्वभाव) भिन्न-भिन्न है। तथाकथित विषय में समापन्न (समाहित) योगी की समाधि-प्रज्ञा में जो गो आदि पदार्थ समारूढ (बुद्धि में उपस्थित) होता है वह यदि शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्प से युक्त होकर उपस्थित होता है, तो वह संकीर्ण समापत्ति 'सवितर्का समापत्ति' कही जाती है॥४२॥

तत्त्ववैशारदी

सामान्यतः समापत्तिरुक्ता। सेयमवान्तरभेदाच्चतुर्विधा भवति। तद्यथा–सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा चेति। तत्र सवितर्कायाः समापत्तेर्लक्षणमाह–तत्रेत्यादि। समापत्त्यन्तं सूत्रम्। तत्र तासु समापत्तिषु मध्ये, सवितर्का समापत्तिः प्रतिपत्तव्या। कीदृशी? शब्दश्चार्थश्च ज्ञानं च तेषां [2]विकल्पाः। वस्तुतो भिन्नानामपि शब्दादीनामितरेतराध्यासाद्विकल्पः,अप्येकस्मिन्भेदमादर्शयति भिन्नेषु चाभेदम्। तेन शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा [3]व्यामिश्रेत्यर्थः। तद्यथा गौरिति शब्द इति। गौरित्युपात्तयोरर्थज्ञानयोः शब्दाभेदविकल्पो दर्शितः। गौरित्यर्थ इति। गौरित्युपात्तयोः शब्दज्ञानयोरर्थाभेदविकल्पो दर्शितः। गौरिति ज्ञानमिति। गौरित्युपात्तयोः शब्दार्थयोर्ज्ञानाभेदविकल्पः दर्शितः।[4] तदेवमविभागेन विभक्तानामपि शब्दार्थज्ञानानां ग्रहणं लोके द्रष्टव्यम्। यद्यविभागेन ग्रहणं कुतस्तर्हि विभाग इत्यत आह–विभज्यमानाश्चेति। विभज्यमानाश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्षकैः, अन्ये शब्दधर्माः, ध्वनिपरिणाममात्रस्य शब्दस्योदात्तादयो धर्माः, अन्येऽर्थस्य जडत्वमूर्तत्वादयः, अन्ये प्रकाशमूर्तिविरहादयो ज्ञानस्य धर्मा इति। तस्मादेतेषां विभक्तः पन्थाः स्वरूपभेदोन्नयनमार्गः। तत्र विकल्पिते गवाद्यर्थे समापन्नस्येति। तदनेन योगिनोऽपरं प्रत्यक्षमुक्तम्। शेषं सुगमम्॥४२॥

सामान्यरूप से 'समापत्ति' का परिचय प्राप्त हुआ। यह 'ग्राह्यसमापत्ति' अवान्तर भेद से चार प्रकार की है। वे चार भेद हैं–सवितर्का, निवितर्का, सविचारा तथा

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म प र – **एतेषां विभक्तः पन्थाः**, छ थ – **एते विभक्तपथा।**
2. क ख ग घ च छ झ थ ध न – **विकल्पाः**, ज त – **विकल्पानां**, द – **विकल्पः।**
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **व्यामिश्र०**, थ द ध – **मिश्र०।**
4. थ द ध – **दर्शितः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **दर्शितः** नोपलभ्यते।

निर्विचारा। इन चार प्रकार की ग्राह्य समापत्तियों में से 'सवितर्का समापत्ति' का लक्षण सूत्रकार करते हैं-**'तत्रेति।'** यहाँ **'तत्र'** से लेकर **'समापत्तिः'** पर्यन्त सूत्र है। **'तत्र'** अर्थात् ग्राह्यविषयक समापत्तियों के मध्य **'सवितर्का समापत्ति'** जानने योग्य है। यह समापत्ति कैसी है? अर्थात् सवितर्का समापत्ति का स्वरूप क्या है? इसे बताया जा रहा है-**'शब्दश्च अर्थश्च ज्ञानं च तेषां विकल्पाः'**-अर्थात् शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्प को शब्दार्थज्ञानविकल्प कहते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से परस्पर भिन्न होते हुए भी इन शब्दादियों का इतरेतराध्यास के कारण **'विकल्प'** होता है। विकल्प के कारण पदार्थ के एक रूप होते हुए भी उसमें भेद-प्रतीति होती है तथा परस्पर भिन्न पदार्थों में अभेद-प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान के इतरेतराध्यासरूप विकल्प से **'संकीर्ण'** अर्थात् मिश्रीभूत हुई जो समापत्ति होती है, उसे **'सवितर्का समापत्ति'** कहते हैं। (उदाहरण है)-**'तद्यथा गौरिति शब्द इति।'** यहाँ **'गौः'** अर्थात् 'गो' शब्द द्वारा अवाप्त (गृहीत) उसके अर्थ और ज्ञान का 'गो' शब्द के साथ अभेदरूपविकल्प (अभेदात्मक इतरेतराध्यास) प्रदर्शित किया गया है। **'गौरित्यर्थ इति।'** यहाँ **'गो'** इस अर्थ के द्वारा अवाप्त (गृहीत) शब्द और ज्ञान का 'अर्थ' के साथ अभेदरूपविकल्प (अभेदात्मक इतरेतराध्यास) प्रदर्शित किया गया है। **'गौरिति ज्ञानमिति'।** यहाँ **'गो'** इस ज्ञान के द्वारा गृहीत शब्द और अर्थ का ज्ञान के साथ अभेदरूप विकल्प (अभेदात्मक इतरेतराध्यास) बतलाया गया है। इस प्रकार लोक में परस्पर विभक्त (भिन्न) होते हुए भी शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेद रूप से ग्रहण देखा जाता है।

शङ्का-(लोक में) यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान अभिन्नरूप से गृहीत होते हैं, तो फिर इनमें भेद (विभाग) कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान में अभेद ही मान लिया जाय?

समाधान-इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है-**'विभज्यमानाश्चेति।'** परीक्षकों ने अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शब्द-अर्थ-ज्ञान को (उनके धर्मों के अनुसार) परस्पर विभाजित किया है। शब्दादि के भेदक धर्मों को बतलाया जा रहा है-**'अन्ये शब्दधर्माः'**-ध्वनि के परिणामभूत शब्द के **'उदात्तादि'** धर्म हैं, जो अर्थ और ज्ञान के धर्मों से भिन्न हैं। अर्थ (पदार्थ) के **'जडत्व'**, **'मूर्तत्व'** आदि धर्म हैं जो शब्द और ज्ञान के धर्मों से भिन्न हैं तथा ज्ञान के **'प्रकाश'**, **'अमूर्तत्व'** आदि धर्म हैं, जो शब्द और अर्थ के धर्मों से भिन्न हैं। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान का मार्ग विभक्त है अर्थात् उनका स्वरूपभेदमूलक (धर्मभेदपरक) मार्ग पृथक्-पृथक् है। **'तत्र'** अर्थात् ऐसे विकल्पित गवादि अर्थ में **'समापन्नस्येति'** अर्थात् समापन्न चित्त वाले योगी की समाधि-प्रज्ञा में गवादि शब्द का जो इतरेतराध्यास होता है, उसे **'सवितर्का समापत्ति'**

कहते हैं। इस अंश के द्वारा भाष्यकार ने योगी के **'अपर प्रत्यक्ष'** को बतलाया है। शेष भाष्य सुकर है॥४२॥

बालप्रिया–

'तत्र'–सूत्रगत **'तत्र'** पद से सप्तमीविभक्ति का **'निर्धारण'** अर्थ बोधित कराने के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने **'तासु समापत्तिषु'** के साथ **'मध्ये'** पद का प्रयोग किया है। किन्तु इस **'मध्ये'** पद को इन सप्तम्यन्त पदों में सन्निविष्ट नहीं करना चाहिये, अन्यथा **'तासु समापत्तिषु'** के स्थान पर **तासां समापत्तीनाम्** इस षष्ठ्यन्त प्रयोग का प्रसङ्ग आयेगा ॥४२॥

योगवार्त्तिकम्

सामान्यतः समापत्तिरुक्ता। तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयत्वरूपविशेषाभावात्सा एकविधैव, ग्राह्यग्रहणसमापत्त्योस्तु तद्विशेषसत्त्वात्तयोर्विशेषानाह त्रिभिः सूत्रैः–तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः। तृतीयसूत्रे सूक्ष्मविषयकसमापत्तेः वक्ष्यमाणतयाऽ[1]स्य सूत्रद्वयस्य स्थूलविषयकत्वं परिशेषाल्लभ्यते। स्थूलं कार्यं सूक्ष्मं कारणम्। तत्र स्थूलं द्विविधम्–भूतानि तन्मात्राणां कार्याणि; इन्द्रियाणि चाहंकारस्य कार्याणीति। तत्र च स्थूलसूक्ष्मसमापत्ती द्विविधे भवतः। तासु चतसृषु समापत्तिषु सविकल्पिकायाः स्थूलविषयकसमापत्तेर्लक्षकमिदं सूत्रम्। तदेतद् व्याचक्षाण आदौ शब्दार्थज्ञानविकल्पमुदाहरति–तद्यथेत्यादिना दृष्टमित्यन्तेन। इत्यविनिर्भागेण=एवमभेदेन विभक्तानां वस्तुतो भिन्नानामपि ग्रहणं विकल्पाख्यं लोके दृष्टं पूर्वोक्तविकल्पलक्षणाक्रान्तत्वादित्यर्थः। ननु वस्तुशून्यत्वे सति विकल्पः स्यात्; प्रतीतिबलात्त्वभेदोऽत्रवस्तुसन्नेव भवतु तत्राह–विभज्यमानाश्चेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्षकैर्विभज्यमाना विविच्यमाना अन्येऽर्थज्ञानधर्माभ्यां भिन्नाः शब्दधर्मास्तारत्वमन्दत्वादयः, एवमर्थधर्माः जडत्वमूर्त्तत्वादयः शब्दज्ञानधर्माभ्यामन्ये, एवं ज्ञानधर्माः प्रकाशामूर्त्तत्वादयः शब्दार्थधर्माभ्यामन्ये, [2]इत्थमेतेषां शब्दार्थज्ञानानां विभक्तोऽन्योन्यं भिन्नः पन्थाः=स्वरूपभेदोऽन्नयनमार्ग इत्यर्थः। समापत्तिरेव विकल्परूपेत्यतो विकल्पसंकीर्णत्वानुपपत्तिरित्याशयेनान्यथा सूत्रार्थं व्याचष्टे–तत्रेति। तत्र गवादौ स्थूलभूतेन्द्रियेषु समापन्नस्य समाहितस्य योगिनः समाधिप्रज्ञायां समारूढो यो गवाद्यर्थः स यदि शब्दार्थज्ञानविकल्पेन 'गौरियं भासते' इत्येवं शब्दार्थज्ञानानामभेदभ्रमेणानुविद्धो विषयीकृतो भवति तदा सा सङ्कीर्णा विकल्पमिश्रिता, विकल्पविषयीभवदर्थविषयिणीति यावत्, समापत्तिः सवितर्कसंज्ञा भवतीत्यर्थः। अत्र हि गौरियमित्यंशे शब्दार्थयोरभेदविकल्पः, भासत इत्यंशे चार्थज्ञानयो[3]रभेदविकल्पः; अर्थद्वारा च शब्दज्ञानयोरप्यभेदविकल्पः। एवं 'नारायणोऽयं भासते'

---

1. क घ च छ – **अस्य**, ख – **आद्य०**, ग – **अस्य/आद्य०** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ – **इत्ययं**, च छ – **इत्थम्**।
3. क – **अभेदसवितर्कसमापत्तिः**, ख ग घ च छ – **अभेदविकल्पः**।

इत्यादिरूपैश्च सवितर्का समापत्तिर्भवति। अत्र शब्दादिविकल्पैर्यथासम्भवमन्येऽपि विकल्पा उपलक्षणीया:। इयं च समापत्तिरपरं प्रत्यक्षमविद्यालेशसम्बन्धादिति॥४२॥

सामान्यरूप से '**समापत्ति**' कही गई। इनमें से ग्रहीतृसमापत्ति में स्थूल और सूक्ष्म विषयकत्वरूप (स्थूलविषय और सूक्ष्मविषय की दृष्टि से) विशेष का अभाव रहने से 'ग्रहीतृसमापत्ति' एक प्रकार की है। किन्तु ग्राह्य और ग्रहणविषयक समापत्तियों में विषयगत स्थूलत्व और सूक्ष्मत्वरूप अन्तर होने से इन दोनों समापत्तियों के भेदों को तीन सूत्रों के द्वारा सूत्रकार बताते हैं। सूत्र है–'**तत्रेति**।' तृतीय सूत्र १/४४ में सूक्ष्मविषयक समापत्ति का प्रतिपादन होने से पूर्व के दो सूत्र (१/४२, ४३) स्थूलविषय वाले हैं, ऐसा परिशेषात् निकल आता है। इनमें '**स्थूल**' शब्द का अर्थ '**कार्य**' और '**सूक्ष्म**' शब्द का अर्थ '**कारण**' है। '**स्थूल**' दो प्रकार का है–सूक्ष्मतन्मात्राओं का कार्य पञ्चमहाभूत तथा अहंकार का कार्य इन्द्रियाँ। इस प्रकार महाभूत और इन्द्रियाँ '**स्थूल**' पदवाच्य हैं। स्थूलविषयक समापत्ति और सूक्ष्मविषयक समापत्ति दो-दो प्रकार की हैं। इन चारों प्रकार की समापत्तियों में स्थूलविषयक सविकल्पित समापत्ति का यह लक्षणपरक सूत्र है। इस स्थूलविषयक सवितर्कसमापत्ति को बताने के इच्छुक भाष्यकार सर्वप्रथम शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प को उदाहृत करते हैं–'**तद्यथेत्यादिना दृष्टमित्यन्तेन**' अर्थात् '**तद्यथा**' से लेकर '**दृष्टम्**' यहाँ तक के भाष्य द्वारा। जैसे 'गो यह शब्द है', 'गो यह अर्थ है' और 'गो यह ज्ञान है'–इत्याकारक 'अविभाग'=अभेद के कारण पारमार्थिक रूप से 'विभक्त'=भिन्न शब्दादि का भी लोक में विकल्पाख्य ग्रहण देखा जाता है, क्योंकि इसमें पूर्वोक्त विकल्प (**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प:**) का लक्षण घटित होता है।

शङ्का–वस्तुशून्य होने पर ही 'विकल्प' होता है अर्थात् विकल्प में पदार्थ असद्रूप (अलीक) रहता है, किन्तु यहाँ पदार्थ के सत् (वास्तविक) रहते हुए ही प्रतीति के बल पर होने वाली अभेद-प्रतीति को वास्तविक क्यों न माना जाय?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**विभज्यमानाश्चेति**।' परीक्षकों ने अन्वय-व्यतिरेक से विभाग करते हुए अर्थ और ज्ञान के धर्मों से शब्द के तारत्व, मन्दत्व आदि भिन्न धर्म बताये हैं, शब्द और ज्ञान के धर्मों से अर्थ के जडत्व, मूर्तत्व आदि भिन्न धर्म बताये हैं तथा इसी प्रकार शब्द और अर्थ के धर्मों से ज्ञान के प्रकाशत्व, अमूर्त्तत्व आदि भिन्न धर्म माने हैं। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान का '**विभक्त**' अर्थात् अन्योन्यभिन्न '**पन्था**' अर्थात् स्वरूपत: भेदात्मक मार्ग है। इस व्याख्या के अनुसार तो समापत्ति ही विकल्परूपा है, अत: उसमें विकल्पसंकीर्णत्व अनुपपन्न है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार अन्य प्रकार से सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**तत्रेति**।' उन गवादि स्थूलभूतेन्द्रियों में '**समापन्न**' अर्थात् समाहित योगी की समाधिप्रज्ञा में

समारूढ जो गवादि विषय है, वह यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान के 'विकल्प'='**गौरियं भासते**'–इत्याकारक शब्द, अर्थ और ज्ञान के 'अभेदभ्रम' से युक्त होकर विषयीकृत (ज्ञात) होता है, तब वह समापत्ति '**संकीर्णा**'=विकल्पयुक्ता होती है अर्थात् 'विकल्पात्मक' अर्थविषयिणी समापत्ति सवितर्कसंज्ञा वाली होती है। यहाँ '**गौरियम्**' इत्यंश में शब्द और अर्थ का अभेदात्मक विकल्प है, '**भासते**' इत्यंश में अर्थ और ज्ञान का अभेदात्मक विकल्प है तथा अर्थ द्वारा शब्द और ज्ञान का भी अभेदात्मक विकल्प आ जाता है। इसी प्रकार '**नारायणोऽयं भासते**' इत्यादि रूपों से सवितर्का समापत्ति परिज्ञात होती है। यहाँ शब्दादि विकल्पों से अन्य प्रकार के यथासम्भव विकल्प भी गृहीत होते हैं। यह समापत्ति अविद्या से लवलेश युक्त होने से '**अपरप्रत्यक्ष**' कही जाती है॥४२॥

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का[1] समापत्तिः। तत्परं प्रत्यक्षम्। तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्। ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्। तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो [2]निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति। निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते–

फिर जब शब्दार्थज्ञान के अन्योन्याध्यास की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर आगमज्ञान तथा अनुमानज्ञान के (भी) विकल्पों से रहित समाधिप्रज्ञा में अपने शुद्ध रूप से ही स्थित 'अर्थ' अपने रूप के ही आकार से अवधारित है, तब उसे 'निर्वितर्का समापत्ति' कहते हैं। इसे 'पर-प्रत्यक्ष' कहते हैं। यह परप्रत्यक्षरूप ज्ञान आगम और अनुमान का हेतु है। क्योंकि इससे ही (पर-प्रत्यक्ष के पश्चात्) ही आगम और अनुमान उत्पन्न होते हैं। और यह 'पर-प्रत्यक्ष' रूप ज्ञान आगम और अनुमान के साथ उत्पन्न होने वाला (ज्ञान) भी नहीं है। इसीलिये किसी दूसरे प्रमाण से असंकीर्ण (अमिश्रित) योगी का यह निर्वितर्क समाधिजन्य ज्ञान है। इस निर्वितर्का समापत्ति का लक्षण सूत्र के द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है–

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – **निर्वितर्का**, झ – **निर्विकल्पा**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **निर्वितर्क०**, ज – **निर्वितर्कम्**।

योगसूत्रम्

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥४३॥

स्मृति की निवृत्ति (परिशुद्धि) हो जाने पर अपने (ग्रहणाकार ज्ञानात्मक) रूप से रहित सदृश एकमात्र ग्राह्यरूप 'अर्थ' को ही प्रकाशित करने वाली (चित्तवृत्ति) 'निर्वितर्का समापत्ति' कहलाती है॥४३॥

व्यासभाष्यम्

या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता [1]प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञा[2]रूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा[3] निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम्[4]—[5]तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थान[6]विशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः, फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः [7]प्रादुर्भवति, [8]धर्मान्तरोदये च तिरोभवति। स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते। योऽसावेकश्च महाँश्चा[9]णीयाँश्च स्पर्शवाँश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते। यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यम[10]विकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात्। यद्यदुपल-

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र – **प्रज्ञा** उपलभ्यते, छ थ न – **प्रज्ञा** नोपलभ्यते।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य र – **स्वरूपं**, ख ध प फ म र – **रूपम्**।
3. क ख ग ब भ य – **तदा** उपलभ्यते, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म र – **तदा** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य – **व्याख्यातम्**, फ र – **व्याख्याता**।
5. ज झ त – **तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा** स्वतन्त्रसूत्रं, क ख ग घ च छ थ द ध न प फ ब भ म य र – **तस्या....ह्यर्थात्मा** भाष्यांशः।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म प र – **विशेषो भूत०**, द – **विशेषीभूत०**।
7. क ग – **प्रादुर्भूतो भवति**, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **प्रादुर्भवति**।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म – **धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये**, ख घ प प म र – **धर्मान्तरोदये**।
9. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **मणीयाँश्च** उपलभ्यते, ज – **अणीयाँश्च** नोपलभ्यते।
10. घ प फ ब म र – **अविकल्पस्य** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ य – **अविकल्पस्य** नोपलभ्यते।

भ्यते तत्तदवयवित्वेना[1]घ्रातम्। तस्मादस्त्यवयवी यो [2]महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्ते[3]र्निर्वितर्कायाः विषयो भवति॥४३॥

शब्दसंकेतज्ञान, आगमज्ञान एवं अनुमानज्ञानरूप विकल्पात्मक स्मृति के अपगम (निवृत्त) होने पर ग्राह्य आलम्बन के स्वरूप से उपरक्त जो प्रज्ञा अपने ज्ञानात्मक प्रज्ञारूप को त्याग दिये के समान एकमात्र ग्राह्याकार को प्राप्त हुई सी हो जाती है, वह प्रज्ञा (चित्तवृत्ति) 'निर्वितर्का समापत्ति' कही जाती है। यही तथ्य पीछे बतलाया गया है। इस निर्वितर्का समापत्ति का आलम्बनभूत गवादि अथवा घटादि लोक (विषय) 'एक बुद्धि को उत्पन्न करने वाला', 'विषय (अर्थ) रूप' तथा 'अणुओं का संस्थानविशेष' (परिणाम-विशेष) है। और यह अवयवसन्निवेशविशेषरूप आलम्बन भूतसूक्ष्मों का साधारणधर्म है, तदात्मक है, अभिव्यक्तिरूप कार्य से अनुमित होता है, स्वकारणाकार प्रकट होता है और कपाल इत्यादि अन्य धर्मों के उदित होने पर तिरोहित हो जाता है। वही यह (स्थूल घटादि कार्यरूप) धर्म 'अवयवी' कहा जाता है। जो यह (परिणामस्वरूप अवयवी) एक, महान्, अत्यन्त लघु, स्पर्श वाला, क्रियारूप (जलाहरणादि) धर्म वाला तथा अनित्य कहा जाता है (और) उसी अवयवी के द्वारा सारे व्यवहार निष्पन्न होते हैं। जिसके मत में अवयवसन्निवेशविशेषरूप (स्थूलरूप परिणामी) अवयवी अवास्तविक (तुच्छ) है और सूक्ष्मकारण (परमाणु) अदृश्य (प्रत्यक्ष के अयोग्य) होता है, उसके मत में 'अवयवी' के अभाव के कारण समस्त ज्ञानों को अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान ही स्वीकार करना पड़ेगा। और ऐसी स्थिति में उन (बौद्धों) के मत में (स्थूल अवयवी रूप) विषय का अभाव होने से सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) भी कैसा होगा? (क्योंकि) संसार में जो-जो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, वे सब 'अवयवी' रूप से ही कथित हैं। अतः (ज्ञान की सत्यता के लिये) यह मानना पड़ेगा कि स्थूल अवयवी है, जो महान्, स्थूल आदि व्यवहार का विषय है। और यही 'अवयवी' (धर्मी) 'निर्वितर्का समापत्ति' का विषय है॥४३॥

---

1. क ग च छ थ द ध न ब भ – आम्नातं, ख ज झ त प फ मयर – **आघ्रातं**, घ – **अनाघ्रातम्**।
2. क ख ग घ च न प फ ब भ म य र – **महत्तत्त्व०**, छ ज झ त थ द ध – **महत्त्व०**।
3. क ख ग ब – **निर्वितर्काया विषयी**, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म य र – **निर्वितर्काया विषयः**; भ – **निर्वितर्का विषयः**।

तत्त्ववैशारदी

सूत्रं योजयितुं प्रथमतस्तावन्निर्वितर्कां व्याचष्टे–यदा पुनरिति। परिशुद्धिरपनयः शब्दसंकेतस्मरणपूर्वे खल्वागमानुमाने प्रवर्तेते। संकेतश्चायं गौरिति शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासात्मा। ततश्चागमानुमानज्ञान[1]विकल्पौ भवतः। तेन तत्पूर्वा समाधिप्रज्ञा सवितर्का। यदा पुनरर्थमात्रप्रवणेन चेतसार्थमात्रादृतेन तदभ्यासान्नान्तरीयकतामुपगता संकेतस्मृतिस्त्यक्ता, तत्त्यागे च श्रुतानुमानज्ञानविकल्पौ तन्मूलौ त्यक्तौ, तदा तच्छून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपमात्रतयैव न तु विकल्पितेनाकारेण परिच्छिद्यते, सा निर्वितर्का समापत्तिरिति। तद्योगिनां परं प्रत्यक्षमसदारोपगन्धस्याप्यभावात्।

पूर्ववर्ती सूत्र के साथ प्रस्तूयमान सूत्र का सम्बन्धान्वय करने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम निर्वितर्क समापत्ति का स्वरूप-निर्देश करते हैं–**यदा पुनरिति**।' '**परिशुद्धि**' पद का अर्थ है–दूरीकरण। शब्दसंकेत तथा स्मरणपूर्वक आगम और अनुमानप्रमाण प्रवृत्त होते हैं। '**अयं गौः**'–इत्याकारक '**संकेत**'; शब्द, अर्थ और ज्ञान का '**इतरेतराध्यास**' रूप है। अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के मिथ्यारोप को '**संकेत**' कहते हैं। जैसे '**अयं गौः**'–इस उदाहरण में शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों की आविद्यिक अभेद-प्रतीति होती है। संकेत के पश्चात् आगम और अनुमानज्ञानरूप विकल्प होते हैं। अर्थात् संकेत के कारण होने वाले अनुमान और आगमज्ञान में भी विकल्प भासित होता है। फलतः विकल्पित अनुमान और आगमपूर्वक होने वाली सवितर्का समाधिप्रज्ञा भी 'विकल्प' से संकीर्ण होती है। किन्तु जब 'अर्थ' मात्र की ओर स्वभावतः झुकने वाले चित्त से एकाग्रतापूर्वक '**अर्थ**' मात्र का अभ्यास किया जाता है, तब संकेतस्मृति अनिवार्य रूप से दूर हो जाती है। तदनन्तर संकेतस्मृति के परिशुद्ध होने पर शब्दसंकेत और स्मृतिमूलक विकल्पात्मक श्रुतज्ञान और अनुमानज्ञान भी दूर हो जाते हैं। तब शब्दसंकेत और स्मृति से शून्य समाधिप्रज्ञा में स्वरूपमात्र से अवस्थित '**अर्थ**' अपने वास्तविक रूप से ही परिज्ञात होता है, न कि शब्द, अर्थ और ज्ञान के भ्रान्तिपूर्ण संमिश्रण के रूप से। इसी अविकल्पित '**अर्थ**' मात्र के निर्भास को '**निर्वितर्का समापत्ति**' कहते हैं। इसी को योगिजन '**परप्रत्यक्ष**' कहते हैं। क्योंकि इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान के अवास्तविक (काल्पनिक) आरोप की गन्ध भी नहीं रहती है।

'**परप्रत्यक्ष**' के अविकल्पित अर्थविषयत्व को पूर्वपक्षी मानने के लिये तैयार नहीं है। तदर्थ पूर्वपक्ष के उपस्थापनपूर्वक उत्तरपक्ष का प्रस्तुतीकरण हो रहा है–

1. क ख ग घ च छ त थ द ध न – ज्ञान०, ज झ – ज्ञाने।

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–परेण प्रत्यक्षेणार्थतत्त्वं गृहीत्वा योगिन [1]उपदिशन्त्युपपादयन्ति च। कथं [2]चातद्विषयाभ्यामागमपरार्थानुमानाभ्यां सोऽर्थ उपदिश्यत उपपाद्यते च? तस्मादागमानुमाने तद्विषये, ते च विकल्पाविति परमपि प्रत्यक्षं विकल्प एवेत्यत आह–तच्च श्रुतेति। यदि हि सवितर्कमिव श्रुतानुमानसहभूतं तदनुषक्तं स्याद् भवेत्संकीर्णम्। तयोस्तु बीजमेवैतत्। ततो हि श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च यद्यस्य कारणं तत्तद्विषयं भवति। न हि धूमज्ञानं वह्निज्ञानकारणमिति वह्निविषयम्। तस्मादविकल्पेन प्रत्यक्षेण गृहीत्वा विकल्प्योपदिशन्ति चोपपादयन्ति च। उपसंहरति–तस्मादिति। **व्याख्येयं सूत्रं योजयति–निर्वितर्कया इति। स्मृतिपरिशुद्धावित्यादि सूत्रम्। शब्दसंकेतश्च श्रुतं चानुमानं च तेषां ज्ञानमेव विकल्पस्तस्मात्स्मृतिस्तस्याः परिशुद्धिरपगमस्तस्याम्। अत्र च संकेतस्मृतिपरिशुद्धिर्हेतुः, [3]श्रुतादिज्ञानस्मृतिपरिशुद्धिश्च हेतुमती। अनुमानशब्दश्च कर्मसाधनोऽनुमेयवाचकः। स्वमिवेतीवकारो भिन्नक्रमस्त्यक्त्वेतिपदानन्तरं द्रष्टव्यः।**

शङ्का–भले ही यह मान लिया जाय कि योगिजन **'परप्रत्यक्ष'** के द्वारा 'अर्थ' तत्त्व को जानकर उसका उपदेश और प्रतिपादन करते हैं। किन्तु आगम और परार्थानुमान का अविषयीभूत वह (अविकल्पित) 'अर्थ' कैसे उपदिष्ट तथा प्रतिपादित किया जा सकता है? अर्थात् यह संभव नहीं है। अतः यह मानना चाहिये कि आगम और अनुमान प्रमाण के विषयीभूत 'अर्थ' विकल्परूप हैं। अतः **'परप्रत्यक्ष'** भी विकल्परूप ही है अर्थात् परप्रत्यक्ष द्वारा भासित 'अर्थ' भी इतरेतराध्यासरूप विकल्प से संकीर्ण ही रहता है, न कि असंकीर्ण।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तच्च श्रुतेति**।' यदि सवितर्का के समान निर्वितर्का समापत्ति भी श्रुत और अनुमान प्रमाण के अधीन रहती, तब निर्वितर्का समापत्ति भी सवितर्कवत् (शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के इतरेतराध्यासरूप विकल्प से) संकीर्ण कही जा सकती थी। यह 'परप्रत्यक्ष' ही आगम और अनुमान का बीजभूत कारण है। **'परप्रत्यक्ष'** के पश्चात् (ही) आगम और अनुमान उत्पन्न होते हैं। और जो जिसका कारण होता है, वह तद्विषयक नहीं होता है। जैसे वह्निज्ञान का कारणीभूत धूमज्ञान वह्निज्ञान का विषय नहीं होता है। इसलिये **'परप्रत्यक्ष'** के द्वारा अविकल्प (असंकीर्ण) रूप से 'अर्थ' का ग्रहण (ज्ञान) करके (योगिजन) उसका शब्द, अर्थ और ज्ञान के इतरेतराध्यासरूप विकल्प के साथ उपदेश और उपपादन करते हैं क्योंकि सामान्यजन को शब्द, अर्थ और ज्ञान की इतरेतराध्यासरूप प्रतीति

---

1. क ग घ च छ ज झ त न – **उपदिशन्त्युपपादयन्ति**, ख थ द ध – **उपपादयन्त्युपदिशन्ति।**
2. क ख ग घ च त न – **चातत्**, छ – **च तत्**, ज झ थ द ध – **वा तत्।**
3. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न – **श्रुतादिज्ञान०**, च – **श्रुतानुमान०।**

होती है। भाष्यकार विषय को उपसंहृत करते हैं–'**तस्मादिति**।' अर्थात् योगी की निर्वितर्का समाधि में उत्पन्न हुआ यह '**परप्रत्यक्षात्मक**' ज्ञान किसी भी अन्य ज्ञान से मिश्रित नहीं होता है। भाष्यकार व्याख्येयभूत (अग्रिम) सूत्र की योजना करते हैं– '**निर्वितर्काया इति**।' इत्थंभूत निर्वितर्का समापत्ति के लक्षण को अग्रिम सूत्र के द्वारा प्रकट किया जा रहा है। '**स्मृतिपरिशुद्धौ**' इत्यादि सूत्र है। शब्दसंकेतज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान विकल्परूप ही हैं। इनसे विकल्पात्मक स्मृति होती है। इस विकल्पात्मक स्मृति की '**परिशुद्धि**'=निवृत्ति (अपगम) होने पर अर्थात् शब्दार्थ-ज्ञानरूप विकल्प का परित्याग होने पर जो अपने (ज्ञानात्मक) रूप से शून्य जैसी अतएव 'अर्थ' मात्र को ही प्रकाशित करने वाली स्वान्तःस्थिति है, उसे निर्वितर्का समापत्ति (निर्विकल्पा समाधि) कहते हैं। यहाँ पर शब्दसंकेत की स्मृति की निवृत्ति '**हेतु**' (कारण) है और श्रुतादिज्ञान की स्मृति की निवृत्ति '**हेतुमती**' अर्थात् कार्य है। ('**अनुमीयते तत्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार)–कर्म का साधनभूत अनुमानशब्द 'अनुमेय' का वाचक है। (भाष्य में) '**स्वमिव**' में प्रयुक्त '**इव**' शब्द भिन्नक्रम है। अर्थात् '**इव**' शब्द का अन्वय '**स्वम्**' के साथ न करके '**त्यक्त्वा**' पद के पश्चात् करना चाहिये।

बालप्रिया–

'**शब्दसंकेतः...**'–'गो' शब्द का अपने 'अर्थ' (सास्नादिमद् गो व्यक्ति) के साथ जो नियतसम्बन्ध है, उसे '**शब्दसंकेत**' कहते हैं। जिस बालक को '**गामानय**' में '**गाम्**' तथा '**आनय**' पदों का किस-किस अर्थ के साथ नियतसम्बन्ध है, यह ज्ञान नहीं है, उसे इस वाक्य के श्रवण के पश्चात् भी वाक्यार्थबोध नहीं होता है। जिसे शब्द और अर्थ के नियतसम्बन्ध का ज्ञान रहता है, वह '**गामानय**' इस वाक्य को सुनकर 'गो' पदार्थ को उपस्थित कर देता है। इस प्रकार शब्दसंकेत की स्मृति शाब्दबोध की जनक है। यह शब्दसंकेत स्मरणपूर्वक होने से विकल्पात्मक है। अतः तज्जन्य आगम और अनुमानज्ञान भी विकल्प (संकीर्ण) रूप हैं। अर्थात् इनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान का इतरेतराध्यास भासित होता है। विकल्पात्मक स्मृति की परिशुद्धि होने पर '**निर्वितर्का समापत्ति**' में 'अर्थ' भी इतरेतराध्यास से रहित होकर प्रकाशित होता है। इसी को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'**संकेतस्मृतिपरिशुद्धिर्हेतुः श्रुतादिज्ञानस्मृतिपरिशुद्धिश्च हेतुमती**'।

निर्वितर्का समापत्ति के '**आलम्बन**' के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। सम्प्रति, यही विवादास्पद प्रसंग उपस्थित हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

विषयविप्रतिपत्तिं निराकरोति– तस्या एकेति। एकां बुद्धिमुपक्रमत आरभत इत्येक-

बुद्ध्युपक्रमः। तदनेन परमाणवो नानात्मानो न निर्वितर्कविषया इत्युक्तं भवति, योग्यत्वेऽपि तेषां परमसूक्ष्माणां नानाभूतानां महत्त्वैकार्थसमवेतैकत्वनिर्भासप्रत्ययविषयत्वायोगात्।

भाष्यकार निर्वितर्का समापत्ति की विषयसम्बन्धी आपत्ति का निराकरण करते हैं–'**तस्या एकेति**।' निर्वितर्का समापत्ति का आलम्बनरूप विषय 'यह एक घट है'– इत्याकारक एक बुद्धि को उत्पन्न करने वाला (एक पदार्थ के रूप में अनुभूयमान होने वाला) है–यह '**एकबुद्ध्युपक्रमः**' पद का अर्थ है। इससे यह विवक्षित होता है कि अनेकात्मक परमाणु निर्वितर्का समापत्ति के विषय (आलम्बन) नहीं होते हैं। क्योंकि इन नानाभूत परमसूक्ष्म परमाणुओं में ज्ञान का विषय बनने की योग्यता होने पर भी महत्त्वरूप एक अर्थ में समवायसम्बन्ध से युक्त एकत्वरूप से निर्भासित होने वाले ज्ञान का विषय बनने की योग्यता नहीं है।

बालप्रिया–

'**तस्याः**'–व्यासभाष्य में निर्वितर्का समापत्ति के विषय के स्वरूपप्रतिपादन में तीन विशेषणभूत पदों का प्रयोग हुआ है। वे तीन विशेषण पद हैं–'**एकबुद्ध्युपक्रमः**' '**अर्थात्मा**' तथा '**अणुप्रचयविशेषात्मा**'। प्रस्तुत व्याख्यान प्रथम विशेषणभूत '**एकबुद्ध्युपक्रम**' पद के विषय में है। इसके द्वारा उन वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत का निरास किया गया है जो लोग परमाणुपुञ्ज को पदार्थ मानते हैं। ये परमाणुरूप '**अवयव**' से अतिरिक्त स्थूल '**अवयवी**' रूप को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार परमाणुसंघात ही गो, घट आदि बाह्य पदार्थ हैं। अतः इस वाद को '**संघातवाद**' कहते हैं। खण्डनपक्ष का सार यह है कि यदि परमाणुओं से अतिरिक्त स्थूल घटादि अवयवी को न माना जाय तो घटादि में जो एकत्व-प्रतीति होती है, वह नहीं बन पायेगी।

सम्प्रति, विज्ञानवादियों की ओर से बाह्य पदार्थ के विषय में शंका का उपस्थापन तथा उसका परिहार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अस्तु तर्हि परमार्थसत्सु परमाणुषु सांवृतः प्रतिभासधर्मः स्थौल्यमित्यत आह– अर्थात्मेति। [1]नासति बाधके स्थूलमनुभवसिद्धं शक्यापह्नवमिति भावः।

शङ्का–परमार्थभूत परमाणुओं में आच्छादित '**स्थूलत्व**' रूप प्रातिभासिक धर्म को मान लिया जाय? इससे नानाभूत परमाणुओं में 'एकत्व' प्रतीति होने लगेगी।

1. क घ च छ ज झ त – **नासति बाधके स्थूलत्वमनुभवसिद्धं**, ख ग न – **नासति बाधके स्थूलमनुभवसिद्धं**, थ द ध – **न स्थूलमनुभवसिद्धमसति बाधके**।

समाधान–उक्त मत के खण्डनार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**अर्थात्मेति**।' निर्वितर्का समापत्ति के विषयभूत घटादि पदार्थों की अनुभवसिद्ध '**स्थूलता**' का अपलाप तब तक नहीं किया जा सकता है, जब तक इसमें कोई बाधक (प्रमाण) न हो। अतः विज्ञानवादियों की भाँति पदार्थगत स्थूलता को सांवृतिक प्रतिभासधर्म से विश्लेषित नहीं किया जा सकता है।

बालप्रिया–

'**अर्थात्मा**'–विज्ञानवादी योगाचार के '**विज्ञानाकारता**' मत के खण्डनार्थ भाष्यकार ने '**अर्थात्मा**' पद का प्रयोग किया है। स्थूल गो, घटादि पदार्थ को विज्ञानस्वरूप बुद्धि के ही आकार रूप में अंगीकार नहीं किया जा सकता है। शब्दान्तर में यदि विज्ञानाकार ही घटादि बाह्य पदार्थ है तो क्षणिक विज्ञानस्वरूप बुद्धि के आन्तर पदार्थ होने से शरीर के भीतर ही घटादि की भी प्रतीति होनी चाहिये, बाहर नहीं। इस प्रकार अन्यान्य अनुपपत्तियाँ पदार्थ को 'ज्ञानधर्म' (विज्ञानाकार) मानने पर उपस्थित होती हैं।

सम्प्रति, नैयायिकों की ओर से बाह्य पदार्थ के विषय में शंका का उपस्थापन और उसका खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तत्र ये पश्यन्ति द्व्यणुकादिक्रमेण गोघटादय उपजायन्त इति तान्प्रत्याह–अणुप्रचयेति। अणूनां प्रचयः स्थूलरूपपरिणामः। स च विशिष्यतेऽन्यस्मात्परिणामान्तरात्। स एवात्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः। गवादिर्भोगायतनम्। घटादिर्विषयः। तच्चैतदुभयमपि लोक्यत इति लोकः।

जो ऐसा मानते हैं कि द्व्यणुकादि क्रम से गो, घटादि पदार्थ उत्पन्न (आरम्भ) होते हैं, उनके प्रति भाष्यकार का उत्तर है–'**अणुप्रचयेति**।' (परमाणुओं से गो, घटादि की उत्पत्ति नहीं होती है अपितु) अणुओं के '**प्रचय**' को स्थूलरूप परिणाम कहते हैं। और यह एक प्रकार का कार्यरूप परिणाम दूसरे परिणाम से भिन्न है। कार्यरूप यह स्थूलपरिणाम कारणात्मक होता है। अर्थात् कारण से पृथक् कार्य नहीं होता है, अपितु '**कारण**' के स्वरूप की स्थूलाभिव्यक्ति मात्र को '**कार्य**' कहते हैं। (इस गवादि, घटादि रूप लोक में) गवादि भोगायतन हैं और घटादि विषय हैं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ '**लोक्यत इति लोकः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**लोक**' पदवाच्य हैं।

बालप्रिया–

'**अणुप्रचयविशेषात्मा**'–यह पद कणादाभिमत '**आरम्भवाद**' के प्रतिक्षेपार्थ प्रयुक्त हुआ है। आरम्भवादी नैयायिक कार्य की प्रागसद्रूपावस्थिति (प्रागभाव) का पोषक है, जब कि '**अणुप्रचयविशेषात्मा**' पद द्वारा इंगित सत्कार्यवादी सांख्ययोगाचार्य कार्य को

अभिव्यक्ति से पूर्व भी 'सत्' मानता है। द्व्यणुकादि क्रम से कार्य की उत्पत्ति मानने में अनेक दोष प्रसक्त होते हैं, अतः '**आरम्भवाद**' त्याज्य है।

सम्प्रति, कार्य-कारण के मध्यवर्ती सम्बन्ध को शंका-समाधानपूर्वक उपस्थित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वेष [1]भूतसूक्ष्मेभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा स्यात्। भिन्नश्चेत्कथं तदाश्रयः कथं च तदाकारः? नहि घटः पटादन्यस्तदाकारस्तदाश्रयो वा। अभिन्नश्चेत्तद्वदेव सूक्ष्मोऽसाधारणश्च स्यादत आह–स चेति। अयमभिप्रायः–नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नो घटादिरभिन्नो वा। भिन्नत्वे गवाश्ववद्धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः। [2]अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत् तदनुपपत्तेः। तस्मात्कथञ्चिद् भिन्नः कथञ्चिदभिन्नश्चास्थेयः। तथा च सर्वमुपपद्यते।

शङ्का–यह (सिद्धान्ती द्वारा प्रतिपादित परिणामविशेषरूप स्थूल कार्य) '**लोक**' (कारणभूत) भूतसूक्ष्मों से भिन्न है अथवा अभिन्न है–ये दो विकल्प हैं। यदि 'कार्य अपने कारण से भिन्न है'–इस विकल्प को स्वीकार किया जाय तो कार्य को कारणाश्रित अथवा कारणाकार कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् यदि कार्य अपने कारण से भिन्न है तो क्यों कार्य अपने स्थूलपरिणामरूप सत्ता के लिये भूतसूक्ष्मों पर अवलम्बित रहता है अथवा कैसे अपने ध्वंस की अवस्था में कारणाकार हो जाता है? जैसे–निश्चितरूप से पट से भिन्न घट न तो पटाश्रित है (अर्थात् अपनी उत्पत्ति के लिये पट पर आश्रित नहीं है) और न ही पटाकार है अर्थात् ध्वंस-काल में घट पटाकार नहीं हो जाता है–यह प्रथम विकल्पीय विसंगति है। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार कार्य=अवयवी को अवयव=कारण से अभिन्न माना जाय, तो अवयवी (कार्य) भी 'अवयवों (कारण) के समान सूक्ष्म और असाधारण रह जायेगा? अर्थात् कार्य को स्थूल संस्थानविशेष नहीं कहा जा सकेगा–यह द्वितीय विकल्पीय विसंगति है।

समाधान–(पूर्वपक्षी की द्विविकल्पीय शंका का) उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**स चेति**।' अभिप्रेत अर्थ यह है–घटादि कार्य अपने कारणभूत परमाणुओं से 'आत्यन्तिक' रूप से '**भिन्न**' भी नहीं है अथवा आत्यन्तिक रूप से '**अभिन्न**' भी नहीं है। कार्य का कारण से आत्यन्तिक '**भेद**' मानने पर गो, अश्व के समान कार्य-कारण में धर्मधर्मिभाव उपपन्न न हो सकेगा। अर्थात् जैसे अत्यन्त भिन्न गो तथा अश्व में

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **भूतसूक्ष्मेभ्यः**, थ द ध – **सूक्ष्मभूतेभ्यः**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न – **अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत् तदनुपपत्तेः** उपलभ्यते, द – **अभिन्नत्वे.....तदनुपपत्तेः** नोपलभ्यते।

धर्मधर्मिभाव नहीं है, वैसे ही अत्यन्त विसदृश (भिन्न) मृत्तिका और घट में **धर्मधर्मिसम्बन्ध** की कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। जब कि पारमार्थिक दृष्टि से कार्य-कारण में धर्मधर्मिभावसम्बन्ध रहता है। कार्य का कारण से आत्यन्तिक '**अभेद**' मानने पर धर्म को धर्मिरूपवत् (धर्म को धर्मी के समान) मानना अनुपपन्न हो जायेगा। क्योंकि आत्यन्तिक अभेद में (अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में) द्वित्व की स्थिति न रहने से भेदनिष्ठ 'वत्' (समानता) की सहावस्थिति संभव नहीं है। अतः यह स्वीकार किया गया है कि कार्य का कारण से आंशिक भेद तथा आंशिक अभेद है, सर्वांशतः भेद अथवा अभेद नहीं। इस प्रकार कार्य-कारण में भेदाभेदभावघटित सम्बन्ध मानने पर कार्यकारणसम्बन्धी उक्त विसंगतियाँ दूर हो जाती हैं।

स्वमत को भाष्यानुसारी सिद्ध करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

भूतसूक्ष्माणामिति षष्ठ्या कथंचिद्भेदं सूचयति, आत्मभूत इति चाभेदम्। फलेन व्यक्तेन तदनुभवलक्षणेन तद्व्यवहारलक्षणेन च व्यक्तेन विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमापितः।

भाष्यकार ने '**स च...तिरोभवति**' वाक्य में '**भूतसूक्ष्माणाम्** में षष्ठी विभक्ति के प्रयोग द्वारा 'कार्य-कारण-सम्बन्ध' में आंशिक भेद को इंगित किया है तथा '**आत्मभूतः**' पद के प्रयोग द्वारा उनमें आंशिक अभेद को उद्घोषित किया है। भूतसूक्ष्मों का यह संस्थानविशेषरूप साधारणधर्म अनुमेय है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**फलेन व्यक्तेन**'=अर्थात् अनुभवलक्षणक तथा व्यवहारलक्षणक व्यक्त फल के द्वारा कार्यनिष्ठ साधारणधर्म बाह्यानुमेयवादियों के प्रति अनुमान का विषय है।

बालप्रिया–

'**अनुमितः**'–स्वाभिव्यक्ति और व्यवहाररूप कार्य के द्वारा अवयवी अयोगियों के अनुमान का विषय बनता है। अभिप्राय यह है कि योगिजन तो कारण में सूक्ष्म रूप से रहने वाले अवयवी का प्रत्यक्ष कर लेते हैं, किन्तु साधारण मनुष्य अभिव्यक्ति (मृत्तिका के घटपरिणाम) और व्यवहार (जलाहरणादि) हेतु से ही कार्य का अनुमान करते हैं।

सम्प्रति, कारण से कार्य की अभिन्नता का हेतु उपन्यस्त किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

कारणाभेदेन च कारणाकारतोपपन्नेत्याह–स्वव्यञ्जकाञ्जन इति। स किं तदात्मभूतो धर्मो नित्यः? नेत्याह–धर्मान्तर इति। धर्मान्तरस्य कपालादेरुदय इत्यर्थः।

कार्य का कारण से अभेद मानने पर (सत्कार्यवाद के अनुसार) कार्य की कारणाकारता भी उपपन्न (सिद्ध) हो जाती है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते

हैं–'**स्वव्यञ्जकाञ्जन इति**।' अपनी अभिव्यक्ति के हेतुभूत सामग्री से अभिव्यज्यमान होता हुआ कार्य वर्तमान अवस्था को प्राप्त करता है। अर्थात् कारण में अनभिव्यक्तात्मक सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान घट स्थूलावस्थारूप अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार पूर्व से विद्यमान का ही आविर्भाव होता है।

शङ्का–तो क्या कारणात्मक तथा अभिव्यक्तिरूप यह '**कार्य धर्म**' नित्य है?

समाधान–अभिव्यक्तिरूप यह '**कार्य धर्म**' नित्य नहीं है। इसी बात को भाष्यकार बतलाते हैं–'धर्मान्तर इति।' (मुद्‌गरप्रहारादि के द्वारा) कपालादिरूप धर्मान्तर के उदय होने पर घटादिरूप कार्य धर्म तिरोहित (अतीतावस्था को प्राप्त) हो जाता है।

बौद्ध 'अवयव' से भिन्न 'अवयवी' की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं–इसी पूर्वपक्ष को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तस्यावयविनः परमाणुभ्यो व्यावृत्तं रूपमादर्शयति–स एष इति। परमाणुसाध्यायाः क्रियाया अन्या क्रिया मधूदकादिधारणलक्षणा, तद्धर्मक इति। न केवलमनुभवादपि तु व्यवहारतोऽपि, तन्निबन्धनत्वाल्लोकयात्राया इत्याह–तेनेति।

परमाणुरूप अवयवों से भिन्न अवयवी के रूप को भाष्यकार दिखाते हैं–'**स एष इति**।' यही स्थूल घटादिरूप कार्य धर्म '**अवयवी**' शब्द से व्यवहृत होता है। '**अवयवी**' रूप घट परमाणुसाध्य (अवयवसाध्य) क्रिया से भिन्न मधु, जल आदि को धारण करने की क्रिया करता है। अतः अवयवी को तद्धर्मक=क्रियाधर्मक कहा गया है। अर्थात् अवयवी अर्थक्रियाकारित्व धर्म वाला होता है। न केवल अनुभव से ही घटादि अवयवियों का अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध होता है, अपितु व्यवहार से भी अवयवी का अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध होता है। क्योंकि यह लोकयात्रा अवयविनिबन्धन ही है। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**तेनेति**।' इसी अवयवी के द्वारा लोकव्यवहार निष्पादित होता है।

बालप्रिया–

भाष्यकार ने अवयवी का स्वरूप इस प्रकार विश्लेषित किया है–'**योऽसावेकश्च महाँश्चाणीयाँश्च स्पर्शवाँश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च...**' अर्थात् यह परिणामरूप अवयवी एकत्वबुद्धिनिष्ठ, बड़ा, छोटा, इन्द्रियग्राह्य अर्थात् स्पर्श किया जा सकने वाला, जलाहरणादिक्रिया का निर्वर्तक तथा अनित्य (अव्यक्त हो जाने वाला) है। यहाँ पर यह विचार प्रस्तुत है कि '**अयमेको महान् स्थूलो घटः**' इत्याकारक प्रत्यक्ष ही '**अवयवी**' की सिद्धि में प्रमाणस्वरूप कहा गया है। जिज्ञासा है कि यह एकत्वबुद्धि अभिन्नार्थविषयिका है अथवा नानार्थविषयिका? यदि प्रथम विकल्प के अनुसार एकत्वबुद्धि को अभिन्नार्थविषयिका मानते हैं तो अवयवी की सिद्धि से अवयवभिन्न

अर्थान्तर का परिज्ञान हो जाता है। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार एकत्वबुद्धि को नानार्थविषयिका मानते हैं तो भिन्नों में 'एकत्वदर्शन' अनुपपन्न रहेगा। यदि यह कहा जाय कि 'जिस प्रकार सेनाङ्गों (सैनिकों) और वनाङ्गों (वृक्षों) में दूर से पृथक्त्व की प्रतीति न होने से **'एकमिदम्'** अर्थात् यह एक है, ऐसी एकत्वप्रतीति होती है उसी प्रकार एकत्रीभूत परमाणुओं में पृथक्त्व का ग्रहण न हो पाने से **'एकोऽयम्'** अर्थात् 'यह एक है' ऐसी एकत्वप्रतीति मानी जाय और इससे अवयव से पृथक् अवयवी को मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है–तो यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर 'परमाणुओं का अतीन्द्रियत्व' और 'प्रत्यक्ष में महत्परिमाण का हेतुत्व' वाला नियम सिद्ध नहीं हो पायेगा। तदर्थ न्याय सूत्र है–**'सेनावनादिवदिति चेन्नाऽतीन्द्रियत्वादणूनाम्।'**

सम्प्रति, **'अवयवों'** से भिन्न **'अवयवी'** नाम का कोई पदार्थ नहीं है–"वैनाशिकों के इस मतवाद का उपस्थापन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–असति बाधकेऽनुभवोऽवयविनं व्यवस्थापयेत्। अस्ति च बाधकम्–यत्सत्तत्सर्वमनवयवम्, यथा विज्ञानम्। सच्च गोघटादीति स्वभावहेतुः। सत्त्वं हि विरुद्धधर्मसंसर्गरहितत्वेन व्याप्तम्। तद्विरुद्धश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः सावयव उपलभ्यमानो व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या सत्त्वमपि निवर्तयति। अस्ति चावयविनि तद्देशत्वाऽतद्देशत्वावृतत्वानावृतत्वरक्तत्वारक्तत्वचलत्वाचलत्वलक्षणो विरुद्धधर्मसंसर्गः।

पूर्वपक्ष–अनुभव के आधार पर **'अवयवी'** की सिद्धि तभी हो सकती है, जब अनुभव की सिद्धि में कोई बाधक तर्क न हो, किन्तु यहाँ तो बाधक तर्क है। वह यह है कि "जो सत् होता है, वह निरवयव होता है, जैसे विज्ञान। और गोघटादिरूप 'सत्' स्वभावहेतुक है। जो सत् होता है, वह विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्य से व्याप्त होता है और जो सत् नहीं है, वह विरुद्धधर्मसंसर्ग वाला होता है। इस प्रकार विरुद्धधर्मसंसर्गवान् पदार्थ 'सावयव' उपलब्ध होता हुआ व्यापक (विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्य) के विरुद्ध उपलब्ध होने से अपने को सत् सिद्ध नहीं करता है। अवयवी में विरुद्धधर्मसंसर्ग रहता है; जैसे–तद्देशत्व-अतद्देशत्व ('यह घट वहाँ था, अब यहाँ दूसरी जगह है'), आवृतत्व-अनावृतत्व, रक्तत्व-अरक्तत्व (पहले घट श्याम वर्ण वाला था, अब रक्त वर्ण वाला हो गया है), चलत्व-अचलत्व आदि। (निष्कर्षतः अवयवी में 'विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्यरूप व्यापकत्व=निरवयवत्व के न रहने से व्याप्यत्व 'सत्त्व' का भी अभाव है। इससे घटादि अवयवियों की तुच्छता सिद्ध होती है)।

बालप्रिया–

'स्वभावहेतु'– अनौपाधिक हेतु को **'स्वभावहेतु'** कहते हैं, अतः यह 'सद्धेतु' है। 'स्वभावहेतु' कोई अर्थान्तर नहीं है। यह सदनुमान की प्राचीन संज्ञा है। अतः तत्त्ववैशारदीकार द्वारा प्रयुक्त 'स्वभावहेतु' पद के प्रयोग से भ्रम नहीं होना चाहिये।

'सत्त्वं हि विरुद्धधर्मसंसर्गरहितत्वेन'–पूर्वपक्षी द्वारा इस वाक्य के उपस्थापन में सिद्धान्ती की ओर से यह शंका छिपी हुई है–**'घटादिकं निरवयवं, सत्त्वात्, विज्ञानवत्'**–इस अनुमानप्रयोग में 'घटादिक' पक्ष है 'निरवयवत्व' व्यापक (साध्य) है 'सत्त्व' व्याप्य (हेतु) है तथा 'विज्ञान' उदाहरण है। यहाँ 'सत्त्व' हेतु अनुमान का प्रयोजक भले ही हो, किन्तु वह साध्य (निरवयवत्व) को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस प्रकार विपक्ष में बाधकाभाव की आशंका से पूर्वपक्षी विपक्ष सावयव में सत्त्वनिवृत्ति को ही बाधक बतलाता हुआ कहता है कि विरुद्धधर्मसंसर्गराहित्याभाव (विरुद्ध- धर्मसंसर्ग) से व्यापकाभावपूर्वक व्याप्याभाव का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार विरुद्धधर्मसंसर्ग **'सत्त्व'** को भी निवृत्त कर देता है। व्याप्ति का स्वरूप है–

यत्र सत्त्वं तत्र विरुद्धधर्मसंसर्गाभावः–अन्वयव्याप्ति।

यत्र विरुद्धधर्मसंसर्गाभावराहित्यः तत्र सत्त्वाभावः–व्यतिरेकव्याप्ति।

यत् सत् तत् अनवयवम् (निरवयवम्)–अन्वयव्याप्ति।

यत्र सावयवत्वं तत्र असत्त्वम्–व्यतिरेकव्याप्ति।

सम्प्रति, पूर्वपक्ष का खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

इत्यत आह–यस्य पुनरिति। अयमभिप्रायः–अनुभवसिद्धं सत्त्वं हेतुः क्रियते यत्किल पांशुलपादुको हालिकोऽपि प्रतिपद्यते, अन्यद्वाऽनुभवसिद्धात्? तत्रान्यदसिद्धत्त्वादहेतुः। अनुभवसिद्धं तु घटादीनां सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वरूपं न स्थूलादन्यत्। सोऽयं हेतुः स्थूलत्वमपाकुर्वन्नात्मानमेव व्याहन्ति। ननु न स्थूलत्वमेव सत्त्वम्, अपि त्वसतो व्यावृत्तिः। अस्थौल्यव्यावृत्तिश्च स्थौल्यम्। व्यावर्त्यभेदाच्च व्यावृत्तयो भिद्यन्ते। अतः स्थौल्याभावेऽपि न सत्त्वव्याहतिः, अन्यत्वात्। भवतु वा व्यावृत्तिभेदादवसायविषयभेदः। यत्पूर्वकास्त्ववसायास्तस्यानुभवस्याविकल्पस्य प्रमाणस्य को विषय इति निरूपयतु भवान्? रूपपरमाणवो निरन्तरोत्पादा अगृहीतपरम[1]सूक्ष्मतत्त्वा इति चेत्? हन्त! एते गन्धरसस्पर्शपरमाणुभिरन्तरिता न निरन्तराः। तस्मादन्तरालाग्रह एकघनवनप्रत्ययवत्परमाण्वालम्बनः सन्नयं विकल्पो मिथ्येति तत्प्रभवा विकल्पा न पारम्पर्येणापि वस्तुप्रतिबद्धा इति कुतस्तदवसितस्य सत्त्वस्यानवयवत्वसाधकत्वम्? तस्मादविकल्पकस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिच्छता तदनुभूयमानस्थौल्यस्यैव सत्त्वमविकल्पावसेयम-

1. क ख ग च छ थ द ध – **सूक्ष्मतत्त्वाः**, घ ज झ त न – **सूक्ष्मत्वाः**।

कामयताप्यभ्युपेयम्। तथा च तद्बाधमानं सत्त्वमात्मानमेवा[1]पबाधेत। **परमसूक्ष्माः परमाणवो विजातीयपरमाण्वनन्तरिता अनुभवविषया इति व्याहतमङ्गीकरणम्। तदिदमुक्तम्–यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषो निर्विकल्पस्य विषयः। सन्तु तर्हि सूक्ष्माः परमाणवो निर्विकल्पविषया इत्यत आह–सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्येति। तस्यावयव्य-**
सूत्र. 8. **भावाद्धेतोरतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति लक्षणेन सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानं [2]यत् स्थौल्यालम्बनं यच्च** तद[3]धिष्ठानसत्त्वालम्बनमित्यर्थः। **नन्वेतावतापि न ज्ञानमात्मनि मिथ्या भवति, तस्यावयवित्वेनाप्रकाशादित्यत आह–प्रायेणेति। ननु किमेतावतापीत्यत आह–तदा चेति। सत्त्वादिज्ञानं चेन्मिथ्या तदा सत्त्वादिहेतुकमनवयवित्वादिज्ञानमपि मिथ्यैव। तस्यापि हि निर्विकल्पागोचरस्थूलमेवावसेयतया विषयः, स च नास्तीति तात्पर्यार्थः। विषयाभाव एव कुत इत्यत आह–यद्यदिति। विरोधश्च परिणामवैचित्र्येण भेदाभेदेन चोक्तोपपत्त्यनुसारेणो-द्धर्तव्य इति सर्वं रमणीयम्॥४३॥**

उत्तरपक्ष–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'यस्य पुनरिति।'** तात्पर्य यह है कि अनुभव-सिद्ध 'सत्त्व' हेतु बन सकता है, जिसे हल जोतने वाला अज्ञ कृषक भी जान सके अथवा जो पदार्थ दूसरों द्वारा मान्य हो, वही हेतु बनने की योग्यता रखता है। जो दूसरों से सिद्ध (मान्य) न हो, वह पदार्थ 'हेतु' नहीं होता है। घटादियों का तो 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप सत्त्व अनुभवसिद्ध है, जो (सत्त्व) स्थूलत्व (अवयवित्व) से भिन्न कुछ नहीं है। अतः बौद्ध द्वारा स्वीकृत 'सत्' हेतु पदार्थों में स्थूलत्व का निषेध करता हुआ स्वयं अपना ही नाश कर लेता है।

पूर्वपक्ष–स्थूलत्व ही सत्त्व नहीं है, अपितु असत् की व्यावृत्ति सत् है। (इसी प्रकार) अस्थौल्य की व्यावृत्ति स्थौल्य है। और (यह नियम है कि) व्यावर्त्य (जिसकी व्यावृत्ति की जाती है) के भेद से व्यावृत्त भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः सत्त्व में स्थौल्य का अभाव होने पर भी सत् की सत्ता असिद्ध नहीं होती है, क्योंकि सत्त्व स्थौल्य से भिन्न है।

उत्तरपक्ष–(उक्त पूर्वपक्ष को ध्यान में रखते हुए सिद्धान्ती तुष्यतुदुर्जनन्याय से प्रश्न करते हैं कि) ठीक है, व्यावृत्ति के भेद से ज्ञान के विषय का भेद होता है अर्थात् अनुभवपूर्वक व्यावर्त्य वस्तु का निश्चय होता है। किन्तु ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, उस अनुभवरूप निर्विकल्प प्रमाण का विषय क्या है? जरा यह तो आप बताईये।

---

1. क ख ग घ च थ द ध न – **अपबाधेत,** छ ज झ त – **अयं बाधेत।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – **यत् स्थौल्यालम्बनं** उपलभ्यते, न – **यत् स्थौल्यालम्बनं** नोपलभ्यते।
3. क छ – **अधिष्ठानं,** ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **अधिष्ठान०।**

दूसरों द्वारा हुआ परवाना

पूर्वपक्ष–(सिद्धान्ती के प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि) जिनकी परमसूक्ष्मता गृहीत नहीं है, ऐसे निरन्तर छिद्ररहित अर्थात् निरन्तराल 'रूपपरमाणु' ही निर्विकल्पात्मक ज्ञान के विषय बनते हैं।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी का उत्तर अत्यन्त असन्तोषजनक है। क्योंकि गन्ध, रस और स्पर्शपरमाणुओं से अन्तरित अर्थात् सान्तराल ये रूपपरमाणु भला निरन्तराल कैसे हो सकते हैं? (अर्थात् रूपपरमाणु को निरन्तराल नहीं कहा जा सकता है)। इस कारण से परमाणुओं के अन्तराल का ग्रहण न होने पर 'यह एक घना वन है'–इस प्रत्यय के समान परमाणु को विषय करके होने वाला यह निर्विकल्पात्मक ज्ञान विकल्प अर्थात् मिथ्या ही होता है और उस मिथ्या विकल्प से होने वाले विकल्प यथार्थ वस्तु से परम्परया भी सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः कैसे विकल्पज्ञान अवसित सत्त्व के अनवयवत्व का साधक हो सकता है? इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को चाहने वाले को निर्विकल्पक ज्ञान के विषय के रूप से अनुभूयमान स्थौल्य सत्त्व को अनिच्छापूर्वक (विवश होकर) भी मान लेना चाहिये। अन्यथा स्थौल्यरूप सत्त्व (स्थूल अवयवी) का बाध करता हुआ सत्त्व अपना ही बाध (निषेध) कर लेगा। विजातीय परमाणुओं से अन्तरित (व्यवहित) परमसूक्ष्म परमाणु अनुभव के विषय होते हैं, इसको स्वीकार करना चाहिये। और जिस वैनाशिक के मत में 'निर्विकल्पक ज्ञान का विषयभूत स्थूलरूप परिणामी 'अवयवी' तुच्छ है, केवल सूक्ष्म परमाणु ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय माना जाय'–तो उनके प्रति भाष्यकार का कहना है–'**सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्येति**।' अतः प्रत्यक्षयोग्य अवयवी का अभाव होने से '**अतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानम्**' लक्षण के अनुसार सभी ज्ञान मिथ्या सिद्ध होंगे।

पूर्वपक्ष–इतना होने पर भी आत्मविषयक ज्ञान मिथ्या नहीं होगा, क्योंकि आत्मा का अवयवी के रूप से ज्ञान नहीं होता है।

उत्तरपक्ष–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**प्रायेणेति**।' तात्पर्य यह है कि 'प्रायः करके सभी ज्ञान मिथ्या हैं'–ऐसी आपत्ति बौद्ध मत में आयेगी।

पूर्वपक्ष–क्या इतने से ही हमारा ज्ञान मिथ्या सिद्ध होगा अथवा इसमें और भी कोई कारण है?

उत्तरपक्ष–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तदा चेति**।' आपके सत्त्वादिज्ञान मिथ्या होने से सत्त्वादिहेतुक अनवयवित्वादिज्ञान भी मिथ्या ही सिद्ध होंगे। और निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी अस्थूल (सूक्ष्म) पदार्थ नहीं होता है। अतः विषयाभाव के कारण सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकेगा। (यदि पूर्वपक्षी पूछे कि) किस प्रकार (हमारे बौद्धमत में) विषयाभाव है? तो भाष्यकार का वक्तव्य है–'**यद् यदिति**।' अर्थात्

संसार में जो-जो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, वे सब 'अवयवी' रूप से ही जानी जाती हैं।

(**पूर्वपक्ष**–इस पर यदि पूर्वपक्षी कहे कि अवयविवाद को मानने वाले सिद्धान्ती ग्रहण-अग्रहण, तद्देशत्व-अतद्देशत्व आदि पूर्वकथित विरोध का परिहार किस प्रकार करेंगे?

उत्तरपक्ष–इस पर तत्त्ववैशारदीकार का कहना है कि) तथाकथित विरोध का परिहार (उद्धार) तो परिणाम की विचित्रता तथा भेदाभेद की युक्ति द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार योगप्रतिपादित '**अवयविवाद**' अत्यन्त सुन्दर (दोषरहित) सिद्धान्त है॥४३॥

बालप्रिया–

'**भवतु वा**'–इसके द्वारा सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी (बौद्ध) से प्रश्न किया है कि अच्छा यह बताईये कि '**कल्पनापोढा**' संज्ञक निर्विकल्पक प्रमाण का विषय क्या है? इस पर वैभाषिक ने उत्तर दिया है–'**रूपपरमाणवो हीति**।' एक विज्ञानोपारोही निरन्तर उत्पन्न रूपपरमाणु ही '**स्थूल**' कहे जाते हैं और यह '**स्थौल्य**' ही पदार्थ का प्रतिभास-कालिक धर्म है। इससे यह नहीं कहना चाहिये कि नीलत्वादि की तरह स्थूलता (स्थौल्य) परमाणु का धर्म है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु में बहुत्व के समान सांवृत स्थौल्य हो सकता है। जैसा कि वैभाषिकों का मत है–

'ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किञ्चिद्रूपं हि गृह्यते। सांवृतं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसम्भवात्॥
न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद् यतः। सांवृतं ग्रहणं नाऽन्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रमः॥'

'**हन्त एते**'–इसके द्वारा सिद्धान्ती ने नैरन्तर्यावभास में भ्रमत्व का आपादन करते हुए पूर्वपक्षी के तथाकथित पूर्वमत का खण्डन किया है। सिद्धान्ती का वक्तव्य है कि यदि निरन्तर (अन्तरालरहित) उत्पन्न रूपपरमाणु ही एकबुद्धि के विषय हैं तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि रूपवान् पदार्थ में रस-गन्ध-स्पर्श-परमाणुओं की भी सत्ता होने से रूपपरमाणुओं का नैरन्तर्य सिद्ध नहीं होता है। और सान्तराल परमाणुओं में स्थौल्यप्रतीति उसी प्रकार भ्रान्तिपूर्ण है, जिस प्रकार सान्तराल वृक्षों में दूर से 'यह एक घना वन है'–ऐसी भ्रान्तिपूर्ण प्रतीति। पूर्वपक्षी रूपपरमाणुओं में नैरन्तर्य का आरोप भी नहीं लगा सकता है, क्योंकि इससे इतरेतराश्रयदोष आता है। उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा भी है–

'नैरन्तर्याऽऽरोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं। तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप इति।'

'**विरोधश्च...**'–यह पंक्ति अवयवी में ग्रहण-अग्रहण, तद्देशत्व-अतद्देशत्व आदि विरोध का परिहार करने के लिये लिखी गई है। आत्मतत्त्वविवेक में 'पञ्चविध-विरोधध्वंसनप्रस्ताव' के प्रसंग में इसकी चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है॥४३॥

योगवार्त्तिकम्

सूत्रान्तरं योजयितुं प्रथमं तावन्निर्वितर्कां स्थूलसमापत्तिं व्याचष्टे—यदा पुनरिति। अयं भावः—शब्दसंकेतस्मरणपूर्वके तावत्क्रमेणागमानुमानज्ञाने भवतः, संकेतश्चायं गौरिति शब्दार्थयोरितरेतराध्यासात्मकः, एतद्वै तत्परमपरं च ब्रह्म यदोंकार इत्यादिश्रुतिषु,

अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

इत्यादिस्मृतिषु, अमरा निर्जरा देवा[1] इत्यादिकोशेषु च संकेतस्य विकल्पिताभेदरूपत्वावधारणात्। ततश्च संकेतग्रहसमानाकारेणैव शाब्दबोधस्तन्मूलकानुमानं च भवतीत्यत आगमानुमानज्ञानयोरपि श्रवणमननरूपयोर्विकल्प औत्सर्गिकः। ततश्च तन्मूलिका या प्रथमं जायते समाधिप्रज्ञा साऽपि विकल्प[2]व्याप्तैव भवतीति सा सवितर्का भवति। यदा पुनरर्थमात्रादरादर्थमात्रप्रवणेन चेतसा संकेतस्मृतिस्त्यज्यते तदा समाधौ तन्मूलको विकल्पो न जायत इति निर्वितर्का भवतीति। तदिदमाह—शब्दसंकेतेति। शब्दसंकेतस्य स्मृतेः परिशुद्धिरपगमस्तस्यां सत्यां तत्स्मृतिनिमित्तकेन श्रुतानुमानज्ञानकालीनविकल्पेन शून्यायां समाधिप्रज्ञायामर्थस्वरूपाकारेणैवावधार्यत इत्यादिरर्थः। आरोपगन्धस्यापि सम्पर्को नास्तीति प्रतिपादनाय स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थ इत्युक्तम्। परमिति। आरोपसम्पर्काभावादिति भावः। अगृहीतग्राहित्वं निर्वितर्कसमापत्तेः प्रामाण्यप्रयोजकं दर्शयति—तच्चेत्यादिना दर्शनमितीत्यन्तेन। श्रुतानुमानयोः श्रवणमननयोर्बीजम्। बीजशब्दार्थं व्याचष्टे—तत इति। प्रभवतः प्रकर्षेण भवतः, गुरुणाऽशेषविशेषसाक्षात्कारं विनाऽसन्दिग्धाविपर्यस्तवस्तुस्वरूपप्रतिपादनासम्भवात्। अत सवितर्कानधिगतोऽपि विशेषोऽस्या विषय इत्यर्थः। नन्वेवं सर्वज्ञगुरुणा श्रुतिस्मृतिभ्यामेवा[3]शेषविशेषप्रतिपादनं स्यादितीयं व्यर्था निर्वितर्कसमापत्तिरिति तत्राह—न चेति। सहभूतं तत्कालीनम्। गुरोर्विशेष[4]ज्ञत्वेऽपि स विशेषः शब्देनाशेषो वक्तुं न शक्यत इक्षुक्षीरादिविशेषवत्,

इदं तदिति निर्देष्टुं गुरुणाऽपि न शक्यते॥

इति स्मृतेः। अतः [5]सर्वज्ञवाक्यादपि निर्विकल्पकसमापत्तिसमानाकारं ज्ञानं न सम्भवतीत्यर्थः। ततः किमित्यत आह—तस्मादिति। संकीर्णं=[6]गृहीतमात्रानवगाहि। तदेवमुत्तरसूत्रस्य लक्ष्यमवधार्य सूत्रमवतारयति—निर्वितर्काया इति। स्पष्टम्—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

---

1. क ख ग घ – देवाः उपलभ्यते, च छ – देवाः नोपलभ्यते।
2. क च – व्याप्तिश्चैव, ख ग घ – व्यामिश्रैव, छ – व्याप्तैव।
3. क घ च छ – अशेषविशेष०, ख ग – अशेष०।
4. क – तत्त्वे, ख ग घ च छ – ज्ञत्वे।
5. क ख घ च छ – सर्वज्ञ०, ग – सर्व०।
6. क ख घ – गृहीतमात्रगाही, ग – गृहीतत्वमात्रगाहि, च छ – गृहीतमात्रानवगाहि।

अग्रिम सूत्र को संयोजित करने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम स्थूलविषयक निर्वितर्कसमापत्ति को बताते हैं–'**यदा पुनरिति**।' भाव यह है–शब्दसंकेत और स्मरणपूर्वक क्रमशः आगमज्ञान और अनुमानज्ञान होते हैं। '**अयं गौः**' यह '**संकेत**' है, जो शब्द और अर्थ का इतरेतराध्यासरूप है। क्योंकि '**एतद्वै...यदोंकारः**' (प्रश्न उप. ५/२) इत्यादि श्रुतियों में; '**अकारो...महेश्वराः**' इत्यादि स्मृतियों में और '**अमरा निर्जरा**' (१/१/७) इत्यादि कोशों में संकेत को विकल्पित अभेदरूप से निर्धारित किया गया है। इन उद्धृत वाक्यों का अर्थ है–'निश्चितरूप से वह पर और अपररूप ब्रह्म ही है, जो ओंकार रूप है', 'अकार, उकार तथा मकार क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं', 'अमर, निर्जर, देव' इत्यादि देवता के छब्बीस नाम हैं।' संकेतग्रह के पश्चात् उसके समानाकार से ही शाब्दबोध और तन्मूलक (संकेतग्रहमूलक) अनुमान होता है। अतः श्रवण और मननरूप आगम और अनुमानज्ञान में भी '**विकल्प**' अर्थात् भ्रमात्मक अभेद होना स्वाभाविक है। इस क्रम से श्रवण तथा मननमूलक जो प्रथम समाधिप्रज्ञा उत्पन्न होती है, वह भी '**विकल्प**' से व्याप्त ही होती है। बस यही समाधिप्रज्ञा '**सवितर्का समापत्ति**' कहलाती है। और जब 'अर्थ' अर्थात् पदार्थमात्र में आदर होने से पदार्थमात्र की ओर झुका हुआ चित्त संकेतस्मृति को त्याग देता है, तब समाधि में आगम और अनुमानमूलक विकल्प नहीं रहता है। बस यही समाधिप्रज्ञा '**निर्वितर्का समापत्ति**' कहलाती है। इसी निर्वितर्का समापत्ति का स्वरूप भाष्यकार बतलाते हैं–'**शब्दसंकेतेति**।' शब्दसंकेत की स्मृति के '**परिशुद्ध**' अर्थात् हट जाने पर अर्थात् शब्दसंकेत की स्मृति द्वारा होने वाले श्रुतज्ञान और अनुमानज्ञान के विकल्प से समाधिप्रज्ञा के शून्य हो जाने पर '**अर्थ**' (ध्येय पदार्थ) अपने स्वरूपाकार से ही प्रतीत (ज्ञात) होता है। इसमें विकल्पात्मक आरोप का आंशिक सम्बन्ध (गन्धमात्र) भी नहीं रहता है, इस तथ्य के स्पष्टीकरण (प्रतिपादन) के लिये 'स्वरूपमात्र से अर्थ अवस्थित रहता है' ऐसा कहा गया है। योगवार्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**परमिति**।' इस निर्वितर्का समापत्ति को '**परप्रत्यक्ष**' कहते हैं, क्योंकि इसमें कल्पित आरोप का अभाव रहता है। भाष्यकार ने निर्वितर्का समापत्ति के प्रामाण्य के प्रयोजकभूत अगृहीतग्राहित्व को '**तच्चेत्यादिना...दर्शनमितीत्यन्तेन**' अर्थात् '**तच्च**' से लेकर '**दर्शनम्**' तक के वाक्यत्रय से समझाया है। यह निर्वितर्का समापत्ति आगम और अनुमानरूप श्रवण और मनन ज्ञान का बीज (कारण) है। निर्वितर्का समापत्ति आगमादि का बीज क्यों है? इसे ('**बीज**' शब्द के अर्थ को) भाष्यकार बताते हैं–'**तत इति**।' निर्वितर्का समापत्ति के **प्रभव**=प्रकर्ष के कारण ही आगमादि उत्पन्न होते हैं, क्योंकि गुरु के द्वारा उपदिष्ट पदार्थगत अशेषविशेष का साक्षात्कार हुए विना असन्दिग्ध और अविपर्यस्त

वस्तुस्वरूप (अर्थात् वस्तु के पूर्ण निश्चित एवं अभ्रमात्मक रूप) का परिशीलन सम्भव नहीं रहता है। अतः सवितर्का समापत्ति से अनवबोधित पदार्थगत विशेष, इसी निर्वितर्का समापत्ति का विषय होता है।

शङ्का–पदार्थगत अशेषविशेष का ज्ञान कराना ही यदि निर्वितर्का समापत्ति का प्रयोजन है तो सर्वज्ञ गुरु के द्वारा उपदिष्ट श्रुति, स्मृतिशास्त्रों की परम्परा से ही पदार्थगत अशेषविशेष का परिज्ञान हो जायेगा, तदर्थ यह '**निर्वितर्का समापत्ति**' व्यर्थ है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न चेति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**सहभूत**' शब्द का अर्थ है–तत्कालीन। यह निर्वितर्का समापत्तिरूप ज्ञान आगम और अनुमान के साथ उत्पन्न नहीं होता है। गुरु को पदार्थगत अशेषविशेष का ज्ञान रहने पर भी वह शब्द के माध्यम से पूर्णतः अभिधान करने योग्य उसी प्रकार नहीं होता है जिस प्रकार इक्षु (गन्ना), क्षीर (दुग्ध) आदि पदार्थनिष्ठ माधुर्यविशेष का वाणी से अन्तर प्रतिपादित करना सम्भव नहीं होता है। इसमें स्मृतिवाक्य प्रमाण है– '**इदं...शक्यते**' अर्थात् 'वह विशेष ऐसा है'–इत्याकारक निर्देश करने के लिये गुरु भी समर्थ नहीं होता है।' अतः निर्वितर्का समापत्ति व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार अग्रिम सूत्र के लक्ष्य का निश्चय करके भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं–'**निर्वितर्काया इति**।' भाष्यार्थ स्पष्ट है। सूत्र है–'**स्मृतिपरिशुद्धाविति**।'

योगवार्त्तिकम्

यतः स्मृतिपरिशुद्धौ सत्यां जायते तथा स्वरूपशून्येव भवति अतोऽर्थमात्रस्य निर्भासो यत्रेत्यर्थमात्रनिर्भासाऽखिलविकल्पशून्या [1]या समापत्तिः सा निर्वितर्केत्यर्थः। पदानि क्रमतो व्याचष्टे–या शब्देति। शब्दसंकेतात् श्रुतानुमानरूपज्ञाने या विकल्पारूढा स्मृतिः चिन्ता सवितर्ककालेऽप्यनुवर्त्तते तदपगमे सतीत्याद्यपदार्थः। शब्दसंकेतस्यात्र स्मृतिहेतुत्वं स्वगोचर-ज्ञानद्वारा बोध्यम्। संकेतश्च शब्दार्थयोः कल्पिताभेदमात्र इत्यतः संकेतस्मृतौ तन्मूलकज्ञाने चाभेदविकल्प औत्सर्गिक इति। शब्दविकल्पशून्यत्वे हेतुमुक्त्वा ज्ञानविकल्पशून्यत्वे हेतुमाह– स्वमिवेति। इवकारो भिन्न[2]क्रमेण त्यक्त्वेतिपदानन्तरं योजनीयः। त्यागसादृश्यं चाग्रहणमिति। तृतीयपदस्यार्थमाह–पदार्थमात्रेति। तस्याप्यर्थमाह–ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवतीति। सा निर्वितर्केति। एवंनिर्भासा या समापत्तिः सा निर्वितर्केत्यर्थः। तदेवं सूत्राभ्यां प्रतिपादितौ सवितर्कनिर्वितर्कयोगौ सविकल्पनिर्विकल्पशब्दाभ्यामपि शास्त्रेषूच्येते, वितर्कविचारेत्यादिसूत्रे

---

1. ख ग घ च छ – **या समापत्तिः सा निर्वितर्केत्यर्थः। पदानि क्रमतो व्याचष्टे – या शब्देति। शब्दसंकेतात् श्रुतानुमानरूपज्ञाने या विकल्पारूढा** उपलभ्यते, क – या..रूढा नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **क्रमेण**, ख – **क्रमे**।

च यः स्थूलविषयकाभोगो वितर्क इत्युक्तं स एवात्र सवितर्कनिर्वितर्कसमापत्तिरूपेण द्विधोक्त इति। नन्वस्य निर्वितर्कसाक्षात्कारस्य विषयः किमवयवाः, किं वाऽवयवी? आद्ये वक्ष्यमाण-निर्विचारसमापत्त्या सहैकविषयत्वापत्तिः, अन्त्येऽवयविनः कल्पितत्वेन तद्गोचरनिर्वितर्काया विकल्पशून्यत्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्यावयविनं व्यवस्थापयन् अवयविविषयकत्वमेवास्य वृद्ध-वाक्यादवधारयति—तथा चेत्यादिना लोक इत्यन्तेन। व्याख्यातम् पूर्वाचार्यैरिति शेषः। तस्या निर्वितर्काया गवादिर्घटादिर्वा लोक आलम्बनमित्यन्वयः। नन्ववयविनि किं प्रमाणम्? तत्राह—एक बुद्ध्युपक्रम इति। एका गौरिति बुद्धिमुपक्रमत आरभत इत्येकबुद्ध्युपक्रमः। अतो नावयवानामनेकतयाऽवयविव्यवहारनिर्वाहकत्वमिति भावः। नन्वेवमप्येकप्रत्ययानुरोधादेकं विज्ञानमात्रमेवावयविव्यवहार[1]हेतुरस्तु? तत्राह—अर्थात्मेति। अर्थात्मा=दृश्यस्वरूपः, विज्ञान-मात्रत्वे स्वस्य स्वदृश्यत्वानुपपत्तिः, कर्मकर्तृविरोधादिति भावः। नन्वेवमवयवेभ्योऽ-वयविनोऽतिरेके कपालं घटो जात इत्यादिरूपोऽवयवावयविनोरभेदप्रत्ययो न स्यादित्या-शङ्कामपाकरोति—अणुप्रचयविशेषात्मेति। अणुनामेव [2]प्रचयाख्यसंयोगनिमित्तको यो विशेषः परिणामरूपस्तत्स्वरूप इत्यर्थः। तथा च सामान्यविशेषयो[3]र्भेदाङ्गीकाराद् अभेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न एवेति भावः। न च भेदाभेदयोर्विरोध इति वाच्यम्, भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वात्, अभेदस्यावि-भागरूपत्वादिति। अयं चाविभागो न लक्षणानन्यत्वम्, लक्षणभेदकालेऽप्यभेदप्रत्ययात्; किं त्वाधाराधेयभाववत्स्वरूपसम्बन्धविशेष एव दुग्धजलयोरिवेति। एतत्सर्वं परिणामसूत्रे विशिष्य प्रतिपादयिष्यति[4] भाष्यकारः। ननु यद्यवयवी स्वीकृतस्तर्हि तस्यैकावयवनाशे नाशा-पत्त्याऽनुपलब्धिप्रसङ्गः, किं चावयविनो नित्यत्वे सर्वदा कार्यकारिताप्रसङ्गः, अनित्यत्वेऽस-दुत्पादतः शशशृङ्गाद्यपि कारणव्यापारादुत्पद्येतेत्याशङ्कामपाकरोति—स चेति। स च स्थूलोऽव-यवी, स्वकारणानां भूतसूक्ष्माणां साधारणः [5]प्रत्येकं परिसमाप्नोति न तु द्वित्वादिवद्व्या-सज्यवृत्तिः, एकावयवव्यवधानेऽप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। अत एकावयवनाशेऽप्यवयवान्तरेऽव-यव्यवस्थानात्तदुपलब्धिः। अवयवविभागविशेष एव चावयविनाशकः। स च विशेषो जातिरूपः फलबलात् कल्प्यत इति भावः। तथाऽऽत्मभूतः सदैव भूतसूक्ष्मेष्वनुगतः, नातः शशादौ शृङ्गाद्युत्पत्तिप्रसङ्गः। तत्र प्रमाणमाह—फलेन व्यक्तेनानुमित इति। अभिव्यक्तिलक्षणकार्या-नुमितः, असदभिव्यक्तौ सर्वत्र सर्वाभिव्यक्तिप्रसङ्गात्। ननु तर्हि सर्वदैवाभिव्यक्तिः कुतो न भवति? तत्राह—स्वव्यञ्जकेति। स्वाभिव्यक्तिहेतुर्यत्कारणं तदेवाञ्जनमभिव्यञ्जनं कारणं यस्य तथाभूतः सन्नाविर्भवति वर्त्तमानावस्थां प्राप्नोति, न सर्वदा; तथा धर्मान्तरोदयकाले च

1. क – निर्वाहे (व्यवहार पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग घ च छ – निर्वाहे नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – प्रचयाख्यसंयोग०, ख – संयोगप्रचयाख्य०।
3. क छ – भेद०, ख ग घ च – भेदाभेद०।
4. क ग – स्वयं (प्रतिपादयिष्यति पश्चात्) उपलभ्यते, ख घ च छ – स्वयं नोपलभ्यते।
5. क घ च छ – प्रत्येकं परिसमाप्नोति, ख ग – प्रत्येकं परिसमाप्तो धर्मः।

तथाभूतः सन्नाविर्भवति वर्त्तमानावस्थां प्राप्नोति, न सर्वदा; तथा धर्मान्तरोदयकाले च मुद्गरपातादिना तिरोभवति अतीतावस्थां प्राप्नोति स [1]एवावयवानां धर्मोऽवयवीत्युच्यत इत्यर्थः। अतो नोक्तशङ्काऽवकाशः, कार्यनित्यत्वेऽप्यभिव्यक्तस्यैव कार्यस्य स्वकार्यकारित्वादिति भावः। स्यादेतद्—अभिव्यक्तिरपि नित्याऽनित्या वा? आद्ये सर्वदैवाभिव्यक्तिकार्यप्रसङ्गः, अन्त्ये[2]ऽवयव्यादेरेवानित्यत्वमभिव्यक्तिवदस्तु, व्यर्थमभिव्यक्तिकल्पनमिति? उच्यते—अतीतानागतावस्थावत्त्व[3]स्वरूपमनित्यत्वं घटादावभिव्यक्तौ चेष्यत एव, आद्यन्तयोः कार्यस्यात्यन्तासत्त्वप्रतिषेधाय ध्वंसादिप्रतियोगित्वस्यैव निषेधात्, अतीतानागतावस्थयोर्ध्वंसप्रागभावस्थलाभिषेकमात्र एवास्माकं विशेषात्। अभिव्यक्तिकल्पना च न व्यर्था, घटोऽनागतो घटोऽतीत इति व्यवहारवद् घटो वर्तमान इति व्यवहारस्यापि घटमात्रेणासंभवाद् [4]घटस्यावस्थात्रयसाधारण्येनातीतादिकालेऽपि वर्त्तमानत्वव्यवहारप्रसङ्गात्। न चैवमभिव्यक्तेरप्यवस्थात्रय[5]कल्पना भवत्येवेति वाच्यम्, बीजाङ्कुरादिवत् प्रामाणिकत्वेनादोषत्वस्य सांख्यसूत्रेणोक्तत्वात्। किं च सत एवाभिव्यक्तिरित्येव सत्कार्यवादिनो नियमः, अभिव्यक्तेश्चाभिव्यक्त्यन्तरास्वीकारेण तस्या असत्या एवोत्पादेऽपि न क्षतिः; कार्याणामनागतावस्थैवाभिव्यक्तेरप्यनागतावस्था, सैव चाभिव्यक्त्युत्पत्तौ नियामिका। अतः शशशृङ्गादिवैलक्षण्यम्। [6]यथा परैरुत्पत्तेरुत्पत्तिरभावे चाभावः स्वरूपमेवेष्यते तथैवाभिव्यक्तेरभिव्यक्तिः स्वरूपमेवेत्यस्माभिरप्युपगन्तव्यं घटादेरतीतानागता[7]वस्थे तदभिव्यक्तेरप्यतीतानागतावस्थे इति। अथैवमभिव्यक्तिरपि घटस्वरूपमेवास्त्विति चेत्? न; अतीताद्यवस्थघटेनाभिव्यक्तिव्यवहारप्रसङ्गस्योक्तत्वादिति दिक्।

स्मृति के परिशुद्ध होने पर चित्त स्वरूपशून्य के समान हो जाता है। अतः अर्थमात्र का निर्भास अर्थात् समस्त विकल्प से शून्य '**अर्थ**' (पदार्थ) मात्र का अवबोधन कराने वाली जो समापत्ति है, उसे '**निर्वितर्का-समापत्ति**' कहते हैं। अब भाष्यकार सूत्रगत पदों की व्याख्या क्रमशः करते हैं—'**या शब्देति**।' 'शब्दसंकेत से श्रुत और अनुमानरूप ज्ञान में जो विकल्पारोपित स्मृतिरूप चिन्ता सवितर्ककाल में रहती है, उसका भी अपगम होने पर'—यहाँ तक सूत्र के प्रथम पद '**स्मृतिपरिशुद्धौ**' का अर्थ है। यहाँ शब्दसंकेत में स्मृतिहेतुत्व स्वविषयक ज्ञान द्वारा समझना चाहिये और '**संकेत**' शब्द तथा अर्थ के कल्पित अभेदमात्र को कहते हैं। अतः 'संकेतस्मृति' और तन्मूलकज्ञान में अभेदात्मक विकल्प औत्सर्गिक (स्वाभाविक) है। इस प्रकार

---

1. क ख घ च छ – **एव**, ग – **एषः**।
2. क घ च छ – **अवयव्यादेरेव**, ख ग – **घटादिरिव**।
3. क घ च छ – **स्वरूपं**, ख ग – **रूपम्**
4. क ख घ च छ – **घटस्य**, ग – **घटादि०**।
5. क घ च छ – **कल्पना भवत्येवेति**, ख ग – **कल्पनेऽनवस्थेति**।
6. क ख ग घ – **तथा हि** (**यथा** प्राक्) उपलभ्यते, च छ – **तथा हि** नोपलभ्यते।
7. क घ – **अवस्थैव**, ख ग – **अवस्थे एव च**, च छ – **अवस्थे**।

शब्दसम्बन्धी विकल्पात्मक शून्यता (राहित्य) में हेतु को बतलाकर भाष्यकार ज्ञानसम्बन्धी विकल्पात्मक शून्यता में हेतु को बतलाते हैं–'**स्वमिवेति**।' यहाँ पाठक्रम का त्याग करके '**इव**' पद का '**त्यक्त्वा**' पद के साथ भिन्न क्रम से अन्वय करना चाहिये अर्थात् '**त्यक्त्वा इव**' ऐसा अन्वय समझना चाहिये। और यह त्याग का सादृश्य 'प्रज्ञा' को ग्रहण न करना है। भाष्यकार सूत्रगत तृतीय पद का अर्थ करते हैं–'**पदार्थमात्रेति**।' यहाँ '**अर्थमात्र**' पद का.अर्थ है–पदार्थमात्र। भाष्यकार '**पदार्थमात्र**' पद का अर्थ करते हैं–'**ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवतीति**।' अर्थात् चित्त ग्राह्यस्वरूप को प्राप्त हुए के समान हो जाता है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**सा निर्वितर्केति**।' इस प्रकार (उपरिनिर्दिष्ट स्वरूप से) निर्भासित होने वाली जो समापत्ति है, उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इन दो सूत्रों (१/४२,४३) के द्वारा प्रतिपादित सवितर्क तथा निर्वितर्कयोग को शास्त्रों में सविकल्प और निर्विकल्प शब्दों से भी अभिहित किया गया है। '**वितर्क...सम्प्रज्ञातः**' (१/१७) सूत्र में जिस स्थूलविषयक आभोग को '**वितर्क**' शब्द से कहा गया है, वही इन दो सूत्रों में सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के रूप से दो प्रकार का प्रतिपादित हुआ है।

शङ्का–इस निर्वितर्क साक्षात्कार का विषय '**अवयव**' रूप है अथवा '**अवयवी**' रूप है? यदि निर्वितर्का समापत्ति के विषय को अवयवरूप माना जाय तो वक्ष्यमाण निर्विचारा समापत्ति के विषय के साथ इस निर्वितर्का समापत्ति के विषय की एकरूपता अनुपपन्न रहेगी। यदि इस अनुपपत्ति के अपसारण के लिये निर्वितर्का समापत्ति के विषय को अवयविरूप माना जाय तो '**अवयवी**' के कल्पित (अवास्तविक) रहने से कल्पित अवयविविषयक समापत्ति को विकल्पशून्य कैसे कहा जा सकेगा? अर्थात् इस स्थिति में निर्वितर्का समापत्ति का विकल्पशून्यत्व उपपंन्न न हो सकेगा?

समाधान–पूर्वपक्षी की ओर से ऐसी आशंका करके भाष्यकार '**अवयवी**' (अवय-विवाद) की स्थापना करते हुए प्रस्तूयमान निर्वितर्का समापत्ति की अवयविविषयता को वृद्ध पुरुषों के अनुभव के अनुसार सुनिश्चित करते हैं–'**तथा चेत्यादिना...लोक इत्यन्तेन**' अर्थात् '**तथा च**' से लेकर '**लोकः**' तक के वाक्य के द्वारा अन्त में '**व्याख्यातं पूर्वाचार्यैरिति**' अंश को जोड़ लेना चाहिये। अर्थात् निर्वितर्का समापत्ति का घटादि अथवा गवादि लोक (विषय) आलम्बन बनता है।

शङ्का–'अवयवी' की सत्ता में प्रमाण क्या है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एकबुद्ध्युपक्रम इति**।' '**एका गौः**' अर्थात् यह एक गाय है, इत्याकारक बुद्धि का जो आरम्भक अर्थात् जनक होता है, उसे ही यहाँ '**एकबुद्ध्युपक्रम**' शब्द से कहा गया है। अतः अवयवों के अनेक होने से अनेक

अवयव '**अवयवी**' की एकता (एकत्व) के निर्वाहक नहीं कहे जा सकते हैं। यह '**एकबुद्ध्युपक्रम**' पद का अभिप्राय है। अतः एकत्व निर्वाहक '**अवयवी**' सिद्ध होता है।

शङ्का–इस स्थिति में एक प्रत्यय के अनुरोध से एक विज्ञानमात्र को ही अवयवी के व्यवहार का हेतु मान लिया जाय? और तब भी योगाभिमत '**अवयवी**' की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**अर्थात्मेति**।' '**अर्थात्मा**' शब्द का अर्थ है–दृश्यस्वरूप अर्थात् '**अवयवी**' दृश्यात्मक होता है। अवयवी को विज्ञानात्मक मानने पर विज्ञान अपने (विज्ञान) रूप को विषय नहीं बना सकता है। अन्यथा कर्मकर्तृ-विरोध आयेगा। अर्थात् एक ही विज्ञान को कर्त्ता और कर्म दोनों प्रकार का मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असम्भव है।

शङ्का–अवयवी को अवयवों से भिन्न मानने पर '**कपालं घटो जातः**' अर्थात् 'कपाल घट हो गया'–इस प्रयोग के अनुसार होने वाला अवयव और अवयवी का अभेद-ज्ञान नहीं बन सकेगा?

समाधान–भाष्यकार उक्त शंका को निरस्त करते हैं–'**अणुप्रचयविशेषात्मेति**।' अणुओं का ही प्रचयाख्यसंयोग के कारण जो परिणामविशेष होता है, वही '**अवयवी**' कहलाता है अर्थात् परमाणुरूप अवयवों के परिणामविशेष को '**अवयवी**' कहते हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष का भेदसम्बन्ध स्वीकार करने से उनका (अवयव तथा अवयवी का) अभेदसम्बन्ध भी उपपन्न हो जाता है। क्योंकि सांख्ययोगनय में कार्यकारण में भेदाभेदसम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

शङ्का–भेदाभेद में परस्पर विरोध है। अतः सामान्यविशेषात्मक अवयवावयवी में भेदाभेद की बात कैसे उपपन्न हो सकती है?

समाधान–पूर्वपक्षी को ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भेद अन्योन्याभावरूप होता है और अभेद अविभागरूप। यह '**अविभाग**' लक्षणानन्यत्व नहीं है, क्योंकि लक्षणभेदकाल में भी अभेदप्रतीति रहती है। किञ्च आधाराधेयभाव के समान '**अविभाग**' स्वरूपसम्बन्धविशेष ही है। जिस प्रकार दूध और जल में स्वरूपसम्बन्ध-विशेषरूप 'अविभाग' है, उसी प्रकार अवयव-अवयवी में अविभागात्मक स्वरूप-सम्बन्धविशेष निहित रहता है। परिणामप्रतिपादक सूत्र (३/९-१६) में भाष्यकार इसी तथ्य का विशदीकरण करेंगे।

शङ्का–(बौद्धाचार्य प्रश्न करते हैं कि) यदि अवयव से भिन्न अवयवी की सत्ता (योगमतानुसार) स्वीकार कर ली जाय तो भी अवयवी के एक अवयव का नाश होने पर अवयविनाश से उसकी उपलब्धि (ज्ञान) न होने का प्रसंग आयेगा–यह पहली दोषपूर्ण स्थिति है। यदि इस दोषपूर्ण स्थिति के निवारण के लिये अवयवी

को नित्य माना जाय तो (घटादि) अवयवी से सर्वदा (जलाहरणादि) अर्थक्रिया-कारित्व का प्रसङ्ग आयेगा—यह दूसरी दोषपूर्ण स्थिति है। यदि इस अव्यवस्था के दूरीकरण के लिये '**अवयवी**' को अनित्य माना जाय तो असत् अवयवी की उत्पत्ति के समान कारणव्यापार से असत् शशशृङ्गादि की भी उत्पत्ति होने लगेगी—यह तीसरी दोषपूर्ण स्थिति है?

समाधान—उक्त शंका का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**स चेति**।' यह घटादि अवयवी '**स्थूल**' है। यह अपने कारणभूत भूतसूक्ष्मों के प्रत्येक अवयव में साधारण धर्म वाला होकर रहता है न कि द्वित्वादि के समान यह अपने कारण परमाणुओं में व्यासज्यवृत्तिक है। भाव यह है कि जैसे द्वित्वधर्म दो में ही रहता है, अन्य (एक या तीन आदि) में नहीं, ऐसा अवयवी नहीं है। अवयवी, अवयवों में व्यासज्यवृत्ति से नहीं अपितु '**पर्याप्तिसम्बन्ध**' से अनेक में विद्यमान रहता है। किञ्च अवयवी को व्यासज्यवृत्ति वाला मानने पर अवयविगत एक अवयव का भी व्यवधान (व्यवहितता) होने पर अवयवी के प्रत्यक्ष न होने का प्रसङ्ग आयेगा। जब कि अवयवी को भूतसूक्ष्मों का साधारण धर्म अर्थात् पर्याप्तिसम्बन्ध वाला मानने पर एक अवयव का नाश होने पर भी अवयवान्तरों में अवयवी की स्थिति बनी रहने से अवयवी का प्रत्यक्ष होना बन पायेगा। अतः अवयविगत अवयवों का विभागविशेष ही अवयवी का नाशक होता है (न कि योगमत में वैशेषिक के समान अवयविगत एक अवयव का नाश होने पर अवयवी का नाश होता है)। और वह विभागविशेष फलबल से जातिरूप ही कल्पित अर्थात् सिद्ध होता है। किञ्च यह अवयवी '**आत्मभूत**' अर्थात् कारणभूत भूतसूक्ष्मों में सर्वदा 'अनुगत'= अन्वित रहता है, इससे खरगोश आदि में (अलीक) शृङ्गादि की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता है। भाष्यकार इसी को प्रमाणित करते हैं—'**फलेन व्यक्तेनानुमित इति**।' अवयवी अपने अभिव्यक्तिलक्षणक कार्य से अनुमित होता है। असद्रूप अवयवी (कार्य) की अभिव्यक्ति मानने पर सर्वत्र सभी पदार्थों की अभिव्यक्ति होने लगेगी।

शङ्का—यदि कार्य, कारण में अनुगत ही रहता है, तो सर्वदा कार्य अर्थात् अवयवी की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**स्वव्यञ्जकेति**।' तत्तत् कार्य की अभिव्यक्ति का हेतुभूत जो कारण होता है, वही अभिव्यञ्जन की कारणता को प्राप्त होता हुआ ही कार्य को वर्तमानावस्था प्रदान करता है, सर्वदा नहीं। इसी प्रकार धर्मान्तर के उत्पत्तिकाल में मुद्गर-प्रहार से वह तिरोभूत अर्थात् अतीतावस्था को प्राप्त करता है। यही अवयवों का धर्म 'अवयवी' कहलाता है। अतः पूर्वपक्षी की पूर्वोल्लिखित शंका निराधार सिद्ध होती है। कारण में कार्य के अनुगत रहने पर भी सर्वदा

अर्थक्रियाकारित्व की अव्यवस्था नहीं आती है, क्योंकि (कारण में कार्य के सूक्ष्मतया अवस्थित रहने से) कार्य के नित्य होने पर भी अभिव्यक्त कार्य में ही अर्थक्रियाकारिता सिद्ध होती है।

शङ्का—यदि सिद्धान्ती के उपर्युक्त मन्तव्य को स्वीकार कर लिया जाय तो भी सिद्धान्ती यह बतावें कि अभिव्यक्ति भी नित्य है अथवा अनित्य? यदि अभिव्यक्ति को नित्य कहा जाय तो सर्वदा ही अभिव्यक्तिरूप कार्य का प्रसंग आयेगा और यदि अभिव्यक्ति को अनित्य माना जाय तो अभिव्यक्ति की भाँति अवयवी की भी अनित्यता प्रसक्त होगी। अतः अभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है।

समाधान—इस पर बताया जा रहा है—योगमत में घटादि के अभिव्यक्त होने में अतीत और अनागतावस्थरूप अनित्यता तो स्वीकृत ही है। क्योंकि कार्य के आदि और अन्त में कार्य की आत्यन्तिक असत्ता का प्रतिषेध करने के लिये ही उसमें ध्वंसादि प्रतियोगित्व का निषेध किया जा रहा है। अतः न्यायवैशेषिकों के ध्वंसाभाव और प्रागभाव के स्थान पर सांख्ययोगमत में कार्य की अतीतावस्था और अनागतावस्था को मानने में हमारा यही अभिप्राय निहित है। इस प्रकार कार्याभिव्यक्ति की कल्पना भी निष्प्रयोजन नहीं है, क्योंकि '**घटोऽनागतः, घटोऽतीतः**' अर्थात्—'घट अनागतलक्षण वाला है, घट अतीतलक्षण वाला है' इत्याकारक व्यवहार के समान '**घटो वर्तमानः**' अर्थात् घट वर्तमानलक्षण वाला है—इत्याकारक व्यवहार भी घट की अभिव्यक्ति माने विना घटमात्र से संभव नहीं है, क्योंकि घट के अवस्थात्रय में विद्यमान रहने पर अतीतादिकालिक घट में वर्तमानावस्था (**घटो वर्तमानः**) के व्यवहार का प्रसंग आयेगा।

शङ्का—तब तो कार्य की भाँति अभिव्यक्ति की भी अतीतादि तीनों अवस्थाएँ माननी पड़ेंगी?

समाधान—पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बीजांकुर की (अनादिता की) भाँति अभिव्यक्ति के प्रामाणिक होने से उसके अवस्थात्रय मानने में किसी प्रकार दोष नहीं आता है, ऐसा सांख्यसूत्र द्वारा कहा गया है। किञ्च सत् पदार्थ ही अभिव्यक्त होता है, ऐसा सत्कार्यवादियों का सिद्धान्त है और अभिव्यक्ति का अभिव्यक्त्यन्तर स्वीकार न करने से उस असद्भूत अभिव्यक्ति की ही उत्पत्ति मानने में भी कोई हानि नहीं है। कार्यों की अनागतावस्था ही अभिव्यक्ति की भी अनागतावस्था है और वही अनागतावस्था अभिव्यक्तिरूप उत्पत्ति में नियामिका है। अतः अभिव्यक्ति का असत्त्व शशशृङ्गादि से विलक्षण है। जिस प्रकार दूसरे लोग उत्पत्ति में उत्पत्ति को उत्पत्तिस्वरूप और अभाव में अभाव को अभावस्वरूप मानते हैं, उसी प्रकार हमारे मत में (योगदर्शन में) भी अभिव्यक्ति में अभिव्यक्ति

को अभिव्यक्तिस्वरूप मानना चाहिये। घटादि की अतीत और अनागत अवस्थाएँ होने पर उस अभिव्यक्ति की भी अतीत और अनागत अवस्थाएँ होती हैं।

शङ्का–तो फिर अभिव्यक्ति को भी घटस्वरूप ही मान लिया जाय?

समाधान–ऐसा नहीं है, अन्यथा अतीताद्यवस्थाक घट से भी अभिव्यक्ति के व्यवहार का प्रसङ्ग आयेगा।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार वैशेषिकों के प्रागभाव का खण्डन करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यत्तु वैशेषिकाः प्रागभावमेव कार्योत्पत्तिनियामकं कल्पयन्ति, तदसत्–अभावकल्पनापेक्षया भावकल्पने लाघवात्। भावानां दृष्टत्वाद्, अन्यानपेक्षत्वाच्च। अपि चाभावेषु स्वतो विशेषे भावत्वापत्तिः, प्रतियोगिरूपविशेषश्च प्रतियोग्य[1]सत्ताकाले नास्ति। अतोऽभावस्याविशिष्टतया सर्वत्र सर्वोत्पत्तिप्रसङ्ग एवेति।

और जो वैशेषिक लोग प्रागभाव को ही कार्य की उत्पत्ति का नियामक मानते हैं वह उचित नहीं है, क्योंकि अभाव की कल्पना करने की अपेक्षा भाव की कल्पना करने में ही लाघव है, क्योंकि भाव पदार्थ दृष्ट होता है और उसे अन्य की अपेक्षा नहीं रहती है। किञ्च अभावों में स्वतः विशेष माना जाय तो अभाव को भावरूप कहना पड़ेगा और प्रतियोगिरूप विशेष, प्रतियोगी के असत्ताकाल में नहीं रहता है। अतः अभाव के सामान्यरूप होने से सर्वत्र सब पदार्थों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग उठेगा।

सम्प्रति, अवयवरूप और विज्ञानरूप अवयवी के मत को स्वीकार करने वाले वैनाशिकों के विषय में विचार प्रस्तुत है–

योगवार्त्तिकम्

अवयवेभ्यो विज्ञानाच्चा[2]तिरिक्ततया हेतुभूतं ताभ्यां वैधर्म्यजातमवयविनि दर्शयति–योऽसाविति। षड्विशेषणानि यथासंभवमवयवज्ञानाभ्यां वैधर्म्याणि। वैशेषिकैस्त्र्यणुकशब्देनोच्यते यः [3]परिमाणविशेषः स एवात्राणीयानित्युक्तः, कार्येषु परमसूक्ष्मत्वाभावादिति। अवयवादिविलक्षणजलाहरणादिव्यवहारकारितयाऽप्यतिरिक्तोऽवयवीति प्रतिपादयति–तेनावयविनेति। अवयवातिरिक्तोऽवयवी नास्तीत्यवयवा एव निर्विकल्पसाक्षात्कारविषया इति वैनाशिकमतमपाकरोति–यस्य पुनरिति। यस्य मते स प्रचयनिमित्तको विशेषोऽवयव्याख्योऽवस्तुकस्तुच्छः सूक्ष्मं चावयवाख्यं कारणं न प्रत्यक्षगोचरं तस्य मतेऽवयव्यभावात् प्रायेण सर्वमेव

1. क ग घ च छ – **असत्ता०**, ख – **सत्ता०**।
2. क घ च छ – **अतिरिक्ततया**, ख ग – **अतिरिक्ततायां**।
3. क ख घ च छ – **परिणाम०**, ग – **परिमाण०**।

मिथ्याज्ञानमित्यायातम्, यतोऽतद्रूपप्रतिष्ठमेव मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सर्वस्य मिथ्याज्ञानत्वे सम्यग्ज्ञानमपि किं स्यात्? न स्यादेव विषयाभावेन क्वापि, ज्ञानस्य सद्विषयकत्वासिद्धेरित्यर्थः। तत्र हेतुः—यद्यदिति। नन्ववयवज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वं स्यादिति चेत्? न; सूक्ष्मं चेत्यादिनाऽवयवानामप्रत्यक्षत्वस्योक्तत्वात्। अप्रत्यक्षेष्ववयवेषु लिङ्गं चावयव्येव, तस्या[1]**भावात्** [2]**पूर्वावयवज्ञानं प्रमाणाभावादेवासिद्धमित्याशयः। ज्ञानज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वं कदाचित् स्यादित्याशयात् प्रायेणेत्युक्तम्।** [3]**अवयव्यभावे संघाताश्रितत्वेन परैरभ्युपगतस्य ज्ञानस्यापि रूपादिव**[4]**न्मिथ्यात्वे सर्वं ज्ञानं भ्रमो ज्ञानत्वादित्यनुमानसंभवाच्चेति। स्वसिद्धान्तमुपसंहरति— तस्मादिति। सवितर्कायाः कदाचिद् विकल्पेनाप्युपपत्तिरित्याशयेन निर्वितर्काया इत्युक्तम्॥४३॥**

अवयव और विज्ञान से भिन्न होने से इन दोनों के हेतुभूत वैधर्म्यजात (अर्थात् विपरीत धर्मों की स्थिति) को भाष्यकार अवयवी में प्रदर्शित करते हैं—'**योऽसाविति**।' अवयवी के यथासंभव छह विशेषण (एक, महान् अणुयुक्त, स्पर्शयुक्त, क्रियायुक्त और अनित्य) अवयव और विज्ञान से विपरीतधर्म (वैधर्म्य) वाले हैं। वैशेषिक लोग त्र्यणुक शब्द से जिस परिमाणविशेष का अभिधान करते हैं, वह योगमत में अणीयान् (अणुपरिमाण वाला) कहलाता है, क्योंकि कार्यों में परमसूक्ष्मता का अभाव रहता है। अवयवादि से विलक्षण, जलाहरणादि के व्यवहार का कारण होने से भी अवयव से अतिरिक्त अवयवी सिद्ध होता है, ऐसा भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—'**तेनावयविनेति**।' अर्थात् उसी अवयवी के द्वारा यथायोग्य सब व्यवहार किये जाते हैं।

शङ्का—अवयव से अतिरिक्त अवयवी नहीं होता है, अतः अवयव ही निर्विकल्पक साक्षात्कार के विषय बनते हैं।

समाधान—भाष्यकार वैनाशिकों के इस मत का निरसन करते हैं—'**यस्य पुनरिति**।' जिस बौद्धमत में प्रचयनिमित्तक (अवयवसमूह कारणक) 'अवयविरूप' (अवयव्याख्य) विशेष '**अवस्तुक**' अर्थात् तुच्छ है तथा '**सूक्ष्म**' अर्थात् अवयवाख्य कारण वाला होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसके मत में अवयवी का अभाव होने से प्रायः सभी ज्ञान मिथ्यारूप ही सिद्ध होंगे, क्योंकि जो अपने रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है, वही तो मिथ्याज्ञान है और जब सभी ज्ञान मिथ्यारूप सिद्ध हो जायेंगे, तब विषयाभाव के कारण सम्यग्ज्ञान ही नहीं रह पायेगा, क्योंकि ज्ञान सद्विषयक ही

---

1. क ख घ च छ – **अभावात्**, ग – **अभावस्तु**।
2. क घ च छ – **पूर्व०** उपलभ्यते, ख ग – **पूर्व०** नोपलभ्यते।
3. ग – **वस्तुतस्तु (अवयवि० प्राक्)** उपलभ्यते, क ख घ च छ – **वस्तुतस्तु** नोपलभ्यते।
4. क ख घ च छ – **मिथ्यात्वे**, ग – **मिथ्यात्वम्**।

होता है। भाष्यकार इसमें हेतु उपन्यस्त करते हैं–'**यद्यदिति**।' अर्थात् जो-जो पदार्थ भासते हैं, वे सब अवयविरूप से ही प्रतीत होते हैं।

शङ्का–अवयव ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान मान लिया जाय?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि '**सूक्ष्मं च**' इत्यादि के द्वारा भाष्यकार ने सूक्ष्म होने के कारण अवयवों का प्रत्यक्ष न होना प्रतिपादित किया है। अतः अप्रत्यक्षीभूत अवयवों का लिङ्ग 'अवयवी' ही होता है अर्थात् अवयवी-लिङ्ग से उसके अवयवों का अनुमान किया जाता है। अवयवी को न मानने पर अवयवज्ञान का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। फलतः अवयव की सत्ता भी असिद्ध हो जायेगी। क्योंकि मिथ्याज्ञानविषयक ज्ञान का सम्यग्ज्ञानत्व अर्थात् प्रमात्व कदाचित् ही हो सकेगा, इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये भाष्यकार ने '**प्रायेण**' शब्द का प्रयोग किया है। दूसरी बात यह है कि अवयवी की सत्ता न मानने पर दूसरों के द्वारा संघाताश्रितत्वरूप से स्वीकृत ज्ञान का भी रूपादि के समान मिथ्यात्व होने पर सभी ज्ञान 'ज्ञानत्व' हेतु के कारण भ्रमपूर्ण हो जायेंगे और '**सर्वं ज्ञानं भ्रमो ज्ञानत्वात्**' यह अनुमान-प्रयोग भी सम्भव हो जायेगा। इस प्रकार अवयवी की सत्ता न मानने वालों के मत का खण्डन करके भाष्यकार सम्प्रति, योगसिद्धान्त को उपसंहृत करते हैं–'**तस्मादिति**।' इस युक्ति से महान्, स्थूल इत्यादि व्यवहार वाला अवयवी पदार्थ है, जो निर्वितर्का समापत्ति का विषय बनता है। सवितर्का समापत्ति की कदाचित् विकल्प से भी उपपत्ति होती है, इस आशय से भाष्यकार ने यहाँ '**निर्वितर्कायाः**' पद का प्रयोग किया है। सरलार्थ यह है कि सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकार की सवितर्क समापत्ति का विषय स्थूल अवयवी होता है ॥४३॥

बालप्रिया–

'**ज्ञानज्ञानस्य**'–यहाँ ज्ञानविषयक ज्ञान का अभिप्राय मिथ्याज्ञानविषयक ज्ञान है। ऐसे ज्ञान का प्रमात्व नहीं होता है, क्योंकि व्यधिकरण में (मिथ्याज्ञान और ज्ञान दोनों के भिन्न अधिकरणों में रहने से) प्रकारकत्वाभाव रहता है। अतः भ्रान्त व्यक्ति का ज्ञान कभी अभ्रान्त नहीं हो सकता है ॥४३॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

एतयैव सविचारा निर्विचारा च[1] [2]सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥४४॥

---

1. **च**–नोपलभ्यते।
2. **सूक्ष्मा**–इति पाठान्तरम्।

इस (सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति की व्याख्या) से ही सूक्ष्मविषयिणी 'सविचारा' और 'निर्विचारा' समापत्तियाँ भी व्याख्यात हो गईं ॥४४॥

व्यासभाष्यम्

तत्र भूत[1]सूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते। या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु [2]समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवंस्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनै[3]व [4]स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति। प्रज्ञा च स्वरूपशून्ये[5]वार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। तत्र [6]महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्म[7]वस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति॥४४॥

उन (सविचारा तथा निर्विचारारूप समापत्तियों) में से अभिव्यक्त हुए धर्मों वाले तथा देश, काल और निमित्त के ज्ञान से विशिष्ट भूतसूक्ष्मों (तन्मात्राओं) में जो समापत्ति होती है, उसे 'सविचारा समापत्ति' कहते हैं। इस समापत्ति में भी (सवितर्का समापत्ति की भाँति) एक बुद्धि से ही गृहीत होने वाले, (तथा) उदित अर्थात् वर्तमानकाल के धर्मों से युक्त 'भूतसूक्ष्म' ध्येयरूप विषय को प्राप्त होकर समाधिप्रज्ञा में भासित होते हैं। और जो समापत्ति सब प्रकार से तथा सब ओर से भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक धर्मों से रहित किन्तु सभी धर्मों का आश्रय बनने (की योग्यता) वाले अर्थात् सभी धर्मों के आधारभूत भूतसूक्ष्मों में होती है, उसे 'निर्विचारा समापत्ति' कहते हैं। इस प्रकार का (देशकालनिमित्तानुभव से रहित) वह भूतसूक्ष्म इसी

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध म प फ भ म य र – **सूक्ष्मेषु**, ख ब – **सूक्ष्मकेषु**।
2. छ थ – **उदितधर्मशून्येषु (समापत्तिः पूर्वम्)** उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – **उदितधर्मशून्येषु** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – **एव**, द – **एवम्**।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **स्वरूपेण**, ख – **ग्राह्यरूपेण**।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **इव**, ज – **एव**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य र – **महत्**, प – **महा**।
7. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **वस्तु०** उपलभ्यते, घ प फ र – **वस्तु०** नोपलभ्यते।

रूप से (समाधि का) आलम्बन बनकर ही समाधि-प्रज्ञा के स्वरूप को उपरक्त करता है। इस प्रकार यह प्रज्ञा जब स्वरूपरहित सी होकर केवल ध्येयाकारमात्र होकर रहती है, तब यह 'निर्विचारा समापत्ति' कही जाती है। इन चार समापत्तियों में 'सवितर्का' तथा 'निर्वितर्का' समापति स्थूल पदार्थ को अपना विषय बनाती है और 'सविचारा' तथा 'निर्विचारा' समापत्ति सूक्ष्म पदार्थ को अपना विषय बनाती है। इस प्रकार से निर्वितर्का और निर्विचारा - इन दोनों में विकल्पराहित्य, इस निर्वितर्का समापत्ति के द्वारा प्रतिपादित किया गया है॥४४॥

तत्त्ववैशारदी

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। अभिव्यक्तो घटादिर्धर्मो यैस्ते तथोक्ताः। घटादिधर्मोपगृहीता इति यावत्। देश उपर्यधःपार्श्वादिः। कालो वर्तमानः। निमित्तं पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः। एवमाप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रवर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः। एवं तैजसस्य [1]परमाणोः गन्ध-रसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्रप्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः। एवं वायवीयस्य गन्धादितन्मात्ररहिताभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्याम्। एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात्। तदिदं निमित्तं भूतसूक्ष्माणाम्। एतेषां देशकालनिमित्तानामनुभवः, तेनावच्छिन्नेषु। नाननुभूतविशेषणा [2]विशेष्ये बुद्धिरुपजायत इत्यर्थः।

'एतयैवेति।' जिनसे घटादि धर्म अभिव्यक्त होता है, इस प्रकार के भूतसूक्ष्म अभिव्यक्तधर्मक कहे जाते हैं। इस प्रकार **'अभिव्यक्तधर्म'** पद से घटादिधर्म (कार्य) का संग्रह होता है। **'देश'** शब्द का अर्थ है—ऊपर, नीचे, पार्श्वादि। **'काल'** शब्द का अर्थ है—वर्तमान। **'निमित्त'** शब्द का अर्थ है—उत्पत्ति (परिणामप्रयोजक), जैसे गन्धतन्मात्रप्रधान पञ्चतन्मात्राओं से पार्थिव परमाणु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार गन्धतन्मात्र से रहित रसतन्मात्रप्रधान चार तन्मात्राओं से जलीय परमाणु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार गन्ध तथा रसतन्मात्र से रहित रूपतन्मात्रप्रधान तीन तन्मात्राओं से तैजस परमाणु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार गन्ध, रस तथा रूपतन्मात्र से रहित स्पर्शतन्मात्रप्रधान दो तन्मात्राओं से वायवीय परमाणु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार एकाकी शब्दतन्मात्र से आकाशीय परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भूतसूक्ष्म **'निमित्त'** बनते हैं अर्थात् यही भूतसूक्ष्मों का निमित्तत्व है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है कि—देश, काल और निमित्त के अनुभव से

---

1. थ द ध – **परमाणोः** उपलभ्यते (उभयत्र), क ख ग घ च छ ज झ त न – **परमाणोः** नोपलभ्यते (उभयत्र)।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **विशेष्ये बुद्धिः**, थ द ध – **बुद्धिर्विशेष्ये**।

अवच्छिन्न, अभिव्यक्त घटादि धर्म वाले भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति होती है, वह **'सविचारा'** कही जाती है। (तात्पर्य यह है कि) विशेष्यरूप भूतसूक्ष्म में अननुभूत विशेषण वाली बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। अर्थात् अभिव्यक्ति, देश, कालादि विशेषणों (धर्मों) के ज्ञान के विना केवल भूतसूक्ष्मरूप विशेष्य का ज्ञान नहीं हो सकता है।

बालप्रिया–

'पार्थिवस्य परमाणो...तन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः'–इस वाक्य से सुस्पष्ट है कि तन्मांत्र से पार्थिवादि परमाणु की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। इनमें कार्यकारणभावसम्बन्ध है। अतः 'तन्मात्र' को परमाणु का पर्याय नहीं समझना चाहिये। तन्मात्र और परमाणु दोनों भिन्न हैं।

'गन्धादितन्मात्ररहिताभ्याम्'–इस में 'आदि' पद से रसतन्मात्र और रूपतन्मात्र का ग्रहण किया जाता है।

तत्त्ववैशारदी

ननु सवितर्कया सह किं सारूप्यं सविचाराया इत्यत आह–तत्रापीति। पार्थिवो हि **परमाणुः पञ्चतन्मात्रप्रचयात्मैकबुद्धिनिर्ग्राह्यः। एवमाप्यादयोऽपि चतुस्त्रिद्व्येकतन्मात्रात्मान एकबुद्धिनिर्ग्राह्या वेदितव्याः। उदितो वर्तमानो धर्मस्तेन विशिष्टम्।** एतावता चात्र संकेतस्मृ-त्यागमानुमानविकल्पानुवेधः सूचितः। न हि प्रत्यक्षेण स्थूले दृश्यमाने परमाणवः प्रकाशन्ते, **अपि त्वागमानुमानाभ्याम्। तस्मादुपपन्नमस्याः संकीर्णत्वमिति।**

शङ्का–(पूर्वकथित) 'सवितर्का समापत्ति' के साथ 'सविचारा समापत्ति' का किस अंश में सारूप्य (समानधर्मता) है?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–**'तत्रापीति'**। पार्थिव परमाणु पञ्चतन्मात्रात्मक होता हुआ भी एक बुद्धि से गृहीत होता है अर्थात् एक बुद्धि का विषय बनता है। इसी प्रकार जलीयादि परमाणु भी (क्रमशः) चार, तीन, दो तथा एकतन्मात्रात्मक होते हुए भी एक बुद्धि से गृहीत (जानने योग्य) होते हैं। **'उदित'** शब्द का अर्थ है–वर्तमानधर्म, अर्थात् भूतसूक्ष्म वर्तमानधर्मविशिष्ट होता है। इससे इस सविचारा समापत्ति में भी संकेतस्मृति, आगम, अनुमान तथा विकल्पानु-**बिद्धता** सूचित होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण से (परमाणुनिर्मित) स्थूल पदार्थ के दिखाई पड़ने पर भी परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अपितु आगम और अनुमान प्रमाण से परमाणुओं का ज्ञान होता है। इस प्रकार (सवितर्का समापत्ति की भाँति) प्रस्तूयमान सविचारा समापत्ति में भी संकीर्णत्व उपपन्न होता है।

बालप्रिया–

'तस्मादुपपन्नमस्याः संकीर्णत्वमिति'–भाव यह है कि सवितर्क और निर्वितर्करूप स्थूल-

विषयक समापत्ति से; ध्येय विषय में शब्दादि का अभेदाध्यास और अनध्यासरूप साम्य रहने से, सूक्ष्मविषयक सविचार और निर्विचार समापत्ति भी कह दी गई है, ऐसा समझना चाहिये। परमाणुविषयिणी सविचारा समापत्ति में 'परमाणु' यह सूक्ष्म शब्द है, 'परमाणु' यह सूक्ष्म अर्थ (विषय) है और 'परमाणु' यह सूक्ष्म शाब्दबोध है। इस प्रकार योगिजन तीनों का योगाभ्यास के सामर्थ्य से प्रत्यक्ष करते हैं। यद्यपि ये रूपादि परमाणु शब्द, अर्थ और ज्ञान की दृष्टि से स्वभावतः भिन्न-भिन्न हैं तथापि 'परमाणु' इस सूक्ष्म शब्द से 'परमाणु' अर्थ और 'परमाणु' ज्ञान का जो सम्बन्ध होता है। यही सूक्ष्म शब्द का सूक्ष्म अर्थ और सूक्ष्म शाब्दबोध के साथ साङ्कर्य है। अतएव इतरेतराध्यासात्मक सङ्कीर्णता के प्रभाव से वस्तुतः परस्पर भिन्नों का आध्यासिक अभेद के रूप से जो ग्रहण होता है, वही सङ्कीर्ण सविचारसमापत्ति है।

सम्प्रति, निर्विचारसमापत्ति को उठाते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

निर्विचारामाह–या पुनरिति। सर्वथा सर्वेण नीलपीतादिना प्रकारेण। सर्वत इति हि सार्वविभक्तिकस्तसिः, सर्वैर्देशकाल[1]निमित्तानुभवैरित्यर्थः। तदनेन स्वरूपेण कालानवच्छेदः परमाणूनामिति दर्शितम्। नापि तदारब्धधर्मद्वारेणेत्याह–शान्तेति। शान्ता अतीता। उदिता वर्तमाना अव्यपदेश्या भविष्यन्तो धर्मास्तैरनवच्छिन्नेषु। नन्वनवच्छिन्ना धर्मैः परमाणवः किमसंबद्धा एव तैरित्यत आह–सर्वधर्मानुपातिष्विति। कतमेन संबन्धेन धर्माननुपतन्ति परमाणव इत्यत आह–सर्वधर्मात्मकेष्विति। कथंचिद्भेदः कथंचिदभेदो धर्माणां परमाणुभ्य इत्यर्थः। कस्मात्पुनरियं समापत्तिरेतद्विषयेत्यत आह–एवंस्वरूपं हीति। वस्तुतत्त्वग्राहिणी नातत्त्वे प्रवर्तत इत्यर्थः। विषयमभिधायास्याः स्वरूपमाह–प्रज्ञा चेति। संकलय्य स्वरूपभेदोपयोगिविषयमाह–तत्रेति। उपसंहरति–एवमिति उभयोरात्मनश्च निर्विचारायाश्चेति॥४४॥

भाष्यकार निर्विचारसमापत्ति को बतलाते हैं–'**या पुनरिति**।' (भाष्य में प्रयुक्त) '**सर्वथा**' पद का अर्थ है–नील, पीतादि सभी प्रकार से। '**सर्वतः**' में सभी विभक्तियों में होने वाला '**तसिल्**' प्रत्यय है। अतः '**सर्वतः**' का अर्थ है–सम्पूर्ण देश, काल तथा निमित्त के ज्ञान से। इस प्रकार परमाणुओं की काल से स्वरूपतः अनवच्छिन्नता बताई गई है। और आरब्ध धर्म के द्वारा भी परमाणुओं का कालावच्छेद नहीं होता है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'शान्तेति।' '**शान्त**' अतीत को कहते हैं, '**उदित**' वर्तमान को कहते हैं और '**अव्यपदेश्य**' भविष्यत् को कहते हैं–ऐसे शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों से अनवच्छिन्न परमाणुओं में जो समापत्ति होती है, वह निर्विचारा समापत्ति कही जाती है।

1. **क ख ग घ च छ झ त थ द ध न निमित्त॰** उपलभ्यते, ज – **निमित्त॰** नोपलभ्यते।

शङ्का–तो फिर 'शान्तादि' धर्मों से अनवच्छिन्न परमाणु क्या 'शान्तादि' धर्मों से असम्बद्ध ही रहते हैं?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं–'**सर्वधर्मानुपातिष्विति**।' अर्थात् ये परमाणु शान्तादि सभी धर्मों से अनुगत (अन्वित) रहते हैं।

शङ्का–किस सम्बन्ध से ये परमाणु धर्मानुपाती होते हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**सर्वधर्मात्मकेष्विति**।' ये परमाणु शान्तादि सभी धर्मों के आश्रय के रूप में (सर्वधर्मात्मक) हैं। अर्थात् शान्तादि धर्मों का परमाणुओं से किसी अंश में '**भेद**' है और किसी अंश में '**अभेद**' है।

शङ्का–किस कारण से यह समापत्ति भूतसूक्ष्मविषयक है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एवं स्वरूपं हीति**।' (तात्पर्य यह है कि) यथार्थ वस्तु (भूतसूक्ष्म) को ग्रहण करने वाली यह समापत्ति अतात्त्विक पदार्थ में प्रवृत्त नहीं होती है। अर्थात् इस प्रकार के देश, काल और निमित्तानुभव से रहित वह भूतसूक्ष्म अपने यथार्थरूप से आलम्बन बनकर ही समाधि-प्रज्ञा के स्वरूप से उपरक्त होता है। निर्विचारा समापत्ति के विषय का निरूपण करके भाष्यकार उसके स्वरूप का निर्देश करते हैं–'**प्रज्ञा चेति**।' जब यह प्रज्ञा स्वरूपरहित सी होकर ध्येयाकारमात्र रहती है, तब 'निर्विचारा समापत्ति' कहलाती है। सम्प्रति, भाष्यकार (दोनों सूत्रों को) पिण्डीकृत करके सवितर्कादि के स्वरूप-भेद के उपयोगी विषय का विभाग करते हैं–'**तत्रेति**।' इनमें स्थूलविषयक=महद्वस्तुविषयक समापत्तियाँ 'सवितर्का' और 'निर्वितर्का' हैं तथा सूक्ष्मवस्तुविषयक समापत्तियाँ 'सविचारा' और 'निर्विचारा' हैं। विषय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**एवमिति**।' इस प्रकार पूर्वोक्त निर्वितर्का समापत्ति के द्वारा ही दोनों अर्थात् स्वयं अपनी (निर्वितर्का) तथा निर्विचारा समापत्ति में शब्दार्थज्ञानविकल्पशून्यत्व (विकल्पराहित्य) प्रतिपादित हो जाता है॥४४॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं स्थूलविषये सूत्रद्वयेन समापत्तेर्द्विधा विभागं कृत्वा सूक्ष्मविषयेऽपि तस्या द्वैविध्यमतिदिशति–एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। एतया सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या, सूक्ष्मविषयाऽपि सविचारनिर्विचाररूपा समापत्तिद्वयी व्याख्याता, [1]अन्योपरागा[2]नुपरागसाम्येनेत्यर्थः। [3]वितर्कविचारेत्यादिसूत्रे सूक्ष्म-

---

1. क घ – अर्थ०, ख ग च छ – अन्य०।
2. क ग घ च छ – अनुपराग० उपलभ्यते, ख – अनुपराग० नोपलभ्यते।
3. अ – क ग घ च छ – वितर्कविचारेत्यादिसूत्रे सूक्ष्मविषयकाभोगो विचार इत्युक्तम्, स एवात्र सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधोच्यत इति स्मर्त्तव्यम् उपलभ्यते, ख – वितर्क...स्मर्त्तव्यम्

विषयकाभोगो विचार इत्युक्तम्, स एवात्र सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधोच्यत इति स्मर्त्तव्यम्। [1]कालाद्युपरागानुपरागयुक्तां समापत्तिं द्विधा विभजते—तत्र भूतसूक्ष्मेष्विति। अत्र भूतशब्द इन्द्रियाणामप्युपलक्षकः, सामान्यत एव सूक्ष्मविषयत्वेनास्याः समापत्तेः भाष्ये व्याख्येयत्वात्। भूतेन्द्रियाणां यत्सूक्ष्मं कारणं तत् तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् इत्यागामिसूत्रात्, तेषु वर्त्तमानधर्मविशिष्टेषु तथा देशकालनिमित्तैर्विशिष्टतयाऽनुभूयमानेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यत इत्यर्थः। अत्र देश उपर्यधःपार्श्वादिः, कालो वर्त्तमानादिः, निमित्तं परिणामप्रयोजकः पुरुषार्थविशेष इति। पूर्ववदेवात्रायवयवातिरिक्तस्तन्मात्रादिरूपोऽवयवी समापत्तेर्विषय इत्याह—[2]अत्रापीति। उदितो वर्त्तमानः, उपतिष्ठते=आरूढं भवति।

इस प्रकार दो सूत्रों द्वारा '**स्थूल**' विषय में समापत्ति का द्वैविध्य प्रतिपादित करके सूत्रकार '**सूक्ष्म**' विषय में भी समापत्ति की द्विविधता का अतिदेश करते हैं–'**एतयैवेति।**' स्थूलविषयिणी सवितर्का-निर्वितर्का-समापत्ति से सूक्ष्मविषयिणी सविचारा-निर्विचारा-समापत्ति को भी अभिहित (व्याख्यात) समझ लेना चाहिये, क्योंकि चाहे स्थूलविषयिका वितर्कानुगतसमापत्ति हो अथवा सूक्ष्मविषयिका विचारानुगतसमापत्ति हो दोनों में देश, कालादि से उपराग और अनुपराग होने की तुल्यता रहती है। ऐसा स्मरण रखना चाहिये कि '**वितर्कविचार...**' (१/१७) सूत्र में जिस सूक्ष्म-विषयक आभोग को '**विचार**' संज्ञा से अभिहित किया गया है, उसी का यहाँ सविचार और निर्विचार के रूप से प्रतिपादन किया जा रहा है। भाष्यकार कालादि के उपराग और अनुपराग से युक्त सूक्ष्मविषयिणी सविचारा समापत्ति को दो प्रकार से विभाजित करते हैं–'**तत्र भूतसूक्ष्मेष्विति।**' भाष्य में प्रयुक्त '**भूत**' शब्द इन्द्रियों का भी उपलक्षक है, क्योंकि भाष्य में सामान्यतः सूक्ष्मविषयत्व की दृष्टि से ही प्रकृत समापत्ति की व्याख्या की गई है। भूतेन्द्रियों का जो सूक्ष्म कारण है, वह तन्मात्र से लेकर प्रकृतिपर्यन्त (तत्त्वों का संग्राहक) है, क्योंकि '**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**' (१/४५) ऐसा आगामी सूत्र प्राप्त होता है। इन वर्तमान (अभिव्यक्त) धर्मविशिष्ट तथा देश, काल और निमित्तों के द्वारा विशिष्टतया अनुभूत होने वाले तन्मात्रादि सूक्ष्म तत्त्वों में जो समापत्ति होती है, उसे '**सविचारा समापत्ति**' कहते हैं। यहाँ '**देश**' शब्द का अर्थ ऊपर, नीचे पार्श्वादि है; '**काल**' शब्द का अर्थ वर्तमानादि है तथा '**निमित्त**' शब्द का अर्थ परिणाम का हेतुभूत पुरुषार्थविशेष है। वितर्कानुगत समापत्ति

नोपलभ्यते। आ – क ग – **उक्तः**, घ च छ – **उक्तम्।** इ – क ग – **समापत्तिरूपेण**, घ च छ – **रूपेण।**

1. क ख ग घ च छ – **कार्य०**, छ – **काल०।**
2. क ग घ च छ – **अत्र**, ख – **तत्र।**

की भाँति इस विचारानुगत समापत्ति का भी अवयवातिरिक्त अर्थात् अवयव से भिन्न तन्मात्रादिरूप **'अवयवी'** ही विषय होता है, इस तथ्य का उपपादन भाष्यकार करते हैं—**'अत्रापीति।'** भाष्य में प्रयुक्त **'उदित'** शब्द का अर्थ है—वर्तमान। **'उपतिष्ठते'** इस क्रियापद का अर्थ है—आरूढ होता है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है—यहाँ पर भी एक बुद्धि से ही गृहीत होने वाले, वर्तमान काल के धर्मों से युक्त तथा आलम्बनीभूत भूतों के सूक्ष्मरूप तन्मात्रादि समाधि में उपारूढ होते हैं।

सम्प्रति, वार्त्तिककार विचारानुगतसमापत्ति के द्वितीय भेद पर विचार करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

सविचारां व्याख्याय निर्विचारां व्याचष्टे—या पुनरिति। या तु सर्वथा सर्वैः स्वरूपैः, सर्वतो देशकालाद्यनवच्छेदतः समापत्तिः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेष्वतीतवर्त्तमान-भविष्यद्धर्मैरनवच्छिन्नेष्व[1]तीतवर्तमानभूतसूक्ष्मेषु जायते सा निर्विचारा। अनवच्छिन्नशब्द-स्या[2]संबद्धार्थत्वनिरासाय विशेषणद्वयम्—सर्वधर्मेत्यादि। सर्वधर्मानुगतेषु सर्वधर्माणामाश्रयेषु चेत्यर्थः।

इस प्रकार 'सविचारा समापत्ति' की व्याख्या करके भाष्यकार निर्विचारा समापत्ति को बताते हैं—**'या पुनरिति।'** जो समापत्ति **'सर्वथा'** अर्थात् नील, पीतादि सभी स्वरूपों तथा **'सर्वतः'** अर्थात् देश, कालादि सभी प्रकार के अवच्छेद से रहित है, और शान्त-उदित-अव्ययदेश्य धर्मों से अनवच्छिन्न अर्थात् अतीत-वर्तमान-भविष्यत् धर्मों से रहित अतीत और वर्तमानकालिक भूतसूक्ष्मों में होती है, उसे 'निर्विचारा समापत्ति' कहते हैं। **'अनवच्छिन्न'** शब्द के असम्बद्धार्थत्व का खण्डन करने के लिये भाष्यकार ने यहाँ दो विशेषण पदों का प्रयोग किया है—**'सर्वधर्मेत्यादि।'** ये दो विशेषणभूत पद हैं—**'सर्वधर्मानुपातिषु'** तथा **'सर्वधर्मात्मकेषु।'** पहले पद का अर्थ है—सब धर्मों से युक्त रहने वाले तथा दूसरे पद का अर्थ है—सब धर्मों के आश्रयभूत। ये दोनों सप्तम्यन्त पद **'भूतसूक्ष्मेषु'** इस विशेष्यभूत पद के विशेषण हैं। ऐसे भूतसूक्ष्मों में होने वाली समापत्ति को 'निर्विचारा समापत्ति' कहते हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार 'निर्वितर्क' और 'निर्विचार' के साम्य को प्रतिपादित करते हुए प्रकृत विषय को उपसंहृत करते हैं—

---

1. घ च छ – **अतीतवर्तमान०** उपलभ्यते, क ख ग – **अतीतवर्तमान०** नोपलभ्यते।
2. ख ग – **भ्रम०** (**असंबद्धार्थत्व०** पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ – **भ्रम०** नोपलभ्यते।

योगवार्त्तिकम्

निर्वितर्कसाम्यमस्याः प्रतिपादयति—एवंस्वरूपं हीति। पूर्वसूत्रानुसारेणै[1]तद्व्याख्येयम्। उक्तस्य समापत्तिचतुष्टयस्य विषयविभागमाह—तत्रेति। महत् स्थूलं केवलविकृतिरिति यावत्। तेनेन्द्रियाणां भूतपरमाणूनां च संग्रहः। भूतपरमाणूनां च सूक्ष्ममध्ये प्रवेशो वक्तुं न शक्यते, आगामिसूत्रे पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्म इत्यादिना तन्मात्रादीनामेव सूक्ष्मत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्, सूक्ष्मत्वं च तत्त्वान्तरकारणत्वम्। तच्च जलादि[2]भूतचतुष्टयव्यावृत्त्यर्थं बहिरिन्द्रियग्राह्यगुणराहित्येन विशेषणीयम्। वस्तुतस्तु अष्टप्रकृतिसिद्धान्ताद् भूतान्युत्तरभूतेष्वाधारकारणान्येव, न तु प्रकृतयः। अतोऽत्र तत्त्वान्तरप्रकृतित्वमेव सूक्ष्मत्वमिति। ननु शब्दार्थज्ञानविकल्पम[3]संकीर्णत्वमेव कथमेतयैवेत्यनेन नातिदिश्यते? तत्राह—एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति। एवंस्वरूपमिव विकल्पहानिरपि=[4]यथोक्तविकल्पराहित्यमप्युभयोः सविचारनिर्विचारयोरेतयैव पूर्वोक्तया [5]निर्वितर्कया यथोक्तविकल्पशून्यया सूत्रकारेण व्याख्यातप्रायेत्यर्थः, पूर्वभूमिकायां त्यक्तविकल्पस्योत्तरभूमिकायामसंभवादिति ॥४४॥

सम्प्रति, भाष्यकार प्रस्तूयमान निर्विचारा समापत्ति का निर्वितर्का समापत्ति से साम्य प्रतिपादित करते हैं—'**एवं स्वरूपं हीति**।' पूर्व सूत्र के अनुसार इसकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये। भाष्यकार उक्त समापत्तिचतुष्टय के विषयविभाग को बतलाते हैं—'**तत्रेति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**महत्**' शब्द से स्थूल अर्थात् केवलविकृतिरूप (एक मात्र कार्यरूप) तत्त्व का ग्रहण होता है। इस स्थूलवाची '**महत्**' शब्द के द्वारा इन्द्रिय तथा भूतपरमाणुओं का संग्रह होता है। इन पृथिव्यादि भूतपरमाणुओं को सूक्ष्मविषय के अन्तर्गत नहीं रख सकते हैं, क्योंकि (अव्यवहित) आगामी सूत्र में '**पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मः**' इस भाष्य के द्वारा तन्मात्रादिकों का ही सूक्ष्मत्व वक्ष्यमाण है और यह सूक्ष्मत्व तत्त्वान्तरकारणत्वरूप है अर्थात् जिससे तत्त्वान्तराभिव्यक्ति होती है, उसे ही यहाँ सूक्ष्म पदवाच्य माना गया है। ऐसे तत्त्वान्तरकारणत्वरूप सूक्ष्मत्व को जलादि चार भूतपरमाणुओं से भी व्यावृत्त करने के लिये '**बहिरिन्द्रियग्राह्यगुणराहित्य**' (अर्थात् जो बहिरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्यगुण से रहित होता है—इत्याकारक) विशेषण से विशेषित करना चाहिये। वस्तुतस्तु पृथिव्यादि पांच भूत उत्तरोत्तर भूतात्मक (घट, वृक्षादि) कार्यों के आधारभूत कारण ही हैं, न कि

1. क ख घ च छ – एतत्, ग – एव तत्।
2. क ख ग – भूत० उपलभ्यते, घ च छ – भूत० नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ – संकीर्णत्वमसंकीर्णत्वं, च छ – असंकीर्णत्वम्।
4. क ग घ च छ – यथोक्तविकल्पराहित्यं, ख – शब्दार्थज्ञानविकल्पं।
5. क ग घ च छ – निर्वितर्कया, ख – निर्विकल्पया।

प्रकृतिरूप कारण। क्योंकि सांख्ययोगशास्त्र में (प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रात्मक) अष्ट प्रकृति का सिद्धान्त स्वीकृत है। अतः यह सिद्धान्तित होता है कि सांख्ययोगशास्त्र में **'तत्त्वान्तरप्रकृतित्व'** में ही **'सूक्ष्मत्व'** विवक्षित है।

शङ्का–प्रस्तुत सूत्र के द्वारा विगत दो सूत्रों में कथित शब्दार्थज्ञान के विकल्प की असंकीर्णता का अतिदेश ही क्यों नहीं किया जा रहा है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति।' 'एतया'** अर्थात् यथोक्त विकल्प से शून्य पूर्वोक्त 'निर्वितर्का समापत्ति' के द्वारा सूत्रकार ने तथाकथित विकल्पराहित्य को इन दोनों सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों में भी व्याख्यातप्राय कर दिया है, क्योंकि पूर्व भूमिका में व्यक्त विकल्प उत्तरभूमिका में सम्भव नहीं हो सकता है॥४४॥

बालप्रिया–

'एतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–शब्दार्थज्ञानविकल्पशून्यत्व; सवितर्क, निर्वितर्क सविचार और निर्विचारसंज्ञक किन-किन समापत्तियों का स्वरूप है, इस विषय में वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्योक्त **'उभयोः'** पद का अर्थ **'आत्मनश्च निर्विचारायाश्चेति'** करते हुए स्वमन्तव्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पूर्वसूत्र द्वारा प्रतिपादित निर्वितर्का समापत्ति से ही स्वयं उसका (निर्वितर्का) तथा निर्विचारा समापत्ति का शब्दार्थ-विकल्पशून्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने विकल्पशून्यत्व को निर्वितर्का और निर्विचारा समापत्तियों में ही माना है। विज्ञानभिक्षु ने भाष्यगत **'उभयोः'** पद को सविचारा और निर्विचारा दोनों का बोधक मानते हुए विकल्पशून्यत्व को निर्वितर्का तथा निर्विचारा समापत्ति की भाँति सविचारा में भी स्वीकार किया है। सविचारा समापत्ति में विकल्पसङ्कीर्णत्व का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु ने यह तर्क दिया है कि निर्वितर्क में त्यक्त विकल्प उत्तरोत्तर भूमियों में सम्भव ही नहीं हो सकता है। वस्तुतस्तु सविचारा समापत्ति में विकल्पसङ्कीर्णत्व है, न कि विकल्पशून्यत्वाभाव। व्यासभाष्यानुसारी होने से वाचस्पति मिश्र का मत आदरणीय है तथा विज्ञानभिक्षु की यह पंक्ति **'अन्योपरागानुपरागसाम्येनेत्यर्थः'**–प्रश्न चिह्न बनकर रह जाती है॥४४॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

सूक्ष्मविषयत्वं [1]चालिङ्गपर्यवसानम्॥४५॥

---

1. **वा**–इति पाठान्तरम्।

और (सविचारा तथा निर्विचारा समापत्ति की यह) सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग (प्रकृति) पर्यन्त है॥४५॥

व्यासभाष्यम्

पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रम्, तैजसस्य रूपतन्मात्रम्, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः; अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति। नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति? [1]सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किं तु [2]लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति, हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्॥४५॥

पार्थिव अणु का सूक्ष्मविषय 'गन्धतन्मात्र' है, जलीय अणु का सूक्ष्म विषय 'रसतन्मात्र' है, तैजस अणु का सूक्ष्म विषय 'रूपतन्मात्र' है, वायवीय अणु का सूक्ष्म विषय 'स्पर्शतन्मात्र' है तथा आकाश का सूक्ष्म विषय 'शब्दतन्मात्र' है। इन पञ्च तन्मात्राओं का सूक्ष्म विषय 'अहंकार' है। अहंकार का भी सूक्ष्म विषय 'लिङ्गमात्र' (बुद्धि) है। इस महत्तत्त्व (बुद्धि) का भी सूक्ष्म विषय 'अलिङ्ग' (प्रकृति) है। (किन्तु) अलिङ्ग (मूल प्रकृति) से अधिक (परे) सूक्ष्म विषय और कोई नहीं है।

शङ्का–'पुरुष' तो 'प्रकृति' की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है? (अतः प्रकृति से अधिक सूक्ष्म कोई दूसरा तत्त्व नहीं है–यह कथन अविवेकपूर्ण है)।

समाधान–यह शंका तो उचित है। फिर भी जिस प्रकार की सूक्ष्मता 'महत्तत्त्व' से परे 'अव्यक्त' की है, वैसी सूक्ष्मता (अव्यक्त की तुलना में) 'पुरुष' की नहीं है। क्योंकि पुरुष (प्रकृति के समान) महत्तत्त्व (लिङ्ग) का उपादानकारण (अन्वयिकारण) नहीं है, वह तो निमित्तकारणमात्र है। इसीलिये प्रधान में सूक्ष्मता की पराकाष्ठा (सर्वाधिक सूक्ष्मता) बतलाई गई है॥४५॥

तत्त्ववैशारदी

किं भूतसूक्ष्म एव ग्राह्यविषया समापत्तिः समाप्यते? न। किन्तु–सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। पार्थिवस्य परमाणोः संबन्धिनी या गन्धतन्मात्रता सा समापत्तेः सूक्ष्मो विषयः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्, तद्धि लयं गच्छति प्रधान इति। अलिङ्गं प्रधानम्, तद्धि न क्वचिल्लयं गच्छतीत्यर्थः। अलिंगपर्यवसानत्वमाह–न चालिङ्गात्परमिति। चोदयति–नन्विति। पुरुषोऽपि सूक्ष्मो नालिङ्गमेवेत्यर्थः। परिहरति–सत्यमिति। उपादानतया

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म प र – सत्यं, झ – स यथा।
2. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – लिङ्गस्य, छ – अलिङ्गस्य।

सौक्ष्म्यमलिङ्ग एव नान्यत्रेत्यर्थः। तत्र पुरुषार्थनिमित्तत्वान्महदहंकारादेः पुरुषोऽपि कारणमलिङ्गवदिति कुत एवंलक्षणमलिङ्गस्यैव सौक्ष्म्यमित्याशयवान्पृच्छति–किं त्विति। उत्तरमाह–लिङ्गस्येति। सत्यं कारणं न तूपादानम्। यथा हि प्रधानं महदादिभावेन परिणमते न तथा पुरुषस्तद्धेतुरपीत्यर्थः। उपसंहरति–अतः प्रधान एव सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातमिति॥४५॥

शङ्का–ग्राह्यविषयक समापत्ति क्या भूतसूक्ष्म में ही समाप्त हो जाती है अर्थात् भूतसूक्ष्मपर्यन्त ही यह समापत्ति है? (यद्यपि सवितर्क, निर्वितर्क सविचार और निर्विचार–ये चारों ग्राह्यविषयक समापत्तियां हैं तथापि यहाँ स्थूलविषयक सवितर्क और निर्वितर्करूप ग्राह्यसमापत्ति को छोड़कर सूक्ष्मविषयक सविचार और निर्विचाररूप ग्राह्यसमापत्ति को ध्यान में रखकर प्रश्न किया गया है)।

समाधान–ग्राह्यसमापत्ति की सूक्ष्मविषयता भूतसूक्ष्म में ही परिसमाप्त नहीं होती है, अपितु इसके आगे भी है। तदर्थ सूत्र है–'**सूक्ष्मेति**।' पार्थिव परमाणु की सम्बन्धिनी (उपादानकारणभूता) जो गन्धतन्मात्रता है, वही (सविचार और निर्विचार) समापत्ति का सूक्ष्म विषय है। इसी भाँति जलीयादि परमाणुओं के उपादान कारणभूत उत्तरोत्तर रसतन्मात्रादियों में सूक्ष्मविषयता को समझ लेना चाहिये। (भाष्य में प्रयुक्त) '**लिङ्गमात्र**' शब्द का अर्थ है–महत्तत्त्व। महत्तत्त्व (बुद्धि) को '**लिङ्गमात्र**' कहने का कारण यह है कि यह महत् 'प्रधान' में लय को प्राप्त होता है। '**अलिङ्ग**' शब्द का अर्थ है–प्रधान। प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति को '**अलिङ्ग**' कहने का कारण यह है कि यह '**प्रधान**' किसी अन्य तत्त्व में (महदादि की भाँति) लय को प्राप्त नहीं होता है। भाष्यकार सूक्ष्मविषयता को '**अलिङ्ग**' तत्त्व में पर्यवसित करते हुए कहते हैं–'**न चाऽलिङ्गात्परमिति**।' अर्थात् प्रकृति (अलिङ्ग) से अधिक कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है।

शङ्का–इस पर प्रश्न किया जा रहा है–'**नन्विति**।' केवल '**अलिङ्ग**' ही नहीं, अपितु '**पुरुष**' भी तो सूक्ष्म है?

समाधान–भाष्यकार खण्डन करते हैं–'**सत्यमिति**।' आपकी यह शंका किसी सीमा तक उचित है, किन्तु उपादानकारण की दृष्टि से (गन्धतन्मात्र से प्रारम्भ हुई तथाकथित) सूक्ष्मता '**अलिङ्ग**' पर्यन्त ही है। ऐसी सूक्ष्मता किसी अन्य (पुरुष) तत्त्व में नहीं है।

शङ्का–महत् तथा अहंकारादि की उत्पत्ति पुरुष के भोगापवर्गरूप निमित्त के कारण होती है। अतः पुरुष भी प्रकृतिवत् महत् और अहंकार आदि की उत्पत्ति का कारण है। अतः कारणलक्षणक यह सूक्ष्मता प्रकृतिपर्यन्त कैसे कही जा रही है?–इस आशय से पूर्वपक्षी पूछता है–'**किं त्विति**।'

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**लिङ्गस्येति**।' यह सत्य है कि पुरुष महदादि का कारण है, किन्तु वह उपादानकारण नहीं है। जिस प्रकार प्रधान का महदादिभाव से परिणाम होता है, वैसे पुरुष का नहीं। भाव यह है कि अपरिणामी पुरुष जगत् (महदादि) का निमित्तकारण है, जब कि परिणामशीला प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। सूक्ष्म होते हुए भी प्रधान और पुरुष के स्वरूप में यही मौलिक अन्तर है। प्रस्तुत सूत्र में ग्राह्यसमापत्ति के 'सूक्ष्म' विषय की परिसमाप्ति तत्तत् कार्य की दृष्टि से उसके उत्तरोत्तर उपादानकारण की सूक्ष्मता पर अवलम्बित है। इस सीमा में 'पुरुष' नहीं आता है।

अतः उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**अतः प्रधान एव सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातमिति**।' अतः प्रधान में ही निरतिशय सूक्ष्मता पर्यवसित होती है॥४५॥

बालप्रिया—

'**तेषामहङ्कारः**'–यहाँ भाष्य में '**तेषाम्**' पद से पञ्चतन्मात्राओं को लिया गया है। अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं का कारण जो अहंकार है वह, पञ्चतन्मात्राओं की अपेक्षा समापत्ति का सूक्ष्म विषय है। अथवा '**तेषाम्**' इस षष्ठ्यन्त पद को पञ्चम्यन्त अर्थ में लेते हुए भी उक्त वाक्य की योजना इस प्रकार की जा सकती है–उन पञ्चतन्मात्राओं से अहंकार सूक्ष्म विषय है।

'**नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति**'–पूर्वपक्षी की इस शंका का मूलाधार वह श्रुतिवाक्य है, जिसके द्वारा पुरुष में निरतिशय सौक्ष्म्य विवक्षित है। श्रुति है–'**अव्यक्तात्पुरुषः परः**'। अतः कैसे सौक्ष्म्यकाष्ठा को प्रधानपर्यन्त निर्दिष्ट किया जा रहा है?' '**सत्यम्**' पद के द्वारा पूर्वपक्षी के तर्क को स्वीकृति प्रदान करके भी भाष्यकार सौक्ष्म्यमापदण्ड के अभिप्रेत प्रसङ्ग को स्पष्ट करते हैं। यहाँ '**यथा**' शब्द यादृशार्थक है। परिणामी उपादानकारणता की दृष्टि से महत्तत्त्व की अपेक्षा प्रधान में जिस प्रकार की सूक्ष्मता है, वैसी सूक्ष्मता प्रधान की अपेक्षा पुरुष में नहीं है। क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। निष्कर्षतः प्रधान में ही परिणामित्वसमानाधिकरणभूता सूक्ष्मता की विश्रान्ति है।

'**हेतुस्तु भवतीति**'–यहाँ '**इति**' शब्द 'हेतु' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वाक्यार्थ इस प्रकार है–क्योंकि पुरुष लिङ्गादि का निमित्तकारण ही है, उपादानकारण नहीं। अतः उपादानकारण की दृष्टि से विवक्षित सौक्ष्म्य प्रधान में ही निरतिशयत्व को प्राप्त होता है। जहाँ अन्वयिकारणत्व (उपादानकारणत्व) सौक्ष्म्यप्रतिपादन के लिये विवक्षित नहीं होगा, वहाँ पुरुष को भी सूक्ष्म कहा जा सकेगा॥४५॥

योगवार्त्तिकम्

सूक्ष्मविषयेत्युक्तम्। तत्र सूक्ष्मो विषयः किंपर्यन्त इत्याकाङ्क्षायामा[1]ह–सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः। अलिङ्गं प्रकृतिस्तत्पर्यन्तैव सूक्ष्मविषयतेत्यर्थः। तत्र स्थूलमारभ्य प्रकृति[2]पर्यन्तस्य सूक्ष्मतायां क्रममाह–पार्थिवस्येति। स्थूलकाष्ठाः[3] पञ्चविधा अणवः, तत्र पार्थिवाण्वपेक्षया गन्धतन्मात्रं समापत्तेः सूक्ष्मो विषयः। यद्यपि पार्थिवाणुर्जलविशिष्टगन्धतन्मात्रारब्धस्तथाऽपि गन्धतन्मात्रस्य प्राधान्यात् तदेव पार्थिवाणोः सूक्ष्मत्वमुक्तम्। एवमाप्यादीनां त्रयाणां पूर्वपूर्वभूतविशिष्टरसादितन्मात्रकार्यत्वेऽप्याकाशाणोश्चाहङ्कारविशिष्टशब्दतन्मात्रकार्यत्वेऽपि च[4] प्राधान्यादेकैकतन्मात्रमेव सूक्ष्ममित्युक्तमिति वेदितव्यम्। तेषामहङ्कार इति। तेषां पञ्चतन्मात्राणामहङ्कारः सूक्ष्मः, कारणत्वात्। अत्र च तन्मात्रैरिन्द्रियाण्युपलक्षणीयानि। अस्यापीति। अहङ्कारस्यापीत्यर्थः। लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्, तद्धि स्वकारणस्य प्रकृतेरनुमापकमात्रमंकुरवत्, प्रकृतिगतविशेषाणामहंकारादिष्वेव प्रकटीभावात्, यथा[5]न्यत्र काण्डादिभिर्बीजगतविशेषाभिव्यक्तिर्नांकुरमात्रेणेति। अलिङ्गं प्रधानम्, अकार्यत्वेन कस्याप्यननुमापकत्वादिति। अलिङ्गपर्यवसानत्वं व्याचष्टे–न चालिङ्गादिति। चोदयति–नन्विति। ननु पुरुषः प्रकृत्यपेक्षयाऽपि सूक्ष्मोऽस्ति निर्धर्मकत्वादिति पूर्वपक्षं परिहरति–सत्यमिति। यथोपादानतया लिङ्गा[6]पेक्षितं सौक्ष्म्यं प्रधानस्यास्ति नैवं पुरुषस्य, तस्यापरिणामित्वात्। उपादानतया च सूक्ष्मत्वमत्र [7]विवक्षितमित्याशयः। ननु यदि पुरुषः कारणं न भवति तर्हि यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म,

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतविरोध इत्याशङ्कां परिहरति–किं तु लिङ्गस्येति। हेतुस्तु भवति, किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणमुपादानकारणं पुरुषो न भवतीति व्युत्क्रमेणान्वयः। तत्र परमात्मनोऽधिष्ठातृत्वेन निमित्तकारणत्वम्,

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्॥

इति गीता[8]वचनात्;

---

1. ख – सूत्रेण (आह पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – सूत्रेण नोपलभ्यते।
2. क घ – पर्यन्तस्थूलसूक्ष्मतायां, ख ग च छ – पर्यन्तस्य सूक्ष्मतायाम्।
3. क ग घ च छ – स्थूलकाष्ठाः, ख – स्थूलापकर्षकाष्ठाः।
4. क ख – च उपलभ्यते, ग घ च छ – च नोपलभ्यते।
5. क च छ – अन्यत्र, ख ग घ – यत्र।
6. क ग घ च छ – अपेक्षितं, ख – आपेक्षिकं।
7. ख – न तु गुणाभासोऽत्र सूक्ष्मत्वं (विवक्षितं पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – न... सूक्ष्मत्वं नोपलभ्यते।
8. क ख ग – आदि० (गीता पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – आदि० नोपलभ्यते।

प्रधानपुंसोरजयोर्यतः क्षोभः प्रवर्त्तते।
नित्ययोर्व्यापिनोश्चैव जगदादौ महात्मनोः॥
तत्क्षोभकत्वात् ब्रह्माण्डसृष्टौ हेतुर्निरञ्जनः।
अहेतुरि[1]ति सर्वात्मा ज्ञायते परमेश्वरः॥

इत्यादि सकलस्मृतिषु तथा निर्णयाच्च। यत्तु—ईश्वरस्याधिष्ठानत्वरूपमुपादानत्वं यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्याद्युक्तश्रुतिस्मृत्योर्गीयत आकाशस्य वायूपादानत्ववत् तदप्यत्र दर्शने निमित्तकारणतामध्य एव प्रवेश्यते पुरुषाणां विकारित्वभ्रम[2]निरासायेति। पुरुषार्थं प्रकृतेः प्रवृत्त्यभ्युपगमेन च जीवपुरुषाणामपि महदाद्यखिलसृष्टिहेतुत्वं संयोगमात्रेण, नोपादानत्वेन। तथा चोक्तम्—

बुद्ध्यादयो विशेषान्ता अव्यक्तादीश्वरेच्छया।
पुरुषा[3]धिष्ठितादेव जज्ञिरे मुनिपुङ्गवाः!॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषा[4]नुमतेन च॥

इत्यादिस्मृतिभिः। जीवानामधिष्ठानसंयोगमात्रम्। अनुमतिस्तु पूर्व[5]कल्पीयकामकर्मादिरूपेति दिक्॥४५॥

विचारानुगत समापत्ति को सूक्ष्मविषयिणी बताया गया है। यह '**सूक्ष्म**' विषय कहाँ तक है? ऐसी शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं—'**सूक्ष्मेति**।' '**सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः**' अर्थात् सूक्ष्म होता हुआ जो विषय है, उसे '**सूक्ष्मविषय**' कहते हैं। '**अलिङ्ग**' शब्द का अर्थ '**प्रकृति**' है। इस प्रकार की सूक्ष्मविषयता 'अलिङ्ग' अर्थात् प्रकृतिपर्यन्त ही है। अब भाष्यकार स्थूल से लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों के क्रम को बताते हैं—'**पार्थिवस्येति**।' 'स्थूलकाष्ठा' परिमाण वाले पांच प्रकार के अणु हैं। इनमें से पार्थिव अणु की अपेक्षा गन्धतन्मात्र, समापत्ति का सूक्ष्म विषय है। यद्यपि पार्थिव अणु जलविशिष्ट गन्धतन्मात्र से निर्मित है, तथापि पार्थिव अणु में गन्धतन्मात्र की प्रधानता होने से उस गन्धतन्मात्र में ही पार्थिव अणु की अपेक्षा सूक्ष्मत्व विवक्षित है। इसी भाँति जलीय, तैजस और वायवीय तीनों अणुओं में पूर्व-पूर्व भूतविशिष्ट रसादितन्मात्र (रसतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र) रूप कारण के प्रति कार्यता

---

1. क ख ग घ – **अपि**, च छ – **इति**।
2. क ख घ च छ – **भ्रम०**, ग – **धर्म०**।
3. क ग घ च छ – **अधिष्ठितादेव**, ख – **अधिष्ठितादेवाः**।
4. क ख घ च छ – **अनुमतेन**, ग – **अनुमते**।
5. क ग घ च छ – **कल्पीय०**, ख – **कल्पाय**।

तथा आकाश-अणु में अहंकारविशिष्ट शब्दतन्मात्ररूप कारण के प्रति कार्यता होने पर भी प्रधानता के कारण एक-एक तन्मात्रा में ही कारणनिबन्धक सूक्ष्मत्व बताना अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् जलीय-अणु की अपेक्षा रसतन्मात्र, तैजस अणु की अपेक्षा रूपतन्मात्र, वायवीय अणु की अपेक्षा स्पर्शतन्मात्र तथा आकाशीय अणु की अपेक्षा शब्दतन्मात्र को 'सूक्ष्म' कहा गया है। **'तेषामहङ्कार इति।'** इन पञ्चतन्मात्राओं की अपेक्षा **'अहंकार'** सूक्ष्म है, क्योंकि अहंकार तन्मात्राओं का कारण है। यहाँ **'तन्मात्राओं'** से इन्द्रियाँ भी उपलक्षित हैं। अर्थात् पञ्चतन्मात्र तथा इन्द्रियों की अपेक्षा अहंकार सूक्ष्म है। **'अस्यापीति।'** अहंकार की अपेक्षा **'लिङ्गमात्र'** अर्थात् महत्तत्त्व सूक्ष्म है। योगवार्त्तिककार महत्तत्त्व को **'लिङ्गमात्र'** कहे जाने का कारण बताते हैं–जिस प्रकार अंकुर बीज की सत्ता का अनुमानमात्र कराता है, उसी प्रकार महत्तत्त्व अपनी कारणभूता प्रकृति का अनुमापक मात्र होता है। इसलिये महत् को **'लिङ्गमात्र'** कहते हैं, क्योंकि मूलकारणरूप प्रकृति में निहित वैशिष्ट्य का प्रकटीकरण तो अहंकारादि कार्यों में ही परिलक्षित होता है। जिस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं (काण्डादि) के द्वारा बीजनिष्ठ वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है, केवल अंकुरमात्र से नहीं। सरलार्थ यह है कि महद्रूप अंकुर से अनुमित बीजरूप प्रकृति अहंकारादिरूप काण्डादिकों में अपने मौलिक स्वरूप को स्पष्टतः प्रस्फुटित करती है, ऐसा बतलाना योगवार्त्तिककार को अभिप्रेत है। **'अलिङ्ग'** शब्द का अर्थ प्रधानतत्त्व है। यह **'प्रधान'** किसी अन्य तत्त्व का कार्य न होने से अपने कारण का भी अनुमान नहीं कराता है, अतः प्रकृति को **'अलिङ्ग'**=अननुमापक कहते हैं। भाष्यकार कारणगत सूक्ष्मता का पर्यवसान 'अलिङ्ग' प्रकृति में बताते हैं–**'न चालिङ्गादिति।'** अर्थात् अलिङ्ग से अधिक कोई दूसरा सूक्ष्म तत्त्व नहीं है।

शङ्का–पूर्वपक्षी प्रश्न करता है–**'नन्विति।'** निर्धर्मक होने से प्रकृति की अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है। अतः सौक्ष्म्यपर्यवसान प्रकृति में ही क्यों माना गया है?

समाधान–पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'सत्यमिति।'** उपादान-कारण होने से 'लिङ्ग' रूप बुद्धि की अपेक्षा 'अलिङ्ग' प्रकृति में जिस प्रकार की सूक्ष्मता है, वैसी (उपादानकारणक) सूक्ष्मता पुरुष तत्त्व में नहीं हो सकती है, क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। किञ्च प्रकृत में उपादानकारण की दृष्टि से पदार्थों में सौक्ष्म्य का निर्धारण किया जा रहा है।

शङ्का–यदि पुरुष को कारण न माना जाय तो **'यतो वा इमानि...'** (तै. उप. ३/१), **'तमेव चाद्यं...'** (गीता १५/४) इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृति-वाक्यों से विरोध होगा?

श्रुतिवाक्य का अर्थ है-'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, स्थिति वाले होते हैं और उसी में लय को प्राप्त होते हैं, उसे ब्रह्म कहते हैं।' स्मृतिवाक्य का अर्थ है-'जिससे संसार की अनादिकाल से प्रवृत्ति हुई है और जो इस संसारवृक्ष का बीज है, उस आदि पुरुष की शरण में मैं प्राप्त होता हूँ।'

समाधान-भाष्यकार शंका का परिहार करते हुए कहते हैं-'**किं तु लिङ्गस्येति**।' 'पुरुष' कारण तो है, किन्तु वह लिङ्गरूप बुद्धि का '**अन्वयिकारण**' अर्थात् उपादानकारण नहीं है-इस प्रकार क्रम-भंग करके वैयासिक वाक्य का अन्वय करना चाहिये। ईश्वर में तो (जगत् का अधिष्ठाता होने से) अधिष्ठातृत्वरूप निमित्तकारणत्व है, क्योंकि गीता से इस बात की पुष्टि होती है-'**मया...सचराचरम्**' (९/१०) अर्थात् 'हे कौन्तेय! साक्षिरूप मुक्त से उपहित (युक्त) होकर प्रकृति ही स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करती है।' समस्त स्मृतियों में भी यही तथ्य निर्णीत हुआ है-'**प्रधानपुंसो...परमेश्वरः**' अर्थात् 'सृष्टि के आदि में ही नित्य, व्यापक, महात्मरूप और अजरूप प्रधान-पुरुष में संक्षोभ होता है। इस संक्षोभ से ब्रह्माण्ड की संरचना में निरञ्जन पुरुष को 'हेतु' कहा गया है और सबका आत्मभूत परमेश्वर 'अहेतु' रूप से जाना जाता है।' और जो '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्यों से ईश्वर का अधिष्ठातृत्वरूप उपादानत्व वर्णित है, वह वैसा ही है जैसे आकाश को वायु का उपादानकारण कहा जाना योगमत में निमित्तकारणतापक्ष में ही न्यस्त होता है। पुरुष के विकारी (परिणामी) होने के भ्रम को दूर करने के लिये उसे निमित्तकारण कहा गया है। पुरुष के भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति को स्वीकार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव-पुरुषों का भी महदादि अखिल सृष्टि के प्रति हेतुत्व '**संयोगमात्र**' से ही है, न कि उपादानत्वरूप से। जैसा कि स्मृतिवाक्यों में कहा गया है-'**बुद्ध्यादयो...पुरुषानुमतेन च**' (सौर पु. २१/६-७) अर्थात् 'ईश्वर की इच्छा के अनुसार अव्यक्त प्रकृति के द्वारा बुद्धि से लेकर 'विशेष' अर्थात् महाभूतपर्यन्त पदार्थ (अभिव्यक्त होते) हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! इन्हें पुरुष के अधिष्ठानरूप से ही जानना चाहिये। सत्त्व, रजस् और तमस्-ये प्रकृति के गुण (कहे जाते) हैं, जो पुरुषानुमत (पुरुषसंयोग) के कारण मुझ ईश्वर के द्वारा संक्षोभ के स्वभाव वाले हैं।' यहाँ पर जीवों का अधिष्ठानत्व संयोगमात्र से ही कहा गया है। तथा उद्धरण में आये '**पुरुषानुमत**' से पुरुष के पूर्वजन्म से सम्बन्धित काम, कर्मादि का ग्रहण होता है॥४५॥

अगला सूत्र है-

योगसूत्रम्

[1]ता एव [2]सबीजः समाधिः॥४६॥

(पूर्वोक्त) वे (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार) समापत्तियाँ 'सबीज' समाधि ही हैं॥४६॥

व्यासभाष्यम्

ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति स[3] चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति॥४६॥

वे चारों समापत्तियाँ बाह्य विषयरूप आलम्बन वाली होती हैं, अतः यह (सम्प्रज्ञात) समाधि भी 'सबीज' (सालम्बन) कही जाती है। इनमें से स्थूल अर्थ को आलम्बन बनाने वाली समापत्ति 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' कही जाती है तथा सूक्ष्म 'अर्थ' को आलम्बन बनाने वाली समापत्ति 'सविचार' तथा 'निर्विचार' कही जाती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार परिगणित हुए हैं॥४६॥

तत्त्ववैशारदी

चतसृणामपि समापत्तीनां ग्राह्यविषयाणां संप्रज्ञाततत्वमाह–ता एव सबीजः समाधि। एवकारो भिन्नक्रमः सबीज इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्यविषयाः सबीजतया नियम्यन्ते। सबीजता त्वनियता ग्रहीतृग्रहणगोचरायामपि समापत्तौ विकल्पाविकल्पभेदेनानिषिद्धा व्यवतिष्ठते। तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ ते[4] भवन्तीति। निगदव्याख्यातं भाष्यम्॥४६॥

सूत्रकार ग्राह्यविषयक चार समापत्तियों में भी सम्प्रज्ञाततत्व को बताते हैं। अर्थात् पूर्वकथित चार समापत्तियाँ भी सम्प्रज्ञात समाधि के भेद हैं, ऐसा सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं–**'ता एवेति।'** सूत्र में प्रयुक्त **'एव'** पद का अन्वय **'ताः'** पद के पश्चात् न करके **'सबीजः'** पद के पश्चात् (**सबीज एव**) किया जाता है। इस प्रकार एवकार भिन्नक्रम वाला है। इससे ग्राह्यविषयक चार समापत्तियाँ **'सबीज'** रूप से ही

---

1. **एताः**–इति पाठान्तरम्।
2. **स सबीजः**–इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ य – **सः** उपलभ्यते, घ प फ ब म र – **सः** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न – **सिद्धाः**, थ द ध – **ते**।

नियमित की जाती हैं। किन्तु अनियत सबीजता तो **'ग्रहीतृ'** और **"ग्रहण'** विषयक समापत्तियों में भी **'विकल्प'** अर्थात् अभेदाध्यास और **'अविकल्प'** अर्थात् अभेदानध्यास के भेद से अनिषिद्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्राह्यविषयक चार समापत्तियों तथा ग्रहीतृ-ग्रहणविषयक चार समापत्तियों को मिलाकर कुल आठ समापत्तियाँ हो जाती हैं। यह बात भाष्य में स्पष्ट रूप से कही गई है॥४६॥

बालप्रिया–

'एवकारो भिन्नक्रमः'–

शङ्का–सूत्र में **'ता एव'** इस कथन से पूर्वोक्त ग्राह्यविषयक चार समापत्तियों का ही ज्ञान (संग्रह) होता है। अतः ये चार (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार) समापत्तियाँ ही 'सबीज सम्प्रज्ञात' कहला सकेंगी। ग्रहीतृ और ग्रहणविषयक समापत्तियों को 'सबीज' नहीं माना जा सकेगा। किन्तु इससे सूत्र-गठन की न्यूनता समझी जायेगी, क्योंकि स्वयं सूत्रकार को ग्रहीतृ और ग्रहणसमापत्ति का **'सबीजत्व'** मान्य है।

समाधान–आपाततः प्रतीत उक्त सूत्रगत न्यूनता का परिहार वाचस्पति मिश्र ने **'एवकारो भिन्नक्रमः'** अन्वयपरक शब्दावली द्वारा सहज कर दिया है तथा सूत्र में 'एव' पद के प्रयोग का प्रयोजन इस प्रकार उद्घाटित किया है कि सूत्रकार को इन चार समापत्तियों का ही 'सबीजत्व' बतलाना अभिप्रेत नहीं है, अपितु **'सबीजा एवेमे'** द्वारा इनके 'निर्बीजत्व' का निषेध करना है। इससे ग्रहीतृ और ग्रहण समापत्तियों का 'सबीजत्व' खण्डित नहीं होता है, अपितु उनका 'सबीजत्व' अक्षुण्ण रहता है।

'...सबीजतया नियम्यन्ते,...अनिषिद्धा व्यवतिष्ठते'–इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार **'व्रीहीनवहन्ति, चतुरो मुष्टीन्निर्वपति'** यहाँ पर प्रत्येक व्रीहि में अवघात का योग नियमित होता है। अर्थात् व्रीहि से तुषविमोक अवघातपूर्वक करना चाहिये, नखविदलन आदि से नहीं–ऐसा नियम किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि याग के साधनीभूत अन्य द्रव्यों में अवघातक्रिया निषिद्ध है। उसी प्रकार यहाँ ग्राह्यविषयक समापत्तियों में सबीजता है, ऐसा नियम करने पर भी अन्य ग्रहीतृसमापत्ति और ग्रहणसमापत्ति में सबीजता का निषेध नहीं किया गया है।

'ताश्चतस्रः समापत्तयः'–भाष्य में प्रयुक्त **'चतस्रः'** पद से भी उक्त सिद्धान्त बाधित नहीं होता है। अर्थात् भाष्यकार को सवितर्कादि चार का ही सबीजत्व मान्य है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। **वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः** १/१७, **क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेः...**१/४१ तथा **सूक्ष्मविषयत्वं चाऽलिङ्गपर्यवसानम्** १/४५ इन तीनों सूत्रों पर समन्वयात्मक पुनरीक्षण करने से उक्त सिद्धान्त ही समर्थित होता है। ग्रहीतृ और ग्रहणसमापत्ति का अन्तर्भाव सूक्ष्मविषयक ग्राह्य समापत्ति में होता

है, जो इस प्रकार है–इन्द्रियविषयक ध्येयाकारता को ग्रहणसमापत्ति तथा अस्मिताविषयक ध्येयाकारता को ग्रहीतृसमापत्ति कहते हैं। 'अस्मिता' और 'इन्द्रियों' का सूक्ष्मविषयत्व स्पष्ट ही है। अतएव सूक्ष्मग्राह्यविषयक सविचार और निर्विचार समापत्ति को बतलाने के पश्चात् सूत्रकार ने सूक्ष्मत्व को अलिङ्गपर्यन्त इंगित किया है। इसके अन्तर्गत इन्द्रिय तथा अहंकार भी आ जाते हैं। यद्यपि भाष्यकार ने इन्द्रियों का सूक्ष्मत्व नहीं बतलाया है तथापि **'तन्मात्र'** पद से इन्द्रियाँ भी उपलक्षित होती हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ और तन्मात्र दोनों ही अहंकार के कार्य हैं। इस प्रकार ग्रहीतृ और ग्रहणसमापत्तियाँ सूक्ष्मग्राह्यविषयक समापत्ति में अन्तर्भुक् हो जाने से सवितर्कादि चार का ही 'सबीजत्व-विधान' भी अनुपपन्न नहीं ठहरता है।

'अष्टौ ते भवन्तीति'–तत्त्ववैशारदीय कथन की संयोजना इस प्रकार है–सविचार और निर्विचार के भेद से सम्प्रज्ञात दो प्रकार है। **'क्षीणवृत्तेः'** सूत्र द्वारा अवान्तरभेद को लेते हुए सम्प्रज्ञात तीन प्रकार का बतलाया गया है। उसमें भी अवान्तर-भेद को लेते हुए **'वितर्कविचार'** सूत्र द्वारा सम्प्रज्ञात का चातुर्विध्य कथित है। उसमें भी 'विकल्प' और 'अविकल्प' की दृष्टि से तथाकथित चतुर्विधता 'अष्टविधत्व' में पर्यवसित होती है। इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने सम्प्रज्ञात के आठ भेद बताये हैं॥४६॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं ग्राह्यग्रहणसमापत्त्योः स्थूलसूक्ष्मविषयभेदेन विशिष्टाविशिष्टरूपतश्[1]चतुर्विधविभाग उक्तः। ग्रहीतृसमापत्तौ च यः [2]सविकल्परूपो विशेषः स एतास्वेव चतसृष्वन्तर्भूतः, चेतनोपरागेणैवाचेतनेषु योगस्य व्यवस्थापितत्वात्। अतो ग्रहीतृसमापत्तौ सविकल्पाविकल्पादिविभागो नोक्तः। वितर्केत्यादिसूत्रेण पूर्वं संप्रज्ञातस्यावान्तरविभाग एव कृतः। इदानीं यथोक्तसमापत्त्याख्यकार्यमुखेन [3]सबीजपरिभाषापूर्वकं संप्रज्ञातस्य सामान्यलक्षणमनेनैव प्रसङ्गेनाह–ता एव सबीजः समाधिः।

इस प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्मविषय के भेद से ग्राह्य और ग्रहण समापत्तियों का विशिष्ट तथा अविशिष्ट (उपरक्त तथा अनुपरक्त) रूप से चार प्रकार का प्रभेद बतलाया गया। ग्रहीतृसमापत्ति में जो सविकल्परूप विशेष है, वह समापत्ति के पूर्वनिर्दिष्ट चार प्रभेदों में ही अन्तर्भुक् हो जाता है, क्योंकि चेतन के उपराग अर्थात् सम्बन्ध से ही अचेतन पदार्थों के विषय में योग (समाधि) की व्यवस्था हो

1. क ख ग – **चतुर्धा**, घ च छ – **चतुर्विध०**।
2. क ग घ च छ – **सविकल्परूपः** ख – **विशिष्टरूपः**।
3. ख ग घ च छ – **सबीजपरिभाषापूर्वकं संप्रज्ञातस्य सामान्यलक्षणमनेनैव प्रसङ्गेनाह** उपलभ्यते, क – **सबीज...आह** नोपलभ्यते।

सकती है। अतः ग्रहीतृसमापत्ति का सविकल्प और निर्विकल्परूप विभाग (प्रभेद) नहीं कहा गया है। पीछे 'वितर्कविचार...' १/१७ सूत्र द्वारा सम्प्रज्ञात का अवान्तर-विभाग ही कथित है। सम्प्रति, चित्त की पूर्वनिर्दिष्ट समापत्त्याख्य अवस्था के द्वारा 'सबीज' परिभाषापुरस्सर (सबीज को लक्षित करते हुए) सम्प्रज्ञात का सामान्य-लक्षण इसी प्रसङ्ग में किया जा रहा है–'ता एवेति।'

योगवार्त्तिकम्

ता एव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु समापत्तय एव सबीजः समाधिः संप्रज्ञातयोग इत्यर्थः। समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद्योगस्य समापत्तित्वमुक्तम्, योगे स्वतोऽवान्तरविशेषाभावादिति। ननु ग्रहीतृग्रहणग्राह्य[1]समापत्तिभिर्वितर्कविचारास्मिताऽनुगतास्त्रयः संप्रज्ञाता एव [2]संगृह्यन्ते न पुनरानन्दानुगत इति कथं ता एवेत्यवधारणमिति चेत्? न, आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेन ग्राह्यमध्ये प्रवेशात्। ननु दुःखबीजसंस्कारहेतुतया समापत्तय एव सबीजाः न तु वृत्तिनिरोधात्मको योग इति कथमुच्यते ता एव सबीजयोग इति? [3]तत्राह भाष्यकारः– ताश्चतस्र इति। [4]बहिर्वस्तून्यनात्मधर्माः संस्कारधर्मादयो दुःखबीजानि जायन्त आभ्य इति बहिर्वस्तुबीजाः, संप्रज्ञातनिष्ठाया अपि संस्कारहेतुत्वाद् धर्ममेघत्वाच्च। तथा च वितर्कादि-सूत्रोक्तरीत्या चतस्रः, प्रकृते तु त्रिधा विभक्तास्ता ग्रहीत्रादिविषयिकाः समापत्तयो बहिर्वस्तु-बीजा इत्यतस्ताभिः सम्बन्धात्समाधे संप्रज्ञाताख्यो वृत्तिनिरोधोऽपि सबीज उच्यत इत्यर्थः। ननु स्थूलसूक्ष्मसमापत्तेरेव चतुर्विधत्वादानन्दास्मितासमापत्तिभ्यां सह षट् समापत्तयो भवन्ति, तत्कथमुच्यते चतस्र इत्याशङ्कामपाकरोति–तत्र [5]स्थूलेऽर्थ इति। तत्र चतसृषु समापत्तिषु मध्ये। स्थूलेऽर्थ एक एव समाधिरवान्तरभेदेनैव सविचारनिर्विचाररूपतो द्विधा; तथा सूक्ष्मेऽर्थेऽप्येक एव समाधिरवान्तरभेदेनैव सविचारनिर्विचाररूपतो द्विधा प्रोक्त इत्यतो [6]वितर्कानुगतादिरूपैः [7]पूर्वैः स संप्रज्ञातयोगश्चतुर्धोपसंख्यातः परिगणित इत्यर्थः।

'**ता एव**'=ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य में होने वाली समापत्तियाँ ही अर्थात् ग्रहीत्रादि विषयक समापत्तियाँ ही '**सबीज समाधि**' अर्थात् सम्प्रज्ञात योग कही जाती हैं।

---

1. क घ – समापत्ति०, ख ग च छ – समापत्तिभिः।
2. क ख घ च छ – संगृह्यन्ते, ग – गृह्यते।
3. क ग घ च छ – तत्राह उपलभ्यते, ख – तत्राह नोपलभ्यते॥
4. क ख घ च छ – बहिर्वस्तून्यनात्मधर्माः संस्कारधर्मादयो दुःखबीजानि जायन्त आभ्य इति उपलभ्यते, ग – बहि....आभ्य इति नोपलभ्यते।
5. क घ छ – स्थूलेऽर्थे, ख च – स्थूले, ग – स्थूलार्थे।
6. क ख घ च छ – वितर्क०, ग – निर्वितर्क०।
7. क च छ – पूर्वैः सः, ख – पूर्व०, ग घ – पूर्वम्।

समापत्तिरूप विषयसाक्षात्कार की हेतुता होने से योग को **'समापत्ति'** (शब्द से) कहा गया है, क्योंकि योग में स्वतः अवान्तरविशेष का अभाव रहता है।

शङ्का–ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य-संज्ञक समापत्तियों के द्वारा सम्प्रज्ञात के वितर्क, विचार और अस्मितानुगत ये तीन भेद ही संगृहीत होते हैं। इससे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात का ग्रहण नहीं होता है। ऐसा स्थिति (आंशिक अन्तर्भाव की दशा) में कैसे **'ता एव'** ऐसा अवधारित किया जा सकता है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **'आनन्द'** बुद्धि का धर्म होने से उसका ग्राह्यसमापत्ति में अन्तर्भाव होता है। अर्थात् ग्राह्यसमापत्ति में आनन्दानुगत योग आता है।

शङ्का–दुःख के बीजभूत संस्कार की हेतु होने से समापत्तियाँ ही 'सबीज' कहलाने योग्य हैं, न कि वृत्तिनिरोधात्मक योग। अतः समापत्तियाँ ही सबीजयोग हैं, ऐसा कैसे कहा जा रहा है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'ताश्चतस्र इति।'** इन समापत्तियों से बहिर्वस्तुविषयक अनात्मभूत संस्कारात्मक **'दुःखबीज'** उत्पन्न होते हैं–अतः इन्हें **'बहिर्वस्तुबीज'** समापत्तियाँ कहा जाता है और ऐसी सबीजता सम्प्रज्ञात में भी है, क्योंकि सम्प्रज्ञात में संस्कारहेतुता तथा धर्ममेघवृत्त्यात्मक धर्मता विद्यमान रहती है। इस प्रकार **'वितर्कविचार...'** १/१७ सूत्र में कथित पद्धति से वितर्कानुगतादि भेद से चार प्रकार का सम्प्रज्ञात और प्रकृत में ग्रहीत्रादिविषयिणी तीन प्रकार की समापत्तियाँ भाष्य में **'बहिर्वस्तुबीज'** कही गई हैं। अतः समापत्ति के इन सभी भेदों के साथ समाधि का सम्बन्ध होने से सम्प्रज्ञातसंज्ञक वृत्तिनिरोध भी **'सबीज'** कहलाता है।

शङ्का–पूर्ववर्णित स्थूलविषयिणी तथा सूक्ष्मविषयिणी समापत्ति के ही चार भेद होने से ये चार भेद आनन्दसमापत्ति एवं अस्मितासमापत्ति नाम के अन्य दो भेदों के साथ मिलकर कुल छह भेद हो जाते हैं। अतः भाष्यकार ने किस आधार पर **'ताश्चतस्रः समापत्तयः'** इस शब्दावली द्वारा समापत्ति का चतुर्विधत्व प्रतिपादित किया है?

समाधान–उक्त शंका का निराकरण स्वयं भाष्यकार करते हैं–**'तत्र स्थूलेऽर्थ इति।'** उन चार प्रकार की समापत्तियों के मध्य में स्थूलविषयिणी एक ही समाधि अवान्तरभेद के कारण ही सवितर्क तथा निर्वितर्करूप से दो प्रकार की कही गई है। इसी प्रकार सूक्ष्मविषयिणी एक ही समाधि अवान्तरभेद के कारण ही सविचार और निर्विचार-रूप से दो प्रकार की कही गई है। अतः वितर्कानुगतादि (वितर्कानुगत, विचारानुगत,

आनन्दानुगत और अस्मितानुगत) रूप से पूर्ववर्णित सम्प्रज्ञातयोग ही प्रकृत भाष्य में चार प्रकार से वर्णित हुआ है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार सूत्रगत 'एव' पद के अन्वय पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

केचित्तु सूत्रस्थ एवकारो भिन्नक्रमः। तथा च ताः सवितर्कनिर्वितर्कसविचारनिर्विचार-रूपाश्चतस्रः समापत्तयः सबीजसमाधेरेवेति सूत्रार्थः। तेन न ग्रहीत्रादिसमापत्तेरपि सबीजत्वं भाष्ये प्रागुक्तं विरुध्यत इत्याहुः। तन्न; ग्रहीत्रादिसमापत्तेः सबीजत्वानुक्त्याऽत्र सूत्रकारस्य न्यूनताऽऽपत्तेः, एवकारवैयर्थ्याच्च, यथाक्रमस्यैवैवकारस्योपपत्तौ भिन्नक्रमत्वानौचित्याच्चेति। यच्चान्यत्तैरुक्तं ग्राह्यविषये स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्कादिरूपाश्चतस्रः समापत्तयः, ग्रहणाख्येषु चेन्द्रियेषु सानन्दनिरानन्दरूपे द्वे समापत्ती, ग्रहीतृषु च सास्मितनिरस्मितरूपे द्वे समापत्ती इत्यष्टौ समापत्तयो बोध्याः, युक्तिसाम्यादिति तदपि न;[1] प्रमाणादर्शनात्, आनन्दानुगता-स्मिताऽनुगतयोर्निरानन्दनिरस्मितत्वरूपविशेषासंभवाच्च। आनन्दो हि ह्लादमात्रोऽस्मिता च चैतन्यमात्रसंविदिति भाष्यकृता प्रोक्तम्, न त्विन्द्रियं ह्लादशब्देन व्याख्येयम्, [2]लक्षणा-प्रसङ्गात्। नाप्यहङ्कारोपरक्त[3]चैतन्यमस्मिताशब्देन व्याख्येयम्, लक्षणाऽऽपत्तेः। अतः कथं ह्लाद-वतः संप्रज्ञातस्य ह्लादशून्यत्वं कथं वा विविक्तचिन्मात्रसंविद्युक्तस्य संप्रज्ञातस्य तच्छून्यत्वमिति दिक्। तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः–ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्च-तस्रः, पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति। संप्रज्ञातयोगस्[4]त्वानन्दानुगतमादायावान्तरभेदेन षोढैवेति॥४६॥

पूर्वपक्ष–व्यासभाष्य के कुछ व्याख्याकार सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद का भिन्नक्रम करते हैं अर्थात् एवकार का यथाश्रुत अन्वय नहीं करते हैं। उन पूर्वपक्षियों (पूर्वाचार्यों) के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार है–'ताः' अर्थात् सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचाररूप चार समापत्तियाँ तो 'सबीज' समाधि ही हैं (अर्थात् इन्हें तद्भिन्न नहीं समझना चाहिये)। इससे भाष्य में ग्रहीत्रादि समापत्तियों का भी जो सबीजत्व पीछे प्रतिपादित हुआ है, उससे विरोध उत्पन्न नहीं होता है।

उत्तरपक्ष–(पूर्वपक्ष-खण्डन) विज्ञानभिक्षु पूर्वाचार्यों (वाचस्पति मिश्र) के इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। विज्ञानभिक्षु का तर्क है कि विगत सूत्र में ग्रहीत्रादि समापत्ति का सबीजत्व कथित न होने से यहाँ (प्रकृत सूत्र के अनुसार) ग्रहीत्रादि में सबीजत्व को स्वीकार करने पर सूत्रकार के वक्तव्य की न्यूनता मानी जायेगी।

---

1. क ख ग – ह्येवं, घ च छ – न।
2. क ख घ च छ – लक्षणाप्रसंगात्, ग – लक्षणप्रसंगात्।
3. क – चैतन्ये, ख ग घ च छ – चैतन्यम्।
4. क ख घ च छ – तु, ग – च।

दूसरी युक्ति यह है कि सूत्र में एवकार पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। तीसरी युक्ति यह है कि यथाश्रुत पाठक्रम से एवकार की संगति बैठ जाने पर उसे भिन्नक्रम से अन्वित करना भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

पूर्वपक्ष–ग्राह्यविषय में स्थूल तथा सूक्ष्म विषय के भेद से सवितर्कादि (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार) रूप की चार समापत्तियाँ हैं; ग्रहणात्मक इन्द्रियों में सानन्द और निरानन्दरूप की दो समापत्तियाँ हैं तथा ग्रहीतृविषय में सास्मित और निरस्मितरूप की दो समापत्तियाँ हैं–इस प्रकार समापत्तियाँ आठ प्रकार की समझनी चाहियें, क्योंकि ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीतृ समापत्तियों के अवान्तर-भेदों में युक्तिसाम्य है।

उत्तरपक्ष–(पूर्वपक्ष-खण्डन) ऐसा जो पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने कहा है, वह भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें (समापत्ति के अष्टविधत्व में) कोई प्रमाण दिखाई नहीं पड़ता है तथा आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समापत्तियों में 'निरानन्द' और निरस्मितरूप विशेष का होना सम्भव भी नहीं है। आनन्दानुगतसमापत्ति ह्लादमात्र-विषयक तथा अस्मितानुगतसमापत्ति चैतन्यमात्रसंवित् (चैतन्यविषयक) है–ऐसा भाष्यकार द्वारा कहा गया है। अतः '**ह्लाद**' शब्द से इन्द्रिय को नहीं लेना चाहिये, अन्यथा ('**ह्लादवान् इन्द्रियः**' में) लक्षणा करनी पड़ेगी, जो आपत्तिजनक है। इसी प्रकार '**अस्मिता**' शब्द से अहंकारोपरक्त चैतन्य को नहीं लेना चाहिये, अन्यथा लक्षणा करने की आपत्ति आयेगी। अतः ह्लादयुक्त सम्प्रज्ञात का ह्लादशून्यत्व अथवा विविक्तचिन्मात्रसंविद्युक्त सम्प्रज्ञात का तद्रहितत्व (तच्छून्यत्व) कैसे सम्भव हो सकता है? अतः सिद्धान्तित होता है कि अवान्तरभेद से समापत्तियाँ पांच ही हैं, वे हैं–ग्राह्य और ग्रहण के स्थूल-सूक्ष्म-विषय के भेद से सवितर्कादि (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार) चार तथा पांचवीं ग्रहीतृसमापत्ति है। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि आनन्दानुगत को लेकर सम्प्रज्ञात योग के छह भेद ही हैं। (वे हैं–सवितर्कयोग, निर्वितर्कयोग, सविचारयोग, निर्विचारयोग, आनन्दयोग तथा अस्मितानुगतयोग)॥४६॥

बालप्रिया–

'**ता एव सबीजः समाधिः**'–**भिश्र-भिक्षु-मतभेद**–सूत्रगत 'एव' पद के अन्वय को लेकर वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में स्पष्टतः कहा है–'**एवकारो भिन्नक्रमः सबीज इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः**' और एवकार के भिन्नक्रम का प्रयोजन '**व्रीहीनवहन्तीति**, '**चतुरो मुष्टीन्निर्वपतीति**' में व्रीहि में अवघातयोग के नियमन की भाँति सवितर्कादि चार में '**सबीजत्व**' का नियमन बतलाया है। किन्तु इससे '**ग्रहण**' और '**ग्रहीतृ**' संज्ञक समापत्ति का '**सबीजत्व**'

निषिद्ध नहीं है। विज्ञानभिक्षु ने **'केचित्तु'** पद के द्वारा वाचस्पति मिश्र के मत को उपस्थित करते हुए **'तन्न'** पद के द्वारा मिश्रमत में असहमति व्यक्त की है तथा मिश्रमत के खण्डनार्थ तीन हेतुपरक पञ्चम्यन्त पदों का प्रयोग किया है, वे हैं– **सूत्रकारस्य न्यूनतापत्तेः, एवकारवैयर्थ्याच्च, भिन्नक्रमत्वानौचित्याच्च।**

'समापत्तयः'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–वाचस्पति मिश्र ने वितर्क और विचार के होने वाले अवान्तरभेद की स्पष्टतः उल्लिखित युक्ति को आनन्द और अस्मिता में भी प्रयुक्त कर समापत्तियों का अष्टविधत्व स्वीकार किया है। तदर्थ पंक्ति है–**'तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्र इत्यष्टौ सिद्धा भवन्ति।'** विज्ञानभिक्षु ने 'आनन्द' और 'अस्मिता' के निरानन्द और निरस्मितरूप का प्रबलतापूर्वक सयुक्तिक खण्डन किया है। विज्ञानभिक्षु ने समापत्ति का पञ्चविधत्व और सम्प्रज्ञातयोग का षट्प्रकारत्व स्वीकार किया है। तदर्थ पंक्ति है–**'ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्चतस्रः, पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति। सम्प्रज्ञातयोगस्त्वानन्दानुगतमादायावान्तरभेदेन षोढेवेति'**। वस्तुतस्तु इसमें योगी का अनुभव ही प्रमाण कहा जा सकता है॥४६॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥४७॥

निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्यकाल में (योगी को) आध्यात्मिक 'प्रसाद' प्राप्त होता है॥४७॥

व्यासभाष्यम्

अशुद्ध्या[1]वरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थ[2]विषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः। तथा चोक्तम्–

प्रज्ञा[3]प्रसादमारुह्य अशोच्यः [4]शोचतो जनान्॥
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥४७॥

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र – आवरण०, झ – आचरण०।
2. क ख ग घ च प फ भ म य र – विषयः क्रमाननुरोधी, छ ज झ त थ – विषयक्रमानुरोधी, ब – विषयः क्रमानुरोधी, द ध न – विषयोऽननुरोधी।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ भ म य – प्रसादं, घ प ब र – प्रासादम्।
4. क ग – शोचयन्, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – शोचतः।

अशुद्धि (रजोगुण एवं तमोगुण की वृद्धि) के आवरणरूप मल से रहित प्रकाशरूप सत्त्वगुण के परिणाम बुद्धि का जो रजोगुण एवं तमोगुण से अप्रभावित, स्वच्छ तथा स्थिरतारूप जो एकाग्र-प्रवाह होता है, उसे 'वैशारद्य' कहते हैं। जब निर्विचारसमापत्ति को ऐसी परिपक्वता (प्रवीणता, गम्भीरता) प्राप्त होती है, तब योगी को बौद्धिक उत्कर्ष अर्थात् यथार्थवस्तुविषयक युगपत्सर्वार्थग्राही प्रत्यक्ष ज्ञानालोक होता है। ऐसा ही कहा गया है–

'पर्वत के शिखर पर पहुँचा व्यक्ति जैसे भूमि पर (नीचे) स्थित लोगों को बौना (तुच्छ) देखता है, वैसे ही ज्ञानालोक (रूप शिखर) पर आरूढ योगी स्वयं शोकरहित होकर, अपने से भिन्न समस्त अज्ञानी जनों को शोकसन्तप्त देखता है'॥४७॥

तत्त्ववैशारदी

चतसृष्वपि समापत्तिषु ग्राह्यविषयासु निर्विचारायाः शोभनत्वमाह–निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। वैशारद्यपदार्थमाह–**अशुद्धीति।** रजस्तमसोरुपचयोऽशुद्धिः, सैवावरण-**लक्षणो मलस्तस्मादपेतस्य** प्रकाशात्मनः प्रकाशस्वभावस्य **बुद्धिसत्त्वस्य।** अत **एवानभिभूत इति।** स्यादेतत्–ग्राह्यविषया चेत्समापत्तिः कथमात्मविषयः प्रसाद इत्यत आह–**भूतार्थविषय इति।** नात्मविषयः किं तु तदाधार इत्यर्थः। **क्रमाननुरोधी युगपदित्यर्थः।** अत्रैव पारमर्षीं **गाथामुदाहरति–तथा चेति।** ज्ञानालोकप्रकर्षेणात्मानं सर्वेषामुपरि पश्यन्दुःखत्रयपरीतान् [1]**शोचतो जनाञ्जानाती**[2]त्यर्थः॥४७॥

सूत्रकार ग्राह्यविषयक सवितर्कादि चार समापत्तियों में भी निर्विचारा समापत्ति की श्रेष्ठता को बताते हैं–'**निर्विचारेति**।' भाष्यकार (सूत्रगत) '**वैशारद्य**' पद का अर्थ करते हैं–'**अशुद्धीति**।' रजोगुण एवं तमोगुण की प्रचुरता (वृद्धि) को '**अशुद्धि**' कहते हैं। इसी अशुद्धि को आवरणरूप (ज्ञानावरणरूप) '**मल**' कहते हैं। इस अशुद्ध्यात्मक ज्ञानावरणरूप मल से रहित प्रकाशस्वभाव वाली (प्रकाशशीला) सात्त्विकी बुद्धि का जो अनभिभूत (रजोगुण एवं तमोगुण से अप्रभावित), स्वच्छ, स्थिरतारूप एकाग्रप्रवाह है, उसे '**वैशारद्य**' कहते हैं।

शङ्का–सूत्रस्थ '**आत्म**' शब्द को लेकर शंका की जा रही है–निर्विचारा समापत्ति जब ग्राह्यविषयक है तो फिर उससे आत्मविषयक प्रसाद (नैर्मल्य) कैसे कहा जा रहा है? अर्थात् समापत्ति के विषय और उसके फल में असमानविषयकत्व कैसा?

1. क छ – **लोकान् शोचतः**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – **शोचतो जनान्**।
2. थ द ध – **इत्यर्थः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **इत्यर्थः** नोपलभ्यते।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**भूतार्थविषय इति**।' 'आत्म' शब्द से निर्विचारा समापत्ति आत्मविषयक है, यह नहीं बताया जा रहा है, अपितु आत्मा (बुद्धि) को नैर्मल्याधार बतलाना यहाँ अभिप्रेत है। '**क्रमाननुरोधी**' पद का अर्थ है— युगपत् अर्थात् ज्ञान का क्रमरहित एक साथ होना। भाष्यकार इस विषय में परमर्षि की गाथा को प्रस्तुत करते हैं—'**तथा चेति**।' अर्थात् ज्ञानालोक के उत्कर्ष से योगी आत्मा (अपने) को सर्वोपरि जानता हुआ दुःखत्रययुक्त मनुष्यों (अज्ञानियों) को शोकयुक्त अथवा तुच्छ समझता है॥४७॥

योगवार्त्तिकम्

उक्तासु समापत्तिषु निर्विचारायां विशेषं कंचिदाह—निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। सामान्यतो वैशारद्यमादौ व्याचष्टे—अशुद्धीति। रजस्तमोवृद्धिकरणं पापादिरशुद्धिः, सैवावरणलक्षणो मलः, तस्मादपेतस्येति हेतुगर्भविशेषणम्। प्रकाशात्मनः प्रकाशस्वभावस्य बुद्धिरूपसत्त्वस्य कारणापायादेव रजस्तमोभ्यामनभिभूतोऽतः स्वच्छः ध्येयगताशेषविशेष-प्रतिबिम्बोद्ग्राही स्थितिप्रवाह एकाग्रताधारा चित्तस्य वैशारद्यमित्यर्थः। समग्रसूत्रार्थं व्याचष्टे—[1]यदेति। आत्मनि बुद्धौ वर्त्तत इत्यध्यात्मं [2]तादृशः। प्रसादशब्दार्थं विवृणोति—भूतार्थेति। यथार्थविषयकः क्रमाननुरोधी युगपत्[3]सर्वार्थताग्राही स्फुटः [4]प्रत्यक्षः स प्रज्ञाऽऽख्य आलोक इत्यर्थः। [5]अत्रैव परमर्षिगाथामुदाहरति—तथा चेति। तरति शोकमात्मविदिति श्रुतेरशोच्योऽहं दुःखी पापीत्यादिरूपैः [6]स्वयमशोच्यः सन् सर्वानेव जनान् शोचतो दुःखितान् पश्यति। स्वयं शोच्यो हि पुरुषः स्वापेक्षया किंचित् [7]सुखिनमि[8]व पश्यति, मौढ्यात्; अशोच्यस्तु परमार्थतो दुःखसमुद्रमग्नं सर्वजीवजातं दुःखितमेव पश्यति; अमूढत्वादित्यर्थः। तथा च निर्विचार[9]वैशारद्ये जाते स्वयमेव प्रकृतिपुरुषविवेको वा परमेश्वरतत्त्वं वा साक्षात्क्रियते न तु तत्साक्षात्काराय पुनर्योगापेक्षेति निर्विचाराया उत्कर्षः॥४७॥

उक्त समापत्तियों में से निर्विचारा समापत्ति के विषय में सूत्रकार एक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं—'**निर्विचारेति**।' भाष्यकार सर्वप्रथम वैशारद्य की सामान्यरूप से

---

1. क — यदा, ख ग च छ — यदेति, घ — यदिति।
2. ग — प्रसादः (तादृशः पश्चात्) उपलभ्यते, क ख घ च छ — प्रसादः नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ — सर्वार्थ०, च छ — सर्वार्थता।
4. क घ च छ — प्रत्यक्षः सः, ख ग — प्रत्यक्षरूपः।
5. क ग घ च छ — अत्र, ख — तत्र।
6. क ख ग घ — स्वस्य, च छ — स्वयं।
7. क घ च छ — सुखिनं, ख ग — सुखितम्।
8. ख ग — कदाचित् (इव पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ — कदाचित् नोपलभ्यते।
9. क — वैशारद्य०, ख ग घ च छ — वैशारद्ये।

व्याख्या करते हैं–'**अशुद्धीति**।' रजोगुण एवं तमोगुण की वृद्धि के कारणभूत पापादि को '**अशुद्धि**' कहते हैं। यही अशुद्धि आवरणरूप '**मल**' है। इस प्रकार 'अशुद्धिरूप आवरणमल से रहित का'–यह (प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व का) हेतुगर्भविशेषण है। '**प्रकाशात्मक**' अर्थात् प्रकाशस्वभाव वाले बुद्धिसत्त्व के आवरणात्मक मल के क्षीण होने पर ही उसकी रजोगुण एवं तमोगुण से अनभिभूतता होती है अर्थात् राजस तथा तामस वृत्तियों से अनभिभूत बुद्धि '**स्वच्छ**' होती है अर्थात् ध्येयगत अशेषविशेष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के सामर्थ्य से युक्त होती है तथा वह अखण्ड एकाग्रप्रवाह में प्रवहणशील होती है। प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व के ऐसे अनभिभूत स्वच्छ स्थितिप्रवाह को '**वैशारद्य**' कहते हैं। अब भाष्यकार पूरे सूत्र का अर्थ करते हैं–'**यदेति**'। '**अध्यात्म**' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–'**आत्मनि बुद्धौ वर्त्तत इति अध्यात्मम्**'–आत्मा अर्थात् बुद्धि से जो सम्बन्धित है उसे '**अध्यात्म**' कहते हैं। इस प्रकार बुद्धिसम्बन्धी **प्रसाद** को '**अध्यात्मप्रसाद**' कहते हैं। भाष्यकार '**प्रसाद**' शब्द के अर्थ को खोलते हैं–'**भूतार्थेति**'। '**भूतार्थविषयक**' अर्थात् यथार्थविषयक, '**क्रमाननुरोधी**' अर्थात् युगपत् सर्वार्थग्राहक तथा '**स्फुट**' अर्थात् प्रत्यक्षात्मक जो '**प्रज्ञाख्य आलोक**' है, उसे '**प्रसाद**' कहते हैं। भाष्यकार इस विषय में पूर्वाचार्य के वचन को उद्धृत करते हैं–'**तथा चेति**।' '**तरति शोकमात्मवित्**' (छा.उ. ७/१/३) पञ्चशिखाचार्य के उद्धृत वचन में निहित अभिप्राय की प्रतिपादिका–यह श्रुति इसमें प्रमाण है। श्लोक का अभिप्राय यह है कि शोकरहित तत्त्वज्ञ पुरुष 'मैं दुःखी हूँ, पापी हूँ'–इत्यादि रूप से स्वयं शोक न करता हुआ शोकयुक्त सभी व्यक्तियों को दुःखी देखता है। जब कि स्वयं शोक करता हुआ व्यक्ति मूर्खतावश अपनी तुलना में दूसरे को सुखी समझता है। शोकरहित व्यक्ति तो तत्त्वज्ञान से यथार्थरूप में दुःखसमुद्र में निमज्जित निखिल प्राणिजात को दुःखी ही देखता है। इसी प्रकार प्रकृत में निर्विचारसमापत्ति की उक्त विशारदता प्राप्त होने पर साधक को स्वयं प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान होता है अथवा वह ईश्वरतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इस साक्षात्कार के लिये साधक को पुनः योग की अपेक्षा नहीं रहती है, बस यही निर्विचारसमापत्ति का उत्कर्ष है॥४७॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८॥

इस स्थिति में 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा होती है ॥ ४८॥

व्यासभाष्यम्

तस्मिन्समाहितचित्तस्य [1]या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति; न च[2] तत्र विपर्यास[3]ज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति। तथा चोक्तम्–

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ इति ४८॥

निर्विचार-समाधि से समुद्भूत अध्यात्म-प्रसाद के प्राप्त होने पर एकाग्र-चित्त वाले योगी को जो प्रज्ञा (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उसकी 'ऋतम्भरा' संज्ञा है। इस प्रज्ञा का यह ऋतम्भरा नाम सार्थक है, क्योंकि यह यथार्थभूत विषय को ही ग्रहण करती है। इसमें मिथ्याज्ञान का लवलेश भी सम्पर्क नहीं होता है। और यह कहा भी गया है–

'आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास का आनन्द–इन तीन रीतियों से प्रज्ञा को अधिगत करते हुए योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है'॥४८॥

तत्त्ववैशारदी

अत्रैव योगिजनप्रसिद्धान्वर्थसंज्ञाकथनेन योगिसंमतिमाह–ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। सुगमं **भाष्यम्। आगमेनेति वेदविहितं श्रवणमुक्तम्। अनुमानेनेति मननम्। ध्यानं चिन्ता।** तत्राभ्यासः **पौनःपुन्येनानुष्ठानम्। तस्मिन् रस आदरः। तदनेन निदिध्यासनमुक्तम्॥४८॥**

निर्विचारसमाधि की पराकाष्ठा में निष्पादित होने वाली अध्यात्मप्रसादरूप 'प्रज्ञा' के विषय में योगिसमाज में विख्यात उसकी सार्थक संज्ञा के अभिधान द्वारा सूत्रकार उसे योगिसमर्थित बताते हैं–'**ऋतम्भरेति**।' भाष्य सुगम है। तत्त्ववैशारदीकार उद्धृत श्लोक के शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हैं–'**आगमेन**' पद के द्वारा वेदविहित 'श्रवण' कथित है। '**अनुमानेन**' पद के द्वारा 'मनन' अभिप्रेत है। '**ध्यान**' शब्द का अर्थ 'चिन्ता' (चिन्तन) है। भूयोभूयः ध्यानक्रिया का करना '**अभ्यास**' है। '**अभ्यास**' के प्रति आदर होना '**रस**' है। इस प्रकार समवेतरूप में '**ध्यानाभ्यासरस**' पद के द्वारा '**निदिध्यासन**' विवक्षित है॥४८॥

---

1. छ थ – **अस्मितामात्रविवेकख्यातिः** (या पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च झ त थ द ध न प फ ब भ म य – **अस्मितामात्रविवेकख्यातिः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **च** उपलभ्यते, घ प फ र – च नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **ज्ञान०** उपलभ्यते, घ प फ र – ज्ञान० नोपलभ्यते।

बालप्रिया–

'तत्र'–इस **'तत्र'** पद का व्याख्यान है–**'तस्मिन्'**। इस सप्तम्यन्त पद से अव्यवहित पूर्व सूत्र में वर्णित विषय का ही ग्रहण होता है। अर्थात् 'निर्विचारसमाधि के वैशारद्य से जन्य अध्यात्मप्रसाद की अवस्था में'–ऐसा अर्थ गृहीत होता है॥४८॥

योगवार्त्तिकम्

पूर्वसूत्रोक्तसबीजसमाधौ जायमानायाः समापत्त्याख्यायाः प्रज्ञाया अन्वर्थां तान्त्रिकीं संज्ञाम[1]पि दर्शयति–ऋतम्भरा **तत्र प्रज्ञा। तस्मिन्निति तत्रेत्यस्य विवरणम्। तस्मिन्समाहितचित्तस्येति पूर्वोक्तसबीजयोग इत्यर्थः। न चाव्यवहितसूत्रोक्तं वैशारद्यं प्रसादो वा** [2]**कथं न तत्रेत्यनेन न परामृष्यत इति वाच्यम्, द्वितीयसूत्रतोऽत्र समाधिप्रज्ञासामान्यपरत्वस्य लप्स्यमानत्वात्। सुगममन्यत्।**

सूत्रकार, पिछले सूत्र में कथित सबीजसमाधि में निष्पादित होने वाली समापत्तिरूप प्रज्ञा के युक्तियुक्त पारिभाषिक नाम (तान्त्रिक परिभाषा) को भी प्रदर्शित करते हैं–**'ऋतम्भरेति'**। भाष्यकार ने **'तस्मिन्'** पद से सूत्रगत **'तत्र'** पद का विवरण किया है और इससे **'सबीजयोग'** गृहीत होता है। इस प्रकार समाहित चित्त वाले योगी को पूर्वोक्त **'सबीजयोग'** में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसे **'ऋतम्भरा-प्रज्ञा'** कहते हैं।

शङ्का–'तत्र' पद से अव्यवहित सूत्र में प्रतिपादित **'वैशारद्य'** अथवा **'अध्यात्मप्रसाद'** का ग्रहण क्यों नहीं होता है? अर्थात् निर्विचारवैशारद्य अथवा अध्यात्मप्रसादकाल में समुत्पन्न प्रज्ञा को **'ऋतम्भरा'** कहा जाना समुचित है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि द्वितीय (व्यवहित **'ता एव सबीजः समाधिः'** १/४६) सूत्र के अनुसार यहाँ **'तत्र'** पद को समाधिप्रज्ञासामान्यपरक मानना अभीष्ट है। एतत्सम्बन्धी वाक्य के अन्य पदों का अर्थ सरल है।

बालप्रिया–

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–सूत्रगत **'तत्र'** पद **'अत्र'** पदसापेक्ष होने से इसका किस आधारबोधक पद के साथ अन्वय किया जाय, इस विषय में वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने **'अत्रैव'** कहकर अव्यवहित सूत्र के साथ **'तत्र'** पद को अन्वित किया है और योग के व्याख्याकार हरिहरानन्द आरण्यक ने अत्यन्त स्फुट शब्दावली का प्रयोग भी किया है, जो इस प्रकार है–**'तस्मिन्=निर्विचारस्य वैशारद्ये जाते सति'**। विज्ञानभिक्षु ने इस पूर्व मत का

1. क ग घ च छ – **अपि दर्शयति, ख – प्रदर्शयति।**
2. क ख ग घ – **कथं तत्रेत्यनेन परामृष्यते, च छ – कथं न तत्रेत्यनेन न परामृष्यते।**

उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है तथा 'तत्र' पद को व्यवहित सूत्र के साथ संयोजित कर उसे समाधिप्रज्ञासामान्यपरक मानने का समर्थन किया है। तदर्थ पंक्ति है- 'न...इति। **वाच्यम्, द्वितीयसूत्रतोऽत्र समाधिप्रज्ञासामान्यपरत्वस्य लप्स्यमानत्वात्।'**

सम्प्रति योगवार्त्तिककार प्रज्ञा की ऋतम्भरात्मक अन्वर्थता को शंकोपस्थापन-पूर्वक सिद्ध करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

ननु संज्ञाकथनमात्रेण किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह–अन्वर्थेति। [1]**विपर्यासरूपज्ञानं यद्यपि सवितर्कयोगजप्रज्ञायां शब्दार्थज्ञानविकल्पेऽस्ति तथाऽपि ऋतम्भरजातीयत्वस्यैवात्र विवक्षितत्वात् न तस्यामव्याप्तिः। साजात्यं च समाधिजप्रज्ञात्वेन। अथ वा तत्र समाहितचित्ते जायमाना या प्रज्ञा सैव ऋतम्भरोच्यत इति सूत्रार्थः, लौकिकज्ञानेऽविद्यालेशसंपर्कावश्यंभावादिति। योगकाले प्रकृष्टा प्रज्ञा भवतीत्यत्र स्मृतिं प्रमाणयति–तथा चेति। ध्यानस्य चिन्तनस्य योऽभ्यासः पौनःपुन्यं तत्र यो रस आदरस्तेन। तथा च श्रवणमनननिदिध्यासनैस्त्रिभिर्हेतुभिः सबीजयोगकाले प्रज्ञां प्रकल्पयन् प्रकर्षेण विपर्यासराहित्येनोत्पादयन् तत्प्रज्ञातः परवैराग्यद्वारा वक्ष्यमाणमुत्तमयोगं निर्बीजं लभत इति श्लोकार्थः॥४८॥**

शङ्का–सूत्र के द्वारा '**ऋतम्भरा**' संज्ञा के कथनमात्र का उद्देश्य क्या हो सकता है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**अन्वर्थेति**।' यद्यपि सवितर्कयोगजन्य प्रज्ञा में शब्दार्थज्ञान का विकल्पात्मक विपर्यस्तज्ञान विद्यमान रहता है तथापि यहाँ सबीजयोग में ऋतम्भरजातीय प्रज्ञा (यथार्थोद्ग्राहिणी ख्याति) ही विवक्षित है, अतः सबीजयोग में ऋतम्भरत्व की अव्याप्ति नहीं है। और यह साजात्य समाधिजन्य प्रज्ञा की दृष्टि से है। अथवा सूत्र का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि '**तत्र**' अर्थात् समाहित चित्त में उत्पन्न होने वाली जो प्रज्ञा है, उसे ही '**ऋतम्भरा**' कहते हैं, क्योंकि तद्भिन्न लौकिकज्ञान में अविद्या का अंशतः सम्पर्क अवश्य ही बना रहता है। योगकाल में उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, इस विषय में भाष्यकार स्मृतिवाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं–'तथा चेति।' '**ध्यान**' अर्थात् चिन्तन का जो '**अभ्यास**' अर्थात् बार-बार करना है, उसमें जो '**रस**' अर्थात् निष्ठा (आदर) है, उसे '**ध्यानाभ्यासरस**' कहते हैं। इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप इन तीन हेतुओं के द्वारा सबीजयोगकाल में विपर्यासराहित्यरूप से प्रज्ञा को आगे बढ़ाता हुआ साधक उस प्रज्ञा के प्रति परवैराग्य जागरित कर वक्ष्यमाण उत्कृष्टतम निर्बीजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करता है, ऐसा श्लोक का अर्थ है॥४८॥

---

1. क च छ – **विपर्यासरूपज्ञानं, ख ग घ – विपर्यासरूपं ज्ञानं विपर्यासज्ञानम्।**

भाष्यकार अग्रिम सूत्र की अतिसंक्षिप्त अवतरणिका रचते हैं–

व्यासभाष्यम्

सा पुनः–

और वह (ऋतम्भरा प्रज्ञा)–

योगसूत्रम्

श्रुतानुमान[1]प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥४९॥

'विशेष' रूप अर्थविषयक होने से (ऋतम्भरा प्रज्ञा) शास्त्र-(आगम) जन्य प्रज्ञा और अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली होती है॥४९॥

व्यासभाष्यम्

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषय[2]मेव। न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्।कस्मात्? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथानुमानं सामान्यविषयमेव। यत्र [3]प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्र [4]न प्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम्। अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण [5]ग्रहणम[6]स्ति। न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥४९॥

'श्रुत' शब्द का अर्थ है–आगमप्रमाणजन्य ज्ञान, (और) यह ज्ञान सामान्यविषयक ही होता है, क्योंकि 'आगम' के द्वारा पदार्थनिष्ठ विशेषरूप का ग्रहण होना सम्भव नहीं है।

---

1. **प्रज्ञा०**–नोपलभ्यते।
2. ख – **एव** उपलभ्यते, क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **एव** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र – **प्राप्तिः**, भ – **व्याप्तिः**।
4. क ख ग घ ध प फ ब र – **अप्राप्तिः**, च छ त झ त थ द न म य – **न प्राप्तिः**, भ – **न व्याप्तिः**।
5. ज – **योगज्ञाननिष्ठस्य हि लौकिकप्रमाणगोचरस्य** (ग्रहणं पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **योग....गोचरस्य** नोपलभ्यते।
6. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **अस्ति** उपलभ्यते, ख घ प फ र – **अस्ति** नोपलभ्यते।

शङ्का–किस कारण से आगम द्वारा पदार्थगत विशेषरूप गृहीत नहीं होता है? **समाधान**–क्योंकि शब्द विशेष-अर्थ के साथ संकेतित नहीं है। इसी प्रकार (आगम के समान) अनुमान भी सामान्यविषयक ही होता है। जैसे–जिसमें पहुँचने का सामर्थ्य होता है, उसमें गति होती है (अन्वयव्याप्ति) और जिसमें पहुँचने का सामर्थ्य नहीं होता, उसमें गति नहीं होती है (व्यतिरेक-व्याप्ति)–ऐसा कहा गया है। इस प्रकार सामान्यविषयज्ञान में ही अनुमान के द्वारा पर्यवसान होता है। इसलिये कोई भी (पदार्थगत) विशेष; आगम और अनुमान का विषय नहीं बनता है। और (यहाँ तक कि) सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ वस्तु के विशेषों का ग्रहण तो लौकिक प्रत्यक्ष से भी नहीं होता है। इन सभी प्रमाणों से गृहीत न होने पर भी (पदार्थगत) विशेषों का अभाव नहीं रहता है, (अर्थात् उनका अभाव नहीं कहा जा सकता है)। समाधिप्रज्ञा के द्वारा वह विशेष; चाहे सूक्ष्मभूतगत हो अथवा पुरुषगत हो, गृहीत (ग्राह्य) होता है। इसलिये विशेषरूप विषय वाली होने से यह (ऋतम्भरा) प्रज्ञा आगम और अनुमानप्रज्ञा से भिन्न विषय वाली होती

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–आगमानुमानगृहीतार्थविषयभावनाप्रकर्षलब्धजन्मा निर्विचारागमानुमान-विषयमेव गोचरयेत्; न खल्वन्यविषयानुभवजन्मा संस्कारः शक्तोऽन्यत्र ज्ञानं जनयितुम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मान्निर्विचारा चेदृतम्भरा, आगमानुमानयोरपि [1]तत्प्रसङ्ग इत्यत आह–**श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वाद् इति। बुद्धिसत्त्वं हि प्रकाशस्वभावं सर्वार्थ-दर्शनसमर्थमपि तमसावृतं यत्रैव रजसोद्घाट्यते तत्रैव गृह्णाति। यदा त्वभ्यासवैराग्याभ्याम-पास्तरजस्तमोमलमनवद्यवैशारद्यमुद्द्योतते तदास्यातिपतितसमस्तमानमेयसीम्नः प्रकाशानन्त्ये सति किं नाम यन्न गोचर इति भावः।**

शङ्का–आगम और अनुमान से गृहीत पदार्थविषयक भावना करने से अर्जित सामर्थ्य (प्रकर्ष) के द्वारा समुद्भूत निर्विचारा समापत्ति आगम और अनुमानप्रमाण के विषयीभूत पदार्थ का ही प्रत्यक्ष करे, क्योंकि अन्यविषयक अनुभव से जन्य संस्कार अनुभूतविषयातिरिक्त पदार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता है। अन्यथा अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति, अव्यवस्था) दोष प्रसक्त होगा। इस प्रकार यदि निर्विचारा समापत्ति से होने वाला ज्ञान ऋतम्भरा अर्थात् यथार्थज्ञान है तो आगम और अनुमान प्रमाण से होने वाले ज्ञान को भी ऋतम्भरा कहने का प्रसंग उपस्थित होगा?

---

1. क छ – तत्र, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – तत्।

समाधान–पूर्वपक्षी की उक्त आशंका को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार कहते हैं– '**श्रुतेति**।' सभी पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ होता हुआ भी प्रकाशशील सात्त्विक बुद्धितत्त्व तमोगुण से आवृत्त होने के कारण (सभी पदार्थों का ज्ञान नहीं कर पाता है, अपितु) जिस पदार्थ के ज्ञान के लिये रजोगुण के द्वारा प्रेरित किया जाता है, उसी पदार्थ को ग्रहण कर पाता है। किन्तु जब अभ्यास और वैराग्य के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण से रहित बुद्धिसत्त्व का प्रखर नैर्मल्य प्रस्फुटित होता है, तब प्रमाण-प्रमेय की मर्यादा से अतिक्रान्त बुद्धिसत्त्व के ज्ञान का आनन्त्य होता है। विषयज्ञान की सीमा के अतिक्रमण को सुस्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि इस अवस्था में ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिसका बुद्धिसत्त्व को ज्ञान न हो सके? अर्थात् बुद्धिसत्त्व को सभी विषयों का ज्ञान हो जाता है।

तत्त्ववैशारदी

व्याचष्टे–श्रुतमागम[1]विज्ञानं तत्सामान्यविषयमिति। कस्मात्? न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्। कुतः? यस्मादानन्त्याद्व्यभिचाराच्च न विशेषेण कृतसंकेतः शब्दः। यस्मादस्य विशेषेण सह न वाच्यवाचकसंबन्धः प्रतीयते। न च [2]वाक्यार्थेऽपीदृशो विशेषः संभवति।

भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं–'**श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयमिति**।' श्रुत=आगम-प्रमाणजन्य जो विज्ञान है, वह सामान्यविषयक होता है, न कि विशेषविषयक।

शङ्का–किस कारण से श्रौतज्ञान सामान्यविषयक होता है?

समाधान–उत्तर है–'**न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्**।' आगमप्रमाण से पदार्थनिष्ठ विशेष का अपरोक्षज्ञान नहीं हो सकता है।

शङ्का–आगम प्रमाण से उक्त प्रकृत्यादिगत विशेष अर्थ का ज्ञान क्यों शक्य नहीं है?

समाधान–आनन्त्य तथा व्यभिचारदोष के कारण शब्द पदार्थगत विशेष को संकेतित नहीं करता है। भाव यह है कि पदार्थों के अनन्त होने से तन्निष्ठ अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो गौरवपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि शक्तिग्रह के विना ही ज्ञान होने का व्यभिचारदोष उपस्थित होगा। अर्थात् श्यामगोव्यक्तिविषयक शक्तिग्रह से श्वेतगोव्यक्तिविषयक ज्ञान होने की आपत्ति आयेगी। इन दो कारणों से आगमज्ञान सामान्यविषयक है, न कि विशेषविषयक। इस कारण से आगम का पदार्थगत विशेष (व्यक्तिविशेष) के साथ वाच्यवाचकभावसम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। (अर्थात् संकेत के द्वारा 'वाचक' शब्द और 'वाच्य' अर्थ का जो वाच्यवाचक-

---

1. क ख ग – ज्ञानम्, घ च छ ज झ त थ द ध न – विज्ञानम्
2. क ख ग घ छ त थ द ध न – वाक्यार्थे, च ज झ – वाक्यार्थ०।

भावसम्बन्ध द्योतित होता है, वह सामान्यरूप ही होता है, विशेषरूप नहीं। और न ही वाक्यार्थ में इस प्रकार के विशेष अर्थ का बोधन कराने की शक्ति निहित है।

तत्त्ववैशारदी

अनुमानेऽपि लिङ्गलिङ्गिसंबन्धग्रहणाधीनजन्मनि गतिरेषैवेत्याह–तथानुमानमिति। यत्र प्राप्ति[1]रित्यत्र यत्रतत्रशब्दयोः स्थानपरिवर्तनेन व्याप्यव्यापकभावोऽवगमयितव्यः। अतोऽत्रानुमानेन सामान्येनोपसंहारः। उपसंहरति–तस्मादिति।

जो स्थिति आगम की है, वही स्थिति अनुमान प्रमाण की भी है। अनुमानजन्य अनुमिति ज्ञान की उत्पत्ति लिङ्ग-लिङ्गी (कार्य-कारण) के सम्बन्ध (व्याप्ति) ज्ञान के अधीन होती है। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**तथाऽनुमानमिति**।' (अर्थात् अनुमान भी सामान्यविषयक ही होता है। जैसे 'पर्वतो **वह्निमान् धूमात्**' में 'धूम' हेतु से पर्वतीय वह्नि का वह्नित्वेन अनुमिति ज्ञान होता है)। भाष्यकार ने व्याप्ति-सम्बन्धमूलक अनुमान में अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति के द्योतन के लिये '**यत्र प्राप्तिः तत्र गतिः, यत्राप्राप्तिः तत्र न गतिः**'–इत्याकारक शब्दावली का प्रयोग किया है। व्याप्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि **यत्र प्राप्तिः** यहाँ पर '**यत्र-तत्र**' शब्दों के स्थानपरिवर्तन के द्वारा व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध को समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि व्याप्य की सत्ता से व्यापक की सत्ता तथा व्यापकाभाव से व्याप्याभाव जाना जाता है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण द्वारा सामान्यरूप से ही उपसंहार होता है। भाष्यकार विषय को उपसंहृत करते हुए कहते हैं–'**तस्मादिति**।' इसलिये (पदार्थगत) कोई भी विशेष श्रुत (शब्दप्रमाण) तथा अनुमान का विषय नहीं होता है।

बालप्रिया–

'**यत्र प्राप्तिः...अवगमयितव्यः**'–इस विषय में भट्टपाद का निम्नाङ्कित वचन स्मरणीय है–

'नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशे मते।
विपरीते प्रतीयेते ते एव तदभावयोः॥

तात्पर्य यह है कि व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापकाभाव (वह्न्यभाव) से व्याप्याभाव (धूमाभाव) व्यवहृत होने से उनके व्याप्यव्यापकसम्बन्ध का ज्ञान स्वतः हो जाता है। नियम है कि अन्वयव्याप्ति में व्याप्य का निर्देश पहले होता है तथा व्यतिरेक व्याप्ति में व्यापकाभाव का निर्देश पहले किया जाता है। अतः प्रकृत में '**यत्र गत्यभावस्तत्र प्राप्त्यभावः**'–इस विपरीत निर्देश से व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप बोधित

---

1. क ख ग थ द ध – **अप्राप्तिः**, घ च छ ज झ त न – **प्राप्तिः**।

होता है। इसी को दृष्टिगत रखकर वाचस्पति मिश्र ने **यत्र-तत्र** पदों के स्थानपरिवर्तन की बात कही है।

उक्त व्याख्या के पश्चात् भी पूर्वपक्षी को प्रत्यक्ष प्रमाण के रहते **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** की अनुपयोगिता प्रतीत होती है। इसी को ध्यान में रखते हुए आगे विषय का उपस्थापन हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अस्तु तर्हि संबन्धग्रहानपेक्षं लोकप्रत्यक्षं न तत्सामान्यविषयमित्यत आह–न चास्येति। **मा भूत् संबन्धग्रहाधीनं लोकप्रत्यक्षम्, इन्द्रियाधीनं तु[1] भवत्येव। न चेन्द्रियाणामस्मिन्नस्ति योग्यतेत्यर्थः। ननु [2]च यद्यागमानुमानप्रत्यक्षागोचरो विशेषः, तर्हि नास्ति, प्रमाणविरहादित्यत आह–न चेति। न हि प्रमाणं व्यापकं कारणं वा प्रमेयस्य, येन तन्निवृत्तौ निवर्तेत। नो खलु कलावतश्चन्द्रस्य परभागवर्तिहरिणसद्भावं प्रति न संदिहते प्रामाणिका इत्यर्थः। इति तस्मात्। समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एवेति।**

शङ्का–ठीक है, आगम और अनुमान सम्बन्धग्रह (शक्तिग्रह तथा व्याप्तिग्रह) सापेक्ष होने से सामान्यविषयक ही हैं, विशेषविषयक नहीं। किन्तु सम्बन्धग्रह की अपेक्षा न करने वाला (इन्द्रियजन्य) लौकिक प्रत्यक्ष तो सामान्यविषयक नहीं, अपितु विशेषविषयक ही होता है। अतः लौकिक प्रत्यक्ष से प्रकृत्यादिगत विशेष का साक्षात्कार हो जायेगा, फिर **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** की क्या आवश्यकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'न चास्येति।'** यह सत्य है कि लौकिक प्रत्यक्ष को आगम और अनुमान की तरह सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा नहीं है, किन्तु लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियाधीन (इन्द्रियार्थसन्निकर्षसापेक्ष) तो है ही। किञ्च इन्द्रियों में सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट वस्तु का ज्ञान कराने की योग्यता भी नहीं है। (अतः प्रत्यक्षप्रमाण के रहते हुए भी **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** को अनुपयोगी घोषित नहीं किया जा सकता है)।

शङ्का–पदार्थगत **'विशेष'** यदि आगम, अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बनता है तो प्रमाणाभाव के कारण उस पदार्थगत विशेष को स्वीकार ही क्यों किया जाय? अर्थात् प्रत्यक्षादि के अविषयीभूत पदार्थ को स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'न चेति।' (प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है–इस तथ्य का स्पष्टीकृत रूप तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत करते हैं)–यह

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न – **तु भवत्येव,** थ द ध – **तु स्यात्।**
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **च** उपलभ्यते, थ द ध – **च** नोपलभ्यते।

सुनिश्चित है कि लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रमेय की सत्ता सिद्ध करने के सर्वतोमुखी (अन्तिम) साधन नहीं हैं, जिससे लौकिक प्रमाण की निवृत्ति से (प्रकृत्यादि पदार्थों के लौकिक प्रमाण का विषय न बनने से) प्रमेय (प्रकृत्यादि) की निवृत्ति (अभाव) को स्वीकार कर लिया जाय। प्रमाण के निवृत्त होने पर भी प्रमेय की निवृत्ति नहीं होती है–इस विषय में उदाहरण देते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि जैसे कलावान् चन्द्र (द्वितीया के चन्द्र) के परभाग में अंकित मृगचिह्न पर अर्थात् चन्द्रवाहन मृगसद्भाव पर क्या प्रामाणिक लोगों (विद्वानों) को सन्देह नहीं होता है? अर्थात् तद्विषयक सन्देह अवश्य होता है। भाव यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से चन्द्र में मृगचिह्न का ज्ञान न होने पर भी मृगचिह्नरूप प्रमेय के विषय में विद्वानों में सन्देह बना रहता है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रमाण की निवृत्ति से प्रमेय की निवृत्ति नहीं होती है। फलतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी प्रकृत्यादिगत **'विशेष'** का अभाव नहीं कहा जा सकता है। फिर भी यह सन्देह तो बना ही रहता है कि किससे प्रकृत्यादिगत **'विशेष'** का ज्ञान होता है? इसी का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एवेति।'**

भाष्यस्थ **'इति'** शब्द हेत्वर्थक है अर्थात् इस कारण से (योगिजनवेद्य होने से) यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अविषयीभूत **'विशेष'** ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ही ग्राह्य होता है। चाहे वह **'विशेष'** भूतसूक्ष्मगत हो अथवा पुरुषगत हो।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार अनुमान-प्रयोग के द्वारा दर्शनसम्मत **'विशेष'** की मान्यता को प्रसंगतः स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अत्र च विवादाध्यासिताः परमाणव आत्मानश्च प्रातिस्विकविशेषशालिनः, द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्तमानत्वात्, ये द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्तन्ते ते प्रातिस्विकविशेषशालिनः– यथा खण्डमुण्डादय इत्यनुमानेनागमेन च ऋतंभरप्रज्ञोपदेशपरेण यद्यपि विशेषो निरूप्यते, [1]यदनिरूपणे संशयः स्यान्न्यायप्राप्तत्वात्तथाप्यदूरविप्रकर्षेण तत्सत्त्वं कथंचिद्गोचरयतः श्रुतानुमाने, न तु साक्षाच्चार्थमिव समुच्चयादिपदानि लिङ्गसंख्यायोगितया। तस्मात्सिद्धं श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयेति॥४९॥

विवाद के विषयीभूत परमाणु तथा आत्मा व्यक्तिगत विशेष से युक्त हैं, द्रव्य होने से, अतः ये (परमाणु और आत्मा) परस्पर (एक परमाणु दूसरे परमाणु से, एक आत्मा दूसरे आत्मा से) भिन्न-भिन्न हैं। नियम है कि द्रव्य होते हुए जो परस्पर

---

1. **क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध – तत्, न – यत्।**

व्यावृत्त होते हैं, वे व्यक्तिगत विशेष से युक्त होते हैं, जैसे खण्ड, मुण्ड आदि। अर्थात् 'गोत्व' जातित्वेन सभी गो व्यक्तियाँ एक हैं, किन्तु खण्ड, मुण्ड आदि व्यक्ति के रूप से ये परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। शब्दान्तर में–

प्रतिज्ञा–विवादाध्यासिताः परमाणव आत्मानश्च प्रातिस्विकविशेषशालिनः–यहाँ 'परमाणवः' तथा 'आत्मानः' पक्ष हैं, 'प्रातिस्विकविशेषशालिनः'–यह साध्य है। अर्थात् यहाँ परमाणु तथा आत्मा पक्ष में 'प्रातिस्विकविशेषशालित्व' साध्य को सिद्ध किया जा रहा है।

हेतु–द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्तमानत्वात्।

उदाहरण–यथा खण्डमुण्डादयः।

व्याप्ति–ये द्रव्यत्वे सति परस्परं व्यावर्तन्ते ते प्रातिस्विकविशेषशालिनः।

इस प्रकार अनुमान तथा आगम द्वारा ऋतम्भराप्रज्ञा का उपदेशपरक विशेष निरूपित किया जाता है, क्योंकि यदि पदार्थगतविशेष का निरूपण न किया जाय तो तद्विषयक सन्देह होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह न्यायप्राप्त तथ्य है तथापि अदूर और विप्रकर्षरूप से उस सत्त्व (पदार्थगतविशेष) को आगम और अनुमान प्रमाण किसी प्रकार अपना विषय बनाते हैं, फिर भी साक्षात् स्थूल पदार्थ के समान लिङ्ग और संख्या से युक्त समुच्चित पद पदार्थगतविशेष का अवबोध नहीं करा पाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुतज्ञान और अनुमानज्ञान से भिन्न विषय वाली यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है जो भूतसूक्ष्मगत अथवा पुरुषगतविशेष को अपना विषय बनाती है॥४९॥

योगवार्त्तिकम्

नन्वागमानुमानयोरपि प्रमाणत्वात्ताभ्यामेव तदर्थतत्त्वं गृह्यतां किं योगेनेत्याशङ्का-निरासायोत्तरं सूत्रं प्रवर्त्तते, तद्योजयति–सा पुनरिति। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। सा तु समाधिसामान्यजा प्रज्ञा श्रुतानुमानरूपप्रज्ञाभ्यां श्रवणमननाभ्यामन्य-विषया=अतिरिक्तविषया, विशेषार्थत्वात्=विशेषोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा, तत्त्वादित्यर्थः। समाधिप्रज्ञायाः श्रवणमननाभ्यामतिरिक्तविषयत्वं विवृणोति–श्रुतमागमेति। न हि विशेषे-णेति। पदार्थताऽवच्छेदकरूपेणैव पदार्थः शाब्दबोधे भासतेऽन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। पदार्थताऽवच्छे-दकं तु घटत्वादिसामान्यमेव, न तु तत्तद्विशेषास्तेषामानन्त्येन सर्वेषामेकदाऽनुपस्थितेस्तत्तद्रूपैः शक्तिग्रहासंभवात्, विशेषाणामन्योन्यं व्यभिचाराच्च, सामान्यतः श्रुतेऽप्यर्थे विशेषसंशय-दर्शनाच्चेति। इत्युक्तमिति अनुमानमित्यस्य विशेषणम्। अत्र हि व्यापकताऽवच्छेदकेन गतित्वादिसामान्येनैवानुमानं भवति न तु क्रियाऽऽदिगतविशेषरूपैरिति। अनुमानेन चेति। सामान्योपसंहार इत्युक्त इत्य[1]नुषङ्गः। ननु श्रुतानुमानागोचरोऽपि विशेषो लौकिकप्रत्यक्षेणैव

1. क ग घ च छ – अनुषङ्गः, ख – अन्वयः।

ग्राह्योऽस्तु किं योगजप्रत्यक्षेणेति तत्राह—न चास्येति। नन्वेवं तस्य विशेषस्या[1]प्रामाणिकत्वाद् अभाव एवास्त्वित्याशङ्कां प्रतिषेधति—न चास्य विशेषस्येति। न हि निर्विशेषं सामान्यमस्तीति न्यायेन सर्वत्रैव वस्तुनि विशेषसिद्धेरिति भावः। अतः परिशेषात्समाधिप्रज्ञाग्राह्य एव स विशेष इत्युपसंहरति—इति समाधीति। स्थूलस्य विशेषः कदाचिल्लौकिकप्रत्यक्षगोचरोऽपि स्यादिति [2]स्थूलं परित्यज्य भूतसूक्ष्मगतः [3]इत्युक्तम्। पुरुषगतो वेति। एतेन पुरुषेष्वपि विशेषादिधर्मः स्वीकृतः, धर्मनिषेधस्तु विशेषगुणद्रव्यत्वादिपरः। अथवा स्वस्वोपाधिप्रतिबिम्बा एवातीतानागतवर्तमाना मुक्तामुक्तसाधारणाखिलपुरुषेष्वन्योन्यं विशेष इति बोध्यम्।

शङ्का—आगम और अनुमान में भी प्रमाणत्व होने से इन्हीं दो प्रमाणों के द्वारा ही उस अर्थतत्त्व का ग्रहण किया जाय, व्यर्थ में योग को मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—उक्त आशंका का निराकरण करने के लिये उत्तरसूत्र प्रवृत्त होता है, जिसे भाष्यकार अवतरित करते हैं—'**सा पुनरिति**।' सूत्र है—'**श्रुतेति**।' समाधिसामान्य से उत्पन्न हुई प्रज्ञा 'श्रुतानुमानरूप प्रज्ञाओं' अर्थात् श्रवण और मननरूप प्रज्ञाओं से '**अन्यविषया**' अर्थात् अतिरिक्त विषय वाली होती है, क्योंकि यह प्रज्ञा पदार्थगतविशेष को ग्रहण करती है। विज्ञानभिक्षु ने '**विशेषार्थत्वात्**' में बहुव्रीहि समास किया है—'**विशेषोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तत्त्वात्**' अर्थात् पदार्थगतविशेष है विषय जिसका, ऐसी विषय वाली प्रज्ञा श्रुत और अनुमानजन्य ज्ञान से भिन्न अर्थात् विलक्षण होती है। श्रवण (आगम) और मनन (अनुमान) से समाधिप्रज्ञा की भिन्नविषयता को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—'**श्रुतमागमेति**।' आगम से पदार्थगत विशेष का ज्ञान क्योंकर नहीं होता है, इसे भाष्यकार बताते हैं—'**न हि विशेषेणेति**।' पदार्थतावच्छेदकरूप से ही पदार्थ शाब्दबोध में भासित होता है, अन्यथा अतिव्याप्ति होगी अर्थात् आगम प्रमाण 'विशेषावधारणप्रधाना प्रत्यक्षवृत्ति में अतिव्याप्त होगा। घटत्वादि सामान्य को ही पदार्थतावच्छेदक कहते हैं, न कि तत्तद् **घट** व्यक्ति को। तत्तद् घट **व्यक्तियों** के असंख्य होने से सभी घटव्यक्तियों की एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है। अतः तत्तद् घटव्यक्ति रूप से शक्तिग्रह सम्भव नहीं हो सकता है और (दूसरी बात यह है कि) इससे घटविशेषों (घटव्यक्तियों) में परस्पर व्यभिचार होने लगेगा तथा (तीसरी बात यह है कि) सामान्यरूप से श्रुत पदार्थ में भी तद्गत 'विशेष' के विषय में संशय ही देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आगम में पदार्थगत विशेष का

---

1. क घ च छ – अप्रामाणिकत्वात्, ख ग – अप्रामाणिकतया।
2. क ग घ च छ – स्थूलं, ख – स्थूले।
3. क ख ग – एव (इति पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – एव नोपलभ्यते।

बोध कराने की शक्ति निहित नहीं है। **'इत्युक्तमिति'** यह **'अनुमानम्'** पद का विशेषण है। **यत्र प्राप्तिः तत्र गतिः** यहाँ व्यापकतावच्छेदक रूप से गतित्वादि सामान्य का ही अनुमान होता है न कि क्रियादिगत विशेषरूपों को लेकर अनुमान प्रवृत्त होता है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'अनुमानेन चेति।'** अनुमान सामान्य-विषयक होता है, क्योंकि अनुमान से सामान्यरूप से ही साध्य उपसंहृत होता है। अर्थात् निगमन वाक्य से पदार्थ का ज्ञान सामान्यरूप से ही होता है, विशेष (व्यक्ति) रूप से नहीं। जैसे **'पर्वतो वह्निमान्'** इस प्रतिज्ञावाक्य का निगमन वाक्य है—**तथा चायम्।**

शङ्का—श्रुत और अनुमान का भी अविषयीभूत (अगोचर) पदार्थगत विशेष लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्राह्य माना जाय, फिर भी योगजप्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं रह जाती है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'न चास्येति।'** (लौकिक प्रत्यक्ष से सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता है, जब कि योगजप्रत्यक्ष में सूक्ष्मादि पदार्थ का ज्ञान कराने का सामर्थ्य निहित है। अतः योगजप्रत्यक्ष को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता)।

शङ्का—तो फिर लौकिक प्रत्यक्ष के अविषयीभूत पदार्थ का अप्रामाण्य होने से उसका **'अभाव'** ही माना जाय?

समाधान—भाष्यकार उक्त शंका का प्रतिषेध करते हैं—**'न चास्य विशेषस्येति।'** 'सामान्य' निर्विशेष नहीं होता है—इस न्याय से सर्वत्र ही वस्तु में 'विशेष' की सत्ता सिद्ध होती है। अतः **'विशेष'** को 'अभाव' कोटि में नहीं रखा जा सकता है। परिशेषात् यही सिद्ध होता है कि पदार्थगतविशेष समाधिप्रज्ञा द्वारा ही ग्राह्य होता है। इसी तथ्य को उपसंहृत करते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'इति समाधीति।'** स्थूलपदार्थगत **'विशेष'** कदाचित् लौकिक प्रत्यक्ष से भी ग्राह्य हो सकता है, इसलिये स्थूल पदार्थ को छोड़कर भाष्यकार ने भूतसूक्ष्मगत विशेष को ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा ग्राह्य बतलाया है। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'पुरुषगतो वेति।'** ऐसा कहकर भाष्यकार ने पुरुषों में भी विशेषादि धर्म को अङ्गीकृत किया है। और जो पुरुष में धर्म का निषेध किया जाता है, वह द्रव्याश्रित विशेषगुणपरक निषेध है। अथवा ऐसा कह सकते हैं कि मुक्त तथा अमुक्त समस्त साधारण पुरुषों में अपनी-अपनी उपाधि में प्रतिबिम्बित अतीत, अनागत और वर्तमानरूप वाला परस्परभेदक **'विशेष'** है।

योगवार्त्तिककार उपरिनिर्दिष्ट तथ्य के पुष्टीकरण के लिये आगे लिखते हैं—

योगवार्त्तिकम्

स्यादेतत्, व्यवहितादिषु सन्निकर्षाद्यभावात्कथं समाधिप्रत्यक्षग्राह्यत्वमपि स्यात्? अथ योगजधर्मस्यापि सन्निकर्षत्वं कल्प्यमिति चेत्? न–संयोगादिभिरननुगमात्, प्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वेनातीतादिप्रत्यक्षस्यैवासंभवाच्चेति? अत्रोच्यते–अस्माकमन्तःकरणस्य विभुत्वेनातीतादीनां स्वरूपतः सत्त्वेन च सदा सर्वार्थसन्निकर्षात्, योगजधर्मेण च व्यवहिता[1]तीतादिज्ञानप्रतिबन्धकं तम एव निरस्यत इति। तदेतत्साङ्ख्यभाष्ये लीनवस्तुलब्धातिशयसंबन्धाद्वा न दोष इति सूत्रेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्। उपसंहारमुखेन सूत्रवाक्यार्थमाह–तस्माच्छ्रुतेति। एतेन दशमस्त्वमसीतिवत् शब्दादेव साक्षात्कार आत्मनो भवति, निर्विशेषत्वेन चात्मनो न विशेषग्रहार्थमपि योगजप्रत्यक्षापेक्षेति नवीनवेदान्तिप्रलापोऽपसिद्धान्त एव, स्वशास्त्रा[2]नुक्तेऽर्थे समानतन्त्रसिद्धान्तस्यैव सिद्धान्तत्वादिति॥४९॥

शङ्का–व्यवहितादि पदार्थों में सन्निकर्षाद्यभाव होने से अर्थात् व्यवहितादि पदार्थों के साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न होने से कैसे व्यवहितादि पदार्थों में समाधि-प्रत्यक्ष की ग्राह्यता भी हो सकती है? अर्थात् व्यवहितादि पदार्थ कैसे योगजप्रत्यक्ष का विषय बन सकते हैं? क्योंकि योगजधर्म को भी सन्निकर्ष की अपेक्षा रहती है?

समाधान–ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि योगजधर्म संयोगादियों से अनुप्राणित नहीं होता है।

शङ्का–प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रति '**विषय**' के कारण होने से अतीतादि का प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है? अर्थात् विषय के होने पर ही उसका प्रत्यक्ष होता है–इस नियम से अतीत, अनागत पदार्थ का अभाव होने से उसके प्रत्यक्ष पर विचार करना निराधार है।

समाधान–इस पर योगवार्त्तिककार कहते हैं–योगमत में अन्तःकरण के विभु होने से और अतीतादि की स्वरूपतः (सत्कार्यवाद के अनुसार) सत्ता होने से विभु चित्त का सर्वदा एवं सर्वथा अतीतादि पदार्थों के साथ '**सन्निकर्ष**' अर्थात् संयोग सम्बन्ध बना रहता है और योगजधर्म के द्वारा तो व्यवहित, अतीतादि पदार्थ के ज्ञान का प्रतिबन्धकीभूत तम ही नष्ट होता है। अतः अतीतादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होने में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध नहीं आता है। योगवार्त्तिककार कहते हैं कि '**लीनवस्तुलब्धातिशयसंबन्धाद्वा न दोषः**' १/९१ सूत्र में इस विषय पर मैंने विस्तार से विचार किया है। सूत्र का अर्थ है–'अथवा प्रकृति में सूक्ष्मतया अवस्थित वस्तु के साथ योगजशक्ति से प्राप्त अतिशय वाले मन (चित्त) का सम्बन्ध हो जाने से प्रत्यक्षलक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं है।' प्रकृत विषय का उपसंहार करने की इच्छा

---

1. क ग घ च छ – अतीतादिज्ञान०, ख – अतीतविज्ञान०।
2. क ग घ च छ – अनुक्ते, ख – अनुक्त०।

से अर्थात् उपसंहारमुख से भाष्यकार सूत्र का वाक्यार्थ करते हैं–'**तस्माच्छ्रुतेति।**' इससे '**दशमस्त्वमसि**' अर्थात् 'तुम दसवें हो'–इसके समान (जैसे, शब्द से विषयचैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य की एकदेशता से विषय का प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार) शब्द प्रमाण से ही आत्मा का साक्षात्कार होता है और निर्विशेषरूप से आत्मा के विशेषज्ञान के लिये भी योगजप्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं है–इस प्रकार बोलने वाले नवीन वेदान्तियों का मत अपसिद्धान्त (सिद्धान्तविरुद्ध) ही ठहरता है, क्योंकि एक (स्व) शास्त्र में अनुक्त सिद्धान्त के विषय में उसके समानतन्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त को उसका भी सिद्धान्त मान लिया जाता है॥४९॥

बालप्रिया–

'**तदेतत्सांख्यप्रवचनभाष्ये...प्रपञ्चितम्**'–योगवार्त्तिककार ने सांख्यप्रवचनभाष्य में लिखा है–'**तदपि लक्ष्यमेव, तथापि न दोषो, नाव्याप्तिः। यतो लीनवस्तुषु लब्धयोगजधर्मजन्यातिशयस्य योगिचित्तस्य सम्बन्धो घटते...सत्कार्यवादिनां ह्यतीतादिकमपि स्वरूपतोऽस्तीति तत्सम्बन्धः सम्भवेदिति व्यवहितविप्रकृष्टेषु सम्बन्धहेतुविधया लब्धातिशयेति विशेषणम्**' १/९१। भाव यह है कि सत्कार्यवादी सांख्य के मत में अतीत, अनागतादि वस्तु भी स्वरूपतः तो विद्यमान है ही। अतः उनके साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होना असम्भव नहीं है, अपितु सम्भव है। इसलिये व्यवहित, विप्रकृष्ट पदार्थों में 'लब्धातिशय' को सम्बन्धहेतुविधया विशेषण बताया गया है। अतिशय का अर्थ व्यापक तथा वृत्तिप्रतिबन्धक तमोनिवृत्ति आदि है। योगी का चित्त (मन) अपनी यौगिक शक्ति के सामर्थ्य से कार्यमात्र के मूलकारण के साथ सन्निकर्ष स्थापित कर लेता है, तब उसे प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः लक्षण के घटित हो जाने से 'योगिप्रत्यक्ष' में अव्याप्ति होती नहीं है ॥४९॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।

उक्त समाधिप्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी के चित्त में प्रज्ञाजन्य नये-नये संस्कार उत्पन्न होते हैं–(प्रज्ञाजन्यसंस्कार का फल है)–

योगसूत्रम्

[1]तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५०॥

---

1. ज० – पाठान्तरम् ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा से समुपजात संस्कार अन्य (व्युत्थान) संस्कारों का बाधक होता है॥५०॥

व्यासभाष्यम् 305 page

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते। व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति। प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते। ततः [1]समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्कारा[2]शयो जायते। ततश्च[3] प्रज्ञा[4] ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्कारा[5]शयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति? न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति। ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति॥५०॥

निर्विचारसमाधि के उत्कर्ष से जन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उदित संस्कार व्युत्थानसंस्कारों की वासना को बाधित (शक्तिरहित) करता है। व्युत्थानसंस्कारों का मर्दन (अभिभव) हो जाने से तज्जन्य (व्युत्थानसंस्कारजन्य) (प्रमाणादि) ज्ञानात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं हो पाती हैं। चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर समाधि प्राप्त होती है। तब लब्धसमाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नवीन-नवीन संस्काररूप वासना प्रादुर्भूत होती है। और फिर समाधिसंस्कार से प्रज्ञा और प्रज्ञा से संस्कार उत्पन्न होते हैं। फलतः संस्कार और प्रज्ञा का चक्र चलता रहता है।

शङ्का–समाधिप्रज्ञाजन्य वासनारूप संस्कारसमूह चित्त को अधिकारयुक्त क्यों नहीं करता है?

समाधान–(व्युत्थानसंस्कार से भिन्न) प्रज्ञाजन्य संस्कार, (अविद्यादि) क्लेशों को नष्ट करने वाले होने से, चित्त को अधिकारविशिष्ट (दुःख देने की योग्यता से युक्त) नहीं करते हैं। क्योंकि वे (प्रज्ञाजन्य) संस्कार चित्त को उसके कार्य से निवृत्त (विमुख) कर देते हैं। (दूसरी बात यह है कि) चित्त

---

1. क ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म य – **समाधिजा प्रज्ञा**, प र – **समाधिप्रज्ञा**, ख – **समाधिजाप्रज्ञा/समाधिप्रज्ञा नोपलभ्यते।**
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – **आशयः**, त – **अतिशयः।**
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य – **च** उपलभ्यते, घ प फ र – **च** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **प्रज्ञा ततश्च** उपलभ्यते, ज – **प्रज्ञा ततश्च** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च झ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – **आशयः**, छ – **अतिशयः।**

की भोगात्मक वृत्तिरूप कार्यकारिता अर्थात् चित्त की चेष्टाएँ विवेकज्ञान के उदय के पूर्व तक ही हुआ करती हैं॥५०॥

प्रस्तुत सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका के मूल में निहित आशंका को उद्घाटित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–भवतु परमार्थविषयः संप्रज्ञातो यथोक्तो[1]पायाभ्यासात्। [2]अनादिना तु व्युत्थानसंस्कारेण निरूढनिबिडतया प्रतिबन्धनीया[3] समाधिप्रज्ञा[4] सा, वात्यावर्तमध्यवर्ति-प्रदीपपरमाणुरिवेति शङ्कामपनेतुं सूत्रमवतारयति–समाधिप्रज्ञेति। सूत्रं पठति–तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

शङ्का–सिद्धान्ती की ओर से पूर्वकथित यह बात भले ही स्वीकार कर ली जाय कि पूर्ववर्णित उपायों के (विधिवत्) अनुष्ठान (क्रियान्वयन) से यथार्थविषयक सम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होती है, किन्तु निर्विचारसमाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा तो प्रचण्डघनीभूत अनादि व्युत्थानसंस्कार के द्वारा प्रतिबन्धित हो जाती है। जैसे प्रचण्ड वातसमूह (बवण्डर) के मध्य दीपशिखा (ज्योतिरेखा) को अपनी स्थिति बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। निष्कर्षतः व्युत्थानसंस्काररूप वातसमूह के द्वारा समाधिप्रज्ञारूप दीपशिखा का निस्तेज हो जाना स्वाभाविक है।

समाधान–उक्त शंका को दूर करने के लिये भाष्यकार सूत्र को अवतरित करते हैं– '**समाधिप्रज्ञेति।**' सूत्र है–'**तज्ज इति।**'

तत्त्ववैशारदी

तदिति निर्विचारां समापत्तिं परामृशति। अन्येति व्युत्थानमाह। भूतार्थपक्षपातो हि धियां स्वभावः। तावदेवेयमनवस्थिता भ्राम्यति न यावत्तत्त्वं प्रतिलभते। तत्प्रतिलम्भे तत्र [5]स्थितपदा सती संस्कारबुद्धिः[6] संस्कारबुद्धिचक्रक्रमेणा[7]वर्तमानानादिमप्येतत् तत्त्वसंस्कारबुद्धिक्रमं बाधत एवेति। तथा च बाह्या अप्याहुः–

---

1. क ख ज – **उपायाभ्याम्**, ग घ च छ झ त थ द ध न – **उपायाभ्यासात्।**
2. क ग – **अनादिनाद्धि**, ख घ च छ ज झ त थ द ध न – **अनादिना तु।**
3. क घ च छ झ थ द ध न – **प्रतिबन्धनीया**, ख – **अतिभवनीया**, ग – **प्रतिबलीया**, त – **अतिबलीयसा।**
4. क ख ग – **सा**, घ च छ ज झ थ द ध न – **समाधिप्रज्ञा सा**, त – **सा/समाधिप्रज्ञा सा नोपलभ्यते।**
5. क ख ग घ च छ थ द ध न – **स्थित०**, ज झ त – **स्थिर०,।**
6. ख ग घ च छ झ त थ द ध न – **संस्कारबुद्धिः** उपलभ्यते, क ज – **संस्कारबुद्धिः नोपलभ्यते।**
7. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **आवर्तमान०**, थ ध – **आवर्तमानम्।**

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽ[1]नादिमत्त्वेऽपि [2]बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ इति।

स्यादेतत्—समाधिप्रज्ञातोऽस्तु व्युत्थानजस्य संस्कारस्य निरोधः। समाधिजस्तु संस्कारातिशयः समाधिप्रज्ञाप्रसवहेतुरस्त्यविकल इति तदवस्थैव चित्तस्य साधिकारतेति चोदयति—कथमसाविति। परिहरति—न त इति। चित्तस्य हि कार्यद्वयं शब्दाद्युपभोगो विवेकख्यातिश्चेति। तत्र क्लेशकर्माशयसहितं शब्दाद्युपभोगे प्रवर्तते। प्रज्ञाप्रभवसंस्कारोन्मूलितनिखिलक्लेशकर्माशयस्य तु चेतसोऽवसितप्रायाधिकारभावस्य विवेकख्यातिमात्रम[3]वशिष्यते कार्यम्। तस्मात्समाधिसंस्काराश्चित्तस्य न भोगाधिकारहेतवः, प्रत्युत तत्परिपन्थिन इति। स्वकार्याद्योगलक्षणादवसादयन्ति असमर्थं कुर्वन्तीत्यर्थः। कस्मात्? ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति। तावद्धि भोगाय चित्तं चेष्टते न यावद्विवेकख्यातिमनुभवति। संजातविवेकख्यातिनस्तु क्लेशनिवृत्तौ न भोगाधिकार इत्यर्थः। [4]तदत्र भोगाधिकारप्रशान्तिः प्रयोजनं प्रज्ञासंस्काराणामित्युक्तम्॥५०॥

सूत्र में आये 'तत्' पद से 'निर्विचार-समापत्ति' का ग्रहण किया जाता है। (और) 'अन्य' पद से 'व्युत्थान' को बताया गया है। बुद्धि का यह स्वभाव है कि वह यथार्थ विषय को ग्रहण करने के लिये तत्पर रहती है। अर्थात् बुद्धि यथार्थ वस्तु को ही सर्वथा ग्रहण करना चाहती है। बुद्धि तभी तक इधर-उधर भटकती है, जब तक वह यथार्थ वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाती है। और जब यह बुद्धि समाधिप्रज्ञारूप यथार्थ वस्तु को ग्रहण कर लेती है, तब उसी क्षण से (मिथ्या वस्तु की तरफ भटकना छोड़कर) सत्य (यथार्थ) वस्तु में स्थितिपद को प्राप्त (समाधिप्रज्ञाजन्य) संस्कारविशिष्ट बुद्धि व्युत्थान-संस्काररूप चक्र से भ्रमण करती हुई अनादि मिथ्यासंस्कारविशिष्ट बुद्धिक्रम को भी, निश्चित रूप से निरुद्ध करती है। अर्थात् अनादि व्युत्थानात्मक संस्कार को कार्य करने से रोकती है। इस विषय में वेदबाह्य अर्थात् बाह्यार्थवादी वैभाषिकों का कहना है—'निरुपद्रव....पक्षपाततः' अर्थात् 'समनन्तरप्रत्यय, सहकारिप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय तथा आलम्बनप्रत्ययरूप उपद्रव (विपर्यय) से रहित यथार्थ पदार्थ को ग्रहण करने वाली प्रमात्मक बुद्धि का अनादित्व होते हुए भी इन आलम्बन आदि विपर्यस्त ज्ञानों से बाध नहीं होता है। क्योंकि सत्य अर्थ का पक्षपात करना बुद्धि का स्वभाव होता है।'

---

1. क छ – अनादिसत्त्वे, ख ग घ च ज झ त थ द ध न – अनादिमत्त्वे।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न – बुद्धेः, ज – बुद्धिः।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न – अवशिष्यते, ग – अवशिष्टे।
4. क ख ग थ द ध – तदत्र भोगाधिकारप्रशान्तिः प्रयोजनं प्रज्ञासंस्काराणामित्युक्तम् १/५० सूत्रस्य टीका, घ च छ ज झ त न तदत्र.....युक्तम् १/५१ सूत्रस्य अवतरणिका।

शङ्का–यदि यह मान भी लिया जाय कि समाधिप्रज्ञा (जन्यसंस्कार) से विक्षेपजनित व्युत्थानसंस्कार निरुद्ध होता है। अर्थात् व्युत्थानात्मक संस्कार का पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता है फिर भी समाधिप्रज्ञा (ऋतम्भराप्रज्ञा) से उत्पन्न संस्कारातिशय तो निश्चितरूप से समाधिप्रज्ञा की उत्पत्ति का हेतु होगा–इससे समाधिप्रज्ञाविशिष्ट चित्त की साधिकारता तो तदवस्थ बनी रही। (भाव यह है कि जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध चित्त को 'साधिकार' कहते हैं। यह साधिकारता संस्कारविशिष्ट चित्त की होती है। समाधिप्रज्ञायुक्त चित्त को भी साधिकार कहना चाहिये, क्योंकि यह चित्त भी समाधिप्रज्ञाजन्यसंस्कार से युक्त रहता है। अतः व्युत्थानात्मक संस्कारविशिष्ट चित्त से समाधिप्रज्ञात्मक संस्कारविशिष्ट चित्त में कोई पार्थक्य नहीं है। साधिकारिता दोनों में तुल्य है)–इसी प्रश्न को ध्यान में रखते हुए पूर्वपक्षी पूछता है–'**कथमसाविति**।' समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को भला क्यों नहीं अधिकार-विशिष्ट करेगा? अर्थात् अवश्य ही अधिकारविशिष्ट करेगा।

समाधान–भाष्यकार शंका का परिहार करते हैं–'**न त इति**।' चित्त के दो कार्य (कर्त्तव्य) हैं–पहला शब्दादि विषय का उपभोग और दूसरा विवेकज्ञान। इनमें से क्लेश और कर्माशय से युक्त चित्त पुरुष को शब्दादि विषय का उपभोग कराने के लिये प्रवृत्त होता है। और जब समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार से चित्त का क्लेश-कर्माशयरूप निखिल संस्कार उत्पाटित (अभिभूत) हो जाता है, तब समाप्ताधि-कारप्राय चित्त का विवेकख्यातिरूप कार्य ही अवशिष्ट रह जाता है। इसलिये यह कहा जाता है कि समाधिप्रज्ञा (ऋतम्भराप्रज्ञा) जन्य संस्कार चित्त के भोगाधिकार के हेतु (कारण) नहीं हैं अर्थात् चित्त को भोगाधिकारविशिष्ट नहीं करते हैं, अपितु चित्त के भोगाधिकार के विरोधी हैं। अर्थात् चित्त के भोगाधिकार को नियन्त्रित करते हैं। अर्थात् समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को उसके भोगलक्षणरूप कार्य के प्रति असमर्थ बना देते हैं।

शङ्का–समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को भोगाधिकारशून्य क्यों बना देते हैं?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति**।' चित्त तभी तक भोग के लिये चेष्टा करता है अर्थात् तभी तक भोगाधिकारविशिष्ट होता है जब तक चित्त को विवेकख्याति (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) प्राप्त नहीं हो जाती है। विवेकख्यातिप्राप्त चित्त के (अविद्यादि) क्लेश की निवृत्ति होने पर उसका भोगाधिकार (भोगरूपव्यापार) भी अवशिष्ट नहीं रहता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कारों का उद्देश्य चित्त के भोगाधिकार को समाप्त करना है–यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है॥५०॥

योगवार्त्तिकम्

यथोक्तप्रज्ञायाः संस्कारजनकत्वमुत्तरसूत्रोपयोगितया प्रतिपादयति—समाधीति। ननु तथाऽपि प्रज्ञोत्पत्तिपर्यन्तं योगापेक्षाऽस्तु, प्रज्ञोत्पत्त्यनन्तरं तु पुनः संप्रज्ञातपरम्परायाः किं फलमित्याशङ्कायामाह—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। प्रतिबन्धः कार्यविरोधित्वम्। इदमेव बाधशब्देन भाष्यकारो वक्ष्यति।[1] सर्वेषां च [2]संस्काराणां चित्तनाशादेव नाश इत्य[3]पि भाष्ये व्यक्तीभविष्यति। सूत्रार्थं व्याचष्टे—बाधत इत्यन्तेन। आशेत इत्याशयः, संस्कारश्चासावाशयश्चेति विग्रहात् संस्काराशयमनुद्बुद्धसंस्कारमित्यर्थः। उद्बुद्धसंस्कारस्य च बाधो न संभवति; उद्बोधप्रतिबन्धस्यैव बाधशब्दार्थत्वादिति भावः। ननु वृत्तिनिरोधसंस्कारस्य व्युत्थानसंस्काराभिभावकत्वं वक्ष्यति, तत्[4]कथं समाधिप्रज्ञासंस्कारस्यापि व्युत्थानसंस्काराभिभावकत्वमिष्यत इति चेत्? न; वृत्तित्वावच्छिन्नाभावस्यैव वक्ष्यमाणयुक्त्या संस्कारजनकत्वसिद्धेर्न तु संप्रज्ञातकालीनस्य यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधस्यापि, स्मृतिहेतुतया सिद्धात्प्रज्ञासंस्कारादेव व्युत्थानसंस्काराभिभवस्य वक्ष्यमाण[5]प्रयोजनस्योपपत्तेः। नन्वेकयैव प्रज्ञाव्यक्त्या तत्सन्तानव्यक्त्या चोत्पादितेन संस्कारेण व्युत्थानसंस्कारबाधसंभवे किमर्थं पुनःपुनः संप्रज्ञातानुष्ठानम्? तत्राह—व्युत्थानसंस्काराभिभवादित्यादि—ततश्च संस्कारा इत्यन्तेन। अभिभवात्= तत्करणात्। शेषं स्पष्टम्।

अयं भावः—नैकदा संप्रज्ञाते व्युत्थानसंस्कारबाधः, श्रुतिस्मृतिसिद्धस्य पुनःपुनर्व्युत्थानस्यानुपपत्तेः, उपदेशाद्यनुपपत्तेश्च; किं तु संप्रज्ञातपरम्पराजन्येन दृढतरसंस्कारेणैव तद्बाधः, अदृढैश्च प्राथमिकैः संप्रज्ञातसंस्कारैस्तस्य बाधार्थन्तनुतापरंपरैव क्रियते। तथा च संस्कारदार्ढ्यार्थं प्रज्ञासंस्कारचक्रमपेक्ष्यत इति। एतेन प्रज्ञायाः साक्षादेव व्युत्थानसंस्कारबाधकत्वशङ्काऽप्यपास्ता, एकप्रज्ञयैव संस्कारबाधे व्युत्थानासंभवात्। प्रज्ञासंस्कारे तु दृढत्वरूपवैजात्यसंभवेन तस्यैव व्युत्थानसंस्कारबाधकताऽवच्छेदकत्वकल्पनया व्युत्थानाद्युपपत्तिरिति। व्युत्थानसंस्कारेषु मध्ये चाऽविद्यासंस्कारस्यायं विशेषः—यत्सकृत्प्रज्ञाया जनितेनैव संस्कारेणाविद्यासंस्कारो बाध्यते, न तत्र प्रज्ञासंस्कारचक्रापेक्षेति। एतच्च ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः इत्यागामिसूत्रद्वये प्रकटीभविष्यति। इदमत्रावधेयम्—अस्मिन्सूत्रे शेषसूत्रे चाखिलसंस्कारदाहस्य योगफलत्ववचनात् प्रारब्धकर्मणोऽप्यतिक्रमेणाशुतरमोक्षः केवलज्ञानासाध्यो योगयोरसाधारणं फलमिति। न हि भोगसंस्कारस्य निःशेषतो दाहे प्रारब्धकर्मापि फलायालम्, दृष्टकार-

---

1. ख – न तु प्रतिबन्धो नाशः योगजसंस्कारमात्रे पूर्ववदेव व्युत्थानसंस्कारस्य योगभ्रष्टेषु दर्शनात् (वक्ष्यति पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – न तु...दर्शनात् नोपलभ्यते।
2. ख – विद्यातिरिक्त० (संस्काराणां प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ – विद्यातिरिक्त० नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – अपि उपलभ्यते, ख – अपि नोपलभ्यते।
4. क ख ग – किमर्थं, घ च छ – कथम्।
5. ख – च (प्रयोजनस्य पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च क – च नोपलभ्यते।

णाभावाद्, योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरादित्यादिवाक्ये संकोचकप्रमाणाभावाच्च। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणीत्यादिष्वगत्या संकोचः क्रियते, तस्य तावदेव चिरमित्यादिज्ञानिविषयकश्रुतेः; उपदेशाद्यन्यथाऽनुपपत्तेश्च। साङ्ख्यवेदान्तसूत्रयोश्च ज्ञानिनामेव प्रारब्धभोगावश्यकतोक्ता। नन्वर्द्धभुक्तप्रारब्धकर्मणां नाशे तत्फलस्य कालप्रतिनियमानुपपत्तिरिति चेत्? न; शास्त्रोक्तनाशकनाश्यकर्मस्वेव कालप्रतिनियमात्, अन्यथा कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तस्य शान्तिकमदिश्चार्धमुक्तपापनाशकत्वानुपपत्तिः। शास्त्रोक्तनाशकनाश्यकर्मणां तु स्वावस्थितिपर्यन्तमेव फलदातृत्वमिति दिक्। नन्वेवं प्रज्ञासंस्कारातिशयस्वीकारे ततोऽपि पुनर्जन्म भविष्यति, न चासंप्रज्ञातयोगेन तस्य नाशो भवितेति वाच्यम्, असंप्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं केवलज्ञानतो मोक्षाभ्युपगमादित्याशङ्कते–कथमसाविति। साधिकारं स्वकार्यजननक्षमम्। परिहरति–न त इति। ते प्रज्ञासंस्काराश्चित्तं स्वकार्यक्षमं न कुर्वन्ति, जन्मकारणस्याविद्यादिक्लेशस्य विनाशनादित्यर्थः। कर्मनाशनादित्यपि बोध्यम्। कर्त्तव्यसमापनादपि साधिकारं न कुर्वन्तीत्याह–चित्तं हीति। स्वकार्यादवसादयन्ति कर्त्तव्यशून्यङ्कुर्वन्ति। तत्र हेतुः–ख्यातीत्यादि। हि यस्माच्चित्तस्य व्यापारो विवेकख्यातिपर्यन्तः, विवेकख्याति[1]निष्पत्तौ **सत्यां प्रवर्त्तकपुरुषार्थासम्भवात्; सा च विवेकख्यातिरूपा प्रज्ञा तत्संस्कारातिशयेनानिशमुत्पद्य परवैराग्यजननद्वारेण समाप्यत इत्यर्थः॥५०॥**

पूर्ववर्णित समाधिप्रज्ञा की संस्कारजनकता को अग्रिम सूत्र में उपयोगिता की दृष्टि से प्रतिपादित किया जा रहा है–'**समाधीति**।'

शङ्का–प्रज्ञा की उत्पत्ति तक ही योग की अपेक्षा रहे। प्रज्ञोत्पत्ति के पश्चात् सम्प्रज्ञात-परम्परा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। अतः प्रयोजनशून्य सम्प्रज्ञात-परम्परा को मानना व्यर्थ है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं-'**तज्ज इति**।' सूत्रगत '**प्रतिबन्ध**' शब्द का अर्थ 'कार्यविरोधित्व' है अर्थात् प्रज्ञात्मक संस्कार द्वारा व्युत्थानात्मक संस्कार के व्यापार में निरोधात्मक हस्तक्षेप किया जाना। इसी तथ्य को भाष्यकार '**बाध**' शब्द ('**बाधते**' क्रियापद) से बतलायेंगे। भाष्य में आगे यह भी स्पष्ट किया जायेगा कि निखिल संस्कारों का नाश चित्तनाश से ही होता है। भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं–'**बाधत इत्यन्तेन**।' योगवार्त्तिककार '**संस्काराशय**' का सविग्रह अर्थ करते हैं–'**आशेत इत्याशयः, संस्कारश्चासावाशयश्चेति**' इस विग्रह के अनुसार अनुद्बुद्ध संस्कार को '**संस्काराशय**' कहते हैं। उद्बुद्ध संस्कार का बाध सम्भव नहीं है। अतः संस्कारों के उद्बोधक (संस्कारों की उद्बुद्ध शक्ति) को प्रतिबन्धित करना ही '**बाध**' शब्द का अर्थ है।

---

1. ख ग घ च छ – **निष्पत्तौ सत्यां प्रवर्त्तकपुरुषार्थासम्भवात्; सा च विवेकख्यातिरूपा प्रज्ञा तत्संस्कारातिशयेन** उपलभ्यते, क – **निष्पत्तौ....शयेन** नोपलभ्यते।

शङ्का–चित्तवृत्तिनिरोध से उत्पन्न निरोधात्मक संस्कार द्वारा व्युत्थानात्मक संस्कार का अभिभूत होना बताया जायेगा, तो फिर समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कार में भी व्युत्थानात्मक संस्कार की अभिभावकता क्यों कही जा रही है?

समाधान–वृत्तित्वावच्छिन्न अभाव अर्थात् यत्किंचिद् वृत्त्यभाव ही आगे बताई गई युक्ति से संस्कार को उत्पन्न नहीं करता है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु सम्प्रज्ञातकालीन यत्किञ्चिद् वृत्तिनिरोध में भी वैसा संस्काराजनकत्व नहीं है, क्योंकि सम्प्रज्ञातकालीन यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधजन्य संस्कार से स्मृति देखी जाती है। अतः सम्प्रज्ञातप्रज्ञाजन्य संस्कार से ही व्युत्थानसंस्कार का अभिभूत होना वक्ष्यमाण प्रयोजन के लिये स्वीकार किया गया है।

शङ्का–एक ही प्रज्ञारूपव्यक्ति तथा प्रज्ञासन्तानरूप व्यक्ति से उत्पन्न संस्कार के द्वारा व्युत्थानसंस्कार का बाध सम्भव होने पर फिर सम्प्रज्ञातसमाधि के भूयोभूयः अनुष्ठान का प्रयोजन क्या रह जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**व्युत्थानसंस्काराभिभवादित्यादि–ततश्च संस्कारा इत्यन्तेन**।' '**अभिभवात्**' पद का अर्थ है–अभिभव के कारण। अर्थात् व्युत्थानसंस्कार के अभिभव के कारण तज्जायमान प्रत्यय नहीं होता है। शेष भाष्य सुकर है।

भाव यह है–सर्वथा एक बार की सम्प्रज्ञातसमाधि में व्युत्थानसंस्कार का बाध नहीं होता है अर्थात् समाधिजन्य प्रज्ञा से व्युत्थान संस्कार सहज अभिभूत नहीं होते हैं, अन्यथा चित्त के श्रुतिस्मृतिसिद्ध पुनः-पुनः व्युत्थान की अनुपपत्ति होगी तथा सम्प्रज्ञात के बार-बार अभ्यास करने का उपदेश करना भी व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः सुनिश्चित होता है कि सम्प्रज्ञात की परम्परा से उत्पन्न दृढतर प्रज्ञात्मक संस्कार के द्वारा ही व्युत्थानात्मक संस्कार का बाध (अभिभव) होता है तथा इन व्युत्थानात्मक प्रबल संस्कारों को निरुद्ध करने के लिये अदृढीभूत प्राथमिक सम्प्रज्ञातजन्य संस्कारों के द्वारा पहले उन्हें तन्ववस्था में ही क्रमशः पहुँचाया जाता है। अतः प्रज्ञात्मक संस्कार को दृढता प्रदान करने के लिये प्रज्ञासंस्कारचक्र की अपेक्षा रहती है। इस व्याख्यान (प्रक्रिया) से 'प्रज्ञा से एक बार में ही व्युत्थान संस्कार का बाध हो जाय'–ऐसी आशंका भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि एक प्रज्ञा से (समाधिज ज्ञान से) ही व्युत्थानसंस्कार का अपनोदन (उन्मूलन) मानने पर साधक का व्युत्थित अवस्था में पुनः प्रत्यावर्तित होना सम्भव नहीं हो पायेगा। जब कि प्रारम्भिक प्रज्ञासंस्कार के समय दृढीभूत विजातीय व्युत्थानसंस्कार के विद्यमान रहने पर प्रज्ञासंस्कार को व्युत्थानसंस्कार के बाधकतावच्छेदक रूप से स्वीकार न किये जाने से व्युत्थानादि की उपपत्ति लग जाती है। व्युत्थानसंस्कारों के मध्य में अविद्याजन्य संस्कार का यह वैशिष्ट्य है कि एक बार की प्रज्ञा से जनित संस्कार

से ही अविद्याजन्य संस्कार का बाध हो जाता है। अतः यहाँ प्रज्ञाजन्य संस्कार और संस्कारजन्य प्रज्ञा–इत्याकारक प्रज्ञासंस्कारचक्र की अपेक्षा नहीं रहती है। यही तथ्य **'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः'** (२/१०-११) सूत्रद्वय में स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ विचारणीय यह है कि इस सूत्र में और इस पाद के अन्तिम सूत्र में यह प्रतिपादित किया जायेगा कि योग के फल के रूप से 'अखिल संस्कार का नाश' होना कथित होने से प्रारब्धकर्म के भी अतिक्रमण द्वारा अर्थात् प्रारब्धकर्म को भी लांघकर प्राप्त होने वाला आशुतर मोक्ष; जो केवल ज्ञान से भी सिद्ध नहीं होता है, सम्प्रज्ञात और असंम्प्रज्ञात दोनों योगों का असाधारण फल है। जब कि भोगसंस्कार का निशेषतः अर्थात् पूर्णरूप से दाह हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म मोक्षरूप फल देने में समर्थ नहीं होता हैं, क्योंकि तब मोक्षरूप फल के साक्षात् कारण योग का अभाव रहता है। किञ्च **'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्'** (वि. पु. ६/७/३५) अर्थात् 'योगाग्नि कर्मपुञ्ज को त्वरित दग्ध कर देती है'–इत्यादि वाक्य में संकोच करने में कोई प्रमाण भी नहीं है। **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि'** (गीता ४/३७) वाक्य में तो विवश होकर (अगत्या) **'सर्वकर्माणि'** पद का **'प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्माणि'** के रूप में संकोच किया जाता है, क्योंकि **'तस्य तावदेव चिरम्'** (छ/उ. ६/१४/२) इत्यादि ज्ञानिविषयक श्रुति विद्यमान है, अन्यथा तद्विषयक उपदेश उपपन्न न हो सकेगा। सांख्य तथा वेदान्त के सूत्रों में तो ज्ञानियों के ही प्रारब्धभोग की आवश्यकता कही गई है। भाव यह है कि ज्ञानमार्ग से प्राप्त होने वाले मोक्ष में ज्ञानी को भोग द्वारा ही प्रारब्धकर्म का क्षय करना पड़ता है क्योंकि ज्ञानाग्नि द्वारा प्रारब्ध कर्म को छोड़कर सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म भस्मीभूत होते हैं। जब कि योगमार्ग की यह महती विशेषता है कि योगाग्नि सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म के साथ-साथ प्रारब्धकर्म को भी भस्म करती हुई योगी को त्वरित मोक्ष प्रदान करती है।

शङ्का–योगाग्नि द्वारा अर्द्ध भुक्त प्रारब्धकर्म का नाश मानने पर प्रारब्धकर्मजन्य फलभोग की जो कालबद्ध व्यवस्था है, वह अनुपपन्न हो जायेगी?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शास्त्रोक्त नाशक-नाश्य-कर्मों में ही काल का प्रतिनियम (व्यवस्था) है, अन्यथा **'कर्मविपाक'** नामक शास्त्र में प्रायश्चित्त और शान्तिकर्मादि को अर्द्धभुक्त पाप का जो नाशक बतलाया गया है, वह अनुपपन्न हो जायेगा और शास्त्रोक्त नाशक-नाश्य-कर्मों में तो अपने रहने के कालपर्यन्त ही फलदातृता मानी गई है।

शङ्का–प्रज्ञाजन्य संस्कार का अतिशय स्वीकार करने पर उससे भी पुनर्जन्म होगा, क्योंकि असम्प्रज्ञात योग से प्रज्ञाजन्य संस्कार का नाश नहीं हो सकता है?

समाधान–ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि असम्प्रज्ञात योग के प्राप्त न होने पर भी (भोग द्वारा) प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के पश्चात् केवल ज्ञान से मोक्ष होना स्वीकार किया गया है।

शङ्का–इस पर शंका की जा रही है–'**कथमसाविति**।' संस्काराशय चित्त को '**साधिकार**' अर्थात् कार्यजनन की क्षमता क्यों नहीं प्रदान करता है?

समाधान–भाष्यकार शंका का परिहार करते हैं–'**न त इति**।' प्रज्ञाजन्य संस्कार, चित्त को अपना व्यापार करने की क्षमता वाले नहीं बनाते हैं, क्योंकि प्रज्ञात्मक संस्कार से जन्म के हेतुभूत अविद्यादि क्लेश का नाश हो जाता है। यहाँ तक कि कर्माशय भी नष्ट हो जाता है। चित्त का भोगमोक्षरूप कर्त्तव्य समाप्त हो जाने से भी प्रज्ञात्मक संस्कार (निरुद्देश्य) चित्त को साधिकार नहीं बनाये रखते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**चित्तं हीति**।' प्रज्ञाजन्य संस्कार चित्त को उसके कार्य से कर्त्तव्यशून्य कर देते हैं। इसमें कारण यह है–'**ख्यातीत्यादि**।' सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के उदयपर्यन्त ही चित्त का व्यापार रहता है। विवेकख्याति के उदित हो जाने पर चित्त का प्रवर्त्तकीभूत (चित्त को साधिकार करने वाला) पुरुषार्थ सम्भव नहीं रहता है। और अन्त में यह विवेकख्यातिरूप प्रज्ञा संस्कारातिशय के कारण अहर्निश (प्रगाढता को प्राप्त) होती हुई परवैराग्योत्पत्ति द्वारा स्वयं भी समाप्त हो जाती है। अर्थात् गुणवैतृष्ण्यरूप परवैराग्य से विवेकख्यातिं में भी अलंबुद्धि (हेयबुद्धि) जागरित होती है, जिसके कारण वृत्त्यात्मक विवेकख्याति भी निरुद्ध हो जाती है अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोधयुक्त चित्त हो जाता है॥५०॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

किं चास्य भवति–

शङ्का–और इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार (समूह) का क्या होता है? (अथवा ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कारविशिष्ट चित्त का और क्या कर्त्तव्य है?)–उत्तर है–

योगसूत्रम्

तस्यापि निरोधे सर्व[1]वृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१॥

1. **वृत्ति०** – नोपलभ्यते।

उस (प्रज्ञाजन्य संस्कार) का भी निरोध हो जाने पर सब (प्रज्ञा और प्रज्ञाजन्य समस्त संस्कारों) का निरोध हो जाने से 'निर्बीज समाधि' प्राप्त होती है ॥५१॥

व्यासभाष्यम्

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी, प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति। कस्मात्? निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति। निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्। व्युत्थान-निरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताव[1]वस्थितायां [2]प्रविलीयते, [3]तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकार[4]विरोधिनो न स्थितिहेतवः [5]भवन्तीति। यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं [6]विनिवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूप[7]मात्रप्रतिष्ठोऽ[8]तः [9]शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत [10]इति॥५१॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये
प्रथमःसमाधिपादः॥१॥

------------xxx-----------

यह (निर्बीज समाधि) समाधि-प्रज्ञा की ही विरोधिनी नहीं है, अपितु समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों का भी बाध करती है।

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र – अवस्थितायां, ज – स्थितायाम्।
2. छ थ – अयं प्रकृतिलयो भवप्रत्ययोऽसंप्रज्ञातः (प्रविलीयते पश्चाद्) उपलभ्यते, क ख ग घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र – अयं.......असंप्रज्ञातः नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र – तस्मात्, त – कस्मात्।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र – विरोधिनः, द – विरोधेन।
5. क ख ग च छ ज झ त च थ द ध न फ ब भ य – भवन्तीति उपलभ्यते, घ प म र – भवन्तीति नोपलभ्यते।
6. क ख च छ ज झ त थ द ध न व भ य – विनिवर्तते, ग घ प फ म र – निवर्तते।
7. क ख ग च छ ज झ त थ ध न व भ म य – मात्र० उपलभ्यते, घ द प फ र मात्र० नोपलभ्यते।
8. घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र – अतः उपलभ्यते, क ख ग छ ज थ – अतः नोपलभ्यते॥
9. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब भ म य – शुद्धः केवलो मुक्तः, घ प फ र – शुद्धमुक्तः, द – शुद्धः मुक्तः।
10. छ थ – अयं विदेहो भवप्रत्ययो ह्यसंप्रज्ञातः समाधिः (इति पूर्वं उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र – अयं....समाधिः नोपलभ्यते।

शङ्का–निर्बीज समाधि संस्कारों का भी निरोध क्यों करती है?

समाधान–क्योंकि निरोधजन्य संस्कार (सम्प्रज्ञात) समाधि (प्रज्ञा) जन्य संस्कारों को भी बाधित करता है। निरोध की स्थिति के (न्यूनाधिक) काल के क्रम का अनुभव होने से निरोधकालिक चित्तजन्य संस्कारों का अस्तित्व अनुमेय है। व्युत्थान (लौकिक वृत्ति और उसके निरोधक सम्प्रज्ञात समाधि) का निरोध करने वाली (निर्बीज संज्ञक) निरोधसमाधि से उत्पन्न कैवल्य के अनुकूल (निरोध) संस्कारों के साथ चित्त अपने (अव्यक्त रूप से अवस्थित) मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है। इसलिये ये (निरोध) संस्कार चित्त के अधिकार (व्यापार) के विरोधी होते हैं, चित्त की स्थिति के हेतु नहीं होते हैं। क्योंकि समाप्ताधिकार चित्त कैवल्यभागीय संस्कारों के साथ निवृत्त (निरुद्ध) हो जाता है। संस्कारसहित चित्त के निरुद्ध होने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः वह शुद्ध, केवल तथा 'मुक्त' कहा जाता है॥५१॥

------------xxx-----------

तत्त्ववैशारदी

पृच्छति–किं चेति। किं चास्य भवति प्रज्ञासंस्कारवच्चित्तं प्रज्ञा[1]संस्कारप्रवाहजनकतया **तथैव** साधिकारमित्यधिकारापनुत्तयेऽन्यदपि किंचिदपेक्षणीयमस्तीत्यर्थः। सूत्रेणोत्तरमाह–**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः**। परेण वैराग्येण ज्ञानप्रसादमात्रलक्षणेन **संस्कारो**[2]**पजननद्वारा तस्यापि प्रज्ञाकृतस्य संस्कारस्य निरोधः**, न केवलं प्रज्ञाया इत्यपि-**शब्दार्थः। सर्वस्योत्पद्यमानस्य संस्कार**[3]**प्रज्ञाप्रवाहस्य निरोधात्कारणाभावेन कार्या**[4]**नुत्पादा-त्**[5]**सोऽयं निर्बीजः समाधिः। व्याचष्टे–स इति।**[6] **सः निर्बीजः समाधिः समाधिप्रज्ञाविरोधिनः परस्माद्वैराग्यादु**[7]**पजायमानः स्वकारणद्वारेण न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामप्यसौ संस्काराणां परिपन्थी भवति।**

शङ्का–प्रश्न किया जा रहा है–'**किं चेति**।' ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कारयुक्त चित्त; प्रज्ञा-संस्कार के प्रवाह का जनक होने से (व्युत्थानकाल के भोगाधिकार के समान) इस काल में भी अधिकारयुक्त ही है। अतः ऐसे 'साधिकार चित्त' (चित्त-व्यापार) के उच्छेद के लिये योगी का कुछ अन्य कर्त्तव्य है अथवा नहीं?

---

1. घ च छ – **संस्कार०** उपलभ्यते, क ख ग ज झ त थ द ध न – **संस्कार०** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न – **उपजनन०**, थ द ध – **उपजन०**।
3. ख ग घ च छ ज झ त न – **प्रज्ञा** उपलभ्यते, क थ द ध – **प्रज्ञा** नोपलभ्यते।
4. क घ च छ ज झ त न – **अनुत्पादात्**, ख ग थ द ध – **अनुत्पादनात्**।
5. क ख ग घ च छ थ द ध न – **सोऽयं** उपलभ्यते, ज झ त – **सोऽयं** नोपलभ्यते।
6. थ द ध – **स इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न – **स इति** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त न – **उपजायमानः**, थ द ध – **जायमानः**।

समाधान–सूत्र द्वारा उत्तर दिया जा रहा है–'**तस्येति**।' ज्ञानप्रसादमात्रलक्षणक परवैराग्य के द्वारा निरोधसंस्कार की वृद्धि से न केवल ऋतम्भरा-प्रज्ञा का, अपितु प्रज्ञाकृत (प्रज्ञाजन्य) संस्कार का भी निरोध हो जाता है। यही सूत्र के '**अपि**' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार उत्पन्न हुए समस्त संस्कारप्रज्ञाप्रवाह का निरोध होने से, कारण (संस्कार) का अभाव हो जाने से कार्य (प्रज्ञारूप वृत्ति) की भी उत्पत्ति नहीं होती है। चित्त की यही अवस्था '**निर्बीज समाधि**' कही जाती है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**स इति**।' समाधि-प्रज्ञा (विवेकख्याति) के विरोधी '**परवैराग्य**' से उदित हुई यह '**निर्बीज समाधिः**' अपने कारणीभूत परवैराग्य के माध्यम से, केवल समाधिप्रज्ञा की प्रतिबन्धिका नहीं है, अपितु यह समाधिप्रज्ञाजन्य संस्कारों की भी विरोधिनी है अर्थात् प्रज्ञात्मक संस्कार के वृत्तिरूप कार्य को नहीं होने देती है।

बालप्रिया–

'**समाधिप्रज्ञाविरोधिनः परस्माद्वैराग्यात्**'–वाक्यांश के स्पष्टीकरणार्थ पूर्ववर्णित 'तत्परं **पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्** १/१६ सूत्र स्मरणीय है, जिसमें परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति (समाधिप्रज्ञा) के प्रति हेयबुद्धि जागरित होना बतलाया गया है।

निर्बीज समाधि से प्रज्ञाकृत संस्कार का बाध (निरोध) होता है–इस तथ्य को लेकर अग्रिम विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननु वैराग्यजं विज्ञानं सद्विज्ञानं प्रज्ञामात्रं बाधताम्। संस्कारं त्वविज्ञानरूपं कथं बाधते। दृष्टा हि जाग्रतोऽपि स्वप्नदृष्टार्थे स्मृतिरित्याशयवान्पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरमा[1]ह–निरोधज इति। निरुध्यतेऽनेन प्रज्ञेति निरोधः परं वैराग्यम्। ततो जातो निरोधजः संस्कारः संस्कारादेव दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितपरवैराग्यजन्मनः प्रज्ञासंस्कारबाधो न तु विज्ञानादित्यर्थः।

शङ्का–परवैराग्यजनित गुणवैतृष्ण्यरूप विज्ञान (जो निर्बीज समाधि का कारण है) यथार्थविषयक ('**इयमपि हेयम्**' रूप) विज्ञान है। अतः परवैराग्यजन्य विज्ञान (अपनी अपेक्षा दुर्बल) समाधिज प्रज्ञामात्र का बाध करे। किन्तु उक्त विज्ञान से अविज्ञानरूप संस्कार का बाध (निरोध) कैसे हो सकता है? अर्थात् विज्ञान से संस्कार का निरोध सम्भव नहीं है, (क्योंकि परवैराग्यजनित विज्ञान की समाधिप्रज्ञा=समाधिविज्ञान के साथ ही प्रतिद्वन्द्विता=परिपन्थिता हो सकती है, तज्जन्य संस्कार के साथ नहीं), क्योंकि स्वप्न में होने वाले ज्ञान (दृष्टार्थ) के विषय में जागरित अवस्था में भी स्मृति देखी जाती है जब कि आपके अनुसार

1. **थ द ध – आह** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त – **आह** नोपलभ्यते।

स्वाप्निक पदार्थविषयक संस्कार का भी जागरितकालिक विज्ञान से बाध होने पर तद्विषयक स्मृति नहीं होनी चाहिये। अतः निर्बीज समाधिज विज्ञान से प्रज्ञासंस्कार का बाध कहना उचित नहीं है। इसी आशय से पूर्वपक्षी पूछता है–'**कस्मादिति**।'

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते है–'**निरोधज इति**।' '**निरुध्यतेऽनेन प्रज्ञेति निरोधः**' के अनुसार जिसके द्वारा प्रज्ञा निरुद्ध होती है, उसे '**निरोध**' कहते हैं और यह 'निरोध' '**परवैराग्य**' रूप है। परवैराग्यजनित निरोध से निरोध-संस्कार उत्पन्न होता है। सुदीर्घ काल तक व्यवधानरहित होकर निष्ठापूर्वक अनुष्ठित (अभ्यसित) परवैराग्य से जायमान संस्कार के द्वारा ही ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य संस्कार का बाध होता है, न कि विज्ञान (परवैराग्य) से संस्कार का बाध (निरोध) होता है। इस प्रकार ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य संस्कार के निरुद्ध होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आती है।

जिस निरोधज संस्कार से ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार का निरुद्ध होना प्रतिपादित हुआ है, उस निरोधजसंस्कार के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–निरोधजसंस्कारसद्भावे किं प्रमाणम्? स हि प्रत्यक्षेण वानुभूयेत, स्मृत्या वा कार्येणानुमीयेत। न च सर्ववृत्तिनिरोधे प्रत्यक्षमस्ति योगिनः। नापि स्मृतिः, तस्य वृत्तिमात्रनिरोधतया स्मृति[1]जनकत्वासंभवादित्यत आह–निरोधेति। निरोधस्थितिश्चित्तस्य [2]निरुद्धावस्थे[3]त्यर्थः। तस्याः कालक्रमो मुहूर्तार्द्धयामयामाहोरात्रादिस्तदनुभवेन। एतदुक्तं भवति–वैराग्याभ्यासप्रकर्षा[4]नुरोधी निरोधप्रकर्षो मुहूर्तार्द्धयामादिव्यापितयानुभूयते योगिना। [5]न च परवैराग्यक्षणाः क्रमनियततया परस्परमसंभवन्तस्तत्तत्कालव्यापितया सातिशयं निरोधं कर्तुमीशत इति तत्तद्वैराग्यक्षणप्रचयजन्यः स्थायी [6]संस्कारप्रचय एषितव्य इति भावः।

शङ्का–निरोधजन्य संस्कार से ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार का बाध होना भले ही माना जाय, किन्तु निरोधजन्य संस्कार के सद्भाव (अस्तित्व) में ही क्या प्रमाण है? क्या, वह प्रत्यक्ष से अनुभूत होता है अर्थात् निरोधज संस्कार प्रत्यक्ष का विषय है अथवा वह स्मृतिरूप कार्य से अनुमित होता है अर्थात् तद्विषयक स्मरणात्मक ज्ञान से उसका अनुमान किया जाता है–ये दो विकल्प हैं। इन दोनों विकल्पों की

---

1. क ख – **जनन०**, ग घ च छ ज झ त थ द ध न – **जनकत्व०**,
2. क च – **निरोध०**, ख ग घ छ ज झ त थ द ध न – **निरुद्ध०**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न – **इत्यर्थः** उपलभ्यते, थ द ध – **इत्यर्थः** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ थ द ध न – **अनुरोधी निरोधप्रकर्षः**, ज – **अनुरोधी निरोधप्रकर्षो**, झ त – **अनुरोधप्रकर्षः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त ध द ध–**न** उपलभ्यते, झ – **न** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न – **संस्कारप्रचयः**, ज – **संस्कारः**।

असम्भाव्य-स्थिति को स्पष्ट करता हुआ स्वयं पूर्वपक्षी कहता है कि (१) निरोधजन्य संस्कार को प्रत्यक्ष का विषय कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि योगमत में चित्तवृत्ति को ही प्रमाण कहते हैं और इस काल में योगी के चित्त की समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर (वृत्त्यभाव के कारण) प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता है। (२) यदि कहें कि स्मृतिरूप कार्य से निरोधजसंस्कार अनुमित होता है, तो यह कथन भी सम्भव नहीं (समीचीन नहीं) है। क्योंकि समस्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर उस स्वरूपसत् निरोधसंस्कार में स्मृतिजनकता ही कहाँ है? अतः निरोधजसंस्कार के सद्भाव में कोई प्रमाण न होने से जब निरोधसंस्कार ही नहीं है, तो उससे प्रज्ञासंस्कार के निरोध (बाध) की चर्चा निराधार प्रतीत होती है। **समाधान**–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**निरोधेति**' भाष्यस्थ '**निरोधस्थिति**' पद का अर्थ है–चित्त की निरुद्धावस्था। अर्थात् '**निरोध**' चित्त की एक अवस्थाविशेष है। चित्त की इस निरुद्धावस्था का मुहूर्त, अर्द्धयाम, याम (प्रहर) तथा अहोरात्र (दिन-रात) आदि कालक्रम से अनुभव किया जाता है। तात्पर्य (स्पष्टीकृत रूप) यह है–परवैराग्य के दीर्घकालीन अभ्यासोत्कर्ष पर अवलम्बित चित्त की निरुद्धावस्था की जो दृढ़ता है, वह मुहूर्त, अर्द्धयाम आदि से परिव्याप्त होकर योगी द्वारा अनुभूत होती है। क्रमविशिष्ट अर्थात् तत्तत् क्षणविशिष्ट होने से परस्पर सम्मिलित न रहने वाले परवैराग्यात्मक क्षण एक साथ प्रज्ञाजन्य संस्कारों का निरोध करने में समर्थ नहीं होते हैं, अपितु तत्तद् वैराग्यक्षण की वृद्धि से उत्पन्न निरोधसंस्कारसमूह की क्रमशः वृद्धिपूर्वक प्रज्ञाजन्य संस्कारों का निरोध होता है।

बालप्रिया–

'**निरोधप्रकर्षो...अनुभूयते**'–भाव यह है कि चित्त की निरुद्धभूमि में योगी की समस्त वृत्तियाँ युगपत् निरुद्ध नहीं होती हैं, अपितु वे क्रमशः निरुद्ध होती हैं। अर्थात् जैसे-जैसे परवैराग्य के अभ्यासक्रम में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे वृत्ति और तज्जन्य संस्कारों का निरोध होता जाता है। इस क्रम से प्रज्ञासंस्कारों के अपचयपूर्वक निरोध-संस्कारों का उपचय होता है। इन प्रज्ञासंस्कारों के न्यूनतारूप कार्यलिङ्गक अनुमान से निरोधसंस्कारों की सत्ता अनुमित होती है। क्योंकि निरोधसंस्कार के विना प्रज्ञासंस्कार का अपक्षय होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार निरोधसंस्कार की अनुमित सत्ता पूर्ववर्णित सिद्धान्त को समीचीन सिद्ध करती है कि निरोधसंस्कार से प्रज्ञासंस्कार का बाध होता है।

निरोधसंस्कार से प्रज्ञासंस्कार के निरुद्ध होने की मान्यता के सिद्ध हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, निरोधसंस्कार के निरोध के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ननूच्छिद्यन्तां प्रज्ञासंस्काराः, निरोधसंस्कारास्तु कुतः समुच्छिद्यते? अनुच्छेदे वा साधिकारत्वमेवेत्यत आह–व्युत्थानेति। व्युत्थानं च तस्य निरोधसमाधिश्च संप्रज्ञातस्तत्प्रभवाः संस्काराः कैवल्यभागीया निरोधजाः संस्कारा इत्यर्थः। व्युत्थानप्रज्ञासंस्काराश्चित्ते प्रलीना इति भवति चित्तं व्युत्थानप्रज्ञासंस्कारवत्। निरोधसंस्कारस्तु प्रत्युदित एवास्ते चित्ते। निरोधसंस्कारे सत्यपि चित्तमनधिकारवत्। पुरुषार्थजनकं हि चित्तं साधिकारं शब्दाद्युपभोगविवेकख्याती च तथा [1]पुरुषार्थौ। संस्कारशेषतायां तु न बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इति नासौ पुरुषार्थः। विदेह- प्रकृतिलयायां न निरोधभागितया साधिकारं चित्तम्, अपि तु क्लेशवासितत- येत्याश- यवानाह–यस्मादिति। शेषं सुगमम्॥५१॥

शङ्का–निरोधसंस्कार से प्रज्ञासंस्कार का उच्छेद भले ही हो, किन्तु निरोधसंस्कार का उच्छेद कैसे होगा? किञ्च निरोधसंस्कार का उच्छेदक कोई उपायान्तर न होने से यदि निरोधसंस्कार को विद्यमान माना जाय तो निरोध (संस्कारविशिष्ट) चित्त को साधिकार (अचरितार्थाधिकार) कहना पड़ेगा? इसका परिणाम यह होगा कि योगी को कभी कैवल्य प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि निरधिकार चित्त ही कैवल्योन्मुख होता है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**व्युत्थानेति**।' चित्त की व्युत्थानावस्था की दृष्टि से निरोधसमाधिरूप सम्प्रज्ञात समाधि से उत्पन्न संस्कार कैवल्यभागीय निरोधज-संस्कार होते हैं। (असम्प्रज्ञात की दृष्टि से) व्युत्थानात्मक प्रज्ञासंस्कार चित्त में प्रलीन हो जाते हैं–ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त व्युत्थानात्मक प्रज्ञासंस्कारवत् हो जाता है। निरोधसंस्कार तो विवेकख्यातिप्राप्त चित्त में ही प्रादुर्भूत होता है। अतः निरोधसंस्कार के रहने पर भी चित्त अनधिकार अर्थात् समाप्ताधिकारवत् हो जाता है। जो चित्त पुरुषार्थ का जनक होता है, उसे '**साधिकार**' कहते हैं। वे दो पुरुषार्थ हैं–शब्दादिविषय का उपभोग तथा विवेकख्याति का उदय। चित्त की संस्कारशेषावस्था में 'पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी' नहीं रहता है–अतः चित्त का भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इस अवस्था में विदेह तथा प्रकृतिलीन (भवप्रत्ययक) साधकों का साधिकार चित्त निरोधभागीयरूप से स्थित नहीं रहता है, अपितु क्लेशवासना से युक्त रहता है। अतः कैवल्यसम अवस्था की अवधि की समाप्ति पर वे संसार में पुनः प्रत्यावर्त्तित होते हैं। इसी आशय को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**यस्मादिति**।' अर्थात्

---

1. ग थ द ध ा – **पुरुषार्थौ**, घ च छ ज झ त – **पुरुषार्थः**, क ख – **पुरुषार्थौ/पुरुषार्थः** नोपलभ्यते।

कैवल्यभागीय संस्कारों के साथ निवृत्त (निरुद्ध) हो जाता है। आगे का भाष्य सरल है॥५१॥

वाचस्पति मिश्र प्रथम पाद में वर्णित विषयों का संकलनात्मक श्लोक प्रस्तुत करते हुए प्रथम पाद की व्याख्या समाप्त करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

योगस्योद्देशनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम्।
[1]योगोपायाः प्रभेदाश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः॥१॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां तत्त्ववैशारद्यां प्रथमःसमाधिपादः॥१॥ 14-9-2005

योग का '**उद्देश**' अर्थात् नाममात्र से कथन, योग का '**निर्देश**' अर्थात् योगलक्षण, तदर्थ 'वृत्तिलक्षण', योग के 'उपाय' तथा योग के 'भेद'–ये (पांच) विषय प्रथम पाद में प्रतिपादित हुए हैं॥१॥

बालप्रिया–

उद्देशनिर्देशौ–पद का अर्थ है–योगारम्भ की प्रतिज्ञा तथा प्रतिज्ञानुसार योगलक्षण।

'**योगोपायाः**'–अभ्यास और वैराग्यादि योगोपाय हैं।

तत्प्रभेदाः–वितर्क, विचारादि योग के प्रभेद हैं॥१॥

इस प्रकार वाचस्पतिमिश्रविरचित पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका पर लिखी गई 'सपाठभेद बालप्रियाख्य' हिन्दी व्याख्या का यह प्रथम समाधिपाद है।

-------------xxx-----------

योगवार्त्तिकम्

क्षीणवृत्तेरित्यादि[2]सूत्रैः संप्रज्ञातस्य [3]फलादिकमुक्तम्। इदानीमसंप्रज्ञातस्य फलादेः सूत्रं प्रवर्त्तिष्यते, तत्सूत्रं प्रज्ञासंस्कारा[4]तिशयस्य पुनर्जन्माहेतुत्वे हेत्वन्तरपरतयाऽवतारयति–किं चास्येति। तस्य प्रज्ञासंस्कारस्यान्यच्च फलं सर्ववृत्तितत्संस्कारयोर्निरोधो भवतीति न पुनर्जन्म-संभावनेत्यर्थः। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। पूर्वपूर्वासंप्रज्ञाते

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द न – **योगोपायाः**, थ – **योगोपायास्तत्**, ध – **योगोपात्ताः**।
2. क ग घ च छ – **सूत्रैः**, ख – **सूत्रे**।
3. क ग घ च छ – **फलादिकमुक्तम्। इदानीमसंप्रज्ञातस्य** उपलभ्यते, ख – **फल....तस्य** नोपलभ्यते।
4. अ ख ग घ च छ – **अतिशयस्य पुनर्जन्माहेतुत्वे हेत्वन्तरपरतयाऽवतारयति – किं चास्येति। तस्य** उपलभ्यते, क – **अतिशयस्य....तस्य** नोपलभ्यते।

तावत्प्रज्ञैव निरुध्यते, प्रज्ञासंस्कारस्य तु तानवमात्रं भवति। एवं क्रमेण तु तस्यापि प्रज्ञाकृत-संस्कारस्याप्यसंप्रज्ञातपरम्परया निरोधेऽत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासम्प्रज्ञातो निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवत्यपुनर्व्युत्थानेत्यर्थः। सर्वनिरोधादिति सूत्रावयवेन निर्बीजत्वे हेतुरुक्तः। यतः[1] प्रज्ञा तत्संस्कारश्च सर्वोऽप्यत्यन्तं [2]विलयमितोऽतोनिर्बीजः, दुःखबीजैः संस्कारादिभिः शून्य इत्यर्थः। पूर्वपूर्वासम्प्रज्ञातव्यक्तिषु च क्रमेण बीजतानवाद् गौणं निर्बीजत्वमसंप्रज्ञातलक्षणे पूर्वं[3] भाष्यकृतोक्तमिति स्मर्त्तव्यम्। तथा च चरमासम्प्रज्ञाते सर्वे प्रज्ञासंस्कारा: क्षीयन्त इत्यतो न ते चित्तं साधिकारं कुर्वन्तीति भावः। एतेनासंप्रज्ञातपरंपरायाः प्रज्ञासंस्कारात्यन्तलयः फलं सूत्रेणोक्तम्।

पीछे '**क्षीणवृत्तेः**' १/४१ इत्यादि सूत्रों द्वारा, सम्प्रज्ञात समाधि के फलादि को प्रतिपादित किया गया। सम्प्रति, असम्प्रज्ञात समाधि के फलादि का प्रतिपादक सूत्र प्रस्तुत किया जायेगा। भाष्यकार उस अग्रिम सूत्र को–'प्रज्ञासंस्कारातिशय को पुनर्जन्म का हेतु न होने के हेत्वन्तररूप से'-अवतरित करते हैं अर्थात् किस प्रकार विवेकख्यातिजन्य संस्कार पुनर्जन्म का कारण नहीं होता है, इसे प्रकारान्तर से अवतरित करते हैं–'**किं चास्येति**।' प्रज्ञासंस्कार का दूसरा फल सभी वृत्तियों का निरोध करते हुए तज्जन्य संस्कार का भी निरोध करना है, जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना न रहे। सूत्र है–'**तस्येति**।' पूर्व-पूर्व असम्प्रज्ञात में अर्थात् असम्प्रज्ञात की प्रारम्भिक अवस्था में तो प्रज्ञात्मक वृत्ति का ही निरोध होता है तथा प्रज्ञाजन्य संस्कार की तो तनुतामात्र होती है अर्थात् प्रज्ञात्मक संस्कार को शिथिलप्राय किया जाता है। इस 'असम्प्रज्ञातपरम्परा के क्रम से '**तस्यापि**' अर्थात् प्रज्ञाकृत संस्कार का भी '**निरोध**' अर्थात् आत्यन्तिक अभिभव हो जाने पर चरम असम्प्रज्ञात अर्थात् '**निर्बीजयोग**' की पराकाष्ठा होती है अर्थात् प्रज्ञावृत्ति के उदयपूर्वक पुनः व्युत्थित अवस्था योगी की नहीं होती है। सूत्रकार ने '**सर्वनिरोधादिति**' सूत्रांश द्वारा असम्प्रज्ञात के '**निर्बीज**' होने का कारण यह बताया है कि (चित्त की इस अवस्था में) प्रज्ञावृत्ति और तज्जन्य संस्कार सभी का आत्यन्तिक लय हो जाता है। अतः असम्प्रज्ञात को '**निर्बीज**' कहते हैं। संस्कारादि दुःख-बीजों की शून्यता ही '**निर्बीज**' है। असम्प्रज्ञात के पूर्व-पूर्व अवस्थाभेदों में (पूर्व-पूर्व असम्प्रज्ञात व्यक्तियों में) इन संस्कारादिरूप बीज की क्रमशः तनुता होती है। अतः प्राथमिक असम्प्रज्ञात में 'अप्रधान निर्बीजता' है, ऐसा भाष्यकार असम्प्रज्ञात के लक्षण में पहले बतला चुके हैं। अन्तिम असम्प्रज्ञात में प्रज्ञाजन्य अखिल संस्कार क्षीण हो जाते हैं, अतः वे

---

1. क ग घ च छ – **यतः** उपलभ्यते, ख – **यतः** – नोपलभ्यते।
2. क ग च छ – **विलयमितोऽतो निर्बीजः**, ख – **विलायितो निर्बीजः**, घ – **विलयितोऽतो निर्बीजः**।
3. क – **पूर्व०**, ख ग घ च छ – **पूर्वम्**।

प्रज्ञासंस्कार चित्त को अधिकारविशिष्ट (साधिकार) नहीं करते हैं। इस प्रकार असम्प्रज्ञात-परम्परा (असम्प्रज्ञातावस्था के नैरन्तर्य) से 'प्रज्ञा-संस्कार का आत्यन्तिक लय' होना असम्प्रज्ञात का फल है, ऐसा सूत्र से विवक्षित है।

योगवार्त्तिकम्

सूत्रस्थस्यापिशब्दस्यार्थं भाष्यकारो व्याचष्टे–स न केवलमिति। स सामान्य-निर्बीजयोगः, न केवलं समाधिप्रज्ञाया विरोधी भावाभावरूपेण, अपि तु क्रमेण प्रज्ञाकृत-संस्काराणामपि प्रतिबन्धी=अत्यन्तमभिभावक इत्यर्थः। ननु यदि प्रज्ञाकृतसंस्काराणामप्य-सम्प्रज्ञातो[1] बाधकस्तर्हि सकृदसम्प्रज्ञातादेव सर्वसंस्कारबाधे व्युत्थानं कदाऽपि कस्यापि न स्यादित्याशयेनाक्षिपति–कस्मादिति। परिहरति–[2]निरोधज इति। न निरोधः साक्षादेव प्रज्ञासंस्कारान् विलापयति किं तु निरोधपरंपराजन्यो दृढतरः संस्कार एव प्रज्ञासंस्कारानत्यन्तं विलापयतीत्यर्थः। दृढतरत्वं च जातिविशेष इत्युक्तम्। ननु ज्ञानस्यैव संस्कारजनकत्वं दृष्टम्, निरोधस्तु न ज्ञानं संस्कारशेषचित्तावस्थाविशेषमात्रत्वाद[3]तस्तस्य संस्कारजनकत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह–निरोधस्थितीति। निरोधस्थितावसम्प्रज्ञातावस्थाने यो मुहूर्त्ताहोरात्र-मासादिरूपः कालक्रमः क्रमेण कालवृद्धिस्तद्दर्शनेन निरोधावस्थचित्तजन्यः संस्कारोऽनुमेयः, संस्कारवृद्धिव्यतिरेकेण तन्नियामकासम्भवादित्यर्थः। सम्प्रज्ञातस्य तु क्रमेण[4] कालवृद्धिः प्रज्ञासंस्कारतारतम्येनैवोपपद्यत इत्यतो न सम्प्रज्ञातस्य संस्कारहेतुतेति। ननु प्रज्ञासंस्कारश्चर-मासम्प्रज्ञातेनात्यन्तं बाध्यताम्, निरोधसंस्कारास्तु कुतः समुच्छिद्यन्ते तदनुच्छेदे च साधिकारत्वमेव चित्तस्येति मोक्षानुपपत्तिः। किं च प्रलीनानामपि संस्काराणां कदाचिद्योगीश्वरसंकल्पादिना दग्धबीजस्येव पुनरुद्बोधोऽपि सम्भाव्येतेत्याशङ्कामपाकरोति–व्युत्थाननिरोधेति। असम्प्रज्ञातापेक्षया समाधिप्रज्ञाऽपि व्युत्थानम्। अतो व्युत्थानं ज्ञानसामान्यं निरोधसमाधिश्चासम्प्रज्ञातस्तदुभयप्रभवैः सह=सहितैः कैवल्यभागीयैः=कैवल्यहेतु[5]कर्मसंस्कारै-र्विशिष्टं चित्तं स्वकीयप्रकृतौ नित्यायां स्वयमेव प्रलीयते=दग्धेन्धनानलवदात्यन्तिकलयं गच्छति परिणामस्वाभाव्यात्; तत्स्वामिपुरुषस्य भोगहेतुर्विसदृशपरिणाम एव हि पुनर्न भवति, तद्धेतोः पुरुषार्थस्याभावादित्यर्थः। अथ वा कैवल्यभागीयैः कैवल्यपर्यन्तस्थायिभिर्व्युत्थान[6]-

---

1. क ख ग घ – असंप्रज्ञातः, च छ – संप्रज्ञातः।
2. क ग घ – निरोधः, ख च छ – निरोधजः।
3. क ग घ च छ – अतः, ख – प्रयत्नविशेषरूपत्वाद्वा।
4. क ख ग घ – क्रमेण उपलभ्यते, च छ – क्रमेण नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ – कर्म० उपलभ्यते, ख – कर्म० नोपलभ्यते।
6. क ख ग – आदि० (व्युत्थान० पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ – आदि० नोपलभ्यते।

संस्कारैः सहेति चित्तविशेषणम्। अनेन सूत्रेण [1]शङ्कानिराकरणमुपपादयति–तस्मादिति। तस्मान्निरोधसंस्कारस्यापि क्षयात्ते निरोधसंस्कारा इत्यादिरर्थः। ननु भवतु योगद्वयाच्चित्तस्यात्यन्तिकलयस्तथाऽपि पुरुषार्थः कः सिध्यतीत्याकाङ्क्षायामाह–यस्मादित्यादि। यस्माच्चित्तं निवर्ततेऽतस्तस्मिन्निवृत्ते सति पुरुषो मुक्त इत्युच्यते। तत्र हेतुगर्भविशेषणानि–[2]स्वरूपेत्यादीनि। स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः पर[3]रूपैः प्रतिबिम्बितदुःखादिभिर्मुक्तः शुद्धः=स्वत्वसम्बन्धेन पुण्य[4]पापमुक्तः, भोगसाधनत्वस्यैव स्वत्वतया कूटस्थस्यापि संसारदशायां [5]स्वत्वाभ्युपगमात् **एतादृशमुक्तेः साध्यत्वमुपपन्नम्। केवलः=उपाधिसंयोगाख्यबन्धमुक्त इत्यर्थः। [6]एवंरूपो मोक्ष एव योगस्य मुख्यं फलमित्याशयः। पारमार्थिको दुःखकर्मादिसम्बन्धो लेपाख्यसंयोगरूपसम्बन्धो वा लोके बन्ध इत्युच्यते, तन्मुक्तिश्च बुद्धेरेव न कूटस्थस्यासङ्गस्य पुरुषस्येति प्रतिपादयितुं मुक्त इत्युच्यत इत्युक्तम्। शास्त्रेषु मुक्त इति व्यवहारमात्रं क्रियत इति तस्यार्थः। तदुक्तं साङ्ख्यसूत्रेण–वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः इति। पुरुषे बन्धादिकं वाङ्मात्रं चित्त एव बन्धाद्यवस्थानादित्यर्थः। पुरुषार्थत्वं च पारमार्थिकमेव, दुःखं मा [7]भुञ्जीयेति प्रार्थनादिति भावः।**

भाष्यकार सूत्रगत **'अपि'** शब्द का अर्थ करते हैं–**'स न केवलमिति।' 'सः'** अर्थात् सामान्य निर्बीजयोग भावाभावरूप से केवल समाधिप्रज्ञा का विरोधी नहीं होता है, अपितु प्रज्ञाजन्य संस्कारों का भी **'प्रतिबन्धी'** अर्थात् आत्यन्तिक नाश (अभिभव) करने वाला होता है।

शङ्का–यदि **'असम्प्रज्ञात',** प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी बाधक है तो एक बार की असम्प्रज्ञात दशा से ही यच्च-यावत् संस्कारों का बाध (नाश) हो जाने पर किसी भी असम्प्रज्ञातप्राप्त योगी की कभी भी व्युत्थित दशा नहीं हो पायेगी अर्थात् व्युत्थान न होगा? इसी आशय से पूर्वपक्षी आक्षेप करता है–**'कस्मादिति।'** अर्थात् निर्बीज समाधि अपने कारणभूत परवैराग्य द्वारा प्रज्ञासंस्कार का भी प्रतिबन्धी क्यों है?

समाधान–आक्षेप का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–**'निरोधज इति।' 'निरोध'** अर्थात् असम्प्रज्ञात साक्षात् ही प्रज्ञाजन्य संस्कारों का लय (नाश) नहीं करता है, अपितु निरोधपरम्परा से जन्य दृढतर संस्कार ही प्रज्ञाजन्य संस्कारों का आत्यन्तिक

---

1. ख ग – **पूर्वोक्त०** (**शङ्का प्राक्**) उपलभ्यते, क घ च छ – **पूर्वोक्त०** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ – **स्वरूपेत्यादीनि** उपलभ्यते, ख – **स्वरूपेत्यादीनि** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ – **रूपैः**, ख – **पुरुषैः**।
4. क घ च छ – **पाप०**, ख – **पापेन**, ग – **पापम्**।
5. ख घ – **आदि०** (**स्वत्व०** पश्चात्) उपलभ्यते, क ग च छ – **आदि०** नोपलभ्यते।
6. ख – **मुक्तेः** (**एवंरूपः प्राक्**) उपलभ्यते, क ग घ च छ – **मुक्तेः** नोपलभ्यते।
7. क ख ग च छ – **भुञ्जीय**, घ – **भुञ्जीयाम्**।

(सार्वकालिक) लय करता है। यहाँ निरोधपरम्पराजन्य संस्कार का दृढतरत्व 'जातिविशेषरूप' है (न कि व्यक्तिविशेषरूप)–ऐसा बताना भाष्यकार को अभिप्रेत है।

शङ्का–ज्ञान में ही संस्कारजनकता है अर्थात् ज्ञान ही संस्कार का उत्पादक होता है, ऐसा अनुभवसिद्ध है। **'निरोध'** तो ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि वह तो संस्कारशेष चित्त का अवस्थाविशेष ही है। अतः **'निरोध'** में संस्कारजनकता है अर्थात् निरोध संस्कारोत्पादक है, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान–ऐसी आशंका करके भाष्यकार बताते हैं–**'निरोधस्थितीति।'** **'निरोध'** की स्थिति में अर्थात् निरुद्धभूमिक चित्त की असम्प्रज्ञातावस्थिति में मुहूर्त्त, अहोरात्र, मासादिरूप क्रम से कालपरिमाण की जो वृद्धि परिलक्षित होती है, उससे निरोधावस्थाक चित्त में जायमान निरोधसंस्कार अनुमित होता है। अन्यथा असम्प्रज्ञात में संस्काराधिक्य के विना कालवृद्धि का नियामक (परिचायक) ही कोई नहीं बन पायेगा। सम्प्रज्ञातयोग की क्रमिक कालवृद्धि तो प्रज्ञाजन्य संस्कार के तारतम्य से ही उपपन्न हो जाती है, अतः सम्प्रज्ञात में संस्कारहेतुता नहीं है।

शङ्का–चरम असम्प्रज्ञात के द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधिजन्य प्रज्ञासंस्कार का तो बाध (लय) हो सकता है किन्तु निरोधसंस्कारों का कैसे समुच्छेद (नाश) होगा? और निरोधसंस्कारों का समुच्छेद न होने पर साधिकार चित्त का मोक्ष कैसे उपपन्न हो सकेगा? अर्थात् निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त को मोक्ष प्राप्त न हो सकेगा? किञ्च योगीश्वर के संकल्पादि के द्वारा प्रलीन हुए प्रज्ञासंस्कारों की भी दग्धबीज के समान, कदाचित् पुनरुत्पत्ति (पुनरभिव्यक्ति) सम्भव हो सकेगी?

समाधान–भाष्यकार उपरिनिर्दिष्ट शंका का निराकरण करते हैं–**'व्युत्थाननिरोधेति।'** असम्प्रज्ञात की अपेक्षा समाधिप्रज्ञा भी व्युत्थानरूप है। अतः ज्ञानसामान्यरूप सम्प्रज्ञात को **'व्युत्थान'** तथा असम्प्रज्ञात को निरोधसमाधि कहते हैं। इन दोनों **'व्युत्थान'** और **'निरोध'** के प्रभाव से **'कैवल्यभागीय'** अर्थात् कैवल्य के हेतुभूत कर्मसंस्कारों से युक्त चित्त अपने मूलकारण नित्य **'प्रकृति'** में आत्यन्तिक लय को उसी प्रकार स्वतः प्राप्त होता है जिस प्रकार भस्मीभूत (दग्ध) काष्ठ में अग्नि की प्रच्छन्नता अर्थात् अग्नि का नष्ट हो जाना। चित्त का यह लयत्व उसके परिणामस्वभाव के कारण है। अब चित्त का पुरुषार्थ (उस पुरुष के प्रति भोग-मोक्ष-सम्पादन) समाप्त हो जाने के कारण उसमें अपने स्वामी पुरुष के भोग का हेतुभूत विसदृशपरिणाम पुनः होता ही नहीं है। अथवा भाष्यगत **'कैवल्यभागीय'** पद को **'चित्त'** का विशेषण मानकर यह अर्थ किया जा सकता है कि **'कैवल्यभागीय'** अर्थात् कैवल्यपर्यन्त स्थायी रहने वाले व्युत्थानसंस्कारों के साथ चित्त का अपने मूलकारण प्रकृति में लय हो जाता है। इस सूत्र के द्वारा पूर्वकृत शंका का निराकरण हो जाता

है, इसी तथ्य का भाष्यकार उपपादन करते हैं—**'तस्मादिति।' 'तस्मात्'** अर्थात् निरोध-संस्कार का भी क्षय हो जाने से ये निरोधसंस्कार चित्ताधिकार के विरोधी हैं, न कि चित्तस्थिति के हेतु हैं।

शङ्का—ठीक है, सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातरूप योगद्वय से चित्त का आत्यन्तिक (सार्वकालिक) लय होना माना जाय, फिर भी इत्थंभूत चित्तलयता से कौन सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है? अर्थात् चित्त का आत्यन्तिक लय होने से पुरुष का कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है?

समाधान—ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार बताते हैं—**'यस्मादित्यादि।'** इस अवस्था में चित्त अवसिताधिकार हो जाता है। अत: कैवल्यभागीय संस्कारों के साथ वह निवृत्त हो जाता है। चित्त के निवृत्त (आत्यन्तिक लय को प्राप्त) होने पर पुरुष **'मुक्त'** कहलाता है। 'पुरुष' क्यों **'मुक्त'** कहलाता है, इसमें हेतुगर्भविशेषण पद हैं—**'स्वरूपेत्यादीनि।'** अर्थात् **स्वरूपमात्रप्रतिष्ठ:,शुद्ध:** तथा **केवल:।' 'स्वरूपमात्रप्रतिष्ठ'** शब्द का अर्थ है—प्रतिबिम्बित दु:खादि धर्म वाले चित्त के रूपों से पुरुष का मुक्त होना। **'शुद्ध'** शब्द का अर्थ है—(**स्वस्वामिशक्त्यो: स्वरूपोपलब्धिहेतु: संयोग:** २/२३ सूत्र में वक्ष्यमाण तथ्य को ध्यान में रखकर बतलाया जा रहा है कि) **'स्वत्वसम्बन्ध'** अर्थात् **'स्वामी'** पुरुष के प्रति **'स्व'** रूप से सम्बन्ध के कारण होने वाले चित्तनिष्ठ पुण्य-पापादि धर्मों से पुरुष का रहित होना। संसार-दशा में कूटस्थ पुरुष में भी भोगसाधनत्व की उपपत्ति के लिये ही (कल्पित) स्वत्व को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार के औपाधिक स्वत्व की मुक्ति से ही पुरुष का शुद्धत्वरूप साध्यत्व निष्पन्न (उपपन्न) होता है। **'केवल'** शब्द का अर्थ है—औपाधिक संयोगाख्य बन्ध से मुक्त होना। इस प्रकार का मोक्ष ही (पुरुष का अपने शुद्ध तथा केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही) योग का मुख्य फल (प्रयोजन) है। पारमार्थिक रूप से **दु:ख**, कर्मादि से युक्त होना अथवा लेपाख्य संयोगरूप सम्बन्ध वाला होना लोक में **'बन्ध'** कहलाता है और इस प्रकार के यथार्थ बन्ध से युक्त बुद्धि की ही मुक्ति होती है अर्थात् बुद्धि का ही यथार्थत: मोक्ष होता है, न कि कूटस्थ तथा असङ्ग पुरुष का बन्धन और मोक्ष होता है, यह बताने के लिये पुरुष को **'मुक्त'** कहा गया है। शास्त्रों में पुरुष की मुक्तता का प्रतिपादन व्यवहारमात्र के लिये किया गया है। जैसा कि कपिल ने सांख्यसूत्र में कहा है—**'वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिते:'।** सूत्र का अर्थ है कि 'पुरुष में बन्धादि व्यवहारमात्र के लिये हैं, क्योंकि वे चित्त में ही वास्तविक रूप से अवस्थित रहते हैं।' और जो दु:खनिवृत्तिरूप पुरुषार्थत्व है वह पारमार्थिक ही है क्योंकि **'दु:खं मा भुञ्जीय'** अर्थात् 'मुझे दु:ख प्राप्त न होवे'—ऐसी प्रार्थना (सबकी) देखी जाती है।

बालप्रिया–

'शास्त्रेषु मुक्त इति व्यवहारमात्रं क्रियते'–तदर्थ सांख्यप्रवचनभाष्य द्रष्टव्य है– **'बन्धादीनां सर्वेषां चित्त एवावस्थानात् तत् पुरुषे वाङ्मात्रं सर्वं स्फटिकलौहित्यवत् प्रतिबिम्बमात्रत्वान्न तु तत्त्वं तस्य भावः। अनारोपितं जपालौहित्यवदित्यर्थः। अतो नोक्तविरोध इति भावः'** (१/५८)। भाव यह है कि 'बन्ध' आदि सम्पूर्ण वृत्तियाँ चित्त में ही अवस्थित रहती हैं, इसलिये 'पुरुष' के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना कहने भर के लिये है, वास्तविक नहीं है। जैसे स्फटिक में लौहित्य का दर्शन प्रतिबिम्बमात्र है, न कि वास्तविक। उसी प्रकार बन्धादि का अस्तित्व उस (पुरुष) में जपापुष्प के लौहित्य की तरह अनारोपित (वास्तविकरूप से) नहीं रहता, अपितु आरोपित रहता है, स्फटिक लौहित्य की तरह। इस प्रक्रिया से जब पुरुष का बन्ध वास्तविक नहीं है तो उसके 'मोक्ष' को वास्तविक कैसे कहा जा सकता है। इस प्रकार पुरुष का बन्ध और मोक्ष दोनों वाङ्मात्र हैं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार व्यासभाष्य के प्रथमपाद की उपसंहारात्मक पंक्ति की व्याख्या करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

साङ्ख्यप्रवचन इति। साङ्ख्यशास्त्रस्यैव प्रकर्षेण वचनं साङ्ख्यप्रवचनम्। **साङ्ख्ये ह्यभ्युपगमवादेनेश्वरं प्रतिषिध्यासम्प्रज्ञातयोगनैरपेक्ष्येण च जीवतत्त्वज्ञानादेव मोक्ष उक्तः, अस्मिंस्तु शास्त्रे निरुपद्रवासन्दिग्धैच्छिकमुक्तिनियमाय परमेश्वरविद्या, आशुमोक्षहेतुरसम्प्रज्ञातयोगश्च प्रदर्शित इति भावः॥५१॥**

इति श्रीपातञ्जलभाष्यवार्त्तिके श्रीविज्ञानभिक्षुनिर्मिते प्रथमः समाधिपादः॥१॥

---------------xxx--------------

'सांख्यप्रवचन इति।' सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का ही प्रबलतापूर्वक अर्थात् मुख्यरूप से प्रतिपादन करना **'सांख्यप्रवचन'** कहलाता है। चूँकि सांख्य के सिद्धान्तों का ही समर्थक एवं प्रतिपादक यह योगशास्त्र है अतः इसे **'पातञ्जलसांख्यप्रवचन-योगशास्त्र'** कहते हैं।

योगवार्त्तिककार दोनों शास्त्रों के मौलिक अन्तर को स्पष्ट करते हैं–सांख्यदर्शन में अभ्युपगमवाद से ईश्वर में उपादानकारणता का प्रतिषेध करके असम्प्रज्ञातयोग की अपेक्षा के विना ही **'जीवतत्त्वज्ञान'** से ही मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। जब कि योगशास्त्र में निरुपद्रव, असन्दिग्ध तथा ऐच्छिक मुक्ति को साधने (सिद्ध करने) के लिये परमेश्वर विद्या (ईश्वरप्रणिधान) तथा आशुतर मोक्ष के हेतुभूत असम्प्रज्ञात योग को प्रदर्शित किया गया है॥५१॥

*इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षुनिर्मित श्रीपातञ्जलभाष्यवार्त्तिक पर लिखी गई **'सपाठभेद बालप्रियाख्य'** हिन्दी व्याख्या का यह प्रथम समाधिपाद है॥१॥*

---------------xxx--------------